श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला का तृतीय पुष्प

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्यम्

यशस्तिलकदीपिकाख्यया भाषाटीकया समेतम्

उत्तरखण्डम्

—अनुवादक-सम्पादक व प्रकाशक—

पं० सुन्दरलाल शास्त्री

जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व काव्यतीर्थ

अध्यक्ष—श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला

कमच्छा बी० २१।१२९ ठाकुरवाड़ी

वाराणसी (यू० पी०)

—प्राक्कथन-लेखक—

श्री० डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल

अध्यक्ष—कला व पुरातत्त्व विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

[redacted]

प्रथम आवृत्ति
२१०४ प्रति

श्रावण वीर नि० २४९७
वि० स० २०२८
जुलाई १९७१

मूल्य इक्कीस रुपये
सजिल्द

मुद्रक—आनन्द प्रेस, बी० १२।११२ गौरीगंज, वाराणसी-१

समर्पण

श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षुल्लक

गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य के

पवित्र करकमलो में,

जिन्होने अज्ञान-तिमिर से आच्छन्न मेरा मन-मन्दिर अपने
श्रुतज्ञान-प्रदीप से प्रकाशित किया, अतः जिनकी
असीम उपकृति से अनुगृहीत हूँ।

—सुन्दरलाल शास्त्री

FOREWORD

The Yasastilaka of Somadeva, whose Hindi translation is being offered here, is a literary work of considerable merit, written about 959 A D It belongs to the literary **genre** called champu, which is distinguished both from epic and lyric poetry and from prose romances While in general following the pattern of prose romances, the work under reference differs from them in incorporating larger number of metrical stanzas on all sorts of occasions and for different purposes The **Yasastilaka,** a Jaina work, is one of the best known champus in Sanskrit It is important as a work of great literary merit and also as a source of socio-political, cultural and religio-philosophical data pertaining to the time and place of its composition As a literary artist Somadeva is indebted to the great Bana, the celebrated author of **Kadambari,** whose style and method he seeks to emulate His moral and religious sensibility is that of a typical Jaina savant, however, he is equally conversant with the several secular arts and sciences, e g statecraft and diplomacy, logic, rhetoric ete, developed and cultivated in ancient and medieval India Our author, it seems, was also a great controversialist as is evidenced by several honorific titles given to him Syadvadacalasimha 'A lion on the mountaino f syadvada', Tarkika-chakravartin 'The Lord of the logicians', Vadibha-pancanana 'A lion to the elephants, to wit, the disputants,' Vakkallola-payonidhi 'An ocean of the waves of eloquence', etc He is the author of several literary works, a philosophical work entitled **Yuktichintamani-sutra** is also attributed to him **Yasastilaka,** however, is his undoubted masterpiece Here he excels as the weaver of a delightful romance, a literary artist, a moralist and a philosopher Like Bana he exploits the motif of rebirth in recounting the fortunes of his principal characters A master of Sanskrit prose Somadeva makes use of long compounds in framing the adjectival phrases, and is also fond of long sentences However, he seems to be more interested in propounding and defending the teachings of Jainism than in producing a masterpiece of literature The entire tale of the **Yasastilaka** is intended to depict the evil consequences of causing injury to living beings not only in deed but also in thought In the last chapter the author submits to critical scrutiny the philosophical doctrines of the rival Indian schools including the materialists, the Nyaya-vaisesika and the Buddhists This Chapter also contains reflections on important moral virtues and some vices

Recently, some important studies of the **Yasastilaka** have appeared Sri Krishna Kanta Handiqui published his **Yasastilaka And Indian Culture** in 1949 Dr Gokul Chandra Jain published a cultural study of the **Yasastilka** in Hindi some years back Sri Sundar Lal Sastri, the enterprising publisher and Jaina scholar, has now produced an excellent Hindi translation of the text of the **Yasastilaka** The translation of this work presents special difficulties for two reasons, it happens that the work under reference has no Sanskrit commentary on it, it also contains a large number of unfamiliar words which cannot be found in the existing lexicons of the Sanskrit language It happens that a medieval scholar, Sri Deva, compiled a small dictionary of the unusual words employed in the **Yasastilaka.**

Sastriji luckily came across this dictionary and has used it in making his translation That dictionary (or **Nighantu**, as its author calls it) has been appended to the present work as an Appendix Sastriji has also edited and fixed the text of the **Yasastilaka** after comparing several manuscripts of it For this labour of love he deserves appreciation and thanks from all quarters The translation made by him is fairly accurate and is eminently readable I hope that the present edition of Somadeva's important work will be profitably used, and acclaimed, by a wide circle of readers and scholars +

N K. Devaraja

September 20, 1971

Centre of Advanced Study in Philosophy

Banaras Hindu University

+ We are greatly beholden to Prof N K. Devaraja of the Banaras Hindu University, a versatile scholar and writer, who kindly agreed to contribute an English Foreword to the present edition. ---S L Shastri (editor)

प्राक्कथन

सस्कृत के गद्य-साहित्य मे अनेक कथाग्रन्थ है। उनमे **बाण** की 'कादम्बरी', **सोमदेव** का 'यशस्तिलक चम्पू' और **धनपाल** की 'तिलकमञ्जरी'—ये तीन अत्यन्त विशिष्ट ग्रन्थ है। **बाण** ने कादम्बरी मे भाषा और कथावस्तु का जिस उच्च पद तक परिमार्जन किया था उसी आदर्श का अनुकरण करते हुए **सोमदेव** और **धनपाल** ने अपने ग्रन्थ लिखे। सस्कृत भाषा का समृद्ध उत्तराधिकार क्रमश हिन्दी भाषा को प्राप्त हो रहा है। तदनुसार ही 'कादम्बरी' के कई अनुवाद हिन्दी मे हुए है। प्रस्तुत पुस्तक मे श्री० सुन्दरलालजी शास्त्री ने **'सोमदेव'** के 'यशस्तिलकचम्पू' का भाषानुवाद प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य की विशेष सेवा की है। हम उनके परिश्रम और पाण्डित्य की प्रशसा करते है। इस अनुवाद को करने से पहले 'यशस्तिलकचम्पू' के मूल पाठ का भी उन्होने सशोधन किया और इस अनुसधान के लिये जयपुर, नागौर, सीकर, अजमेर और बडनगर के प्राचीन शास्त्रभडारो मे छानबीन करके 'यशस्तिलकचम्पू' की कई ह० लि० प्राचीन प्रतियो से मूल पाठ और अर्थो का निश्चय किया। इस श्रमसाध्य कार्य मे उन्हे लगभग ८-१० वर्ष लगे। किन्तु इसका फल 'यशस्तिलकचम्पू' के अधिक प्रामाणिक सस्करण के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत है। 'यशस्तिलक' का पहला सस्करण मूल के आठ आश्वास और लगभग साढे चार आश्वासो पर **'श्रुतसागर'** की स० टीका के साथ १९०१–१९०३ मे 'निर्णयसागर' यन्त्रालय से प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थ मे लगभग एक सहस्र पृष्ठ है। उसी की सास्कृतिक सामग्री, विशेषत धार्मिक और दार्शनिक सामग्री को आधार बनाकर श्री **कृष्णकान्त** हन्दीकी ने 'यशस्तिलक और इण्डियन कल्चर' नामका पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ १९४९ मे प्रकाशित किया, जिससे इस योग्य ग्रन्थ की अत्यधिक ख्याति विद्वानो मे प्रसिद्ध हुई। उसके बाद श्री **सुन्दरलालजी शास्त्री** का 'यशस्तिलक' पर यह उल्लेखनीय कार्य सामने आया है।

आपने आठो आश्वासो के मूलपाठ का सशोधन और भाषाटीका तैयार कर ली है। तीन आश्वास प्रथमखण्ड के रूप मे १९६० मे प्रकाशित हो चुके है और शेष पाँच आश्वास टीका-सहित दूसरे खण्ड के रूप मे प्रकाशित होगे। प्राचीन प्रतियो की छानबीन करते समय श्री सुन्दरलालजी शास्त्री को 'भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन सरस्वती भवन' नागौर के शास्त्रभण्डार मे 'यशस्तिलक-पञ्जिका' नामका एक विशिष्ट ग्रन्थ मिला, जिसके रचयिता **'श्रीदेव'** नामक कोई विद्वान् थे। उसमे आठो आश्वासो के अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्दो का निघण्टु या कोश प्राप्त हुआ। इसकी विशेष चर्चा हम आगे करेगे। इसे भी श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने परिशिष्ट दो मे स्थान दिया है। इसप्रकार ग्रन्थ को स्वरूप-सम्पन्न बनाने मे वर्तमान सम्पादक और अनुवादक श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने जो महान् परिश्रम किया है, उसे हम सर्वथा प्रशसा के योग्य समझते हैं। आशा है इसके आधार से सस्कृत वाङ्मय के 'यशस्तिलकचम्पू' जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थ का पुन पारायण करने का अवसर प्राप्त करेगे।

'सोमदेव' ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना ९५९ ईसवी मे की। 'यशस्तिलक' का दूसरा नाम 'यशोधरमहाराजचरित' भी है, क्योकि इसमे उज्जयिनी के सम्राट् यशोधर का चरित्र कहा गया है। अर्थात्—'यशोधर' नामक राजा की कथा को आधार बनाकर व्यवहार, राजनीति, धर्म, दर्शन और मोक्ष सम्बन्धी अनेक विषयो की सामग्री प्रस्तुत की गई है। **'सोमदेव'** का लिखा हुआ दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत'

है, उसमे 'कौटिल्य' के अर्थशास्त्र को आधार मानकर **'सोमदेव'** ने राजशास्त्र विषय को सूत्रो मे निवद्ध किया है। सस्कृत वाङमय मे 'नीतिवाक्यामृत' का भी विशिष्ट स्थान है और जीवन की व्यवहारिक निपुणता से ओतप्रोत होने के कारण वह ग्रन्थ भी सर्वथा प्रशसनीय है। उस पर भी श्री सुन्दरलालजी शास्त्री ने हिन्दी टीका लिखी है। इन दोनो ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि **'सोमदेव'** की प्रज्ञा अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की थी और सस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था।

'सोमदेव' ने अपने विषय मे जो कुछ उल्लेख किया है, उसके अनुसार वे देवसघ के साधु **'नेमिदेव'** के शिष्य थे। वे राष्ट्रकूट सम्राट् **'कृष्ण'** तृतीय (९२९–९६८ ई०) के राज्यकाल मे हुए। सोमदेव के सरक्षक **'अरिकेसरी'** नामक चालुक्य राजा के पुत्र **'वाद्यराज'** या **'वद्दिग'** नामक राजकुमार थे। यह वश राष्ट्रकूटो के अधीन सामन्त पदवीधारी था। **'सोमदेव'** ने अपना ग्रन्थ **'गङ्गधारा'** नामक स्थान मे रहते हुए लिखा। धारवाड कर्नाटक महाराज और वर्तमान 'हैदराबाद' प्रदेश पर राष्ट्रकूटो का अखण्ड राज्य था। लगभग आठवी शती के मध्य से लेकर दशम शती के अन्त तक महाप्रतापी राष्ट्रकूट सम्राट् न केवल भारतवर्ष मे वल्कि पश्चिम के अर व साम्राज्य मे भी अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अर वो के साथ उन्होने विशेष मैत्री का व्यवहार रक्खा और उन्हे अपने यहाँ व्यापार की सुविधाए दी। इस वश के राजाओ का विरुद **'बल्लभराज'** प्रसिद्ध था, जिसका रूप अर ब लेखको मे बल्हरा पाया जाता है। राष्ट्रकूटो के राज्य मे साहित्य, कला, धर्म और दर्शन की चौमुखी उन्नति हुई। उस युग की सास्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर दो चम्पू ग्रन्थो की रचना हुई। पहला महाकवि त्रिविक्रमकृत **'नलचम्पू'** है। **'त्रिविक्रम'** राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्र तृतीय (९१४–९१६ ई०) के राजपण्डित थे। इस चम्पू ग्रन्थ की सस्कृत शैली श्लेष प्रधान शब्दो से भरी हुई है और उससे राष्ट्रकूट सस्कृति का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है।

त्रिविक्रम के पचास वर्ष वाद **'सोमदेव'** ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की। उनका भरसक प्रयत्न यह था कि अपने युग का सच्चा चित्र अपने गद्यपद्यमय ग्रन्थ मे उतार दे। नि सन्देह इस उद्देश्य मे उनको पूरी सफलता मिली। **'सोमदेव'** जैन साधु थे और उन्होने 'यशस्तिलक' मे जैनधर्म की व्याख्या और प्रभावना को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया है। उस समय कापालिक, कालामुख, शैव व चार्वाक-आदि जो विभिन्न सम्प्रदाय लोक मे प्रचलित थे, उनको शास्त्रार्थ के अखाडे मे उतार कर तुलनात्मक दृष्टि से **'सोमदेव'** ने उनका अच्छा परिचय दिया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ भारत के मध्यकालीन सास्कृतिक इतिहास का उमँडता हुआ स्रोत है, जिसकी बहुमूल्य सामग्री का उपयोग भविष्य के इतिहास ग्रन्थो मे किया जाना चाहिए। इस क्षेत्र मे श्रीकृष्णकान्त हन्दीकी का कार्य, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, महत्त्वपूर्ण है। किन्तु हमारी सम्मति मे अभी उस कार्य को आगे बढाने की आवश्यकता है, जिससे **'सोमदेव'** की श्लेषमयी शैली मे भरी हुई समस्त सामग्री का दोहन किया जा सके। भविष्य मे किसी अनुसन्धान प्रेमी विद्वान् को यह कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

'यशस्तिलक' की कथा कुछ उलझी हुई है। **'बाण'** की कादम्बरी के पात्रो की तरह इसके पात्र भी कई जन्मो मे हमारे सामने आते है। बीच-बीच मे वर्णन बहुत लम्बे है, जिनमे कथा का सूत्र खो जाता है। इससे बचने के लिये सक्षिप्त कथासूत्र का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राचीन समय मे **'यौधेय'** नाम का जनपद था। वहाँ का राजा **'मारिदत्त'** था। उसने **'वीरभैरव'** नामक अपने पुरोहित की सलाह से अपनी कुलदेवी चण्डमारी को प्रसन्न करने के लिये एक सुन्दर पुरुष और स्त्री की बलि देने का विचार किया और चाण्डालो को ऐसा जोड़ा लाने की आज्ञा दी। उसी समय 'सुदत्त'

नाम के एक महात्मा राजधानी के बाहर ठहरे हुए थे। उनके साथ दो शिष्य थे—एक **'अभयरुचि'** नाम का राजकुमार और दूसरी उसकी बहिन **'अभयमति'**। दोनो ने छोटी आयु मे ही दीक्षा ले ली थी। वे दोनो दोपहर की भिक्षा के लिये निकले हुए थे कि चाण्डाल पकडकर देवी के मन्दिर मे राजा के पास ले गया। राजा ने पहले तो उनकी बलि के लिये तलवार निकाली पर उनके तप प्रभाव से ,उसके विचार सौम्य हो गए और उसने उनका परिचय पूँछा। इस पर राजकुमार ने कहना शुरु किया।

(कथावतार नामक प्रथम आश्वास समाप्त)।

इसी 'भरतक्षेत्र' मे **'अवन्ति'** नाम का जनपद है। उसको राजधानी **'उज्जयिनी'** शिप्रा नदी के तट पर स्थित है। वहाँ **'यशोर्घ'** नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी **'चन्द्रमति'** थी। उनके 'यशोधर' नामक पुत्र हुआ। एक वार अपने शिर पर सफेद बाल देखकर राजा को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होने अपने पुत्र यशोधर को राज्य सौपकर सन्यास ले लिया। मन्त्रियो ने यशोधर का राज्याभिषेक किया। उसके लिए शिप्रा के तट पर एक विशाल मण्डप बनवाया गया। नये राजा के लिये **'उदयगिरि'** नामक एक सुन्दर तरुण हाथी और **'विजयवैनतेय'** नामक अश्व लाया गया। यशोधर का विवाह **'अमृतमति'** नाम की रानी से हुआ। राजा ने रानी, अश्व और हाथी का पट्टबन्ध धूमधाम से किया।

(पट्टबन्धोत्सव नामक द्वितीय आश्वास समाप्त)।

अपने नये राज्य मे राजा का समय अनेक आमोद-प्रमोदो व दिग्विजयादि के द्वारा सुख से वीतने लगा।

(राजलक्ष्मीविनोदन नामक तृतीय आश्वास समाप्त)।

एक दिन राज-कार्य शीघ्र समाप्त करके वह रानी **अमृतमति** के महल मे गया। वहाँ उसके साथ विलास करने के बाद जब वह लेटा हुआ था तब रानी उसे सोया जानकर धीरे से पलँग से उतरी और वहाँ गई, जहाँ गजशाला मे एक महावत सो रहा था। राजा भी चुपके से पीछे गया। रानी ने सोते हुए महावत को जगाया और उसके साथ विलास किया। राजा यह देखकर क्रोध से उन्मत्त होगया। उसने चाहा कि वही तलवार से दोनो का काम तमाम कर दे, पर कुछ सोचकर रुक गया और उलटे पैर लौट आया, पर उसका हृदय सूना हो गया और उसके मन मे ससार की असारता के विचार आने लगे। नियमानुसार वह राजसभा मे गया। वहाँ उसकी माता चन्द्रमति ने उसके उदास होने का कारण पूँछा तो उसने कहा कि 'मैने स्वप्न देखा है कि राजपाट अपने राजकुमार 'यशोमति' को देकर मै वन मे चला गया हूँ, तो जैसा मेरे पिता ने किया मै भी उसी कुलरीति को पूरा करना चाहता हूँ' यह सुनकर उसकी माँ चिन्तित हुई और उसने कुलदेवी को बलि चढाकर स्वप्न की शान्ति करने का उपाय बताया। माँ का यह प्रस्ताव सुनकर राजा ने कहा कि मै पशुहिंसा नही करूँगा। तब माँ ने कहा कि हम आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि चढायेगे और उसी का प्रसाद ग्रहण करेगे। राजा ने यह बात मान ली और साथ ही अपने पुत्र **'यशोमति'** के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। यह समाचार जब रानी ने सुना तो वह भीतर से प्रसन्न हुई पर ऊपरी दिखावा करती हुई बोली—'महाराज! मुझ पर कृपा करके मुझे भी अपने साथ वन मे ले चले।' कुलटा रानी की इस ढिठाई से राजा के मन को गहरी चोट लगी, पर उसने मन्दिर मे जाकर आटे के मुर्गे की बलि चढाई। इससे उसकी माँ प्रसन्न हुई, किन्तु असती रानी को भय हुआ कि कही राजा का वैराग्य क्षणिक न हो। अतएव उसने आटे के मुर्गे मे विष मिला दिया। उसके खाने से चन्द्रमति और यशोधर दोनो तुरन्त मर गये।

(अमृतमति महादेवी-दुर्विलसन नामक चतुर्थ आश्वास समाप्त)।

राजमाता चन्द्रमति और राजा यशोधर ने आटे के मुर्गे की बलि का सकल्प करके जो पाप किया, उसके फलस्वरूप तीन जन्मो तक उन्हे पशु योनि मे उत्पन्न होना पडा। पहली योनि मे यशोधर मोर की योनि मे पैदा हुआ और चन्द्रमति कुत्ता बनी। दूसरे जन्म मे दोनो उज्जयिनी की शिप्रा नदी मे मछली के रूप मे उत्पन्न हुए। तीसरे जन्म मे वे दो मुर्गे हुए, जिन्हे पकड कर एक जल्लाद उज्जयिनी के कामदेव के मन्दिर के उद्यान मे होने वाले वसन्तोत्सव मे कुक्कुट-युद्ध का तमाशा दिखाने के लिये ले गया। वहा उमे आचार्य 'सुदत्त' के दर्शन हुए। ये पहले कलिङ्ग देश के राजा थे, पर अपना विशाल राज्य छोडकर मुनिव्रत मे दीक्षित हुए। उनका उपदेश सुनकर दोनो मुर्गो को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अगले जन्म मे वे दोनो यशोमति राजा की रानी कुसुमावलि के उदर से भाई वहिन के रूप मे उत्पन्न हुए और उनका नाम क्रमश 'अभयरुचि' और 'अभयमति' रक्खा गया। एक बार राजा यशोमति आचार्य सुदत्त के दर्शन करने गया और अपने पूर्वजो की परलोक-गति के बारे म प्रश्न किया।

आचार्य ने कहा—तुम्हारे पितामह यशोर्घ स्वर्ग मे इन्द्रपद भोग रहे है। तुम्हारी माता अमृतमति नरक मे है और यशोधर और चन्द्रमति ने इस प्रकार तीन बार ससार का भ्रमण किया है। इसके बाद उन्होने यशोधर और चन्द्रमति के ससार-भ्रमण को कहानी भी सुनाई। उस वृत्तान्त को सुनकर ससार के स्वरूप का ज्ञान हो गया और यह डर हुआ कि कही हम वडे होकर फिर इस भवचक्र मे न फॅस जॉय। अतएव बाल्यावस्था मे ही दोनो ने आचार्य सुदत्त के सघ मे दीक्षा ले ली।

इतना कहकर 'अभयरुचि' ने राजा मारिदत्त से कहा—हे राजन्। हम वे ही भाई बहिन है। हमारे आचार्य सुदत्त भी नगर से बाहर ठहरे है। उनके आदेश से हम भिक्षा के लिये निकले थे कि तुम्हारे चाण्डाल हमे यहाँ पकड लाए।

(भव-भ्रमणवर्णन नामक पाँचवे आश्वास की कथा यहाँ तक समाप्त हुई)।

वस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' का कथाभाग यही समाप्त हो जाता है। आश्वास छह, सात, आठ इन तीनो का नाम 'उपासकाध्ययन' है, जिनमे उपासक या गृहस्थो के लिये छोटे बडे छियालिस कल्प या अध्यायो मे गृहस्थोपयोगी धर्मो का उपदेश आचार्य सुदत्त के मुख से कराया गया है। इनमे जनधर्म का बहुत ही विशद निरूपण हुआ है। छठे आश्वास मे भिन्न-भिन्न नाम के २१ कल्प है। सातवे आश्वास मे बाइसवे कल्प से तेतीसवे कल्प तक मद्यप्रवृत्तिदोष, मद्यनिवृत्तिगुण, स्तेय, हिंसा, लोभ-आदि के दुष्परिणामो को बताने के लिये छोटे-छोटे उपाख्यान है। ऐसे ही आठवे आश्वास मे चौतीसवे कल्प से छियालीसवे कल्प तक उपाख्यानो का सिलसिला है। अन्त मे इस सूचना के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है कि आचार्य सुदत्त का उपदेश सुनकर राजा मारिदत्त और उसकी प्रजाएँ प्रसन्न हुई और उन्होने श्रद्धा से धर्म का पालन किया, जिसके फलस्वरूप सारा यौधेय देश सुख एव शान्ति से भर गया।

इसप्रकार सोमदेव का रचा हुआ यह विशिष्ट ग्रन्थ जैनधर्मावलम्बियो के लिये कल्पवृक्ष के समान है। अन्य पाठक भी जहाँ एक ओर इससे जैनधर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त कर सकते हैं वही दूसरी ओर भारतीय सस्कृति के विविध अङ्गो का भी सविशेष परिचय प्राप्त कर सकते है। प्राय प्रत्येक आश्वास मे इस प्रकार की सामग्री विद्यमान है। उदाहरण के लिए तीसरे आश्वास मे प्राचीन भारतीय राजाओ के आमोद-प्रमोद का एव अनोखी वेजोड राजनीति का सविस्तर उल्लेख है। बाण ने जैसे 'कादम्बरी' मे हिमगृह का व्योरेवार वर्णन किया है वैसा ही वर्णन 'यशस्तिलक' मे भी है। सोमदेव के मन पर कादम्बरी की गहरी छाप पड़ी

थी। वे इस बात के लिए चिन्तित दिखाई देते है कि बाण के किये हुए उदात्त वर्णनो के सदृश कोई वर्णन उनके काव्य मे छूटा न रह जाय। सेना की दिग्विजय यात्रा का उन्होने लम्बा वर्णन किया है। इन सारे वर्णनो की तुलनात्मक जानकारी के लिए बाणभट्ट के तत्सदृश प्रसगो के साथ मिलाकर पढना और अर्थ लगाना आवश्यक है। तभी उनका पूरा रहस्य प्रकट हो सकेगा। जैसा हम पहले लिख चुके है, इस ग्रन्थ के अर्थ-गाम्भीर्य को समझने के लिये एक स्वतत्र शोधग्रथ की आवश्यकता है। केवल मात्र हिन्दी टीका से उस उद्देश्य की आशिक पूर्ति ही सभव है इस पर भी श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने इस महाकठिन प्राय निष्टीक ग्रन्थ के विषय मे व्याख्या का जो कार्य किया है, उसकी हम विशेष प्रशसा करते है और हमारा अनुरोध है कि उनके इस ग्रन्थ को पाठको द्वारा उचित सन्मान दिया जाय।

महाकवि सोमदेव को अपने ज्ञान और पाण्डित्य का बडा गर्व था और 'यशस्तिलक' एव 'नीतिवाक्यामृत' की साक्षी के आधार पर उनकी उस भावना को यथार्थ ही कहा जा सकता है। 'यशस्तिलक' मे अनेक अप्रचलित क्लिष्टतम शब्दो को जान बूझकर प्रयुक्त किया गया है। अप्रयुक्त और क्लिष्ट शब्दो के लिए सोमदेव ने अपनी काव्यरचना का द्वार खोल दिया है। कितने ही प्राचीन शब्दो का वे जैसे उद्धार करना चाहते थे। इसके पूवखण्ड के कुछ उदाहरण इस प्रकार है—धृष्णि=सूर्यरश्मि (पूर्वखण्ड पृ० १२, पक्ति ५)। बल्लिका=श्रृखला, हिन्दी बेल, हाथी के बाँधने की जजीर को 'गजवेल' कहा जाता है और जिस लोहे से वह बनती है उसे भी 'गजवेल' कहते थे (१८।२ पूर्व०)। सामज=हाथी, (१८।७ पूर्व०) कालिदास ने इसका पर्याय सामयोनि (रघु० १६।३) दिया है और माघ (१२।११) मे भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कमल शब्द का एक अर्थ मृगविशेष अमरकोश मे आया है और बाण की कादम्बरी मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सोमदेव ने इस अर्थ मे इस शब्द को रक्खा है (२३।१ पूर्वखण्ड)। इसीसे बनाया हुआ कमली शब्द (२४।३ पूर्व०)। मृगाक—चन्द्रमा के लिए उन्होने प्रयुक्त किया है। कामदेव के लिये शूर्पकाराति (२५।१ पूर्वखण्ड) पर्याय कुषाण-युग मे प्रचलित हो गया था। अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दोनो ग्रन्थो मे शूर्पक नामक मछुवे की कहानी का उल्लेख किया है। वह पहले काम से अविजित था, पर पीछे कुमुद्वती नामक राजकुमारी की प्रार्थना पर कामदेव ने उसे अपने वश मे करके राजकुमारी को सौप दिया।

आच्छोदना=मृगया (२५।१ पूर्व०), पिथुर=पिशाच (२८।३ पूर्व०), जरूथ=पल या मास (२८।३ पूर्व०), दैर्घिकेय=कमल (३७।७ पूर्व०), विरेय=नद (३७।९ पूर्व०), गर्वर=महिष (३८।१ पूर्व०), प्रधि=कूप (३८।२ पूर्व०), गोमिनी=श्री (४२।९ पूर्व०), कच्छ=पुष्पवाटिका (४९।२ पूर्व०), दर्दरीक=दाडिम (५५।८ पूर्व०), नन्दिनी=उज्जयिनी (७०।६ पूर्व०), मय=उष्ट्र (७५।३ पूर्व०), मितदु=अश्व (७५।४ पूर्व०), स्तभ=छाग (७८।६ पूर्व०), पालिन्दी=वीचि (१०६।३ पूर्व०), बलाल=वायु (११९।५ पूर्व०), पुलाक=घुघरू (२३५।१ पूर्व०), इत्यादि नये शब्द ध्यान देने योग्य है, जिनका समावेश सोमदेव के प्रयोगानुसार सस्कृत कोशो मे होना चाहिए। सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दो का भी प्रयोग किया है जैसे विश्वकद्रु=श्वा (६१।९ पूर्व०), शिपिविष्ट (७७।१ पूर्व०), जो ऋग्वेद मे विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु पञ्जिकाकार ने जिसका अर्थ रुद्र किया है। तमङ्ग (९५।१ पूर्व०) शब्द भोजकृत समरागण सूत्रधार मे कई बार प्रयुक्त हुआ है, जो कि प्रासाद शिल्प का पारिभाषिक शब्द था। इस समय लोक मे आधे खम्भे या पार्श्वभाग को तमञ्जा कहा जाता है। सप्तर्षि अर्थ मे चित्रशिखण्डि शब्द का, प्रयोग (५१।१ पूर्व०) बहुत ही कम देखने मे आता है। केवल महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय पर्व मे इसका प्रयोग हुआ है और सोमदेव ने वही से इसे लिया होगा। इससे ज्ञात होता है कि नये-नये शब्दो को ढूँढकर लाने की कितनी अधिक प्रवृत्ति

उनमे थी। सोमदेव के शब्द शास्त्र पर तो स्वतत्र अध्ययन की आवश्यकता है। ज्ञात होता है कि माघ, वाण और भवभूति इन तीनो कवियो के ग्रन्थो को अच्छी तरह छानकर उन्होने शब्दो का एक बडा सग्रह बना लिया था, जिनका वे यथा समय प्रयोग करते थे। मौकुलि=काकु (१२५।७ पूर्व०), शब्द भवभूति के 'उत्तरराम-चरित' मे प्रयुक्त हुआ है। हस के लिये द्रुहिणद्विज अर्थात्—ब्रह्मा का वाहन पक्षी (१३७।३ पूर्व०) प्रयुक्त हुआ है।

इस ग्रन्थ के उद्धार करने मे केवल एक व्यक्ति ने अपनी निजी शक्ति का सदुपयोग किया है। जिस प्रकार श्री सुन्दरलाल जी शास्त्री ने यशस्तिलक का पूर्व खण्ड प्रकाशित किया उसी प्रकार वे कठोर साधना करके इसका उत्तर खण्ड भी, जो कि निष्टीक व महाक्लिष्ट है, प्रकाशित करके सस्कृत प्रेमी पाठको का महान् उपकार करेगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
व्यासपूर्णिमा (ता० ७–७–६०)

वासुदेव शरण अग्रवाल





सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ
—अनुवादक, सम्पादक व प्रकाशक

सम्पादकीय

पाठकवृन्द ! पूज्य आचार्यो ने कहा है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।'

अर्थात्—'निर्दोष, गुणालकारशाली व सरस काव्यशास्त्रो का अध्ययन, श्रवण व मनन-आदि, धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारो पुरुषार्थो का एव सगीत-आदि ६४ कलाओ का विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न करता है एव कीर्ति व प्रीति उत्पन्न करता है ।'

उक्त प्रवचन से प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' भी समूचे भारतीय सस्कृत साहित्य मे उच्चकोटि का, निर्दोष, गुणालकारशाली, सरस, अनोखा एव वेजोड महाकाव्य है, अत इसके अध्ययन-आदि से भी निस्सन्देह उक्त प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु अभी तक किसी विशिष्ट विद्वान् ने श्रीमत्सोमदेवसूरि के समूचे 'यशस्तिलक-चम्पू' महाकाव्य की अनुसन्धानपूर्ण भाषाटीका नही की, अत इस कमी की पूर्ति के लिए हमने ८-१० वर्ष पर्यन्त कठोर साधना करके इसकी 'यशस्तिलकदीपिका' नाम की भाषा टीका तैयार की और १९६० ई० मे इसका पूर्वखण्ड प्रकाशित किया । तत्पश्चात् प्रस्तुत उत्तर खण्ड भी प्रकाशित किया ।

सशोधन एव उसमे उपयोगी व महत्वपूर्ण प्रतियाँ—

आठ आश्वासवाला एव आठ हजार श्लोक परिमाणवाला 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य निर्णय सागर मुद्रण यन्त्रालय बम्बई से सन् १९१६ मे दो खण्डो मे प्रकाशित हुआ था, उनमे मे प्रथमखण्ड (३ आश्वास पर्यन्त) मूल व सस्कृत टीका-सहित मुद्रित हुआ है और दूसरा खण्ड, जो कि ४ आश्वास से लेकर ८ आश्वास पर्यन्त है, ४।। आश्वास तक सटीक और वाकी का निष्टीक (मूलमात्र) प्रकाशित हुआ है । परन्तु दूसरे खण्ड मे प्रतिपेज मे अनेक स्थलो पर विशेष अशुद्धियाँ है, एव पहले खण्ड मे यद्यपि उतनी अशुद्धियाँ नही है तथापि कतिपय स्थानो मे अशुद्धियाँ है । दूसरा खण्ड तो मूलरूप मे भी कई जगह त्रुटित प्रकाशित हुआ है ।

अत हम इसके अनुसन्धान-हेतु जयपुर, नागौर, सीकर, अजमेर व बडनगर-आदि स्थानो पर पहुँचे और वहाँ के शास्त्रभण्डारो से प्रस्तुत ग्रन्थ की ह० लि० मूल व सटिप्पण तथा सटीक प्रतियाँ निकलवाईं और उक्त स्थानो पर महीनो ठहरकर सशोधन-आदि कार्य सम्पन्न किया । अभिप्राय यह है कि इस महाक्लिष्ट सस्कृत ग्रन्थ की उलझी हुई गुत्थियो के सुलझाने मे हमे इसकी महत्त्वपूर्ण सस्कृत टीका के सिवाय उक्त स्थानो के शास्त्रभण्डारो की ह० लि० मूल व सटिप्पण प्रतियो का विशेष आधार मिला । इसके सिवाय हमे नागौर के सरस्वती भवन मे श्रीदेव-विरचित 'यशस्तिलक पञ्जिका' भी मिली, जिसमे इसके कई हजार अप्रयुक्त व क्लिष्टतम शब्द, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थो मे नही है, उनका अर्थ उल्लिखित है, हमने वहाँ पर ठहरकर उसके शब्दनिघण्टु (कोश) का सकलन किया, विद्वानो की जानकारी के लिए हमने उसे परिशिष्ट संख्या २ मे ज्यो का त्यो प्रकाशित कर दिया है । इससे भी हमे भाषाटीका करने मे विशेष सहायता मिली एव भाषाटीका को पल्लवित करने मे 'नीतिवाक्यामृत' (हमारी भाषाटीका), आदि-पुराण, सर्वदर्शन सग्रह, पातञ्जल योग-दर्शन, साहित्यदर्पण, आप्तमीमासा, सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थ श्लोकवार्तिक व रत्नकरण्ड श्रावकाचार-आदि अनेक ग्रन्थो की सहायता मिली ।

अत प्रस्तुत 'यशस्तिलक' की 'यशस्तिलकदीपिका' नाम की भापाटीका विशेष अध्ययन, मनन व अनुसन्धानपूर्वक लिखी गई है, निष्टीक आश्वास (५ आश्वास से ८ आश्वास) सटिप्पण व कोश-सहित (यश० ५०) प्रकाशित किये जा रहे है। इसमे मूलग्रन्थकार की आत्मा ज्यो की त्यो बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है, शब्दश सही अनुवाद किया गया है। कहानियो का भी शब्दश अनुवाद हुआ है। साधारण सस्कृत पढे हुए सज्जन इसे पढकर मूलग्रन्थ लगा सकते है।

हमने इसमे मु० सटी० व निष्टीक प्रति का सस्कृत मूलपाठ ज्यो का त्यो प्रकाशित किया है, परन्तु जहाँपर मूलपाठ अशुद्ध व असम्बद्ध मुद्रित था, उसे अन्य ह० लि० सटि० प्रतियो के आधार से मूल मे ही सुधार दिया है, जिसका तत् तत् स्थलो पर टिप्पणी मे उल्लेख कर दिया है और साथ ही ह० लि० प्रतियो के पाठान्तर भी टिप्पणी मे दिये गए है। इसी प्रकार जिस श्लोक या गद्य मे कोई शब्द या पद अशुद्ध था, उसे साधार सशोधित व परिवर्तित करके टिप्पणी मे सकेत कर दिया है।

हमने स्वय वाराणसी मे ठहरकर इसके प्रूफ सशोधन किये है, अत इसका प्रकाशन भी शुद्ध हुआ है, परन्तु कतिपय स्थलो पर दृष्टिदोष से और कतिपय स्थलो पर प्रेस की असावधानी से कुछ अशुद्धियाँ (रेफ व मात्रा का कट जाना-आदि) रह गई है, उसके लिए पाठक महानुभाव क्षमा करते हुए और अन्त मे प्रकाशित हुए शुद्धि-पत्र से सशोधन करते हुए अनुगृहीत करेंगे ऐसी आशा है।

आभार

प्रस्तुत श्रुत-सेवा के सत्कार्य मे हमे सबसे अधिक प्रोत्साहन व प्रेरणा श्री पूज्य गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य से प्राप्त हुई, इसके लिए मै उनका चिरकृतज्ञ हूँ। वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्यविभाग के अध्यक्ष, न्यायाचार्य व साहित्याचार्य श्री गुरुवर्य्य श्रीमत्मुकुन्द शास्त्री खिस्ते वाराणसी के भी हम चिरकृतज्ञ है, जिन्होने प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की हमारी भाषाटीका (४।। आश्वास से ८ आश्वास तक, जिसकी सस्कृत टीका नही थी,) देखकर व सुनकर समुचित सुझाव दिये एव सशोधन कराया। इसके सशोधन-हेतु जयपुर, नागौर, अजमेर, सीकर व बडनगर के महानुभावो ने, जिनका नाम प्रस्तावना मे उल्लिखित है, 'यशस्तिलक' की ह० लि० मूल व सटिप्पण प्राचीन प्रतियाँ व प्राचीन ह० लि० यशस्तिलक पञ्जिका प्रदान की, उनका मै विशेष आभारी हूँ। श्री० श्रद्धेय डा० वासुदेव-शरण जी अग्रवाल अध्यक्ष—कला व पुरातत्व विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी का भी मै विशेष आभारी हूँ, जिन्होने महत्वपूर्ण व साङ्गोपाङ्ग प्राक्कथन लिखकर अनुगृहीत किया। समुचित सुझाव व समतियाँ देनेवाले स्थानीय विद्वानो (श्री श्रद्धेय प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, श्री प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, श्री० प० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य, श्री० प० अमृतलालजी दर्शन व साहित्याचार्य, श्री प्रो० वा० खुशालचन्द्रजी एम० ए० साहित्याचार्य, श्री प० रणजीतसिहजी मिश्र व्याकरण व साहित्याचार्य) का भी विशेष आभारी हूँ। हमारे पडोसी श्री० वा० वलिरामजी M Sc विश्लेषक धातुकीय विभाग हिन्दू विश्व-विद्यालय वाराणसी का भी आभारी हूँ, जिन्होने यथा समय प्रेस के कार्य मे सहयोग प्रदान किया। श्री ब्र० चिन्तामणि देवी कलकत्ता का भी आभारी हूँ, जिन्होने कलकत्ता की प्रतिष्ठित व परिचित महिलाओ को ग्राहक बनाने मे सहयोग प्रदान किया।

सुन्दरलाल शास्त्री

प्राचीन न्याय-काव्यतीर्थ

—सम्पादक

प्रस्तावना

प्रस्तुत 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की भाषाटीका का सम्पादन विशेष अनुसन्धानपूर्वक निम्नलिखित ह० लि० प्राचीन प्रतियो के आधार पर किया गया है—

१. **'क' प्रति का परिचय**—यह प्रति श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति दि० जैन सरस्वती भवन नागौर (राजस्थान) व्यवस्थापक—श्री पूज्य भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति गादी नागौर की है, जो कि सशोधन-हेतु नागौर पहुँचे हुए मुझे श्री० धर्म० सेठ रामदेव रामनाथ जी चाँदूवाड नागौर के अनुग्रह से प्राप्त हुई थी। इसमे १०३/४×५ इञ्च की साईज के ३३१ पत्र है। यह विशेष प्राचीन प्रति है, इसकी लिपि ज्येष्ठ वदी ११ रविवार स० १६५४ को श्री 'रुकादेवी' श्राविका ने कराई थी। प्रति का आरम्भ—श्री पार्श्वनाथाय नम । श्रिय कुवलयानन्द-प्रसादितमहोदय । इत्यादि मु० प्रतिवत् है। इसमे दो आश्वासपर्यन्त कही-कही टिप्पणी है और आगे मूलमात्र है। इसके अन्त मे निम्न लेख उल्लिखित है—

'यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वास । 'भद्र भूयात्' 'कल्याणमस्तु' शुभ भवतु। सवत् १६५४ वर्षे ज्येष्ठ वदी ११ तिथौ रविवासरे श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे नद्याम्नाये आचार्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मडलाचार्य श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे मण्डलाचार्यानुक्रमे मुनि नेमिचन्द तत्शिष्य आचार्य श्री यशकीर्तिस्तस्मै इद शास्त्र 'यशस्तिलकाख्य जिनधर्म समाश्रिता श्राविका 'रुका' ज्ञानावरणीयकर्म-क्षयनिमित्त घटाप्यत।'

ज्ञानवान्ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानत । अन्नदानात् सुखी नित्य निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥

शुभ भवतु। कल्याणमस्तु। इस प्रति का साकेतिक नाम'क' है।

विशेष उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान—उक्त 'क' प्रति के सिवाय हमे उक्त नागौर के सरस्वती भवन मे श्रीदेव-विरचित **'यशस्तिलकपञ्जिका'** भी मिली, जिसमे 'यशस्तिलकचम्पू' के विशेष क्लिष्ट, अप्रयुक्त व वर्तमान कोशग्रन्थो मे न पाये जानेवाले हजारो शब्दो का निघण्टु १३०० श्लोकपरिमाण लिखा हुआ है। इसमे १३×६ इञ्च की साईज के ३३ पृष्ठ है। प्रति की हालत देखने से विशेष प्राचीन प्रतीत हुई, परन्तु इसमे इसके श्रीदेव-विद्वान् या आचार्य का समय उल्लिखित नही है उक्त 'यशस्तिलक पञ्जिका' का अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु हमने विद्वानो की जानकारी के लिए एव 'यशस्तिलक' पढनेवाले छात्रो के हित के लिए इसी ग्रन्थ के अखीर मे (परिशिष्ट सख्या २ मे) ज्यो का त्यो ४ आश्वास से लेकर ८ आश्वास पर्यन्त प्रदर्शित भी किया है।

'यशस्तिलक-पञ्जिका' के प्रारम्भ मे १० श्लोक निम्नप्रकार है[1]। अर्थात्—श्रीमज्जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके श्रीमत्सोमदेव सूरि-विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' की पञ्जिका श्रीदेव-विद्वान् द्वारा कही जाती है॥ १॥ 'यशस्तिलकचम्पू' मे निम्नप्रकार विषयो का निरूपण है—

---

१ यशोधरमहाकाव्ये सोमदेवैर्विनिर्मिते। श्रीदेवेनोच्यते पजी नत्वा देव जिनेश्वरम् ॥ १ ॥
छद शब्दनिघट्वलङ्कृतिकलासिद्धान्तसामुद्रक। ज्योतिर्वैद्यकवेदवादभरतानङ्गद्विपाश्वायुधम् ॥
तर्काख्यानकमत्रनीतिशकुनक्ष्मारुट्पुराणस्मृति। श्रेयोऽध्यात्मजगत्स्थिति प्रवचनी व्युत्पत्तिरत्रोच्यते ॥ २ ॥

१ छन्दशास्त्र, २ शब्दनिघण्टु, ३ अलङ्कार, ४ सगीत-आदि कलाएँ, ५ सिद्धान्त, ६ हस्तरेखा विज्ञान, ७ ज्योतिषशास्त्र, ८. वैद्यक, ९ वेद, १० वादविवाद (खण्डन मण्डन), ११ नृत्यशास्त्र, १२ कामशास्त्र या मनोविज्ञान, १३. गजविद्या, १४ शस्त्रविद्या, १५ दर्शनशास्त्र, १६ पौराणिक व ऐतिहासिक कथानक, १७ राजनीति, १८ शकुनशास्त्र, १९ वनस्पतिशास्त्र, २० पुराण, २१ स्मृतिशास्त्र, २२ अध्यात्म जगत मे वर्तमान श्रेय (शाश्वत कल्याण) और २३ वक्तृत्व कला की व्युत्पत्ति ॥ २ ॥

अह वा काव्यकर्ता वा तौ द्वावेवेश्वराविह । विधुब्रघ्नातिरेकेण को नामान्यस्तमोपह ॥ ३ ॥
कवेरपि विदग्धोऽहमेतत्सूक्तिसमथने । यत्सौभाग्यविधौ स्त्रीणा पतिवन्न पिता प्रभु ॥ ४ ॥
प्रयोगास्तमय छन्दस्स्वप्रसिद्धिमय तम । तत्प्रयोगोदयार्को हि निरस्यत्यसमजसम् ॥ ५ ॥

मै (श्रीदेव) और यशस्तिलककार श्रीमत्सोमदेवसूरि ये दोनो ही लोक मे काव्यकला के ईश्वर (स्वामी) है, क्योकि सूर्य व चन्द्र को छोडकर दूसरा कौन अन्धकार-विध्वसक हो सकता है ? अपि तु कोई नही ॥ ३ ॥ 'यशस्तिलक' की सूक्तियो के समर्थन के विषय मे तो मै (श्रीदेव) यशस्तिलककार सोमदेवसूरि से भी विशिष्ट विद्वान् हूँ, क्योकि स्त्रियो की सौभाग्य-विधि मे जैसा पति समर्थ होता है वैसा पिता नही होता ॥ ४ ॥ यशस्तिलक के अप्रयुक्त शब्दनिघण्टु का व्यवहार मे प्रयोग के अस्त हो जाने रूपी अन्धकार को और द्विपदी-आदि अप्रयुक्त छन्दशास्त्र विषयक अप्रसिद्धिरूपी अन्धकार को यह हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ (यशस्तिलक-पञ्जिका), जो कि उनका प्रयोगोत्पादक रूपी सूर्य सरीखा है, निश्चय से नष्ट करेगा ॥ ५ ॥

रुष्यत्याकर्षकायान्ध स्वदोषेण यथा स्खलन् । स्वयमज्ञस्तथा लोक प्रयोक्तार विनिन्दति ॥ ६ ॥
नाप्रयुक्त प्रयुञ्जीतेत्येतन्मार्गानुसारिभि । निघण्टुशब्दशास्त्रेभ्यो नून दत्तो जलाञ्जलि ॥ ७ ॥
जह्ले पेलव योन्याद्यान् शब्दास्तत्र प्रयुञ्जन । नाप्रयुक्त प्रयुञ्जीतेत्येष येषा नयो हृदि ॥ ८ ॥
नाप्रयुक्त प्रयोक्तव्य प्रयुक्त वा प्रयुज्यते । इत्येकान्ततस्ततो नास्ति वागर्थौचित्यवेदिनाम् ॥ ९ ॥
साग्रा दशशती वाचामपूर्वा समभूदिह । कवेर्वागर्थसर्वज्ञाद्वर्णकत्रिशती तथा ॥ १० ॥

जिसप्रकार लोक मे अन्धा पुरुष अपने दोष से स्खलन करता हुआ अपने खीचनेवाले पर कुपित होता है उसीप्रकार लोक भी स्वय अज्ञ (शब्दो के सही अर्थ से अनभिज्ञ) है, इसलिए शब्दो के प्रयोक्ता कवि की निन्दा करता है ॥ ६ ॥ 'अप्रयुक्त शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए' इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करनेवालो ने तो निस्सन्देह निघण्टु शब्दशास्त्रो के लिए जलाञ्जलि दे दी, अर्थात्—उन्हे पानी मे वहा दिया ॥ ७ ॥ जिनकी ऐसी मान्यता है, कि 'अप्रयुक्त शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए' उनके यहाँ जह्ले, पेलव (पेलव विरल तनु इत्यमर —छितरा) व योनि-आदि शब्दो का प्रयोग किस प्रकार सघटित होगा ? ॥ ८ ॥ इसलिए शब्द व अर्थ के बेत्ता विद्वानो का 'अप्रयुक्त शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए' अथवा 'प्रयुक्त शब्दो का ही प्रयोग करना चाहिए' यह एकान्त सिद्धान्त नही है ॥ ९ ॥ प्रस्तुत शास्त्र (यशस्तिलक-पञ्जिका) मे १३०० श्लोक परिमाण रचा हुआ अभूतपूर्व व प्रमुख शब्दनिघण्टु शब्द व अर्थ के सर्वज्ञ श्रीदेव कवि से उत्पन्न हुआ है ॥ १० ॥

इसके अन्त मे निम्न प्रकार उल्लिखित है—

इति श्रीदेव विरचिताया यशस्तिलक-पञ्जिकाया अष्टम आश्वास । इति यशस्तिलकटिप्पणीक समाप्त । शुभ भवतु ।

इस प्रति का भी साकेतिक नाम 'क' है ।

२. **'ख' प्रति का परिचय**—यह सटिप्पण प्रति आमेर-शास्त्रभण्डार जयपुर की है। श्री० माननीय प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ प्रिन्सिपल सस्कृत जैन कालेज जयपुर एव श्री० प० कस्तूरचन्द्रजी काशलीवाल एम० ए० शास्त्री जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमे १२३/४ × ६ इन्च की साईज के २५९ पत्र है। रचना शक सवत् १०८८ व लिपि स० १८९९ की है। प्रति विशेष शुद्ध व टिप्पणी मण्डित है। इसका आरम्भ निम्न प्रकार है—

श्रिय कुवलयानन्द[1]प्रसादितमहोदयः। देवश्चन्द्रप्रभः[2]पुष्याज्जगन्मानसवासिनीम्॥ १॥

इसका अन्त निम्न प्रकार है—

वर्ण पद वाक्यविधि समासो इत्यादि मु० प्रतिवत्।

३. **'ग' प्रति का परिचय**—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री० दि० जैन बडा धडा के पचायती दि० जैन मन्दिर अजमेर के शास्त्र-भण्डार की है, जो कि श्री० बा० मिलापचन्द्रजी B Sc LL B एडवोकेट सभापति महोदय एव श्रा० धर्म० सेठ नोरतमलजी सेठी सर्राफ ऑ० कोपाध्यक्ष तथा युवराज पदस्थ श्री० प० चिम्मन लाल जी के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमे ११३/४ × ८१/२ इन्च की साईज के ४०४ पत्र है। यह प्रति विशेष शुद्ध एव सटिप्पण है। प्रस्तुत प्रति वि० स० १८५४ के तपसि मास मे गगा विष्णु नाम के किसी विद्वान् द्वारा लिखी गई है।

प्रति का आरम्भ—ॐ परमात्मने नम।

श्रिय कुवलयानन्द[3]प्रसादितमहोदय। देवश्चन्द्रप्रभ[4] पुष्या[5]ज्जगन्मानसवासिनीम्॥ १॥

इसके अन्त मे—वर्षे वेद-शरेभ-शीतगुमिते मासे तपस्याह्वये, तिथ्या तत्त्विषि मत वेत्तु जिनाधीशिनाम्।

गगाविष्णुरितिप्रथामधिगतेनाभिख्यया निर्मिता, ग्र(न्थस्या)स्य लिपि समाप्तिमगमद् गुर्वड्घ्रि-पद्मालिना॥ १॥ श्रीरस्तु। श्री।

विशेष—प्रस्तुत प्रति के आधार से किया हुआ यश० उत्तरार्द्ध का विशेष उपयोगी व महत्त्वपूर्ण मुद्रित सशोधन (अनेकान्त वर्ष ५ किरण १-२) की प्रतिएँ हमे श्री० प० दीपचन्द्रजी शास्त्री पाडया केकडी ने प्रदान की थी, एतदर्थ अनेक धन्यवाद। उक्त सशोधन से भी हमे यश० उत्तरार्द्ध के सस्कृत पाठ-सशोधन मे यथेष्ट सहायता मिली।

४ **'घ' प्रति का परिचय**—यह ह० लि० सटि० प्रति श्री० दि० जैन बडा मन्दिर बीसपन्थ आम्नाय सीकर के शास्त्र भण्डार से श्री प० केशवदेव जी शास्त्री व श्री० प० पदमचन्द्र जी शास्त्री के अनुग्रह व सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमे १३ × ५३/४ इन्च की साईज के २८५ पत्र है। लिपि विशेष स्पष्ट व शुद्ध है। इसकी प्रतिलिपि फाल्गुन कृ० ६ शनिवार स० १९१० को श्री० प० चिमनराम जी के पौत्र व शिष्य प० महाचन्द्र विद्वान् द्वारा की गई थी। प्रति का आरम्भ—ॐ नम सिद्धेभ्य।

---

१. प्रसादीकृत दत्त इत्यर्थ। २ चन्द्रवत्-कर्पूरवद् गौरा प्रभा यस्य।

३ प्रसादित निर्मलीकृतो महानुदयो येन स। प्रसादीकृत दत्त इत्यर्थ। ४ चन्द्रस्य मृगाङ्कस्येव प्रभा दीप्तियस्यासौ। चन्द्र कर्पूर तद्वत् प्रभा यस्य स। हिमाशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र घनसारश्चन्द्रसज्ञ इत्युभयत्राप्यमर। ५ पुष्टि वृद्धि क्रियात्।

श्रिय कुवलयानदप्रसादितमहोदय इत्यादि मु० प्रतिवत् है ।

अन्त मे—वर्ण पद वाक्यविधि समासो इत्यादि मु० प्रतिवत् । ग्रन्थ-सख्या ८००० शुभ भूयात् । श्रेयोऽस्तु ।

इसका अन्तिम लेख—अथास्मिन् शुभसवत्सरे विक्रमादित्यसमयात् सवत् १९१० का प्रवर्तमाने फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे तिथौ षष्ठया ६ शनिवासरे मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये अजमेरगच्छे श्रीमदाचार्यवर आचार्यजी श्री श्री श्री श्री १०८ श्री गुणचन्द्रजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री कल्याणकीर्तिजी तत्पट्टे आचायजी श्री श्री विशालकीर्तिजी तत्पट्टे आचार्यजी श्री श्री १०८ भानुकीर्तिजी तत् शिष्य प० भागचन्द्रजी, गोवर्धनदासजी, हेमराजजी, वेणीरामजी, लक्ष्मीचन्दजी, लालचन्दजी, उदयरामजी मनसारामजी, आर्जिका विमल श्री,[1] लक्ष्मीमति,[2] हरवाई,[3] बखती[4] राजा[5], राही[6] एतेषा मध्ये पडित जी श्री भागचन्दजी, तत्शिष्य प० जी श्री दीपचन्दजी तत्शिष्य पडितोत्तम पडितजी श्री श्री चिमनरामजी तत्पौत्र शिष्य महाचन्द्रेणेद 'यशस्तिलक' नाम महाकाव्य लिपिकृत सीकरनगरे जैनमन्दिरे श्री शान्तिनाथ चैत्यालये शेखावत-महाराव राजा श्री भैरवसिह जी राज्ये स्वात्मार्थे लिपिकृत शुभ भूयात् । इसका साकेतिक नाम 'घ' है ।

५ **'च' प्रति का परिचय**—यह प्रति बडनगर के श्री दि० जैन मन्दिर गोट श्री० सेठ मलूकचन्द जी हीराचन्द जी वाले मन्दिर की है। प्रस्तुत मन्दिर के अध्यक्ष श्री० धम० सेठ मिश्रीलाल जी राजमल जी टोंग्या सर्राफ बडनगर के अनुग्रह एव सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इसमे १२×५३/४ इन्च की साईज के २८३ पत्र है। इसकी लिपि पौष कृ० द्वादशी रविवार वि० स० १८८० मे श्री० प० विरधीचन्द जी ने की थी। प्रति की स्थिति अच्छी है। यह शुद्ध व सटिप्पण है। इसके शुरु मे मुद्रित प्रति की भॉति श्लोक है और अन्त मे निम्नप्रकार लेख है—

वि० स० १८८० वर्षे पौषमासे कृष्णपक्षे द्वादश्या तिथौ आदित्यवासरे श्री मूलसघे नद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये आचार्य श्री श्री शुभचन्द्रदेवा तत्सघाष्टके पडितजी श्री श्री नौनिधिरामजी तत्शिष्य प० श्री नवलरामजी तत्शिष्य प० विरधीचन्द्रजी तेनेद 'यशस्तिलकचम्पू' नाम शास्त्र लिखित स्ववाचनार्थं ।

श्री शुभं भवतु कल्याणमस्तु ।

इसका साकेतिक नाम 'च' है ।

ग्रन्थ-परिचय

श्रीमत्सोमदेवसूरि का 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य सस्कृत साहित्यसागर का अमूल्य, अनोखा व बेजोड रत्न है। इसमे यशोधरमहाराज के चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर राजनीति, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष एव सुभाषित-आदि विषयो के ज्ञान का विशाल खजाना वर्तमान है। अतः यह समूचे सस्कृत साहित्य मे अपनी महत्त्वपूर्ण अनोखी विशेषता रखता है। इसका गद्य 'कादम्बरी' व 'तिलकमञ्जरी' की टक्कर का ही नही प्रत्युत उससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण व क्लिष्टतर है। प्रस्तुत महाकाव्य महान् क्लिष्ट सस्कृत मे अष्टसहस्री-प्रमाण (आठ हजार श्लोक परिमाण) गद्य पद्य पद्धति से लिखा गया है। इसमे आठ आश्वास (सर्ग) है, जो कि अपने नामानुरूप विषय-निरूपक है। जो विद्वान् 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' अर्थात्—'नो सर्ग पर्यन्त 'माघ' काव्य पढ लेने पर सस्कृत का कोई नया शब्द बाकी नही रहता' यह कहते है, उन्होने 'यशस्तिलकचम्पू' का गम्भीर अध्ययन नही किया, अन्यथा ऐसा न कहते, क्योकि प्रस्तुत ग्रन्थ मे हजारो शब्द ऐसे मौजूद है, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थो और काव्यशास्त्रो मे नही पाये जाते।[1] अत 'अभिधाननिधानेऽस्मिन् यशस्तिलकनामनि। पठिते समग्रे नून नवशब्दो न विद्यते ॥ १ ॥' अर्थात्—'सुभाषित पदो की निधिवाले इस 'यशस्तिलकचम्पू' नामक महाकाव्य को पूरा पढ लेने पर निस्सन्देह सस्कृत का कोई भी नया शब्द बाकी नही रहता, यह उक्ति सही समझनी चाहिए।'

यश० पञ्जिकाकार श्री देव विद्वान् ने कहा है कि इसमे यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के मिष से राजनीति, गजविद्या, अश्वविद्या, शस्त्रविद्या, आयुर्वेद, वादविवाद, नीतिशास्त्र, ऐतिहासिक व पौराणिक कथाएँ, अनोखी व बेजोड काव्यकला, ज्योतिष, वेद, पुराण, स्मृतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अलङ्कार, सुभाषित एव अप्रयुक्त क्लिष्टतम शब्दनिघण्टु-आदि के ललित निरूपण द्वारा ज्ञान का विशाल खजाना भरा हुआ है।

उदाहरणार्थ—राजनीति—इसके पूर्व खण्ड का तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० २२५-२५१,२५९-३१७, ३६५-३७७ आदि) राजनीति के समस्त तत्वो से ओतप्रोत है। इसमे राजनीति की विशद, विस्तृत व सरस व्याख्या है। प्रस्तुत शास्त्रकार द्वारा अपना पहला राजनीति ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' इसमे यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण के व्याज से अन्तर्निहित किया हुआ सा मालूम पडता है। इसमे काव्यकला व कहानीकला की कमनीयता के कारण राजनीति की नीरसता लुप्तप्राय हो गई है। गजविद्या व अश्वविद्या—इसके पूर्व खण्ड के द्वितीय व तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड-आश्वास २ पृ० १६३-१७९, एव आश्वास ३ पृ० ३२६-३३९) मे गजविद्या व अश्वविद्या का निरूपण है। शस्त्रविद्या—इसके तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० ३६९-३७४ व ३९३-३९५) मे उक्त विद्या का निरूपण है। आयुर्वेद—इसके तृतीय आश्वास (पूर्व खण्ड पृ० ३४०-३५१) मे स्वास्थ्योपयोगी आयुर्वेदिक सिद्धान्तो का वर्णन है। वादविवाद—इसके तृतीय आश्वास (पृ० २१८-२४१) मे उक्त विषय का कथन है। नीतिशास्त्र—इसके प्रथम आश्वास (पूर्व खण्ड श्लोक न० ३०-३२, ३५-३८, ४५, १२८, १३०, १३१, १३३, १४३, १४८-१५१,) मे तथा द्वितीय आश्वास (पूर्व खड श्लोक न० ९-११, १३, २४, ३३, ३४, ५६-५७-आदि) नीतिशास्त्र का प्रतीक है।

---

१ देखिए—इसका अप्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्द-निघण्टु (परिशिष्ट २ पृ० ४१९–४४० पूर्व खण्ड व परिशिष्ट २ पृ० ४९८–५१६ उत्तर खण्ड।

चतुर्थ आश्वास पृ० ४२ के सुभाषित पद्यो व गद्य का अभिप्राय यह है—यशोधर महाराज दीक्षा-हेतु विचार करते हुए कहते है—'मैने शास्त्र पढ लिए, पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया। याचको अथवा सेवको के लिए यथोक्त धन दे दिए और यह हमारा यशोमतिकुमार पुत्र भी कवचधारी वीर है, अत मै समस्त कार्य मे अपने मनोरथ को पूर्ण प्राप्त करनेवाला हो गया हूँ[१] ॥ २६ ॥ पचेन्द्रियो के स्पर्श-आदि विषयो से उत्पन्न हुई सुख-तृष्णा भी प्राय मेरे मन को भक्षण करने मे समर्थ नही है। क्योकि इन्द्रिय-विषयो (भोगोपभोगपदार्थों) मे, जिनकी श्रेष्ठता या शक्ति एकवार परीक्षित हो चुकी है, प्रवृत्त होने से बार-बार खाये हुए को खाता हुआ यह प्राणी किस प्रकार लज्जित नही होता ?[२] ॥ २७ ॥ मैथुन क्रीडा के अन्त मे होनेवाले सुखानुमान को छोडकर दूसरा कोई भी सासारिक सुख नही है, उस सुख द्वारा यदि विद्वान् पुरुष ठगाए जाते है तो उनका तत्वज्ञान नष्ट ही है[३] ॥ २८ ॥ इसके पश्चात् के गद्य-खण्ड का अभिप्राय यह है कि 'मानव को बाल्यावस्था मे विद्याभ्यास व गुणादि का सचयरूप कर्तव्य करना चाहिए और जवानी मे काम-सेवन करना चाहिए एव वृद्धावस्था मे धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए। अथवा अवसर के अनुसार काम-आदि सेवन करना चाहिए। यह भी वैदिक वचन है' परन्तु उक्त प्रकार की मान्यता सर्वथा नही है, क्योकि आयु अस्थिर है। अभिप्राय यह है, कि उक्त प्रकार की वैदिक मान्यता उचित नही है, क्योकि जीवन क्षणभङ्गुर है अत मृत्यु द्वारा गृहीत केश-सरीखा होते हुए धर्म पुरुषार्थ का अनुष्ठान विद्याभ्यास-सा बाल्यावस्था से ही करना चाहिए।

यशस्तिलक संबंधी धार्मिक प्रसङ्ग

यशस्तिलक की कथावस्तु बाण की कादम्बरी और धनपाल की तिलकमञ्जरी की तरह केवल आख्यान मात्र नही है, किन्तु जैन और जैनेतर दार्शनिक एव धार्मिक सिद्धान्तो का एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ भी है। इसके साथ ही इसमे तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध रूप भी वर्णित है। कथा-भाग मे भी सोमदेव ने जैन तत्वो व सुभाषितो का भी समावेश किया है। यशस्तिलक का चतुर्थ आश्वास विशेष महत्व पूर्ण है। क्योकि इसमे कवि ने यशोधर और उसकी माता के बीच मे पशुबलि-आदि विषयो को लेकर वार्तालाप कराया है। यशोधर जैन धर्म मे श्रद्धा रखता है और उसकी माता ब्राह्मण धर्म मे। इस सन्दर्भ मे यशोधर वैदिकी हिंसा का निरसन करता हुआ अनेक जैनेतर शास्त्रो के उद्धरणो द्वारा जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करता है।

(देखिए वैदिकी हिसा का समथन पृ० ५० श्लोक ४१-४४) तत्पश्चात् यशोधर कहता है कि 'हे माता! निश्चय से प्राणियो की रक्षा करना क्षत्रिय राजकुमारो का श्रेष्ठ धम है, वह धर्म, निर्दोष प्राणियो के घात करने से विशेष रूप से नष्ट हो जाता है।

य शस्त्रवृत्ति समरे रिपु स्याद्य कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥ ५५ ॥

अर्थात्—जो शत्रु युद्धभूमि पर शस्त्र धारण किये हुए है, अथवा जो अपने देश का कॉटा है, अर्थात् जो अपने देश पर आक्रमण करने को उद्यत है, उसी शत्रु पर राजा लोग शस्त्र प्रहार करते है। न कि दुर्बल, प्रजा पर उपद्रव न करने वाले और साधुजनो के ऊपर शस्त्र-प्रहार करते है ॥ ५५ ॥ इत्यादि पृ ५४-५६ तक यशोधर ने अनेक जैनेतर शास्त्रो के उद्धरणो द्वारा जीव हिसा व मास भक्षण का विरोध किया। इसी प्रकार उसने अनेक जैनेतर शास्त्रो के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता (पृ ६३-६४ तक) सिद्ध की।

पश्चात् यशोधर ने माता के समक्ष वैदिक समालोचना (पृ ६६ श्लोक न १२० से १२८ तक) की।

चतुर्थ आश्वास (पृ ८२-८३ श्लोक न १७९-१८७) के नौ सुभाषित पद्यो मे कूटनीति है।

---

१ समुच्चयालकार। २ ३ दृष्टान्तालकार।

ऐतिहासिक व पौराणिक दृष्टान्तमालाएँ—इसके पूर्व खण्ड के तृतीय आश्वास (पृ २८५-२८६) मे उक्त विषय का उल्लेख है। इसी प्रकार चतुथ आश्वास के पृ० ८८ के गद्य मे इसका विवेचन है।

अनोखी व बेजोड काव्यकला— इस विषय मे तो यह प्रसिद्ध ही है। क्योकि साहित्यकार आचार्यो ने कहा है[१]—'निर्दोष (दु श्रवत्व-आदि दोषो से शून्य), गुणसम्पन्न (औदार्य-आदि १० काव्य-गुणो से युक्त), तथा प्राय सालंकार (उपमा-आदि अलङ्कारो से युक्त) शब्द व अथ को उत्तम काव्य कहते है।'

अथवा शृङ्गार आदि रसो की आत्मावाले वाक्य (पद-समूह) को काव्य कहते है[२]। उक्त प्रकार के लक्षण प्रस्तुत यशस्तिलक मे वर्तमान है। इसके सिवाय 'ध्वन्यतेऽभिव्यज्यते चमत्कारालिङ्गितो भावोऽस्मिन्निति ध्वनि' अर्थात्—जहाँ पर चमत्कारालिङ्गित पदाथ व्यञ्जना शक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, उसे ध्वनि कहते है। शास्त्रकारो ने ध्वन्य काव्य को सवश्रेष्ठ कहा है।[३] अत प्रस्तुत यशस्तिलक के अनेक स्थलो पर (पूवखड प्रथम आश्वास पृ० ४५ (गद्य)-४७) ध्वन्य काव्य वतमान है, जो कि इसकी उत्तमता का प्रतीक है। एव इसके अनेक गद्यो व पद्यो मे शृङ्गार, वीर, करुण व हास्यादि रस वर्तमान है, उदाहरणार्थ आश्वास दूसरे मे (श्लोक न २२०) पद्य शृङ्गार रस प्रवान है। एव आश्वास चार (पृ २० श्लोक ४) सयुक्त शृङ्गार रस प्रधान है इत्यादि।

ज्योतिष शास्त्र—आश्वास २ (पूर्व खण्ड पृ १८०-१८२) मे ज्योतिष शास्त्र का उल्लेख है। इसके सिवाय चतुर्थ आश्वास मे कहा है, जब यशोधर महाराज की माता चन्द्रमति ने नास्तिक दर्शन का आश्रय लेकर उनके समक्ष इस जीव का पूर्वजन्म व भविष्य जन्म का अभाव सिद्ध किया तब यशोधर महाराज ज्योतिष शास्त्र के आधार से जीव का पूर्व जन्म और भविष्य जन्म सिद्ध करते है, कि हे माता! जब इस जीव का पूर्व जन्म है तभी निम्न प्रकार आर्याच्छन्द जन्म पत्रिका के आरभ मे लिखा जाता है—'इस जीव ने पूर्व जन्म मे जो पुण्य व पाप कर्म उपार्जित किये है, भविष्य जन्म मे उस कर्म के उदय को यह ज्योतिष शास्त्र उस प्रकार प्रकट करता है जिस प्रकार दीपक, अन्धकार मे वर्तमान घट पटादि पदार्थो को प्रकाशित करता है। अर्थात्—जब पूर्व जन्म का सद्भाव है तभी ज्योतिष शास्त्र उत्तर जन्म का स्वरूप प्रकट करता है, इससे जाना जाता है कि गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीव नही है, अपितु गर्भ से पूर्व और मरण के बाद भी है इत्यादि।[४]

अप्रयुक्त-क्लिष्टतम-शब्दनिघण्टु—अर्थात्-प्रस्तुत ग्रथ मे कई हजार ऐसे सस्कृत शब्द है, जो कि वर्तमान कोश ग्रन्थो मे नही है, अत हमने इसके निघण्टु या कोश का अनुसधान किया और उसे परिशिष्ट न० २ मे स्थान दिया है।

दर्शनशास्त्र—इसके पचम आश्वास मे साख्य, जैमिनीय, वाममार्गी व चार्वाक दर्शन के पूर्व पक्ष है।

यथा—घृष्यमाणो यथाङ्गार शुक्लता नैति जातुचित्। विशुद्ध्यति कुतश्चित्त निसर्गमलिन तथा॥

आ० ५ पृ० १५३ श्लोक ६४

न चापरमिषस्ताविष समर्थोऽस्ति यदर्थोऽय तप प्रयास सफलायास स्यात्। आ ५ पृ० १५३

---

१ तथा च काव्यप्रकाशकार —तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि।

२ तथा च विश्वनाथ कविराज —वाक्य रसात्मक काव्यम्—साहित्यदर्पण से सकलित—सम्पादक

३. तथा च विश्वनाथ कविराज.—'वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्' साहित्यदर्पण (४ परिच्छेद) से सकलित—

४ यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभ तस्य कर्मण प्राप्तिम्। व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव॥ १॥

आ ४ (पृ० ५२ श्लोक ४७

यतः । द्वादशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थिति पुरुष । प्रीति परा परस्परमनयो स्वर्ग स्मृत सद्भि ॥
आ० ५ पृ १५३ श्लोक ६५

अर्थात्—'धूमध्वज' नामके विद्वान् ने मीमासक मत का आश्रय लेकर सुदत्ताचार्य से कहा—'जिस प्रकार घर्षण किया हुआ अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता (शुभ्रता) को प्राप्त भी नही होता उसी प्रकार स्वभावत मलिन चित्त भी किन कारणो से विशुद्ध हो सकता है ? अपितु नही हो सकता। परलोक स्वभाव वाला स्वग प्रत्यक्ष प्रतीत नही है जिस निमित्त यह तपश्चर्या का खेद सफल खेद-युक्त होसके। क्योकि 'वारह वर्ष की स्त्री और सोलह वष की योग्य आयु वाला पुरुष, इन दोनो की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति (दाम्पत्य प्रेम) को सज्जनो ने स्वर्ग कहा है।'

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्यालापि नीलपटेन —

स्त्रीमुद्रा झषकेतनस्य महती सर्वार्थसपत्करी, ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिण ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतर मुण्डीकृता लुञ्चिता , केचित् पञ्चशिखीकृताश्च जटिन कापालिकाश्चापरे ॥ ७७ ॥
आ ५ पृ० १५६ श्लोक ७७

अर्थात्—जो मूढबुद्धि झूँठे स्वर्गादि फल का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञान-वश कामदेव की सर्व श्रेष्ठ और समस्त प्रयोजन रूप सम्पत्ति सिद्ध करने वाली स्त्रीमुद्रा का तिरस्कार करते हे, वे मानो—उसी कामदेव द्वारा विशेष निर्दयता पूर्वक ताडित कर मुण्डन किये गए अथवा केश उखाडने वाले कर दिये गए एव मानो—पञ्चशिखा-युक्त (चोटी धारी) किए गए एव कोई तपस्वी कापालिक किये गए[1] ॥ ७७ ॥

चण्डकर्मा— यावज्जीवेत् सुख जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर , भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमन कुत ॥
पृ० १५७ श्लोक ७९

अर्थात्—चण्डकर्मा कहता है, कि निम्न प्रकार नास्तिक दर्शन की मान्यता स्वीकार करनी चाहिए—जब तक जियो तब तक सुख पूर्वक जीवन यापन करो। क्योकि ससार मे कोई भी मृत्यु का अविषय नही है। अर्थात्—सभी काल-कवलित होते है। भस्म की हुई शान्त देह का पुनरागमन किस प्रकार हो सकता है ? अपितु नही हो सकता ॥ ७९ ॥

पश्चात् उनका अनेक प्रवल व अकाट्य दार्शनिक युक्तियो द्वारा खण्डन किया गया है
(आ ५ पृ० १५९ श्लोक ९३) ।

यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वासो (आ० ६-८) मे श्रावकाचार का दाशनिक पद्धति से अनेक कथानको सहित साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। सोमदेवसूरि ने इसका नाम उपासकाध्ययन रक्खा है, क्योकि इन्होने सातवे उपासकाध्ययन अङ्ग को आधार वनाकर इसकी रचना की है ❀।

उपासकाध्ययन मे ४६ कल्प है। प्रथम कल्प का नाम 'समस्तसमयसिद्धान्तावबोधन' है, क्योकि इसमे सैद्धान्त वैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, साख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक व वेदान्तवादी-आदि समस्त दर्शनो की मुक्ति विषयक मान्यताओ की अकाट्य युक्तियो से समीक्षा की गई है। यह विषय आ ६ पृ० १८३ के गद्य से लेकर पृ० १९४ तक है। प्रस्तुत विवेचन सोमदेव का समस्त दशन सबधी तल-स्पर्शी अध्ययन का प्रतीक है। इस तरह का दार्शनिक विवेचन उपलब्ध श्रावकाचारो मे नही मिलता।

---

१ व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालकार ।

❀ तथा च सोमदेवसूरि —'इत उत्तर तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्' । आ० ५ श्लोक १५५ का अन्तिमचरण

२ दूसरे कल्प का नाम 'आप्तस्वरूपमीमासन' है। इसमे आप्त के यथार्थ स्वरूप का निर्देश करते हुए, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध व सूर्य आदि को देव मानने की युक्तिपूवक समालोचना की गई है। साथ मे जैन तीर्थङ्करो को आप्त मानने मे किये हुए आक्षेपो का समाधान युक्ति पूर्वक किया गया है।

३ तीसरा कल्प आगमपदाथपरीक्षण' नाम का है। इसमे आगम के पदार्थो (जीवादि) का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा है कि 'ये सभी पदार्थ (जीवादि) द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा स्वभाव से वैसे उत्पाद, विनाश व स्थिर शील है जैसे समुद्र की तरङ्गे उक्त नयो की अपेक्षा स्वभावत उत्पाद, विनाश व स्थिर शील है। पश्चात् समस्त बस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील मानने वाले बौद्धो की और समस्त वस्तु को सवथा नित्य मानने वाले साख्य की अकाट्य युक्तियो से समीक्षा की है। पश्चात् जेन साधुओ मे आरोपण किये हुए दोषो (स्नान न करना, आचमन न करना, नग्न रहना व खडे होकर भोजन करना) का युक्ति पूर्वक समाधान किया गया है।

४ चौथा कल्प 'मूढतोन्मथन' नामका है, इसमे सूर्य को अर्घ देना व ग्रहण मे स्नान करना-आदि मूढताओ के त्याग का विवेचन हे। इसके पश्चात् पञ्चम कल्प से लेकर बीस कल्प पर्यन्त (पृ० २१२-२८१) सम्यग्दशन के नि शङ्कित आदि आठो अगो मे प्रसिद्ध अञ्जन चोर, अनन्त मति, उद्दायन, रेवतीरानी, जिनेन्द्र-भक्त सेठ, वारिषेण, वज्रकुमार व विष्णु कुमार मुनि की रोचक कथाएँ ललित व क्लिष्ट सस्कृत गद्य मे कही गई है। ये कथाएँ अन्य किसी श्रावकाचार मे नही है। प्रत्येक कथा के पूर्व उस अङ्ग का स्वरूप महत्वपूर्ण पद्यो मे कहा गया है। २१ वें कल्प मे सम्यग्दर्शन का विस्तृत विवेचन करते हुए रत्नत्रय का स्वरूप-आदि बतलाया हैं। सप्तम आश्वास, जो कि वाईस कल्प से ३३ कल्प पर्यन्त (पृ २९४-३७५) है।

२२-२३ कल्प मे मद्य प्रवृत्ति के दोष व मद्य निवृत्ति के गुण बतलाने वाली कथाएँ है। २४ वे कल्प मे मास-त्याग आदि का विवेचन करते हुए मासभक्षण का सकल्प करने वाले सौरसेन राजा की कथा है। २५ वे कल्प मे मास त्यागी चाडाल की कथा है।

२६ ३२ कल्पो मे पाँच अणुव्रतो का वर्णन है एव हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के कटु-फल वर्णन करते हुए पाँच कथाएँ विस्तृत गद्य शैली म वर्णन की गई है, जो कि विशेष रोचक व नैतिक शिक्षा से ओत प्रोत है। ३३ वे 'कल्प में' तीन गुण व्रतो का वणन हे।

३४ वे कल्प मे सामायिक शिक्षाव्रत का कथन है, परन्तु सोमदेव ने सामायिक का अर्थ जिन पूजा सबधी क्रियाकाण्ड कहा हे। अत ३४ वे कल्प मे स्नानविधि, ३५ मे समय समाचार विधि, ३६ मे अभिषेक व पूजन विधि, ३७ मे स्तवन विधि ३८ मे जप विधि ३९ मे ध्यान विधि और ४० वे कल्प मे श्रुताराधन विधि का वर्णन है। यह समस्त वर्णन विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि दूसरे श्रावकाचारो मे नही है। सोमदेव की ध्यान विधि का वर्णन अनोखा व महत्व-पूर्ण है। ४१ वे कल्प मे प्रोषधोपवास का और ४२ वे कल्प मे भोगोपभोगपरिमाण व्रत का कथन है।

४३ वे कल्प मे दानविधि का वर्णन अनोखा व विशेष महत्व पूर्ण है। ४४ वे कल्प मे ग्यारह प्रतिमाओ का और मुनियो के नामो की निरुक्ति पूर्वक व्याख्या की गई है, जो कि नई वस्तु है। ४५ वे कल्प मे सल्लेखना का और ४६ वे कल्प मे प्रकीर्णक सुभाषितो का कथन है।

इस प्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि का उपासकाध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है।

ग्रन्थकर्ता का परिचय—प्रस्तुत शास्त्रकार श्रीमत्**सोमदेव** सूरि द्वारा स्वय लिखी हुई **यशस्तिलक की** पद्यप्रशस्ति[१] से विदित होता है कि '**यशस्तिलकचम्पू**' महाकाव्य के रचयिता आचार्यप्रवर श्रीमत्**सोमदेव** सूरि है, जो कि दि जैन सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार सघो मे से देवसघ के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम '**नेमिदेव**' और दादा गुरु का नाम '**यशोदेव**' था। ग्रथकर्ता के गुरु दार्शनिक-चूडामणि थे, क्योकि उन्होने ९३ महावादियो को शास्त्रार्थ मे परास्त कर विजयश्री प्राप्त की थी। '**नीतिवाक्यामृत**' की गद्य प्रशस्ति[२] से भी यह मालूम होता है कि श्रीमत्**सोमदेव** सूरि' के गुरु श्रीमत्**नेमिदेव** ऐसे थे, जिनके चरण कमल समस्त तार्किक समूह मे चूडामणि विद्वानो द्वारा पूजे गये है एव पचपन महावादियो पर विजयश्री प्राप्त करने के कारण प्राप्त की हुई कीर्तिरूपी मन्दाकिनी द्वारा जिन्होने तीन भुवन पवित्र किये है तथा जो परम तपश्चरण रूप रत्नो के रत्नाकर (समुद्र) है। उसमे यह भी उल्लिखित है कि **सोमदेव** सूरि वादीन्द्रकालानल श्री **महेन्द्रदेव** भट्टारक के अनुज (लघुभ्राता) थे। श्री **महेन्द्रदेव** भट्टारक की उक्त 'वादीन्द्रकालानल' उपाधि उनकी दिग्विजयिनी दार्शनिक विद्वत्ता की प्रतीक है। प्रस्तुत प्रशस्ति से यह भी प्रतीत होता है कि श्रीमत्**सोमदेव** सूरि अपने गुरु व अनुज सरीखे तार्किक चूडामणि व कविचक्रवर्ती थे। अर्थात्—श्रीमत्**सोमदेव** सूरि 'स्याद्वादाचलसिह' 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादीभ पचानन', वाक्कल्लोलपयोनिधि' व 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्ति (उपाधि) रूप प्रशस्त अलङ्कारो से मण्डित है।

साथ मे उसमे यह भी लिखा है कि उन्होने निम्नप्रकार शास्त्र-रचना की थी। अर्थात्—वे षण्णवति प्रकरण (९६ अध्यायवाला शास्त्र), युक्तिचिन्तामणि (दार्शनिक ग्रन्थ), त्रिवर्गमहेन्द्रमातलि-सजल्प (धर्मादिपुरुषार्थत्रय-निरूपक नीतिशास्त्र), 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य और 'नीतिवाक्यामृत' इन महाशास्त्रो के बृहस्पति-सरीखे रचयिता है। उक्त तीनो महात्माओ (यशोदेव, नेमिदेव व महेन्द्रदेव) के सबध मे कोई ऐतिहासिक सामग्री व उनकी ग्रन्थ-रचना-आदि उपलब्ध न होने के कारण हमे और कोई बात ज्ञात नही है।

तार्किकचूडामणि—श्रीमत्**सोमदेव** सूरि भी अपने गुरु और अनुज के सदृश बडे भारी तार्किक विद्वान् थे। इनके जीवन का बहुभाग षड् दर्शनो के अभ्यास मे व्यतीत हुआ था, जसा कि उन्होने 'यशस्तिलक' की उत्थानिका मे कहा है—'शुष्क घास सरीखे जन्मपर्यन्त अभ्यास किये हुए पक्षान्तर म (भक्षण किये हुए) दर्शन शास्त्र के कारण मेरी इस बुद्धिरूपी गौ से 'यशस्तिलक' महाकाव्य रूप दूध विद्वानो के पुण्य से उत्पन्न हुआ है।[३] उनकी पूर्वोक्त स्याद्वादाचलसिह, वादीभपचानन व तार्किक चक्रवर्ती आदि उपाधियाँ उनकी दार्शनिक प्रकाण्ड विद्वत्ता की प्रतीक है। साथ मे प्रस्तुत 'यशस्तिलक' के पचम, षष्ठ व अष्टम आश्वास मे साख्य, वैशेषिक, बौद्ध, मीमासक व चार्वाक आदि दार्शनिको के पूर्वपक्ष व उनकी युक्ति-पूर्ण मीमासा भी उनकी

---

१ श्रीमानस्ति स देवसङ्घतिलको देवो यश पूर्वक, शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्री नेमिदेवाह्वय। तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिना, शिष्योऽभूदिह सोमदेव यतिपस्तस्यैष काव्यक्रम ॥ —'यशस्तिलकचम्पू',

२ इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पचपचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वत श्रीमन्नेमिदेवभगवत प्रियशिष्येण, वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिह तार्किकचक्रवर्ति-वादीभपचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि कविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवति-प्रकरण युक्तिचिन्तामणिसूत्र-महेन्द्रमातलिसजल्प यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचित (नीतिवाक्यामृत) समाप्तमिति।—नीतिवाक्यामृत

३ देखिए यश० आ० १ श्लोक न० १७।

विलक्षण व प्रकाण्ड दार्शनिकता प्रकट करती है, जिसका हम पूर्व मे उल्लेख कर आये है। परन्तु वे केवल दार्शनिक-चूडामणि ही नही थे, साथ मे काव्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र व राजनीति-आदि के भी धुरन्धर विद्वान् थे।

कवित्व—उनका यह 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे महाकवि थे और काव्य-कला पर भी उनका असाधारण अधिकार था। उसकी प्रशसा मे स्वय ग्रथकर्ता ने यत्र तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हे, वे जानने योग्य है।[१-२]

मै शब्द और अर्थ पूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) को भोग चुका हूँ, अतएव अब जो अन्य कवि होगे, वे निश्चय से उच्छिष्ट भोजी (जूँठा खाने वाले) होगे—वे कोई नई बात न कह सकेगे।[३] इन उक्तियो से इस बात का आभास मिलता है कि आचार्य सोमदेव किस श्रेणी के कवि थे और उनका यह महाकाव्य कितना महत्वपूर्ण है। महाकवि सोमदेव की वाक्कल्लोलपयोनिधि और कविराजकुञ्जर आदि उपाधियाँ भी उनके श्रेष्ठ कवित्व की प्रतीक है।

धर्माचार्यत्व—यद्यपि अभी तक श्रीमत्सोमदेवसूरि का कोई स्वतत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नही है, परन्तु यशस्तिलक के अन्तिम तीन आश्वास (६–८), जिनमे उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है, एव यश० के चतुर्थ आश्वास मे वैदिकी हिसा का निरसन करके अहिसा तत्व की मार्मिक व्याख्या की गई है एव अनेक जैनेतर उद्धरणो द्वारा जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की गई है, इससे उनका धर्माचार्यत्व प्रकट होता है।

राजनीतिज्ञता—श्रीमत्सोमदेवसूरि के राजनीतिज्ञ होने का प्रमाण उनका 'नीतिवाक्यामृत' तो है ही, इसके सिवा 'यशस्तिलक' के तृतीय आश्वास व चतुथ आश्वास मे यशोधर महाराज का चरित्र चित्रण करते समय राजनीति की मन्दाकिनी प्रवाहित की गई है यह भी उनकी राजनीतिज्ञता की प्रतीक है।

विशाल अध्ययन—'यशस्तिलक' व 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ उनका विशाल अध्ययन प्रकट करते है। ऐसा जान पडता है कि उनके समय मे जितना भी जैन व जैनेतर साहित्य (न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति व दर्शन आदि) उपलब्ध था, उसका उन्होने गम्भीर व तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

ग्रन्थकर्ता का समय और स्थान—'यशस्तिलकचम्पू[४]' के अन्त मे लिखा है कि चैत्र शुक्ल १३ शक स० ८८१ (विक्रम सवत् १०१६) को, जिस समय श्री कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिहल चोल व चेरमप्रभृति राजाओ को जीतकर **मेलपाटी** नामक सेना शिविर मे थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त '**वद्दिग**' की (जो चालुक्यवशीय **अरिकेसरी** के प्रथम पुत्र थे) राजधानी **गगाधारा**[५] मे यह काव्य समाप्त हुआ और 'नीति

१. देखिए आ १ श्लोक न १४, १८, २३।

२ देखिए-आ० २ श्लोक न० २४६ आ० ३ श्लोक न० ५१४।

३ मया वागर्थसभारे भुक्ते सारस्वते रसे। कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजना ॥ चतुर्थ आश्वास श्लोक न २२३

४ "शकनृपकालातीतसवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कत (८८१) सिद्धार्थसवत्सरातर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्या पाण्ड्य–सिहल-चोल-चेरमप्रभृतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मल्याटी (मेलपाटी) प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्री कृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविन समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मन सामन्तचूडामणे श्रीमदरिकेसरिण प्रथम पुत्रस्य श्रीमद्वागराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधाराया गङ्गाधाराया विनिर्मापितमिद काव्यमिति।"

५ चालुक्यो की एक शाखा 'जोल' नामक प्रात पर राज्य करती थी, जिसका एक भाग इस समय के धारवाड जिले में आता है और श्री० आर० नरसिंहाचार्य के मत से चालुक्य अरिकेसरी की राजधानी 'पुलगेरी' मे थी, जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है। गगाधारा भी समवत वही है।

वाक्यामृत' 'यशस्तिलक' के बाद की रचना है, क्योकि नीतिवाक्यामृत की पूर्वोक्त प्रशस्ति मे ग्रन्थकार ने अपने को 'यशस्तिलक महाकाव्य का कर्ता प्रकट किया है, इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे 'यशस्तिलक' को समाप्त कर चुके थे।

दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम 'अकालवर्ष' था। ये अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे। इनका राज्य-काल कम से कम शक सवत् ८६७ से ८९४ (वि० स १००२–१०२९) तक प्राय निश्चित है। ये दक्षिण के सार्वभौम राजा थे और बडे प्रतापी थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराजदेव ने—जैसा कि सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक' मे लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्ड्य और चेरम राजाओ को युद्ध मे परास्त किया था। इनके समय मे कनडी भाषा का सुप्रसिद्ध कवि 'पोन्न' हुआ है, जो जैन था और जिसने 'शान्तिपुराण' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की है। महाराज कृष्णराजदेव के दरवार से उसे 'उभयभाषा कविचक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी।

राष्ट्रकूटो या राठोरो द्वारा दक्षिण के चालुक्य (सोलकी) वश का सार्वभौमत्व अपहरण किये जाने के कारण वह निष्प्रभ होगया था। अत जव तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर रहे। अत अरिकेसरी का पुत्र 'वद्दिग' ऐसा ही एक सामन्त राजा था, जिसकी गङ्गाधारा नामक राजधानी मे 'यशस्तिलक' की रचना समाप्त हुई है। इसी 'अरिकेसरी' के समय मे कनडी भाषा का सर्वश्रेष्ठ जेन कवि 'पम्प' हुआ है, जिसकी रचना पर मुग्ध होकर 'अरिकेसरी' ने उसे धमपुर नामका एक ग्राम पारितोषिक मे दिया था। उसके बनाये हुए दो ग्रथ ही इस समय उपलब्ध है—१ 'आदिपुराणचम्पू' और २ 'भारत या विक्रमार्जुनविजय'। पिछला ग्रन्थ शक सवत् ८६३ (वि० स० ९९८) मे—यशस्तिलक से १८ वष पहले—बन चुका था। इसकी रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था। तब उसके १८ वर्ष बाद—यशस्तिलक की रचना के समय—उसका पुत्र सामन्त 'वद्दिग' राज्य करता होगा, यह इतिहास से प्रमाणित होता है।

विनीत—
मुन्दरलाल शास्त्री
—सम्पादक

वाराणसी
श्रावण कृ० ११ वीर नि० २४९७

दो अमूल्य सम्मतियाँ

[प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय मे]

१ श्री० १०५ पूज्य क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य—

श्री० प० सुन्दरलालजी शास्त्री प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ ने आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेवसूरि के '**यशस्तिलकचम्पू**' महाकाव्य का हिन्दी अनुवाद विशेष परिश्रम व अनुसन्धानपूर्वक किया है। अनुवाद विद्वत्तापूर्ण, ललित, विस्तृत, अत्यन्त उत्तम व सर्वोपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रथ मे यशोधरमहाराज का चरित्र प्रधान है, तथापि इसमे चरित्र-चित्रण के मिष से राजनीति, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद व ज्योतिष एव सुभाषित-आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो के ज्ञान की विशाल निधि वतमान हे। इसीप्रकार इसके उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) मे भी, जो कि इसके षष्ठ आश्वास से लेकर अष्टम आश्वास पयन्त है, महत्त्वपूर्ण व अनोखी विशेषता है। इस सर्वोपयोगी ग्रन्थ का पूर्वखण्ड अनेक महत्त्वपूर्ण परिशिष्टो-आदि से विभूषित प्रकाशित हो ही चुका है। मेरी इच्छा है कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का उत्तर खण्ड भी प्रकाशित होकर जनता का सन्मार्ग प्रदर्शित करे।

शु० चि०
गणेशवर्णी

२ श्री० विद्वद्वर्य्य प० रणजीतसिह जी मिश्र व्याकरण व साहित्याचार्य वाराणसी—

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

ज्योतिर्वैद्यकवेदवादविषयै सपूरित सर्वतश्चम्प्वन्तस्तिलकान्तरालघटन पूर्वं यशो यत्र हि।
श्रीमत्सोमकदेवसूरिरचितो ग्रन्थोऽयमन्वर्थभाक्, नैवाद्यापि कृता विशिष्टकृतिना टीका मनोहारिणी ॥ १ ॥
लोकान्वीक्ष्य सदा विमोहितधियो ग्रन्थावबोध विना, तद्ग्रन्थार्थविशेषवर्णनपरा भावार्थबोधे क्षमा।
श्रीमत्सुन्दरलालसौम्यविदुषा टीका हि भाषा कृता, यत्रत्या च निरीक्ष्य बोधनकला चित्ते प्रमोदो महान् ॥ २ ॥
अत्रत्य विपुल श्रम बुधवरे पाण्डित्यरूप तथा, लोकानामुपकारिणी सुललिता युक्तार्थसबोधिनी।
नव्या सर्वजनप्रिया गुणवती टीका समालोक्य च श्रीमत्सुन्दरलालविज्ञनिपुणो योग्यो मतो मादृशाम् ॥ ३ ॥

वंशस्थवृत्तम्

इय हि टीकाऽध्ययनानुरागिणा विवेकहेतु प्रतिवादकर्मणाम्। सदोपकार सुदृढ विधास्यति मत समीचीनमनारत मम ॥ ४ ॥

अर्थात्—अभी तक किसी भी विशिष्ट विद्वान् ने श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की, जो कि सार्थक नामवाला व ज्योतिष, वैद्यक, वैदिक समालोचना एव वाद विवाद-आदि अनेक विषयो का निरूपक है, चित्त को प्रमुदित करनेवाली भाषा टीका नही की ॥१॥ जन-समूह को 'यशस्तिलक' के ज्ञान के विना सदा अज्ञान-युक्त देखकर सौम्य प्रकृतिवाले **श्रीमत्सुन्दरलालजी** शास्त्री द्वारा ग्रन्थ का अर्थ विशेष रूप से वर्णन करने मे तत्पर व भावार्थ प्रकट करनेवाली भाषा टीका की गई है, जिस टीका की समझाने की कला देखकर हमारे चित्त मे महान् हर्ष हो रहा है ॥ २ ॥

इस कार्य सबधी महान् परिश्रम व टीकाकार की बहुश्रुत विद्वत्ता देखकर एव जनता का उपकार करनेवाली, ललित, सही अर्थ प्रकट करनेवाली, नवीन, सर्वजन समूह को प्यारी एव गुण-युक्त भाषा-टीका देखकर **श्री० सुन्दरलाल जी** शास्त्री विद्वानो मे निपुण है और हमारे सरीखे विद्वानो द्वारा सुयोग्य विद्वान् माने गए है ॥ ३ ॥

हमारी यह समीचीन व निश्चित मान्यता है, कि यह भाषा-टीका, इसके अध्ययन करने मे अनुराग करनेवालो के ज्ञान मे निमित्त होगी तथा वाद-विवाद करने वालो या वक्तृत्वकला सीखनेवालो का सदा दृढ उपकार करेगी ॥ ४ ॥

विनीत
रणजीतसिहमिश्रः

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ आश्वास

हे, अत अब क्या स्त्रियो को छोडकर उस उत्कृष्ट रा॰य॰क्ष्मी को भोगूँ ? यह भी उचित नही, क्योंकि स्त्रीजन के विना राज्यलक्ष्मी वन-सरीखी निस्सार है' । ३१

पुन यशोधर महाराज द्वारा स्त्रियो से विरक्त करने वाले नतिक सिद्धान्त सोचे जाना और 'स्त्रियाँ अपनी प्रकृति नही छोडती इनकी रक्षा का कोई उपाय नही है' इस बात का दृष्टान्त माला द्वारा समथन किया जाना ३२

पश्चात् उक्त घटना के कारण यशोधर महाराज द्वारा पूर्वकालीन अपने मन की रागकलुषता का और वतमान कालीन चित्त की निर्मलता-आदि का विचार किया जाना एव पापिष्ठ विधि को उलाहना दिया जाना-आदि वैराग्य-पूर्ण विचार किया जाना ३६

पुन यशोधर महाराज द्वारा तपोवन के प्रति प्रस्थान करने के लिये यह उपाय सोचा जाना कि 'यदि यह आज की रात्रि निर्विघ्न व्यतीत हो जायगी उस समय मै 'सर्वावसर' नाम के सभामण्डप मे बैठकर अपनी माता चन्द्रमती देवी व समस्त सेवक-समूह को बुलाकर ऐसा कूटकपट (मायाचार) करूँगा, जो कि अद्वितीय, अनुपदिष्ट व पूर्व मे अनुभव मे नही आया हुआ एव जो अनुचित होने पर भी समस्त विघ्नो को निवारण करने वाला है, इत्यादि' प्रसङ्ग वश प्रभात बेला का सरस वणन ४०

तदनन्तर मेरे द्वारा 'अखिलजनावसर' नाम के सभामण्डप मे पहुचना, वहाँ पर जब समस्त सेवकजन एकत्रित होकर यथास्थान पर स्थिति कर चुका था एव शास्त्र-वाचक (पुरोहित) प्रवृत्त हो चुका था । इसी प्रकार जब तक मेरे द्वारा चन्द्रमति माता के प्रति लेख भेजने की इच्छा से 'मनोरथसारथि' नाम के मत्री का मुख देखा जा रहा था । तब तक मेरे द्वारा अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक स्वय आती हुई चन्द्रमति माता का देखा जाना पश्चात् उसके सन्मुख जाना और उसे लाकर महान् सिहासन पीठ पर बैठाई जाना, एव उसकी आज्ञा से मेरा भी अपने सिंहासन पर बैठना । ४५

पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा मुझे आशीर्वाद दिया जाना । इसी अवसर पर कथावाचक द्वारा सुभाषिता पद्या का पढा जाना और उसके लिए, मेरे द्वारा (यशोधर महाराज द्वारा) पारितोषिक दिये जाने का आदेश दिया जान एव उसके लिए वसुवर्ष-खजानची द्वारा पारितोषिक दिया जाना । ४६

इसके बाद चन्द्रमति माता द्वारा मन मे ऐसा सोचा जाना कि 'मेरे पुत्र का मन सासारिक भोगो से विरक्त करने वाली वार्ताओ मे कैसे सलग्न हुआ ? ऐसा मालूम पडता है कि महादेवी के गृह पर प्राप्त हुए मेरे पुत्र को कोई वैराग्य का कारण अवश्य हुआ है ? क्योकि मेरे पुत्र ने इसे विशेष स्वाधीनता दे दी है । जो कि तलवार की धार-सरीखी पति के हृदय का विदीर्ण किये विना विश्राम नही लेती । मुझसे प्रियवदा ने कहा था, कि आपकी पुत्रवधू की दृष्टि उस 'अष्टवङ्क' नाम के निकृष्ट महावत से स्नेह करने मे तत्पर-सी मालूम पडती है ४७

पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा मुझसे स्पष्ट पूँछा जाना 'हे पुत्र ! इस युवावस्था मे तेरा मन धर्मकथाओ मे क्यो सलग्न है ? तेरी मुख-कान्ति म्लान क्यो है ? तेरा शरीर कान्ति-हीन क्यो है ? तुम सिंहासन पर निश्चल होकर क्यो नही बैठते ? इसे सुनकर यशोधर महाराज द्वारा माता को अपने द्वारा कल्पित स्वप्न-वृत्तान्त सुनाया जाना ४८

पश्चात् माता द्वारा आशीर्वाद देकर मुझे समझाया जाना और मेरा स्वप्न-दर्शन असत्य साबित करने के लिए दृष्टान्तमाला उपस्थिति की जाकर मुझे समझाया जाना——'हे पुत्र ! तुम इस समस्त राज्यादि वैभव को छोडकर किस अभिलाषा से तपश्चरण करते हो ? यह तपश्चरण स्वर्ग व मोक्ष-निमित्त नही हे । क्या प्रत्यक्षफल से परोक्ष-फल निश्चय से महान् होता है ? ४९

इसके बाद माता द्वारा कहा जाना-- 'हे पुत्र ! यदि आपको दुष्ट स्वप्न का भय हे तो कुलदेवता के लिए समस्त प्राणी-समूह की बलि (घात) करके दुष्ट स्वप्न का शमन-विधान करो। कुलदेवता के लिए प्राणियो का बलि-विधान सदा से चला आ रहा है और लोक-प्रसिद्ध भी है। पश्चात् उसके द्वारा मनु के दो उद्धरणो (श्लोक न० ४२-४३) द्वारा ओर वैदिक प्रमाणो द्वारा पशुबलि सिद्ध की जाना' ५०

तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा अपने दोनो श्रोत्र बन्द करके और श्वॉस ग्रहण करके पश्चाताप करते हुए कहा जाना—'हे माता ! यदि आपके द्वारा मेरे ऊपर कुपुत्र सबधी निन्दारूपी धूलि न फेकी जाय तो मेरे द्वारा कुछ कहा जाता है।'

उसे रोककर माता द्वारा नास्तिक दशन सबधी पूर्वपक्ष किया जाना। तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा अनेक प्रबल अकाटय युक्तियो से और ज्योतिष शास्त्र के आधार से नास्तिक दर्शन का निरसन (खण्डन) किया जाना ५१

पुन यशोधर महाराज द्वारा कहा जाना—'निश्चय से प्राणियो की रक्षा करना क्षत्रिय राजाओ का श्रेष्ठ धर्म हे, वह धम निर्दोष प्राणियो के घात करने से नष्ट हो जाता है। निश्चय से प्राणियो के व्यवहार-शास्त्र राजा के अधीन ह। प्राणियो के पुण्य व पाप के कारण तथा चार वर्णो व चार आश्रमो के आचरण व मर्यादाएँ भी राजाधीन प्रवृत्त होती है। वे राजा लोग काम, क्रोध व अज्ञान से जिस प्रकार पुण्य व पाप आरम्भ करते है उसी प्रकार प्रजा भी आरम्भ कर देती है। उक्त बात का दृष्टान्तमाला द्वारा समथन किया जाना इत्यादि अहिंसा प्रधान राजनीति की त्रिवेणी प्रवाहित की जाना' ५३

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा अनेक जैनेतर शास्त्रो के प्रमाणो से पशुबलि व मास-भक्षण का निरसन किया जाना। ५५

तदनन्तर यशोधर महाराज व 'इन्द्रार्चितचरण' नाम के मुनिराज के मध्य हुई प्रश्नोत्तरमाला का निरूपण होना जिससे यशोधर महाराज की अहिसाधम मे रुचि का उद्गम होना ५७

तत्पश्चात् चन्द्रमति माता द्वारा जैनधर्म पर दोषारोपण किया जाना, अर्थात्,–'हे पुत्र ! दिगम्बरो के धर्म मे देवतर्पण, पितृतर्पण व ब्राह्मण तपण नही हे, एव स्नान व होम की बात भी नही हे। ये लोग वेद व स्मृति से बहिर्भूत है, ऐसे दिगम्वरो के धर्म मे तुम्हारी बुद्धि किस प्रकार प्रवृत्त हो रही है ? जो दिगम्बर साधु ऊपर खडे हुए पशु-सरीखे आहार करते हैं। जो निर्लज्ज व शाच गुण से हीन है ! हे पुत्र। दिगम्बरो का पूर्व मे (कृतयुग, त्रेता व द्वापर आदि) मे नाम भी नही है। केवल कलिकाल मे ही इनका दर्शन हुआ है। इनके मत मे निश्चय से मनुष्य ही देव (ईश्वर) हो जाता है एव ईश्वर भी बहुसख्यावाला (चौबीस) है। इत्यादि' ५९

पुन यशोधर महाराज द्वारा उक्त दोषो का परिहार किया जाना। ६१

पुन यशोधर महाराज द्वारा जेनधर्म की प्राचीनता सिद्ध की जाना। ६३

तदनन्तर यशोधर महाराज द्वारा दिगम्बर साधुओ के दोषारोपणो का परिहार किया जाना और जैनो के आप्त का स्वरूप निर्देश करके जैनेतर आप्त का निरसन किया जाना। ६५

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा मास व मधु के त्याग का निरूपण करक वैदिक समालोचना की जाना ६६

पुन यशोधर महाराज द्वारा यथाथ शास्त्र का स्वरूप निर्देश करके आप्त की मीमासा की जाना ६८

इसके बाद चन्द्रमति माता द्वारा पुन पशु-बलि से कुल देवता की पूजा का तथा मधु, मद्य व मासभक्षण का समर्थन किया जाना ७१

पुन यशोधर महाराज द्वारा पशु-बलि आदि का निरसन किया जाना ७४

पश्चात् हे मारिदत्त महाराज ! जब वह मेरी (यशोधर की) माता (चन्द्रमति) मेरे उक्त प्रकार के वचनो से निरुत्तर हुई और जब उसके द्वारा कोई दूसरा उपाय नही देखा गया तब उसने मेरे पैरो पर पडकर मुझ से निम्नप्रकार प्रार्थना की—'हे पुत्र ! यदि तुम दुर्गति-गमन की आशङ्का से अथवा किसी दूसरे कारण से जीव-वध मे प्रवृत्त नही होते तो मत प्रवृत्त होओ, किन्तु आटे के मुर्गे से कुल-देवता के निमित्त बलि समर्पण करके उससे बचे हुए आटे मे मास का सकल्प करके तुम्हे मेरे साथ अवश्य भक्षण करना चाहिए।' ७६

पुन यशोधर महाराज की स्त्रियो के विषय मे मानसिक नैतिक विचारधारा का, एव मानसिक सकल्प से होने वाले दुष्परिणाम-आदि की विचारधारा का और तत्समर्थक दृष्टान्तमाला का निरूपण किया जाना ७७

तत्पश्चात् यशोधर महाराज द्वारा माता के प्रति स्पष्ट कहा जाना—'हे माता ! तेरी बुद्धि अयोग्य आचरण मे दुराग्रह से विशेष मलिन किस प्रकार हुई ? अस्तु इस कार्य (आटे के मुर्ग का मारण व उसको मास समझ कर भक्षण रूप कार्य) मे आप ही प्रमाण है। हे माता तुम्ही शिल्पियो को बुलाकर मुर्गा बनाने की आज्ञा दो एव यशोमति कुमार के राज्याभिषेक करने की लग्न के शोधन के लिये तुम्ही ज्योतिषियो को आदेश दो। ८०

इसके बाद कुलटा अमृतमति महादेवी द्वारा उक्त वृत्तान्त सुना जाकर कूटनीति का विचार किया जाना—'इस राजा के ऐसे कूट कपट का कारण निस्सन्देह मेरे द्वारा रात्रि मे किये हुए दुर्विलास को छोडकर दूसरा नही है। पश्चात् कुलटाओ की दृष्टान्त-माला स्मरण करके सोचती है—विरक्त को अनुरक्त बनाना शक्य नही। अत यह राजा जब तक मेरे ऊपर क्रोध रूपी विष का क्षरण नही करता तब तक मै ही इसके ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण करती हूँ। ८१

तत्पश्चात् अमृतमति महादेवी द्वारा 'गविष्ठिर' नामक मत्री का यशोधर महाराज के पास भेजा जाकर निम्नप्रकार सदेश भेजा जाना—'इस समय मेरे प्राणनाथ मोक्ष-सुख की इच्छा से अथवा उपस्थित हुए दोषो का निराकरण न होने की बुद्धि से दीक्षा धारण कर रहे है और मै पुत्र यशोमति कुमार की लक्ष्मी भोगती हुई गृह मे ही रहूँ यह बात अनुचित है' परन्तु यदि हम दोनो चरित्र-पालन मे तत्पर हो तो इसमे कोई आगम से विरोध नही है। क्योकि शास्त्रो मे पतिव्रता स्त्रियो के दृष्टान्तो द्वारा पतिव्रत धर्म का निरूपण किया गया है। दीक्षा-ग्रहण के दिन चन्द्रमति माता के साथ मेरे गृह पर आपको गणभोजन करना चाहिए।' ८५

इसके अनन्तर यशोधर महाराज द्वारा गणभोजन की स्वीकारता देकर 'गविष्ठिर' मन्त्री को वापिस भेज कर विशेष पश्चाताप किया जाना ८६

'अत इस चण्डिका देवी के मन्दिर मे गमन-करना आदि मे दैव ही शरण है' ऐसा विचार कर कुछ निद्रा-सुख को भोग कर यशोधर महाराज का जाग्रत होना। ९१

पश्चात् 'बैकुण्ठमति' नाम के क्षेत्रपाल द्वारा यह विदित होने पर कि चन्द्रमति माता चण्डिका देवी की चरण पूजा के लिए उसके मन्दिर मे सपरिवार गई है मेरे द्वारा भी ऐरावण-पत्नी नामकी हथिनी पर सवार होकर चण्डिका देवी के मन्दिर के प्रति प्रस्थान किया जाना इसी प्रसङ्ग मे अनेक अपशकुन का होना ९१

पुन 'हे चण्डिका देवी ! समस्त प्राणियो के मार देने पर जो कुछ फल होता है, वह फल यहाँ पर मेरे लिए प्राप्त होवे।' ऐसे अभिप्राय से यशोधर महाराज द्वारा चण्डिका देवी के सामने छुरी से उस मुर्गे का मस्तक काटा जाना, उस आटे के मुर्गे द्वारा जीवित मुर्गे की तरह शब्द किया जाना, उस मुर्गे के चूर्ण मे 'मास' ऐसा सकल्प करके रसोई घर मे भेजा जाना। उस दिन से दूसरे दिन अमृतमति देवी द्वारा माता-सहित मेरे लिए भोजन बनाया जाना, परन्तु उस पापिनी कुलटा अमृतमति द्वारा माता-सहित मेरे भोजनो मे विष प्रवेश किया जाना, जिससे यशोधर व उसकी माता का काल-कवलित होना, पुन अमृतमति द्वारा दिखाऊ रुदन आदि किया जाना एव कवि की कामना तथा महाकवि सोमदेव को छोडकर दूसरे कवि उच्छिष्ट भोजी है, इसका वर्णन। ९४

इति चतुर्थ आश्वासः

व गारुड-समूह से सहित उक्त बकरा-समूह के मध्य मे से वापिस लोटा जाना, इसी अवसर पर उसके द्वारा लोहे की नोक के तीर से मेरी माता बकरी का विदीर्ण किया जाना और उसका पेट फाड दिया जाना जिससे उसके द्वारा कम्पायमान शरीर वाला एव अगार-पुञ्ज के ऊपर धारण किया हुआ मॉस-सरीखा (यशोधर का जीव गर्भ-स्थित बकरा) देखा जाना और रसोइए के लिए प्रतिपालन निमित्त दिया जाना । १२५

इसी प्रस्ताव मे उस चन्द्रमति के जीव बकरी का मरकर कलिङ्ग देशो मे भैसा होना, और एक व्यापारी द्वारा खरीदा जाकर उसका उज्जयिनी मे आना और सिप्रानदी मे प्रविष्ट होना, पुन यशोमति महाराज के अश्व पर उसके द्वारा साघातिक प्रहार किया जाकर मारा जाना, जिसके फलस्वरूप राजा के आदेश से सेवको द्वारा घोर यन्त्रणा देकर उस भैसे को मार दिया जाना, यहाँ मास-लम्पट अमृत-मति द्वारा बकरे को पकवाकर भक्षण किया जाना । इस तरह भैसा और बकरे का प्राणान्त होना, अगले जन्म मे दोनो मुर्गा-मुर्गी हुए १२७

'मन्मथमथन' नाम के चरम देहधारी एक मुनिराज द्वारा जम्बूद्वीप के विजयार्द्ध पर्वत पर ध्यानस्थ होना, इसी प्रसङ्ग मे विजयार्द्ध पर्वत की छटा का सरस वर्णन किया जाना, 'कन्दलविलास' नाम के एक विद्याधर का आकाश-मार्ग से उधर से निकलना, मुनिराज के तप के माहात्म्य से उसके विमान का रुक जाना, जिससे कुपित होकर उसके द्वारा मुनि के ऊपर घोर उपसर्ग किया जाना, विद्याधरो के राजा रत्नशिखण्डी का प्रस्तुत मुनिराज के दर्शनार्थ वहाँ आना और 'कन्दलविलास' विद्याधर के दुष्कर्म को देखकर उस पर कुपित होना और उसे शाप देना कि इस दुष्कर्म के विपाक से तू उज्जयिनी मे चण्डकर्मा नाम का कोट्टपाल होगा १२८

विद्याधर द्वारा पैरो पर गिरकर प्रार्थना की जाने पर रत्नशिखण्डी द्वारा कहा जाना—'जब तुझे आचार्य सुदत्त के दर्शनो का लाभ होगा और तू उनसे धर्मग्रहण करेगा तो तेरी इस शाप से मुक्ति हो जाएगी' इसी प्रसङ्ग मे आचार्य सुदत्त का, जो कि कलिङ्ग देश के शक्तिशाली राजा थे, विस्तृत व अलकार युक्त वर्णन किया जाना १३३

रत्नशिखण्डी द्वारा विद्याधर से यह कहा जाना कि एक दिन दरबार मे सुदत्त राजा के समक्ष एक चोर उपस्थित किया गया, जो कि सोते हुए नाई को मार डालने और उसका सर्वस्व हरण करने का अपराधी था, राजा द्वारा उसे दण्ड देने के विषय मे धर्माधिकारियो की ओर दृष्टिपात किया जाना, धर्माधिकारियो द्वारा उसके ऐसे चित्र वध करने का आदेश देना, जिससे दस या बारह दिनो मे प्राणत्याग कर देने, यह सुन कर राजा को क्षत्रिय जीवन से विशेष अरुचि होना, जिससे उसके द्वारा राज्य त्याग कर अपने छोटे भाई को राज्यलक्ष्मी समर्पण करके जिन दीक्षा धारण की जाना १४१

इसी प्रसङ्ग मे रत्नशिखण्डी द्वारा 'कन्दलविलास' नामक विद्याधर के प्रति उज्जयिनी नगरी मे वर्तमान 'सहस्रकूट' नाम की वसति (जिन मन्दिर) का, जो कि चित्रालिखित षोडश स्वप्नोवाली है, श्लेषप्रधान अलङ्कारो द्वारा सरस वर्णन किया जाना एव परिसख्यालकार द्वारा उज्जयिनी का ललित निरूपण किया जाना १४२

पुन उस विद्याधरो के चक्रवर्ती रत्नशिखण्डी द्वारा उक्त निरूपण करके और मन्मथमथन ऋषि की पूजा करके इच्छित स्थान को प्रस्थान किया जाना और उसके शाप-वश कन्दलविलास विद्याधर का उज्जयिनी मे आकर चण्डकर्मा नामक कोट्टपाल होना १४६

पुन यशोधर के जीव (बकरे) का और चन्द्रमति के जीव (भैसे) का उसी उज्जयिनी के समीप एक चाण्डालवस्ती मे साथ-साथ मुर्गा-मुर्गी होना बाल्यावस्था व्यतीत हो जाने के बाद किसी अवसर पर चन्द्रकर्मा नाम के कोट्टपाल द्वारा दोनो मुर्गा-मुर्गी का एक चाण्डाल पुत्र के हस्तगत देखा जाना, पश्चात् उससे लेकर यशोमति महाराज के लिए दिखलाये जाना, पुन उनके द्वारा यह कहा जाना कि 'हे चण्डकर्मा ! यह मुर्गा का जोडा तब तक तुम्हारे ही

हस्तगत रहे, क्योकि मै सहस्रकूट चैत्यालय के उपवन मे कामदेव की पूजा के लिए जाऊँगा, तुम्हे वहाँ पर युद्ध क्रीडा के लिए इस पक्षी जोडे को दिखाना चाहिए।' जैसी आज्ञा कहकर चण्डकर्मा द्वारा पिञ्जरा के साथ प्रस्थान किया जाना। १५०

इसके बाद चण्डकर्मा का पिंजरे के साथ उसी उद्यान मे पहुँचना, एव उनके साथियो (शकुनसर्वज्ञ नामक विष्णुभक्त विद्वान्-आदि) का भी वहाँ पहुँचना, वहाँ पर उनके द्वारा अशोक वृक्ष के मूल मे विराजमान हुए सुदत्ताचार्य का देखा जाना, पश्चात् उनके समक्ष, शकुन सर्वज्ञ नामके विद्वान् द्वारा साख्यदर्शन का समर्थन किया जाना, वृषध्वज नाम के विद्वान् द्वारा मीमासक मत की स्थापना की जाना, हरप्रबोध द्वारा दक्षिणमार्ग व वाममाग के सिद्धान्तो का समथन किया जाना, और सुगत कीर्ति द्वारा बोद्ध दर्शन की स्थापना की जाना, एव चण्डकर्मा द्वारा चार्वाक मत का समथन किया जाना, पश्चात् आचाय सुदत्त द्वारा उन सभी दार्शनिको की मान्यता का अकाट्य युक्तियो द्वारा खडन किया जाना और अहिसा को ही धर्म का मूल बताना और अपने पक्ष का समर्थन करते हुए सुदत्ताचार्य द्वारा उन मुर्गा-मुर्गी के पूव भवो का वर्णन किया जाना, जिसके फलस्वरूप उन्हे यह निश्चय होना कि 'हमने यशोधर राजा व चन्द्रमति की पर्याय मे कुलदेवी के लिए आटे के मुर्गे की बलि चढाई थी, जिससे हमे इस भवचक्र मे घूमना पडा, इत्यादि' १५२

पश्चात् यशोमति महाराज द्वारा कुसुमावली महारानी के लिए अपनी शब्दवेधिता की कुशलता प्रदर्शित करने के लिए भेदने मे समर्थ बाण छोडा जाना, जिससे दोनो मुर्गा-मुर्गी का आहत होकर मर जाना और धर्म के माहात्म्य से दोनो का मनुष्य योनि मे जन्म लेना, अर्थात्—दोनो का यशोमति कुमार की रानी कुसुमावलि के गर्भ से यमज (जोडा) भाई-बहन के रूप मे उत्पन्न होना, इसी प्रसग मे गर्भवती कुसुमावलि रानी का वर्णन होना और रानी द्वारा अपने दोहले राजा के लिए प्रकट किये जाना और यशोमति महाराज द्वारा अधिकारियो के लिए उक्त कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा की जाना। पश्चात् उनका नाम 'यशस्तिलक और मदनमति रक्खा जाना और माता के दोहला के अधीन अभयरुचि और अभयमति नाम रखा जाना, प्रसगवश यशस्तिलक और मदनमति के कुमार काल का निरूपण किया जाना १६७

एक दिन यशोमति महाराज का शिकार खेलने के लिए जाना और उनके द्वारा सहसकूट जिनालय के उद्यान मे श्री सुदत्ताचार्य का देखा जाना, अजमार नामक विदूषक द्वारा यह कहा जाना कि राजन्! 'इस मुनि के दर्शन से आज शिकार मिलना असम्भव है, इसे सुनकर राजा का क्षुब्ध हो जाना। इसी अवसर पर सुदत्ताचार्य की वदना के लिए आए हुए **कल्याण मित्र** नाम के वणिक-स्वामी द्वारा यशोधर महाराज से कहा जाना—हे राजन्! असमय मे आपका मुख शोक से म्लान क्यो हो रहा है? विदूषक पुत्र अजमार—"हे वणिक् स्वामी इस अमङ्गलीभूत नग्न के देखने से'।

कल्याणमित्र द्वारा यह कहा जाना—'राजन्! ऐसा मत सोचो, क्योकि यह भगवान् निस्सन्देह पूर्व मे कलिङ्ग देश के राजा थे, तुम्हारे पिता से इनका वशानुगत पूज्यता का सबध था। इसने व्यभिचारिणी स्त्री सरीखी स्वय आई हुई राज्यलक्ष्मी को चञ्चल स्त्री-सी जानकर तिरस्कृत किया और त्रिलोक पूज्य तपश्चर्या मे स्थित है, अत इनकी अवज्ञा करना उचित नही है। पुन नग्नता के समर्थक अनेक प्रमाण दिये तब यशोमति कुमार द्वारा कल्याण मित्र के साथ मुनिराज को नमस्कार किया जाना और मुनिराज द्वारा उसे शुभाशीर्वाद दी जाना १६६

यशोमति कुमार को अपनी दुर्भावना पर पश्चाताप होना, और उसके मन मे यह विचार आना कि 'अपने शिर कमल से प्रस्तुत भगवान के चरणो की पूजा करनी ही इस पाप का प्रायश्चित्त है' प्रस्तुत आचार्य द्वारा राजा के मन की बात जानकर उसे रोका जाना इससे प्रभावित हुए यशोमति कुमार द्वारा उन्हे अतीन्द्रियदर्शी जानकर अपने दादा यशोर्ध

महाराज ओर पितामही चन्द्रमति और माता-पिता के विषय मे पूँछा जाना कि अब वे किस लोक मे हे ? मुनिराज द्वारा कहा जाना—राजन् ! तुम्हारे दादा यशोर्धमहाराज तो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग मे देव हे । तुम्हारी माता पाँचवे नरक मे है और तुम्हारी पितामही तथा पिता आटे के बने मुर्गे की बलि दने के पाप से अनेक जन्मो मे कष्ट उठाकर अब तुम्हारे गृह मे पुत्र-पुत्री के रूपमे वर्तमान हे । यह सुनकर यशोमति कुमार द्वारा अपने दुष्कृत्यो पर खेद-खिन्न होकर आचार्य से दीक्षा देने की प्रार्थना की जाना एव समस्त परिवार को बुलवाकर मुनिराज द्वारा कहा हुआ वृत्तान्त सुनाना १७१

इसके पश्चात् मुनिकुमार द्वारा राजा मारिदत्त मे कहा जाना 'राजन् ? हम वही अभयरुचि और अभयमति हं, अपने पूर्व भवो का वृत्तान्त सुनकर हमे अपने पूवजन्मका स्मरण होगया जिससे हमने ससार को छोड देने का निश्चय किया । उस समय हम दोनो की अवस्था केवल ८ वष की थी, इसलिए हमे क्षुल्लक के व्रत दिये गए । आचार्य सुदत्त के साथ विहार करते हुए आपकी नगरी मे आए तो तुम्हारे सेवक हमे पकड कर तुम्हारे पास ले आए ।।' १७५

मुनिकुमार की कथा सुनकर मारिदत्त राजा को अपने ऊपर बडी ग्लानि हुई, उसकी जीवन-धारा धर्म की ओर प्रवाहित होने लगी । पुन उसने मुनिकुमार से अपने समान बना लेने की प्रार्थना की । मुनिकुमार ने उन्हे अपने गुरु सुदत्ताचार्य के पास प्रस्थान करने को कहा १७६

इति पञ्चम आश्वास

१ ला कल्प

श्री० सुदत्तादाय का चण्डमारी देवी के मन्दिर मे पहुँचना, उससे मारिदत्त राजा की सभा का क्षुब्ध होना और मारिदत्त राजा द्वारा आचार्य की पूजा की जाने पर अभयरुचि क्षुल्लक द्वारा प्रस्तुत राजा का परिचय देने के लिए आचार्य से यह कहा जाना कि—'भगवन् यदुवश मे 'चण्डमहासेन' नाम का राजा था, प्रसङ्गवश यदुवश का व उक्त राजा का ललित निरूपण किया जाना और यह कहा जाना कि ये मारिदत महाराज उक्त राजा के सुपुत्र है और हमारी माता कुसुमावलि रानी के लघु भ्राता है, अर्थात्—हमारे छोटे मामा है, अब ये उपदेश सुनने के पात्र हे, अत इन्हे धर्मोपदेश दीजिए । पश्चात् मारिदत्त राजा द्वारा आचार्य के लिए नमस्कार किया जाना और निराकुल मनोवृत्ति वाले व बुद्धि गुणो से युक्त होकर पूज्य सुदत्ताचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न किये जाना 'भगवन् ! निस्सन्देह यह प्राणी धर्म से सुखी होता है, उस धर्म का क्या स्वरूप है ? और उसके कितने भेद हैं ? एव उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? और उसका क्या फल है ? १७९

इसके बाद आचार्य द्वारा धर्म, उसका स्वरूप व उसके भेद निरूपण किये जाना १८२

पश्चात् राजा द्वारा मोक्षमार्ग व ससारकारण गृहस्थ-धर्म व मुनिधर्म के विषय मे पूँछा जाना १८२

तत्पश्चात्--- आचार्य द्वारा मोक्षमार्ग व ससार के कारणो का निरूपण किया जाना १८३

— * —

कण्ठपर्यन्त व मस्तकपर्यन्त स्नान द्वारा बाह्य शुद्धि किये बिना देवपूजा का अधिकार नही, प्रशस्त मिट्टी-आदि से शुद्धि का विधान, आचमन किये बिना गृह मे प्रवेश-निषिद्ध, स्नान करके अव्यग्रचित्त होकर पवित्र वस्त्र पहनकर मौन व सयमपूर्वक देवपूजा की विधि करनी चाहिए, होम व भूतबलि का विधान, गृहस्थो के दो धर्म—लौकिक व पारलौकिक, जातियाँ व उनकी क्रियाएँ अनादि है, विशुद्ध जाति वालो के लिए जैन विधि, जैनो को वही लौकिक विधि विधान (विवाह आदि) मान्य है, जिसमे उनका सम्यक्त्व नष्ट नही होता और चारित्र भी दूषित नही होता, ३७६-३७६

३५ वाँ कल्प

देवपूजा के अधिकारी दो प्रकार के है, अन्य मत की प्रतिमाओ मे आप्त का सकल्प नही करना चाहिए, पुष्पादिक मे जिनेन्द्र देव की स्थापना करने वालो के लिए पूजा-विधि, पच परमेष्ठी तथा रत्नत्रय की स्थापना की विधि, अर्हन्त की पूजा, सिद्ध की पूजा, आचार्य-पूजा, उपाध्याय-पूजा, साधु पूजा, सम्यग्दर्शन-पूजा, सम्यग्ज्ञान-पूजा सम्यक् चारित्र पूजा, दर्शन-भक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्र-भक्ति, अर्हन्त-भक्ति, सिद्ध-भक्ति, चैत्यभक्ति, पचगुरु भक्ति, शान्ति-भक्ति, आचार्य-भक्ति। ३७६-३६४

३६ वाँ कल्प

प्रतिमा मे आप्त-आदि की स्थापना करने वालो के लिए पूजाविधि, अभिषेक, पूजा, स्तुति, जप, ध्यान व श्रुताराधना इन छह विधियो के कहने की प्रतिज्ञा, पूजक को स्वय उत्तर दिशा की ओर मुँह करके स्थित होने का और जिन प्रतिमा को पूर्वाभिमुख स्थापन करने का विधान, देव-पूजा के छह विधि विधान-प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना सन्निधापन, पूजा और पूजाफल, प्रभु की आरती, जलाभिषेक, मुनक्का दाख व खर्जूर-आदि के रसो से जिनेन्द्र का अभिषेक, घृताभिषेक, धारोष्ण दुग्ध-प्रवाह से जिनाभिषेक, दही से अभिषेक, इलायची, लौंग व कङ्कोल (सुगन्धि जडी बूटी) के चूर्णों के कल्को से प्रभु का अभिषेक, शुभ्र जल-पूर से भरे हुए चार कलशो से प्रभु का जलाभिषेक, गन्धोदका से अभिषेक, यज्ञान्तस्नान, सोलह पाँखुडीवाले कमल की कर्णिका मे अर्हन्त प्रभु को स्थापित करके उनकी पूजा करना व पूजा-फल ३६४-४०४

३७ वाँ कल्प

तीर्थङ्कर अर्हन्त भगवान् की स्तुति, इसी प्रसङ्ग मे (जिन-स्तुति को आधार मानकर) जैमिनीय मत-समीक्षा, साख्यदर्शन-मीमासा, चार्वाक-दर्शन-मीमासा, वैशेषिक दर्शन की मुक्ति-मीमासा, सृष्टि कर्तृत्व-मीमासा, वेद की ईश्वर कर्तृत्व मान्यता की समीक्षा, बौद्धदर्शन-मीमासा, बुद्ध के प्रमाणतत्व की मीमासा व ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार (बौद्धविशेष) मत-समीक्षा आदि विषयो का ललित व युक्तिपूर्ण विवेचन। ४०५ ४१३

३८ वाँ कल्प

जप-विधि, अनादि सिद्ध पैंतीस अक्षरो वाले पञ्चनमस्कार मन्त्र से जप करने का विधान, जप की माला-आदि, मन से व वचन से जप का विधान, पच नमस्कार मन्त्र का माहात्म्य, जप प्रारम्भ करने के पूर्व सकलीकरण-विधान-आदि। ४१३-४१५

३९ वाँ कल्प

ध्यान-विधि, पद्मासन या खड्गासन से स्थित होकर उच्छ्वासनिश्वास रूप प्राणवायु के प्रवेश व निर्गम को सूक्ष्म करते हुए पाषाण-घटित-सा निश्चल होकर ध्यानस्थ होना चाहिए, ध्यान, ध्याता व ध्येय का स्वरूप, धर्मध्यानी का परीषह-सहन, ध्यान के योग्य स्थान, सबीज ध्यान (पृथक्त्ववितर्कसवीचार शुक्लध्यान) का स्वरूप, अबीजध्यान (एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्ल ध्यान) का स्वरूप, धर्मध्यानी को अज्ञान-निवृत्ति आवश्यक, ध्यान की दुर्लभता व ध्यान का काल, धर्मध्यान की उत्पत्ति मे पाँच कारण, धर्म ध्यान के अन्तराय ९ दुर्गुण, ध्यानी को शत्रु-मित्र मे समभावी होने का विधान, पातञ्जल योगदर्शन के ध्यान का निरूपण और उसकी समीक्षा, धर्मध्यानी को शत्रु-मित्र मे समभाव रखने वाला व सत्यवादी होना चाहिए, आर्त व रौद्रध्यान का स्वरूप और उनके त्यागने का उपदेश, दोनो ध्यानो से होने वाला दुष्परिणाम, धर्मध्यान

का स्वरूप आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान का स्वरूप, अपायविचय का स्वरूप, सस्थानविचय का स्वरूप, विपाक विचय का स्वरूप, धर्मध्यान का फल, शुक्लध्यान का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, ध्यान करने के योग्य वस्तु, धर्म ध्यानी को क्या विचार करना चाहिये ?, अर्हन्त भगवान् का ध्यान करने योग्य स्वरूप, इसी प्रसङ्ग मे 'वैशेषिक, साख्य व बौद्धदर्शन की मुक्ति-मीमासा करके उक्त तीनो दार्शनिको के निर्वाण अनेकान्त शैली के अनुसार अलौकिक अर्हन्त भगवान् मे प्रकट रूप से विद्यमान है' इसका विवेचन, अर्हन्त भगवान का ध्यान करने से लाभ, पूजविधान मे व्यन्तरादिक देवताओ को अर्हन्त भगवान् के समान माननेवाला मनुष्य नरकगामी होता है, क्योकि जिनागम मे जिन-शासन की रक्षा के लिए शासन देवताओ की कल्पना की गई है, अत उन्हे पूजा का एक अश देकर उनको सन्मानित करना चाहिए, न कि जिनेन्द्रसरीखी अभिषेक-आदि पूजा द्वारा, निष्काम (नि स्पृह) होकर धर्माचरण करने का विधान, पचनमस्कार मन्त्र के ध्यान की विधि तथा महत्व, इस मन्त्र के ध्यान से समस्त उपद्रव शान्त हो जाते है, चूलिका-व्याख्या के कारण लौकिक ध्यान का निरूपण, लौकिक ध्यान की विधि, ध्यान का माहात्म्य,

शङ्का—ससारी जीव शिव (मुक्त) है और शिव ससारी जीव है, इन दोनो मे क्या कुछ भेद है ? क्योकि जीवत्व की अपेक्षा एक है, इसका समाधान, आत्मध्यान के विषय मे प्रश्न व उत्तर, शरीर और आत्मा की भिन्नता मे उदाहरणमाला, जैसे घी मन्थनादि उपाय द्वारा दही से पृथक् कर दिया जाता है वसे ही यह आत्मा ध्यानादि उपाय से शरीर से पृथक् की जाती है, शरीर साकार और आत्मा निराकार है इसके समर्थन मे उदाहरण-माला, आयुरूपी खम्भे पर ठहरा हुआ यह शरीर ही योगियो का गृह है, योगियो का मन इसी आत्मध्यान रूपी बन्धुजनो मे क्रीडा करता है, इन्द्रियो से प्रेरित आत्मा क्षणभर ध्यान मे स्थिर नही रहता, अत धर्मध्यानी को जितेन्द्रिय होना आवश्यक है, आप्तस्वरूप के ध्यान की विधि, पद्मासन, वीरासन और सुखासन का लक्षण और ध्यान की विधि। ४१५-४४०

४० वाँ कल्प

श्रुतपूजा—

४१ वाँ कल्प

४४०-४४२

प्रोषधोपवास का स्वरूप, उपवास की विधि, उपवास के दिन का कर्त्तव्य, उपवास के दिन आरम्भ के त्याग का विधान, प्रोषधोपवास के अतीचार, कायक्लेश के बिना आत्म-शुद्धि नही होती एव चारित्र धारक का माहात्म्य। ४४३-४४४

४२ वाँ कल्प

भोग व परिभोग (उपभोग) का लक्षण करके भोग परिभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप, यम और नियम का लक्षण, प्रस्तुत व्रत को सूरण-आदि के भक्षण का निषेध, भोगपरिभोगव्रत के अतीचार और इस व्रत से लाभ ४४४-४४५

४३ वाँ कल्प

दान का स्वरूप, दान म विशेषता का कारण, दाता, पात्र, विधि और द्रव्य का स्वरूप, सज्जन दाताओ के धन-वितरण के तीन उद्देश्य, दान के चार भेद, चारो दानो का फल, सबसे प्रथम अभयदान देने का विधान, उसकी प्रशसा, साधुओ के लिए आहार-दान देना, नवधा भक्ति, दाता के सात गुण, दाता के विज्ञानगुण का लक्षण, किनके गृहो मे साधु वर्ग को आहार-ग्रहण नही करना चाहिए ? गृहस्थ को दान-पुण्यादि धार्मिक कार्य स्वय करना चाहिए, स्वय धर्म करने का फल, मुनियो के आहार-ग्रहण के अयोग्य गृह, जिनदीक्षा तथा आहारदान के योग्य वर्ण, यज्ञ-(दान) पचक करना चाहिए, कलिकाल मे मुनियो के दर्शन की दुर्लभता, आधुनिक मुनियो को पूर्वकालीन मुनि-सरीखे समझकर पूजना चाहिए, पात्र के तीन भेद, अपात्र का लक्षण और उसे दान देना व्यर्थ, पात्र-दान से पुण्य, मिथ्यादृष्टि को केवल करुणा बुद्धि से ही कुछ देना चाहिए, बौद्ध व नास्तिक-आदि के साथ सबध-विच्छेद, अन्य तरह से पात्रो के पाँच भेद और उनका स्वरूप समयी आदि का लक्षण और उन्हे दान देने की प्रेरणा, जिस साधु मे ज्ञान और तप नही है, वह तो केवल सघ का स्थान भरने वाला है। योगियो के विनय करने की

विधि, गुरु के निकट त्याज्य व्यवहार, आहार-दान के लिए साधुओ की परीक्षा करने का निषेध, गुणो की विशेषता से साधु की पूज्यता मे विशेषता, सावर्मी के लिए धन-खर्च करना चाहिए ।

जैनधर्म अनेक पुरुषो के आश्रय से ठहरा हुआ है, साधुओ के नाम-आदि निक्षेप की अपेक्षा चार भेद, नामादि निक्षेपो का लक्षण, राजसदान, तामसदान का लक्षण, सात्विक दान का लक्षण, उत्तम, मध्यम, जघन्य दान, भक्तिपूर्वक शाक-पात का दान भी प्रचुर पुण्य का कारण, आहार-वेला मे मौन रखने का आदेश, मौनव्रत से लाभ, रुग्ण साधुओ की परिचर्या, श्रुत के पाठको और व्याख्याताओ के लिए निवास-स्थान, शास्त्र व आहारादि की सुविधा देना, क्योकि उनके अभाव मे श्रुत का विच्छेद हो जायगा, मुनियो को श्रुत के विद्वान् बनाना चाहिए, श्रुत का माहात्म्य, ज्ञान की दुर्लभता, महत्ता, अज्ञानी और ज्ञानी मे अन्तर, ज्ञान के विना पुरुष अन्धा-सा है, प्रत्येक शास्त्र मे स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलङ्कार और वर्णन किया हुआ विषय होता है, और स्वरूप-आदि के दो दो भेद, मुनिदान के अतीचार, मुनियो को नमस्कार-आदि करने से लाभ ४४५-४६१

४४ वॉ कल्प

श्रावको की ग्यारह प्रतिमाए, पूर्व प्रतिमाओ के चारित्र को पालन करने मे स्थित होकर आगे-आगे की प्रतिमाओ का चारित्र पालन करना चाहिए । एव समस्त प्रतिमाओ मे रत्नत्रय की भावनाए एकसरीखी कही गई है, ग्यारह प्रतिमाओ के नामधारको मे सज्ञाभेद, जितेन्द्रिय, क्षपण, श्रमण, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, मुनि, यति, अनगार, शुचि, निर्मम, मुमुक्षु, शसितव्रत, वाचयम, अनूचान, अनाश्वान्, योगी, पचाग्निसाधक, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, शिखाच्छेदी, परमहस, तपस्वी, अतिथि, दीक्षितात्मा, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अध्वर्यु, व ब्राह्मण इन मुनियो के नामो की युक्तिपूर्वक निरुक्ति और इसी प्रसङ्ग मे यथार्थ वेद व यथार्थ त्रयीविद्या की निरुक्ति, धर्म से युक्त जाति-श्रेष्ठ है, शैव, बौद्ध, साख्य और द्विज की निरुक्ति व स्वरूप, दान के अपात्र व्यक्ति, देशविरत और सर्वविरत की अपेक्षा से भिक्षा के चार भेद ४६१-४६६

४५ वॉ कल्प

शरीर को विनाशोन्मुख जानकर समाधिमरण करना चाहिए, शरीर-त्याग करना आश्चर्यजनक नही किन्तु सयम धारण आश्चर्यजनक है, अत विनश्वर शरीर के नष्ट होने मे शोक नही करना चाहिए, शरीर, स्वय समाधि के समय को ज्ञापित कर देता है, जब मानवो को यम-दूती-सी वृद्धावस्था आजाय तब उन्हे जीवन की लालसा क्यो करनी चाहिए ? समाधिमरण को विधि, यदि अन्त समय मन मलिन हो गया, तो जीवनपर्यन्त किया हुआ धर्माराधन व्यर्थ है, क्रमश अन्न का त्याग कर दूध व मठ्ठा रख लेवे पुन उन्हे भी छोडकर गमजल रख लेवे ।

पश्चात् सब कुछ छोड देवे, अचानक मृत्यु आने पर यह क्रम नही, आचार्य-आदि कुशल हो तो समाधि मे कठिनता नही होती, सल्लेखना के अतीचार, समाधिमरण से लाभ ४६७-४७०

प्रकीर्णक का लक्षण, धर्मकथा करने का पात्र, तत्वज्ञान म बाधक दोष, सशयालु की असफलता, आठ मद, घमण्ड मे आकर साधर्मी जनो का निन्दक धर्मघाती है, गृहस्थ के छह धार्मिक कर्त्तव्य, देवपूजा को क्रमिक विधि (छहक्रियाए), कल्याण-प्राप्ति के उपाय, शिष्य-कर्तव्य, स्वाध्याय का स्वरूप, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानु योग का स्वरूप, जीवसमास, योग, गुणस्थान व मार्गणा इनके प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद, चारो गतियो मे होनेवाले गुण-स्थानो की सख्या, तप के दो लक्षण, सयम का स्वरूप, कषाय की निरुक्ति और भेदो का लक्षण, अनन्तानुबन्धि कषाय—सम्यक्त्व की घातक, अप्रत्याख्यान—देशव्रत की घातक प्रत्याख्यान सयम की घातक और सज्वलन—-यथाख्यात चारित्र की घातक कोध, मान, माया व लोभ के शक्ति की अपेक्षा चार-चार भेद और उनके कार्य, क्रोध का दुष्परिणाम, मान, माया और लोभ से हानि, समय रूपी कीलो द्वारा क्रोध-आदि कषाय रूपी शल्यो को निकालने का उपदेश, जितेन्द्रिय होने का उपदेश, विषय विष के तुल्य है, व्रती-कर्तव्य, वैराग्य का स्वरूप, तत्वचिंतन का स्वरूप, नियम व यम ४७०-४७८

इसप्रकार सुदत्ताचार्य द्वारा गृहस्थ-धर्म कहा जाना और चण्डमारी देवी, मारिदत्त महाराज व नगरवासी जनो

— * —



श्रीसमन्तभद्राय नम

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यम्

उत्तरखण्डम्

यशस्तिलकदीपिका-नाम भाषाटीकासमेतम्

चतुर्थ आश्वास

श्रीमानस्ति समस्तवस्तुविषयव्यापारपारगम पारेऽशेषतम पयोधि कृतधीर्मध्ये गुणाम्भोनिधि ।
कि चान्यद्भुवनत्रयस्य पतयो यस्मिन्नवाप्तोदये जायन्ते प्रतिचारका इव पुरश्छत्रत्रय बिभ्रत ।। १ ।।
तद्ध्यानत्विषि जातकल्मषमुषि प्रादुर्भवज्ज्योतिषि त्रैलोक्यक्षुभि दत्तयात्रककुभि स्वर्गिस्मृतानुष्टुभि ।
यस्मिन्नच्युति सर्वलोकमहति स्तोत्रोन्मुखश्रीकृति श्रेयोभाजनता जन परमगात्स स्ताच्छ्रिये वो जिन ।। २ ।।

अनुवादक का मङ्गलाचरण

जो है मोक्षमार्ग के नेता, अरु रागादि विजेता है।
जिनके पूर्णज्ञान-दर्पण मे, जग प्रतिभासित होता है।।
जिनने कर्म-शत्रु-विध्वसक, धर्मतीर्थ दरशाया है।
ऐसे श्रीऋषभादि प्रभु को, शत-शत शीश झुकाया है।। १।।

जो अन्तरङ्ग लक्ष्मी—अनन्तज्ञानादि व वहिरङ्ग लक्ष्मी—समवसरणादि विभूति से अलकृत है जो समस्त जीवादि तत्वो के प्रत्यक्ष जानने मे पारगामी है, जो समस्त अज्ञानसमुद्र से दूरवर्ती है, पूर्वजन्म मे बाधी हुई तीर्थङ्कर प्रकृति के कारण जो सार्थक नामवाले (तीर्थङ्कर) है, जो अनन्तज्ञानादि गुणरूप समुद्र के मध्य मे वर्तमान है तथा केवलज्ञानादि लक्ष्मी के प्राप्त होने पर जिनके मस्तक पर तीन लोक के स्वामी (इन्द्र व धरणेन्द्रादि) तीन छत्र धारण करते हुए सेवको-सरीखे आचरण करते है, ऐसे ऋषभदेव तीर्थङ्कर भगवान् आप लोगो को स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए होवे[1] ।। १ ।।

जिनके धर्मसाम्राज्य मे समस्त लोक निश्चय से शाश्वत कल्याण परम्परा को प्राप्त हुआ। जिनकी शुक्लध्यानरूप ज्योति समस्त कर्मों को समूल नष्ट करनेवाली है। जो पाप कर्मो को नष्ट करनेवाले हुए है अर्थात्—जिन्होने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिया कर्मो का तथा नामकर्म की सोलहप्रकृतियो का क्षय किया है। जिनकी विशुद्ध आत्मा मे केवलज्ञानरूप तेज उत्पन्न होरहा है। अर्थात् घातिया कर्मसघात के घातने पर जिनके केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, जिससे तीन लोक मे सचलन—आस-नादि-कम्पन हुआ है, अर्थात् केवल ज्ञान प्रकट होने के अवसर पर इन्द्रादिको के आसन कम्पायमान होते है

---

१ रूपक उपमालकार ।

अहो स्वकीयप्रतापोद्रेकमुद्रितसमस्तसमुद्र कुवलयानन्दनचन्द्र, अन्यदा तु वियद्वनविकासोद्वेल्लत्कङ्केलिपल्लवोल्लासलालसे गगनकाननप्रबोधप्रधाविधातकीप्रसवपेशलत्विषि प्रचेतपुरकान्तारस्मेरताजिह्मब्रह्मातरुप्रसूनसदोहसुन्दरे त्रिदिवोद्यानान्तरालनिलीनोन्मीलल्लाङ्गलीलतान्तकान्तरुचि पश्चिमाचलस्थलविलासिनीशिखण्डमण्डनोत्तसविकसत्काश्मीरकुसुमकेसरासरालाभोगभङगे अहर्पतिपथानुसारिदिवसलक्ष्मीपिण्डालक्तकरसप्रसाधितचरणमार्गनिर्गमद्युति खरकरानुव्रजनपराम्बरचरचमूरचितारुणमणिविमानप्रभापटलतुलने त्रिपुरदाहोर्जितधूर्जटिनिटिललोचनानलज्वलद्दानवनगरनीतिनिकटे सुरासुरसमरमेदिनीद्रवद्रुधिरपूरप्रकाशिनि दिनकृत्करकृपाणपातितदैत्यचिताचक्रवालानुकूले मातृमण्डलक्रीडाकीलालकुण्डकान्तिनिकेतिनि रविरथतुरगवेगखरखुरोदस्तास्तमस्तकमन शिलाधूलिलीले चण्डीशताण्डवाडम्बरावसरसुरप्रसारितसुवर्णमण्डपश्रिणि

और जिससे स्वर्गलोक मे घण्टानाद-आदि होते है। जिनके केवलज्ञान कल्याणक की पूजा के लिए देवो ने अनेक दिशाओ मे गमन किया है। जिनकी अनेक इन्द्रादिको द्वारा समवसरण मे विशेष श्रद्धापूर्वक अनुष्टुप् आदि छन्दो से स्तुति की गई है। जो निश्चलता को प्राप्त हुए है, अर्थात्—विहार करने के बाद योग-निरोध हो जाने से जो निश्चल हुए है। जा समस्त लोको के परमगुरु हो जाते है, अर्थात् अर्हन्त अवस्था के बाद जिन्होने सिद्ध पदवी प्राप्त की है एव जो स्तुति करने मे उत्कण्ठा रखनेवाले इन्द्रादिको के लिए लक्ष्मी उत्पन्न करनेवाले है, अर्थात् जिनका निर्वाण कल्याणक इन्द्रादिको द्वारा विशेष उल्लासपूर्वक मनाया गया है ऐसे वे जिनेन्द्र प्रभु आप लोगो के लिए स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए होवे[1] ॥ २ ॥

अपनी प्रताप की विशेषता से चारो समुद्रो को चिह्नित करनेवाले व कुवलय (पृथिवी मण्डल) को उसप्रकार आनन्दित करनेवाले जिसप्रकार चन्द्रमा कुवलयो-चन्द्र विकासी कमलो को आनन्दित (प्रफुल्लित) करता है, ऐसे हे मारिदत्त महाराज! अन्य अवसर पर मै भी (यशोधर महाराज), पैदल मार्ग से ही तब अमृतमति महादेवी के महल द्वार पर प्राप्त हुआ, जब ऐसा सध्या कालीन लालिमा का तेज प्रकट हो रहा था। जिसकी उत्कट अभिलाषा, आकाशरूपी वन के विकास से कम्पित होते हुए अशोक वृक्ष के पल्लवो के प्रफुल्लित करने मे है। जिसकी कान्ति आकाशरूपी वन के उद्योत के लिए शीघ्र गमनशील धातकी पुष्पो-सरीखी मनोज्ञ है। जो ऐसे पलाश पुष्पो के समूह-सरीखा मनोज्ञ है, जो कि वरुण नगर के वन के विकास मे प्रगुण (प्रचुर) हैं। जिसकी कान्ति, स्वर्ग के बगीचे के मध्य मे स्थित हुई व विकसित होने वाली जल पिप्पली (जल पीपल) के पुष्पो सरीखी (लालिमा-युक्त) मनोहर है। जिसकी रचना, अस्ताचल के स्थल पर स्थित हुई कमनीय कामिनियो के मस्तक को अलङ्कृत करने वाले मुकुट पर विकसित होते हुए केसर पुष्पो की पराग के प्रचुर विस्तार सरीखी है। जिसकी कान्ति सूर्य के मार्ग का अनुसरण करनेवाली दिवस लक्ष्मी के पिण्डप्राय लाक्षारस से सुशोभित हुए चरणो के मार्ग-निर्गम सरीखी है।

जिसकी तुलना सूर्य के पीछे गमन करने मे तत्पर हुई देवसेना द्वारा निर्मित हुए पद्मराग मणि के विमानो की कान्ति-समूह से होती है। जिसके समीप उन दानव नगरो (त्रिपुर-पुरो) की सदृशता है, जो कि त्रिपुर नाम के दैत्य विशेष को भस्मीभूत करने मे अप्रतिहत व्यापारशाली श्री महादेव के ललाट पर स्थित हुई तृतीय नेत्र की अग्नि द्वारा जल रहे थे। जो, देव और दानवो की युद्धभूमि पर बहते हुए रुधिरपूर सरीखा प्रकाशशील है। जो सूर्य के हस्त पर वर्तमान तलवार द्वारा मारे हुए दैत्यो की मृतकाग्नि के मण्डल-सरीखा है। जिसकी तुलना मातृमण्डल की क्रीडा के रुधिर कुण्ड की कान्ति के साथ होती है। जिसमे उस अस्ताचल पर्वत के शिखर की मैनशिल सम्बन्धी धूलि की शोभा वर्तमान है, जो कि सूर्य-रथ के घोडो की वेगशाली तीव्रतर टापो से उठी हुई थी। जिसमे श्री महादेव के ताण्डव नृत्य के आडम्बर (विस्तार) के अवसर

---

१ अतिशयालकार।

तमस्तमालारामप्रथमतराविर्भूतकिशलयस्तम्बाडम्बरे अपरगिरिशिखराश्रयाश्रमावासतापसावानवितानितधातुजलपाटलपट-प्रतानस्पृशि पूर्वेतराकूपारतीरावतरत्तपनस्यन्दनातिथेयक्रियोत्तालजलधिजलदेवताप्रकल्पितप्रवालाङ्कुरोपचारव्यतिकरे सकल-विषयिवश्यतावेशविजृम्भिष्यमाणमनसिजैश्वर्यपर्याप्तपत्रसिन्दूरमुद्रोद्रेकरोचिषि नवयौवनरसवशाङ्गनापयोधरभराविर्भविष्यन्म-दनद्रुमकन्दलकदम्बविडम्बिनि रतिकलहकृतिकुतूहलबहलविलासिजनसैनिकशृङ्गारसगरसभावनोत्तरङ्गान्तरङ्गानङ्गविस्तारि-तातिरिक्तसकेतकेतुकमनीये मिथुनचरपतङ्गरागापहारादिव दरदकन्दरपरागसगमादिव दाडिमीकुसुमकुड्मलपरिमलनादिव द्युनदीतीरतपोधनोन्मुक्तरक्तचन्दनवन्दनादिव कनककेतकीरजोरञ्जनादिव वृक्षोत्पलमञ्जरीमकरन्दस्पन्दादिव च नितान्त लोहितायति निजारुणिमरञ्जितवरुणपुरपुरन्ध्रिकाधरदले सति सध्यारागमहसि,

तरसरसिकराक्षसक्षोभसमीक्षयारुणतोद्रेकदुर्दिनहृदयरक्षावेक्षणादिव अधोक्षजविपक्षोत्क्षीबदानवावस्कन्दभीते-

---

पर देवो द्वारा फैलाए हुए सुवर्ण मण्डप की शोभा वर्तमान है। जिसका विस्तार अन्धकाररूपी तमाल वृक्षो के वन से पूर्व मे ही प्रकट हुए पल्लवोके समूह-सरीखा है। जो, अस्ताचल पर्वत की शिखर पर आश्रय वाले निवास गृहो मे रहने वाले तपस्वियो के गीले व चँदेवारूप किये गए (सुखाने के लिए फैलाए हुए) तथा गेरु के जल से लाल किये हुए वस्त्रो के विस्तार की सदृशता धारण करता है।

जिसमे समुद्र की जल देवताओ द्वारा, जो कि पश्चिम समुद्र के तटपर आते हुए सूर्यरथ की अतिथि सत्कार-क्रिया मे उत्कण्ठित हो रहे थे, रची हुई पल्लवाङ्कुरो की पूजा की तुलना पाई जाती है। जिसकी कान्ति समस्त कामी पुरुषो के वशीकरण प्रदेश पर फैलने वाली कामदेव की लक्ष्मी के परिपूर्ण लेख मे स्थित हुए सिन्दूर-चिह्न की प्रचुरता-सरीखी है। जो उन कामदेवरूपी वृक्ष के नये अङ्कुर-समूह को तिरस्कृत करता है, जो कि नई जवानी के रस मे पराधीन हुई कमनीय कामिनियो के कुचकलशो के भार से प्रकट हो रहे थे। जो ऐसे मन मे स्थित हुए कामदेव द्वारा फैलाई हुईव विशेष लालिमा वाली सकेत ध्वजाओ-सरीखा मनोहर है, जो कि कामी पुरुषो के समूहरूपी सैनिको के रति क्रीडा युद्ध की, जो कि रति क्रीडा सम्बन्धी कलह विधान मे विशेष कौतुक करता है, विशेष रुचि मे उत्कट है। जो विशेष विस्तृत लालिमा-युक्त होने से ऐसा मालूम पडता था—मानो रात्रि निकट होने के कारण चकवा-चकवी पक्षियो का वियोग हो जाने से उनके राग का अपहरण करने से ही मानो विशेष लालिमा-युक्त हुआ है। अथवा जो ऐसा प्रतीत होता था—मानो हिंगुल व गुफाओ सम्बन्धी परागो के सगम से ही ऐसा हुआ है। अथवा ऐसा मालूम पडता था—मानो दाडिम वृक्ष के फूलो की कलियो के विमर्दन से ही ऐसा हुआ है। अथवा मानो—गङ्गा नदी के तटो पर वर्तमान तपस्वियो द्वारा सूर्य की पूजा के लिए ऊपर फैंके हुए लाल चन्दन के सङ्गम से ही ऐसा हुआ है। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो धतूरा अथवा टेसू अथवा नाग केसर तथा केतकी के पुष्पो की पराग सम्बन्धी लालिमा के सयोग से ही ऐसा हुआ है। अथवा मानो—कर्णिकार वृक्षो की पुष्प मञ्जरियो के पुष्प रस के क्षरण से ऐसा हुआ है और जिसने अपनी लालिमा द्वारा पश्चिम दिक्पाल-नगर की कमनीय कामिनियो के ओष्ठदल रञ्जित किये है।[1]

इसी प्रकार जब स्थल कमलो के समूह की पत्र-श्रेणी सकुचित हो रही थी, इससे ऐसा मालूम पडता था—मानो—कच्चे मास की आकाक्षा करनेवाले राक्षसो से उत्पन्न हुए क्षोभ के देखने से विशेष लालिमा-युक्त अपने हृदयो के सरक्षण की आकाक्षा से ही मानो अपने पत्र-समूह सकुचित कर रहे थे। अर्थात् मानो—स्थल कमलो ने ऐसा विचार किया कि 'हमारे हृदय लाल है, इसलिए कही राक्षस उन्हे मास समझकर भक्षण न कर लें' इस प्रकार की शका से ही मानो—कमलो ने अपने हृदयो का सवरण (सकोच) कर लिया था।[2]

अथवा मानो—श्री नारायण के शत्रुभूत व विशेष अभिमानी दानवो की रात्रि सबधी वाधा के भय

---

१ उत्प्रेक्षालकार। २, उत्प्रेक्षालकार।

दितिसुतशत्रुकलत्रपरित्राणचरित्रेणेव जराजिह्मब्रह्मासनस्खलनसम्भावनया सर्वतस्तदवष्टम्भसम्भ्रमादिव च सकोचोदञ्चत्पुट-प्रकाण्डे स्थलनलिनखण्डे, अतिमात्रवारुणीसमागमादिव मन्दरगिरिशिखरजवनिकानिवेदितसर्वानवसरेऽपि घनघुसृणारुणितसुर-सुन्दरीकपोलच्छविनि वितप्यमानतपनीयतलिकाकृतिमनोहरे भुवनान्तरप्रयाणकर्मणि पुनर्दर्शनादरादिव कमलिनीकुलकुड्मल-प्रणामाञ्जलिकारके तमोरातिमण्डले, पुनरावृत्तिभयात्तदवतरणपथमुदीक्षितुमिव विनतविश्वम्भरावकाशदेशरोहिणि महीरुह-गहनानि श्रितवति दरजरच्चिकुरनिकुरम्बानुकारिणि तिमिरनिकरे, चीवरोपरागनिरतान्तःकरणेनापरगिरिशिखरान्तर-विहारिणा मुनिकुमारनिकायेन करचापलादिव परिमुषितबहलतरपाटलिम्नि पुनर्मुहूर्तमात्रमतिपुराणकपिलपनलीलातुल्यता-मनुशील्य क्षणादुपशान्तवयसि समस्तसध्यारागतेजसि, सुरनदीसभेदरेखारुचिकान्तेषु च समन्ततो वियत्पर्यन्तेषु, बहुलीभ-वन्तीष्विव च योषितामलकधूपधूमेषु, वलयितास्विवावतसकुवलयेषु, स्खलितवेगास्विव कृष्णागुरुपिञ्जरितकर्णपालीषु,

से श्रीनारायण की पत्नी (लक्ष्मी) के सरक्षण के लिए मानो स्थल कमल समूह की पत्र-श्रेणी सकुचित होरही थी। अथवा मानो—वृद्धता के कारण शक्तिहीन हो रहे ब्रह्मा के ध्यान भङ्ग की रक्षा करने के उद्देश्य से ही समस्त दिशाओ मे उनको थाँभने के लिए (वृद्ध होने के कारण कही गिर न जावें) इस प्रकार का आदर करने के कारण से ही मानो स्थल कमल समूह की पत्र-श्रेणी सकुचित हो रही थी। इसीप्रकार जब सूर्य इसप्रकार का हो रहा था। अस्ताचल की शिखररूपी जवनिका (पर्दा) द्वारा जिसने समस्त लोक को अनवसर (अप्रस्ताव) सूचित किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता था—मानो विशेष मात्रा मे वारुणी-समागम (मद्यपान पक्षान्तर मे पश्चिम दिशा का आश्रय) करने से ही उसने समस्त लोक को अनवसर सूचित किया था। इसीप्रकार जिसकी कान्ति प्रचुर केसर रस से अव्यक्त लाल किये हुए सुर-सुन्दरियो (देवियो) के गालो जैसी थी।

इसी प्रकार जो अग्निमे तपाई हुई सुवर्णमयी कडाही की आकृति सरीखा मनोज्ञ था। जिसका प्रस्थान कर्म अपर विदेहक्षेत्र मे हो रहा था और 'पुनर्दर्शन हो', इस आदरसे ही मानो—कमलिनियोके वन की अध-खिली कलियाँ ही जिसके लिए प्रणामाञ्जलि करने वाली थी।[1]

इसी प्रकार जब अन्धकार-समूह ऐसे वृक्षो के वनो मे प्रविष्ट होचुका था, जो कि नीची पृथिवी के अवकाश प्रदेशो मे उत्पन्न हो रहे थे। इसलिए जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—'श्री सूर्य पुन आवेगा' इस भय से उसके आगमन-मार्ग को बार-बार या छिप-छिप करके देखने के लिए ही मानो—वह वृक्षो के वनो मे प्रविष्ट हुआ था। इसी प्रकार जो कुछ शुभ्र केश समूह की सदृशता धारण कर रहा था[2]।

इसी प्रकार जब ऐसा समस्त सध्याकालीन लालिमा का तेज, अल्पकालमे अत्यन्त जरा (वृद्धावस्था) से जीर्ण हुए वन्दर की मुख-शोभा की सदृशता का अभ्यास करके क्षण भर मे नष्ट तारुण्यशाली (मन्द तेजवाला) हो रहा था। इससे जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—जिसकी प्रचुर लालिमा, ऐसे मुनिकुमार समूह द्वारा हस्त की चपलता से ही चुराई गई थी, जिसका मन गेरुआ रक्तवस्त्र की रक्तता मे तत्पर (भ्रान्ति प्राप्त) है और जो अस्ताचल की शिखरो के मध्य भागो पर विहार करनेवाला है, इसी कारण से मन्द तेजवाला हुआ है[3]।

इसी प्रकार जब निम्नप्रकार की घटनाएँ घट रही थी तब मै अमृतमति महादेवी के महल-द्वार पर आया।

जब सर्वत्र आकाश केप्रान्त भाग गङ्गा-यमुना के सङ्गम की आवली की शोभा-सरीखे मनोहर हो रहे थे। अर्थात् कुछ दिन शेष होने के कारण जब आकाश के प्रान्त भाग उज्ज्वल व कृष्ण हो रहे थे। जब ऐसी अन्धकार लहरीरूपी समुद्र-लहरियाँ, उसप्रकार प्रचुरतर होकर सुशोभित हो रही थी जिसप्रकार कमनीय कामिनियो के केशपाश सम्बन्धी धूप के धुआँ प्रचुरतर होते हुए शोभायमान होते है। जो, वेष्टन को प्राप्त

१ उत्प्रेक्षालकार। २ उत्प्रेक्षालकार। ३. उत्प्रेक्षालकार.।

प्रवृत्तप्रवाहास्विव घुसृणरसविच्छुरितभ्रूलतालेखासु, प्रसरन्तीष्विव लोचनाञ्जनमार्गेषु, स्तिमितायमानास्विव ताम्बूलकृष्णिकाश्यामलिताधरदलेषु, घनभावमुपगतास्विव स्तनाभोगलिखितमृगमदपत्रभङ्गेषु, लब्धावकाशास्विव सान्द्रसुरभितनाभिकुहरेषु, पयोधरपथप्रस्थितास्विव तमालदलधूलिधूसरितरोमराजिनिगमेषु, मन्थरप्रकारास्विव मेखलामणिकिंकिणीजालवदनेषु, विहितावतारास्विव नीलोपलतुलाकोटिषु, मुक्ताफलदन्तुरास्विव निर्मार्जितचरणनखपरम्परासु, पर्यस्तविद्रुमवनास्विव यावकपुनरुक्तकान्तिप्रभावेषु पादपल्लवेषु, पूर्वदिगन्तादितस्ततो धावन्तीषु कृष्णलामुखमलिनरुचिषु तमःपयोधिवीचिषु, सर्वं विष्णुमयं जगदिति सत्यता नयतीव प्रतिक्षणं कृष्णतां पुष्णति विष्वद्रीचि भुवने सजाते च प्रदोषसमये, तदनु कामिनीप्रसाधनेष्विव यथास्थानमुपसरत्सु वनमृगेषु, प्रवसितेष्विव वासराश्रयोन्मुखेषु विकिरनिकरेषु, वारवनितास्विव स्ववासाङ्गणभागिनीषु शार्दूलसमितिषु, कितवकटित्रेष्विव विमुच्यमानेषु सन्ध्योपासनाञ्जलिमुकुलेषु,

---

होती हुई उस प्रकार सुशोभित हो रही थी जिस प्रकार स्त्रियोके कर्णपूर सम्बन्धी नील कमल वेष्टन को प्राप्त हुए शोभायमान होते है।

जो उस प्रकार निश्चल होती हुई सुशोभित हो रही थी जिसप्रकार कृष्णागुरु से विलिप्त हुए कर्णो के पर्यन्त भाग निश्चल होते है। जो उसप्रकार चलित प्रवाह वाली है जिस प्रकार कुकुम या केसर रस से व्याप्त हुई भुकुटिरूपी लता-पक्तियाँ चलित प्रवाह वाली होती है। जो उस प्रकार विस्तृत हो रही थी जिस प्रकार नेत्रो के कज्जल मार्ग विस्तृत होते है। जो उस प्रकार निश्चल हो रही थी जिस प्रकार ताम्बूल की कृष्णता द्वारा कृष्ण किये गए ओष्ठ दल निश्चल होते है। जो उस प्रकार कठिनता को प्राप्त हो रही थी जिस प्रकार विस्तृत कुच कलशो पर लिखी हुई कस्तूरी की पत्ररचना कठिनता प्राप्त करती है। जिन्होने उस प्रकार प्रवेश प्राप्त किया था जिस प्रकार प्रचुर व सुगन्धी कृत नाभिच्छिद्र प्रवेश प्राप्त करते है।

जिन्होने उस प्रकार पयोधर-पथ (आकाश-मार्ग) मे प्रस्थान किया था जिस प्रकार तमाखू के पत्तो की धूलि से धूसरित रोम-राजियो के निर्गम पयोधरपथ (कुच कलशो का मार्ग—वक्ष स्थल) पर प्रस्थान करते है।

जो उसप्रकार मन्द गमन के प्रकार से युक्त थी जिसप्रकार कटिमेखलाओ (करधोनियो) की रत्न-निर्मित क्षुद्र घण्टिकाओ की श्रेणी के अग्रभाग मन्दगमन के प्रकार-युक्त होते है। जिन्होने उसप्रकार प्रवेश प्राप्त किया था जिस प्रकार नील मणियो के नूपुर प्रवेश प्राप्त करते है। जो उस प्रकार मुक्ताफल के दाँतो से युक्त थी, जिस प्रकार निहन्नी द्वारा कृश की हुई चरणो की नख परम्पराएँ मुक्ताफल के दाँतो सरीखी शुभ्र होती है।

लाक्षारस से द्विगुणित कान्ति प्रभाव वाले चरणो के प्रान्त भागो पर जिनके द्वारा प्रवाल रत्नो के वन गिराए गए है, ऐसी सुशोभित हो रही थी। जो पूर्व दिशा के प्रान्त भाग से यहाँ वहाँ वेग पूर्वक गमन कर रही थी। इसी प्रकार जो घुँघुची के मुख (अग्र भाग) सरीखी श्याम कान्ति युक्त है।[1]

इसी प्रकार जब रजनी मुख (शयन योग्य रात्रि-भाग), समस्त पृथिवी मण्डल पर प्रत्येक क्षण कृष्णता (श्यामता पक्षान्तर मे कृष्ण भगवान्) की वृद्धि करता हुआ उत्पन्न हो चुका था। इससे ऐसा मालूम पडता था—मानो 'समस्त लोक विष्णुमय है' इस बात को सत्यता मे ही ले जा रहा है।

तत्पश्चात्—प्रदोष समय के अनन्तर जब वन के हिरण-आदि पशु उस प्रकार अपना-अपना स्थान प्राप्त कर रहे थे जिस प्रकार कमनीय कामिनियो के उबटन-आदि परिकर्म अपना-अपना स्थान प्राप्त करते है। जब पक्षियो के समूह उस प्रकार शयन योग्य आश्रय (घोसला आदि स्थान) मे तत्पर हो रहे थे जिस प्रकार पथिक लोग शयन योग्य आश्रय—स्थान प्राप्त करने मे तत्पर होते है। जब व्याघ्रो की श्रेणियाँ उस प्रकार अपने निवास-अङ्गणो का सेवन कर रही थी जिस प्रकार वेश्याएँ अपने निवास अङ्गणो का सेवन करती है। जब

---

१ उपमालकार ।

कुमुदकुड्मलेष्विव विघटमानेषु चक्रवाकमिथुनेषु, मुनिद्रुमदलेष्विव सकोचनोचितेषु पल्लवकलोकसूपाटोपटेषु, प्रदीपकलिकास्विवोन्मिषन्तीषु विरहिणीना मदनशिखिशिखासु, सुरभोगिभुजिष्यागणेष्विवाभिनयोन्मुखेषु द्विरदनकुलेषु,

, समुच्छलति च पुरदेवनाना प्रासादपरिसरेषु चामरधारिणीना रणन्मणिमञ्जीरमणितमनोहारिणि मृदङ्गानकशङ्खकोलाहले, मुखरीभवत्सु मथ्यमानेष्वर्णवार्ण स्विवाभ्यर्णतर्णकस्वनाकर्णनोदीर्णेन धेनुष्याणा दीघरम्भितारवेण गोपुरमुखेषु, दिग्विजयमाचरितुमिच्छतामसमशरसैनिकाना दधिचन्दनतिलकेष्विव च नयनविषयतामवतरत्सु नक्षत्रबिम्बेषु, इतश्च दुश्च्यवनदिशि चिरमवेक्षितसुधासूतिसाहायकेन तदासन्नतरागमनविलोकनादिव पुर सत्वरमुदयगिरिशिखरान्तरालादुच्चलमानेन मदनसैन्येन दलितकर्पूरतरुगर्भधूलिनिकर इव, शिर पिण्डकण्डूयनमिषोदस्तहस्तेन हरिहस्तिना मुहुर्मुहुरुपरिविकीर्यमाणकरवारिशीकरोत्करागम इव, गगनपुरप्रवेशमाचरत खण्डपरशुचूडामणे पुरस्तादुडुपुरध्रिकाभिरुदीर्यमाणलाजाञ्जलिप्रकर इव विभावरीवधूवदनदर्शनायासीदतो निशीथिनीनाथस्यान्तराप्रसारितसितदुकूलमुखपटप्रसर इव,

---

सध्योपासना सम्बन्धी अञ्जलिरूपी फूलो की अविकसित कलियाँ उस प्रकार विमुच्यमान (समाप्त) हो रही थी जिस प्रकार जुआरी के वस्त्र, सध्या मे विमुच्यमान (छोडे हुए—जुए मे दाव पर लगाए हुए) होते है। जब चकवा-चकवी के जोडे उस प्रकार विघटमान (वियोग प्राप्त करने वाले) हो रहे थे जिस प्रकार कुमुद पुष्पो (चन्द्र विकासी कमलो) की कलियाँ विघटमान (विकसित) हो रही थी। जब विद्वानो की पुस्तको के अवयव उस प्रकार सकोचन (सपाटन—परस्पर छेदन या सकेतन-पलटना) योग्य हो रहे थे जिस प्रकार रात्रि के अवसर पर अगस्ति वृक्ष के पत्ते सकुचित होते हे। जब विरहिनी स्त्रियो की कामाग्नि की ज्वालाएँ उसप्रकार उद्दीप्त होरही थी, जिसप्रकार दीपक-कलिकाएँ रात्रि मे उद्दीप्त होती है एव जब हाथियो के समूह उस प्रकार अभिनय—पूर्ववृत्तानुकरण मे तत्पर हो रहे थे जिस प्रकार कामी देवताओ की वेश्या-श्रेणियाँ अभिनय मे उन्मुख—शय्यागमन तत्पर होती है।

जब नगर देवताओ के चैत्यालय सम्बन्धी प्राङ्गणो मे, मृदङ्ग, ढोल अथवा भेरी व शङ्खवाजो की ध्वनि, जो कि चँवर धारण करने वाली स्त्रियो के शब्द करते हुए रत्नघटित नूपुरो के मणित (रतिकूजित) सरीखी चित्त का अनुरञ्जन करने वाली थी, प्रकट हो रही थी। जब नगर के प्रतोली, द्वार उत्तम गायो की दीर्घ गोध्वनि (रँभाने) के शब्द से, जो कि समीपवर्ती बछडो के शब्द श्रवण से उत्कृष्ट है, उस प्रकार शब्दायमान हो रहे थे जिसप्रकार देव व दानवो द्वारा विलोडन किये जाने वाले समुद्र-जल, शब्दायमान होते हैं और जब दिग्विजय करने के इच्छुक कामदेव सम्बन्धी सैनिको के दही-मिश्रित चन्दन ·तिलक-सरीखे शोभायमान होनेवाले नक्षत्र-मण्डल दृष्टिगोचरता को प्राप्त कर रहे थे।

इसी प्रकार जब एक पार्श्व भाग मे पूर्व दिशा मे चन्द्रमा का किरण-समूह दृष्टिमार्ग प्राप्त कर रहा था। जो इस प्रकार की (कल्पना) प्राप्त कर रहा था।

जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—कामदेव की सेना द्वारा, जो कि [अपने मित्र] चन्द्रमा के निकटतर आगमन के देखने से ही मानो सामने शीघ्र ही उदयाचल की शिखर के मध्यभाग से सन्मुख जा रही थी और जिसने चन्द्रमा की सहायता चिरकाल से चाही है, तोडे गए कर्पूर वृक्षो की गर्भधूलि की श्रेणी ही है। जो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो—ऐरावत हाथी द्वारा, मस्तक कुम्भो के खुजाने के बहाने से उठाए हुए शुण्डादण्ड से वारवार ऊपर फेंके जाने वाले शुण्डा-जलकणो के समूह का आगमन ही है। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो आकाशरूपी नगर मे प्रवेश करते हुए चन्द्रमा के सामने नक्षत्र-कामिनियो द्वारा ऊपर फैंकी जानेवाली लाजाञ्जलियो (आर्द्रतण्डुल-आदि) की श्रेणी ही है। जो ऐसा प्रतीत होता था—मानो रात्रिरूपी बधू के मुख-दर्शनार्थ आते हुए चन्द्रमा केबीच मे फैलाया हुआ (तिरस्करिणी किया हुआ—जवनिका

निजसुहृज्जन्मोत्सवविजृम्भितस्य जलराशेरुद्दण्डलहरिकोत्तम्भितफेनपुञ्जोच्छ्रय इव, उष्णकराभितापदु खितस्य धरणिधरकुटुम्बिग्रामस्य शिशिरकरमहीपते प्रसादावलोकनोदय इव, उत्प्रेक्षामहति विरहिणीकपोलपाण्डुरे पुरदरपुरपुरंध्रिकास्मितसितचोरिणि हसितसितपताकांशुकाडम्बरे विडम्बितकेतकीरज पटलकान्तिनि दृष्टिपथमवतरति सरस्वतीकटाक्षवलक्षतासराले किरणजाले, तत प्रथमतरमचिरहतमतङ्गजरुधिरजलजडिमानमुपनेनुमिच्छुना करिवैरिकिशोरकेण मण्डलितसटाचक्रवालहारिणि समीपतराशोकतरुणपल्लवरुचि कपिशकुसुमस्तबकसुन्दरे कुसुम्भांशुकयिहितगौरीपयोधरविडम्बिनि धूर्जटिजटाज्योतिरमन्दमन्दाकिनीडिण्डीरपिण्डहृद्यगमे पुरुहूतनिकेतकेतुरक्ताञ्चलकलितकलधौतकलशलक्ष्मीलिहि रोहिणीमुखचुम्बनसगलितजतुरसारुणिताङ्गनिर्माणे क्षणमुपतर्क्यमाणे, पुनरनतिचिरादेव निकटगतगगनापगातरङ्गसगमादिव मनसिजोत्सवप्रसाधितसितातपत्ररोचिषि, योषिदौषधीनामधरदलेषु रागसक्रमादिव पितामहमौलिमनोहरत्विषि, निखिलजगद्धामधवलनसुधाकुम्भे रतिविनोदविद्योपदेशिनि, मदनरदिमदोद्दीपनपिण्डे, सुरतश्रमाम्भ कणलुण्ठिनि, पौलोमीविलास-

---

पडदा) उज्वल रेशमी वस्त्र का विस्तृत मुखवस्त्र ही है। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—अपने मित्र चन्द्रमा के जन्मोत्सव से विशेष प्रमुदित हुए समुद्र की अत्यन्त चञ्चल तरङ्गो द्वारा उठे हुए फेनपुञ्ज की उन्नति ही है। जो ऐसा प्रतीत होता था—मानो सूर्य के सन्ताप से दु खी हुए पर्वत सम्बन्धी कृषक-समूह के चन्द्रमारूपी राजा की प्रसन्नता के निरीक्षण का प्रादुर्भाव ही है। जो विराहिणी स्त्री के गालो-सरीखा उज्वल है। जो इन्द्र नगर की कामिनियो के हास्य की उज्वलता को तिरस्कार करने वाला है, अर्थात् उसके सरीखा है। जिसके द्वारा शुभ्र ध्वजाओ का विस्तृत वस्त्र तिरस्कृत किया गया है। जिसने केतकी पुष्पो के पराग-पटल की कान्ति तिरस्कृत की है। इसी प्रकार जो सरस्वती (श्रुत देवता) के नेत्र प्रान्तो की उज्वलता से असराल—अपर्यन्त है।

तदनन्तर जब उदयकाल मे चन्द्रमा एक मुहूर्त पर्यन्त इस प्रकार की उत्प्रेक्षा के योग्य हो रहा था—

जो (चन्द्रमा) शीघ्र मारे हुए हाथियोके रुधिर जल को जडता को ग्रहण करने के इच्छुक सिहबालक द्वारा कुण्डलाकार किये हुए स्कन्ध के केसर-मण्डल का तिरस्कार करता है, अर्थात् उसकी सदृशता धारण कर रहा है। जिसकी कान्ति (लालिमा) चन्द्र के निकटवर्ती अशोक वृक्षो की नवीन कोपलो सरीखी है। जो अशोक वृक्ष के पाण्डुर व लाल फूलो के गुच्छो-सरीखा मनोहर है। जो कुसुम्भ (रागद्रव) रगवाले सूक्ष्म वस्त्र से ढँके हुए गौरी (पार्वती) के कुचकलश को तिरस्कृत कर रहा है। अर्थात् उसके सदृश है। जो श्री महादेव की जटाओ की कान्तियो से प्रचुर हुए गङ्गा नदी के फेनपिण्ड-सरीखा मनोहर है। जो इन्द्र (पूर्व दिशा का स्वामी) के महल पर वर्तमान ध्वजाओ के रक्ताञ्चलो से वेष्टित हुए सुवर्ण अथवा चाँदी के कलश की लक्ष्मी का आस्वादन करनेवाला है। जिसकी शरीर-रचना रोहिणी (चन्द्र-प्रिया) के मुखचुम्बन से निर्गलित हुए लाक्षारस से अव्यक्त लाल की गई है।

फिर शीघ्र ही लाल होने के बाद जिसकी शोभा कामदेव के महोत्सव मे धारण किये हुए शुभ्र छत्रसरीखी हो रही है। अर्थात् जो उज्वलता को प्राप्त हो गया है। इससे ऐसा मालूम पडता था—मानो—समीपवर्ती आकाशगङ्गा की विशाल तरङ्गो के ससर्ग से ही उज्वलता को प्राप्त हुआ था। जिसकी कान्ति ब्रह्माजी के मस्तक सरीखी उज्वल है। इससे जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—कमनीय कामिनियो के ओष्ठो मे तथा औषधियो के पल्लवो मे अपनी लालिमा का सक्रमण (स्थापन) करने के कारण ही वह शुभ्र हो रहा है। मानो—जो समस्त लोकरूपी महल को शुभ्र करने मे सुधाकुम्भ (चूना का घडा) ही है। जो रति के क्रीडा विज्ञान का उपदेष्टा है। जो कामदेवरूपी हाथी के मद के उद्दीपन मे जीवन है।

जो स्त्रीसङ्ग के श्रम से उत्पन्न हुए जलकणो का लुण्ठन-शील है। मानो—जो इन्द्राणी का क्रीड़ा-

दर्पणे, क्रमेण च नमुचिरिपुदिगन्तपर्वताना पादस्थलाङ्गुलीषु नखमणिभूयमुपगम्य सविश्य मेखलासु नायकमणिगणितिमनुभूयोपकण्ठदेशेषु कुण्डलमणिश्रियमाश्रित्य च शिरःश्रेणिषु शिखण्डमण्डनमणिभाव को नु खलु सकलभुवनोपकारबद्धकक्षाणामेकान्तस्थितिबहलैरेभिरचलै सह सगमक्रम इति विचिन्त्येवानवरतमुदयाचलाग्रसरस कलहस इवाकाशदेशनिश्रेणिमुपेयुषि कुमुदचक्षुषि, विजृम्भमाणासु च बालसखीष्विव पयोधिवेलानाम्, उपकल्पितपारणास्विव चकोरकुलकामिनीनाम, उपाध्यायिकास्विव युवतिरतिकैतवानाम्, गतिनियन्त्रणमन्त्रसिद्धिष्विवाभिसारिकाभुजङ्गीनाम्, तिमिरतिरस्कारसितशलाकास्विव च भुवनलोचनमार्गाणाम्, अमृतधौतातसतन्तुसतानमन्थरायाममिव व्योम निर्मापयन्तीषु शिशिरकरकिरणपरम्परासु, प्रकटीभवति च लोकान्तरादिहानुसरतो रोहिणीपतेर्विरहविनोदनाय निजाङ्गनालिङ्गनव्यतिकरादिव हृदयप्रतिबिम्बितस्तनतमालरसलिखितपत्रस्पृहणीये, हसासविलग्नशैवलविलासिनि, अपहसितविरहिणीकपोलतलविलम्बमानालकभङ्गे कुमुदोदरनिलीनालिकुलस्पर्धिनि, मघवन्मातङ्गकटनिकटमदलेखारेखे, सुधासिन्धुप्रफुल्लनीलाम्बुजशङ्किनि,

---

दर्पण है। जिसने अनुक्रम से पूर्व मे पूर्व दिशा-सम्बन्धी इन्द्र के और पूर्वदिशा के प्रान्तभाग सबधी पर्वतो के पादस्थलो (प्रत्यन्त पर्वतस्थलो व पक्षान्तर मे चरणस्थलो) की अगुलियो मे मणि-सरीखा नखपना प्राप्त किया था। बाद मे मानो—जो, उक्त पर्वतो की कटिनियो मे मध्यमणि की गणना मे प्रविष्ट हुआ था। इसके बाद—मानो—जिसने उक्त पूर्व दिशा के प्रान्तभाग सबधी पर्वतो की शिखरो के अधोभूमि-भागो मे माणिक्य-सरीखे कुण्डलो की शोभा प्राप्त की थी। इसके बाद जिसने उक्त पर्वतो की मस्तक श्रेणियो मे शिरोरत्नपना प्राप्त किया था। फिर जिसने निरन्तर निम्न प्रकार विचार करके 'जिन्होने समस्त पृथ्वीमण्डल के उपकार करने मे प्रीति बाँधी है, उनको सर्वथा स्थिति मे प्रचुरता रखनेवाले इन प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले अचलो (दुष्ट पर्वतो) के साथ निश्चय से सङ्गम करने का क्रम क्या उचित है ? अर्थात् नही है। जिसनेउस प्रकार आकाश देशरूपी सीढी प्राप्त की थी, जिस प्रकार कलहस उदयाचल के अग्रसरोवर से उडकर आकाश प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जब चन्द्रमा की ऐसी किरण-श्रेणियाँ प्रसरित हो रही थी, जो समुद्र-तरङ्गो की बाल सखी-सरीखी, चकोर पक्षियो के समूह की कामिनियो के लिए पारणा (व्रतान्त भोजन) देने वाली-सी, युवति कामिनियो के सभोग कपटो को सिखाने के लिए अध्यापिकाएँ जैसी, व्यभिचारिणी स्त्रीरूपी सर्पिणियो के गमन को रोकने वाली मन्त्र सिद्धि-सरीखी, शोभायमान हो रही थी। जो जगत मे स्थित प्राणी-समूह के नेत्र मार्ग मे वर्तमान तिमिर नामक नेत्ररोग को नष्ट करने वाली उज्वल शलाकाओ के समान सुभोभित हो रही थी और जो आकाश को इस प्रकार का, जिसकी दीर्घता, अमृत द्वारा उज्वल किये हुए अलसी के तन्तु समूह से मन्दगामी है, निर्मापित करती हुई सरीखी सुशोभित हो रही थी।

इसी प्रकार जब मृग-सरीखा चन्द्र-चिह्न प्रकट हो रहा था। जो कि चन्द्र के हृदय मे प्रतिबिम्बित हुई (स्थासक की तरह स्थित हुई) स्तनरूपी तमाल रस से लिखी हुई पत्र रचना-सरीखा मनोहर था। इससे जो ऐसा प्रतीत होता था—मानो पूर्वविदेह क्षेत्र से इस भरत क्षत्र पर आते हुए चन्द्र का अपनी प्रिया (रोहिणी) से विरह नाश करने के लिए, अपनी प्रिया रोहिणी के आलिङ्गन के सम्बन्ध से ही मानो जो उक्त प्रकार की पत्र रचना से मनोज्ञ था।[1]

जो हँस के पक्ष-मूल पर लगे हुए शैवाल-सरीखा शोभायमान हो रहा था। जिसने विरहिणी स्त्री के गालो के स्थल पर शोभायमान होते हुए बिखरे हुए केश तिरस्कृत किये है। जो कुमुद (चन्द्र विकासी कमल) के मध्य मे स्थित हुए भ्रमर-समूह के साथ सदृशता धारण करता है। जिसकी सदृशता इन्द्र के ऐरावत हाथी के गण्डस्थल के उपरितन भाग में वर्तमान दान रेखा के साथ होती है। जिसमे क्षीर सागर मे विकसित

---

१ उत्प्रेक्षालङ्कार।

प्रसूनस्तबकान्तरोद्गतहरितच्छदच्छायाच्छुपि लाञ्छने, मन्त्राकर्षण-

न खल्वसमानविग्रह पुरुषाणामनारभ्य काचिन्महतीमापदमुपशाम्यतीति मन केषुचिन्नीचावृतगहनप्रकाशदेशेषु निभृत्य स्थितिकुशले च तम पटले[1], भवत्सु च विधुदीधितिप्रसरेषु विलासिनामुदवसितवातायनविवरेषु,

करविलम्बितकुसुमसरसौरभसुभगेषु स्रगाजीविनामापणरङ्गभागेषु,

परिवर्तमानकाश्मीरमलयजागुरुपरिमलोद्गारसारेषु सौगन्धिकाना विपणिविस्ता

ससभ्रममितस्तत परिसर्पता सभोगोपकरणाहितादरेण पौरनिकरेण निजवि...दर्शनाहकारिमनोरथाभिरव-धारितविटमुधाप्रश्नसकथाभि स्मरकुरङ्गक्रीडावनवसतिभि पण्याङ्गनासमितिभिरात्मपतिसदिष्टघटनाकुलितहृदयेनाव-धीरितसखीजनसभाषणोत्तरदानसमयेन सचरता सचारिकानिकायेन च समाकुलेषु समन्ततो राजवीथीमण्डलेषु,

---

हुए नीलकमल-सी उपमा वर्तमान है। इसीप्रकार जो उज्वल पुष्प-गुच्छो के मध्य मे उत्पन्न हुए नीलपत्र की शोभा को स्पर्श कर रहा है— उसकी उपमा धारण कर रहा है।

जब अन्धकारपटल 'महान् पुरुषो के साथ युद्ध करना, निश्चय से पुरुषो के ऊपर कोई महान् विपत्ति उत्पन्न किये बिना शान्त नही होता' इसप्रकार की बुद्धि से ही मानो—अपने वशबीज (अन्धकार) की रक्षा के लिए केवल ऐसे प्रदेशो मे, जो कि नीचे, ढँके हुए, गहन व सूर्यादि-तेज से हीन थे, छिपकर अपनी स्थिति करने मे निपुण होरहा था।

जब विलासी पुरुषो के गृह सम्बन्धी झरोखोके छिद्र, जिनमे मद्य की गन्ध मे लुब्ध हुए भँवरो के जमाव द्वारा, चन्द्र-किरणो का प्रसार रोका गया है, ऐसे हो रहे थे।

जब मालाकारो के बाजार के अग्रभाग, हाथो से ऊपर चलाए हुए पुष्पहारो की सुगन्धि से विशेष मनोहर हो रहे थे।

जब सुगन्धि द्रव्य बेचनेवाले व्यापारियो की दुकानो के विस्तार, पलटे जानेवाले कुङ्कुम, मलयागिर चन्दन, व अगुरु की सुगन्धि के प्रादुर्भावो से अत्यन्त मनोहर हो रहे थे।

जब राजमार्गो की श्रेणियाँ, नागरिक लोक-समूह से, जो कि सादर यहाँ वहाँ चारो ओर जा रहा था व जिसने भोग-सामग्री के उपकरणो (साधनो—ताम्बूल-आदि) मे आदर किया था, चारो ओर से व्याप्त हो रही थी।

जो (राजमार्ग-श्रेणियाँ), वेश्या-समूहो से व्याप्त हो रही थी, जिनके मनोरथ कामी पुरुषो के लिए अपने हाव-भाव व विभ्रम-आदि दिखाने से अहङ्कार-युक्त है, जिन्होने कामी पुरुषो के निरर्थक प्रश्नो की वार्ताएँ ठीक-ठीक निश्चय की थी एव जो कामदेवरूपी हिरण की क्रीडा की वनस्थलियाँ है।

इसीप्रकार जो, ऐसी दूती-समूह से व्याप्त हो रही थी, जिसका हृदय, अपने स्वामी द्वारा सिखाई हुई घटना से भरा हुआ है और जिसने सखीजनो के परस्पर भाषण सम्बन्धी प्रत्युत्तर देने का अवसर तिरस्कृत किया है एव जो विवक्षित गृहो मे प्रवेश कर रहा था।

---

१ उत्प्रेक्षालकार।

दर्पणे, क्रमेण -
तिमनुसृत्य
बद्ध-

प्रवृत्तासु च दिवसव्यापारद्विगुणितानुरागवेगवृत्तासु नगरमिथुनानामनङ्गरसरहस्यगोष्ठीषु,

निखिलजनमनोनलिनसभव सकलभुवनोत्पत्तिप्रजापते रतिरमण प्रियतमाधरामृतवर्षविग्रहादकाण्डजन्मन कृशानुकणगर्भानिव करान्विकिरतोऽमुष्मादुत्पातरविमण्डलाच्चन्द्रात्स्वयमेव शुष्कशर कमलिनीवनादपि कष्टतरमवस्थान्तर-मुपगलवति विरहिणीजने कि पञ्चभिरपि बाणैर्भवत प्रहर्तुं युक्तमिति प्रवसितपथिकवनिताभिरुपालभ्यमाने च कुसुम-धनुषि,

अहमपि तदाहो मनसिजातिशायिशरीरपरिकर कामिनीमुखकमलमधुकर विभ्रमदिदृक्षयेव विलासिनीना नयनेषु प्रतिफलन्तीभि लावण्यरसपिपासयेव कपोलेषु विलुण्ठमानाभिश्चुम्बनाभिलाषधिषणयेवाधरेषु परिस्फुरन्तीभि परामर्श-मनीषयेव स्तनतटेषु चोद्दण्डया प्रवृत्ताभिरमृतमरीचिदीधितिभिराज्याहुतिभिरिव सधुक्ष्यमाणमदनदहन, रतिरहस्यवय-स्याभिरिव शिथिलीक्रियमाणमानबन्धन, प्रत्यायनदूतिकाभिरिव सपाद्यमानप्रियतमासमागम, कुसुमशरप्रवेशोत्सवपता-

---

जब उज्जयिनी नगरी के स्त्री-पुरुषो के जोडो सम्बन्धी कामरस की गोप्यतत्व-वार्ताएँ प्रवृत्त हो रही थी, जो कि सेवा, कृषि व व्यापार-आदि दैनिक कर्तव्यो द्वारा दुगुने हुए अकृत्रिम स्नेह की उत्कण्ठा से प्रवृत्त हुई थी।

जब प्रवासी पथिको की विरहिणी उत्तम नायिकाओ द्वारा, कामदेव निम्नप्रकार से निन्दा-युक्त उलाहना के वचनो मे प्राप्त किया जा रहा था। 'हे समस्त लोक के हृदय कमल मे उत्पन्न होनेवाले व हे समस्त पृथिवी मण्डल सम्बन्धी उत्पत्ति के प्रजापति (ब्रह्मा) एव हे रतिवल्लभ !

ऐसी विरहिणी स्त्रियो के समूह पर पाँच बाणो (उन्माद, मोहन, सतापन, शोषण व मारण) द्वारा निष्ठुर प्रहार करने का तेरा यह कार्य क्या उचित है ? जो कि स्वय शुष्क सरोवर सम्बन्धी कमलिनी-वन से भी कष्टतर अवस्थान्तर को प्राप्त हुआ है और जो इस प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर हुए चन्द्र से, जो विरहिणी स्त्रियो के लिए चन्द्र न होकर उत्पात सम्बन्धी सूर्य-मण्डल है, एव जिसमे प्रियतम के ओष्ठपान पीयूष की वर्षा का प्रतिबन्ध (वृष्टि रोकना) पाया जाता है एव जो अग्नि कणो से भरे हुए मध्य प्रदेशो के समान किरणो को फैंक रहा है, विशेष कष्टतर अवस्थान्तर को प्राप्त हुआ है।

कामदेव से भी अतिशयवान् शरीर समुदायवाले तथा कमनीय कामिनियो के मुखरूप कमलो के मकरन्द-आस्वादन करने मे भ्रमर-स्वरूप ऐसे हे मारिदत्त महाराज। उस चन्द्रोदय काल मे मै भी, जिसकी कामाग्नि ऐसी चन्द्र किरणो द्वारा उसप्रकार उद्दीपित की जा रही थी जिसप्रकार घी की आहुतियो द्वारा अग्नि उद्दीपित की जाती है, अमृतमति महादेवी के महल-द्वार पर आया, जो (चन्द्रकिरणे), ऐसी मालूम पडती थी—मानो—भ्रकुटि-सचालन की शोभा को देखने की इच्छा से ही रसिक कामिनियो के नेत्रो मे प्रतिबिम्बित हो रही थी। जो, लावण्यरूपी रस के पीने की इच्छा से ही मानो—कमनीय कामिनियो के गालोपर विलुण्ठन कर रही थी। जो, ओठो के चूँमने की अभिलाषा-बुद्धि से ही मानो—कामिनियो के अधरो पर चमत्कृत हो रही थी।

जो कुचकलशो के स्पर्श करने की बुद्धि से ही मानो—स्त्रियो के कुच तटो पर दण्डाकाररूप से प्रवृत्त हुईं थी।

जिसका मानबन्धन चन्द्रकिरणो द्वारा उसप्रकार शिथिल किया जा रहा था जिसप्रकार सभोगक्रीडा सम्बन्धी गोप्यतत्व की शिक्षा देनेवाली सखियो द्वारा मानबन्धन शिथिल किया जाता है। जिसे चन्द्रकिरणो

किकाभिरिव सूच्यमानतदाराधनक्रम, शृङ्गारजलधिविजृम्भमाणवात्याभिरिव प्रसर्पमाणमनःकल्लोल सुरतसूत्राकर्षण-सूचिभिरिव पूर्यमाणवक्ष स्थल, प्रतीहारवेत्रलताभिरिव निवेद्यमानसभाविसर्जनकाल,

कोमल एव निशीथिन्या प्रथमाष्टमभागेऽर्धपरिसमाप्त एव च सेवावसरे विसृज्य भ्रूलतोल्लासेन प्रणामावर्जित-मौलिमणिमकरिकामरीचिपरिवेषपुनरुक्तपादपीठक्षितीन्सामन्तमहीपतीन् अवलोकनप्रसादानेन मन्त्रिपरिषदम् आलापसंभ्रमेण बलमुख्यान उपासनोपचारेण पुरोधसम् उपभोगपारितोषिकेण राजकुमारकान् पादवन्दनेन पितृपितामहसबन्धवतीर्जरती अनुव्रजनविनयेन च गुरून्, आसन्नचरचामरधारिणीभुजशिरसि विन्यस्तवामबाहु, अपरकराङ्गुलिनिदेशन विनोदरदीना-मुपान्तवर्तिनो जनस्य मन्दिराणि दर्शयन, दृष्टिप्रदानसभावितान्त पुरसमारक्षकलोक, स्मरनिशितविशिखाग्रभागानिवो-पहसता विडम्बयतेव विद्रुमोद्भेदशिखाडम्बरमुल्लासयतेव सहविहरन्तीना विलोचनानि विस्तारयतेव दशनरश्मीनुपचिन्व-

द्वारा प्रियतमा का समागम उसप्रकार भविष्यमे प्राप्त किया जा रहा है जिसप्रकार वर को प्रियतमा के गृह पर लानेवाली दूतियो द्वारा प्रियतमा का समागम प्राप्त किया जाता है। जिसे चन्द्रकिरणो द्वारा प्रिया की सेवा-परिपाटी उसप्रकार सूचित की जा रही थी जिसप्रकार कामदेवके आगमनके अवसर पर फहराई जाने-वाली महोत्सव-ध्वजाओ द्वारा कामदेव की सेवा-परिपाटी सूचित की जाती है। जिसके चित्तकी सकल्प लक्षण-वाली तरङ्गे चन्द्रकिरणो द्वारा उसप्रकार फैलाई जारही थी जिसप्रकार शृङ्गारसमुद्र मे व्याप्त हुई वायु-मण्डलियो द्वारा चित्त की सकल्पलक्षणवाली तरङ्गे फैलाई जाती है। जिसका वक्ष स्थल (हृदयस्थल) प्रस्तुत चन्द्रकिरणो द्वारा उसप्रकार भरा जा रहा था जिसप्रकार मैथुनतन्तुओ के प्रवेश मे समर्थ सुइयो द्वारा मैथुन-वस्त्र का हृदय भरा जाता है और जिसकी सभा का विसर्जनकाल, प्रस्तुत चन्द्रकिरणो द्वारा उसप्रकार ज्ञापित किया जा रहा था जिसप्रकार द्वारपालो की वेतलताओ द्वारा सभा का विसर्जनकाल सूचित किया जाता है।

जब रात्रिसबधी प्रथमप्रहर का मृदु अर्धभाग व्यतीत हो चुका था और जब सेवा का अवसर अर्द्ध-परिसमाप्त हुआ था, अर्थात्—जब मेरी सभा के सदस्यो से आधी भेट हुई थी तब मैने सेवा मे आए हुए सामन्त नरेन्द्रो को, जिनके द्वारा प्रणाम से नम्रीभूत हुए मुकुटो या मस्तको पर वर्तमान सुवर्ण-घटित रत्नजडित (आभरणविशेषो) की किरणो के मण्डल द्वारा चरणावशेषवाली सिहासनभूमि द्विगुणित की गई है, भ्रकुटिलता के उल्लास द्वारा विसर्जित किया। इसकेबाद सम्मुख निरीक्षण से व्याप्त हुए वस्त्राभरणादि के समर्पण द्वारा मन्त्री-परिषत् का विसर्जन किया। बाद मे सेनापतियो को आभरणो के आदर (दान) द्वारा विसर्जित करके एव राजपुरोहित को चरणो मे नमस्कार करना-आदि सेवा-व्यवहार द्वारा विसर्जित किया। तत्पश्चात् राजपुत्रो की वस्त्राभरणादि उपभोग सामग्री के पारितोषिक-दान द्वारा विदाई करके पिता (यशोर्घमहाराज) तथा पितामह (पिता के पिता—यशोबन्धु-महाराज) से सबध रखनेवाली वृद्ध स्त्रियो की पादवन्दनपूर्वक विदाई करके गुरुजनो की पीछे गमन तथा पूजनपूर्वक विदाई की। इसके बाद—मै (यशोधर महाराज), जिसने समीपवर्ती चँवरढोरनेवाली स्त्रियो के स्कन्ध-प्रदेश पर बॉया भुजादण्ड स्थापित किया है, दूसरी हस्ताङ्गुलि के निदेश (आज्ञा) द्वारा क्रीडागजो के समीपवर्ती जनो (महावत-वगैरह) के लिए गृहस्थान दिखा रहा था। अर्थात्—'आप लोग यहाँ बैठिए' इसप्रकार कह रहा था। और इसके बाद मैने सन्मुख अवलोकन द्वारा अन्त पुर सबधी रक्षक-स्त्रियो का समूह अनुकूल किया।

इसके बाद मै, कर्पूर व तैल से जलाए हुए व हस्तो द्वारा धारण किये हुए ऐसे दीपक-मण्डल से वेष्टित हुआ। जो कामदेव के तीक्ष्णबाणो के अग्रभागो का उपहास करता हुआ सरीखा सुशोभित हो रहा था। जो प्रवालवृक्ष के अकुरो के अग्रभागो के विस्तार को तिरस्कृत कर रहा था। जो साथ गमन करती हुई कामिनियो

तेवाधरदलानि स्पन्दयतेव वदनलावण्यमवस्फारयतेव वक्षोजमण्डलानि तरलयतेव त्रिवलितरङ्गान् गम्भीरयतेव नाभीकुहराणि दीर्घयतेव नखशुक्तीः समन्तात्प्रभापटलपल्लवितानिव च कुर्वताभरणमणीन् कर्पूरतैलप्रबोधितेन करदीपिकाचक्रवालेन परिवृत, तारागणमध्यगत शर्वरीपतिरिव, कल्पवल्लरीप्रवालपरिवारित सुरतरुरिव, कनककेतकीकुड्मलान्तरालविलासरस कलहस इव, तत्कालोचितालापनपेशलैर्नर्मकेलिकिलैर्मुहुर्मुहुरुपगृह्यमाणप्रसादपरम्पर, मन्दान्धसिन्धुर इव पुरश्चारिदौवारिकनिवेद्यमानमार्गभूमिश्चरणमार्गेणैव महादेवीभवनद्वारमुपागतोऽस्मि ।

तस्मिंश्चामृतमतिमहादेवीलावण्यशेषादिवोत्पन्नया भ्रूविजृम्भितेनान्तर्वंशिकाना चापकोटीरिव विफलयन्त्या, नयनविभ्रमेण बाणाडम्बरमिव च निराचक्षाणया, वचनसौष्ठवेन गोपुरपरिघानिव प्रत्यादिशन्त्या, स्तनाभोगेन कपाटयुगलमिवापकुर्वाणया, रोमराजिनिर्गमेन वेत्रलतामिवाधिक्षिपन्त्या, उरुभारेण तोरणस्तम्भानिव विजयमानया, मेखलाजालेन वन्दनमालामिव पुनरुक्तयन्त्या, चरणनखस्फुरितेन रङ्गावलिमणीनिवासहमानया, वैकक्ष्यकलक्ष्यदक्षिणेतरकक्षान्तरविनि-

के नेत्रो को उल्लासित करता हुआ-जैसा व उनकी दन्तकिरणो को विस्तारित करता हुआ सा तथा उनके ओष्ठपल्लवो को पुष्ट करता हुआ सरीखा शोभायमान हो रहा था। जो साथ जाती हुई स्त्रियो की मुखकान्ति को कुछ सचालित करता हुआ जैसा, एव उनके स्तन चक्रवालो को चारो ओर से वृद्धिगत करता हुआ जैसा तथा उनकी त्रिवलिरूप तरङ्गो को चञ्चल करता हुआ सरीखा सुशोभित हो रहा था।

जो उनके नाभिच्छिद्रो को गम्भीर करता हुआ जैसा, तथा उनके नखरूपी सीपो को विस्तारित करता हुआ सरीखा सुशोभित हो रहा था और जो साथ जाती हुई स्त्रियो के आभरणो के मणियो को प्रभापटलो से उल्लासित करता हुआ जैसा सुशोभित हो रहा था। उस अवसर पर मै उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार तारागणो के मध्यवर्ती चन्द्र सुशोभित होता है और जिसप्रकार कल्पवेलो से वेष्टित हुआ कल्पवृक्ष सुशोभित होता है एव जिसप्रकार सुवर्णकेतकी मुकुलो के मध्यवर्ती विलासरसवाला राजहँस सुशोभित होता है। मै, जिससे अवसरोचित वचन-भाषण मे मनोहर नर्म (हँसी मजाक) क्रीडा मे चतुर पुरुषो द्वारा बारम्बार उचित दानपरम्परा ग्रहण की जा रही है एव जिसके लिए अग्रेसर द्वारपालो द्वारा मार्गभूमि प्रदर्शित की जा रही थी, मदोन्मत्त हाथी-सरीखा चरणमार्ग से ही अमृतमति महादेवी के द्वारपर आया।

इसके बाद—हे मारिदत्त महाराज। ऐसी द्वारपालिका द्वारा कुछ कालक्षेप कराये जा रहे मैने, उस 'मनसिजविलासहसनिवासतामरस' (कामसेवन रूपी हस की स्थिति के लिए कमल-सरीखा) नाम के राजमहल मे वर्तमान पलङ्ग को अलकृत किया। जो (द्वारपालिका), मानो—अमृतमति महादेवी के लावण्यशेष से उत्पन्न हुई थी, अर्थात्—जो कुछ महादेवी-सरीखी थी। जो भ्रकुटि-सचालनादि व्यापार से रानियो की रक्षार्थ नियुक्त हुए पुरुषो के धनुषसबधी अग्रभागो को तिरस्कृत करती हुई सरीखी सुशोभित हो रही थी। जो नेत्रो की शोभा द्वारा उक्त पुरुषो के बाणो के विस्तार को निराकृत करती हुई-सी शोभायमान हो रही थी। जो वचन-चातुर्य द्वारा प्रतोली-द्वार के अर्गलो को निराकृत करती हुई-सी थी। जो स्तनो के उद्घाटन द्वारा दोनो किवाडो को उद्घाटित करती हुई-जैसी सुशोभित हो रही थी। जो रोमराजि के दिखाने से रानियो की रक्षार्थ नियुक्त हुए पुरुषो की वेंतलता को तिरस्कृत करती हुई-सरीखी सुशोभित हो रही थी। जो उरुस्थल से तोरणखम्भो को निराकृत करती हुई-सी थी। जो मेखलाजाल (करधोनी) की रचना द्वारा वन्दनमाला को द्विगुणित करती हुई-सी सुशोभित हो रही थो। जो चरण-नखो के तेज द्वारा रङ्गावलि के मणियो को तिरस्कृत करती हुई-सी थी। जिसने वैकक्ष्यक[1] (उत्तरीय वस्त्र) सरीखे दिखाई देनेवाले और दाहिनी व वाईं वगलो के मध्यभागपर

१ तदुक्त—तिर्यग्वक्षसि विक्षिप्त वस्त्र वैकक्ष्यकमुच्यते।
स० टी० पृ० २४ से सकलित—सम्पादक।

क्षिप्तकौक्षेयिकया प्रतापानुगतयेव मन्मथकीर्त्या, भुजगाधिष्ठितयेव कल्पलतिकया, सतडिद्गुणयेव बलाहकमालया, लाञ्छनलेखालकृतयेव चन्द्रकलया, मधुकरकुलकलितयेव पारिजातमञ्जरिकया, विकृताकल्परामणीयकेन सकुतूहलमवलोकनीयया, नि शेषविषयभाषावेषधिषणया, प्रणयशठभावेनार्धमूर्धप्रणामगलितकर्णावतसया प्रतीहारपालिकया मनाग्विलम्ब्यमान 'किमकाण्डे कठिनहृदया देवी। यतस्त्वमेव सवृतासि।' 'कथयामि। देवस्य किलाद्यापरैव काचित्प्रणयिन्यभूदिति निशम्य देवी महति कोपे कृतावेशेवास्ते। विज्ञापयत्यपि च मन्मुखेन—देवस्य तयैव पर्याप्तत्वादलमस्मासु कितवोपचारवैशिकेन—इति सचाटुकार देव, देवस्योपरि प्रसादनाय देव्या पादयो पतितायास्तदलक्तिकाविल मे भाल किं न पश्यति देव।

अपि च—

नयननदनिदानैरेभिरश्रुप्रवाहै स्तनकलशमुखाग्रव्यग्रधारासहस्रै।
सुतनु हृदयमध्यस्थे प्रियेऽस्मिन् भवत्या कथमिह बहिरेषा सज्यते मज्जनश्री ॥ ३ ॥'

उत्तरीय वस्त्र-जैसे धारण किये हुए खड्गो को धारण किया था। इससे जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—प्रताप-सहित कामदेव की कीर्ति ही है। अथवा मानो—दोनो सापो से वेष्टित हुई चन्दनवल्ली ही है। अथवा मानो—बिजली के गुणसे सयुक्त हुई मेघमाला ही है। जो चन्द्रचिह्न-रेखा से अलकृत हुई चन्द्रकला-सरीखी व भ्रमर श्रेणी से वेष्टित हुई कल्पवृक्ष की लता-सरीखी सुशोभित हो रही थी। एव जो खड्गधारण करने से विकृत वेष के सौन्दर्य से कौतुक-सहित निरीक्षण करने योग्य थी। जो समस्त देशो की भाषाओ तथा वेषो मे बुद्धि धारण करनेवाली थी। थोडा स्नेह दिखाने से थोडे मस्तक मात्रके नमाने से जिसका कर्णपूर नीचे जमीन पर गिर गया था।

एव जिसने महारानी के प्रति राजा साहब का योग्य अनुराग जान लिया है तथा 'राजन्! आप विशेष बलवान् है, अत मै आपको रोकने मे समर्थ नही हूँ' इसप्रकार कहकर जिसने हास्यपूर्वक गृहका देहली-प्रदेश छोड दिया है।

[उक्त महल मे वर्तमान पलङ्ग को अलकृत करने के पूर्व] हे मारिदत्त महाराज! उक्त द्वारपालिका द्वारा कुछ कालक्षेप कराए हुए मैने उससे कहा—'हे द्वारपालिके! क्या अमृतमति महादेवी असमय मे मेरे प्रति कठोर हृदयवाली है? अर्थात्—क्या प्रस्तुत महादेवी का मेरे ऊपर प्रेम नही है? जिससे तुम मेरे प्रति इसप्रकार की नमस्कार न करनेवाली व मायाचारिणी हो रही हो। उक्त बात को सुनकर द्वारपालिका ने राजा से कहा—

'मै आपसे कहती हूँ' अर्थात्—आप मेरे वचन सुनिए।

'आज कोई दूसरी ही स्त्री आप से स्नेह प्रकट करनेवाली हुई है'।

इस बात को कही से सुनकर आज अमृतमति महादेवी आप से विशेष कुपित-सी हो रही है और मेरे मुख से आपको निम्नप्रकार विज्ञापित करती है।

'आपको वही प्रिया पर्याप्त है, अत हमारे साथ कुटिलता का वर्तावपूर्ण मायाचार करने से कोई लाभ नही।'

'हे राजन्! मेरे, जो कि आपके ऊपर महादेवी को प्रसन्न करने के लिए उसके चरण कमलो मे पडी थी, ललाट को, जो कि देवी के चरणकमलो मे लगे हुए लाक्षारस से लिप्त हुआ है, क्या स्वामी नही देख रहे है।'

विशेषता यह है कि—

[प्रकरण—हे राजन्! एक अवसर पर मैने प्रस्तुत महादेवी से कहा था—]

'खदिरिके, मामपि महादेवीं प्रत्येवमुपालभेथा । ननु विदितमेवैतद्देव्या यथा न स्वप्नेऽपि मे विप्रलम्भनकरा काश्चिदपि प्रवृत्तय । किंतु तवैवेदमशेष धूर्तविलसितम । त्व हि न भवसि सामान्येति किमह न जाने । कुलागत च तव परनरप्रतारणे परमनैपुण्यम् । अयमपि च जनो नन्वशेषविटकुट्टिनीचूर्णघटितदेह एव न भवति भवत्याश्चेष्टिताना भूमि । तदलमत्र मुधाप्रयासेन । गृहाणेद मुखताम्बूलम् । इत समागच्छ । भव पुरोवर्तिनी । मा भूरहस्त्रियामयोरिवावयोर्मध्ये सध्येव समागमविलम्बिनी' इति विदितानुगतभावया, 'बलवान्खलु देव । नाहमल निवारयितुम्' इति सपरिहास समुत्सृष्टगृहावग्रहणीदेशया, निषिध्य च तिर्यक्प्रवृत्तकुण्डलमणिकिरणपल्लवितरत्नांशुवलयेनोत्तालतरलाङ्गुलिना हस्तेन मया सहागच्छन्तमखिलमनुचरबलमीषदाकेकरनिरीक्षणेन मनाग्प्रतिरहस्यगभसभाषणेन च प्रतिपदमुल्लास्यमानमानस, कक्षान्तराणि वशया वनगज इव च तया नीयमान, सहेलमन्त पुरप्रचारिभिरस्मद्दर्शनप्रवृत्तमनोनुरागवेगं कुब्जवामन-

---

'हे शोभन शरीरवाली अमृतमति महादेवी ! जब यह प्रत्यक्षीभूत तुम्हारा प्राणवल्लभ तुम्हारे हृदय के मध्य स्थित है, अर्थात्—तुम्हारे समीपवर्ती हो रहा है, तब आपके द्वारा इस तुम्हारे शरीर पर यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली ऐसे आँसुओ के प्रवाहो द्वारा, जिनके आदिकारण दोनो नेत्ररूपी तालाब है, और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे है एव जिनकी हजारो धाराएँ कुचकलशो के मुखो के अग्रभागो पर व्यापारवाली है, होनेवाली स्नानलक्ष्मी वाह्य मे क्यो रची जा रही है ? भावार्थ—प्रस्तुत द्वारपालिका यशोधर महाराज से कहती है कि हे राजन् ! एक अवसर पर मैने रानी साहब से कहा था—कि हे शोभन शरीरशालिनि ! जब तुम्हारा भर्ता तुम्हारे चित्त मे स्थित है तब यह रदनलक्षणवाली स्नानलक्ष्मी तेरे द्वारा क्यो रची जा रही है ?[1] ॥ ३ ॥

[उक्त द्वारपाली की बात सुनकर] प्रस्तुत राजा ने कहा—हे धूर्त खदिरिके ! तुम अमृतमति महादेवी से इस माया-प्रकार से मेरी निन्दा के वचन कहती हो । अहो घूर्त खदिरिके । देवी को विदित ही है कि मेरी कोई भी प्रवृत्तियाँ स्वप्न मे भी फिर जाग्रत अवस्था का तो कहना ही क्या है, वञ्चना करनेवाली नही हैं, तब तो तुम्हारी ही यह सब प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली वञ्चना की चेष्टा है । तुम सब लोक की तरह सामान्य नही हो, इस बात को क्या मै नही जानता ? तुम्हारी मुझे और दूसरे लोगो के ठगने को विशेष चतुराई कुल परम्परा से चली आ रही है । यह मानव भी (यशोधर महाराज भी) निश्चय से समस्त कामुक व कुट्टिनियो के चूर्ण से घडे हुए—रचे हुए शरीरवाला ही है, इसलिए आपकी वञ्चना-क्रियाओ का पात्र नही हो सकता । अत मुझ सरीखे मनुष्य मे निष्फल वञ्चना करने के प्रयास से कोई लाभ नही है । मेरे इस प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुए मुख-ताम्बूल के उद्गार को स्वीकार करो । इस स्थान से मेरी दृष्टि के सम्मुख आओ और अग्रगामिनी होओ । तुम हम दोनो के मध्य मे उसप्रकार समागम मे विलम्ब करनेवाली मत होओ जिसप्रकार दिन व रात्रि के मध्य मे सध्या उनके समागम मे विलम्ब करनेवाली होती है । इसके बाद मैंने ऐसे हाथ द्वारा, जिसमे चक्र के आकार प्रवृत्त हुई कुण्डल-मणियो की किरणो द्वारा रत्न किरणो से व्याप्त हुए कङ्कण, पल्लव युक्त किये गए हैं और जिसकी अगुलियाँ उत्सुक व चञ्चल है, मेरे साथ आए हुए समस्त किङ्कर-समूह को रोका । अर्थात् 'आप लोग यही ठहरिए' ऐसा कहते हुए रोका ।

इसके बाद—मैं, जिसका मन, कुछ कटाक्षो के देखने द्वारा और ऐसे सभाषण द्वारा, जिसके मध्य सभोग सम्बन्धी गोप्यतत्व वर्तमान है, प्रत्येक चरण-स्थापन मे विशेष उल्लास मे प्राप्त किया जा रहा था । इसके बाद मै उस द्वारपालिका द्वारा उसप्रकार कक्षान्तरो (गृह-प्रकोष्ठो—राजमहल के मध्यवर्ती कमरो) मे लाया जा रहा था जिसप्रकार हथिनी द्वारा जगली हाथी कल्पान्तरो (वन के मध्य भागो) मे लाया जाता

---

१ रूपकालकार ।

किरातकञ्चुकीभि कृतेन विकृतालापनर्तनकैतवन विकास्यमानलोचन, समन्तादाकुलाकुलविरलीभवत्सकलपरिजने,

यक्षकर्दमखचितकर्पूरदलदन्तुरितजातरूपभित्तिनि मृगमदशकलोपलिप्तरजतवातायनविवरविहरमाणसमीरसुरभिते सान्द्रस्यन्दसमार्जितामलकदेहलीशिरसि घुसृणरसारुणितमरकतपरागपरिकल्पितभूमितलभागे मनाङ्मोदमानमालतीमुकुलविरचितरङ्गवलिनि अनवरतदह्यमानकालागुरुधूपधूमधूसरितवितानपर्यन्तावलम्बितमुक्ताफलमाले कूचस्थानविनिवेशितप्रसूनसमूहामोदमिलितालिकुलझङ्कारिणि सचारिमहेमकन्यकासोत्तसितमुखवासताम्बूलकपिलिके तुहिनतरुविनिर्मितवलीकान्तरमुक्तकुसुमस्रक्सौरभाधिवास्यमानसुरतावसानिकोपकरणवस्तुनि मणिपिञ्जरोपविष्टशुकसारिकामिथुनकथ्यमानमन्मथकथासनाथे सारसर्जितफलकोत्क्षेपिणा प्रसाधितकुतपवादनचपलेन समुदगकव्यञ्जनाचमनकविलोपिना कलमूकलोकेन पर्याकुलितसौविदल्लपरिषदि विविधमणिमनोहराधिरोहिणीसरणिके सप्ततलप्रासादोपरितनभागवर्तिनि मनसिजविलासहसनिवासतामरसनामनि वासभवने, सरसचन्दनतरुस्तम्भिकाचतुष्टयमध्यावतीर्णमुल्लपत्पारापतपतङ्गपेशलप्रतिपादोपरिविन्यस्त-

---

है और मै कुबडो, बौनो, भीलो व कञ्चुकियो द्वारा, जो कि एक साथ अथवा लीला-सहित अन्त पुर मे सचार करनेवाले है और हमारे देखने से जिन्हे हृदय मे कृत्रिम स्नेह व उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है, क्रमश किये हुए विकृत (विचित्र कृत), व भाषण, नृत्य व कैतव द्वारा उल्लास-युक्त नेत्रोवाला हुआ। इसके बाद मैने ऐसे 'मनसिज-विलासहँसनिवासतामरस' नाम के महल मे, वर्तमान पलङ्ग को अलङ्कृत किया, जिसमे (प्रस्तुत महल मे), समस्त सेवक अत्यन्त व्याकुल होते हुए दूर हो रहे थे।

जिसकी सुवर्ण-भित्तियाँ, यक्षकर्दम (कपूर, अगर, कस्तूरी व कङ्कोल इनको समभाग मिलाकर वनाया हुआ लेपन अथवा कुङ्कुम व श्रीखण्ड) से लिप्त हुई व कर्पूर खण्डो से व्याप्त होने के कारण उत्पन्न हुए दाँतोवाली-सी प्रतीत हो रही थी। जो, कस्तूरो-खण्डो से लिप्त हुए चाँदी के झरोखो के छिद्रो से सचार करती हुई वायु से सुगन्धित था। जिसका स्फटिक मणियोका देहली-मस्तक विलेपन विशेष के रस से लिप्त था। जिसका भूमि-तलभाग, कुङ्कुमद्रव से अव्यक्त लालिमावाले नील मणियो के चूर्ण से रचा गया था। जहाँ पर रङ्गावली (नानारग के चूर्ण से रचा हुआ मण्डन-विशेष) कुछ विकसित होती हुई मालती पुष्पो की कलियो से सुशोभित थी। जहाँ पर चँदोवा के पर्यन्त भाग पर लटकी हुई मोतियो की मालाएँ निरन्तर जलते हुए काला गुरु धूप के धुएँ से धूसरित हो रही थी। जहाँ पर सँभोग सम्वन्धी उपकरणो के स्थापन प्रदेश पर रक्खी हुई नाना प्रकार की पुष्प राशियो की सुगन्धि से एकत्रित हुई भ्रमर-श्रेणी का झङ्कार (गूँजना) हो रहा था। जहाँ पर मुख को सुगन्धित करनेवाली सुगन्धि युक्त ताम्बूल की कपिलिका सचरण करनेवाली सुवर्ण-पुतली का कर्णपूररूप हुई है। जहाँ पर मैथुन के अखीर मे होनेवाली उपकरण वस्तुएँ (व्यञ्जनादि), कर्पूर वृक्षो से रची हुई पट्टियो के मध्य भागो से बँधी हुई पुष्प मालाओ की सुगन्धि से सुगन्धित की जा रही है। जो रत्न-घटित पिञ्जरो मे बैठी हुई तोता-मैना के जोडो द्वारा कही जानेवाली काम-कथाओ से सहित है। जहाँ पर ऐसे नपुसक-समूह द्वारा कञ्चुकियो की परिषत् व्याकुलित हो रही है, जो खदिरादि वृक्ष के तख्ते को उठानेवाला और सँवारे हुए बाजे को बजाने मे चञ्चल है तथा जो सपुटक (सन्दूक), पखे व उदकपान को दूर करनेवाला है और जिसमे नाना प्रकार के रत्नो की मनोहर सीढियो का मार्ग वर्तमान है एव जो सात तल्लेवाले राजमहल के ऊपर आठवे तल्ले पर वर्तमान है।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज! मैने किस प्रकार के पलँग को अलङ्कृत किया? जो (पलँग), नवीन चन्दन वृक्ष के छोटे चार पायो के मध्य मे प्राप्त हुआ है। अर्थात्—जिसमे उक्त प्रकार के चार पाँव

पादमण्डल तरङ्गितदुकूलपटप्रसाधितहसतूलिकमन्तरान्तरा हरिचन्दनस्थासकाङ्कितपर्यन्तमविरलोपान्तपरिकल्पितधूपकूपिका-विवरविसरद्धूमपटलमुभयपार्श्वोपदर्शितमणिप्रदीपिकमुपधानद्वयोत्तम्भितपूर्वापरभागमुत्फुल्लकमलाकरमिव सरोवरमम्बु-धरपरिवारितमिव शम्भुशिखरिणमरासुरगुरुमध्यवर्तिनमिव तुहिनकिरणमधरोत्तरसेतुबन्धावरुद्धमिव मन्दाकिनीप्रवाह-मुच्छ्वसितमात्रेणापि तरलतरान्तरालविहितसुखसवेशमनेकविस्मयनीयस्मरग्रहावेशकर यन्त्रसुन्दरमन्वदिशम् ।

अत शयनतलमलकुर्वतीमपरामिव लक्ष्मीम्, अनिमिषनिवासान्नरलोकसुखतृष्णावतीर्णामिव सरस्वतीम्, अबलारूपपरिणतामिव कलासमितिम्, उपात्तमानुषीभावामिव सागराम्बराम्, अतिरोहितात्मशरीरामिव राज्याधिदेवताम्, अखिलसुखसारखानिमिव स्त्रीत्वमुपागताम्, अनङ्गतोरणस्रजमिव चरणपल्लवाभिरामाम्, अनङ्गभूषणावनिमिव स्फुरन्न खमणिपरम्पराम्, अनङ्गशरधिमिव पूर्वानुवृत्तजङ्घाभोगाम्, अनङ्गमण्डपिकामिवोरुस्तम्भश्रिताम्, अनङ्गयोगाभ्यासभूमिमिव

है। उत्कर्ष रूप से अव्यक्त शब्द करते हुए कबूतरपक्षियो से मनोहर प्रतीत होनेवाले प्रतिपादो (चार पॉवो के नीचे स्थित हुए पॉवो) के ऊपर जिसमे पलँग के चारो पॉव स्थापित किये गए है। जिसपर लहरो से व्याप्त हुआ—अर्थात्—मछली की चित्रकारी होने के कारण नीचा-ऊँचा प्रतीत होनेवाला—व रेशमी वस्त्रो से निर्मित हुआ प्रास्तरण-विशेष (गद्दा) बिछा हुआ है। जिसका प्रान्तभाग बीच-बीच मे परमोत्तम चन्दन के हस्त-प्रतिबिम्बो (हाथाओ) से चिह्नित था, अत जो उसप्रकार शोभायमान हो रहा था जिसप्रकार प्रफुल्लित कमल-समूहवाला तालाब सुशोभित होता है। जहॉपर अविच्छिन्न (कट के निकटवर्ती) समीप मे रखे हुए छोटे धूप-घडो के छिद्रो से फैलते हुए धूमपटल वर्तमान है, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था, जिसप्रकार कालमेघ से वेष्टित हुआ कैलाशपर्वत सुशोभित होता है। जिसके बाएँ व दाहिने भाग के समीप रत्नो के छोटे-छोटे दीपक स्थापित किये गए है, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार वृहस्पति और शुक्रके मध्यवर्ती परिपूर्ण चन्द्रमण्डल सुशोभित होता है। जिसके पूर्व व अपर भाग—अर्थात्—शिरभाग व पादभाग, तकियो के जोडो द्वारा रोक थाम किये गए थे, इसलिए जो उसप्रकार सुशोभित हो रहा था जिसप्रकार अधो-भाग व पूर्वभाग पर स्थित हुए सेतु-बन्धो से रुका हुआ गङ्गा नदी का पूर सुशोभित होता है।[1] जहॉ पर उल्ल सन मात्र से ही विशेष चञ्चल मध्यभाग द्वारा अनायास सुरत (मैथुन) किया गया है, इसीप्रकार जो अनेक आश्चर्य-जनक कामदेवरूपी पिशाच-प्रवेशो को करनेवाला है।

उक्त प्रकार के पलँग को अलङ्कृत करने के बाद [हे मारिदत्त महाराज !] मैने अपने पलँग पर बैठी हुई उस प्रसिद्ध ऐसी अमृतमति महादेवी को देखा, जो ऐसी प्रतीत हो रही थी—मानो—दूसरी राज्य श्री ही है। अथवा मानो—मनुष्य लोक की सुखाभिलाषा से स्वर्ग लोक से आई हुई सरस्वती ही है। अथवा मानो—स्त्रीरूप से उत्पन्न हुई बहत्तर कलाओ की श्रेणी ही है। जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—मानुषी स्त्री-पर्याय धारिणी पृथिवी ही है। अथवा मानो—अपना स्वरूप प्रकट करनेवाली राज्य की अधिष्ठात्री देवी ही है। अथवा मानो—स्त्रीत्व को प्राप्त हुई समस्त सुखसारो की खानि ही है। जो उसप्रकार चरणरूपी पल्लवो से मनोज्ञ थी जिसप्रकार कामदेव की तोरणमाला पल्लवो से मनोज्ञ होती है। जो उसप्रकार देदीप्यमान नखरूपी मणि-माला से अलङ्कृत थी जिसप्रकार कामदेव की भूषणभूमि मणिमालासे अलङ्कृत होती है। जिसकी जङ्घाओ का विस्तार उसप्रकार क्रमश पूर्वानुवृत्त (गो-पुच्छ की आकृति-सरीखा) था जिसप्रकार कामदेव के बाणो का भाता पूर्वानुवृत्त—फैला हुआ होता है। जो उसप्रकार घुटनो के ऊपरी भागरूपी खम्भो से आश्रित थी जिसप्रकार कामदेव की उपकारिका वसति खम्भो से आश्रित होती है। जिसका जघन-स्थल उसप्रकार विस्तीर्ण

---

१ यथासङ्ख्योपमालकार ।

विशालजघनस्थलाम्, अनङ्गजयपताकामिव विततरोमराजिदण्डिकाम्, अनङ्गजलकेलिवापिकामिव गम्भीरनाभिमण्डलाम्, अनङ्गावतरणवसतिमिव वलिविराजिताम्, अनङ्गायुधयष्टिमिव मुष्टिमितमध्यभागाम्, अनङ्गशरासारवृष्टिमिव परिपूर्णपयोधराम्, अनङ्गवनवसुधामिव भुजलतानन्दिनीम्, अनङ्गादेशपत्त्रिकामिवालकलिपिलिखितभालमध्याम्, अभ्युत्तिष्ठन्तीमिव भ्रूलताविलासेन, स्वागतप्रणयिनीमिव बिम्बाधरस्फुरितेन, विहितासनप्रदानामिव नीवीनिवेशोल्लासेन, पाद्यक्रियोपयुक्तामिव कर्णकण्डूविनोदाडम्बरितहस्तनखप्रभाप्रवाहेण, अर्घमुत्क्षिपन्तीमिव प्रत्यङ्गनिगतरोमाञ्चकदम्बेन, सपादितमधुपर्कामिवालकवल्लरीव्यापारितबाहुमूलप्रदर्शनेन, आचामयन्तीमिव च शृङ्गाररसोत्तरङ्गितै कटाक्षवीक्षितै, धृतवासकसज्जिकास्थिति ताममृतमतीमहादेवीमपश्यम् । अवलोक्य च ताम् अहो महाभाग, महारण्यनिर्गमनादिव तदा हि मे समुल्लसित हृदयेन, दिव्याञ्जनोपदेहादिव प्रसन्न चक्षुषा, अमृतवर्षाभिषेकादिव प्रशान्त देहेन, सिद्धौषधिबन्धनादिव विरत विरहज्वरेण, चिन्ता-

---

था जिसप्रकार कामदेव के ध्यानानुशीलन का स्थान विस्तीर्ण होता है। जिसकी रोमराजिरूपी यष्टि उसप्रकार विस्तृत थी जिसप्रकार कामदेव की विजयपताका विस्तृत होती है। जिसका नाभिमण्डल उसप्रकार गम्भीर था जिसप्रकार कामदेव की जलक्रीडा की बावडी गम्भीर होती है। जो उसप्रकार त्रिबलियो—उदर रेखाओ से अलङ्कृत थी जिसप्रकार कामदेव का अवतार गृह बलियो (पूजाओ) से अलङ्कृत होता है।

जिसके शरीर का मध्यभाग (कमर) उसप्रकार मुष्टि (सकुचित हाथ) द्वारा नापा गया है, अर्थात् जो कृशकटि (पतली कमर वाली) है जिसप्रकार कामदेव का धनुष दड मध्यभाग मे मुष्टिमित होता है। जो कामदेव की शरासार-वृष्टि-(बाण-समूह की वर्षा) सरीखी परिपूर्ण (परस्पर मे सटे हुए पीन—स्थूल) पयोधरो (स्तनो) से अलङ्कृत थी। अर्थात्—जिसप्रकार पयोधर (मेघ) शरासार वृष्टि (जल की वेगशाली वर्षा) से सहित होते है। जो उसप्रकार बाहुरूपी लताओ को आनन्द-दायिनी थी जिसप्रकार कामदेव की वनभूमि लताओ से आनन्ददायिनी होती है। जिसका शिर का मध्यभाग उसप्रकार केशपाशो के अक्षर-विन्यास से लिखित था जिसप्रकार कामदेव की शासन पत्रिका का मध्यभाग लिपि-लिखित होता है। भ्रकुटी रूपी लता के उल्लसन से अभ्युत्थान करती हुई-सी और विम्बफल-सरीखे ओष्ठो के सचलन से स्वागत-प्रणयिनी (प्रशस्तरूप से आई हूँ इसप्रकार अपने को कहती हुई-सरोखी) जैसी सुशोभित हो रही थी। जो नीवी (स्त्री की कमर का वस्त्र-बन्धन) स्थान को ऊँचा उठाने से बैठने के लिए आसन-दान करती हुई सरीखी सुशोभित हो रही थी। जो कानो की खुजली को नष्ट करने के लिए ऊपर उठाए हुए हाथो के नखो की प्रभा-प्रवाह द्वारा पादप्रक्षालनोदक सम्बन्धी आचार मे उद्यमशील-सरीखी और सर्वाङ्गीण रोमाञ्च-समूह द्वारा पूजा पात्र को प्रदान करती हुई जैसी एव केशपाशरूपी वल्लरी के कारण फैलाई हुई भुजा का मूलभाग (कुचकलश) के प्रदर्शन द्वारा मधुपर्क (दही मधु, घृत पाददान) को उत्पन्न करनेवाली-सी एव जो शृङ्गाररूपी अमृत रस से उत्कृष्ट तरङ्गोवाले नेत्रो के कटाक्षो के विलोकन द्वारा आचमन देनेवाली सरीखी सुशोभित हो रही थी एव जिसने वासकसज्जिका—शृङ्गारकारिणी—की क्रिया की है।[1] हे महापुण्यशाली मारिदत्त महाराज! उसे देखकर मेरा हृदय उसप्रकार हर्षित हुआ जिसप्रकार दण्डकारण्य से निकलने पर हृदय हर्षित होता है और मेरे नेत्र उसप्रकार प्रसन्न हुए जिसप्रकार दिव्य अञ्जन के लेप से नेत्र प्रसन्न होते है एव मेरे शरीर को उसप्रकार शान्ति मिली जिसप्रकार अमृत वृष्टि के स्नान से शान्ति मिलती है। मेरा विरह-ज्वर उसप्रकार

---

१ तथा चोक्तम्—'उचिते वासके या तु रतिसभोगलालसा। मण्डन कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका॥'
—स० टी० पृ० ३३ से सकलित—सम्पादक

मणिलाभादिव फलित मनोरथं, कामधेनुसमागमादिव चाभवत्कृतार्थागम समस्तोऽपि प्रजापालनाश्रम परिश्रम ।

ततस्तच्छयनतले दक्षिणत ससबाधमुपविश्य तस्यास्ततरतेन तेनार्धोक्तिसुभगेन मुग्धविदग्धभाषितेन मनागपरिसमाप्तव्यापारेण स्निग्धमधुरावलोकितेन ईषन्निषेधार्पणरसिकेन समालिङ्गितेनान्यैश्च तैस्तैरनङ्गनटरहस्योपदेशप्रगल्भवृत्तिभिर्विलासैस्तत्र तत्रावस्थान्तर सुखस्रोतसि विजृम्भमाणमन कलहस, वसन्त इव दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुत प्रवितर्क्य मनसिजरसोल्लासादिव तरलतारोदयेन लोचनद्वयेन कामसमीरसमागमादिव सपारिप्लवेनाधरपल्लवेन शृङ्गारामृतपानादिव सजातोत्सेकेन कपोलपुलकेन मदनानलसधुक्षणादिवोष्मलेन स्तनयुगलेनानन्यजपर्जन्याभिवर्षादिव च सान्द्रसङ्गेन तेनाङ्गेन सपा-

---

नष्ट हो गया जिसप्रकार सिद्धपुरुषो की औषधिके सम्बन्ध से ज्वर नष्ट होता है एव मेरे मनोरथ उसप्रकार सफल हुए जिसप्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से मनोरथ सफल होते है और मेरा प्रजापालन मे समर्थ हुआ समस्त खेद उसप्रकार सफल हुआ जिसप्रकार कामधेनु की प्राप्ति से समस्त खेद सफल होता है।

प्रसङ्गानुवाद—इसके बाद मै उस महादेवी के पलँग पर नीद-सी लेता हुआ। इसके पूर्व मै अमृतमति महादेवी के दक्षिण पार्श्वभाग से शरीर के सघट्टन-सहित वैठा। बाद मे उसके कामीजनो मे प्रसिद्ध, आधी उक्ति से मनोहर, कोमल और चतुर वचन द्वारा और कुछ आधे विलोकनवाली स्नेह-पूर्ण अमृतधारा-सी चितवन द्वारा तथा कुछ निषेध व अङ्गापण से रसिकता को प्राप्त हुए आलिङ्गन द्वारा एव दूसरे चतुर कामीजनो मे प्रसिद्ध ऐसे विलासो द्वारा, जिनमे कामदेवरूपी नट की कामदेव सम्बन्धी गोप्यतत्व की शिक्षा सम्बन्धी उपदेश की प्रौढतर प्रवृत्ति पाई जाती है, उस उस सुख के प्रवाह मे जिसका हृदयरूपी राजहँस विस्तृत हो रहा है, ऐसा हुआ। उस दूसरी सुख की दशा को प्राप्त हुआ मै उसप्रकार दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुतशाली हुआ। अर्थात्—जिसकी श्वासोच्छ्वास वायु पिङ्गला नाडी मे सचार कर रही है, ऐसा हुआ जिसप्रकार वसन्त ऋतु, दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुतशाली होती है। अर्थात् जिसमे वायु का सचार दक्षिण दिशा मे होता है।[1] इसके बाद मैने ऐसे स्मरमन्दिररूपी महल का चितवन किया, जिसमे निम्न प्रकार की घटनाओ—सुख साधनो द्वारा मानसिक हर्ष उत्पन्न किया गया है।[2]

जैसे चञ्चल व उज्वल उदयवाले दोनो नेत्रो से, जो ऐसे मालूम पडते थे—मानो—कामदेव सम्बन्धी रस (रागरूप जल) के उल्लसन से ही चञ्चल व उज्ज्वल हुए है, अर्थात्—जिसप्रकार जल के उल्लास से वस्तु चञ्चल व उज्ज्वल होती है और चञ्चल ओष्ठपल्लव से, मानो—कामदेवरूपी वायु के समागम से ही चञ्चल हुए हैं। अर्थात्-जिसप्रकार वायु से वस्तु चञ्चल होती है। एव गालो के स्थल पर उत्पन्न हुए प्रचुर रोमाञ्चो से, मानो—शृङ्गाररूपी अमृतपान से ही जिनमे भली प्रकार प्रचुरता उत्पन्न हुई है, अर्थात्—जिसप्रकार अमृतपान से गालो पर रोमाञ्च प्रकट होते हैं। मानो—कामरूपी अग्नि के सधुक्षण से ही ऊष्म होनेवाले कुचकलशो (स्तनो) से, अर्थात्—जिसप्रकार अग्नि के सधुक्षण से ऊष्मा प्रकट होती है। एव कामदेवरूपी मेघ की चारो ओर वृष्टि होने से ही मानो—स्वेद जल से व्याप्त हुए शरीर से।

---

१ तथा चोक्त स्वरोदयशास्त्रे—'दाक्षिणात्योऽनिल श्रेयान् कामसग्रामयोर्नृणाम्।
क्रियास्वन्यास्वन्य स्याद्वामनाडीप्रभञ्जन ॥'

२ तथा चोक्तम्—'पारिप्लव नयनयोरधरप्रकम्प काम कपोलफलके पुलकप्रबन्ध।
ऊष्मागम स्तनयुगे मकरन्दसङ्ग क्रीडाम्बुजे च नियत वनितासु राग ॥'
—स० टी० पृ० ३५ से सकलित—सम्पादक

दितहृदयोन्माद स्मरमन्दिरप्रासादम्, प्रस्तुत्य च चाटुकारपरिभाषामनोहरा प्रणत्युपोद्घातविस्तारिणीर्दण्डप्रदानानुतन्त्र-प्रवृत्ता स्मरसूत्रविवरणवतीस्तास्ता कथा, पुनर्द्विरेफ इव मकरन्दपानेन, राजहस इव मृणालखण्डनेन, कुरङ्ग इव मृगी-श्रृङ्गविलेखनेन, वनपादप इव लतावेष्टनेन, सिह इव मेखलाधिरोहणेन, पुष्पाकर इव पिकवधूकूजितेन, उद्यावदिनपल्लव इव पूर्णकुम्भाश्रयणेन, करभ इव विटपाकर्षणेन, सरित्पतिरिवापगावर्तपरिवर्तकलनेन, मकर इव कल्लोलताडनेन, वनगज इव कमलिनीसर परिमलेन, द्रवन्निव विलीनयन्निव निमज्जन्निव विशन्निव निर्वापयन्निव च, तैस्तैरनन्यजन्मनो रसप्रसरै.

इसके बाद मैने कामीजनो मे प्रसिद्ध ऐसी कथाएँ कही, जो चाटुकार परिभाषा से मनोहर थी। अर्थात्—जो स्नेह जनक व मिथ्या प्रशसा से व्याप्त हुई परिभाषा (भाषण) से हृदय को उल्लासित करनेवाली थी। पक्षान्तर मे अनियम मे नियमकारिणी परिभाषाएँ (शास्त्र विशेष) जिसप्रकार मनोहर होती है। जो प्रणति (पादपतन) व उपोद्घात (समीप मे मस्तक-ताडन) से विस्तृत थी। पक्षान्तर मे कथा-प्रारम्भ मे मङ्गलार्थं प्रणति (इष्ट देवता को नमस्कार) की जाती है, पश्चात् उपोद्घात (विवक्षित वस्तु का अवतरण-क्रम) द्वारा कथाएँ विस्तृत होती है।

इसीप्रकार जो दण्डप्रदानानुतन्त्रप्रवृत्त है। अर्थात्—जो पुरुषकार (पुरुषत्व) दानानन्तर पश्चात् सुरत (मैथुन) मे प्रवृत्त हुई है। पक्षान्तर मे जो, दण्डप्रदान (दक्षिणापथ—गुरुदक्षिणा के मार्ग पूर्वक ?) अनुतन्त्र (वार्तिक—शङ्काएँ उठाकर उनका समाधान करना) द्वारा प्रवृत्त हुई है। एव जो स्मरसूत्र धारण (जङ्घाओ के ऊपर जघाओ का स्थापन) द्वारा विवरण-युक्त है। अर्थात्—गोप्यस्थान-प्रकटन-युक्त है। पक्षान्तर मे शास्त्रो के मूल सूत्रो का विवरण वृत्तिग्रन्थ द्वारा होता है।

इसके बाद मैने उस अमृतमति महादेवीके साथ उसप्रकार मकरन्दपान (ओष्ठ-चुम्बन) द्वारा मैथुन-सुख भोगा जिस प्रकार भ्रमर मकरन्द-पान (पुष्परस-पान) द्वारा सुखानुभव करता है। मैने उसके साथ मृणाल-खण्डन (ओष्ठ-खण्डन) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख भोगा जिसप्रकार राजहँस मृणालखण्डन (कमल की नाल के खण्डन) से सुखानुभव करता है। मैने उसके साथ मृगीश्रृङ्गविलेखन (प्रिया के केश-पाशग्रहण) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख भोगा जिसप्रकार हिरण मृगीश्रृङ्ग विलेखन (हिरणी के सीगो का खरोचना) द्वारा सुख भोगता है। मैने उसके साथ लतावेष्टन (भुजाओ द्वारा आलिङ्गन) द्वारा उसप्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार वन का वृक्ष लतावेष्टन द्वारा सुखानुभव करता है। मैने उस महादेवी के साथ मेखलाधिरोहण (कटिदेश —कमर के ग्रहण) द्वारा उसप्रकार काम-सुख का अनुभव किया जिसप्रकार सिंह मेखलाधिरोहण (पर्वत-नितम्ब पर आरोहण) द्वारा सुखानुभव करता है। मैने उसके साथ पिकवधूकूजित (कोयल-सरीखी सरस वाणी के श्रवण) द्वारा उसप्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार वसन्त कोयल के कलकल कूजित द्वारा सुखानुभव करता है। मैने उस देवी के साथ पूर्णकुम्भाश्रयण (स्तनो के मर्दन) द्वारा उसप्रकार सुरत-सुख का अनुभव किया जिसप्रकार उत्सव दिवसरूपी पल्लव पूर्णकुम्भाश्रयण (पूर्णकलशो) के स्थापन द्वारा सुखानुभव करता है। मैने उसके साथ विटपाकर्षण (बाहुलताओ के आकर्षण) द्वारा उस-प्रकार कामसुख का अनुभव किया जिसप्रकार ऊँट विटपाकर्षण (वृक्ष-शाखाओ के आकर्षण) द्वारा सुखानुभव करता है। मैने उस महादेवी के साथ आपगावर्तपरिवर्तकलन (नाभि प्रदेश के अवलोकन) द्वारा उसप्रकार कामसुख भोगा जिसप्रकार समुद्र नदियो के भँवर धारण द्वारा सुखानुभव करता है। जिसप्रकार मकर कल्लोल-ताडन (समुद्र-तरङ्गो के ताडन) द्वारा सुखानुभव करता है उसीप्रकार मैने उस महादेवी के कल्लोलताडन (वाहुदण्डो के ताडन) द्वारा कामसुख का अनुभव किया। एव जिसप्रकार विन्ध्याचल का हाथी कम-लिनीसर परिमलन (कमलिनियो से व्याप्त हुए तालाब मे डुबकी लगाने) द्वारा सुखानुभव करता है उसी-

प्रणयकोपसर्वधितानुरागमनुनयोपचारद्विगुणितस्नेहसङ्गमन्योन्यकलाकौशलोपचितरसवेगममर्यादमुल्लङ्घितक्रमास्पदमनपेक्षित-वपु खेदमपुनर्लभ्यमिवापश्चिम तया सह सवेशसुखमनुभूय, उपान्तयन्त्रपुत्रिकोत्क्षिप्यमाणव्यजनपवनापनीयमानसुरतश्रम ,

गलिते नितम्बदेशात्काञ्चीगुणमण्डने नितम्बिन्या । नखरेखा पुनरधिका शोभा जनयन्ति जघनस्य ॥ ४ ॥

भवति कचग्रहयोगात्सरलत्व कुन्तलेषु युवतीनाम् । तन्निक्षेपविधेरिव कुटिला श्वासास्तु जायन्ते ॥ ५ ॥

दन्तक्षतमिदमधरे रमणीना नेति मन्मन कि तु । दग्धप्ररूढमन्मथतरोरय पल्लवोल्लास ॥ ६ ॥

चक्षुषि लाक्षाराग कज्जलमधरे च मण्डन कुरुते । दिग्वासस इव चित्रा वृत्तिर्मदनस्य विपरीता ॥ ७ ॥

रमयति मनो नितान्त स्वेदोद्गमबिन्दुमञ्जरीजालम् । लज्जित इव कुचमध्ये प्रविशति हार पुरन्ध्रीणाम् ॥ ८ ॥

उरसि नखक्षतपङ्क्तिर्वनिताना भाति सरसविनिवेशा । स्मरशरशल्यविनिर्गमजनित प्रायेण मार्ग इव ॥ ९ ॥

प्रकार मैने उस प्रिया के साथ कमलिनीसर परिमलन (स्मरमन्दिर मे सुरत करने) द्वारा कामसुख का अनुभव किया ।[1]

उस अवसर पर मै क्षरण करता हुआ-सा, तन्मय होता हुआ-सा, उसके मध्य प्रवेश करता हुआ-सरीखा, उसमे प्रविष्ट हुआ-सा तथा अपने को उस विशेष सुख मे प्राप्त कराता हुआ-सरीखा प्रतीत हो रहा था ।[2] हे मारिदत्त महाराज ! मैने उस प्रिया के साथ कैसे कामसुख का अनुभव किया ? उन-उन प्रसिद्ध कामदेव के रस प्रवाहो द्वारा व प्रणयकोप द्वारा जिसमे अनुराग वृद्धिगत किया जाता है । जिसमे मानव-व्यवहार द्वारा प्रेम का सङ्ग द्विगुणित किया गया है । जिसमे परस्पर के कलाचातुर्य द्वारा राग-वेग वृद्धिगत किया गया है । जो बेमर्याद है । जिसमे अपनी स्थिति के स्थान का अतिक्रमण किया है । जिसमे शारीरिक कष्ट की गणना नही की गई और जो अपश्चिम—अत्यन्त है एव जो पुन प्राप्त न होने योग्य सरीखा है । उस अवसर पर मै ऐसा था जिसका सभोग-खेद समीपवर्ती अथवा दोनो पार्श्व भागो मे वर्तमान कला पुतलियो द्वारा प्रेरित की जानेवाली पखो की वायु से दूर किया जा रहा था ।

जब नितम्बिनी (कमनीय कामिनी) के नितम्बदेश से करधोनी रूपी आभूषण खिसक जाता है तब जङ्घाओ की नखरेखाएँ फिर भी अधिक शोभा उत्पन्न करती हैं[3] ॥४॥ युवती स्त्रियो के केशपाशो को मुष्टि द्वारा ग्रहण करने से केशो मे सरलता हो जाती है और श्वास कुटिल हो जाते है । इससे ऐसा मालूम पडता है—मानो—केशो की कुटिलता के त्याग के दु ख से ही श्वास कुटिल हुए है[4] ॥५॥ रमणियो के ओष्ठो मे वर्तमान यह प्रत्यक्ष दिखाई देता हुआ दन्तक्षत (व्रण) नही है, फिर क्या है ? मेरा मन यह कह रहा है कि रुद्र द्वारा पूर्व मे भस्म किये हुए पश्चात् उत्पन्न हुए कामदेवरूपी वृक्ष का यह प्रवालो का उल्लास ही है[5] ॥६॥ नेत्रो मे लगा हुआ लाक्षारस (अलक्तक या ताम्बूलरस) और ओष्ठ मे कज्जल शोभा को धारण करता है । अभिप्राय यह है कि पुरुष ने स्त्री के नेत्रो का चुम्बन किया, अत उनमे लाक्षारस या ताम्बूलरस लग गया । इसीप्रकार

---

१. ध्वन्यलकार ।

तथा चोक्तम्—'अन्यार्थवाचकैर्यत्र पदैरन्यार्थ उच्यते । सोऽलकारो ध्वनिर्ज्ञेयो वक्तुराशयसूचनात् ॥'

सं० टी० पृ. ३६ से सकलित—सम्पादक

२ क्रियासमुच्चयालंकार ।

३ सयुक्तश्रृङ्गाररस. । ४, उत्प्रेक्षालकारः । ५ अपह्नुतिरलकार ।

स्तनगलकपोलभुजगा राजन्ते करजराजय कुटिला । मदनस्य युवतिवसतिषु निवासलिखिता प्रशस्तिरिव ।। १० ।।
नार्थिनि मलिनमुखत्व दातु कस्यापि युज्यते कर्तुम् । स्तब्धमविवेकि कठिन कुचयुग्म कोऽपि कि त्यजति ।। ११ ।।
नीचैर्वृ त्तिर्येषा त एव नन्दन्ति चिरतर पुरुषा । नूपुरवत्कि सुरते महोत्सव केशकुसुमेषु ।। १२ ।।
अपि च ।

पुष्पेष्वस्तशिलीमुखावलिरभून्नीलालकश्रीरिय नेत्रे श्रोत्रसमीपमाश्रितवती किंचिन्मिथो भाषितुम् ।
वक्त्र चुम्बितुमुन्नताविव कुचावस्या पुन सुभ्रुव काञ्चिस्थानसमृद्धिमत्सरितया मध्य कृशत्व गतम् ।। १३ ।।
मनसिजकलभोऽय नूनमस्मिन् प्रदेशे निवसति वनितानाभूरुमूलप्रचार ।
यदिह तनुजराजिव्याजतो नाभिवाप्या प्रसृतवपुरिवास्या लक्ष्यते हस्त एष ।। १४ ।।

स्त्री के नेत्रो का कज्जल पुरुष के ओष्ठ पर लग गया। अत कामदेव की चेष्टा दिगम्बर मुनि-सरीखी विपरीत होने के कारण आश्चर्यजनक होती है। अर्थात् जिसप्रकार ध्यान-योग से दिगम्बर मुनि के नेत्र रक्त हो जाते हैं एव विशेष प्यास के कारण ओष्ठ श्याम हो जाते है[1] ।।७।। स्त्रियों की प्रकट हुई स्वेदबिन्दुरूपी मञ्जरी-श्रेणी मन को विशेष रूप से प्रमुदित करती है एव हार मानो—लज्जित हुआ सरीखा स्तनो के मध्य प्रवेश करता है[2] ।।८।। स्त्रियो के हृदय पर तत्काल की हुई नखो की व्रणराजि (श्रेणी) ऐसी प्रतीत होती है—मानो—कामदेव के बाणरूपी कॉटो के निकलने से उत्पन्न हुआ प्राय मार्ग ही है[3] ।।९।। कमनीय कामिनियो के कुचो, गलो व गालो की स्थली तथा भुजलताओ पर स्थित हुई व वक्र नखक्षत श्रेणियाँ सुशोभित होती हुई ऐसी मालूम पडती थी—मानो—कामदेवसबधी युवतीरूपी महलोपर निवास करने से उकीरी हुई प्रशस्तियाँ ही हैं ।।१०।।[4] याचक अथवा प्रयोजनार्थी पुरुष के आनेपर किसी दाता को अपना मुख म्लान (श्याम) करना उचित नही है। उदाहरणार्थ—क्या कोई पुरुष (उदरस्थित बालक या कामसेवन मे प्रवृत्त हुआ पुरुष) ऐसे स्तनो के जोडे को, जो कि स्तब्ध (उन्नत—उठा हुआ व पक्षान्तर मे अभिमानी) और अविवेकी (अघटित व पक्षान्तर मे सदसद्विवेक-शून्य) एव कठिन (कर्कश—कडे एव पक्षान्तर मे निर्दयी या लुब्ध) है, छोडता है ? अपितु नही छोडता ।।११।।[5] जिन पुरुषो मे नीचैर्वृत्ति (विनयशीलता व पक्षान्तर मे निकृष्ट पद मे स्थिति) होती है, वे ही पुरुष निरन्तर वृद्धिगत होते है। उदाहरणार्थ—सम्भोग क्रीडा मे नूपुरो (पाद-मञ्जीरो) सरीखा महोत्सव क्या शिर पर स्थित हुए पुष्पो मे होता है ?[6] ।।१२।। सुन्दर भ्रकुटिशालिनी इस कमनीय कामिनी की यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई श्याम केशपाश-लक्ष्मी, कामदेव द्वारा प्रेरित की गई बाणश्रेणी सरीखी हुई। अर्थात्—इसके श्याम केशो की लक्ष्मी ऐसी प्रतीत होती है—मानो—कामदेव द्वारा प्रेरित की गई बाण-श्रेणी ही है। अथवा इसकी पुष्पो के मध्यवर्तिनी श्यामकेशलक्ष्मी भ्रमर-रहित हो गई। इसके दोनो नेत्र दोनो कानो के समीप आश्रित हुए ऐसे प्रतीत होते थे—मानो—परस्पर मे कुछ कहने के लिए ही श्रोत्रो के समीप आश्रित हुए है। इसके दोनो स्तन उन्नत हुए ऐसे प्रतीत होते थे—मानो—इसका मुख चुम्बन करने के लिए ही उन्नत (उठे हुए) हुए है। एव करधोनी के स्थान की उन्नति से द्वेष करने के कारण से ही मानो—इसका मध्यभाग (कमर) कृश हो गया[7] ।।१३।। ऊरुओ (घुटनो के उपरितन भागो) के मूल मे सचार करनेवाला यह कामदेव रूपी हाथी का बच्चा निश्चय से कामिनियो के इस स्मर-मन्दिर प्रदेश मे निवास करता है।

---

१ दीपकोपमाहेत्वलकार । २ रूपकोपमालकार । ३ उत्प्रेक्षादीपकालकार. । ४ समुच्चयरूपकोत्प्रेक्षालकार । ५ श्लेषाक्षेपालकार । ६ आक्षेपालकार । ७ उत्प्रेक्षालकार ।

इति भगवत कुसुमशरस्य चरितचिन्तासन्तानस्तिमितान्त करण स्तोकोन्मेषस्फुरितलोचनपर्यन्तो निद्रामिवाहमकरवम् ।

महादेवी तु मा स्वभावसुप्तमिवालक्ष्य, निभृतमाक्षिप्य मत्कण्ठदेशादुपधानीकृत करम्, अवेक्ष्य मुहुर्मुहुराकुलाकुलविलोचना मदीयाननम्, उत्सृज्य शनै शनै शयनम्, उपविधायार्धमुहूर्तमात्र बहिरन्तश्चाटनचापलत्वम्, अनुवितर्क्य नि सचारतया शून्यतावन्ध्यमिव राजभवनमध्यम्, अवकीर्यात्मन शीलमिव धम्मिल्लकुसुमानि, परामृश्य सच्चरितमिवाङ्गरागम्, अवज्ञाय हितोपदेशमिव कर्णाभरणम, अवधीर्य मत्प्रणयमिव हृदयभूषणम्, अवधूय प्रियसखीमिव काञ्चीदाम, निभर्त्स्य बान्धवमिव नूपुरयुगलम्, अपहाय वैहायकोचितपतिकेव सकल वलयादिक मण्डनम्, अन्यच्च राजमहिषीयोग्यमाकल्पम्, अतित्वरितमुपात्तनिजासन्नचरचामरधारिणीवेषा विधाय किंचिदर्धोद्गलितमुपकरणमुत्सङ्गाधिकरणमसधाय च कपाटपुटमाशु प्रस्थितवती । मयाप्यकृत्वा कालक्षेपम् 'अहो, महादेव्या कोऽप्यपर एव महासाहसव्यवसायो लक्ष्यते । यदस्यामधरात्रदेश्याया निश्येकाकिन्यसतीजनोचिताचरणेव लघुतरमुच्चलिता । तदलमत्र चित्तभ्रमकारिणा विचारचक्रेण । अवलोकयेयमहमेवास्यास्तावदाकूतपरिपाकम् ।'

यह प्रस्तुत प्रदेश मे निवास करता है, यह कैसे जाना जाता है ? क्योकि इस प्रदेश पर वर्तमान रोमावली के मिष से इस कामदेव रूपी हाथी के बच्चे की यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली सूँड, जिसका शरीर इस नाभिरूपी बावडी पर फैला हुआ-सा है, दिखाई दे रही है[1] ।।१४।।

उक्त प्रकार से मै, जिसका मन श्रीमान् कामदेव सबधी चेष्टा की चिन्ताश्रेणी द्वारा निश्चल है और जिसके नेत्रो का प्रान्तभाग कुछ नेत्रो के उद्‌घाटन द्वारा स्फुरित (तेज-व्याप्त) हो रहा है, उस महादेवी के पलङ्ग पर नीद-सी लेता हुआ ।

हे मारिदत्त महाराज ! मेरी पट्टरानी अमृतमति महादेवी ने तो मुझे स्वभाव से शयन करता हुआ-सा देखकर मेरे द्वारा तकिया रूप की हुई अपनी बाहु को मेरे कण्ठदेश से धीरे से खीचकर शीघ्र प्रस्थान किया । प्रस्थान करने से पहले, अतिव्याकुल नेत्रोवाली उसने बारम्बार मेरा मुख देखा । बाद मे उसने धीरे-धीरे पलङ्ग को छोडकर बाह्यरूप से व मन से गमन करने की चञ्चलता आधे क्षण मे करके राजमहल के मध्यभाग को, जिसमे किसी का प्रवेश न होनेके कारण शून्यता-सहित सा निश्चय करके अपने बँधे हुए केशपाशो के पुष्प उसप्रकार फैंके जिसप्रकार उसके द्वारा अपना उज्वल ब्रह्मचर्य फेका जा रहा है । बाद मे उसने सदाचार-सरीखा अङ्गराग (कपूर, कस्तूरी, आदि के रस का विलेपन) दूर किया । पश्चात् उसने कर्ण-कुण्डल-आदि आभूषण उसप्रकार तिरस्कृत किये जिसप्रकार गुरुवचन तिरस्कृत किये जा रहे है । बाद मे उसने वक्ष स्थल के आभूषण (मोतियो की माला व हार आदि) वैसे दूर किए जैसे उसके द्वारा मेरा प्रेम दूर किया जा रहा है । इसके बाद उसने प्यारी सखी-सी कमर की करधोनी दूर की । बाद मे बन्धु सरीखे नूपुरो के जोडो को उतारकर विधवा-सरीखी होकर इसने समस्त हस्त व पाद के आभूषण (कटकादि) दूर किए एव दूसरा पट्टरानी के योग्य वेष को छोडा । इसके बाद शीघ्र ही अपने समीपवर्ती चँवर ढोरनेवाली का वेष धारण करके उसने उत्तरीयवस्त्र और उपकरण (वक्ष स्थलपर धारण किया हुआ जम्फर वगैरह) को सिकुडा हुआ करके किवाडो के जोडे खुले छोडकर शीघ्र प्रस्थान किया । हे मारिदत्त महाराज ! मैने भी निम्नप्रकार मन मे निश्चय करते हुए कालक्षेप न करके उत्सुकता से अपने समीपवर्ती अङ्गरक्षक का वेष धारण करके उस महादेवी के मार्ग

१, वर्तमानालकार ।

इत्यवसितचेतसा, सोत्ताल विहितनिजनिकटवर्तिखड्गवहवेषेण गवेषयता च तत्पदवीम्,

राजमन्दिरस्य प्रथमकक्ष्याया दक्षिणस्या दिशि युवराजविनोदहस्तिनो **विजयमकरध्वजनामधेयस्यापाश्रयाविदूर-वर्तिनि** कटङ्कुरकुटीरके करिकवलावशिष्टयवसप्रस्तरविस्तरिण्यवगुण्ठितरज्जुपुञ्जपरिकल्पितशिरस्पदे निद्रायन्तम्, इभाभ्यङ्गकर्पटपिहितलज्जास्थानम्, अतिकठिनकचकण्टकोड्डमरमुण्डमण्डलम्, अनवानुपदीनापटलसमश्रवसम्, उत्तानकपिकराभोगनिभललाटम्, अङ्गारलिखितैकरेखासमानभ्रूकम्, उदश्वनशुषिरातिशायिलोचनम्, अर्धदग्धाजिनमलिनपक्ष्मपुटम्, अविषमभृतनलदण्डद्वयसदृशनासीरम्, उन्दुरविकतरितसघाटतटतुलितोभयदशनवसनम्, अतिपुराणकुजकोटरप्रतिमगल्लम्, असमस्थापितवराटकविकटदन्तम्, अजश्मश्रुदुर्दर्शचिबुकमध्यम्, एरण्डकाण्डविडम्बिधमनीगलनालम्, अवालवीरणदलघटितकिटिकास्थपुटवक्षसम्, उल्लम्बितमृतगोनसानुकारिक्षिपस्तिनिर्गमम्, अनिलभृतभस्त्राध्मातजठरम्, उदूखलानुकारिकटीभागम्, अग्निलङ्घितस्थाणुगणनोरुकम्, अतनुकूर्मकूर्परप्रतिष्ठाष्ठीवत्प्रदेशम्, उच्छूनसिराग्रन्थिजटिलपिण्डिकम्, उन्निर्गतोत्कटघुण्टिकाकीकसम्, अनेकविपादिकाविलविरलवक्राङ्गुलिफटत्कपादम्, अघसघातमिव दुर्निरीक्ष्यम्, अमङ्गल-

---

को ढूँढते हुए मैंने ऐसे 'अष्टवङ्क' नामवाले महावतो मे नीचमहावत से प्रार्थना करती हुई महादेवी देखी। मैंने मन मे किस प्रकार का निश्चय किया ?

'अहो आत्मन्! इस महादेवी का कोई (कहने के लिए अशक्य) अपूर्व ही महान् अद्भुत करने मे उद्यम दिखाई देता है, क्योकि इसने इस प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई रात्रि मे, जिसमे अर्धरात्रि की बेला थोडी-सी समाप्त हुई है, अकेली व्यभिचारिणी स्त्रीजनो के योग्य चेष्टा-सरीखी होकर शीघ्र प्रस्थान किया, इसलिए इस विषय मे हृदय मे सन्देह उत्पन्न करनेवाले विचार समूह से क्या लाभ है ? अत मै ही इस महादेवी के अभिप्राय का परिपाक देखता हूँ। अर्थात्—मै दूसरो की कही हुई बात नही मानता।'

[उक्तप्रकार का मन मे निश्चय करनेवाले मैंने कैसे 'अष्टवङ्क' नामके नीच महावत से प्रार्थना करती हुई महादेवी देखी ?]

जो ऐसी वृक्षशाखा की कुत्सित कुटी मे नीद ले रहा है, जो कि राजमहल के प्रथम प्रकोष्ठक की दक्षिणदिशा मे वर्तमान 'विजयमकरध्वज' नामवाले युवराज (यशोमति कुमार) सबधी क्रीडागज के राज्य स्थान से समीप थी एव जिसमे हाथी के ग्रास से बची हुई घास का बिछोना बिछा हुआ था तथा जिसमे कुण्डलाकार की हुई रस्सियो की श्रेणी से वनी हुई तकिया वर्तमान थी, जिसने हाथियो के तैल-मालिश सबधी (मलिन) वस्त्र द्वारा अपने अण्डकोश आच्छादित किये है। जिसका मुखमण्डल अत्यन्त कर्कश केशरूपी कॉंटो से भयानक है। जिसके कान जीर्ण जूता के चमडे सरीखे है। जिसका ललाट फैलाए हुए बन्दर के हाथ के विस्तार-सरीखा है। जिसकी दोनो भ्रकुटियाँ कोयले से लिखी हुई मलिन एकरेखा-सी थी। जिसके नेत्र नारियल के खप्पड के छिद्र-सरीखे भद्दे थे। जिसके नेत्र-पटल आधे जले हुए चमडे जैसे मलिन है। जिसकी नासिका समरूप से धारण किये हुए कमलदण्डो के जोडो-सी थी। जिसके दोनो ओष्ठ, चूहो द्वारा नानाप्रकार से कुतरे हुए चनो-सरीखे थे। जिसके गाल अत्यन्त जीर्णवृक्ष की कोटर-सरीखे थे। जिसके दॉत पक्ति-रहित कौडियो जैसे वाहिर निकले हुए थे। जिसकी ठोडी बकरे की दाढी सी देखने मे भद्दी थी।

जिसका प्रकट हुई नसोवाला गलारूपी नाल (कमल-डठल), एरण्ड वृक्ष के तना या पत्रसमूह सरीखा है। जिसका हृदय विशाल तृणविशेष-रचित कुटी जैसा ऊँचा-नीचा है। जिसकी बाहुओ का विस्तार ऊपर लटके हुए व मरे हुए दो सॉपो सरीखा है। जिसका उदर वायु से भरी हुई लुहार को धोकनी-सा भरा हुआ है। जिसकी कमर ओखलो जैसी है। जिसके ऊरु अग्निसे आधे जले हुए ठूँठो-सरीखे है। जिसके

स्थानमिव नितरामुद्वेजनीयम्, अखण्डमण्ड्रकुलमिव मनुष्यरूपेण परिणतम्, अखिलमिव वैरूप्यमवचित्य वेधसा निष्पादितम्, अतिस्थूलश्वासस्फूर्जत्कुक्षिपरिसरम्,

उद्घोषणघोरणघोषघर्घरितदिग्विवरम्, उद्दृप्तनिद्राभरव्यादीर्णवदनकन्दरम्, उपलसपुटनिष्पीडितमिव खर्वतरपूर्वभागम्, उभयत परिकृष्टमिव दीर्घतरापरागम्, इह करिणिजनस्य दृष्टिविषमापतेदिति मषीपुण्ड्रकमिव द्विपसमीपविनियुक्तम्, अखिलगजोपजीविफेलाजीवनमण्टवङ्कनामपद लेसिकापसदमूर्ध्वशुष्कशाल्मलीविटपकर्कशस्पर्शे स्थूले चरणाङ्गुष्ठमूले विनिवेश्य मत्प्रेमप्रासादपरिलोपोद्गवज्रानलस्फुलिङ्गमिव करमुत्थापयन्ती, पुनरुत्थितेन च तेन किंचिदश्लीलमालपता विधुतुदमलिनेन वामहस्तेनाकृष्य कुरङ्गाङ्ककलङ्कसकाश केशपाशमङ्कुशप्रहारनिर्दयेन चेतरेण करेण हन्यमाना, 'अये प्रियतम, अलमलमनेनावेगेन । क्षमस्वैनमेकमनुचितसबन्धमपराधम् ।

आकर्णय तावत् । एषास्मि तव दासी । धृतौ च ते मया पादौ । इय च वासतेयी मम कुशलेन मा विभासीत्, यद्यहमात्मवशेनैव स्थितवती । कि तु हतविधिनाह मन्दभाग्यवती परवती विहिता । स च तपन क्षणमपि दुष्टग्रह

जानुओ (घुटनो) के प्रदेश महान् कछुए के खर्पर-सरीखे है। जिसकी जङ्घाएँ सूजी हुई नसो की गाठो से सर्वत्र व्याप्त थी। जिसके पैरो की गाठो की दोनो हड्डियाँ ऊपर निकली हुई व उत्कट है। जिसके फटे हुए पाँव अनेक प्रकार की खुजलियो से व्याप्त व विरली व टेडी अङ्गुलियो से युक्त थे। जो पाप-समूह सरीखा महान् कष्ट से देखने लायक था। जो श्मशान-सरीखा अत्यन्त भयानक था। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—मनुष्य पर्याय को परिणमन हुआ मण्डूर-(लोह-मल) समूह ही है। अथवा मानो—पूर्वजन्म सबधी पापकर्म द्वारा समस्त कुरूपता को ग्रहण करके निर्माण किया गया है। जिसके उदर का पर्यन्तभूमि-प्रदेश महान् श्वासो से अप्रतिहतव्यापारशाली था। जिसने उत्पटित नासिका के निद्राशब्दो से दिशाओ के छिद्रो को बहरे या जठरित किये है। जिसकी मुखरूपी गुफा उन्माद को प्राप्त हुए निद्रा-भार से विदारित की गई है। जिसका पूर्व शरीर लघु होने से ऐसा मालूम पडता था—मानो—पाषाणपटल का जोडा चम्पित हुआ है। जिसका नीचे का शरीर विस्तृत है, इससे ऐसा प्रतीत होता था—मानो—अपर शरीर के दोनो भागो मे ताना गया है। जो कज्जल के तिलक-सा हाथियो के समीप नियुक्त हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो—इन हाथियो के निकट महावत-समूह का दृष्टिविष (नजर-दोष) पड जायगा, इसलिए—मानो—जो कज्जल-तिलक ही है एव जो समस्त महावत लोगो का जूँठा भोजन करनेवाला था।

[हे मारिदत्त महाराज मैंने उक्त 'अष्टवङ्क' के सामने कैसी ? या क्या करती हुई ? अमृतमति देवी देखी ?

जो (अमृतमति) उसके पैरो के अँगूठे के समीप, जो कि विशेष सूखी हुई शाल्मलि वृक्ष की शाखा-सरीखा कठोर स्पर्श वाला व महान् था, बैठकर उसके हाथ को, जो कि मेरे प्रेमरूपी महल को नष्ट करने के लिए उत्कट वज्राग्नि के कण सरीखा था, ऊपर उठा रही थी। एव जिसके चन्द्र-लाञ्छन सरीखे श्याम केशपाश सोकर उठे हुए व कुछ गाली देते हुए अष्टवङ्क द्वारा राहु-सरीखे मलिन बाएँ हाथ से खीचे गए थे और जो अङ्कुश के निष्ठुर प्रहार-सरीखे निर्दय दाहिने हाथ से पीटी जा रही थी एव जिसने उस अष्टवङ्क से निम्नप्रकार प्रार्थना की थी।

'अहो स्वामिन् ! इस प्रत्यक्ष प्रतीत हुए क्रोध से कोई लाभ नही। अद्वितीय, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुए व अयुक्त मेरे अपराध को क्षमा कीजिए। अनुक्रम से सुनिए। यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई मै आपकी दासी

इवागत्य न मां मुञ्चति । तत्किं नु खलु करोमि । नन्वहं हताशा । बलीयश्च मे निर्भागिन्याः पुराकृतं दुष्कृतम्, येन त्वयि न शक्नोमि जीवितेश, मनोनुरागवदनेन मुधागलल्लावण्यकेन कायेन सदा सन्निधातुम् । तत्समागमसमये च यदि त्वामेव हृदये निधाय तेन सह नासे, तदास्यामेव निशि भगवती कात्यायनी मा खादतु । पृथिव्येनसा च भागिनी स्याम् । तत्प्रसीद । एष ते पादपतन प्रणयदण्ड सभावय । इदमुपकरणम् । आलिङ्गय निर्वापयेमकान्यङ्गकानि । गतेनैव पर्याप्तमन्तरायेण ।' इत्यनुनयन्ती च दृष्टा ।

तदनु वडवानलपरिष्वङ्गमिव मे ससारसुखतरङ्गस्यापुनरागमनवेलजमिव विषयाभिलाषगजस्य तयोर्दुरभिसन्धिमात्मसमक्षविधिमवेक्ष्य, आशुशुक्षणिकक्षीकृत क्षितिरुह इव दह्यमानान्तर्देह, च्युतमर्यादमुद्र समुद्र इवानिवार्यकोपप्रसर, सैंहिकेयगृहीतशिशिरकर इव विभिन्नाननकान्ति, आसन्नमरण प्राणिगण इव कम्पोत्तरलतरकरण छिद्यमान-

---

हूँ। इस समय मै आपके चरण कमलो की शपथ करती हूँ। यदि मै स्वाधीन होती तो यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुई रात्रि [आपके बिना] मेरी कुशलता पूर्वक नही व्यतीत होती। किन्तु निन्दित ब्रह्मा ने मुझ अभागिनी को पराधीन बनाया है। वह कामदेव पिशाच-सरीखा आकर मुझे क्षणभर भी नही छोडता। अर्थात्—तुम्हारी अभिलाषा से ही मै जीवित रह रही हूँ, इसलिए मै अनुनय पूर्वक पूँछती हूँ कि मै क्या करूँ ? अर्थात्—मेरा क्या दोष है ? विधि का ही दोष है। मेरा मनोरथ निश्चय से नष्ट हो गया। मुझ पापिनी का पूर्वजन्म मे उपार्जन किया हुआ पाप विशेष शक्तिशाली है, जिससे मै तुम्हारे पास इस शरीर से, जिसकी कान्ति निरर्थक नष्ट हो रही है, सदा निकट रहने के लिए उसप्रकार समर्थ नही हूँ जिसप्रकार आपका अनुराग मेरे हृदय मे सदा निकट रहता है। अर्थात्—जिसप्रकार आप प्राणेश्वर मे मेरा मानसिक अनुराग सदा रहता है उसप्रकार शरीर से समीप रहने के लिए समर्थ नही हूँ। यदि मै यशोधर के साथ काम सेवन के अवसर पर आपको ही हृदय मे धारण करके नही रहती हूँ तो इसी रात्रि मे परमेश्वरी चण्डिका माता मुझे खाजाय और पृथिवी के पापो की भागिनी हो जाऊँ। इसलिए प्रसन्न होइए। यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ आपके चरण कमलो मे नमस्कार ही प्रेम प्रायश्चित्त है, उसे ग्रहण कीजिए। इस उपकरण (कपूर, कस्तूरी, चन्दन-विलेपनादि) को ग्रहण कीजिए। इन शारीरिक अङ्गो को आलिङ्गन देकर सुखी कीजिए। व्यतीत हुआ अन्तराय (विघ्न बाधा) ही पर्याप्त है। अर्थात्—इतने समय तक जो मै न आ सकी वही काफी है।'

इसके बाद मैने उन दोनो (अमृतमति देवी व अष्टवङ्क) का बध करनेके लिए म्यान मे से आधी निकली हुई तलवार खीची।

[हे मारिदत्त महाराज ! इसके पूर्व मैने क्या किया ?]

मैने उन दोनो अष्टवङ्क व अमृतमति का ऐसा कुकृत्य देखा, जो कि ससार-समुद्र सम्बन्धी सुख की लहर-सरीखे मुझे वडवानल के सम्बन्ध-सा था। अर्थात् जैसे समुद्र-तरङ्ग को वडवानल अग्नि का सम्बन्ध दु खदायी होता है वैसे ही मुझे उन दोनो का कुकृत्य दु खदायी हुआ। जो विषयो की लालसारूपी हाथी-सरीखे मुझे अपुनरागमनवेलजद्वार-सरीखा था। अर्थात्—जैसे हाथी जिस दरवाजे से पीडित होता है, उस दरवाजे से फिर दूसरी बार नही आता, उस दरवाजे को 'अपुनरागमन वेलज-द्वार' कहा जाता है वैसे ही उन दोनो का दुर्विलास भी, मेरे विषयो की अभिलाषारूपी हाथी को अपुनरागमन वेजल द्वार-सरीखा था एव जो, मेरी आत्मा द्वारा (स्वय) प्रत्यक्ष किया हुआ था। उससे मै वैसा जाज्वल्यमान हृदयवाला हुआ जैसे अग्नि से व्याप्त हुआ वृक्ष जाज्वल्यमान मध्यभागवाला होता है। [उस समय] मेरी क्रोध-प्रवृत्ति वैसी निषेध करने के अयोग्य हुई जैसे मर्यादा-रहित समुद्र की क्रोध-प्रवृत्ति निषेध करने के अयोग्य होती है। जैसे राहु से निगला

लव पल्लव इव प्रवेपमानाधरदल, त्रिपुरदाहप्रवृत्तमति पार्वतीपतिरिव भ्रुकुटिभङ्गुरितभालमध्य, ताप्यमानावगाह‘ कटाह इव लोहिततरवक्ष स्थल, तिमिरवीचिकाभिरिवामर्षोत्कलिकाभिरन्धीक्रियमाणलोचनस्तद्वधाय कोशादर्घानुरोध-मसिमहमाकृष्टवान् । अभवच्च दैवात्तदैव मे प्रदीपबोधादिव मनस्तमस्तनुच्छेद । आ किमिदमहो कर्माहमनुष्ठातु व्यवसित । न खलु नार्य इव शुभमशुभ वा कर्म सहसैवारम्भन्ते विनीतमतय, नापि विपदि सपदि वा कृपणप्रकृतय इवाशु विक्रिया गच्छन्ति महानुभावा, न चाल्पमेघसामिव महीयसामुपपन्ना भवन्ति कामचारेण प्रवृत्तय, न चैतद्गहन किंतु प्रातर्मयैव लज्जावनतमस्तकेन शिर पिधाय स्थातव्यम् । शोचितव्य च मयैव प्रणयिना पुर पश्चात्तापदु प्रतिष्ठान-मिदमनुष्ठानम् । श्रोतव्या भविष्यन्ति मयैव कर्णकटुताकारा पुरजनस्य धिक्कारा । सुष्ठु मलिनीकृत स्यान्मयैवात्मीय मामीय च कुलम् । सोढव्या मयैव स्वदुष्कृत्यनिरुत्तरविघाश्चित्तशल्यस्पृश कुलवृद्धानामभिधा । अहमेवोदाहरण भविष्यामि दुर्बुद्धीना कुटुम्बविघटने । कलुषतामेष्यत्येषैवास्थाने विनियोजिता खड्गलता ।

स्त्रीवधादयमजनि तपस्वीति मृतस्यापि मे न दुर्यश प्रशान्तिमर्हति । शोकातङ्के पतिष्यति च सापराधस-

---

हुआ चन्द्र कान्ति-हीन होता है वैसे ही मै भी दूर की हुई मुख-कान्तिवाला हुआ। जैसे निकट मृत्यु प्राणि-समूह चञ्चल देह से व्याप्त होता है वैसे ही मै भी विशेष चञ्चल शारीरिक अवयव-युक्त हुआ। मै वैसा कम्पित होते हुए ओष्ठदलवाला हुआ जैसा छेदे जानेवाला विलास-युक्त पल्लव कम्पित पल्लव-युक्त होता है। जैसे दैत्य विशेष के भस्म करने मे प्रवृत्त हुई बुद्धिवाला रुद्र भृकुटियो के चढाने से वक्र हुए ललाट के मध्यभागवाला होता है वैसे ही मै भी भौहो के चढाने से वक्र किये गए मध्यभागवाला हुआ। जैसे विशेष तपाए जानेवाले मध्यभागवाली कडाही विशेष रक्त होती है वैसे मै भी विशेष रक्त वक्ष स्थलवाला हुआ और अन्धकार लहरी-सरीखो क्रोध तरङ्गो से मेरे नेत्र अन्धे किये जा रहे थे।

हे मारिदत्त महाराज! कर्मयोग से तलवार खीचने के अवसर पर ही मेरे मन मे स्थित हुआ क्रोध-रूपी अन्धकार-शरीर वैसा नष्ट हो गया जैसे दीपकके जलाने से अन्धकार नष्ट होता है। उस समय मैंने निम्न प्रकार चिन्तवन किया—

‘अहो आत्मन्! दु ख है कि मै (यशोधर) इस अष्टवङ्क व अमृतमति देवी के वध-कर्म करने मे क्यो प्रवृत्त हो रहा हूँ? क्योकि विद्वान् पुरुष स्त्रियो-जैसे शुभ व अशुभ कर्म सहसा (विना विचारे) आरम्भ नही करते। जैसे मूर्ख लोग विपत्ति व सपत्ति के अवसर पर विकृत हो जाते हैं, अर्थात् विपत्ति मे व्याकुलित व सम्पत्ति मे हर्षित हो जाते हैं वैसे महापुरुष विपत्ति व सम्पत्ति के समय विकृत नही होते। जैसे मूर्ख पुरुषो की चेष्टाएँ स्वेच्छाचार पूर्वक होती है वैसी महापुरषो की नही होती। यद्यपि मेरे लिए इन दोनो का वध करना कठिन नही है किन्तु ऐसा करने से मुझे प्रात काल मे ही लज्जा से नम्रीभूत मस्तकवाला होकर मस्तक ढककर स्थित रहना पडेगा और स्नेही पुरुषो के आगे मुझे ही पश्चातापरूपी दुष्ट मूलवाला इस अमृतमति देवी का कुकृत्य प्रकाशित करके शोक करना होगा एव कानो मे कटुकता प्राप्त करनेवाले नागरिक लोगो के धिक्कार वचन मुझ से ही श्रवण करने योग्य होगे। मुझ से ही मेरा व मामा का वश विशेष मलिन किया हुआ होगा। मुझ से ही अपने कुल के ज्येष्ठ पुरुषो के वचन, जो कि मन को शल्य सरीखे छूनेवाले है और जिनके प्रकार अपनी स्त्री के वध लक्षणवाले पाप मे उत्तरहीन है, सहन करने योग्य होगे एव मै ही कुटुम्बी जन के नष्ट करने के विषय मे दुष्ट बुद्धिवालो का उदाहरण होऊँगा और यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हुई तलवार अयोग्य स्थान मे अधिकृत हुई कलुषता प्राप्त करेगी। अर्थात्—वर देनेवाली व विजय लक्ष्मी प्राप्त करानेवाली नही होगी।

वित्रीभूतिदु खितो युवराज । पर च बह्वपराधे हि देहिनि क्षणमात्रव्यथाशरण मरणमनुग्रह इव । यदि पुनरनवेक्षण-मुपस्थितस्य, असभाषणमासन्नस्य, उपेक्षण विज्ञपयत, अवधीरणमसमै परिभूयमानस्य, आशाभङ्गकरणमर्थयत, प्रीति-वितरण तदनभिमतानाम, अस्मरण प्रियगोष्ठीषु, अनवेक्षण तत्परिजनस्य, अपवार्य व्याहरण स्वप्रकाशेष्वप्यालापेषु, अनवसरानुसरणमसङ्गभावेष्वपि प्रस्तावेषु क्रियेत, स्यात्प्रत्यानीतश्चिरमस्थाने कृतसमय प्रणय । साधित चाभिमतम् । इदमेव च निश्चित्याविदितवृत्तान्तस्येव तच्छयनतलमुपगम्य पुरावस्थितवत प्रलयकालकलितप्रसरस्य मकराकरस्येव निर्मर्यादमन्तर्विकल्पकल्लोलदोलायमानमानसस्य, सा निर्वृत्यात्मनो दुर्विलसितमतित्वरितगतिजनित वातमन्तरैव जयन्ती

'यह यशोधर स्त्री का घात करने के कारण सन्यासी होगया' ऐसी मेरी अपकीर्ति मर जानेपर भी शान्त नही होगी एव युवराज (श्री यशोमति कुमार) पाप करनेवाली माता के वध से दु खित होकर पश्चाताप रूपी रोग मे प्रविष्ट होगा।

अत मैने निम्नप्रकार निश्चय किया—दूसरी बात यह है कि विशेष पाप करनेवाले प्राणी से किया हुआ मरण उसको थोडे समय के लिए दु ख का स्थान है, अत उसका उपकार सरीखा है। इससे यदि आये हुए पुरुष की ओर दृष्टिपात न किया जाय तो अयोग्य स्थान मे किये हुए अवसरवाला प्रणय (स्नेह) चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जाता है। यदि सन्मुख आये हुए पुरुष के साथ भाषण न किया जाय तो अयोग्य स्थान मे किये हुए अवसरवाला प्रणय (स्नेह) चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जाता है। अर्थात्—जैसे सन्मुख आए हुए पुरुष के साथ भाषण न करने से स्नेह नष्ट हो जाता वैसे ही सन्मुख आई हुई अमृतमति देवीके साथ वार्तालाप न किया जाय तो मेरा उसके साथ उक्त प्रकार का स्नेह चिरकाल तक के लिए नष्ट हो जायगा। यदि योग्य शिक्षा देनेवाले का अनादर किया जाय तो उक्त प्रकार का प्रणय नष्ट हो जाता है। यदि विशेष वलिष्ठ शत्रुओ से तिरस्कार किये जानेवाले पुरुष का निरादर किया जाय तो उक्त प्रकार का स्नेह नष्ट हो जाता है। यदि याचना करनेवाले पुरुष की आशा का भङ्ग किया जावे तो स्नेह नष्ट हो जाता है। यदि द्वेष करनेवाले पुरुषो से स्नेह प्रकट किया जावे तो उक्त प्रकार का स्नेह नष्ट हो जाता है। जैसे प्रेमी पुरुषो की सभाओ मे प्रेमी का स्मरण न करना प्रणय भङ्ग करनेवाला होता है वैसे ही प्रिय गोष्ठी मे अमृतमति देवी का स्मरण न करना भी उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। एव जैसे प्रेमी पुरुष के परिवार की ओर दृष्टिपात न करना प्रणय-भङ्ग कारक होता है वैसे ही अमृतमति देवी के परिवार (सखीजन) की ओर दृष्टिपात न करना भी मेरे उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। जैसे स्वाधीन भाषणो मे स्नेही को दूर होने की कहना प्रणय भङ्गकारी होता है वैसे ही स्वाधीन वार्तालाप के अवसर पर अमृतमति देवी को दूर होने की कहना भी उक्त प्रकार के प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। जैसे वैराग्यजनक अवसरो पर भी अनादर करना प्रणय भङ्गकारी होता है वैसे ही वैराग्य व शृङ्गार जनक सभी अवसरो पर अमृतमति देवी का अनादर मेरे प्रणय को भङ्ग करनेवाला होगा। मैने कर्तव्य निश्चित कर लिया 'मै उस अमृतमति देवी के साथ वार्तालाप-आदि नही करूँगा।'

इसके बाद वह अमृतमति अपना कुकृत्य पूर्ण करके अपनी शीघ्र गति से उत्पन्न हुई वायु पर मध्य मे ही विजय श्री प्राप्त करती हुई और ऊर्ध्व श्वॉस द्वारा कञ्चुक को ऊँचा नीचा करनेवाले हृदय-कम्पन को रोकती हुई उद्दण्डता पूर्वक मेरे समीप आई और उसने मेरे, जो कि दुर्विलास न जाननेवाले-सरीखा होकर अमृतमति देवी की शय्या पर पूर्व की तरह सो रहा था और जिसका चित्त वैसा वेमर्यादावाली मानसिक विकल्परूपी महातरङ्गो द्वारा कम्पित हो रहा था जैसे प्रलयकाल द्वारा विस्तृत होनेवाला समुद्र वेमर्याद महातरङ्गो से कम्पित होता है, बाहुरूपी पिञ्जरे का वैसा आश्रय करके अत्यन्त गाढ निद्रा पूर्वक शयन किया

निरुन्धाना चोत्कम्पोत्तालितवारबाणं हृदयतरङ्गिमाणमविनीतैरुपसृत्याश्रित्य च मम भुजपञ्जर कुजनिकुञ्जमिव व्याली, पर्जन्योत्सङ्गमिव सौदामिनी, कुत्कीलकन्दरमिव भुजङ्गी, जगदन्तरालमिव कालदूती, जलधिमध्यमिव मकरी, वनगहनमिव निशाचरी, निजाङ्गस्पर्शबीभत्सयेव मदीया तनुमशेषत कण्टकयन्ती, बहुकालमात्मदुष्कमण परिणतारम्भत्वादविदितसाहसेवाङ्गनिक्षेपमात्रेणैवातिसान्द्र न्यद्रासीत् ।

न खलु विवृतेङ्गिताकारस्य पुस काचिदपि भवति कार्यसिद्धिरिति जानतोऽपि न मे मनागपि प्रसीदति मन । पिशाचच्छलितस्येव शून्यहृदयता, महाशोकतप्तस्येव दीर्घतरमुच्छ्वसितम्, अग्निपतितस्येव परिवर्तनबहुलता, ज्वरितस्येवातीव मुखशोष , कौसीद्योपहतस्येव मुहुर्मुहुर्विजृम्भणम्, उन्मत्तस्येव यत्किचित्प्रलपनम्, निषादानुगताङ्गी कुरङ्गीव च न क्वचिदेव पदमाबध्नाति बुद्धि, मनोऽपि घनदिनमिव बाढमन्धकारयत्याशाम्, आत्मन क्षणमात्रमुद्योतमानमिव प्रतिभासते, भवति च पुनर्बाष्पजलप्रवाहदुर्दिनम् । अहो महदाश्चर्यम् । इय हि पुरा स्वैरविहारेष्वपि रममाणा भग्नचरणेव नैकाकिनी पदमेकमपि ददाति, जलक्रीडासु बालमृणालस्पर्शेनापि सदिग्धजीवितेव मूर्छति, कुसुमावचयेष्वशोकदलकल्पि-

---

जैसे दुष्ट हथिनी लताओ से आच्छादित मध्यवाले स्थान का आश्रय करके शयन करती है। जैसे बिजली मेघ प्रदेश का आश्रय करके निद्रा लेती है। जिस तरह सर्पिणी पर्वत-गुफा का आश्रय करके शयन करती है। जैसे यमराज की दूती तीन लोक के मध्य का आश्रय करके शयन करती है। जैसे मकरी समुद्र के मध्य का आश्रय करके शयन करती है और जैसे राक्षसी वन के मध्य का आश्रय करके शयन करती है। क्या करती हुई उसने शयन किया ? मेरे शरीर को रोमाञ्चित करती हुई जो ऐसी मालूम पडती थी मानो—मेरे शरीर के छूने मे ग्लानि होने के कारण से ही उसने मेरे शरीर को पूर्णरूप से रोमाञ्चित किया था। अज्ञात दुराचारवाली वह ऐसी मालूम पडती थी—मानो—दीर्घकाल तक किये हुए अपने पाप सम्बन्धी दुराचार को जीर्ण करने के कारण ही वह विना जाने हुए दुर्विलास-सरीखी थी।

हे मारिदत्त महाराज ! उक्त घटना के घटित होने से 'निश्चय से मानसिक विचार व उसके अनुसार शारीरिक चेष्टा (आकृति) को प्रकाशित करनेवाले पुरुष की कोई भी कार्य सिद्धि नही होती। अर्थात्—मानसिक विचार व उसके अनुकूल शारीरिक चेष्टा को गुप्त रखनेवाले पुरुष को ही कार्य मे सफलता प्राप्त होती है' उक्त नीति को जानते हुए भी मेरा मन जरा भी प्रसन्न नही रहता। मेरे हृदय की शून्यता (जडता) वैसी होती थी जैसी ग्रह द्वारा गृहीत पुरुष की हृदय-शून्यता होती है। उस समय मेरा श्वाँस वैसा विस्तृत हो रहा था जैसा महान् शोक से पीडित हुए पुरुष का श्वाॅस विस्तृत होता है। मेरे शरीर के बाएँ व दाहिने पार्श्व भागो मे परिवर्तन की अधिकता वैसी होती थी जैसे अग्नि मे पडा हुआ पुरुष विशेष परिवर्तन करता है। ज्वर से पीडित पुरुष-सा मेरा मुख-शोष होता था। आलस्य से नष्ट होनेवाले पुरुष-सरीखो मुझे बार-बार जँभाई आती थी। मेरे यद्वा तद्वा अनर्थक वचन वैसे हो रहे थे जैसे मद्यपान करनेवाले के वचन यद्वा तद्वा अनर्थक होते हैं। मेरी बुद्धि कही पर वैसी स्थान प्राप्त नही करती थी जैसे जिसके शरीर के पीछे व्याध लगा है, ऐसी हिरणी कही पर स्थान प्राप्त नही करती। मेरा मन भी वैसा आशा (धन व भोगादि की वाञ्छा) को अन्धकार-युक्त (शून्य) करता था जैसे वर्षा-दिन अतिशयरूप से आशा (पूर्व-आदि दिशा) को अन्धकारित (अन्धकार से व्याप्त) करता है और मेरा मन अपना क्षणमात्र उद्योत करता हुआ-सरीखा प्रतिभासित हो रहा था तथा अश्रुजल से पूर्ण हो रहा था।

प्रसङ्गानुवाद—हे राजन् ! मै निम्न प्रकार भली-भाँति विचार करके 'अखिल-जनावसर' नाम के सभा मण्डप मे प्राप्त हुआ। 'अहो महान् आश्चर्य है, कि यह अमृतमति महादेवी निश्चय से पूर्व मे वन क्रीड़ा

तास्वपि शय्यासु शर्करिलदेशपतितेव न सुखायते, मणिकुट्टिमेष्वपि सचरन्ती कण्टकोत्कटक्रमेव स्खलति, केलिकलहेष्वपि विमुच्यमाना कृतपिशाचोपद्रवेव विलपति, कथ चेदानी तु सकुटीच्छुटिता घोटिकेव भृशायमानगमना तथाविधप्रहारसपातेऽप्यन्यैव काचिद्धृतेव तिष्ठति, तृणसस्तरेऽपि निवसन्ती न मनागपि दु खायते, परुषमार्गप्रचारेष्वपि कक्षान्तरेषु प्रविष्टमाना रथारूढेव प्रयाति, वीरचर्यातिवर्तिन्यामप्यस्या वेलायामवगणा न बिभेति। कथ तु नाम महिलाना स्वप्नेऽपि सरलभाव सभाव्यते, यासामन्तरमनवाप्तावगाह इव मन कुटिलतासरित्प्रवाह कुन्तलच्छलेन ललाटतटेषु, भ्रूछद्मना श्रवणान्तरालेषु, विलोकनव्याजेन लोचनकुहरेषु, आलापमिषेण वदनकन्दरेषु, गतिविभ्रमेण चरणवर्त्मसु, बहिर्दर्शनपथमगात्।

अतएव प्रावृषि वाहिनीनामिव सीमन्तिनीना प्रायेण भवन्ति मलीमसा प्रवृत्तय। तथाहि—नावेक्षितो ममात्मनश्च कुलस्य परिवाद, न गणितो मे मनागप्यात्मन्यसाधारण प्रणय, नावलोकितानि प्रणयकलहेष्वपि मया विहितपरमार्थागसेन कृतान्यनुनयप्रसादनानि, न स्मृतमननुभूतपूर्वमिवाजन्मसवर्धित सहावसथसख्यम्, न चिन्तिता सकल

आदि ऐच्छिक विहारो मे आमोद-प्रमोद प्राप्त करती हुई अकेली भग्न पैरवाली-सरीखी होकर एक पैर रखने योग्य स्थान प्राप्त नही करती थी।

यह देवी जल क्रीडादि के अवसरो पर कोमल कमलिनी-कन्द के छू जाने से भी मरी हुई-सरीखी मूर्च्छित हो जाती थी। यह देवी पुष्पो के तोडने के अवसरो पर अशोक वृक्ष के पत्तो से रची हुई शय्याओ पर भी ककरीले प्रदेश पर गिरी हुई-सी होकर सुख नही मानती थी। यह देवी रत्न-खचित भूमियो पर सचार करती हुई कण्टको से ताडित पैरवाली-सरीखी स्खलन करती हुई चलती थी। यह क्रीडा कलहो मे भी तिरस्कृत होती हुई ग्रह द्वारा ग्रहण की हुई सरीखी विलाप करती थी। वह इस समय घुडसाल से छूटे हुए बन्धनवाली घोडी-सरीखी अत्यन्त तेजी से गमन करनेवाली कैसे हो गई? वैसे प्रहारो (दक्षिण हाथ द्वारा ताडनो) के सपात होनेपर भी जो दूसरी कोई धारण की हुई-सरीखी स्थित हो रही है। जो घास के बिछौने पर निवास करती हुई जरा-सी भी दु खी नही होती। जो कठिन मार्गपर गमन करने पर भी बडे-बडे प्रकोष्ठो (कोठो) मे प्रवेश करती हुई रथ पर चढी हुई-सी प्रयाण करती है। वीर पुरुषो द्वारा प्राप्त होने के अयोग्य इस गाढ रात्रि मे अकेली होकर क्यो भयभीत नही होती? स्त्रियो मे स्वप्न मे भी सरलता हो सकती है, यह कैसे विचार किया जा सकता है? जिन स्त्रियो की मानसिक कुटिलतारूपी नदी का प्रवाह मन मे न समाता हुआ ही मानो—निम्न प्रकार वाह्य प्रदेशो मे दृष्टि गोचर हो रहा है। जैसे—जो कुटिलतारूपी नदी-प्रवाह केशो के बहाने से उनके मस्तक तटो पर दृष्टिगोचर हुआ। जो भृकुटियो के मिष से कानो के मध्य प्रदेशो पर बाहर दृष्टि पथ को प्राप्त हुआ। जो देखने के बहाने से नेत्र-छिद्रो मे बाह्य दृष्टि पथ को प्राप्त हुआ। जो वचनो के बहाने से मुखरूप गुफा मे बाहर दृष्टि गोचर हुआ एव जो गमन के मिष से पादमार्गो मे बाहर दृष्टि मार्ग को प्राप्त हुआ।

अत स्त्रियो की प्रवृत्तियाँ प्राय करके वैसी मलिन (पाप-युक्त) होती है जैसे वर्षा ऋतु मे नदियो की प्रवृत्तियाँ प्राय करके मलिन होती है। उक्त बात का निरूपण—इस कुलटा अमृतमति महादेवी ने मेरे तथा अपने वश की निन्दा नही देखी। इसने अपने मे रहनेवाले मेरे असाधारण प्रणय (स्नेह) की ओर थोडा सा भी विचार नही किया। इसने प्रणय-कोपो के अवसर पर भी यथार्थ अपराध करनेवाले मुझ से किये गए अनुनय-प्रसादनो (मान को दूर करनेवाली प्रसन्नताओ) की ओर दृष्टिपात नही किया। इसने जन्म पर्यन्त वृद्धिगत हुई सहवास मैत्री का इसलिए चिन्तवन नही किया—मानो—जिसे इसने पहिले कभी अनुभव ही नही किया है। इसने सर्वलोक से पूज्य अपने महादेवी पद का विचार नही किया। मुझ से होनेवाली पराभव-

जनमान्या स्वस्य पदवी, कथमिव न स्थिता मत्त परिभवाशङ्का, कथमिव न लज्जित सपत्नीजनस्य, कथमिव न बीभत्सितमयश पटहस्य, कथमिव च नावधारितमनन्यजनसुलभविलासाना सपादनम् । यद्यपि च 'स्त्रिय खलेषु रज्यन्ते दासहस्तिपकादिषु' इति 'अपात्रे रमते नारी' इति वचनमस्ति, तथापि वयोभोगश्चारुवेषिता कलासु विश्रुतत्व वा पुरुषाणा सगमयन्त्यसस्तुता अपि वनिता । न चास्यैतेष्वन्यतमोऽपि गुण । तत्किं नु खल्वस्या कच्चरलोचनाब्जेऽस्मिन् कुब्जे प्रीतिकारणम् । आ, अज्ञासिषमज्ञासिषम् । एष हि किल निसर्गकलकण्ठतया शुष्कानपि तरून पल्लवयतीत्यनेकश कथित कुमारेण । गृणन्ति च कलासु गीतस्यैव पर महिमानमुपाध्याया । सुप्रयुक्त हि गीत स्वभावदुर्भगमपि नर करोति युवतीना नयनमनोविश्रामस्थानम् । भवति कुरूपोऽपि गायन कामदेवादपि कामिनीना प्रियदर्शन । गानेन हि दुर्दशा अपि योषित पाशेनाकृष्टा इव सुतरा सगच्छन्ते । कुशलै कृतप्रयोग हि गेयमपनीय मानग्रहमपरमेव कचिदनन्यजनसाध्यमाधिमुत्पादयति मनस्विनीनाम् । अत एवोशन्ति नीतिवेदिन —तैरश्चोऽपि प्रयोग स्त्रियो दूषयति, कि पुनर्न मानुष । न चैतासामकालताडितामिव प्रवृत्तावपेक्षास्ति । प्रत्युत केतक्य इवाशुचिष्वेव वस्तुषु प्रायेण बध्नन्ति प्रीतिम् ।

भीति इसके मन मे क्यो स्थित नही हुई ? यह सौत-समूह से क्यो लज्जित नही हुई ? इसने अपकीर्तिरूप नगाडे की ध्वनि से कैसे घृणा प्राप्त नही की ? इसने ऐसे भोगो की उत्पत्ति का, जो कि दूसरे लोगो के लिए दुर्लभ है, स्मरण क्यो नही किया ? यद्यपि 'स्त्रियाँ दुष्ट सेवक व महावत-आदि मे अनुरक्त होती है' 'स्त्री अयोग्य पुरुष से रमण करती है' ऐसी उक्ति है । तथापि युवावस्था, कर्पूर, कस्तूरी व चन्दनादि भोग, सुन्दर वस्त्र व आभरण आदि तथा सगीत-आदि कलाओ मे प्रसिद्धि, पुरुषो के ये गुण, उन्हे अपरिचित स्त्रियो से भी सगम करा देते हैं । परन्तु इस कुब्जक मे तो उक्त गुणो मे से एक भी गुण नही है तब मै फिर सोचता हूँ कि इस अमृतमति देवी का इस कुत्सित नेत्र कमलवाले कुब्जक मे प्रेम करने का क्या कारण है ? [उक्त बात को सोचकर] सन्ताप पूर्वक यशोधर महाराज कहते है—मैने प्रेमका कारण जान लिया, जान लिया ।

यशोमति कुमार ने मुझ से अनेक वार कहा है कि यह (अष्टवङ्क) स्वभाव से ही मधुर स्वरशाली होने के कारण सूखे वृक्षो को भी पल्लवित—उल्लसित कर देता है । अर्थात्—नीरस पुरुषो को भी अनुरञ्जित कर देता है ! विद्वान् अध्यापक लोग वहत्तर कलाओ मे गान कला का उत्कृष्ट माहात्म्य कथन करते है । अच्छे प्रयोग मे लाया हुआ गीत निश्चय से स्वभाव से कुरूप मनुष्य को भी युवती स्त्रियो के नेत्र व हृदय को सुख उत्पन्न करनेवाला स्थान कर देता है ।

गायक कुरूप होने पर भी कामिनियो के लिए कामदेव से बढकर प्रिय दर्शन-शाली होता है । गान-कला के प्रभाव से वे स्त्रियाँ, जिनका दर्शन भी दुर्लभ है, जाल से खीची हुई-सरीखी विशेषरूप से सगत हो जाती है । सगीतशास्त्र मे प्रवीण गायको से अच्छी तरह गाया हुआ गीत मानवती स्त्रियो के अभिमान रूपी पिशाच को दूर करके दूसरी ही कोई अपूर्व मानसी पीडा, जो दूसरे के द्वारा न होनेवाली अर्थात्—गीत के बिना ऐसी मानसी पीडा कोई उत्पन्न नही कर सकता, उत्पन्न कर देता है । अत नीतिशास्त्र वेत्ता कहते हैं 'पशुसबधी पुरुषसयोग स्त्रियो को दूषित कर देता है फिर मनुष्यसबधी पुरुषसयोग क्या दूषित नही करेगा ? ये स्त्रियाँ प्रवृत्ति (सभोग) मे वैसे सुन्दरवस्त्र व मनोज्ञ वस्त्राभरणादि की अपेक्षा नही करती जैसे असमय मे चमकनेवाली विजली प्रवृत्ति (चमकने) मे कोई अपेक्षा नही करती । विशेषरूप से स्त्रियाँ वैसी अशुचि (मलिन) वस्तुओ (पुरुषो) मे ही प्राय करके प्रेम करती हैं जैसे केतकी पुष्प अशुचि वस्तुओ (विष्ठा) मे ही प्रीति रखता है । विद्वानो ने कहा है—'ये स्त्रियाँ पुरुष के सुन्दर रूप की प्रतीक्षा नही करती, इन्हे पुरुष की जवानी मे भी सस्था (मन का टिकना) नही है । स्त्रियाँ 'यह पुरुष है' ऐसा मानकर उसे भोग लेती हैं चाहे वह रूपवान् हो अथवा कुरूप हो ॥ १ ॥

उदाहरन्ति च—

'नैता रूप प्रतीक्षन्ते नासा वयसि सस्थिति । विरूप रूपवन्त वा पुमानित्येव भुञ्जते ।।१।।' इति

आ पाण्डुरपृष्ठे, त्वदालम्बनैकजीविते हि मयि दुष्कर्मैवमाचरन्ती कथ द्विधा न विदीर्णासि । अहो पर्याप्त विषयसुखतर्षेण । तदिदानी किमिमा परित्यज्य परमाज्ञाफलोपचर्यमैश्वर्यमनुभवामि । तन्न । विना हि विलासिनीजने-नारण्यमिवेद राज्यम्, मृतकमण्डनमिवाभरणम्, पङ्कोपदेह इव विलेपनम्, सुप्तसवाहनमिव शरीरसस्कार, प्रकरणमिव चामरातपत्त्राडम्बर, कालहरणोपाय इव कलानामभ्यास, तुण्डकण्डूविनयनमिव काव्याध्ययनम्, ग्रहाभिनिवेश इव मन्त्रचिन्तनम, कारागारप्रवेशनमिव सभाप्रदानम्, वृथाजीवितपूत्कार इव गेयसमाचार, ससारसुखोत्सारणपटहनाद इव दुन्दुभीना नाद, शैलकन्दरावकाशा इव भवनविनिवेशा, पितृवनानीवोद्यानानि, जठरभृतिवेतनमिव प्रजापालनम्, नगरनापितकर्मेव प्रकृतीनामनुनयकरणम्, शुष्कनदीतरणमिव षाड्गुण्यप्रयोग, अन्धकारनर्तनमिव धनसग्रहप्रयास, पुराकृत-

---

पीडापूर्वक यशोधर महाराज सोचते है—

हे कुलटे अथवा निर्भागिनी ! मेरे विषय मे, जिसके तुम्ही आधार व अद्वितीय जीवन हो, निस्सन्देह ऐसा पापाचरण करती हुई तू कैसे दो टुकडो मे प्राप्त नही हुई ? अहो—आश्चर्य है, विषयसुखो मे तृष्णा करना निरर्थक है। अत अब क्या स्त्रियो को छोडकर उस उत्कृष्ट ऐश्वर्य (राज्य लक्ष्मी) को भोगूँ, जो कि आज्ञारूपी लाभ से पूज्य है। वह भी उचित नही है, क्योकि स्त्रियो को छोडकर यदि ऐश्वर्य भोगा जाय तो स्त्रीजन के विना राज्य वन-सरीखा निस्सार है। कामिनीजन के बिना सुवर्णमय आभूषणो का धारण मुर्देको अलकृत करनेसरीखा निष्फल है और कपूर, कस्तूरी व चन्दनादि का लेप करना कीचड के विलेपन-सा है। स्त्रीजन के बिना शरीर-मण्डन करना सोते हुए के पैर-दावने-जैसा निष्फल है। स्त्रीजन के विना चमर ढोरने का व छत्र-धारण का विस्तार प्रकरण-सा है। अर्थात्—क्षेत्रपाल-आदि के वर्धापन (वर्षगाँठ का उत्सव) सरीखा है। लेखन व पठनादि कलाओ का अभ्यास समय व्यतीत करने का उपाय-सा है। कामिनीजन के विना काव्यशास्त्र का अध्ययन (पठन) मुख की खुजली दूर करनेसरीखा है और पञ्चाङ्ग मन्त्र का विचार भूतावेश-सा है। रमणीजन के विना सभा का मण्डन करना जेलखाने मे प्रविष्ट होने जैसा है और गानकला की समीचीन प्रवृत्ति वृथाजीवन का पूत्कार-सा है। कामिनीजन के विना दुन्दुभियो की ध्वनि ससार-सुख को दूर करनेवाली पटह-ध्वनि-सी है और नन्द्यावर्त व स्वस्तिकादि महलो मे निवास करना पर्वत-गुफाओ मे निवास करने सरीखा है तथा प्रमद वन श्मशान-तुल्य है। स्त्रीजन के विना प्रजा की रक्षा उदरपूर्ति के लिए वेतन सरीखा है और प्रकृतियो (अमात्य-आदि) का विनय करना नगर के नाई-कर्म-सा है। अर्थात्—जिस प्रकार नाई सभी के कर्म करता है। स्त्रीजन के विना सन्धि व विग्रह-आदि षाड्गुण्य नीति का प्रयोग सूखी नदी मे तैरने के समान कष्टप्रद है। कामिनी जन के विना धन सचय करने का कष्ट अन्धकार मे नाँचने सरीखा निरर्थक है और शरीर को पुष्ट करना पूर्वजन्म मे किये हुए पाप कर्म के भोग निमित्त सरीखा है। अहो आश्चर्य है कि ब्रह्मा की एक पदार्थ मे विरुद्ध गुणो की रचना सम्बन्धी उत्कृष्ट निपुणता क्या है ? अर्थात्—यदि ब्रह्मा से ऐसी उपयोगी स्त्री रची गई तो उसे गुणहीन क्यो बनाया ? क्योकि वही पदार्थ विष फल सरीखा पूर्वारम्भ मे सुस्वादु और परिणाम मे विरस होता है, यही ब्रह्मा की एक पदार्थ मे विरुद्ध गुणो की रचना है। समुद्र की तरङ्गो सरीखे प्राणियो का जो उत्पत्ति स्थान है वही विनाश का स्थान है। अर्थात्—जैसे समुद्र तरङ्गो का उत्पत्ति स्थान व विनाश स्थान होता है वैसे स्त्री-आदि इन्द्रियो के भी भोग तत्काल मे सुखोत्पत्ति के स्थान और परिणाम मे नीरस होने के कारण दु खोत्पत्ति के स्थान है। इन्द्रजाल-सरीखे जिस

कर्मानुभवनार्थमिव च देहपोषणम् । अहो किमिद विधातुरेकत्र विरुद्धगुणनिर्माणे परम नैपुणम् । यत्किपाकफलमिवापातमधुर परिणामविरसश्च स एव भवति भाव , समुद्रकल्लोलानामिव यदेव जन्तूनामुत्पत्तिस्थान तदेव भवति विलयस्य च, माहेन्द्रविज्ञान इव यत्रैवेद मनो बाढमुत्कण्ठते तत्रव भवति मुहु शिथिलादर च, पथिकसगतमिव यदेवानन्दजनन तदेव भवति हेतुर्मंहत परितापस्य च, हरिद्रारागहृदयात्स्वामिन इव यत एव सर्वकर्मणामारम्भस्तत एव भवत्युपरमश्च । सप्रति हि मे विघटिततम पटलावकाशमिव सप्रकाश मानसम्, उल्लिखिततिमिरदोषमिव यथार्थदर्शनमनीष चक्षु । कौतस्कुतोऽयमन्यथा ममाद्य सुविवेकनिश्चयपरश्चित्तप्रसर । तथाहि—युवजनमृगाणा बन्धायानाय इव वनितासु कुन्तलकलाप , पुनर्भवमहीरुहारोहणोपाय इव भ्रूलतोल्लास , ससार-सागरपरिभ्रमाय नौयुग्ममिव लोचनयुगलम्, दु खाटवीविनिपातकरमिव वाचि माधुर्यम्, मृत्युगजप्रलोभनकवल इवायमधरपल्लव , स्पर्शविषकन्दोद्भेद इव पयोधरविनिवेश , यमपाशवेष्टनमिव भुजलतालिङ्गनम्, उत्पत्तिजरामरणवर्त्मेव वलीना त्रयम्, आलम्भनकुण्डमिव नाभिमण्डलम्, अखिलगुणविलोपननखरेखेव रोमराजीविनिर्गम , कालव्यालनिवासभूमिरिव मेखलास्थानम्, व्यसनागमनतोरणमिवोरुनिर्माणम्,[1]

गुणग्रामविलोपेषु साक्षाद्दुर्नीतय स्त्रिय । स्वर्गापवर्गमार्गस्य निसर्गादर्गला इव ॥१५॥

स्थान मे यह मन दृढता से उत्कण्ठित होता है उसी स्थान (स्त्री-आदि विषय) मे बार-बार उदासीन हो जाता है। पथिको के सगम-सरीखा जो स्थान अथवा वस्तु आनन्द जनक होती है वही महान् परिताप का कारण होती है। हल्दी के राग सरीखे हृदयवाले अस्थिर चित्त-युक्त राजा सरीखे जिससे समस्त कार्यो की उत्पत्ति होती है उसी से विनाश भी होता है। इस समय मेरा मन, जिसमे से अज्ञान समूह का प्रवेश दूर किया गया है, उसके सरीखा प्रकाशमान हो रहा है। इस समय नष्ट तिमिर-आदि दोषवाली सी मेरी चक्षु यथार्थ वस्तु के देखने की बुद्धिवाली है। अन्यथा—यदि ऐसा नही है तो मेरा यह प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ मानसिक व्यापार, जो कि विशिष्ट विवेक व निर्णय करने मे तत्पर है, कहाँ से हुआ ? उसी अज्ञान के निराकरण का कथन करते है—

कमनीय कामिनियो के केशपाश युवकजनरूपी हरिणो के बाँधने के लिए जाल-सरीखा है। उनकी भृकुटिलताका विलास ससाररूपी वृक्ष पर चढने का उपाय-सरीखा है। रमणियो का नेत्र युगल ससार समुद्र मे पर्यटन करने के लिए नौका युगल के बन्ध-सा है एव उनकी वचन-मधुरता दुःखरूपी अटवी मे पातन कारक (गिरानेवाली) सी है।

स्त्रियो का विम्बफल-सा ओष्ठपल्लव मृत्युरूपी हाथीके प्रलोभन के लिये ग्रास-सरीखा है। कामिनियोके कुचकलशो का विनिवेश स्पर्शविष (जिसके छूने से विष चढता है) वाले गोलाकार मूल की उत्पत्ति-जैसा है और उनकी भुजारूपी लतासे आलिङ्गन करना यमराज के जाल द्वारा अपने शरीर का वेष्टन सरीखा है एव उनके उदर की त्रिवलियाँ (तीन रेखाएँ) जन्म, जरा व मरणके मार्ग जैसी है। कामिनियो का नाभिमण्डल आलम्भन कुण्ड-सा है। अर्थात्—जिस कुण्ड मे ब्राह्मणो द्वारा पशु होमे जाते है—मारण कुण्ड सा है एव उनकी रोमराजि का वाहिर निकलना समम्त गुणो (कवित्व शक्ति व वक्तृत्वकला-आदि) के दूर करने मे नखरेखा-जैसा है। स्त्रियो का मेखला स्थान (गुह्य) यमराजरूपी काले सॉप की निवास-भूमि-सरीखा है और उनके ऊरुओ की रचना दु खरूपी राजाके प्रवेश करने के तोरण-सरीखी है।

गुणरूपी नगर को उजाड करने मे, स्त्रियाँ प्रत्यक्ष से अन्याय-सरीखी है। अर्थात्—जैसे अन्याय से ग्राम उजाड हो जाते है वैसे ही स्त्रियो से गुण नष्ट हो जाते हैं और स्वर्ग व मोक्षमार्ग की स्वभाव से अर्गला (वेडा) सरीखी है[2] ॥ १५ ॥ अमृतप्राय नेत्रोवाली स्त्रियाँ परिपाक (कर्मोदय) मे विष के समान कौन-कौन

---

१ श्लिष्टोपमालकार । २ रूपकोपमालकार ।

विषवत् परिपाकेषु का विपत्ति न कुर्वते । जनयन्ति न का प्रीतिमापाते मधुरेक्षणा ॥१६॥
नार्पयन्ति मन सङ्गे कुर्वन्ति विरहे भयम् । अपूर्वैव स्थिति काचित्खलानामिव योषिताम् ॥१७॥
द्वेष गच्छन्त्युपेक्षाया प्रीतौ प्रीति न तन्वते । रोषे तोषे च नारीणा सुखमस्ति न कामिषु ॥१८॥
प्रियोपचारसचारे कुले रूपे वयस्यपि । अन्येष्वपि गुणेष्वासामपेक्षास्ति न मृत्युवत् ॥१९॥
भ्रूर्धनुर्दृष्टयो बाणास्त्रिशूल च वलित्रयम् । हृदय कर्तरी यासा ता. कथ नु न चण्डिका ॥२०॥
स्त्रीषु साक्षाद्विष दृष्टौ न सर्पेष्विति मे मन । तद्दृष्ट एव लोको हि दृश्यते भस्मता गत ॥२१॥
एतदेव द्वय तस्मात् कार्य स्त्रीषु हितैषिभि । आहारवत्प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिरथवापरा ॥२२॥

किं च । अपि त्यजत्येवोपायपटुभिरनुप्रविश्यमान सप्तार्चिरप्यात्मन स्वभावम्, अपि भवति विदितवेदितव्यैरुपयुज्यमान विषमप्यमृतम्, अपि शक्यते महासाहसैर्वश्यतामानेतु कैकसीनामपि कुलम् अपि भवन्त्युपप्रलोभनप्रवीणैरुपचर्यमाण क्रूरजन्तवोप्यनुलोमचरिता, सुलभाश्च खलु शिलानामपि मृदूकरणे सन्ति विधय, न पुन स्त्रीणाम् । इमा

सी आपत्ति उत्पन्न नही करती ? और अनुभव काल मे कौन से स्नेह को उत्पन्न नही करती ?[1] ॥ १६ ॥ स्त्रियाँ सयोग के अवसर पर अपना चित्त अर्पण नही करती, अर्थात्—मानसिक अभिप्राय प्रकट नही करती और वियोग मे भय उत्पन्न करती है, इसलिए स्त्रियो की स्थिति (स्वभाव) दुष्टो-सरीखी कहने को अशक्य और अपूर्व (अभिनव) ही होती है । अर्थात्—जैसे दुष्टोका सगम करने पर वे लोग मानसिक अभिप्राय प्रकट नही करते और दूर किये हुए भय उत्पन्न करते है[2] ॥ १७ ॥ स्त्रियाँ निरादर करनेसे द्वेष करने लगती है और प्रेम करनेसे प्रेम नही करती, अत स्त्रियो के कुपित व सन्तुष्ट होने पर उनसे कामी पुरुषोको सुख प्राप्त नही होता[3] ॥ १८ ॥ स्त्रियो को उपकार करना, उच्चकुल, सुन्दर रूप तथा जवानी एव दूसरे गुणो की अभिलाषा वैसी नही होती, अर्थात्—उक्त गुणोके कारण वे अनुरक्त नही होती, जैसे यमराज को उक्त अनुग्रह, उच्चकुल आदि गुणो की अपेक्षा नही होती । अर्थात्—उक्त गुणो के कारण वह किसी से अनुरक्त होकर उसे अपने मुख का ग्रास बनाना नही छोडता[4] ॥ १९ ॥ जिन स्त्रियो की भृकुटि धनुष है, तिरछी चितवन बाण है व उदर की त्रिवली त्रिशूल हैं एव हृदय कैंची है, वे स्त्रियाँ चण्डिका देवी क्यो नही हैं ? [5]॥ २० ॥ मुझे ऐसा प्रतीत होता है—मानो—स्त्रियो की दृष्टि मे साक्षात् विष होता है और सर्पों की दृष्टि मे विष नही होता । क्योकि उन स्त्रियो से दृष्टिगोचर हुआ मनुष्य तो भस्म होता हुआ देखा जाता है परन्तु सर्पों से दृष्टिगोचर हुआ पुरुष भस्म होता हुआ नही देखा जाता[6] ॥ २१ ॥ अत सुखाभिलाषी पुरुष को स्त्रियो के विषय मे यही निम्न प्रकार दो कर्तव्य करने चाहिए । या तो उनमे आहार की तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए अथवा उनसे नीहार-सी निवृत्ति (त्याग) करनी चाहिए[7] ॥२२॥

सभावना है कि उपाय-चतुर पुरुषो द्वारा मन्त्रित की जानेवाली अग्नि अपनी उष्णत्व प्रकृति को छोड देती है परन्तु स्त्रियाँ अपनी प्रकृति नही छोडती। मान्त्रिक व तान्त्रिक पुरुषो द्वारा उपयोग किया जानेवाला विष भी अमृत हो जाता है। इसीप्रकार सभावना है कि अद्भुत कार्य करनेवाले पुरुषो से राक्षसी-समूह वशमे लाने के लिए शक्य है परन्तु खोटी स्त्रियाँ वश मे नही लाई जा सकती। लोभ दिखाने मे प्रवीण पुरुषो से आराधन किये जानेवाले सिंह-व्याघ्रादि क्रूरजन्तु अनुकूल हो जाते है परन्तु स्त्रियाँ अनुकूल नही होती। सम्भावना है कि पाषाणो को मृदु—कोमल बनाने के उपाय है, परन्तु कठोर हृदयवाली स्त्रियो को मृदु हृदयवाली करने के उपाय नही है। ये कामिनियाँ निरन्तर शिक्षित

---

१. आक्षेपोपमालकार । २ उपमालकार । ३ जात्यलकार ।
४ समुच्चयोपमालकार । ५ उपमाक्षेपालकार । ६ उत्प्रेक्षानुमानालकार । ७. उपमालकार ।

ह्यनिशमनुनीयमाना गृहमर्कटमिव विडम्बयन्ति पुरुषम्, उपचारैर्गृह्यमाणा दानदुर्भरा स मेष इत्यधिक्षिपन्ति, अपेक्षमाणा पशुमिव मन्यन्ते, हठादुपभुज्यमाना श्मशानकुटमिव परिहरन्ति, सेर्ष्यमनुयुज्यमाना भुजङ्ग्य इव दशन्ति, गुणवद्भ्यो निम्बादिवोद्विजन्ते, शुचिक्रियेषु मृत्पिण्ड इवाभिनिविशन्ते। अनुरज्यन्त्य एव भवन्ति कारणमनर्थपरम्परायाः, हसन्त्य एव शल्ययन्त्यङ्गानि, पश्यन्त्य एव दहन्ति देहम्, आलपन्त्य एव स्खलन्ति मनसः स्थैर्यम्, आसजन्त्य एव कुर्वन्ति तृणादपि लघुतरं मनुष्यम्, आरक्ष्यमाणा स्वच्छलेनैवारभन्ते दुष्कर्माणि। न चासामस्ति रक्षणोपायः। तथाहि—अनुश्रवः कृत-रक्षाशल्याप्यहल्या किलाखण्डलेन सह सविवेश, हरदेहार्धाश्रितापि गिरिसुता गजासुरेण, यमजठरालयापि छाया पावकेन,

---

की जानेवाली मनुष्य को वैसी विडम्बित (क्लेशित) करती हैं जैसे गृह का बन्दर क्लेशित किया जाता है। ये स्त्रियाँ पूजा (सन्मान) आदि द्वारा स्वीकार की जानेवाली परन्तु दान द्वारा भरण-पोषण के लिये अशक्य हुई पुरुष को बकरा मानकर उसका तिरस्कार करती हैं। ये स्त्रियाँ चाही हुई पुरुष को पशु-सरीखा मानती हैं और जब ये बलात्कारपूर्वक भोगी जाती हैं तब पुरुष को वैसे छोड़ देती हैं जैसे श्मशान-घट अपवित्र जानकर छोड़ दिया जाता है एवं ये स्त्रियाँ क्रोधपूर्वक पूँछी जानेवाली सर्पिणी-सरीखी पुरुषको काट लेती हैं। ये स्त्रियाँ गुणवान् पुरुषों से वैसी भयभीत होती हैं जैसे लोग कटुक होने से नीम वृक्ष से भयभीत होते हैं। ये पवित्र आचारवान् पुरुषोंमें अपवित्र मिट्टी के ढेले-सरीखा अभिप्राय रखती हैं। ये स्त्रियाँ स्नेह प्रकट करती हुईं ही अनर्थपरम्परा की कारण होती हैं एवं हँसती हुई ही पुरुष के शरीरों को शल्य-सरीखी क्लेशित करती हैं। ये देखती हुई ही पुरुष-शरीर को भस्म कर डालती हैं और भाषण करती हुई ही चित्त की स्थिरता नष्ट कर देती हैं। रतिविलास करती हुई ही मनुष्य को तृण से भी नीचा कर देती हैं और अनेक प्रकार से पालन-पोषण की जानेवाली अपने कपट से दुष्कर्म (जार-गमन-आदि कुकृत्य) आरम्भ करती हैं, इनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है। उक्त बात को दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन करते हैं—

लोक-प्रसिद्ध वैदिक वचन है कि अहल्या (गौतम-भार्या) ने, जिसकी रक्षा-शल्य (रक्षा के लिए काँटों की बाड़) की गई है, इन्द्र के साथ रतिविलास किया।[1]

शिवजी के शरीर के अर्ध भागपर स्थित हुई पार्वतीने गजासुरके साथ भोग विलास किया।[2] इसी प्रकार यम के पेट में स्थित हुई भी 'छाया' नाम की कन्या ने पावक के साथ रतिविलास किया[3] और एक

---

१ अहल्या (गौतम पत्नी) की कथा—
गौतम व कौशिक साथ साथ विशेष तपश्चर्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उन दोनोंकी तपश्चर्या के प्रभाव से प्रसन्न हुए, इसलिए उन्होंने मन से अहल्या को उत्पन्न किया और उन दोनों में से किसी एक को इन्द्रपद देने की इच्छा की। कौशिक ने 'ऐश्वर्य होनेपर समस्त वैभव प्राप्त होते हैं" ऐसा विचारकर इन्द्रपद ग्रहण किया और अहल्या के साथ रमण किया। गौतम ने उसे शाप दिया, जिससे उसका शरीर भगों (योनियों) से आच्छादित हुआ।

२ पार्वती की कथा—हिमालय पर्वतराज की पुत्री गौरी ने हाथी का रूप धारण करनेवाले शिवजी को हथिनी बनाया फिर स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाली उसने गजासुर के साथ भोग-विलास किया। उस दोष से उसे शिवजी ने मार दिया।

३ छाया की कथा—वत्सगोत्र में जन्मधारण करनेवाले आकम्पनि ने तीर्थयात्रा करने के इच्छुक होते हुए 'यह यम धर्मराज है' ऐसा सोचकर अपनी युवती छाया नाम की कन्या को उसके लिए रक्षणार्थ समर्पण कर दिया। यम ने भी उसे अपने पेट में स्थापित कर लिया। एक समय जब यम उस छाया नामकी कन्या को सरकण्डों के वन में स्थापित कर मानसरोवर में स्नान करने के लिए गया तब उस छाया ने पावक के साथ भोग-विलास किया।

एकवसनवैदेहकवधूर्मूलदेवेन, एवमन्याश्चोपाध्यायिकाप्रभृतयो निजपतिसमक्षमुपपतिभि सहारेभिरे महासाहसानि। अति-क्षुल्लसर्गश्चाय मार्गो यथा न देवोऽपि ग्रहीतु शक्नोति महिलाना हृदयम्। कथमन्यथेमे पुरातन्यौ श्रुती—

पौंश्चल्याच्चलचित्तत्वान्नै स्नेह्याच्च स्वभावत। रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥२३॥
यदर्थे च मही त्यक्ता जीवितार्धं च हारितम्। सा मो त्यजति नि स्नेहा क स्त्रीणा वल्लभो नर ॥२४॥

अहो, क्वेय नु खलु चित्तस्य वचनगोचरातिचारिणी पुरस्तात् सध्याघनस्येव रागकलुषता, क्व चेदानीं क्षारजलधौतस्य वसनस्येव निर्मलभाव, क्व तादृश पाशपतितस्य पक्षिण इव चक्षुषश्चापलम्, क्व चेदानीं कुलिशकीलितस्येव निश्चलभाव। हतविधे, किमपर कोऽपि न तवास्ति वधोपायो येनैवमुपप्रलोभ्य प्राणिन सहरसि। कथ हि

शाट नाम के वणिक की पत्नी ने मूलदेव के साथ काम सेवन किया।[1] इसी प्रकार दूसरी भी 'उपाध्यापिका' आदि स्त्रियो ने अपने पति के समक्ष जारो के साथ रतिविलास किया। स्त्रियो के हृदय को देवता भी नही जान सकता, अत वह अतिसूक्ष्म सृष्टिवाला है। अन्यथा ये पुरानी बाते कैसे सुनी जाती हैं।

व्यभिचारिणी होने से व चञ्चल चित्तवाली होने से तथा स्वाभाविक स्नेह-हीन होने के कारण स्त्रियाँ सावधानता पूर्वक रक्षा की हुई भी इस ससार मे अपने पतियो के साथ विकृत होती है, अर्थात्—उन्हे धोखा देती है* ॥२३॥ जिसकी रक्षा के लिए मैने राज्य छोडा और जिसकी रक्षार्थ मैने (छुकार नगर के राजकुमार ने) आधी आयु दी वह मेरी पत्नी स्नेह-शून्य होकर देवकेशी के साथ जाकर मुझे छोड रही है, अत ससार मे कौन पुरुष स्त्रियो का प्रेमपात्र हुआ है ?[2] ॥२४॥

---

१ एकशाटवाणिक्-पत्नी की कथा—'एकशाट' नामके महाजन ने, जो कि सर्वत्र अविश्वासी था, अपनी स्त्री की रक्षा के लिए अपने को पत्नी के साथ एक साडी में ढक लिया। शशिमूलदेव उस बात को सुनकर आया और वहाँपर हाथो के कडे पहिनने के बहाने से जब सकेत किये हुए मेघो से पानी बरस रहा था तब अर्धरात्रि मे उसने उसकी पत्नी को, जो सात तल्लेवाले महल के अग्रभागपर सो रही थी, अपहरणकर लिया।

* जात्यलकार।

२ उक्त श्लोक की कथा—पटना नगर की राजकुमारी समस्त शास्त्रो मे प्रवीण थी, उसने यह प्रतिज्ञा की कि जो मुझे सगीत आदि कलाओ मे जीत लेगा उसो की मै पत्नी होऊँगी। उक्त बात को सुनकर छुकार नामक नगर के राजकुमार ने वहाँ आकर उसे कलाओ मे जीतकर उसके साथ विवाह किया। एक समय उस कन्या के पिता को महान् असाध्य बीमारी हुई। वहाँ पर किसी कुलाचार्य ने ऐसा उपदेश दिया 'यदि इसकी राजकुमारी की देवी को बलि दी जायगी तब यह जीवित रह सकता है, अन्यथा नही। उक्त बात को सुनकर जमाई राजकुमार राज्य को छोडकर स्त्री को लेकर महान् अटवी मे प्रविष्ट हुआ। वहाँ पर दुष्ट साँप ने उस राजकुमारी को काट खाया। अपनी पत्नी के मोह से राजकुमार के हृदय में साहस पूर्वक अग्नि मे प्रवेश करने का अभिप्राय हुआ। उस समय वन देवता ने इसके ऊपर दया करते हुए कहा—यदि आप अपनी आधी आयु दोगे तो तुम्हारी पत्नी जीवित हो सकती है। प्रस्तुत राजकुमार ने अपनी पत्नी की रक्षा के लिए वैसा ही किया। अर्थात्—अपनी आधी आयु दे दी, जिससे उसकी प्रिया जीवित हो गई। वह अपनी प्रिया के साथ एक नगर मे प्रवेश करता हुआ प्याऊ के पास सो गया। उसी अवसर पर स्वेच्छाचार से आया हुआ उस नगर का निवासी देवकेशी उसे जगा कर ले गया। फिर सोकर उठे हुए उसके पति ने देवकेशी के साथ उसी नगर मे प्रवेश करती हुई उसे देखा और पकड लिया। कहाँ जा रही है ? ऐसा विवाद होने पर उसकी पत्नी ने कहा—यह देवकशी मेरा पति है। पुन राजपुत्र ने कहा—यदि तेरा यह निश्चय है तो वन देवता के

त्वमेवमसि मध्यस्थो यदेवमसदृशे वस्तुनि देहिन स्नेहयसि। मुधा च तवैवमनिदारुणकर्मणो धर्म इति प्रसिद्धि । अहो, कथमिव लोकस्याहार्यगुणरमणीयताजुषि वपुषि शुन स्वतालुक्षतलोहितपरिष्वक्ते शुष्के कीकस इव तर्ष । अताम्बूलमुख हृच्चुपानत्करनिकेतनमिव करोति महोद्वेग चित्तस्य । अनुपनीत हि चक्षु स्फुटितपिण्डगण्डमिव महतीं करोति विचिकित्सामन्त करणस्य । अविहितसस्कार हि शिर क्षणादेव भवति गोगर्मुन्निवारणादपि कष्टतरम् । मनागेवोपेक्षितसृष्टि शरीरयष्टिश्चर्मकृद्दृतिरिव विदधाति पिधेयनासमासन्नचरम् । अरे, हतवृत्त चित्त, कथमिव त्वमत्र प्राप्तससारफलमिवाभिनिविशसे । प्रसरमलभमान प्राणव्ययैरपि सगन्तुमिच्छसि, वियुज्यमान परिमुषितसर्वस्वमिव ताम्यसि, अनुष्वजमान ग्रहगृहीतमिवात्मान विधमसि । अहो, किमिदमस्य जगतो महान्ध्य यदनिशमस्यान्त सारतामवबुद्ध्यमानमपि भण्डैरिव

आश्चर्य है मै सोचता हूँ कि कहाँ यह पूर्व मे होनेवाली कहने के लिए अशक्य मेरे मन की सन्ध्याकालीन मेघ-सरीखी रागकलुपता और कहाँ इस समय होनेवाली चित्त की वैसी निर्मलता जैसे श्वेत द्रव्य के जल से प्रक्षालित हुआ वस्त्र निर्मल (शुभ्र) होता है। कहाँ पूर्व मे होनेवाली जाल मे पडे हुए पक्षी-सरीखी मेरी नेत्र-चपलता और कहाँ इस अवसर पर होनेवाली वज्र द्वारा कोलित हुई-सी मेरी चक्षु-निश्चलता। हे पापिष्ठ विधे! क्या तुझे दूसरा कोई भी घात करने का उपाय नही था, जिससे तुम अमृतमति देवी को इस प्रकार का लोभ दिखाकर वशीभूत करके मुझ-सरीखे प्राणियो का घात करते हो। निस्सन्देह आप कैसे मध्यस्थ हो ? जिससे ऐसे अतुल्य पदार्थ मे प्राणियो को स्नेह युक्त करते हो। ऐसा होनेपर विशेषरूप से हिंसा करनेवाले आपकी 'धर्म' ऐसी ख्याति झूठी है। आश्चर्य है किस प्रकार से विवेक-हीन लोक की सुगन्धित वस्त्रादि के सयोग से मनोज्ञता को पुष्ट करनेवाले शरीर मे वैसी तृष्णा कैसे हो रही है ? जैसे कुत्ते को अपनी तालु मे हुए व्रण से उत्पन्न हुए रक्त से आर्द्र (गीली) हुई नीरस हड्डी मे तृष्णा होती है। जैसे चमडा बेचनेवाले (चमार) का गृह चित्त को दु खित करता है वैसे ही ताम्बूल से रहित हुआ मुख महान् दु ख उत्पन्न करता है। जैसे शरीर का व्रणस्फोट (पका हुआ फोडा) विशेष घृणा उत्पन्न करता है वैसे ही सस्कार (प्रक्षालन-क्रिया) हीन नेत्र चित्त मे विशेष घृणा उत्पन्न करता है एव निश्चय से सस्कार-हीन (तैलमर्दन-आदि क्रिया से हीन) हुआ मस्तक तत्काल ही डाँस-मच्छड को निवारण करनेवाले पखा से भी निन्द्यतर प्रतीत होता है। यह शरीर-यष्टि थोडी-सी ही सस्कारो (स्नान-आदि क्रिया) से उपेक्षित हुई (हीन हुई) वैसी निकटवर्ती पुरुष को नाक बन्द करनेवाली कर देती है जैसे चमार की चमडे की मशक निकटवर्ती पुरुषको नाक बन्द करनेवाली कर देती है।

अरे दुरात्मन् नष्ट आचरण-शील मन! तू इस स्त्रीजन मे, प्राप्त हुए ससार फल-सरीखा क्यो अभिप्राय करता है ? रे मन! तू अप्राप्त इष्ट वस्तु के सयोग को महान् कष्ट उठा करके भी प्राप्त करने की चेष्टा करता है। अरे चित्त! स्त्रियो से वियोग-प्राप्त किये जा रहे तुम उनकी प्राप्ति की वैसी आकाड्क्षा करते हो जैसे नष्ट हुए समस्त धन की पुन प्राप्त करने की आकाड्क्षा की जाती है। अरे चित्त! तुम स्त्रीजन का सयोग प्राप्त करते हुए अपने को पिशाच से पकडे हुए-सरीखे पीडित करते हो। आश्चर्य है कि इस लोक का यह अज्ञान क्या है ? जिससे यह लोक इस शरीर व स्त्रीजन के आभ्यन्तर स्वरूप को निरन्तर जानता हुआ भी उनकी प्राप्ति के लिए वैसा [वञ्चनार्थ] प्रयत्नशील किया जाता है जैसे विदूषको द्वारा राजाओ या नाटक-दर्शको का

समक्ष जो जो वस्तु तूने मेरी ली है, वह मेरे लिए दे जा। उसने कहा—दे दी। ऐसा कहते ही वह तत्काल काल कवलित हो गई। बाद में विद्वानो ने उस राजकुमार से पूछा—यह कैसी घटना है ? तब उसने प्रस्तुत श्लोक पढा। अर्थात्—मैने इसके लिए राज्यादि छोड़ा—तथापि कठोर हृदयवाली यह मुझे छोड़कर देवकेशी के साथ जा रही है।

वाह्यते । न वेत्ति वहिश्छायाप्रतारितमुदुम्बरफलस्येवास्य कलेवरस्यान्तर्बीभत्सताम् । न चैतदथवा शोच्य, कि नु खल्वय वराक करोतु जन्तु ! कर्मैव तावत्प्रथममनुकूल न भवति जीवलोकस्य । यत क्व निसर्गत पर्वदिवसानीव पुराकृतपुण्यलव-विपाकदुर्लभानि प्राणिषु स्त्रीविलसितानि, क्व च तदुच्छेदनकरागम कृतान्तपञ्चकुलसम स्वच्छन्दवृत्तेर्गुणविद्वेषणस्याधर्म-रुचेरज्ञानतिमिरस्यैश्वर्यमहाग्रहस्य च समवाय । यथाजनाभिप्रायमुपदर्शितविषयस्ते च ते चागमा प्रमाणम् । उपतर्पित-देवपित्रतिथिचेतसि हि पुंसि किमप्यशुभ कर्म न भवति दोषायेति, तैस्तैर्निदर्शनैरभ्युपगमयितार प्रायेण समीपवर्तिन पुरुषा. । यौवनाविर्भाव पुन कादम्बरीयोग इव पर मुमुक्षूणामपि नाविकार्य मनासि विश्राम्यति ।

श्रीमद सर्वेन्द्रियाणा जनुषान्धत्वमिवाप्रतीकारमुपघातकरणम् । अनङ्गसिद्धान्त. खलोपदेश इवानर्थभुजङ्ग-मानामुत्थापनदण्ड । कवय पुन. पिशाचा इव विषयेषु विभ्रमयन्ति निसर्गादजिह्मान्यपि चित्तानि । डिण्डिमध्वनिरिव व्यसनव्यालप्रबोधनकर कलानामभ्यास । नियोगलाभ इवापातसुन्दर प्रसह्योन्मादयति सुविद्वषोऽपि पुरुषान् । प्रणयिजन-विलासो हृदयमुपनिपत्य दर्पयति च । याचितकमण्डनमिव छन्दानुवर्ती परिजन । तदेतेष्वेकमप्यलमुपहन्तु प्राणिन, कि पुनरमीषा न समवाय । तदहमेवमनुसभावयेयम्, स्वयमुचित कर्मानुष्ठातुमशक्तै स्वव्यसनतर्पणाय कामचारक्रियासु प्रवर्त्यन्ते विवेकविकला । न खलु जात्यपेक्षया पापमपाप धर्मो वा भवत्यधर्म । स्यादपि यदि कर्मविपाकस्तथैव दृश्येत, न

समूह हँसी मँजाक के लिए प्रयत्नशील किया जाता है। यह लोक इस शरीर के बाहिरी वर्णन से धोखा खाया हुआ उदुम्बर फल-सरीखे इस शरीर को भीतरी ग्लानि नही जानता। अथवा इस विषय मे शोक नही करना चाहिए। निस्सन्देह यह विचारा प्राणी क्या करे ? अनुक्रम से पूर्व मे इस प्राणी-समूह का पूर्वजन्म मे किया हुआ कर्म अनुकूल (सुखजनक) नही होता, क्योकि कहाँ तो प्राणियो मे वर्तमान स्त्रियो के विलसित (प्रेमो-द्योतक हाव-भाव-आदि), जो कि स्वभाव से दीपोत्सव-आदि पर्व दिनो-सरीखे प्रमुदित करनेवाले हैं और जो पूर्वोपार्जित पुण्य-लेश के उदय से दुर्लभ है, और कहाँ वह पुण्य का नाश करनेवाला मिथ्याशास्त्र, जो कि सिद्धान्त मे कहे हुए पञ्चकुल बढई व लुहार-आदि-सरीखा आचार-विचार को नष्ट करता है। जो (मिथ्या-शास्त्र), स्वच्छन्दवृत्ति, गुण-विद्वेषण, अधर्मरुचि, अज्ञानरूप अन्धकार तथा ऐश्वर्य महाग्रह उक्त पाँचो का समुदाय है। प्रस्तुत मिथ्या शास्त्र लोक के मानसिक अभिप्रायानुसार कर्तव्य प्रकट करने वाले है। अर्थात्—जैसे जन साधारण चाहता है वैसा ही शास्त्र मिथ्या दृष्टि पढते है। वे आगम जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्त (वेद व स्मृतियाँ) प्रमाण माने जाते है।

प्राय करके समीपवर्ती पुरुष, 'देवता, पिता व अतिथियो को चित्त से तृप्त करनेवाले पुरुष से किया हुआ कोई भी अशुभ (पाप) कर्म निश्चय से दोषजनक नही होता' ऐसे खोटे दृष्टान्तो द्वारा अशुभ कर्म कराने-वाले होते है। जवानी की उत्पत्ति मदिरापान-सरीखी निश्चयसे मोक्षाभिलाषी पुरुषोंके चित्तो को भी विना विकार प्राप्त किये विश्राम नही लेती। लक्ष्मी का मद पाँचो इन्द्रियो के विनाश का कारण है, जो जन्मान्ध-सरीखा चिकित्सा के अयोग्य है। कामशास्त्र दुष्टोपदेश-सरीखा धन, धान्य व जीवन का क्षयरूपी सर्पो को जगानेवाली यष्टि है। फिर कवि लोग व्यन्तरो-सरीखे स्वभावसे सरल चित्तो को भी इन्द्रियो के विषयो मे भ्रान्ति उत्पन्न कराते है। सगीत-आदि कलाओ का अभ्यास डमरू की ध्वनि-सरीखा दु खरूपी कालसर्प को जगानेवाला है। 'सचिव आदि उत्तम पदो की प्राप्ति-सरीखा स्त्रीजनो का भोग प्रथमारम्भ मे मनोहर प्रतीत होता हुआ हठात्कार से विशिष्ट विद्वान् पुरुषो को भी उन्मत्त बना देता है। यह केवल उन्मत्त ही नही करता अपितु चित्त मे प्राप्त हुआ दर्प कराता है। इच्छानुसारी परिवार याचना की हुई वस्तु को सुसज्जित करने-सरीखा केवल शोभा के लिए है। अत इनमे से एक भी पदार्थ जब प्राणियो का विशेष रूप से पतन करने मे

चैवम् । तथाहि—वाच्यमान पुस्तकमिव प्रतिक्षणमवहीयन्ते सकलजनसाधारणानामीश्वराणामप्यायूषि । मुनिशिरसिजेषु वृद्धिरिव न चिरस्थायिनी भवति देहकान्ति । स्त्रीमनसोऽप्यस्थिरतरमिद यौवनमाजवजवीभावोपनीते विनिपाते च पतति । न भवत्यल्प इव महानगोचर । कीनाशस्तु य पर बीभत्सुमपि शरीरिणमतिस्पृहयालुतया गिलति, स कथ स्वभावसुभग परिहरेत् । लब्धेव मे वृत्तिच्छेदो मा भूदिति स यदि कदाचित्कानिचिद्दिनानि दन्तान्तर इवास्ते, तदावश्य विषयविजय-प्रासादविनिर्माणादिव भवितव्य शिरसि पलितवल्लरीपताकारोहणेन, हितोपदेशनिषेधपरिपाकादिव बाढमुत्कम्पितव्यमुत्त-

समर्थ है तब इन सब का समुदाय क्या प्राणियो का अनर्थ नही करेगा ? इससे मै (यशोधर) निम्न प्रकार विचार करता हूँ ।

स्वय पुण्य कर्म करनेमे असमर्थ पुरुषोसे अपने व्यसन-पोषण के लिए अज्ञानी पुरुष स्वेच्छारो मे प्रवृत्त किये जाते है । निस्सन्देह जाति (ब्राह्मणत्वादि) की अपेक्षा से पाप, पुण्य नही होता और धर्म अधर्म नही होता । हो सकता है यदि कर्म का उदय विपरीत रूप से देखा जावे । अर्थात्—अधर्म से सुख और धर्म से दु ख होता हुआ देखा जाय तब कही अधर्म, धर्म हो सकता है किन्तु वैसा नही देखा जाता, किन्तु पाप से दु ख और पुण्य से सुख होता हुआ देखा जाता है ।

अब उसी का निरूपण करते हैं—समस्त लोक-सरीखे धनाढ्यो या राजाओ की भी आयु पढी जाने-वाली पुस्तक-सी क्षण-क्षण मे क्षीण हो रही है । जैसे मुनियो की केश-वृद्धि चिरस्थायिनी नही होती वैसे शरीर-कान्ति भी चिरस्थायिनी नही होती । यह जवानी स्त्री-चित्त से भी विशेष चञ्चल है । यह प्राणी ससार स्वभाव से आए हुए मरण के अवसर पर मरता ही है । महापुरुष भी साधारण लोक-सरीखा मृत्यु का विषय होता है । निस्सन्देह जो यमराज कुरूप प्राणी को भी विशेष चाहनेवाला होने से खा लेता है वह स्वभाव से सुन्दर राजा को कैसे छोडेगा ? 'मुझ यमराज की शीघ्र ही जीविका (लोक को अपने मुखका ग्रास बनानेरूप वृत्ति) का उच्छेद (नाश) नही होना चाहिए' इससे यदि वह कुछ दिनो तक अपने दाँतो के मध्य मे स्थापित करनेवाला-सा स्थित रहता है । अर्थात्—यदि किसी को तत्काल नही निगलता तो उस कालमे निश्चय से वृद्ध के शिर पर सफेद वालो की लतारूपी ध्वजा का आरोहण होना चाहिए । जिससे ऐसा मालूम पडता है—मानो—विषय-विजय-प्रासाद के निर्माण से ही ऐसा हुआ है । अर्थात्—जैसे जब राजा किसी विषय (देश) पर विजयश्री प्राप्त कर लेता है, जिससे वह उस देश को ग्रहण करता हुआ वहाँ पर प्रासाद (महल) का निर्माण करके उसके ऊपर ऊँची ध्वजा स्थापित करता है, वैसे ही यमराज भी जब वृद्ध पुरुष इन्द्रिय-भोगो पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह (यमराज) प्रासाद (प्रसन्नता) का निर्माण करता है इससे वृद्ध के मस्तक पर श्वेत बालरूपी ध्वजा स्थापित करता है । इससे ही मानो—उसके मस्तक पर श्वेतकेशरूपी ध्वजा का आरोहण होता है । वृद्ध का शिर विशेष रूप से कम्पित होता है मानो—हितोपदेश के निषेध की परिपूर्णता से ही अतिशयरूप से कम्पित हो रहा है । एव उसके नेत्र अन्धकार-पटल से सदा आच्छादित होते हैं—मानो—मानसिक स्फूर्ति के नष्ट हो जाने से ही ऐसे हुए है । वृद्ध पुरुष की मुखरूपी गुफा से लार बहती है, इससे ऐसा मालूम पडता है—मानो—शारीरिक सन्धि-बन्धनो के टूट जाने से ही ऐसा हुआ है । तथा वृद्ध पुरुष की दन्त-पक्ति चारो ओर से गिरने-योग्य होती हैं—इससे मानो—रति शक्ति के विधवा होने से ही ऐसा हुआ है तथा वृद्ध-शरीर प्रचुररूप से त्वचाओ की सकोचरूपी लहरो से व्याप्त होता है । इससे मानो—मोहरूपी वायु के प्रसार से ही ऐसा हुआ है । उसकी पीठ झुक जाती है—मानो—सरसता के विनाश से ही टेढी हुई है । उसका स्नसानल-जाल (शरीररूपी महान् वृक्ष के लता-समूह-सरीखी नसो व हड्डियो की श्रेणी) विशेषरूप से प्रकट होती है—मानो—लावण्यरूपी समुद्र के जल के विनाश होने से ही ऐसा हुआ

माङ्गेन, मन स्फुरितविगमादिव नितरामावरीतव्य चक्षुस्तिमिरपटलेन, सधिबन्धविघटनादिवातीव स्यन्दितव्य वदनकन्दरेण, रतिशक्तिवैधव्यादिव समन्तत पतितव्य दन्तवलयेन, मोहानिलविजृम्भणादिव धनतर तरङ्गमयितव्यमपधनेन, सरसत्व-क्षयादिव नितान्तमवनमनीय पृष्ठवशेन, लावण्यजलधिगलनादिवात्यर्थ प्रकटितव्य स्नसानलजालेन, आसन्नतरमरणभयादिव प्रकाम वेपितव्यमङ्गेन । यस्या पुनर्लक्ष्म्यामय महानाग्रहो लोकस्य सा दैवात्करमुपागतापि सूतककणिकेव न भवति स्थिरा, खलमैत्रीव सगच्छमानापि जनयत्यवश्य काचिद्विपदम्, अपामार्गयवागूरिव लब्धापि न शक्यते परिणमयितुम्, प्रयत्नपरिपालितापि कुलटेव करोत्युपपतावभिलाषम्, अनुभूयमानापि मदिरेव मोहयत्यन्त करणम्, ग्रहोपरागलेखेव गताप्यसतापयन्ती न व्यवतिष्ठते, साहसैरुपस्थितापि राक्षसीव छलयति केवल महापुरुषेषु प्रतिष्ठा प्रत्यवसादयितुम्, दुर्जनेषु क्षणमात्र सखीभावमुपयाति । अलमतिविस्तरेण ।

अह तावत्परवशेनैव गलितमोहपाश इवाभूवम् । किंतु सकलजनविदितमप्रिय न मे किमप्यस्ति प्रव्रजत । पाणिपरिगृहीता भुजङ्गीव सकृदेव मोक्तुमशक्या चेय राज्यलक्ष्मी । कष्टश्च खलु महत्यैश्वर्ये देहिनामात्मलाभ, यत्र श्रायसमपि कर्माचरितु न लभ्यते स्वातन्त्र्येण । मन्ये च मद्दर्शनावलम्बनजीविता कुलदेवतेव न मामनुमस्यते तपस्यायाम-म्बादेवी । नवे च वयसि मयि सजातनिर्वेदे विधास्यन्तेऽशुभकर्मपरिणामा इव सहत्य मन्त्रिणो मनीषितस्यान्तरायम् । इयतोऽ-

---

है । विशेष निकटवर्ती मरण के भय से ही मानो—वृद्ध का शरीर अधिक कम्पित होता है ।

जिस धनादि सम्पत्ति मे लोक का महान् आदर है वह भाग्योदय से हस्त मे प्राप्त होती हुई भी पारद रस की कणिका-सरीखी स्थिर नही रहती । वह (लक्ष्मी) प्राप्त होती हुई भी निश्चय से चुगलखोर की मैत्री-सरीखी कोई भी आपत्ति उत्पन्न कर देती है तथा प्राप्त हुई भी लक्ष्मी अपामार्ग के बीज की तरह पचाने (भोगने) को शक्य नही होती। वह लक्ष्मी प्रयत्न पूर्वक रक्षा की गई भी व्यभिचारिणी स्त्री-सी उपपति—दूसरे पुरुष—की अभिलाषा करती है । जिस प्रकार मद्य भोगी जा रही भी मन को मूर्छित करती है उसी प्रकार लक्ष्मी भोगी जा रही भी मनको मोहित—अज्ञानी—करती है । यह लक्ष्मी नष्ट होती हुई चन्द्र-ग्रहण व सूर्य-ग्रहण की रेखा-सी अवश्य क्लेशित करती है । यह लक्ष्मी राक्षसी-सी साहसो से प्राप्त हुई भी केवल महानुभावो की प्रतिष्ठा (शोभा) को नष्ट करने के लिए उन्हे धोखा देती है । वह लक्ष्मी क्षण भर मे दुष्टो की सखी हो जाती है । विशेष विस्तार पूर्वक कथन करना पर्याप्त है ।

मै (यशोधर) अनुक्रम से पराधीनता से ही मोहजाल को नष्ट करनेवाला-सरीखा हुआ हूँ, किन्तु दीक्षा-ग्रहण करते हुए मेरे पूर्वोक्त वैराग्य का कारण छोडकर दूसरा कोई भी सर्वलोक विख्यात वैराग्य का कारण नही है । हस्त से धारण की हुई सर्पिणी-सरीखी यह राज्यलक्ष्मी एकवार मे ही छोडने के लिए अशक्य है । महान् धनादि ऐश्वर्य मे प्राणियो की उत्पत्ति कष्टदायक है, क्योकि जिसके होने पर धनाढ्य पुरुष कल्याण-कारक आचरण भी स्वाधीनतापूर्वक करने के लिए समर्थ नही होता । मै जानता हूँ कि मेरे दर्शनाधार से जीवित रहनेवाली व कुलदेवता-सी चन्द्रमती महादेवी (मेरी माता) मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुज्ञा नही देगी । जब मुझे इस युवावस्था मे ससार, शरीर व भोगो से वैराग्य उत्पन्न होगा तब मन्त्रीगण एकत्रित होकर मेरे मनोवाच्छित कार्य मे वैसे विघ्न करेगे जैसे पापकर्म के उदय मनोवाञ्छित कार्य मे विघ्न करते है । जो अमृतमति महादेवी इतने वैराग्य का कारण है, वह अपने ऊपर लोगोको प्रसन्न करने के लिऐ मेरे तपोवन मे गमन करने का निषेध करनेवाली वैसी होगी जैसे सप्तमकरण गमन करने का निषेध करता है । मेरी आज्ञा-नुसार चलनेवाला नृप-समूह पिशाचवृन्द-सा मोक्षसाधन-कार्य मे मेरे अनुकूल होगा यह बात असम्भव है । स्वभाव से स्नेह करनेवाला युवराज (यशोमति कुमार) चरणो को ग्रहण करता हुआ तपश्चरणार्थ प्रस्थान

वस्थान्तरस्य हेतुर्लोकरञ्जनेनापि भविष्यति मे विष्टिरिव प्रस्थानविघातकारिण्यमृतमतिमहादेवो। दुष्करमसमग्रहसदोह इव श्रेयसि मामनुलोमयिष्यति सामन्तनिवह। प्रार्थिते वस्तुनि पाश इव करिष्यति गतिभङ्ग पादयो पतन्निसर्ग प्रणयी युवराज। किमेकविषलतादोषादेव सकलमपि वनमुपहन्तु युक्तमिति विलपदन्त पुर शिवाकुलमिव विघ्नयिष्यत्यभिलषितयात्रासमयम्। तिर्यग्गमिष्यन्ति च पतत्रिण इव पुरवृद्धा कामितस्य प्रतिलोमनाय। यत।

अप्रार्थितोऽपि जायेत पापायाग्रेसरो जन। धर्मानुष्ठानवेलाया निसर्गात्प्रतिलोमन ॥२५॥

तदहमत्र क नु खलूपायमारचयामि। अथवा रचित एवोपाय। तथाहि—यदीय विभावरी कुशलेन विभास्यति, तदा सर्वावसर सभामण्डपमास्थायाहूय चाम्बादेवीमखिल चानुचरलोकमिदमेकमशिक्षितमननुभूतपूर्वमनुचितमप्युपस्थितघङ्घलनिस्तरणोपाय निकटकूटकपटमनुष्ठास्यामि। भवति हि मृषोद्यमपि प्रायेण ब्रह्मोद्यकर्मणे, यत्रात्मनो नैहिकामुत्रिकफलविलोप। मायापि खलु पर नि श्रेयसमेवारभते, या न भवति परेषा परमार्थत प्रतारणकरी।

बहिरतिपरुषापि क्रिया सुकृतमेवातनोति, यदि न मनस्तमोबहुलम्। अवसानेष्वन्यथावृत्तिरपि व्यापारो न करोति कामप्यर्थक्षतिम्, यदि न विनेयाना जनयति व्यसनानि।

तथा च प्रवचनम्—वासुपूज्यभगवतो वन्दनामिषेण गतो मिथिलानगरीनाथ पद्मरथो बभूव गणधरदेव। मातु कानिचिद्दिनानि दत्तान्तरोऽपि पञ्चशतयुवतिरतिमार सुकुमारश्च साधयामासाभिमतम्।

करने मे वैसा विघ्न करेगा जैसा चरणोपर पडा हुआ जाल गमन करने मे विघ्न करता है। 'क्या एक जहरीली लता के दोष से समस्त वन का उच्छेद (काटना) उचित है ?' ऐसा सार्थक विलाप करती हुई मेरी पत्नी-समूह शृगाली-समूह-सी तपोवन के प्रति प्रस्थान करने मे विघ्न करेगी। जैसे आडे आए हुए पक्षी गमन करनेमे अपशकुन करते हैं वैसे नगर के सम्पत्तिशाली पुरुष तपोवन के प्रति प्रस्थान करने मे विरोध करने के लिए आडे आ जाएँगे, क्योकि—लोक विना याचना किया हुआ भी पाप-निमित्त अग्रेसर होता है परन्तु पुण्यकर्म करने के अवसर पर वह स्वभाव से प्रतिकूल हो जाता है ॥२५॥

अत मै निस्सन्देह तपोवन के प्रति प्रस्थान करने के लिए कौन-सा उपाय रचूँ ? अथवा मैने उपाय प्राप्त कर लिया। उसी उपाय को दिखाते हैं—

यदि यह आज की रात्रि निर्विघ्न व्यतीत हो जायगी उस समय मै 'सर्वावसर' नामके सभामण्डप मे बैठकर अपनी माता चन्द्रमती देवी व समस्त सेवक-समूह को बुलाकर ऐसा समोपवर्ती कूटकपट (मायाचार) करूँगा, जो कि अद्वितीय, किसीके द्वारा उपदेश नही दिया हुआ, पूर्व मे अनुभव मे नही आया हुआ एव जो अनुचित होनेपर भी समस्त आए हुए विघ्नो को निवारण करनेका उपाय है, क्योकि वह असत्य वचन भी बहुलता से कल्याण-निमित्त होता है, जिसमे अपनी आत्माका इसलोक व परलोक सबधी सुख का विनाश नही होता। जो मायाचार निश्चय से दूसरो को धोखा देनेवाला नही है, वह भी निस्सन्देह उत्कृष्ट पुण्य को ही उत्पन्न करता है। वाह्यरूप मे अत्यन्त कठोर भी क्रिया (आचार—केशलुञ्चन व उपवासादि) पुण्य को ही उत्पन्न करती है यदि उसमे मन अज्ञान-बहुल न हो। समाप्ति मे असत्य व्यापार भी कोई पुण्य-विनाश नही करता, यदि वह शिष्यो को दु ख उत्पन्न नही करता।

उक्त बात के समर्थक सिद्धान्त-वचन हैं—मिथिलानगरी का स्वामी पद्मरथ नामका राजा बारह मे तीर्थङ्कर श्री वासुपूज्य भगवान् को वन्दना के बहाने से चम्पा नगरी मे प्राप्त हुआ। वहाँ दीक्षा धारण करके गणधर देव हो गया। इसी प्रकार सुकुमाल स्वामी, जो कि पांच सौ युवतिरूपी रतियो के लिए कामदेव-सरीखे

तदविलम्बम् अम्ब मन्मनोरथाना कल्पलतिके, निशमय ममैका विज्ञप्तिम् । अयमामुक्तस्तत्रभवत्या प्रणामाञ्जलि । निसर्गैकस्वभाव समस्तकार्यप्रारम्भनिर्विघ्नमन्त्रप्रभाव सचिवलोक, त्वमपि मनागवधान कर्तुमर्हसि । उदितोदितकुलशीलादिगुणधरणे दुरापफलसपादनचिन्तामणे पुरोहित, सपादपतन याचितोऽसि । प्रयच्छेत प्रियशिष्याय कर्णम् । वीरश्रीविलासकमलाकर सकलदिग्वलयप्रसाधनकर सेनापते, भव व्यासङ्गमपहाय प्रयतचेता । कीर्तिसुधाधवलिताशेषराजनिवास महाहवभरारम्भनिर्व्यूढमहासाहस सामन्तसमाज, समाकर्णय सम्यगिममुदन्तव्यतिकरम् । राज्यलक्ष्मीरक्षाक्षमप्रतापप्रसर निखिलमण्डलेश्वरप्रणामकर्कशकर दौवारिक, निषीदावधारयितुमेन वृत्तान्तम् । एवमन्योऽपि य कश्चिन्मत्प्रणयी परिजन स क्षणमेकमनन्यमना शृणोतु । अद्य विभातशेषाया निशि स्वप्नमहमेवमदर्शम्—आत्मन किलापनीय राज्यभार यशोमतिकुमार इव निहितवान् । विहाय राजधानीमाश्रमावन्यामिव प्राविक्षम् । उत्सृज्य कनकासनमुपलगहन इवोपविष्टवान् । अवमत्य राजमन्दिरमद्रिकन्दरमिवाशिश्रियम् । अवधूय वसुधाधिपत्यचिह्नानि तपश्रीलिङ्गानीव गृहीतवान् । परिहृत्य विषयरसमनुष्ठानमानस इवाभूवम् । विमुच्य भवादृश परिजन मुमुक्षुजनैरिव सगतोऽस्मि । परित्यज्य विलासिनीजनमरण्यलतावनमिवोपागूहिषम् । अवगणय्य बान्धवेषु परिचितत्वमटवीसत्वेष्विव प्रीति गतवान् । एवमन्या-

---

थे, और जिन्होंने अपनी माता से कुछ दिनो तक दीक्षा ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की थी और जिन्हे माता द्वारा कुछ दिनो तक दीक्षा ग्रहण मे विघ्न बाधाएँ उपस्थित की गई थी, दीक्षा ग्रहण को सिद्ध किया ।

उस कारण से मेरे मनोरथो की पूर्ति के लिए कल्प लता-सरीखी हे माता चन्द्रमती ! मै पूजनीय आपके लिए यह प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ । मेरा एक विज्ञापन सुनिए । निर्दोष प्रकृतिशाली व समस्त सन्धि व विग्रह-आदि कार्यो के प्रारम्भ मे निर्विघ्न मन्त्र-प्रभावशाली हे मन्त्री-मण्डल ! आप भी थोडी एकाग्रता धारण के योग्य है । विशेष उदयवाले पवित्र वश और परस्त्री के प्रति मातृ भगिनी-भाव-आदि गुणो की पृथिवी (आधार) एव दुर्लभ अपूर्व लाभो की प्राप्ति करने मे चिन्तामणि-सरीखे हे पुरोहित ! मै चरणो मे नमस्कार पूर्वक आप से प्रार्थना करता हूँ कि प्रिय शिष्य मेरा विज्ञापन ध्यान पूर्वक सुनिए । वीर लक्ष्मी की क्रीडा करने के लिए कमल-वन-सरीखे व समस्त दिशा समूह को वश करनेवाले हे सेनापति ! आप चित्त की अस्थिरता छोडकर सावधान चित्त-युक्त होवे । कीर्तिरूप सुधा द्वारा समस्त राजमहलो को उज्वल करनेवाले और महासग्राम-भार के प्रारम्भो मे महान् अद्भुत कर्मो को वृद्धिगत करनेवाले हे मेरे अधीनस्थ राजसमूह ! प्रत्यक्ष किये हुए इस वृत्तान्त प्रघट्टक को सावधानी पूर्वक श्रवण कीजिए । जिसके प्रताप का विस्तार, राज्यलक्ष्मी की रक्षा करने मे समर्थ है और जिसका हाथ, समस्त मण्डलेश्वर राजाओ को नम्रीभूत करने मे विशेष कठिन हैं, ऐसे हे द्वारपाल ! तुम मेरी बातको यथार्थ निश्चय करने के लिए बैठो । इसी तरह दूसरा भी मुझसे स्नेह करनेवाला कोई कुटुम्ब वर्ग है, वह सब क्षणभर सावधान चित्त होकर सुने—मैने आज इसी पश्चिम रात्रि मे निम्न प्रकार स्वप्न देखा । अर्थात्—मैने स्वप्न मे अपने को निम्नप्रकार देखा—

मैने निश्चय से अपना राज्यभार छोडकर युवराज (यशोमति कुमार) मे स्थापित करते हुए सरीखा अपने को देखा और इस राजधानी (उज्जयिनी नगरी) को छोडकर तपोवन मे प्रविष्ट होता हुआ-सा जाना । मैने सुवर्ण-सिहासन को छोडकर स्वय को पाषाण पर्वत पर स्थित हुआ-जैसा देखा और राजमहल को अनादृत करके पर्वत गुफा का आश्रय किये हुए-सरीखा तथा छत्र-चँवर-आदि राजचिह्नो का परित्याग करके तपोलक्ष्मी के चिह्न (पीछी व कमण्डलु-आदि) ग्रहण करते हुए सरीखा देखा । मै विषय-स्वाद को छोडकर क्रिया सरोवर मे लीन हुआ-सा हो गया और आप सरीखे कुटुम्बी जनो को छोडकर मोक्षाभिलाषी महामुनियो के साथ सगत हुआ-जैसा हो गया ।

मैने स्त्री-समूह को छोडकर स्वय को वनलताओ के वन का आलिङ्गन करते हुए-सरीखा देखा एव

न्यप्यनेकश ससारसुखविमुखानि मत्पुराकृतपुण्यावसानसूचनोल्लेखानि चतुर्थपुरुषार्थसमर्थनोचितानि स्वप्नजातान्यद्राक्षम् । अवबुद्धश्च तदैवाह वदतापि केनचिद्विबोधित इव । सत्यफलाश्च भवन्ति प्रायेण निशावसानेष्ववलोकिता स्वप्ना । नापि मे तामसगुणमयी दोषमयी वा प्रकृति, येनान्यथापि सभाव्येरन् । न चामीष्विहामुत्र च विरोधाश्रित किंचिन्निरीक्षितम् । अपि च ।

श्रुतान्यधीतानि, मही प्रसाधिता दत्तानि वित्तानि यथार्थमर्थिने ।
पुत्रोऽप्यय वर्महर प्रवर्तते, सर्वत्र सम्पूर्णमनोरथागम ।।२६।।

विषयजोऽपि सुखतर्षो न मे मन. प्रायेण प्रत्यवसादयितुमीश्वर । यत ।

सकृद्विज्ञातसारेषु विषयेषु मुहुर्मुहु । कथ कुर्वन्न लज्जेत जन्तुश्चर्वितचर्वणम् ।।२७।।

न श्रमान्तकसपर्कात्सुखमन्यद्भवोद्भवम् । तेन सन्त प्रतार्यन्ते यदि तत्वज्ञता हता ।।२८।।

वाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कुर्यात्, काम यौवने, स्थविरे धर्मं मोक्ष चेत्यपि, नायमेकान्ततोऽनित्यत्वादायुषो यथोपपद वा सेवेतेत्यपि श्रुते । अपि च ।

वन्धु-आदि वर्गों मे परिचय को छोडकर अटवी के हरिण-आदि प्राणियो मे अनुराग को प्राप्त हुआ सरीखा अपने को देखा।

इसीप्रकार मैने दूसरे भी अनेकप्रकार के स्वप्न-समूह देखे, जो कि ससार-सुख छुडानेवाले है और जिनका उद्देश्य मेरे पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य कर्म के विनाश को सूचित करता है एव जो मोक्ष पुरुषार्थ के समर्थन मे उचित है। जैसे मैने स्वप्न-समूह देखे वैसे जाग गया—मानो—बोलते हुए किसी से जगाया गया हूँ।

पश्चिम रात्रि मे देखे हुए स्वप्नो का फल प्रायः करके सत्य होता है। मेरी प्रकृति तामसी नही है तथा दोषमयी भी नही है, जिससे मेरे स्वप्न मिथ्याफलवाले सभावना किये जावे। इन स्वप्नो के मध्य मे मैंने इस जन्म व भविष्य जन्म को विनाश करनेवाला कुछ नही देखा। विशेष यह है—

मैंने शास्त्र पढ लिए। पृथ्वी को अपने अधीन कर ली। याचको अथवा सेवको के लिए यथोक्त धन दे दिए और यह यशोमतिकुमार पुत्र भी कवचधारी वीर है, अत मै, समस्त कार्य मे अपने मनोरथ की पूर्ण प्राप्ति करनेवाला हो गया हूँ[१] ।।२६।।

पञ्चेन्द्रियो के स्पर्श-आदि विषयो से उत्पन्न हुई सुख-तृष्णा भी प्राय मेरे मन को भक्षण करने मे समर्थ नही है। क्योकि—इन्द्रिय-विषयो (भोगोपभोग पदार्थों) मे, जिनकी श्रेष्ठता या शक्ति एकबार परीक्षा की गई है, बार-बार खाये हुए को खाता हुआ यह प्राणी किसप्रकार लज्जित नही होता ?[२] ।।२७।। मैथुन क्रीडा के अखीर मे होनेवाले सुखानुमान को छोडकर दूसरा कोई भी सासारिक सुख नही है, उस सुख द्वारा यदि विद्वान् पुरुष ठगाए जाते हैं, तो उनका तत्वज्ञान नष्ट ही है[३] ।।२८।। 'मानव को वाल्य अवस्था मे विद्याभ्यास-गुणादि कर्तव्य करना चाहिए और जवानी मे कामसेवन करना चाहिए एव वृद्धावस्था मे धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए। अथवा अवसर के अनुसार काम-आदि सेवन करना चाहिए।' यह भी वैदिक वचन है।' परन्तु उक्तप्रकार की मान्यता सर्वथा नही है, क्योकि आयुकर्म अस्थिर है। अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार की वैदिक मान्यता आदि उचित नही है, क्योकि जीवन क्षणभङ्गुर है, अत मृत्यु द्वारा गृहीत-केश-सरीखा होते हुए धर्मपुरुषार्थ का अनुष्ठान विद्याभ्यास-सा वाल्यावस्था से ही करना चाहिए। तथा च—

---

१ समुच्चयालकार । २. आक्षेपालकार । ३ जातिरलकार ।

ध्यानानुष्ठानशक्तात्मा युवा यो न तपस्यति । स जराजर्जरोऽन्येषा तपोविघ्नकर परम् ।।२९।।

तदहमेतत्स्वप्नदर्शनमशून्यपरामर्शन कर्तुमीहे, यदि तत्रभवन्तो न मे भवन्त्युत्सर्गाणामपवादा इव प्रतिबन्धोपाया । प्रत्युपपन्न चैतत् । पुरा हि युष्माकमेकैकश परिगणनातीतानि परमुखेनाप्यभ्यर्थितान्यह सपादितवान् । भवद्भि' पुनरशेषै किमेकमपि स्वयमभ्यर्थित न मे सपाद्यत इति । तथाप्यमी परमार्थेन प्रतिस्वप्नव्याजेन वा तपस्याया यदि न मामनुमस्यन्ते, निरस्याप्येतानात्महितमनुष्ठास्यामि । को नु खलु विघटित चेत स्फटिकवलयमिव मुधापि सधातुमर्हति । निसर्गादस्निग्धे हि मनसि मरुभूम्यामिव वृथा भवन्ति परजनस्य रसानयनक्लेशा । अन्यत्र कृतनिश्चये हि चेतसि मरणोपदेश इव विफलो भवति निकटवर्तिना प्रतिकूलतया मन समागमनविनियोग । स्वभावनिष्ठुर हि मन शिलाशकलमिव न देवोऽपि शक्नोति पल्लवयितुम् । अभिनिवेशकर्कशे हि हृदये कुलिश इव न प्रवेश लभन्ते गुणवत्योऽपि वधूना प्रार्थना' । कि च ।

देवस्यापि वच प्राय पुसि जाताग्रहग्रहे । ऊषरे वर्षवन्न स्याद् गुणकारि मनागपि ।।३०।।

धर्मध्यान व चारित्र के पालन मे समर्थ आत्मावाला जो पुरुष जवान होकर तपश्चर्या नही करता, वह पुरुष वृद्धावस्था मे भग्न शरीर-युक्त होकर तपश्चर्या करता हुआ, केवल दूसरे साधुओ की तपश्चर्या मे विघ्न उपस्थित करनेवाला होगा ।।२९।। अत मै (यशोधर) इस स्वप्न-दर्शन को सफल विचारवाला करने की इच्छा करता हूँ। यदि आप लोग मुझे निषेध करने के उपाय उसप्रकार न होवे जिसप्रकार विशेष कही हुईं विधियाँ, सामान्य कही हुईं विधियो के निषेध करने के उपाय होती हैं। आपके द्वारा यह मेरी प्रार्थना पालन की हुई होगी, क्योकि जब मैने पूर्व मे आप लोगो मे से एक एक की अगणित प्रार्थनाएँ दूसरो के सदेश-वचन मात्र से भी पालन की है तब आप समस्त सज्जन मेरी स्वय की हुई एक भी प्रार्थना को क्या पालन नही करोगे? तथापि—यदि आप मेरी प्रार्थना सम्पादन नही करेगे—और आप लोग यदि मुझे तपश्चर्या करने की अनुमति नही देगे तो मै परमार्थ रूप से अथवा स्वप्न-प्रतीकार के बहाने से इन स्वप्नो का निषेध करके आत्महित करूँगा, अर्थात्—तपोवन के प्रति गमन करूँगा। क्योकि निश्चय से स्फटिक मणि के कङ्कण-सरीखे विघटित हुए (विरक्त हुए) चित्त को कौन पुरुष निरर्थक भी सधान (जोडना पक्षान्तर मे अनुराग-युक्त) करने के योग्य है। स्वभावत स्नेह-हीन चित्त मे निश्चय से दूसरे लोगो के रसानयन क्लेश वृथा होते है। अर्थात्—श्रृङ्गाररस का प्रदर्शन मरुभूमि की तरह नेत्रो के सताप के लिए होता है। भावार्थ—जैसे मरुभूमि मे स्वय प्यासे होने पर रसानयन क्लेश—दूसरे के हाथ मे रस (जल) देखकर नेत्रो को क्लेश होते है, वैसे वैराग्य-युक्त पुरुष को तपश्चर्या की प्यास होने पर दूसरे मनुष्यो द्वारा श्रृङ्गाररस का दिखाना नेत्रो के सताप के लिए होता है। दीक्षा-आदि धारण करने का निश्चय किये हुए चित्त को निश्चय से निकटवर्ती पुरुषो की प्रतिकूलता द्वारा वापिस लाने का अधिकार वैसा निष्फल होता है जैसे मरणोपदेश निष्फल होता है। अर्थात्—'तू मरजा' इसप्रकार का उपदेश सुननेवाला क्या कोई मरता है? अर्थात्—जिसतरह दिया हुआ मरणोपदेश निष्फल होता है उसीतरह वैराग्यशील चित्तको सरागी बनाने का प्रयत्न भी निष्फल होता है। पाषाणखण्ड-सरीखे स्वभाव से कर्कश मन को निस्सन्देह देवता भी उल्लासित—रागयुक्त करने समर्थ नही होता। जैसे वज्र मे गुण (तन्तु) प्रवेश नही होता वैसे निश्चय से अभिप्राय से कठिन हृदय मे स्त्रियो की याचनाएँ गुणकारिणी होती हुईं भी प्रवेश (सक्रमण) नही करती।

थोड़ा-सा कहता हूँ—उस पुरुष मे, जिसमे प्राय करके आग्रह रूप पिशाच उत्पन्न हुआ है, देवता

इति सकल्प्य अवश्यमिह जन्मनि न मे शयनतलमारोहन्ति महिला इति च पर्यालोच्य लोकालोकाचल इव 'प्रकाशान्धकारावृत्तिमन्थरितमन प्रसरे विद्युदाभोगभङ्गुरे नभसीव निमेषोन्मेषाकुलितनयनपर्यन्ते स्वापप्रबोधव्यतिरिक्तामपरामेव काचिद्रसालामिव सकीर्णरसासराला निद्रादशामनुभवति मयि सति । अहो धर्मावलोक, मदभिमतसाधुकारवादेनेव ध्वनित शङ्खेन, मत्प्रव्रजनमङ्गलरवेणेव समुच्छलित सगीतकनिनादेन, मत्कार्यपरिच्छेदेनेव स्फुटित पूर्वदिग्भागेन, मद्राज्याभिलाषेणेव विरलीभूत तारकनिकरेण, मन्मनसिजविलासेनेव विच्छायितमिन्दुबिम्बेन, मद्वैराग्यमनसेव विकसितमरविन्दवृन्देन, मद्विषयसुखतर्षेणेव विघटित तम पटलेन, मन्मोहपाशेनेव विगलित सध्यारागेण, मद्वपुषेव लोकलोचनगोचरतामुपगतमरुणकिरणेन, मद्भुवनविन्यासैरिव पर्याकुलित नगनिगमगोपुरसरित्प्रदेशैर्जनसमाजेन । तदन्वहमनवाप्तनिशानिद्रोऽपि वातायनविवरलब्धप्रसरेण रविणा प्रणयिनेव करस्पर्शात्

के भी वचन उसतरह थोडे भी उपकारक नही होते जिसतरह ऊषर भूमि मे मेघो की वृष्टि जरा-सी भी उपकारक नही होती ॥३०॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज ! मै पूर्व मे क्या-क्या करके 'अखिलजनावसर' नामके सभामण्डप मे प्राप्त हुआ ?

पूर्वोक्त विषय को मन मे धारण करके और 'निश्चय से इस भव मे मेरी शय्या पर स्त्रियाँ आरोहण नही कर सकती' इसप्रकार पूर्व मे विचार करके मै उक्त सभामण्डप मे प्राप्त हुआ ।

हे राजन् ! क्या होनेपर मै उक्त सभामण्डप मे प्राप्त हुआ ? जब मै, जिसकी चित्तप्रवृत्ति वैसी वसी प्रकाश व अन्धकार के आवरण से मन्थरित (व्याप्त या भरी हुई) हुई है, अर्थात्—जो वैराग्य व उद्वेग दोनो से व्याप्त है, जैसे उदयाचल व अस्ताचल प्रकाश व अन्धकार दोनो से युक्त होते है। जिसके नेत्रप्रान्त निमेष (नेत्रो का मीचना) व उन्मेष (नेत्रो का खोलना) से सयुक्त हैं, अत जो विजली के विस्तार से विनाशशील आकाश-सरीखा था । अर्थात्—जिसप्रकार विजली मेघो के मध्य मे प्रवेश करती हुई अन्धकार उत्पन्न करती है और प्रकट होती हुई प्रकाश करती है उसीप्रकार मेरे नेत्रप्रान्तो मे निमेष व उन्मेष उत्पन्न हुए । मै कैसी निद्रावस्था का अनुभव कर रहा था ? जो शयन व जागरण-युक्त थी , अत जो अपूर्व, अनिर्वचनीय तथा समिश्र रसो से अधिक हुई रसाला (शक्कर व मसाला पडा हुआ दही—शिखरन) सरीखी थी । अर्थात्—जिसप्रकार रसाला समिश्र (मिले हुए) रसो से व्याप्त होती है ।

धर्म का अनुसन्धान करनेवाले हे मारिदत्त महाराज ! इसके बाद शङ्ख की ध्वनि हुई, उससमय ऐसा मालूम पडता था—मानो—मेरे मनचाहे दीक्षाग्रहण का समर्थक साधुकारवचन ही है । हे राजन् ! उससमय गीत, नृत्य व वादित्रो की ध्वनि प्रकट हुई, जो—मानो—मेरे दीक्षाग्रहण की माङ्गलिक ध्वनि ही है । पूर्वदिशा का प्रदेश विकसित हुआ, जो मानो—मेरी दीक्षा-ग्रहण का निश्चय ही है । उससमय ताराओ की श्रेणी मेरी राज्याभिलाषा-सी विरलीभूत हुई । उस समय चन्द्रमण्डल मेरे कामभोग-जैसा कान्ति-हीन हो गया । हे राजन् । उस समय कमल-समूह वैसा विकसित हुआ जैसे मेरा वैराग्य, चित्त से विकसित—उल्लासित—हुआ । हे राजन् ! उससमय अन्धकार-पटल मेरी विषय सुख की अभिलाषा-सरीखा नष्ट हुआ । उससमय सायकालीन सध्या की लाली मेरे मोहजाल-सरीखी नष्ट हुई । हे मारिदत्त महाराज ! उससमय सूर्य की किरणे मेरे शरीर-सी लोगो को दृष्टिगोचर हुईं । हे राजन् ! जनसमाज (लोक-समूह), पर्वत-मार्ग, नगरद्वार व नदी स्थानो से आकर उसप्रकार व्याप्त हुआ जिसप्रकार जनसमाज (सेवक-समूह) मेरी महल-रचनाओ मे व्याप्त होता है । हे राजन् ! इसके बाद मैं, रात्रि मे निद्रा को प्राप्त न करता हुआ भी गवाक्षजालो (झरोखो) से प्रविष्ट होने-

प्रबोधित । सिन्धुर इव शय्यामुत्सृज्य, उत्तानवेदिनो हि नरस्य सुखसाध्यमपि कार्यमुदके विशीर्ण चूर्णमिव न भवति यत्नशतैरपि कर्तव्य प्रतिविधेयमित्यवधार्य, तस्या दुष्कर्मणो महादेव्या शरीरसगमादिव विहितौषस्यमज्जनो निर्वर्त्य च गोसर्गसमयसभविनमुपासनविधिम्, अपगतमोहबन्धे हि मनसि न खलु परोपनीत परिग्रहासङ्गो भवति कर्मपरिष्वङ्गायेत्यनुध्याय गृहीतोद्गमनीयमङ्गलदुकूल, समाचर्य तपश्चर्यानुरागेणेव [1]हरिरोहणेनाङ्गरागम्, आदृत्य हितोपदेशमिव कर्णाभरणम्, 'अहो गुणवता वर हार, खर सुरतविनोदेषु खेदितोऽसि। तदस्य प्रणयिन सर्व क्षम्यताम्' इत्यनुनयेनेव कण्ठे गृहीत्वा मुक्ताफलभूषणानि, ईषत्प्रागभारश्रीपरिणयोत्कण्ठयेव निधाय करे कङ्कणालकारम्, माजनि मम तपस्याया कोऽप्यन्तराय इति सिद्धशेषामिव शिरसि विनिवेश्य कुसुमानि, हस्तेकृत्य चेतिकर्तव्यतासारमिव ताम्बूलमखिलजनावसर सभामण्डपमुपागतोऽस्मि। मिलिते यथाभागमवस्थिते च सर्वस्मिन्ननुजीविलोके प्रवृत्ते च पुस्तकवाचनके चन्द्रमतिम्बादेवीं प्रति मूल प्रहेतुमिच्छया यावन्मनोरथसारथे मन्त्रिणो मुखमवलोकयामि, तावत्स्वयमेव मय्येकपुत्रे परमवत्सलतया रात्रिकृतमन्तर वर्षशतमिव गणयन्तीमतियातयामवयोभिराप्तपुरुषैरधिष्ठिता

वाले सूर्य द्वारा उसप्रकार कर-स्पर्श (किरणो के स्पर्श व पक्षान्तर मे हस्तस्पर्श) से जगाया गया जिसप्रकार स्नेही पुरुष द्वारा कर स्पर्श से मित्र जगाया जाता है। फिर हाथी-सरीखे मैने शय्या (पलङ्ग) को छोडकर निम्नप्रकार भलीभाँति विचार किया। निश्चय से अस्थिर चित्तवाले पुरुष का विना प्रयत्न सिद्ध होने योग्य कार्य, पानी मे फैंके हुए चूने-सरीखा सैकडो प्रयत्नो से भी चिकित्सा करने योग्य नही होता। अभिप्राय यह है कि उक्त नैतिक सिद्धान्त को स्मरण करते हुए मैने उक्त घटना किसी के सामने प्रकट नही की। इसके बाद हे मारिदत्त महाराज! उस दुराचारिणी महादेवी (अमृतमति) के अस्पृश्य शरीर के स्पर्श से ही मानो—प्रात कालीन स्नान करनेवाले मैने प्रभातकालीन उपासना विधि पूर्ण की। 'मोह-बन्ध से रहित चित्त मे दूसरे पुरुष द्वारा समीप मे लाए हुए वस्त्रादि-परिग्रह का स्वीकार करना, निश्चय से कर्मबन्ध के निमित्त नही होता' ऐसा चिन्तवन करके मैने धुले हुए वस्त्र का धोती जोडा व माङ्गलिक दुपट्टा धारण किया। पश्चात् मैने गोशीर्ष चन्दन द्रव से विलेपन किया, जो—मानो—तपश्चर्या करने मे उत्पन्न हुआ अकृत्रिम स्नेह ही है, फिर मैने हितोपदेश सरीखे दोनो कर्ण-कुण्डल धारण किए।

'हे गुणवानो मे श्रेष्ठ हार! तुम सभोग-क्रीडा मे विशेष रूप से खेदखिन्न किये गए हो, अत इस स्नेही का समस्त अपराध क्षमा करो' इसप्रकार अनुनय से ही मानो—मैने मोतियो का हार कण्ठ मे धारण किया। थोडी-सी पूर्व की राज्य पालन रूपी भार की लक्ष्मी के विवाह की उत्कण्ठा से ही मानो—मैने हस्ताभूषण (कङ्कण-अलङ्कार) हस्त मे धारण किए। फिर मैने पुष्प मस्तक पर धारण किए, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानो—'मेरी तपश्चर्या मे कोई विघ्न न होवे' इसकारण से सिद्धचक्र-पूजा सबधी पुष्पमाला ही है। और मैने ताम्बूल हस्त मे ग्रहण किया, जो—मानो—मेरी दीक्षाग्रहण का निश्चय ही है।

उपसहार—तदनन्तर मै 'अखिल जनावसर' नाम के सभामण्डप मे प्राप्त हुआ।

हे राजन्! जब समस्त सेवकजन एकत्रित हो चुका था व यथास्थान पर स्थिति कर चुका था एव शास्त्र वाचनेवाला (पुरोहित) प्रवृत्त हो चुका था। इसीप्रकार जब तक मै चन्द्रमति माता के प्रति लेख भेजने की इच्छा से 'मनोरथ सारथि' नाम के मन्त्री का मुख देख रहा था तब तक अत्यन्त उत्कण्ठा पूर्वक स्वय आती हुई ऐसी चन्द्रमति माता को मैने देखा। जो, मुझ एकलौते पुत्र मे उत्कृष्ट स्नेह के कारण रात्रि-सबधी विरह को सौवर्ष-समान जान रही थी। जो अत्यन्त वृद्ध उम्रवाले मन्त्री-आदि हितैषी पुरुषो से अधिष्ठित थी।

---

१ 'हरितरोहिणेन' इति ह लि (क) प्रतौ पाठ ।

मुत्सुकोत्सुकमागच्छन्तीममरसरितमिव हसकुलपरिवृतामुत्फुल्लसितसरोजवनविहारिणीमिव सरस्वतीमखिलगुणानुगतामिव मत्पितु कीर्तिमनेककक्षान्तरविनियुक्तविनतमहासामन्तारुणमणिमौलिमयूखोन्मुखराजिरञ्जितोपसव्याना सध्यारागोत्त-रीयवसनामुदयमानचन्द्राकृतिमिवापश्यम्, अभिमुखमुदचल च । उदयाचलसानुचरच्चन्द्रप्रतिमोदयविजृम्भितजल सकल्लोल सिन्धुरिव पुनस्तच्चरणनखकरोत्सार्यमाणोत्तसकुसुमसौरभासक्तभृङ्गावर्जितोत्तमाङ्ग

पातालमूल स भुजङ्गपालो दिव स देवाधिपतिर्यथा च । मज्जीवनेनापि तथा त्वमेनामाचन्द्रतार वसुधा प्रशाधि ॥३१॥

इति विहिताशीर्वादोच्चार शिर समाघ्राणपरिकल्पितबालकालोचितोपचार॰ सुखशयनसकथाभिर्मुहुर्मुहुर्ममा-लापयन्तीमर्पितहस्तावलम्बन पुर परिसरन्नमृतमरीचिमूर्त्यनुगतस्तदालोक इव त सभामण्डपमुपनीय महासिहासनपीठिका-यामुपावीविशम्, उपाविश च तदादेशान्निजासने । प्रवृत्तासु च तासु तासु किवदन्तीषु वाचक ससारस्वरूपनिरूपणप्रस्ता-वायातमिदमध्यगीष्ट ।

जरैव धन्या वनिताजनाना यस्या समालिङ्गनभाजि पुसि । अन्याङ्गनावीक्षणविभ्रमाणा न जातु जायेत समागमश्री॰ ॥३२॥

जो उसप्रकार हँसकुल (गुरुजनो या निर्दोष पुरुष-समूह) से वेष्टित थी जिसप्रकार गङ्गानदी हस-श्रेणी-से वेष्टित होती है। जो उसप्रकार विकसित हुए उज्वल कमलवनो मे विहार करनेवाली थी जिसप्रकार सरस्वती विकसित हुए उज्वल कमल खण्डो मे विहार करती है। जो मेरे पिता यशोर्घमहाराज की कीर्ति-सरीखी सर्वगुण-सम्पन्न थी। जिसकी साडी बहुत से गृह प्रकोष्ठको मे नियुक्त हुए नम्रीभूत महान् सेवक राजाओ के अरुण (लाल) मणियो से व्याप्त (जडित) मुकुटो की किरणोन्मुख श्रेणी द्वारा रञ्जित की गई है। जिसका दुपट्टा, सध्याकालीन लालिमा-सरीखा है और जिसकी आकृति उदित हुए चन्द्र की आकृति-जैसी थी। फिर मै उसके सन्मुख गया और मैंने उस सभामण्डप मे उसे लाकर महान् सिंहासन पीठ पर बैठाया एव मैं भी उसकी (माता की) आज्ञा से अपने सिंहासन पर बैठा। हे राजन्! मै उससमय ऐसे समुद्र-सरीखा था, जिसके जल उदयाचल के शिखर पर सचार करती हुई चन्द्र प्रतिमा के उदय से वृद्धिगत हो रहे थे और जो विशाल तरङ्गो से व्याप्त था। जिसने (मुझ यशोधर ने) ऐसा मस्तक स्वीकार किया था, जिसपर उस चन्द्रमती माता के चरणनखो की किरणो से तिरस्कार किये जा रहे मुकुट के पुष्पो की सुगन्धि मे लम्पट हुए भौरे वर्तमान थे। एव जिसे माता ने निम्नप्रकार आशीर्वाद का उच्चारण किया था। हे पुत्र! 'जैसे वह जगत्प्रसिद्ध शेषनाग पाताल-लोक का प्रतिपालन करता है एव जैसे वह देवेन्द्र स्वर्ग का शासन करता है वैसे ही तुम मेरी आयु से भी (विशेष समय तक) चन्द्र व ताराओ पर्यन्त इस पृथिवी का शासन करो[1] ॥३१॥ एव जिसका मस्तक-सूँघने से वाल्यकालोचित व्यवहार किया गया है। हे राजन्! मैने कैसी मेरी माता को सिहासन पर वैठाया? जो सुखपूर्वक निद्रा की कथाओ से मुझ से बार-बार एकान्त मे भाषण कर रही थी। हे राजन्! हस्तावलम्बन देनेवाला व माता के आगे गमन करता हुआ मै चन्द्र-मूर्ति से अनुगत चन्द्रोद्योत-सरीखा था। हे राजन्! जब वे वे जगत्प्रसिद्ध किंवदन्तियाँ—प्रवृत्त हो रही थी तब कथावाचक विद्वान् ने ससार स्वभाव के कथनावसर पर प्राप्त हुए निम्नप्रकार सुभाषित श्लोक पढे—

स्त्रीजनो मे वृद्धावस्था ही पुण्यवती है, क्योकि जिस वृद्धावस्था रूपी स्त्री का आलिङ्गन करने-वाले मानव मे (वृद्ध पुरुष मे) परस्त्रियो के देखने की शोभा-प्राप्तिरूपी लक्ष्मी कभी भी उत्पन्न नही होती[2] ॥३२॥ उस कारण से हे आत्मन्! जब तक वृद्धावस्था, शारीरिक शक्ति को नष्ट नही करती एव इन्द्रिय-समूह मे अन्धकार का विस्तार नही करती तब तक आप इस समय उस अनिर्वचनीय कर्त्तव्य को

---

१ उपमालकार । २ अप्रस्तुतप्रशसालकार ।

ततश्च । यावज्जरा जरयते न शरीरशक्ति यावत्तमश्च न तनोति हृषीकवर्गे ।
तावत्त्वमाचर विचार्य तदत्र किंचिज्जन्माङकुर पुनरय रमते न यत्र ।। ३३ ।।

त्व मन्दिरद्रविणदारतनूद्भवाद्यैस्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धि ।
क्लिश्नास्यहर्निशमिम न तु चित्त वेत्सि दण्ड यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव ।। ३४ ।।

राजा—(स्वगतम् ।) साधु भो वाचक, साधु । यत, कथमिव त्वमद्य मच्चेत प्रविष्ट इव ब्रूषे । पुनरपि वाचको मामतीव ससारसुखासनाथासु कथासु दत्तावधानमुपलक्ष्य

को नाम न जगति जन कुशलै स्वस्य क्रियेत वशवर्ती । स्त्रीषु खलेष्विव विधिरपि मूढ खलु वश्यतोपाये ।। ३५ ।।

इतीद च । राजा—(सविस्मय । स्वगतम् ।) अहो रात्रिप्रवृत्तवृत्तान्तवेदिन इवास्याद्य सरस्वती प्रेरयति वचासि । बाढमानन्दितश्चाहमनेन । न च स्वामिप्रसाद सेवकेषु प्रसिद्धश्चिन्तामणिरिव फलमसपाद्य विश्राम्यतीति । (प्रकाशम् ।) अहो **वसुवर्ष, वितीर्यतामस्मै सुभाषितवर्षाय** पारितोषिकम् ।

वसुवर्ष—यथाज्ञापयति देव इति । तथा कृतवति **वसुवर्षे माता**—(स्वगतम् ।) अहो, कुतोऽद्य मे पुत्रस्य भवभोगनिर्भर्त्सनपरासु कामिनीजनसभावनभङ्गुरारम्भनिर्भरासु च गोष्ठीष्विद पर मन । किं नु खलु न महादेवीगेह

विचार करके उसका आचरण करो, जिस कर्त्तव्य के करने पर यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला ससाररूपी अङ्कुर (ससार-प्रादुर्भाव) फिर से क्रीडा नही करता[1] ।।३३।। हे आत्मन् ! तुम पापास्रव को उत्पन्न करनेवाले व महल, धन, कलत्र व पुत्रादि की आकाङ्क्षा रूपी अन्धकारो द्वारा नष्ट बुद्धिवाले होते हुए निरन्तर क्लेशित हो रहे हो । हे चित्त ! तुम विना अवसर के गिरनेवाले यमराज के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले मरणलक्षण-वाले दण्ड को नही जानते हो[2] ।।३४।। उक्त सुभाषित श्रवण कर यशोधर महाराज अपने मन मे निम्नप्रकार चिन्तवन करते है—हे सुभाषित वाचनेवाले ! तुमने विशेष प्रशस्त निरूपण किया । क्योकि आज तुम मेरे मन मे प्रविष्ट हुए सरीखे स्पष्ट बोलते हो । हे मारिदत्त महाराज ! कथावाचक विद्वान् ने मुझे ससार-सुख से विमुख करनेवाली कथाओ मे विशेष रूप से ध्यान देनेवाले देखकर फिर से निम्नप्रकार सुभाषित श्लोक पढा—विद्वानो से ससार मे कौन पुरुष अपने वशवर्ती नही किया जाता ? परन्तु दुष्टो या चुगलखोरो की तरह स्त्रियो के वशीकरण के उपाय मे विधि भी मूढ है । अर्थात्—वशीभूत करना नही जानता[3] ।।३५।। यशोधर महाराज आश्चर्यान्वित होते हुए अपने मन मे निम्नप्रकार चिन्तवन करते है—आश्चर्य है कि आज दिन रात्रि मे उत्पन्न हुए वृत्तान्त को जाननेवाले-सरीखी इस कथावाचक की सरस्वती (वाग्देवता) वचनो को प्रेरित कर रही है । इसने मुझे विशेष आनन्दित किया । सेवको मे प्रसिद्धि-प्राप्त किया हुआ स्वामी का प्रसाद (प्रसन्नता) चिन्तामणि-सरीखा कुछ लाभ उत्पन्न किये विना विश्राम नही लेता । इसप्रकार विचार कर यशोधर महाराज ने स्पष्ट कहा—हे 'वसुवर्ष' नामके खजानची ! तुम सुभाषित की वृष्टि करनेवाले इस कथा-वाचक के लिए पारितोषिक दो ।

वसुवर्ष नामका कोषाध्यक्ष—स्वामी की जेसी आज्ञा है । जब उक्त कोषाध्यक्ष ने उस कथावाचक विद्वान् के लिए पारितोषिक वितरण कर दिया तब चन्द्रमती माता अपने मन मे निम्न प्रकार विचार करती है—'आश्चर्य है, आज के दिन ऐसी वार्ताओ मे, जो सासारिक भोगो का तिरस्कार करने मे तत्पर है, एव

१. रूपकालकार । २ रूपकालकार । ३ रूपकोपमालकार ।

गतस्यास्य किमपि वैराग्यकारणमभूत् । ममानिच्छन्त्या एव हि पुत्रेणेयं महति स्वातन्त्र्ये स्थापिता । अतिप्रसक्तं च स्त्रीषु स्वातन्त्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विरमति । कथितं च मे खाद्योपायनविनियुक्तया रसायनसिद्धेर्माहानसिकस्य सुतया प्रियवदया यथा—अम्बादेवि, तव स्नुषाया प्रणयपरं इव दृश्यते तस्मिन् कुब्जे दृष्टिविनिपात ।' (प्रकाशम् ।) वत्स, कथमिव लक्ष्मीविलासहंसाभिनवसमागमसरस्यपि वयसि चतुर्थपुरुषार्थप्रार्थनोत्थासु कथासु गततृष्णमपि सतृष्णमिवाद्य ते प्रतिभाति चेत । वदनच्छायाप्यन्यथैव ते दृश्यते । वपुरपि मलिनं कमलमिवातीव ते विच्छायम् । श्वासा अपि होमधूमोदगमा इव तवाधरदलं मलिनयन्तो दीर्घतरमायच्छन्ते । लोचने अपि सान्द्रनिद्रोद्रेकदुर्दिने शत्रुकुलमिव ते मन्दस्पन्दे । मदारम्भे सामज इव मुहुर्मुहुरायासमायासि जृम्भितेषु । कर्मणि विनियुक्तस्तुरग इव न स्थिरस्तिष्ठसि चासने । राजा—(स्वगतम् ।) अहो, प्रारम्भे दैवस्य महतो खलु कार्यघटनासु तत्परता, मातुश्च मयि सप्रश्नेषु । (प्रकाशम् ।) अम्ब, विज्ञापयामि स्वोपज्ञपथमुत्थितं कथयामास । मातापि निशम्यैनम्

यातु द्विषत्पक्षमदः समीक्षितुं प्रतीक्ष्यलक्ष्मीस्त्वमिहोदिताच्चिरम् ।
मही च रत्नाकरवारिमेखला सम स्नुषानप्तृजनेन रक्षतात् ॥ ३६ ॥

जो स्त्रीजनो की अनुकूलता की स्वयं विनश्वरता के आरम्भ से गाढ है, मेरे पुत्र का यह मन विशेष सलग्न कैसे हो गया ? मैं ऐसा सोचती हूं कि महादेवी के गृह मे प्राप्त हुए मेरे पुत्र को निश्चय से क्या कोई वैराग्यकारण नही हुआ ? अपि तु अवश्य हुआ है। क्योकि न चाहती हुई ही मेरे पुत्र (यशोधर) ने इसे विशेष स्वाधीनता मे स्थापित कर दिया है। क्योकि विशेष मात्रा मे प्राप्त हुई स्त्रियो को स्वाधीनता, तलवार की धार-सरीखी पति-हृदय को विना विदीर्ण किए विश्राम नही लेती। 'रसायनसिद्धि' नाम के रसोईये की प्रियवदा नाम की पुत्री ने, जो कि मुझे लाडू-आदि भेंट लाने के अधिकार मे नियुक्त की गई है, मुझसे कहा था—यथा—'हे माता ! आपकी पुत्रवधू (अमृतमति महादेवी) की दृष्टि उस प्रसिद्ध 'अष्टवङ्क' नामके निकृष्ट महावत मे स्नेह करने मे तत्पर हुई-सरीखी देखी जाती है।' फिर चन्द्रमती माता ने मुझसे स्पष्ट कहा—हे पुत्र ! इस युवावस्था मे, जो कि लक्ष्मी-भोग रूपी हस के नवीन समागम मे सरोवर-सी भी है, मोक्ष पुरुषार्थ की आकाङ्क्षा का उत्थान करनेवाली धर्म-कथाओ मे, अभिलाषा-रहित हुआ भी तेरा मन, इस समय तृष्णायुक्त-सरीखा किस प्रकार प्रतिभासित हो रहा है ? हे पुत्र ! तेरी मुख-कान्ति भी दूसरी-सरीखी (म्लान) दिखाई देती है। तेरा शरीर भी मलिन कमल-जैसा विशेष कान्ति-हीन दृष्टिगोचर हो रहा है। तेरे श्वाँस भी होम सबधी धुएँ की उत्पत्ति-सरीखे तेरे ओष्ठदलो को मलिन करते हुए विस्तृत रूप से निकल रहे है। हे पुत्र ! तेरे दोनो नेत्र भी विशेष निद्रा की अधिकता से आच्छादित हुए शत्रुसमूह-सरीखे मन्द स्पन्द (ईषच्चलन) युक्त है। अर्थात्—जिसप्रकार तेरा शत्रु समूह मन्दस्पन्द (अल्पव्यापार) युक्त है। हे पुत्र ! तुम बार-बार जँभाई लेने मे मद के आरम्भ मे हाथी-जैसे कष्ट प्राप्त कर रहे हो। हे पुत्र ! तुम गमनादि क्रिया मे अधिकृत होते हुए सिंहासन पर घोडे-सरीखे निश्चल होकर नही बैठते। फिर यशोधर महाराज अपने मन मे निम्न प्रकार विचार करते है—'आश्चर्य है देव (पुराकृत कर्म) की निस्सन्देह प्रारम्भ मे कार्य करने मे विशेष एकाग्रता है और माता की मेरे विषय मे शिष्टतापूर्ण अनुसन्धान करने मे विशेष एकाग्रता है।' इसके बाद यशोधर महाराज ने स्पष्ट निवेदन किया—हे माता ! 'विज्ञापित करता हूँ'। ऐसा कहते हुए उसने अपने द्वारा कल्पना किये हुए मार्गवाला स्वप्न मे प्राप्त हुआ वृत्तान्त कहा। माता ने भी स्वप्न मे प्राप्त हुए वृत्तान्त को सुनकर सर्वरूप से रक्षा करने के लिए निष्ठीवन (थूंक) सम्बन्धी विन्दुओ को भय-सहित व कम्पित हृदय पूर्वक एव दयालुता के उदय-सहित नाना प्रकार से क्षरण करके निम्नप्रकार मुझे समझाया।

हे पुत्र ! यह दु स्वप्न शत्रुपक्ष पर गिरे। पूज्य राज्यलक्ष्मीवाले आप, इस भूमण्डल पर दीर्घकाल

इति सभय सोद्वेगहृदय सानुकम्पोदय च समन्ताद्ब्रह्मविप्रुषो विकिरन्ती मामेवमवूबुधत्—पुत्र, सर्वशास्त्रेषु बुधसङ्गविदग्धोऽपि कथ त्वमद्याचारान्ध इवावभाससे। को हि नाम सचेतन स्वप्नेषु भक्तमुपलभ्य गोणि प्रसारयति। यदि च नियमेन सत्फला भवन्ति स्वप्नास्तर्हि हतमेतदायकस्य त्रियामाया मोदकमन्दमठिकावलोकनादामन्त्रितमहीपतेरुपाख्यानम्। प्राणिनो ह्यनिलानलपीनसान्तरिता स्वप्नावस्थायामर्थजात भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा निरीक्षन्ते। कथितवती चाद्युनैव मे पथि सहागच्छन्तीय तव धात्री दुहिता वसन्तिका, यथा—आर्याणि, प्रभातशेषाया निशि स्वप्ने किलाह यवागूरिव सवृत्तास्मि। भुक्ता च मन्मातु श्राद्धामन्त्रितैर्भूदेवैरिति।

निष्कण्टक राज्यमिद प्रवृद्धमिमे निदेशावहिताश्च भूपा।
दिशो दशैतास्तव कामितानि यच्छन्ति चिन्तामणिभि समाना ॥ ३७ ॥

अमूनि पूर्वैर्भवतार्जितानि त्यागाय भोगाय वसूनि सन्ति। इच्छाविधेयश्च विलासिनीनामय गणस्तेऽप्सरसा सदृक्ष ॥ ३८ ॥
निष्कारण सर्वमिद विहाय त्व केन कामेन तपो हि कुर्या। स्वर्गापवर्गार्थमिद न सम्यग्दृष्टाददृष्ट खलु किंगरीय ॥ ३९ ॥

अथाज्ञया कोऽपि न वर्तते ते तत्रोत्सृज क्रोधविष न दोष।
भयेन कि मन्दविसर्पिणीना कन्था त्यजन्कोऽपि निरीक्षितोऽस्ति ॥ ४० ॥

पर्यन्त उदय प्राप्त करे और बधू व पोते वर्ग के साथ समुद्रजल मर्यादावाली इस पृथिवी का प्रतिपालन करे।[1] ॥ ३६ ॥

हे पुत्र! समस्त शास्त्रो मे विद्वानो की सङ्गति से विचक्षण होते हुए भी तुम इस समय मूर्ख या क्रियामूढ-सरीखे किस प्रकार प्रतीत होते हो? निश्चय से कौन चतुर पुरुष स्वनमे धान्य प्राप्त करके [उसे भरने-हेतु] गोणी (बोरा या थैला) धारण करता है? अपि तु कोई नही करता। यदि स्वप्न नियम से सत्य फलवाले होते है तो आचार्य की, जिसने रात्रि मे स्वप्न मे लड्डुओ से भरी हुई छात्रशाला को देखने से राजा को परिवार-सहित निमन्त्रित किया था, यह जगत्प्रसिद्ध नष्ट दृष्टान्त कथा [सच्ची] समझनी चाहिए। अत प्राणी वात पित्त व कफ-सहित होते हुए स्वप्नावसर मे पूर्व मे उत्पन्न हुए या पूर्व मे नही उत्पन्न हुए वस्तु समूह को देखते है। इस समय मे ही मेरे मार्ग मे साथ आती हुई इस तुम्हारी धाय की पुत्री वसन्तिका नामवाली ने मुझ से निम्न प्रकार कहा था—यथा—'हे स्वामिनि! पश्चिम रात्रि के प्रान्तभाग मे निश्चय से मै स्वप्न मे यवागू-सरीखी हुई। अर्थात्—मैने स्वप्न मे विशेष मात्रा मे यवागू (पतले भात) देखे। और जिन्हे, मेरी माता के श्राद्ध मे निमन्त्रित किये हुए ब्राह्मणो ने भक्षण किये।

हे पुत्र। यह राज्य, क्षुद्र शत्रुओ से रहित होता हुआ वृद्धिगत हुआ है व यह सामन्त वर्ग (अधीनस्थ नृप समूह) आपका आज्ञावर्ती हुआ सावधान है। ये दश दिशाएँ चिन्तामणि-सरीखी आपके लिए अभिलषित वस्तु देती हैं।।३७।। ये धनादि लक्ष्मियाँ, जिन्हे आपने पूर्वजो (यशोवन्धु व यशोर्घ राजा) से उपार्जित की है, दान तथा भोग निमित्त वर्तमान है एव रम्भा, तिलोत्तमा, मेनका और उर्वशी-आदि अप्सराओ-सरीखी यह कामिनियो की श्रेणी आपकी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती हुई विनयशील है।।३८।। हे पुत्र! तुम इस समस्त पूर्वोक्त राज्यादि वैभव को निष्प्रयोजन छोडकर निश्चय से किस अभिलाषा से तपश्चरण करते हो? यह तपश्चरण स्वर्ग व मोक्ष निमित्त नही है। हे पुत्र! क्या प्रत्यक्ष फल से परोक्ष फल निश्चय से विशेष महान् होता है? अपि तु नही होता[2] ।।३९।। हे राजन्! यदि कोई पुरुष तुम्हारी आज्ञानुसार प्रवृत्ति नही करता तो

---

१ समुच्चयालकार। २ वृत्तत्रयेण समुच्चयालकार आक्षेपश्च।

दुःस्वप्नशङ्का तव चेदथास्ति सत्त्वैः समस्तैः कुलदेवतायै ।
कृत्वा बलिं शान्तिकपौष्टिकार्थं पश्चात्प्रतिस्वप्नविधिं विधेहि ॥ ४१ ॥

न चेदं मनागपिकमलौकिकं वा । तथाहि—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४२ ॥

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदवेदार्थविद्द्विजः । आत्मानं च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४३ ॥

तथा वेदेऽप्यात्मश्रेयोर्थमशेषविघ्नोपशमनार्थं च राजसूयपुण्डरीकाश्वमेधगोसववाजपेयादिषु वार्षिकामेष्टिकारीरित्यादिषु च यज्ञेषु प्रवृत्तोऽयं प्राणिवधः स च वधो न भवति । यतः ।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ४४ ॥

इति । राजा—(कर्णौ पिधाय निःश्वस्य च) किं नु खलु न करोति देहिनामयं मोहबन्धः, तस्य प्रसव-

---

उस पर क्रोधरूपी जहर छोडो, क्योकि ऐसा करने मे कोई दोष नही है। हे राजन्! क्या खटमलो के भय से कन्था (शीत-निवारण वस्त्र—गोदडी) को छोडता हुआ कोई भी पुरुष देखा गया है? अपि तु नही देखा गया ॥४०॥[1] हे पुत्र! यदि आपको दुष्ट स्वप्न का भय है तो कुलदेवता के लिए समस्त प्राणिवर्गों की बलि (घात) करके बाद मे दुष्ट स्वप्न का ऐसा शमन विधान करो, जिसमे शान्ति देनेवाला कर्म और शारीरिक पुष्टि निमित्त कर्म इन दोनो का प्रयोजन वर्तमान है[2] ॥४१॥

हे पुत्र! यह कुलदेवता के लिए प्राणियो का बलि विधान सदा से प्रचलित हुआ चला आ रहा है और लोक-प्रसिद्ध है। तथाहि—[यशोधर की माता निम्न प्रकार से उक्त बात का समर्थन करती है—मनु नाम के ऋषि ने कहा है कि निम्नलिखित चार स्थानो मे ही पशु-बध करने योग्य है, अन्यत्र अर्थात्—भक्षण, व शारीरिक पुष्टि-आदि के निमित्त पशु-बध करने योग्य नही है। मधुपर्क (अतिथि सत्कार के अवसर पर अर्थात्—ब्राह्मण के गृहपर यदि ब्राह्मण अतिथि आता है, उस समय उसके चरण प्रक्षालित करके उनपर दही, मधु व घी छोडे जाते हैं एव बडा बैल व बडा बकरा मारकर उसे व अन्य ब्राह्मणो को खिलाया जाता है एव चन्दन व पुष्प माला से उस अतिथि की पूजा की जाती है, इसे 'मधुपर्क' कहते है) २—यागकर्म (अश्वमेघ-आदि यज्ञ), ३—पितृकर्म (श्राद्ध कर्म) एव ४—रुद्र-आदि की पूजा विधान के अवसर पर[3] ॥४२॥ वेद-पाठ व वेद के अर्थ को जाननेवाला इन पूर्वोक्त चार कार्यों मे पशुओ का घात करता हुआ अपनी आत्मा व पशुओ को उत्तमगति (स्वर्ग-आदि) मे प्राप्त कराता है[4] ॥४३॥

शास्त्र मे आत्मा के पुण्य-निमित्त व समस्त विघ्नो के विनाशार्थ निम्न प्रकार के यज्ञो मे किया हुआ प्राणि-बध, प्राणि-बध (जीव हिंसा) नही है। राजसूय, पुण्डरीक, अश्वमेध, गोसव व वाजपेय-इत्यादि अन्य भी यज्ञो के भेद हैं। एव वार्षिकामेष्टि (यज्ञ विशेष) व कारी। क्योकि ब्रह्मा ने स्वय ही यज्ञ-निमित्त पशुओ की सृष्टि की है। निश्चय से यज्ञ समस्त याचक, आचार्य व यजमानादिको के ऐश्वर्य-हेतु है, इसलिए यज्ञ-निमित्त की हुई प्राणि हिंसा हिंसा नही है ॥४४॥ उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज ने श्रोत्रो को बन्द करके व श्वाँस-ग्रहण करके निम्न प्रकार कहा—'प्राणियो का यह मोहबन्ध (रागादि) व उसका उत्पत्ति स्थान अज्ञान-सम्बन्ध भी क्या-क्या अनर्थ नही करता? कैसे हैं यशोधर महाराज? जिसका मन निर्दय

---

१. दृष्टान्ताक्षेपालंकार । २ जातिमात्रालंकार । ३ जातिरलंकार । ४ समुच्चयालंकार ।

भूमिरज्ञानसबन्धश्चेति, कर्कशोदर्कवितर्ककर्करसपातस्तिमितचेता क्षणमात्रमितिकर्तव्यताविमूढमन श्रोता इव भूत्वेदमवादीत्—प्रसीदाम्ब। वदामि किंचिदहम्, यदि तत्र भवती मयि दुष्पुत्रापवादपराग न विकिरति। माता—पुत्र, मैव मयि शङ्किष्ठा। प्रतिष्ठस्व न्यायनिष्ठुरतया गोष्ठीसौष्ठवेषु। न खलु केवलमह प्रसवधर्मिणी, किं तु भवत्पितु प्रसादात्सकलव्यवहारवेदिनी च। यद्येव युक्त एव पूर्वपक्ष। यस्मात् 'न धर्मा श्चरेत्, एष्यत्फलत्वात्सशयितत्वाच्च। को ह्यबालिशो हस्तगत पादगत कुर्यात्। वरमद्यकपोत श्वोमयूरात्। वर साशयिकान्निष्कादसाशयिक. कार्षापण' इति महान्खलु लोके लौकायतिकलोककोलाहल। स चात्मनो गर्भादिमरणपर्यन्ततया सुघट एव। राजा—

सत्य न धर्म क्रियते यदि स्याद्गर्भावसानान्तर एव जीव।
न चैवम्। जातिस्मराणामथ रक्षसा च दृष्टे पर किं न समस्ति लोके (लोक[1])॥ ४५॥

उत्तर फल के विचाररूपी पाषाण के पतन से निश्चल है और जिसकी चित्त-सगति अल्पकाल तक कर्त्तव्य-निश्चय मे विमूढ-सी है।

हे माता! प्रसन्न होइए। मै कुछ कहता हूँ, यदि उस वचन के कहने पर आप मेरे ऊपर कुपुत्र सबधी निन्दारूप धूलि नही फैकती। इसके बाद यशोधर की माता ने कहा—हे पुत्र! तुम मुझ से इस प्रकार का भय मत करो। हे पुत्र! मेरी वार्ता-प्रारम्भ की प्रतिभा शीलता मे न्याय-निष्ठुरता पूर्वक पूर्वपक्ष करो। हे पुत्र! निश्चय से मै केवल तुम्हे जन्म देनेवाली ही नही हूँ किन्तु आपके पिता की करुणा से समस्त व्यवहार को जाननेवाली हूँ। अत हे पुत्र। मेरा पूर्वपक्ष करना उचित ही है, अत यशोधर की माता उसी वार्ता का प्रारम्भ करती है—जिस कारण हे पुत्र! लोक मे निश्चय से निम्न प्रकार नास्तिक दर्शन विशेषरूप से है—यथा 'धर्मो का आचरण नही करना चाहिए, क्योकि धर्माचरण मे भविष्यकालीन फल है। वर्तमान काल मे धर्माचरण का फल दृष्टि गोचर नही होता। इतना ही नही, अपि तु—धर्माचरण नही करना चाहिए, क्योकि सशयित्वात्। अर्थात्—यह नही जाना जाता कि धर्माचरण से फल मिलेगा? अथवा नही मिलेगा? इस प्रकार का सन्देह होने के कारण भी धर्माचरण नही करना चाहिए अब उक्त विषय को दृष्टान्त से दृढ करते है।

निश्चय से कौन विद्वान् पुरुष हस्तगत सुवर्ण-आदि वस्तु को पादगत करेगा? अर्थात्—दोनो पैरो से ग्रहण करेगा? अभिप्राय यह है कि हाथ निकटवर्ती हैं और पैर तो दूरवर्ती है, अत जिस प्रकार निकटवर्ती हाथो मे प्राप्त हुई सुवर्ण-आदि वस्तु को विद्वान् दूरवर्ती पैरो से धारण नही करता उसीप्रकार प्रत्यक्ष फलवाले कामिनी-आदि भोग ही ग्रहण करना चाहिए और अदृष्ट—परोक्ष—फलवाले धर्म का आचरण छोड देना चाहिए। कल प्रात काल प्राप्त होनेवाले मयूर की अपेक्षा आज प्राप्त होनेवाला कबूतर श्रेष्ठ है। यद्यपि मयूर मे मास अधिक है और कबूतर मे अल्प है तथापि भविष्य मे प्राप्त होनेवाले विशेष मासशाली मयूर की अपेक्षा आज वर्तमान मे प्राप्त होनेवाला अल्प मास-युक्त कबूतर ही श्रेष्ठ है। अर्थात्—उसी प्रकार भविष्य मे स्वर्गादि विशेष फलशाली धर्म की अपेक्षा वर्तमान मे अल्प फलवाली जवानी व कमनीय कामिनी-आदि उपभोग वस्तुएँ ही श्रेष्ठ है। सन्देह-युक्त २१६ तोला परिमाणवाले सुवर्ण सिक्के या सुवर्णमयी हृदय-भूषण (हार) की अपेक्षा रत्तीभर तोल का निश्चित सुवर्ण श्रेष्ठ है। जब आत्मा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही है तब वह नास्तिक दर्शन युक्ति-युक्त ही है। फिर यशोधर महाराज ने कहा—

हे माता! तेरा वचन सत्य है परन्तु यदि जीव (आत्मा) गर्भ व मरण के मध्यवर्ती ही होता

---

१ 'पर किं न समस्ति लोक' ह लि (क) प्रतौ पाठ।

स्वय कृत जन्तुषु कर्म नो चेत्सम समस्त खलु कि न लोक । भूतात्मक चित्तमिद च मिथ्या स्वरूपभेदात्पवनावनीव ।४६।
एव चेदमपि सगच्छते—

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभ तस्य कर्मण प्राप्तिम् । व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥ ४७ ॥

नव वयश्चारुतरास्तरुण्यो रम्याणि हर्म्याणि शिवा श्रियश्च ।
एतानि ससारतरो फलानि स्वर्ग परोऽस्तीति मृषैव वार्ता ॥ ४८ ॥

दोषस्त्वमीषा पुनरेक एव स्थैर्याय यन्नास्ति जगत्युपाय । तत्सभवे तत्त्वविदा पर स्यात्खेदाय देहस्य तप प्रयास ॥ ४९ ॥

तब धर्म नही किया जाता परन्तु यह बात नही है। अर्थात्—जीव गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही नही है। अब उक्त बात को आक्षेप (दृष्टान्त) द्वारा समर्थन करते है—निश्चय से क्या लोक मे जाति स्मरणवाले पुरुष दृष्टिगोचर नही होते ? अर्थात्—यदि जीव, गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त ही होता तब जाति स्मरणवाला पुरुष क्यो इसप्रकार कहता है। 'मै पूर्वजन्म मे इसप्रकार (अमुक कुल मे अमुक रूप से उत्पन्न होनेवाला) हुआ था।' अथवा पाठान्तर मे जब जाति स्मरणवाले पुरुष दृष्टिगोचर हो रहे है तब क्या परलोक (पूर्वजन्म) नही है ? एव क्या निश्चय से लोक मे राक्षस (व्यन्तर) दृष्टिगोचर नही होते ? अर्थात्—किसी का पिता-आदि मरकर राक्षस हुआ श्मशान भूमि मे जन्म धारण करता हुआ सुना जाता है। यदि गर्भ से लेकर मरण-पर्यन्त ही जीव होता तब व्यन्तर किसप्रकार हुआ ? अथवा पाठान्तर मे जब पुरुष मरकर राक्षस हुए सुने जाते है तब क्या परलोक-(भविष्यजन्म) नही है ? अपितु अवश्य है। साराश यह है उक्त राक्षसो के दृष्टान्त से भविष्य जन्म सिद्ध हुआ समझना चाहिए ॥४५॥ यदि प्राणियो का स्वय उपार्जित किया हुआ पुण्य व पापकर्म नही है तो निश्चय से समस्त लोक समान (सदृश) क्यो नही होता ? अर्थात्—फिर राजा, किङ्कर, गुरु, शिष्य, धनाढय व दरिद्र इत्यादि भेद किसप्रकार सभव होगा ? 'यह आत्मा पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चारो भूतो से निष्पन्न है' इसप्रकार की नास्तिक दर्शन की मान्यता मिथ्या है, क्योकि इनमे स्वरूप-भेद वर्तमान है। अर्थात्—विज्ञान, सुख व दु ख-आदि गुणवान् जीव है और भूत (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु) अचेतन (जड) होने के कारण जीवद्रव्य से भिन्न हैं। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार वायु और पृथिवी द्रव्य स्वरूप भेद के कारण भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात्—वायु चञ्चल स्वभाव-युक्त व पृथिवी स्थिर स्वभाववाली है। उसीप्रकार आत्मा चेतन ज्ञानादिगुणवान् है और पृथिवी-आदि भूत अचेतन होते हुए धारण-आदि गुण-सयुक्त हैं ॥४६॥

जब इसप्रकार उक्त भेद सिद्ध है तभी निम्नप्रकार आर्याच्छन्द जन्मपत्रिका के आरम्भ मे लिखा जाता है—इस जीव ने पूर्व जन्म मे जो पुण्य-पाप कर्म उपार्जित किये है, भविष्य जन्म मे उस कर्म के उदय को यह ज्योतिषशास्त्र उसप्रकार प्रकट करता है जिसप्रकार दीपक अन्धकार मे वर्तमान घट-पटादि वस्तुओ को प्रकट (प्रकाशित) करता है। अर्थात्—जब पूर्वजन्म का सद्भाव है तभी ज्योति शास्त्र उत्तर जन्म के स्वरूप को प्रकट करता है। इससे जाना जाता है कि गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त ही जीव नही है, अपितु गर्भ से पूर्व व मरण के बाद भी है ॥४७॥ पुन यशोधर महाराज ने कहा—नवीन यौवन, विशेष सुन्दर युवतियाँ, मनोज्ञ महल और विशेष शुभ धनादि लक्ष्मियाँ, ये ससाररूपी वृक्ष के फल हैं। 'स्वर्ग भिन्न है' यह बात मिथ्या है, किन्तु यौवन, स्त्री व धनादि सुख सामग्री ही स्वर्ग है ॥४८॥ परन्तु इस यौवन, स्त्री व धनादि सुख सामग्री मे एक ही (महान्) दोष है, क्योकि ससार मे यौवन, स्त्री व धनादि सुख का कारण

बालस्य मौग्ध्यान्न तपोधिकारो युवा तपस्येद्यदि तत्र दण्ड । कुटुम्बभाराधिकृतश्च मध्यो वृद्ध पुनर्वृद्धिसहाय एव ॥५०॥

परोपरोधादयमेवमात्मा मिथ्याग्रहग्रस्तमन प्रतान । स्वय विजानन्नपि दैवदूतैराकृष्य नीयेत भवभ्रमाय ॥ ५१ ॥

चरमोऽपि पक्ष श्रेयानेव । द्विधा खलु प्राणिनामापदो भवन्ति—सभवत्प्रतीकारा, कालकृतावताराश्च । तत्राद्यानामुपशमनाय प्रतिस्वप्नविधि श्रेय सनिधेरेव रणाजिरेषु राजव्यञ्जनव्याजेन द्विषद्विषधराणाममर्षविषवर्षस्य प्रतीकार इव । मध्यमस्तु पक्षोऽतीव मध्यम ।

अहोरात्र यथा हेतु प्रकाशध्वान्तजन्मनि । तथा महीपतिर्हेतु पुण्यपापप्रवतने ॥ ५२ ॥

उक्त च—राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठा पापे पापा समे समा । राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ॥ ५३ ॥

इति । भूतसरक्षण हि क्षत्रियाणा महान् धर्म । स च निरपराधप्राणिवधे नितरा निराकृत स्यात् । नृपतिप्रतिष्ठानि च खलु देहिना व्यवहारतन्त्राणि प्रवर्तन्ते । नृपत्यायत्ता पुण्यपापहेतवो वर्णाश्रमाणामाचारव्यवस्थाश्च । ते

स्थिर नही है, किन्तु यौवन-आदि सब क्षणिक ही है। यदि ये यौवन-आदि स्थिर होते तो तत्त्वज्ञानियो का तपश्चर्या-प्रयास केवल शारीरिक खेद-निमित्त होता ॥४९॥

हे माता ! शिशु को दीक्षा-ग्रहण का अधिकार नही है, क्योकि उसकी प्रकृति हिताहित के विवेक से शून्य होती है। यदि जवान पुरुष तपश्चर्या करे तो उस तपश्चर्या करने मे प्रायश्चित्त है, अथवा शरीर-दण्डन का कष्ट होता है। इसीप्रकार अर्द्धवृद्ध पुरुष तो कुटुम्ब की उदर-पूर्ति करता है। वृद्ध पुरुष दीर्घकाल मे उदर-पूर्ति करता है[1] ॥५०॥ यह जीव माता-पिता-आदि के अनुरोध से असत्य पिशाच-ग्रह से ग्रहण किये हुए मानसिक व्यापारवाला होता है। अत स्वय विशेष जानता हुआ भी यमराज के किङ्करो द्वारा खीचकर ससार-भ्रमण के लिए ले जाया जाता है ॥५१॥ हे माता ! यद्यपि चरम पक्ष (शान्तिक पौष्टिक लक्षणवाला अखीर का कथन) शुभ ही है, परन्तु प्राणिहिंसा के कारण कल्याण-कारक नही है। निश्चय से प्राणियो की विपत्तियाँ दो प्रकार की होती है, १—सभवत्प्रतीकार (जिनके दूर होने का उपाय हो सकता है) एव २—यमराज द्वारा उत्पन्न होनेवाली मृत्यु। उन दोनो विपत्तियो के मध्य पहिली सभवत्प्रतीकारवाली आपत्तियो के उपशमन के लिए स्वप्नशमन-विधान पुण्याचरण से ही होता है, जो कि (स्वप्न-शमन-विधान), सग्रामाङ्गणो पर राज-चिह्नो के मिष से शत्रुसर्पो के क्रोधरूप विष-वर्षण की प्रतिक्रिया (दूर करने का उपाय—विद्याधर-औषधि, मन्त्रजल व हवनादि) सरीखा है। मध्यमपक्ष 'दु स्वप्नशङ्का' इत्यादि तो जीवहिंसा के कारण नि कृष्ट है। जिसप्रकार प्रकाश की उत्पत्ति मे दिन कारण है और अन्धकार को उत्पत्ति मे रात्रि निमित्त है उसीप्रकार पुण्य-पाप की प्रवृत्ति मे राजा कारण है ॥५२॥ अर्थशास्त्रकार चाणक्य ने कहा है—राजा के धर्मात्मा होने पर प्रजा धर्मात्मा होती है और राजा के पापी होनेपर प्रजा भी पापी हो जाती है एव राजा के मध्यस्थ होने पर प्रजा भी मध्यस्थ हो जाती है। प्रजा के लोग राजा का अनुसरण करते है। जैसा राजा होता है, प्रजा भी वैसी होती है ॥५३॥ हे माता निश्चय से प्राणियो की रक्षा (प्रतिपालन), क्षत्रिय राजकुमारो का श्रेष्ठ धर्म है, वह धर्म, निर्दोष प्राणियो के घात करने से विशेष रूप से नष्ट हो जाता है। निश्चय से प्राणियो के व्यवहार शास्त्र राजा के अधीन है। प्राणियो के पुण्य व पाप के कारण तथा चार वर्णो (ब्राह्मणादि) व चार आश्रमो (ब्रह्मचारी आदि) के आचरण व मर्यादाएँ भी राजाधीन प्रवृत्त होती है। वे राजालोग काम, क्रोध

---

१ जात्यलकार ।

च नृपतय कामक्रोधाभ्यामज्ञानेन वा यथैव शुभमशुभ वा कर्मारभन्ते तथैव जानपदा अपि। श्रूयते हि—वङ्गीमण्डले नृपतिदोषाद्भूदेवेष्वासवोपयोग, पारसीकेषु स्वसवित्रीसयोग, सिहलेषु च विश्वामित्रसृष्टिप्रयोग इति। ततश्च।

यथैव पुण्यस्य सुकर्मभाजा षष्ठांशभागी नृपति सुवृत्त। तथैव पापस्य कुकर्मभाजा षष्ठांशभागी नृपति कुवृत्त ॥ ५४ ॥

अपि च। य शस्त्रवृत्ति समरे रिपु स्याद्य कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥ ५५ ॥

तन्मात, अहमैहिकामुत्रिकचरित्रानपत्रपस्तेषु प्राणिषु कथ नाम अस्त्र प्रयोजयामि। किं च।

न कुर्वीत स्वय हिंसा प्रवृत्ता च निवारयेत्। जीवित बलमारोग्य शश्वद्वाञ्छन्महीपति ॥ ५६ ॥

यो दद्यात्काञ्चन मेरु कृत्स्ना चापि वसुधराम्। एकस्य जीवित दद्यात्फलेन न सम भवेत् ॥ ५७ ॥

यथात्मनि शरीरस्य दु ख नेच्छन्ति जन्तव। तथा यदि परस्यापि न दु ख तेषु जायते ॥ ५८ ॥

इति श्लोकत्रय गतवत्येव दिने **हिरण्यगर्भस्य** मन्त्रिण सुतेन **नीतिबृहस्पतिना** मामध्यापितवती भवत्येव। कथ नाम विस्मृता। विधेयमेव चाशुभमपि कर्म। को दोषो यदि हन्यमानस्येवात्मनो न भवेयु सुलभ्यान्यापदि विजृम्भितानि।

व अज्ञान से जिसप्रकार पुण्य या पाप आरम्भ करते है उसीप्रकार प्रजाजन भी आरम्भ कर देते है। उक्त बात का समर्थन दृष्टान्त-माला द्वारा करते है—निश्चय से सुना जाता है कि रत्नपुर.नाम के नगर मे राजा के दोप (मद्यपान) से ब्राह्मणो मे मद्यपान की प्रवृत्ति हुई एव राजा के दोष से राश्वान देशो मे अपनी माता के साथ सयोग प्रवृत्त हुआ। राजा के दोष से सिंहल देशो मे वर्ण-सङ्करता प्रवृत्त हुई सुनी जाती है। अत —

जिसप्रकार सदाचारी राजा पुण्यकर्म करनेवाले लोगो के पुण्य के छठे अश का भोगनेवाला होता है उसीप्रकार दुराचारी राजा पापी लोगो के पाप के छठे अश का भोगनेवाला होता है ॥५४॥ तथा च। जो शत्रु युद्धभूमि पर शस्त्र धारण किये हुए है अथवा जो अपने देश का काँटा है, अर्थात्—जो अपने देश पर आक्रमण करने को उद्यत है, उसी शत्रु पर राजा लोग शस्त्र प्रहार करते हैं, न कि दुर्बल, प्रजा पर उपद्रव-आदि न करनेवाले और साधुजनो के ऊपर शस्त्र प्रहार करते हैं ॥५५॥ अत हे माता! मै इस लोक व परलोक के आचरण मे निर्लज्ज होता हुआ किसप्रकार उन दीन-आदि निरपराध प्राणियो पर खड्ग-आदि शस्त्र चलाऊँ?

हे माता! मैं और कुछ विशेष कहता हूँ—

राजा दीर्घायु, शारीरिक सामर्थ्य व निरोगता की निरन्तर अभिलाषा करता हुआ स्वय प्राणियो का घात न करे और दूसरो द्वारा किये हुए प्राणिघात को रोके ॥५६॥ जो पुरुष सुमेरु पर्वत प्रमाण सुवर्ण-दान करता है और समस्त पृथिवी का दान करता है। एव जो एक जीव के लिए अभयदान (रक्षा) देता है, वह पुरुष फल से समान नही है। अर्थात्—उसे दोनो दानो की अपेक्षा अभय दान (जीवन-दान) का विशेष फल प्राप्त होगा ॥५७॥ जिसप्रकार प्राणी, अपने शरीर के लिए दु ख देना नही चाहते उसीप्रकार यदि दूसरे प्राणी को दु'ख देना नही चाहे तो उन प्राणियो को दु ख उत्पन्न नही होता ॥५८॥ हे माता! उक्त तीनो श्लोक, कल आपने ही हिरण्यगर्भ नाम के मन्त्री के पुत्र 'नीतिबृहस्पति' से मुझे पढाये थे। हे माता! तुम उक्त श्लोको को किसप्रकार से भूल गईं? जब पापकर्म करना चाहिए, उसमे क्या दोष है? यदि घाते जानेवाले प्राणी की तरह अपनी आत्मा को आपत्तियो के सुलभ व व्यापार-युक्त विस्तार न होवें। अर्थात्—जब घाते जानेवाले प्राणी की तरह घातक पुरुष को विशेष दु ख भोगने पडते हैं तब हिंसादि पातक क्यो करना चाहिए? जब ब्राह्मणो व देवताओ के सन्तुष्ट करने के लिए एव शारीरिक पुष्टि के लिए ससार मे प्राणिहिंसा को छोडकर

सन्तर्पणार्थं द्विजदेवताना पुष्ट्यर्थमङ्गस्य च सन्त्युपाया । अन्येऽपि लोके बहव प्रशस्ता सन्त कुत पापमिहाचरन्ति ॥५९॥

शुक्रशोणितसभूतमशुचीना निकेतनम् । मास चेत्प्रीणयेद्देवानेत व्याघ्रानुपास्महे ॥ ६० ॥

मिथ्या चाय प्रवाद पशूपहारेण देवतास्तुष्यन्तीति ।

हता कृपाणेन वनेऽपि जन्तवो बाढ म्रियन्ते गलपीडनाच्च । अदन्ति चैतान्स्वयमेव देव्यो व्याघ्रा स्तवार्हा परमत्र सन्तु ॥६१॥

कृत्वा मिष दैवमय हि लोको मद्ये च मासे च रति करोति । एव न चेद्दुर्गतिसगति स्याद्दुष्कर्मणा कोऽपर एव मार्ग ॥६२॥

यदि च हिंसैव परमार्थतो भवति धर्म , कथ तर्हि मृगयाया पापर्धिरिति रूढि , मासस्य च पिधायानयनम्, तत्सस्कर्तुर्गृहाद्बहिर्वास , रावणशाक इति नामान्तरव्यपदेश , पर्वदिवसेषु वर्जन च

यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत । तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातका ॥ ६३ ॥

इति कथमिय पौराणिकी श्रुति ।

दूसरे भी बहुत से प्रशस्त उपाय है तब हे माता ! सज्जन पुरुष इस लोक मे किस कारण से हिंसादि पापकर्म करते है ? ॥५९॥ हे माता ! मास, जो कि शुक्र (वीर्य) व शोणित (रुधिर) से उत्पन्न हुआ है एव विष्ठादि का स्थान है, यदि देवताओ को सन्तुष्ट करता है, तो आप लोग आइए, हम व्याघ्रो (चीतो या वाघो) की उपासना करते है, क्योकि वे भी मास से सन्तुष्ट होते है ॥६०॥

'पशुओ की बलि करने से देवता सन्तुष्ट होते हैं' यह कथन असत्य है । हे माता ! पशु-आदि प्राणी वन व नगर मे तलवार से मारे हुए विशेषरूप से मरते है एव गला-मरोडने से भी मरते है । कुलदेवता-आदि इन मरे हुए पशुओ का स्वय भक्षण करते हैं । अर्थात्—जब ये हम लोगो से दान-ग्रहण करने मे कुछ अपेक्षा करते है तब तो निश्चय से इस ससार मे व्याघ्र ही स्तुति करने योग्य होवे, क्योकि व्याघ्रादि हिसक जन्तु तो पशुओ को मारकर स्वय भक्षण करते है और देवता तो हम लोगो को प्रेरित करके मरण कराकर बाद मे खाते है, अत देवता स्तुति-योग्य नही है ॥६१॥ यह पापी मनुष्य, निश्चय से देवता का बहाना करके मद्यपान व मास भक्षण मे अनुराग करता है । यदि इस प्रकार का देवता का बहाना न होता तो पापियो को दूसरा कौन सा दुर्गति (नरकादिगति) का मार्ग होता ? क्योकि यही तो—देवता का मिष ही—पापियो का दुर्गति-मार्ग है ॥६२॥

हे माता ! यदि प्राणियो का बध करना ही निश्चय से धर्म है तो शिकार की 'पापर्धि' नाम से प्रसिद्धि क्यो है ? और मास की 'पिधायआनयन' (ढक करके लाने लायक) नाम से प्रसिद्धि किस प्रकार से है ? एव मास पकानेवाले का 'गृहाद्बहिर्वास' (घर से वाहिर निवास करना), तथा मास का 'रावण शाक' इस प्रकार का दूसरा नाम-कथन किस प्रकार से है ? एव अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व एकादशी-आदि पर्व दिनो मे मास का त्याग किस प्रकार से है ?

हे युधिष्ठिर महाराज ! जितने पशुओ के रोम पशु-शरीरो मे वर्तमान है उतने हजारो वर्ष पर्यन्त पशुघातक नरको मे पकते है ॥६३॥ इस प्रकार की यह महाभारत शास्त्र की श्रुति किस प्रकार से है ? प्राणो के घात से निवृत्त होता, अर्थात्—समस्त प्राणियो की रक्षा करना, दूसरो के धन का अपहरण करने का जीवन पर्यन्त नियम करना, मिथ्या भाषण का त्याग, अर्थात्—हित, मित व प्रिय वचन बोलना, मुनियो या दूसरे अतिथियो की आहार-वेला मे अपनी शक्ति के अनुसार दान देना, पर पुरुषो की युवतिजनो से मौन भाव, अर्थात्—दूसरे की स्त्रियो को प्रशसा न करना—परस्त्रियो के प्रति मातृ-भगिनी-भाव एव लोभरूपी जल

प्राणाघातान्निवृत्ति परधनहरणे सयम सत्यवाक्य काले शक्त्या प्रदेय युवतिजनकथामूकभाव परेषाम् ।
तृष्णास्त्रोतोविबन्धो गुरुषु च विनति सर्वभूतानुकम्पा सामान्य सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधि श्रेयसामेष मार्ग ॥६४॥

इति कथमेतत्सर्वपथीनमुवाच **वररुचि** ।

होमस्नानतपोजाप्यब्रह्मचर्यादयो गुणा । पुसि हिंसारते पार्थ चाण्डालसरसीसमा ॥६५॥

इति कथमिय **व्यासोक्ति** ।

भूषितोऽपि चरेद्धर्म यत्र तत्राश्रमे रत । सम सर्वेषु भूतेषु न लिङ्ग धर्मकारणम् ॥६६॥

इति कथमिदमाह **वैवस्वतो मनु** ।

अवक्षेपेण हि सतामसता प्रग्रहेण च । तथा सत्त्वेष्वभिद्रोहादधर्मस्य च कारणात् ॥६७॥
विमाननाच्च मान्याना विश्वस्ताना च घातनात् । प्रजाना जायते लोपो नृपतेश्चायुष क्षय ॥६८॥

कथमिदमभाषत **षाड्गुण्यप्रस्तावे भारद्वाज** ।

चातुर्मास्येष्वर्धमासिकम, दर्शपौर्णमासयोश्चातूरात्रिकम्, राजनक्षत्रे गुरुपर्वणि च त्रैरात्रिकम्, एवमन्यासु चोपहतासु तिथिषु द्विरात्रमेकरात्र वा सर्वेषामघात घोषयेदायुर्बलवृद्धयर्थमिति कथमुपनिषदि वदति स्म **विशालाक्ष.** ।

प्रवाह का बाधना—अर्थात्—परिग्रह का परिमाण करना, गुरुजनो के लिए नमस्कार करना एव समस्त प्राणियो के प्रति दयालुता, यह सर्वसाधारण सर्वशास्त्रो मे पुण्यो का मार्ग है, जिसे कोई उल्लङ्घन नही करता ॥६४॥ वररुचि—कात्यायन नाम के विद्वान् ने यह सर्वसाधारण कल्याण का मार्ग किस प्रकार कहा ?

हे अर्जुन ! होम, स्नान, सातपन-आदि तप करना, मन्त्रो का जाप करना, ब्रह्मचर्य-आदि गुण, हिंसक पुरुष मे वर्तमान हुए चाण्डाल के तालाव के जल-सरीखे अग्राह्य हैं ॥६५॥ इस प्रकार का यह व्यास-वचन किस प्रकार से है ? समस्त प्राणियो मे समता (दयालुता) परिणाम रखता हुआ गृहस्थ भी जिस किसी आश्रम (ब्रह्मचर्य-आदि) मे रत हुआ धर्म का अनुष्ठान करे, जटी व मुण्डी-आदि चिह्न धर्म का कारण नही है ॥६६॥ इस प्रकार यह सूर्यपुत्र मनु ने किस प्रकार कहा ? निश्चय से शिष्ट पुरुषो का तिरस्कार करने से, दुष्ट पुरुषो के स्वीकार (आदर) करने से, प्राणियो का घात करने से, पाप के प्रयोजन से, माननीय (पूज्य) पुरुषो का भङ्ग करने से, एव विश्वस्त पुरुषो का घात करने से प्रजाजनो का विनाश होता है और राजा की आयु क्षीण (नष्ट) होती है ॥६७-६८॥ यह वचन षाड्गुण्य (सन्धि व विग्रह-आदि) के अवसर पर भारद्वाज नाम के ब्राह्मण विद्वान् ने किस प्रकार कहा ?

'राजा का कर्त्तव्य है कि वह आयु व शक्ति की वृद्धि के लिए वर्षा काल मे पन्द्रह दिन तक समस्त प्राणियो के घात न करने की घोषणा करे। तथा वर्षा ऋतु मे अमावस्या व पूर्णमासी के समय चार दिन तक, अर्थात् वर्षा ऋतु सम्बन्धी दो अमावास्या व दो पूर्णमासी इस प्रकार चार दिन तक, समस्त प्राणियो के बध न करने की घोषणा करे। इसी प्रकार राज नक्षत्र (जिस नक्षत्र मे राजा का जन्म हुआ है) मे तथा सक्रान्ति आदि गुरुपर्व मे तीन दिन तक समस्त प्राणियो की हिंसा न करने की घोषणा करे। इसी प्रकार दूसरी उपहत (ग्रहण-आदि से दूषित) तिथियो मे दो दिन तक अथवा एक ही दिन समस्त प्राणियो के घात न करने की घोषणा करे।' इस प्रकार वेदान्त शास्त्र मे विशालाक्ष (प्रभाकर ऋषि) ने किस प्रकार कहा ? 'मधु व मास-आदि का आहार शिष्ट पुरुषो द्वारा निन्दित है' इस प्रकार शिकार करने की जीविका मे आनन्द माननेवाले

आहार साधुजनविनिन्दितो मधुमासादिरिति कथ चेद मृगयोपयोगानन्द शबरवृन्द निन्दितावादि बाणेन।

माता--(स्वगतम्।) अहो, मदीये सुते साप्रन जैनजनवात इव लग्न प्रतिभासते। विषमश्च खलु भवत्वय जन, यस्माच्चिर समयान्तरोपरचितप्रतीकाराण्यप्यन्येषा मनासि प्रायेण पश्यतोहर इव हरत्यार्हतो लोक। तद्वासनावासित हि चेतो न ब्रह्मणापि शक्यतेऽन्यथाकर्तुम्। दुश्चिकित्स्यश्च खलु करिणा कूटपाकल इव प्राणिना क्षपणकोपनीतश्चित्तस्याभिनिवेश। कथित च मेऽपरेद्युरेव **शिवभूतेः** पुरोहितस्यात्मजेन **शिवशर्मणा,** यथा--अम्बादेवि, राजाद्य भ्रमणिकाया गतस्तरुमूलनिवासिनमवासससमिन्द्रार्चितचरणनामधेयमद्राक्षीत्। तद्दर्शननिवारणे च कृतकापेयमपि मामवमत्य तेन सह महती वेलामिति प्रश्नोत्तरपरम्पराप्रवृत्तमुदन्तमकार्षीत्—

को भगवन्निह धर्मो यत्र दया भूप सर्वसत्त्वानाम्। नो नामाप्तो यत्र हि न सन्ति सासारिका दोषा ॥ ६९ ॥

भीलो के समूह की निन्दा करते हुए 'बाण' नाम के महाकवि ने यह किस प्रकार कहा ? फिर यशोधर महाराज की माता (चन्द्रमति) अपने मन मे निम्न प्रकार चिन्तवन करती है—आश्चर्य है कि इस समय मेरे पुत्र मे जैन लोगो की वासना सगत हुई सरीखी प्रतिभासित होती है। निश्चय से यह जैनलोक असाध्य होता है। क्योकि यह चोर-सरीखा दूसरो के चित्तो को, जिनके प्रतीकार (प्रतिक्रिया या चिकित्सा) दूसरे शास्त्रो से रचे गए है, अर्थात्—जिनकी वासना दूसरे शास्त्रो से रची गई है, प्राय करके हरण कर लेता है। अर्थात्—उनमे अपनी वासना लगा देता है (अपने धर्म मे ले आता है)। जैन लोक की भावना से वासित हुए मन को ब्रह्मा भी अन्यथा करने को समर्थ नही है। दिगम्बर मुनि द्वारा प्राप्त कराया गया प्राणियो के मन का अभिप्राय, उस प्रकार चिकित्सा करने के अयोग्य है अथवा प्रतीकार करने के अयोग्य है जिस प्रकार हाथियो का कूटपाकल (सद्य प्राणहर ज्वर) चिकित्सा करने के अयोग्य होता है। परसो शिवभूति पुरोहित के पुत्र शिवशर्मा ने मुझ से कहा था। हे माता! वन क्रीडार्थ गए हुए यशोधर महाराज ने आज वृक्ष की मूल मे बैठे हुए 'इन्द्रार्चितचरण' नाम के दिगम्बर मुनि को देखा। उन्होने उसके साथ गोष्ठी निवारण मे चञ्चलता करनेवाले मुझे तिरस्कृत करके उस मुनि के साथ विशेष समय तक इसप्रकार का वार्तालाप किया, जो प्रश्न-परम्परा व उत्तर-परम्परा मे प्रवृत्त हुआ था, अर्थात्—मेरे राजा सा० (यशोधर महाराज) ने प्रश्न-परम्परा की और प्रस्तुत मुनि ने उत्तर-परम्परा दी।

अब यशोधर महाराज व उक्त 'इन्द्रार्चितचरण' नामके मुनि के मध्य हुई प्रश्नोत्तरमाला का निरूपण करते है—

राजा—हे भगवन्! इस ससार मे धर्म का क्या स्वरूप है?

ऋषि—हे राजन्! जिस धर्म मे समस्त प्राणियो की दया है, उसे धर्म कहते है।

राजा—हे ऋषिराज! आप्त (ईश्वर) का क्या स्वरूप है?

ऋषि—हे राजन्! जिसमे क्षुधा व पिपासा-आदि ससार मे होनेवाले अठारह दोष नही है वही आप्त है ॥६९॥

राजा—आप्त के जानने का क्या उपाय है?

ऋषि—हे राजन्! पूर्वापर के विरोध से रहित निर्दोष शास्त्र ही आप्त के जानने का उपाय है।

राजा—हे भगवन्! तपश्चर्या—दीक्षा—का क्या स्वरूप है?

तज्ज्ञाने क उपाय शास्त्र यच्चैकवाक्यतायातम् । तर्हि तप कि विषयव्यासङ्गविनिग्रहो यत्र ।। ७० ।।
जीव को यत्रैते भवन्ति बुद्ध्यादय स्वसवेद्या । तस्यामूर्तस्य सत शरीरबन्ध कथ भवति ।। ७१ ।।
स्वकृतै कर्मभिरेष प्रयाति जीव शरीरबन्ध वा । वातेरितै परागैर्भवति यथा सगमो नभस ।। ७२ ।।
तैरेव गर्भवासे स नीयते निजफलोपभोगार्थम् । अशुचिनि मदनद्रव्यैर्निपात्यते श्रोत्रियो यद्वत् ।। ७३ ।।
अस्मादृशा स धर्म कथ तु निजशक्तितो व्रतग्रहणात् । कि व्रतमिह वाञ्छाया यो दर्शनपूर्वको नियम ।। ७४ ।।
कि दर्शनमिदमाहुर्या श्रद्धा युक्तित पदार्थेषु । के पुनरमी पदार्था यैरेतद्वर्तते जगच्चक्रम् ।। ७५ ।।

ऋषि—हे राजन् ! जिसमे विषयो (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप व शब्द) की सगति का त्याग है, उसे तप—दीक्षा—कहते है ।।७०।।

राजा—हे ऋषिराज ! आत्मा (जीव) का क्या स्वरूप है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिसमे स्वसवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होने योग्य बुद्धि, सुख व दु ख-आदि गुण पाये जाते है, उसे जीव (आत्मा) कहते है ।

राजा—हे भगवन् ! जब आत्मा अमूर्तिक है तो उसके साथ मूर्तिक शरीर का बन्ध किस प्रकार से हुआ ? ।।७१।।

ऋषि—हे राजन् ! स्वय अपने द्वारा उपार्जन किये हुए कर्मो द्वारा यह जीव वैसा शरीर के साथ बन्ध को प्राप्त होता है जैसे वायु द्वारा प्रेरित हुई धूलियो से आकाश का सगम होता है ।।७२।। और उन्ही कर्मो के द्वारा गर्भवास (सम्मूर्च्छन, गर्भ व उपपाद लक्षणवाले जन्म स्थान) मे अपने पुण्य-पाप लक्षणवाले कर्मो के सुख-दु ख रूप फलो के भोगने के लिए लाया जाता है—जिसप्रकार चारो वेदो का पढनेवाला ब्राह्मण विद्वान्, धतूरा व मादक कोदो द्वारा विष्ठा मे पटका जाता है ।।७३।।

राजा—हे भगवन् ! वह पूर्व मे कहा हुआ समस्त जीवो मे दया लक्षणवाला धर्म हम-सरीखे गृहस्थ पुरुषो को किसप्रकार से प्राप्त होता है ?

ऋषि—हे राजन् ! अपनी शक्ति के अनुसार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग-आदि व्रतो के पालन करने से उक्त धर्म प्राप्त होता है ।

राजा—हे भगवन् ! इस ससार मे व्रत क्या है ?

ऋषि—हे राजन् ! सम्यग्दर्शन (तत्व-श्रद्धा) पूर्वक इच्छाओ के निरोध (रोकने) को व्रत कहते है ।।७४।।

राजा—हे ऋषिवर ! सम्यग्दर्शन किसे कहते है ?

ऋषि—हे राजन् ! तत्वो (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा व मोक्ष) को तर्कशास्त्र के अनुसार यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते है ।

राजा—हे भगवन् ! वे श्रद्धा के योग्य तत्व (पदार्थ) कौन है ?

ऋषि—हे राजन् ! जिन जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा व मोक्ष-आदि पदार्थो से यह तीन लोक व्याप्त है, वे ही पदार्थ है[1] ।।७५।।

---

१ प्रश्नोत्तरालकार ।

तत्प्रभृति न साभिलाष सेवते मधूनि, न मासमभिनन्दति, नाखेटकमनुमन्यते, न हव्यकव्यार्थमालभते पशून्, श्रुतिस्मृतिवाक्येषु च प्रतिकूलतया प्रयच्छत्युत्तराणीति । (प्रकाशम् । मुक्तौष्ठतया प्रसार्य समीपवर्तिन ।)

रे मम पुत्रस्य च तन्त्रस्य च सर्वस्वखादिन, प्रजाना च लञ्चालुञ्चा, निशाचरा, किमेवमस्मत्पुत्रो भवता नाशयितु युक्त । ननु सदाह निवारयामि भवत, यदुतायमद्याप्यपरिपक्वबुद्धि व्यलीकवैदग्ध्यात्मसमारोपितपण्डितमन्यभाव श्रीविलासरसवासनासजातसुकुमारप्रकृतिश्चन्द्रग्रहिल इव प्रसिद्धेष्वपि वस्तुषु विस्मयोत्फुल्ललोचनश्छिद्यमानगलश्छगल इवाहितकारिणोऽपि जनस्य मुग्धतयातीवमुखनिरीक्षणकुतूहली कदाचिदपि जगन्मोहनाभ्यस्तकौशलैरिन्द्रजालकैरिव दिगम्बरैर्न सगमयितव्य इति कोपसकम्पा वाचमुच्चारयन्ती तर्जयित्वा च मनाग्भ्रूक्षेपेण माम्—अहो असजातबुद्धिपरिपाक चार्वाक, समाकर्णय । ज्ञात खलु भवतोऽभिप्राय ।

तत्राहमेव समर्था दातुमुत्तरमित्यभिप्रेत्येदमवादीत्—

न तर्पण देवपितृद्विजाना स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता ।
श्रुते स्मृतेर्बाह्यतरे च धीस्ते धर्मे कथ पुत्र दिगम्बराणाम् ॥ ७६ ॥

शिवभूति पुरोहित के पुत्र शिवशर्मा ने कहा—हे माता ! तभी से यशोधर महाराज मधु-आदि को रुचि-पूर्वक सेवन नही करते, न मास की प्रशसा करते है और न शिकार की अनुमोदना करते है एव देव व पितृ कार्य मे पशु-हिंसा नही करते और वेद व स्मृति शास्त्र के वचनो मे पराड्मुखतापूर्वक उत्तर देते है। उक्त बात को सुनकर चन्द्रमति माता निकटवर्ती सेवक जनो की ओर [क्रोध वश] ओष्ठ दीर्घ करके उन्हे उलाहना देती हुई प्रकट रूप से निम्नप्रकार कहती है—मेरे पुत्र व सैन्य का समस्त धन भक्षण करनेवाले एव प्रजा से घूँस लेनेवाले अरे पिशाचो ! क्या मेरा पुत्र (यशोधर) आपको इसप्रकार के दिगम्बरो का सगम कराकर विनाश करने योग्य है ? निश्चय से मै सदा आप लोगो को निषेध करती हूँ कि हमारा पुत्र अब भी परिपक्व बुद्धिवाला• नही है एव जिसने झूँठी विद्वत्ता द्वारा अपनी आत्मा मे अपने को पण्डित मानने का अभिप्राय आरोपित किया है और लक्ष्मी की क्रीडा सम्बन्धी भोगानुराग की वासना द्वारा जिसकी सुकुमार प्रकृति उत्पन्न हुई है एव जो प्रसिद्ध पदार्थो मे भी वैसा आश्चर्य से नेत्रो को प्रफुल्लित करनेवाला है जैसे चन्द्रग्रहिल (जो गर्भिणी स्त्री चन्द्रग्रहण होने पर खुली जगह शयन करती है उसका पुत्र चन्द्रग्रहिल होता है) बालक विख्यात पदार्थो मे भी आश्चर्य से नेत्रो को प्रफुल्लित करने का विनोद करनेवाला होता है। एव जो मूर्खता से वैसा अहितकारी मनुष्य का भी विशेष रूप से मुख-निरीक्षण करने का विनोद करनेवाला है जैसे कण्ठविदारण किया जानेवाला बकरा मूर्खता से अहितकारी जन (घातक—कसाई) का विशेष रूप से मुख निरीक्षण का विनोद करनेवाला होता हे। ऐसा हमारा पुत्र, उन दिगम्बरो के साथ कदापि सगम कराने योग्य नही है, जो कि इन्द्रजालियो-सरीखे जगत को वशीकरण करने मे 'प्रवीणता का अभ्यास किये हुए है।' इसप्रकार क्रोध से कम्पन-युक्त वाणी उच्चारण करती हुई मेरी माता चन्द्रमति ने कुछ भृकुटि-क्षेप द्वारा मेरा अनादर करके मुझसे कहा—अहो बुद्धि परिपाक की उत्पत्ति से शून्य व नास्तिक मतानुयायी यशोधर ! सुन। निश्चय से मैने आपका अभिप्राय जान लिया। मै ही उस विषय मे उत्तर देने मे समर्थ हूँ, ऐसा निश्चय करके उसने मुझसे निम्न प्रकार कहा—

हे पुत्र ! इन दिगम्बरो के धर्म मे देवतर्पण, पितृतर्पण व ब्राह्मणतर्पण नही है एव स्नान व होम की बात भी नही है। ये लोग वेद व स्मृति (धर्म-शास्त्र) से विशेष रूप से वाह्य है, ऐसे दिगम्बरो के धर्म मे तुम्हारी बुद्धि किसप्रकार प्रवृत्त हो रही है ? ॥७६॥ जो दिगम्बर साधु ऊपर खड़े हुए पशु-सरीखे आहार

उद्धा पशूना सदृश ग्रसन्ते ये लज्जया शौचगुणेन हीना । त्वत्त परस्तै सह को हि गोष्ठी करोतु देवद्विजनिन्दकैश्च ॥७७॥
नामापि पूर्वं न समस्त्यमीषामभूत्कलो दर्शनमेतदीयम । देवो मनुष्य किल सोऽप्यनेकस्त एवमिच्छन्ति च निर्विचारम् ॥७८॥
धर्मे प्रमाण खलु वेद एव वेदात्पर दैवतमत्र नास्ति । यो वेद सम्यड् न हि वेदमेन वर्णाश्रमाचारमसौ न वेद ॥ ७९ ॥
अथास्ति भक्तिस्तव दैवतेषु हर हरि वार्चय भास्कर वा । नयन्ति रुष्टा स्वपुरी क्षणेन तुष्टा प्रयच्छन्ति च राज्यमेते ॥८०॥

राजा—(स्वगतम् ।) अहो, निसर्गादङ्गारमलिने हि मनसि न भवति खलु सुधासबन्धोऽपि शुद्धये । यत ।

अन्तर्न विज्ञाय मुधानुरागिता स्वभावदुष्टाशयता विमूढता ।
युक्तोपदेशे च विगृह्य वादिता भवन्त्यमी तत्त्वविबन्धहेतव ॥ ८१ ॥

अपि च । य कार्यवादेषु करोति सधा स्वपक्षहानौ च भवेद्विलक्ष्य ।
तत्र स्वय सामपरेण भाव्य केनाप्युपायेन फल हि साध्यम् ॥ ८२ ॥

इय हि तावज्जननी मदीया राज्यस्य साक्षादधिदेवता च । सर्वं तदस्या धटते विधातु प्रभुयदेवेच्छति तत्करोति ॥ ८३ ॥

(प्रकाशम् ।) अज्ञानभावादथ चापलाद्वा कारुण्यतो वाधिगतावकाश ।
पूर्वं त्वयैवाहितकैर्गुणैर्वा ब्रुवे यदि क्षन्तुमनास्त्वमम्ब ॥ ८४ ॥

करते है। जो निर्लज्ज तथा शौचगुण से हीन है। उन दिगम्बरो के साथ, जो हरि (विष्णु), हर व ब्रह्मा-आदि देवताओ तथा ब्राह्मणो की निन्दा करनेवाले है, तुमको छोडकर दूसरा कौन पुरुष स्पष्ट रूप से गोष्ठी (वार्ता) करता है? ॥७७॥ हे पुत्र! इन दिगम्बरो का पूर्व मे (कृतयुग, त्रेता व द्वापर-आदि) मे नाम भी नही है। केवल कलिकाल मे ही इनका दर्शन हुआ है। इनके मत मे निश्चय से मनुष्य ही देव (ईश्वर) हो जाता है एव वह ईश्वर भी बहुसख्या-युक्त (चौबीस) है। वे दिगम्बर ही इसप्रकार विचार-शून्य बातको मानते है ॥७८॥ हे पुत्र! धर्म के विषय मे निश्चय से वेद ही प्रमाण है। वेद को छोडकर ससार मे देव नही है। अर्थात्—वेद ही देवता है। जो पुरुष भली प्रकार इस वेद को नही जानता, वह चारो वर्णो (ब्राह्मणादि) तथा चारो आश्रमो (ब्रह्मचारी-आदि) के आचार को नही जानता ॥७९॥ हे पुत्र! यदि तुम्हारी देवताओ मे भक्ति है तो श्री महादेव अथवा लक्ष्मीकान्त अथवा श्री सूर्य देवता की पूजा करो। क्योकि ये देवता कुपित हुए मृत्यु प्राप्त करते है व सन्तुष्ट हुए राज्य देते है ॥८०॥

उक्त बात सुनकर यशोधर महाराज अपने मन मे विचारते है—

अहो आत्मन्! निश्चय से स्वभाव से अङ्गार-सरीखे मलिन मन को अमृत से प्रक्षालन भी शुद्धि-निमित्त नही होता। क्योकि—ये निम्न प्रकार चार पदार्थ तत्वज्ञान के निषेध के कारण है। चित्तवृत्ति न जान करके वृथा स्नेह करना, स्वभाव से दुष्ट हृदयता, अज्ञानता व युक्त उपदेश मे वलात्कार से वाद विवाद करना ॥८१॥ जो पुरुष कर्तव्य-विचारो मे प्रतिज्ञा करता है। अर्थात्—'यदि ऐसा नही होगा तो मै अपनी जीभ काट लूँगा' इत्यादि प्रतिज्ञा करता है। एव जो अपने पक्ष के निग्रह-स्थान (पराजय) होने पर व्याकुलित या लज्जित हो जाता है उस पुरुष के प्रति मृदुभाषी होना चाहिए, क्योकि स्पष्ट है कि किसी भी उपाय से कर्तव्य सिद्ध करना चाहिए ॥८२॥ यह चन्द्रमती निश्चय से मेरी हितकारिणी माता है और इतना ही नही, अपितु राज्य की अधिष्ठात्री भी है। अत इसको मेरे विषय मे सभी कार्य (राज्य से निकालना-आदि) करने का अधिकार प्राप्त है। क्योकि स्वामी जो चाहता है, वही करता है अर्थात्—प्रकरण मे माता जो चाहेगी वही होगा ॥८३॥

पुत्रस्य पित्रानुचरस्य भर्त्रा शिष्यस्य वादो गुरुणा च सार्धम् । सुशिक्षितस्यापि सुमेधसोऽपि न श्रेयसे स्यादिह नाप्यमुत्र ॥८५॥

देवाभिषेकार्चनवन्दनानि जपप्रसख्याश्रुतपूजनानि । यथा स लोक कुरुते तथाम्ब प्रष्टव्य एवैष जनो भवत्या ॥ ८६ ॥

मर्त्येषु चेत्सद्मसु नाकिना वा विधाय पुण्य पितर प्रयाता । तेषामपेक्षा द्विजकाकभुक्तै पिण्डैर्भवेद्वर्षकृतैर्न कापि ॥ ८७ ॥

गत्यन्तरे जन्मकृता पितॄणा स्वकर्मपाकेन पुराकृतेन । तत्रापि किं तैर्न च दृष्टमेतत्तृप्ति परेषा परतर्पणेति ॥ ८८ ॥

येनापि केनापि मिषेण सान्यैर्धर्मो विधेय स्वहितैकतानै । अनेन कामेन कृत पुराणैर्मार्गोऽयमात्माभ्युदयप्रवीणै ॥ ८९ ॥

निर्निमित्त न कोऽपीह जन प्रायेण धर्मधी । अत श्राद्धादिका प्रोक्ता क्रिया कुशलबुद्धिभि ॥ ९० ॥

किं च पर्वतीर्थातिथिश्राद्धवारदासरतारका । नित्य दातुमशक्ताना पुण्यायोक्ता पुरातनै ॥ ९१ ॥

जन्मैकमात्माधिगमो द्वितीय भवेन्मुनीना व्रतकर्मणा च । अमी द्विजा साधु भवन्ति तेषा सतर्पण जैनजन करोति ॥ ९२ ॥

द्वयेन मार्गेण जगत्प्रवृत्त गृहस्थवृत्त्या यतिकर्मणा च । तस्य द्वयस्यापि विभिन्नसृष्टे शीतोष्णवन्नैकतया प्रवृत्ति ॥ ९३ ।

अब यशोधर महाराज स्पष्ट कहते हैं—हे माता ! अवसर प्राप्त किया हुआ मै यदि अज्ञानता से अथवा चञ्चलता से अथवा दयालुता से अथवा पूर्व मे आपके द्वारा स्थापित किये हुए गुणो के कारण अपना पक्ष-स्थापन करूँ तो आपका हृदय क्षमा करने योग्य होवे ॥८४॥ हे माता ! पुत्र का पिता के साथ, सेवक का स्वामी के साथ एव शिष्य का गुरु के साथ वाद विवाद करना इस लोक व परलोक मे कल्याणकारक नही है, चाहे वह (पुत्र-आदि) कितना ही सुशिक्षित (विद्वान्) व प्रशस्त बुद्धिशाली भी हो ॥८५॥ हे माता ! वह प्रशस्त आर्हत (जैन) लोक, जिसप्रकार से देवस्नपन, पूजन, स्तवन, मन्त्र-जाप, ध्यान व श्रुत पूजा करता है उसीप्रकार से आप इससे पूछ सकती है, मै क्या कहूँ ॥८६॥ हे माता ! जब पूर्वज लोग पुण्य कर्म करके यदि मनुष्यजन्मो मे अथवा स्वर्ग लोको मे प्राप्त हो चुके तब उन्हे उन श्राद्धपिण्डो की कोई भी अपेक्षा नही होनी चाहिए, जो कि ब्राह्मण व काको द्वारा भक्षण किये गये है एव जो एक वर्ष मे किये गए है ॥८७॥ हे माता ! पूर्वजन्म मे उपार्जन किये हुए अपने कर्मो के उदय से दूसरी गति (स्वर्गादि) मे जन्म धारण करनेवाले पूर्वजनो की दूसरी गति (स्वर्गादि) मे भी उन पूर्वजनो ने क्या यह नही देखा ? अथवा नही जाना ? कि 'ब्राह्मणादि का तर्पण पिताओ (पूवजनो) को तृप्त करनेवाला है' । क्योकि वे भी श्राद्ध-आदि नही करते और न वैसी प्रवृत्ति करते है ॥८८॥ हे माता ! 'आत्म-हित मे श्रद्धा रखनेवाले सत्पुरुषो को, जिस किसी भी बहाने से धर्म (दान-पुण्यादि) करना चाहिए' इस इच्छा मे अपनी आत्मा की सुख-प्राप्ति करने मे विचक्षण चिरन्तन पुरुषो ने यह श्राद्ध लक्षणवाला मार्ग किया है ॥८९॥ हे माता ! इस ससार मे कोई भी पुरुष, निष्कारण प्राय धर्म मे बुद्धि रखनेवाला नही होता, इसलिए चतुर-बुद्धिशाली विद्वानो ने श्राद्ध-आदि क्रियाएँ कही है ॥९०॥

पूर्वाचार्यो ने निम्न प्रकार के अवसर सदा दान करने मे असमर्थ पुरुषो के पुण्य निमित्त कहे हैं—पर्व (अमावास्या-आदि), तीर्थ (गङ्गा-गोदावरी-आदि), अतिथि, श्राद्ध (पक्ष के मध्य मे आहार दान), वार (रविवार-आदि), वासर (जिस दिन मे पिता-आदि पूर्वजो का स्वर्गवास हुआ है) एव रोहिणी-आदि नक्षत्र ॥९१॥ हे माता ! मुनियो के दो जन्म होते है—पहला जन्म उत्पन्न होना (गर्भ से निकलना) और दूसरा जन्म दीक्षा कर्म द्वारा । इसलिए ये मुनि लोग यथार्थरूप से द्विज (दो जन्मवाले-ब्राह्मण) है । उन मुनि-लक्षण-युक्त ब्राह्मणो का सन्तर्पण (चार प्रकार के दान द्वारा सन्तुष्ट करना) जैनजन (आर्हत लोक) करता है [अतः हे माता ! आपने कैसे कहा कि जैनो के यहाँ ब्राह्मण-सन्तर्पण नही है] ॥९२॥

स्नात्वा यजेताप्तमथागम वा पठेद्यदि ध्यानमुपाचरेद्वा । स्नान भवेदेव गृहाश्रिताना स्वर्गापवर्गागमसगमाय ।। ९४।।

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव । पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणा स्वर्ग पुरा स्यादितरेषु पश्चात् ।। ९५ ।।

तदाह—रागद्वेषमदोन्मत्ता स्त्रीणा ये वशवर्तिन । न ते कालेन शुद्धयन्ति स्नानात्तीर्थशतैरपि ।। ९६ ।।

षट्कर्मकार्यार्थमथान्नशुद्ध्यै होमो भवेद्भूतबलिश्च नाम ।
सुधान्धस स्वर्गसुखोचिताङ्गा खादन्ति कि वह्निगत निलिम्पा ।।९७ ।।

तत् 'अग्निमुखा वै देवा' इत्यस्यायमर्थ—अग्निरिव भासुर मुख येषा ते तथा । चन्द्रमुखी कन्येतिवत्, न पुनरग्निरेव मुख येषामिति, प्रतीतिविरोधात् ।

मोक्षार्थमुद्युक्तधिया नराणा स्नानेन होमेन च नास्ति कार्यम् । गृहस्थधर्मो न यतेर्यतेर्वा धर्मो भवेन्नो गृहिण कदाचित् ।।९८।।

तदुक्तम्— विमत्सर कुचेलाङ्ग सर्वद्वन्द्वविवर्जित । सम सर्वेषु भूतेषु स यति परिकीर्तित ।। ९९ ।।

हे माता ! यह मनुष्य लोक दो धर्म-मार्गो से प्रवृत्त हुआ है । गृहस्थो के आचार मार्ग द्वारा और मुनियो के आचार-मार्ग द्वारा । उन दोनो गृहस्थ व मुनिमार्गो की एकरूप से प्रवृत्ति नही है । क्योकि उन दोनो के आचार (क्रियाएँ) शीत व उष्ण-सरीखे भिन्न-भिन्न हैं । अर्थात्—जिस प्रकार शीत स्पर्श पृथक् और उष्ण स्पर्श पृथक् है उसी प्रकार गृहस्थ धर्म पृथक् और मुनि धर्म पृथक् है । क्योकि दोनो के आचार एक सरीखे नही है ।।९३।। गृहस्थ श्रावक को स्नान करके सर्वज्ञ, वीतराग अर्हन्त भगवान् की, अथवा आगम की पूजा करनी चाहिए, अथवा शास्त्रो का अध्ययन या धर्म ध्यान करना चाहिए । इस प्रकार गृहस्थो का जल स्नान स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के सगम के लिए होता ही है । अर्थात्—गृहस्थ धर्मानुष्ठान करने से पूर्व मे स्वर्ग जाते है, व वहाँ से चय करके मनुष्य जन्म धारण करके मुनि धर्म के अनुष्ठान द्वारा मोक्ष प्राप्त करते है ।।९४।। हे माता ! नदी, तालाव, समुद्र व बावडी मे डुबकी लगाना और निकलना मात्र यदि पुण्य निमित्त है तो मछली-आदि जलचर जीवो को पूर्व मे स्वर्ग होना चाहिए और अन्य ब्राह्मणादि को बाद मे ।।९५।। शास्त्रकारो ने कहा है—जो पुरुष राग, द्वेष व मद से उन्मत्त है, अर्थात्—खाए हुए धतूरे-सरीखे है एव जो स्त्रियो मे लम्पट है, वे सैकडो तीर्थो मे स्नान करने से भी चिरकाल मे भी शुद्ध नही होते ।।९६।। स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और मारण इन छह कर्मो के लिए अथवा अन्न को पवित्र करने के लिए होम होता है । एव व्यन्तरो के सन्तुष्ट करने के लिए उनकी पूजा होती है । अमृत मात्र भोजन करने-वाले और स्वर्ग-सुख के योग्य शरीरवाले देवता क्या अग्नि मे आहुति किये हुए पदार्थ का भक्षण करते है ? अपि तु नही करते ।।९७।। उस कारण से 'अग्निमुखा वै देवा' इस वेदवाक्य का यह अर्थ है कि जिनका मुख अग्नि के समान प्रकाशमान है वे देव है । 'चन्द्रमुखी कन्येतिवत्' अर्थात्—जिस प्रकार उक्त पद का चन्द्र-सरीखे मुखवाली कन्या, यह अर्थ होता है । अर्थात्—इसका यह अर्थ नही है कि कन्या का मुख चन्द्र ही है । उसी प्रकार उक्त वेद वाक्य का यह अर्थ नही है कि 'अग्नि ही है मुख जिनका', क्योकि इस अर्थ मे प्रतीति से विरोध है । क्योकि मुख की प्रतीति दन्त, ओष्ठ, नासिका, नेत्र व श्रोत्रो से होती है, अग्निरूप से नही । मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बुद्धिवाले मुनियो को स्नान व होम से प्रयोजन नही है । तथ्य यह है कि गृहस्थ-धर्म, मुनि धर्म नही है एव मुनि धर्म कभी भी गृहस्थ का धर्म नही हो सकता ।।९८।। कहा है—जो पुरुष मात्सर्य (दूसरो के शुभ मे द्वेष करना) से रहित है एव जिसका शरीर मलिन वस्त्र-सा मलिन है तथा जो समस्त कलह से रहित होता हुआ समस्त प्राणियो मे समान बुद्धि रखता है, वह यति (मुनि) कहा गया है ।।९९।। स्नान तीन प्रकार का होता है—जल स्नान, व्रत स्नान और मन्त्र स्नान । उक्त तीन प्रकार के स्नानो

आपस्नान व्रतस्नान मन्त्रस्नान तथैव च । आपस्नान गृहस्थस्य व्रतमन्त्रैस्तपस्विन ॥ १०० ॥

न स्त्रीभि सगमो यस्य य परे ब्रह्मणि स्थित । त शुचि सवदा प्राहुर्मारुत च हुताशनम् ॥ १०१ ॥

इति । ऋच सामान्यथर्वाणि यजूष्यङ्गानि भारत । इतिहास पुराण च त्रयीद सर्वमुच्यते ॥ १०२ ॥

ततश्च श्रुतिस्मृतिभ्यामतीव बाह्योऽद्यत्वेनार्हत्समये कथ नाम ज्योतिषाङ्गे वचनमिदमुक्तम्—

समग्र शनिना दृष्ट क्षपण कोपित पुन । तद्भक्तस्तस्य पीडाया तावेव परिपूजयेत् ॥ १०३ ॥

साख्य योगो लोकायत चान्वीक्षिकी । तस्या च स्यादस्ति स्यान्नास्तीति नग्नश्रमणक इति बृहस्पतिराखण्डलस्य पुरस्त समय कथ प्रत्यवतस्थे ।

प्रजापतिप्रोक्ते च चित्रकर्मणि—

श्रमण तैललिप्ताङ्ग नवभिर्भित्तिभिर्युतम् । यो लिखेत्स लिखेत्सर्वा पृथ्वीमपि ससागराम् ॥ १०४ ॥

मे से जल स्नान गृहस्थ का होता है और व्रत व मन्त्रो द्वारा स्नान तपस्वो का होता है ॥१००॥ विद्वानो ने उस पुरुष को, जिसका स्त्रियो के साथ सगम नही है, एव जो आत्म भावना मे लीन हे, सदा शुचि कहा हे एव वायु तथा अग्नि को सदा पवित्र कहा है ॥१०१॥ ऋग्वेद-वाक्य, सामवेद-वाक्य, अथर्वण वेद के मन्त्र, यजुर्वेद वाक्य (काण्डी) और निम्न प्रकार वेद के छह अङ्ग । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष व निरुक्त। तथा इतिहास (महाभारत व रामायण), पुराण, मीमासा व न्याय शास्त्र इन १४ विद्यास्थानो को त्रयी विद्या कहते है ॥१०२॥

अब जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करते है—हे माता ! आपके कहे अनुसार जब जैन दर्शन वेद व स्मृति से विशेष बहिर्भूत है एव अभी कलिकाल से ही उत्पन्न हुआ है तब ज्योतिष शास्त्र मे, जो कि वेदाङ्ग है, यह निम्न प्रकार वचन कैसे कहा ? 'जो पुरुष पूर्ण रूप से शनैश्चर द्वारा देखा गया है। अर्थात्—जो सप्तम स्थान मे स्थित हुए शनैश्चर ग्रह द्वारा देखा गया है और जिसने दिगम्बर साधु को कुपित किया है, जिससे जब उसे शनैश्चर ग्रह सम्बन्धी व दिगम्बर मुनि सम्बन्धी पीडा (शारीरिक कष्ट) उपस्थित हुई है, तब उस पीडा के निवारण के लिए उसे शनिभक्त व दिगम्बर भक्त होते हुए शनैश्चर व दिगम्बर साधु की ही पूजा करनी चाहिए न कि उक्त पीडा के निवारणार्थ अन्य देवता की पूजा करनी चाहिए' ॥१०३॥ साख्य, नैयायिक व चार्वाक (नास्तिक) दर्शन ये तीनो आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्याएँ) है। अर्थात्—अध्यात्म विद्या के प्रतिपादक दर्शन है। एव उसी आन्वीक्षिकी (अध्यात्म विद्या) मे अनेकान्त (प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सद्रूप (विद्यमान)है और परचतुष्टय की अपेक्षा असद्रूप (अविद्यमान) है—इत्यादि) के समर्थक वचन को दिगम्बर साधु कहता है। अर्थात्—उक्त आन्वीक्षिकी विद्या मे जैन-दर्शन भी अन्तर्भूत है।' इसप्रकार बृहस्पति (सुराचार्य) ने इन्द्र के समक्ष उस अनेकान्त-समर्थक जैनदर्शन को कैसे प्रतिपादन किया ? अर्थात्—यदि जैनदर्शन नवीन प्रचलित होता तो बृहस्पति ने इन्द्र के समक्ष उसे आन्वीक्षिकी विद्या मे कैसे स्वीकार किया ? इसीप्रकार हे माता ! यदि जैन धर्म अभी का चला हुआ होता तो प्रजापति द्वारा कहे हुए चित्रशास्त्र मे निम्न प्रकार वचन कैसे कहे गए—जो चित्रकार, करोड सूर्य-सरीखे तेजस्वी व नव भित्तियो (कोट, वेदी-आदि नौ भित्तियो) से सयुक्त श्रमणतीर्थङ्कर परमदेव को चित्र मे लिखता है—चित्रित करता है—वह असख्यात समुद्र-सहित पृथिवी को भी चित्र मे लिखता है। अर्थात्—उसे पृथिवी, पाताल व स्वर्ग लोक को चित्र मे चित्रित करने का प्रचुर पुण्य होता है ॥१०४॥ इसीप्रकार सूर्यसिद्धान्त मे निम्नप्रकार अर्हत्प्रतिमा-सूचक वचन किसप्रकार कहे गये है ? वे तीर्थङ्कर परमदेव, जो कि

आदित्यमते च--

भवबीजाड्कुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमुपेता । ते देवा दशताला शेषा देवा भवन्ति नवताला ॥ १०५ ॥

बराहमिहरव्याहृते प्रतिष्ठाकाण्डे च--विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्रह्मणो मातॄणामिति मातृमण्डलविद शभो सभस्मा द्विज । शाक्या सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनाना विदुर्ये य देवमुपाश्रिता स्वविधिना ते तस्य कुर्यु क्रियाम् ॥ १०६ ॥

निमित्ताध्याये च-- पद्मिनी राजहसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधना । य देशमुपसर्पन्ति सुभिक्ष तत्र निर्दिशेत् ॥ १०७ ॥

तथा--उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेण्ठ-कण्ठ-गुणाढच-व्यास-भास-वोस-कालिदास-ब्राण - मयूर - नारायण-कुमार-माघ-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषु तेषूपाख्यानेषु च कथ तद्विषया महती प्रसिद्धि । तस्मात्

चत्वार एते सहजा समुद्रा यथैव लोके ऋतवोऽपि षट् च । चत्वार एते समयास्तथैव षड् दर्शनानीति वदन्ति सन्त ॥१०८॥

ससार के बीजरूप रागद्वेषो के अङ्कुर (मोहनीय कर्म) का क्षय करनेवाले है एव जो आठ महाप्रातिहार्य[1] रूपी ऐश्वर्य से व्याप्त है, दश हाथ परिमाणवाले होते है, अर्थात्--उनकी प्रतिमा दश हाथ की होनी चाहिए और बाकी के हरि व हरादि देवता नौ हाथ के परिमाणवाले होते है। अर्थात्—उनकी प्रतिमाएँ नौ हाथ की होनी चाहिए ॥१०५॥

इसीप्रकार हे माता! आपके कहे अनुसार यदि दिगम्बर मत (जैनदर्शन) अभी कलिकाल मे ही उत्पन्न हुआ है तो 'वराहमिहिर' आचाय द्वारा कहे हुए 'प्रतिष्ठाध्याय' मे निम्नप्रकार के वचन किसप्रकार से उल्लिखित है ? वेष्णवो को विष्णु की और आदित्योपजीवी ब्राह्मणो को श्री सूर्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। ब्राह्मण, ब्रह्मा की प्रतिष्ठा करना जानते है एव मातृमण्डल वेत्ताओ को सात माताओ[2] को व भस्म सहित ब्राह्मण को शभु की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। बौद्धो को बुद्ध की तथा शान्त मनवाले दिगम्बरो को जिनेन्द्रो की प्रतिष्ठा करना जानना चाहिए। अत जो गृहस्थ पुरुष जिस देव की सेवा मे तत्पर है, उन्हे अपनी शास्त्रोक्त विधि से उस देव की प्रतिष्ठा करनी चाहिए ॥१०६॥

इसीप्रकार निमित्ताध्याय मे निम्नप्रकार के वचन कैसे कहे गए ? कमलिनी, राजहस एव निष्परिग्रही दिगम्बर साधु जिस देश मे आते है। अर्थात्—कमलिनी जिस तालाव-आदि मे उत्पन्न होती है एव राजहस व दिगम्बर साधु जिस देश मे आते है, उसमे सुकाल कहना चाहिए ॥१०७॥ उसीप्रकार से उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढच, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ व राजशेखर-आदि महाकवियो के काव्यग्रन्थो मे उस उस अवसर पर एव भरतप्रणीत काव्याध्याय मे तथा सर्वजन प्रसिद्ध उन उन दृष्टान्त कथाओ मे किसप्रकार से दिगम्बर सम्बन्धी विशेष प्रसिद्धि वर्तमान है ? उस कारण हे माता! जिस प्रकार ये चारो समुद्र स्वभाव से उत्पन्न हुए वर्तमान है एव जिस प्रकार लोक मे छह ऋतुएँ (हिम, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा व शरद) भी वर्तमान है उसी प्रकार ये चार आगम (जैन,

---

१ अशोकवृक्ष, दिव्यपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चौसठचामर, दिव्यसिंहासन, करोड सूर्यो से अधिक नेत्रप्रिय शरीर-तेज, साडेबारह करोड दुन्दुभिबाजे और छत्र।

२ सप्तमातृमण्डल—ब्रह्माणी, इन्द्राणी, वाराही, भैरवी, चामुण्डा, कर्णमोटी व चर्चा।
यश० स० टी० प्र० ११३ से सकलित—सम्पादक

यावत्समर्थं वपुरुद्भूताया यावच्च पाणिद्वयमेति बन्धम् । तावन्मुनीनामशने प्रवृत्तिरित्याशयेन स्थितभोजनास्ते ॥१०९॥
बालाग्रकोटावपि यत्र सङ्गे निष्किचनत्व परम न तिष्ठेत् । मुमुक्षवस्तत्र कथ नु कुर्युर्मति दुकूलाजिनवल्कलेषु ॥११०॥
शौच निकाम मुनिपुगवाना कमण्डलो सग्रयणात्समस्ति । न चाङ्गुलौ सर्पविदूषिताया छिनत्ति नासा खलु कश्चिदत्र ॥१११॥

वदन्ति जैनास्तमिहाप्तमेते रागादयो यत्र न सन्ति दोषा ।
मद्यादिशब्दोऽपि च यत्र दुष्ट शिष्टै स निन्द्येत कथ नु धर्म ॥११२॥

परेषु योगेषु मनीषयान्ध प्रीति दधात्यात्मपरिग्रहेषु । तथापि देव स यदि प्रसक्तमेतज्जगद्देवमय समस्तम् ॥११३॥
लज्जा न सज्जा कुशल न शील श्रुत न पूत न वर प्रचार । मद्येन मन्दीकृतमानसाना विवेकनाशाच्च पिशाचभाव ॥११४॥
आतङ्कशोकामयकेतनस्य जीवस्य दु खानुभवाश्रयस्य । देहस्य को नाम कृतेऽस्य मास सचेतनोऽद्यात्क्षणभङ्गुरस्य ॥११५॥
उक्त च— तिलसर्षपमात्र यो मासमश्नाति मानव । स श्वभ्रान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥११६॥

जैमिनी, शाक्य व शकर) और छह दर्शन (जैन, जैमिनी, शाक्य, शङ्कर, साख्य व चार्वाक दर्शन) वर्तमान है, इस प्रकार सज्जन पुरुष कहते है ॥ १०८ ॥ [हे माता ! जो तूने कहा है कि 'उद्भा पशूना सदृश ग्रसन्ते' अर्थात्—'दिगम्बर साधु खडे होकर पशु-सरीखे भोजन करते है' उस कटु-आलोचना का उत्तर यह है] कि 'जब तक दिगम्बर साधुओ का शरीर ऊपर खडे होने मे समर्थ है एव जब तक दोनो हाथ परस्पर मे मिलते है तभी तक मुनियो की भोजन मे प्रवृत्ति होती है' इस अभिप्राय से वे खडे होकर भोजन करनेवाले है ॥१०९॥ हे माता ! जिस दिगम्बर शासन मे जब केश के अग्रभाग की नोक बराबर भी सूक्ष्म परिग्रह रखने पर उत्कृष्ट निष्परिग्रहता नही रह सकती तब उस दिगम्बर शासन मे मुमुक्षु साधु लोग दुपट्टा, मृगचर्म व वृक्ष की छाल रखने मे किस प्रकार बुद्धि करेंगे ? ॥ ११० ॥

हे माता ! [जो तूने कहा है कि दिगम्बर साधु 'शौचगुणेन हीना' अर्थात्—शौच गुण से हीन है वह भी मिथ्या है, क्योकि दिगम्बर मुनिश्रेष्ठ कमण्डलु ग्रहण करते है, इससे उनमे विशेष रूप से शौच गुण (जल द्वारा गुदा-प्रक्षालन) है, क्योकि जब अगुलि सर्प द्वारा डसी जाती है तब अगुलि ही काटी जाती है, उस समय कोई पुरुष नॉक नही काटता । अर्थात्—जो अपवित्र अङ्ग है वही जल द्वारा प्रक्षालन किया जाता है ॥१११॥ ये जैन लोग ससार मे उसी पुरुष श्रेष्ठ को आप्त (ईश्वर) कहते है, जिसमे राग, द्वेष व मोह-आदि १८ दोष नही है । जिस धर्म मे मद्यपान-आदि का शब्द सुनना भी भोजन-त्याग के निमित्त है, वह धर्म विद्वानो द्वारा किस प्रकार निन्दा योग्य हो सकता है ? अपि तु नही हो सकता ॥११२॥ जो देव, जरासन्ध व कस-आदि शत्रु-सम्बन्धो मे बुद्धि से क्रोधान्ध है एव सत्यभामा व रुक्मिणी-आदि स्त्रियो मे प्रीति धारण करता है, तथापि वह हरि व हर-आदि देव (ईश्वर) है तब तो 'समस्त ससार देवमय है' यह प्रसङ्ग उत्पन्न हुआ समझना चाहिए । अर्थात्—जब शत्रुओ से द्वेष करनेवाले व स्त्रियो मे अनुराग करनेवाले को ईश्वर माना जायगा तब तो सभी ईश्वर हो जाँयगे विना ईश्वर कोई नही होगा ॥११३॥ जिन रुद्रादिको के चित्त, मद्यपान द्वारा जड हो चुके है, उनके न लज्जा, न इच्छानुसार उद्यम, न निपुणता न ब्रह्मचय, न पवित्र शास्त्र ज्ञान और न प्रशस्त प्रवृत्ति ही है [यदि उनमे उक्त गुण नही है तो क्या है ?] प्रत्युत उनमे प्रमाद दोष के कारण पिशाचता ही है ॥११४॥ हे माता ! जीव के ऐसे शरीर के लिए, जो कि सद्य प्राण हर व्याधि, पश्चाताप व सामान्य रोगो का निवास है तथा दु खो के उदय का स्थान है एव जो क्षणभङ्गुर है, कौन बुद्धिमान् पुरुष मास-भक्षण करेगा ? अपि तु नही करेगा ॥११५॥ शास्त्रकारो ने कहा है कि जो पुरुष तिल व सरसो बराबर मास भक्षण करता है, वह नरक

सदिग्धेऽपि परलोके त्याज्यमेवाशुभ बुधै । यदि न स्यात्तत किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हत ॥११७॥

मक्षिकागर्भसभूतबालाण्डकनिपीडनात् । जात मधु कथ सन्त सेवन्ते कललाकृति ॥११८॥

तथा च स्मृति —

सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते । तस्य चैतद्भवेत्पाप मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥११९॥

यथाजनाकूतमय प्रवृत्त परस्परार्थप्रतिकूलवृत्त । विधौ निषेधे च न निश्चयोऽस्ति कथ स वेदो जगत प्रमाणम् ॥१२०॥

तथाहि—मास चेदाचरितुमिच्छसि, आचर । किं तु विधिपूर्वकमाचरितव्यम् । तदाह—

प्रोक्षित भक्षयेन्मास ब्राह्मणाना तु काम्यया । यथाविधिनियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥१२१॥

क्रीत्वा स्वय वा हृद्युत्पाद्य परोपहृतमेव च । अर्चयित्वा पितॄन् देवान्खादन्मास न दुष्यति ॥ १२२ ॥

मातरि स्वसरि वा चेत्प्रवर्तितुमिच्छसि, प्रवर्तस्व । किं तु विधिपूर्वक प्रवर्तितव्यम् । तदाह—गोसवे

से चन्द्र-सूर्य पर्यन्त नही निकल सकता ॥११६॥ स्वर्ग-आदि के सदिग्ध (सन्देह-युक्त) होनेपर भी विद्वानो को मद्य-मास-आदि का भक्षणरूप पाप छोडना ही चाहिए। यदि स्वर्गादि नही है, तो क्या है ? अर्थात्—मास-आदि के त्यागी का कुछ भी अरुचिर (बुरा) नही होगा, अपि तु अच्छा ही होगा और यदि स्वर्ग-आदि है तब तो चार्वाक (नास्तिक) खण्डित ही है ॥११७॥ विद्वान् लोग ऐसे मधु (शहद) का किस प्रकार भक्षण करते है ? जोकि शहद की मक्खियो के गर्भ मे उत्पन्न हुए मक्खियो के बच्चो के अण्डो के निचोडने से उत्पन्न हुआ है एव जिसकी आकृति जरायुपटल-सरीखी है ॥११८॥ स्मृति शास्त्र मे भी कहा है—सात ग्रामो को अग्नि से जलाने पर जितना पाप लगता है, उतना पाप पुरुष को मधु की बूँद का आस्वादन करने से लगता है ॥११९॥ वैदिक-समालोचना—हे माता ! यह वेद (ऋग्वेद-आदि), जो कि मनुष्यो की इच्छानुसार प्रकृतिवाला है। अर्थात्—लोक जिसप्रकार से विषयादि सेवन करना चाहता है वेद भी उसी प्रकार से कहता है। एव परस्पर पूर्वापर के विरोध सहित होता हुआ प्रवृत्ति को प्राप्त हुआ है तथा जिसमे विधि (कर्तव्य) व निषेध का निश्चय नही है, ससार को प्रमाणभूत किस प्रकार से हो सकता है ? ॥१२०॥ अब वेद सम्बन्धी उक्त बात का समर्थन किया जाता है—यदि मास भक्षण करना चाहते हो तो उसका भक्षण करो किन्तु वेद मे कही हुई विधि से भक्षण करना चाहिए।

मास-भक्षण की विधि—

प्रोक्षणादि विधि (कुश—दर्भ व मन्त्र जल से पवित्र करना-आदि) से अधिकृत हुआ पुरुष ब्राह्मणो की इच्छा से कुश व मन्त्र जल से पवित्र किये हुए मास का भक्षण करे। परन्तु प्राणो के विनाश होनेपर भी प्रोक्षणादि विधि के विना मास भक्षण न करे ॥१२१॥ पितरो (पूर्वजो) व देवताओ की पूजा करके ऐसे मास को खानेवाला दोषी नही है, जो कि खरीदकर प्राप्त हुआ है, अथवा जो निश्चय से स्वय जीव-घात किये विना उत्पन्न किया गया है तथा जो दूसरे पुरुष द्वारा लाया गया है ॥१२२॥ यदि माता वा बहिन के साथ मैथुन करना चाहते हो तो मैथुन करो किन्तु विधि पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए। वह विधि कौन सी है, उसका निरूपण करते है—गोसव नाम के यज्ञ मे केवल ब्राह्मण (दूसरा नही) गोवध से यज्ञ करके एक वर्ष के अन्त मे माता की भी (अपि—भी—शब्द से बहिन की भी) अभिलाषा करता है। माता का सेवन करो और बहिन का सेवन करो। इस प्रकार का वचन एव इसप्रकार के दूसरे भी विधान वेद मे वर्तमान है, वे वे विधान

ब्राह्मणो गोसवेनेष्ट्वा सवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषतीति । उपेहि मातरमुपेहि स्वसारमिति । एवमन्येऽपि सन्ति यथा-लोकाभिप्राय प्रवृत्तास्ते ते विधय ।

प्रसिद्धिरत एवास्य सर्वसाधारणी मता । को हि नाम भवेद्द्वेष्यो लोकच्छन्दानुवर्तन ॥ १२३ ॥

हिताहितावेदि जगन्निसर्गत परस्परस्त्रीधनलोलमानसम् । तत्रापि यद्यागम एष तन्मनोवशेन वर्तेत तदा किमुच्यते ॥१२४॥

'सुरा न पेया, ब्राह्मणो न हन्तव्य ' इत्यपि वचनमस्ति । 'सौत्रामणौ य एवविधा सुरा पिबति न तेन सुरा पीता भवति' इत्यपि । तथा ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इति । अपि च—

शूद्रान्न शूद्रशुश्रूषा शूद्रप्रेषणकारिण । शूद्रदत्ता च या वृत्ति पर्याप्त नरकाय ते ॥ १२५ ॥

तथा मास श्वचाण्डालक्रव्यादादिनिपातितम् । ब्राह्मणेन गृहीतव्य हव्यकव्याय कर्मणे ॥ १२६ ॥

इत्यपि । सद्य प्रतिष्ठितोदन्ते सिद्धान्ते परमाग्रह । किं वेदोक्तैरिमै[1] (?) सूक्तैरेत षिड्गानुपास्महे ॥ १२७ ॥

प्रमाण व्यवहारेऽपि जन्तुरेकस्थितिर्मत । को नामेत्थ विरुद्धार्थे सादरो निगमे नर ॥ १२८ ॥

लोगो के अभिप्रायानुसार प्रवृत्त हुए है। इस कारण से इस वेद की ख्याति सर्वसाधारणी (समस्त लोगो को सामान्यरूप) मानी गई है। अर्थान्तिर न्यास अलङ्कार द्वारा उक्त बात को दृढ करते है स्पष्ट है—कि लोगो के अभिप्रायानुसार प्रवृत्ति करनेवाला कौन पुरुष द्वेष करने योग्य होता है? अपि तु कोई नही ॥१२३॥ हे माता! यह ससार, जो कि स्वभाव से पुण्य व पाप को जाननेवाला नही है और जिसकी चित्तवृत्ति एक दूसरे की स्त्री व धन मे लम्पट है, इसप्रकार के ससार मे यदि यह वेद स्वरूप शास्त्र, जगत् के अभिप्रायानुसार कहता है—प्रवृत्त होता है—उस समय क्या कहा जावे? अर्थात्—फिर तो ससार परस्पर की स्त्री व धन मे विशेषरूप से लम्पट मनवाला होगा ही ॥१२४॥ अब वेद मे पूर्वापर विरोध दिखाते है—

'मद्यपान नही करना चाहिए,' 'ब्राह्मण को नही मारना चाहिए' यह वचन भी वेद मे हैं, उक्त वाक्य के विरुद्ध वाक्य—यथा—'जो पुरुष सौत्रामणि नाम के यज्ञ मे पैष्टी, गौणी व माधवी लक्षणवाली सुरा (मद्य) पीता है, उस पुरुष द्वारा सुरा पी हुई नही 'समझी जाती' यह वाक्य भी वेद मे है। इसीप्रकार 'ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता) के लिए ब्राह्मण (चारो वेद का ज्ञाता ब्राह्मण विद्वान्) को मार देना चाहिए' यह वाक्य भी वेद मे है। अब मास विरुद्ध वाक्य दिखाते है—शूद्र का अन्न, शूद्र की सेवा, और शूद्र की नौकरी करनेवाले एव शूद्र द्वारा दी गई जीविका यह तेरे लिए पूर्णरूप से नरक मे गिराने के हेतु है ॥१२५॥ अब मास भक्षण का समर्थक वेद वाक्य दिखाते है—'वेद-पाठक ब्राह्मण को देवतर्पण व पितृतर्पण कार्य के लिए कुत्ता, चाण्डाल, और व्याघ्रादि द्वारा पशुओ को मारकर लाया हुआ मास ग्रहण करना चाहिए' ॥१२६॥ यह वचन भी वेद मे है। वेद की समालोचना—वेद व स्मृति शास्त्र मे, जिसमे तत्काल विषयो की वार्ता स्थापित की गई है यदि आप लोगो का विशेष आग्रह है, तो वेद मे, कहे हुए निरर्थक सुभाषितो से क्या प्रयोजन है? आप लोग आइए हम लोग विटो (जारो—कामुको) की उपासना करते है, क्योकि वे लोग भी तत्काल पूँछी हुई विषयो की बात का उत्तर (व्यभिचार-आदि का) देते है ॥१२७॥ जब व्यापार-आदि व्यवहार मे भी एक वाक्यता-शाली (पूर्वापरविरोध-रहित—सत्य वक्ता) मानव प्रमाण माना गया है तब कौन पुरुष इस प्रकार (पूर्व मे कहे हुए) पूर्वापर-विरुद्ध अर्थ कहनेवाले वेद मे आदर-युक्त होगा ॥१२८॥

---

१ 'किं वेदोक्तैर्मुधासूक्तै' यद्यपि सर्वत्र ह लि प्रतिषु मुद्रित व्याकरण विरुद्ध पाठ समुपलभ्यते परन्तु मन्मते मुधा इति चेत् सम्यक् स्यात् —सम्पादक.

यदि च वेदोक्तेन विधिना विधीयमाना हिसा न भवत्यधर्मसाधनम्, कथ तर्हि मार्यमाण पशुरेव सबोध्यते 'अन्वेन मातानुमन्यतामनुपितानुभ्रातानुसगन्धोऽनुसखा सयूथ्य' इति ।

अथ पौरुषेयागमवच्चोदनाया विचारे महत्पातकम् । तदाह—

मानव व्यासवासिष्ठ वचन वेदसयुतम् । अप्रमाण तु यो ब्रूयात्स भवद्ब्रह्मघातक ॥ १२९ ॥

पुराण मानवो धर्म साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभि ॥ १३० ॥

इत्येतन्मुग्धभाषितम् ।

दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया । दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥ १३१ ॥

तस्मात्

दत्तानुपात्र सकलै प्रमाणैर्दृष्टेषु तत्वेषु भवत्प्रमाणम् । अन्यत्र शास्त्र तु सता प्रवृत्त्यै पूर्वापरस्थित्यविरोधनेन ॥ १३२ ॥

उमापति स्कन्दपिता त्रिशूली सध्यासु यो नृत्यति चर्मवासा । भिक्षाशनो होमजपोपपन्न कथ स देवोऽन्यजनेन तुल्य ॥१३३॥

यदि वेद मे कहे हुए विधान से की जानेवाली हिंसा, अधर्म साधन नही है तो मारा जानेवाला पशु, इसप्रकार से क्यो सबोधन किया जाता है ? 'हे पशु ! इस हिंसक पुरुष के माता-पिता व बन्धु [दोषी] जाना जावे एव इसका सम्बन्धी और समूह-सहित मित्र दोषी जाना जाय'। अब जिसप्रकार पुरुषकृत शास्त्र विचार किया जाता है उसी प्रकार वैदिक वचनो मे विचार (तर्क-वितर्क) करने मे महान् पाप है, जैसा कि कहा है—मनुरचित धर्म शास्त्र और व्यास व वसिष्ठ ऋषि-प्रणीत शास्त्र वेद मे कहे हुए-सरीखा प्रमाण है। जो मानव उक्त धर्म शास्त्र को अप्रमाण—असत्य—कहेगा, वह ब्राह्मण-घात के पाप का भागी होगा ॥१२९॥ पुराण ग्रन्थ (महाभारत व रामायण-आदि), स्मृति शास्त्र, छह अङ्गो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष व निरुक्त) सहित वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथववेद व सामवेद) एव आयुर्वेद ये चारो शास्त्र आज्ञा सिद्ध है। अर्थात्—इनके वचन ही प्रमाण माने जाते है। ये हेतुवादो (युक्तियो) द्वारा खडनीय नही है ॥१३०॥ उक्त दोनो श्लोको को कपोल-कल्पित—मिथ्या—समझना चाहिए। क्योकि जब सुवर्ण अग्नि मे तपाने, काटने व कसौटीपर कसने आदि की क्रियाओ द्वारा परीक्षण किया हुआ शुद्ध है तब उसमे शपथ-खाना क्या है ? अर्थात्—उक्त क्रियाओ द्वारा परीक्षित-शुद्ध सुवर्ण के विषय मे कसम खाने से कोई लाभ नही, क्योकि उसकी शुद्धता प्रत्यक्ष प्रतीत ही है। एव जब सुवर्ण उक्त क्रियाओ द्वारा परीक्षण किये जानेपर अशुद्ध है तब उसे शुद्ध बताने की कसम खाने से क्या लाभ है ? क्योकि अशुद्ध वस्तु कसम खाने से शुद्ध नही हो सकती ॥१३१॥ उस कारण से—

वही शास्त्र, जो कि अविसवादि होने से स्वीकृत व्यवहारवाला है एव प्रत्यक्ष व अनुमान-आदि समस्त प्रमाणो द्वारा परीक्षित है, प्रत्यक्ष देखे हुए शास्त्रो मे सत्यार्थ है। इसके विपरीत जो शास्त्र, प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणो द्वारा परीक्षा किया हुआ नही है व स्वर्ग-आदि परोक्ष (विना देखे हुए) विषयो का निरूपण करनेवाला विसवादी है, यदि वह पूर्वापर के विरोध से रहित है तो प्रमाण होता हुआ विद्वानो की प्रवृत्ति-हेतु है ॥१३२॥ देव-समीक्षा—वह (जगत्प्रसिद्ध) रुद्र (श्री महादेव), जो कि उमा—पार्वती-का पति व कार्तिकेय का पिता होने से ब्रह्मचर्य का भङ्ग करनेवाला है। जो त्रिशूल-धारक होने से शत्रुओ से द्वेष करनेवाला है, जो प्रभात, मध्याह्न व सायकाल मे नृत्य करता हुआ मृगचर्म को धारण करनेवाला है, अर्थात् मोह-युक्त है। एव जो भिक्षा-भोजन करने के कारण क्षुधा दोष-युक्त है तथा होम व जप करता है। उक्त बातो के कारण वह रास्तागीर-सरीखा होने से देव (ईश्वर) किसप्रकार हो सकता है ? ॥१३३॥ जो (ऋषभादि तीर्थङ्कर) देवो व

देवेषु चान्येषु विचारचक्षुर्यथार्थवक्ता किमु निन्दक स्यात् ।
एव न चेत्तर्हि यथार्थदर्शी भानु प्रदीपोऽपि च निन्दक स्यात् ।। १३४ ।।

यो भाषते दोषमविद्यमान सता गुणाना ग्रहणे च मूक ।
स पापभाक्स्यात्स विनिन्दकश्च यशोवध प्राणिवधाद गरीयान् ।। १३५ ।।

अथायमाप्त पर एव न स्यादेवविधो रुद्रगणोऽपरस्तु । पर पुन किंगुण एष देव ससारदोषानुगतो न यो हि ।। १३६ ।।

गुणा कुतस्तस्य भवन्ति गम्या शास्त्रात्प्रणीतात्स्वयमेव तेन ।
वने परोक्षेऽपि पतत्त्रिसार्थे दृष्टो ध्वनेस्तत्र विनिश्चयो हि ।। १३७ ।।

सगस्थितिप्रत्यवहारवृत्तेर्हिमातपाम्भ समयस्थितेर्वा । आद्यन्तभावोऽस्ति यथा न लोके तथैव मुक्तागममालिकाया ।।१३८।।

श्रुतात्स देव श्रुतमेतदस्मादिमौ हि बीजाङ्कुरवत्प्रवृत्तौ । हिताहितज्ञे स्वयमेव दैवात्कि पुसि जातिस्मरवत्परेण ।।१३९।।

दूसरे गुरु-आदि के विषय मे विचार चक्षु (ज्ञाननेत्रवाला) है और दिगम्बर होकर यथार्थवक्ता (सत्यवादी) है, हे माता ! क्या वह निंदा का पात्र हो सकता है ? यदि वह निन्दा का पात्र है तब तो यथार्थ वस्तु को प्रकाशित करनेवाला सूर्य व दीपक भी निन्दा का पात्र हो जायगा ।।१३४।। जो पुरुष दूसरे के गैरमौजूद दोष कहता है व साधुओ के ज्ञानादि गुणो मे मूक रहता है, वह पुरुष पापी व निन्दा का पात्र है, क्योकि किसी की कीर्ति का घात करना उसकी हिसा करने से भी महान् होता है ।।१३५।। यदि 'रुद्र लक्षणवाला देव ही आप्त (ईश्वर) है और निश्चय से अर्हन्त ईश्वर नही है' ऐसा आप कहते है तो आपके द्वारा माने हुए ग्यारह रुद्रो मे तो ईश्वर होने योग्य वीतरागता व सर्वज्ञता-आदि गुण नही है, इसलिए ईश्वर होनेलायक गुणो से युक्त दूसरा रुद्रगण होना चाहिए । यदि आप पूँछे कि फिर यह ईश्वर होने योग्य दूसरा रुद्रगण किन गुणो से युक्त होना चाहिए ? तो उसका उत्तर यह है, कि जो सासारिक क्षुधा व तृषा-आदि अठारह दोषो से व्याप्त नही है—वीतराग है—वही देव (ईश्वर) है । अभिप्राय यह है कि आपके द्वारा कहे हुए ग्यारह रुद्रो मे ईश्वर होने योग्य गुण नही है, अत राग, द्वेष रहित जिनेन्द्र ही देव है ।।१३६।।

जैनो द्वारा माने हुए ईश्वर के गुण किससे जानने योग्य है ? उस आप्त गुरु द्वारा स्वय कहे हुए शास्त्र से वे गुण जानने योग्य है। उस शास्त्र का निश्चय किसप्रकार होगा ? इसका समाधान यह है कि शास्त्र की ध्वनि (शब्दो का वाचन) से शास्त्र का निश्चय होगा। जिसप्रकार वन के परोक्ष (दृष्टि द्वारा अगम्य) होनेपर भी पक्षी-समूह का निश्चय उसकी ध्वनि—शब्द-से होता है। जिस पक्षी की ऐसी ध्वनि है, वह पक्षी अमुक होगा, उस ध्वनि से ही पक्षी जाना जाता है, उसीप्रकार जिस देव ने यह शास्त्र कहा है उस शास्त्र से ही उसके दोषवान् व निर्दोष होने का निश्चय होता है ।।१३७।। जिसप्रकार लोक के मध्य मे सृष्टि (उत्पत्ति), स्थिति व सहार (विनाश) की प्रवृत्ति का आदि (शुरू) व अन्त—अखीर नही है, अर्थात्—सृष्टि-आदि अनादि काल से चले आ रहे है व अनन्त काल तक चले जावेगे। एव जिसप्रकार शीत ऋतु उष्ण ऋतु व वर्षा ऋतु की प्रवृत्ति अनादि काल से चली आ रही है व अनन्त काल तक चली जायगी। उदाहरणार्थ—उत्पत्ति के बाद विनाश होता है व विनाश के वाद उत्पत्ति होती है एव शीत ऋतु के बाद ग्रीष्म ऋतु होती है और ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु होती है, उसके बाद शीत काल होता है। अर्थात्—एक से एक सदा होता है उसीप्रकार मुक्त परम्परा व श्रुतपरम्परा की शुरू व अखीर नही है। अर्थात्—ईश्वर व श्रुत भी अनादि है। उदाहरणार्थ—मुक्त (ईश्वर) से आगम (द्वादशाङ्ग श्रुत) होता है और आगम (शास्त्र) से मुक्त होता है ।।१३८।। उसी का निरूपण—आगम (शास्त्र) से वह जगत्प्रसिद्ध तीर्थङ्कर अर्हन्त

असशय हेतुविशेषभावाद्यथोपल स्यात्कनक तथैव । अन्तर्बहिश्चास्तसमस्तदोषो ज्योति पर स्यादयमेव जीव ॥१४०॥

अङ्गारवत्तद्धि न जातु शुद्धचेद्रूपान्तर वस्तुनि यत्र नास्ति । दृष्टो मणीना मलसक्षयेण तेज प्रभाव पटुभि कृतेन ॥१४१॥

भूता भविष्यन्ति भवन्ति चान्ये लोकत्रयज्ञा क्रमश क्षितीशा ।
यथा तथाप्ता यदि को विरोधो बहुत्वमन्यत्र च बाढमस्ति ॥ १४२ ॥

हरि पुन क्षत्रिय एव कश्चिज्ज्योतिर्गणैस्तुल्यगुणोरविश्च ।
देवौ स्त एतौ यदि मुक्तिमार्गौ पृथुश्च सोमश्च कुतस्तथा न ॥ १४३ ॥

अशेषमेतद्वपुषा बिर्भात दशावतारेण स वर्तते च । शिला प्लवादप्यतिविस्मयार्ह मात कथ सगतिमङ्गतीदम् ॥१४४॥

देव होता है और उस तीर्थङ्कर देव से आगम की उत्पत्ति होती है, निश्चय से दोनो श्रुत व देव, बीज व अङ्कुर की तरह प्रवृत्त होते है। अर्थात्—जिसप्रकार बीज से अङ्कुर होता है और अङ्कुर से बीज होता है। हित (सुख व सुख के कारण) व अहित (दु ख व दु ख के कारण) को जानने की शक्ति जन्म से स्मरणवाले पुरुष की तरह पूर्व जन्म मे किये हुए पुण्य व पाप से होती है। दूसरे पुरुष से क्या प्रयोजन है ? अपि तु कोई प्रयोजन नही। अर्थात्—जिसप्रकार जन्म से स्मरणवाला पुरुष दूसरे से नही पूँछता किन्तु स्वय ही जान लेता है उसीप्रकार यह आत्मा, जो कि तीर्थङ्कर होनेवाला है, पूर्वजन्म-कृत पुण्योदय से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा स्वय हिताहित को जानता है उसे दूसरे पुरुष (गुरु-आदि) की अपेक्षा से कोई प्रयोजन नही रहता ॥१३९॥

जिसप्रकार भिन्न भिन्न कारणो (अग्नि मे तपाना व छेदन-आदि साधनो) से सुवर्ण पाषाण, निस्सन्देह सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार यही ससारी जीव (मानव), अन्तरङ्ग कारण (कर्मो का क्षय-आदि) वहिरङ्ग (गुरु-आदि का उपदेश-आदि) कारणो से कर्ममल कलङ्क को क्षीण करनेवाला होकर मुक्त (ईश्वर) हो जाता है ॥१४०॥ अभव्य पुरुष मे रूपान्तर नही है, अर्थात्—वह मिथ्यात्व को छोडकर कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नही कर सकता—कभी शुद्ध नही हो सकता। वह अभव्य लक्षणवाला पुरुष, उसप्रकार कदापि शुद्ध नही होता जिसप्रकार अङ्गार (कोयला) कदापि जलादि द्वारा शुद्ध नही हो सकता एव जिसप्रकार विचक्षण पुरुषो द्वारा किये हुए मल-विनाश से मणियो—रत्नो—मे कान्ति का प्रभाव देखा गया है, अर्थात्—उसीप्रकार यह ससारी भव्य मानव, अन्तरङ्ग (सम्यग्दर्शन-आदि) व वहिरङ्ग (गुरु-उपदेश-आदि) कारणो द्वारा कर्म-मल कलङ्क का क्षय करता हुआ शुद्ध—मुक्त-हो जाता है[1] ॥१४१॥ जिसप्रकार भूतकालीन, भविष्यत्कालीन व वर्तमानकालीन दूसरे लोकत्रय के जाननेवाले राजा लोग क्रमश हुए होवेंगे व हो रहे है उसीप्रकार यदि अतीत, अनागत व वर्तमानकालीन तीर्थङ्कर परमदेव हुए, होगे व हो रहे हैं तो इसमे क्या विरोध है ? अपि नु कोई विरोध नही। इसीप्रकार तीर्थङ्करो की अधिकता के विषय मे भी कोई विरोध नही, क्योकि परमत मे भी देवताओ की प्रचुरता अतिशय रूप से है। अर्थात्—जिसप्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नवग्रह, तिथि, देवता व बारह सूर्य इनमे सख्या की अधिकता पाई जाती है उसीप्रकार तीर्थङ्कर परम देवो मे भी प्रचुरता समझनी चाहिए ॥१४२॥ फिर श्रीनारायण कोई क्षत्रिय ही हैं और सूर्य भी शुक्र व शनैश्चर-आदि-सरीखा है। जब ये दोनो (श्री नारायण व सूर्य) मुक्ति का उपाय बतानेवाले देवता है तो आदि क्षत्रिय पृथुराजा व चन्द्रमा ये दोनो मुक्ति का उपाय बतानेवाले देवता क्यो नही है ? अपितु होने चाहिए ॥१४३॥

१ तथा चोक्त समन्तभद्रेण महर्षिणा—
दोषावरणयोर्हानिर्नि शेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्योबहिरन्तर्मलक्षय ॥१॥' देवागमस्तोत्र से—

स्वयं स कुष्ठी पदयो किलाक परेषु रोगार्तिहरश्च चित्रम् ।
अजा परेषा विनिहन्ति वात स्वय तु वातेन हि सा म्रियेत ॥ १४५ ॥

माता—(स्वगतम् ।)

गत स काल खलु यत्र पुत्र स्वतन्त्रवृत्त्या हृदयेप्सितानि । कार्याणि कार्येत हठान्नयेन भयेन वा कर्णचपेटया वा ॥१४६॥

युवा निजादेशनिवेशितश्री स्वयप्रभु प्राप्तपदप्रतिष्ठ । शिष्य सुतो वात्महितैर्बलाद्धि न शिक्षणीयो न निवारणीय ॥१४७॥

(प्रकाशम् ।)

तवोपदेश खलु कि नु कुर्याद्विनीतचित्तस्य बहुश्रुतस्य । को नाम धीमाँल्लवणाम्बुराशेरुपायनार्थं लवण नयेत ॥१४८॥

विचक्षण कि तु परोपदेशे न स्वस्य कार्ये सकलोऽपि लोक । नेत्र हि दूरेऽपि निरीक्षमाणमात्मावलोके त्वसमर्थमेव ॥१४९॥

निघ्नन्ति नि सशयमेव भूपा पुत्र च मित्र पितर च बन्धुम् ।
स्वस्य श्रिये जीवितरक्षणाय राज्य कुत क्षान्तिपरायणानाम् ॥१५०॥

तदस्य दु स्वप्नविधे शमार्थं सरक्षणार्थं निजजीवितस्य । दुर्वासना वत्स विहाय जीवैर्बिधेहि यज्ञ कुलदेवताया ॥१५१॥

किमङ्ग, महामुनिर्गौतम प्राणत्राणार्थमात्मोपकारिणमपि नाडीजङ्घ न जघान । विश्वामित्र सारमेयम् ।

हे माता ! जब वह विष्णु इस समस्त ससार को अपने उदर के मध्य मे धारण करता है तब शूकर, कच्छप-आदि दश अवतार कैसे धारण करता है ? अर्थात्—जो समस्त तीन लोक को उदर के मध्य धारण करता है, वह दश अवतार कहाँ ठहरकर ग्रहण करता है ? यह बात 'शिला पानी मे तैरती है' इससे भी विशेष आश्चर्यजनक है, अत किसप्रकार युक्तिसङ्गत हो सकती है ? अपितु नही हो सकती ॥१४४॥ वह सूर्य स्वय तो निश्चय से पादो मे कुष्ठ रोगवाला है और भक्तो की रोग-पीडा-विध्वसक है, यह उसप्रकार आश्चर्यजनक है जिसप्रकार बकरी दूसरे लोगो की दूषित वायु नष्ट करती है और स्वय वात रोग से मृत्यु प्राप्त करती है ॥१४५॥ अब उक्त बात को सुनकर माता चन्द्रमति अपने मन मे निम्नप्रकार चिन्तवन करती है—निश्चय से वह अवसर निकल गया, जिसमे यशोधर पुत्र, मेरी स्वतन्त्र वृत्ति से मनचाहे कार्य कराने के लिए हठ, नीति व भय से अथवा कान उमेठ कर प्रेरित किया जाता था । अर्थात्—अब हठादि से कर्तव्य कराने के लिए समर्थ नही रहा ॥१४६॥ इस समय यह जवान है शिशु नही है, जिसने अपनी आज्ञा मे लक्ष्मी आरोपित—स्थापित-की है एव स्वय सब का स्वामी है तथा जिसने राज्य पद मे प्रतिष्ठा प्राप्त की है, अत यह स्पष्ट है कि अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषो द्वारा विद्यार्थी अथवा पुत्र बलात्कार से न शिक्षा देने योग्य है और न रोकने योग्य है ॥१४७॥ हे पुत्र ! तुम सब विषयो मे प्रवीण हो, इसलिए निश्चय से विनय मे तत्पर चित्तवाले और अनेक शास्त्रो मे निपुणता-प्राप्त किये हुए तुम्हे मेरा उपदेश क्या करेगा ? उदाहरणार्थ—कौन बुद्धिमान् पुरुष लवण समुद्र को भेट देने के लिए नमक लाता है ॥१४८॥ हे पुत्र ! तुम बुद्धिमान् हो, परन्तु सभी लोग दूसरो को उपदेश देने मे प्रवीण होते है, परन्तु अपने कर्तव्य-पालन मे प्रवीण नही होते । जैसे चक्षु दूरवर्ती वस्तु को देखनेवाली होती है परन्तु स्वय अपने को देखने मे असमर्थ ही होती है ॥१४९॥ हे पुत्र ! राजा लोग अपनी लक्ष्मी व जीवन-रक्षा के लिए निस्सन्देह पुत्र, मित्र पिता व भाई को मार डालते है । क्योकि क्षमाशील राजाओ का राज्य किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है ? ॥१५०॥ अत हे पुत्र ! इस दुष्ट स्वप्न की शान्ति के लिए व अपनी आयु के सरक्षण के लिए दिगम्बरो का उपदेश छोडकर पशुओ से कुलदेवता की पूजा करो ॥१५१॥

एवमन्येऽपि शिबिदधीचिबलिबाणासुरप्रभृतीनामवनिपतीना सुरभितनयादीनामितरेषा च सत्त्वानामालम्भनेनात्मन शान्तिकर्माणि सम्यगारेभिरे ।

यथा जलै पङ्कजिनीदलाना पङ्कैर्न लेपो नभसो यथा च । राज्ञस्तथा शुद्धमतेर्न पापै सबन्धगन्धोऽस्ति कथचनापि ।।१५२।।

विष विषस्यौषधमग्निरग्नेरिय प्रसिद्धिर्महती यथैव । पुण्याय हिंसापि भवेत्तथैव सर्वत्र हे पुत्र न षड्ढलानि ।।१५३।।

गोब्राह्मणस्त्रीमुनिदेवताना विचारयेत्कश्चरित विपश्चित् ।
श्रुतिस्मृतीनिहासपुराणवाचस्त्यजात्मना चेन्न तवास्ति कार्यम् ।।१५४।।

न कापि पुस पुरुषार्थसिद्धि सूक्ष्मेक्षयातीवपरीक्षकस्य । जगत्प्रवाहेण तु वर्तितव्य महाजनो येन गत स पन्था ।।१५५।।

विलासिनीविभ्रमदर्पणानि कदर्पसतर्पणकारणानि । क्रियाश्रमच्छेदकराणि हातु मधूनि को नाम सुधीर्यतेत ।।१५६।।

मता समा मन्मथतत्त्वविद्भिर्मृता स्त्रियो मद्यविवर्जिताश्च ।
ये भुञ्जते मासरसेन हीन ते भुञ्जते किं नु न गोमयेन ।।१५७।।

अहो पुत्र ! गौतम नाम के महामुनि ने प्राण रक्षा के लिए अपना उपकार करनेवाले वन्दर को क्या नही मारा[1] ? इसीप्रकार हे पुत्र ! विश्वामित्र नाम के महामुनि ने अपना उपकार करनेवाले कुत्ते को क्या नही मारा ? इसीप्रकार दूसरे राजाओ ने भी शिबि, दधीचि, बलि व वाणासुर आदि नामवाले राजाओ के घात द्वारा और गाय वगैरह पशुओ के एव दूसरे प्राणियो के घात द्वारा अपने शान्ति कर्म भली प्रकार आरम्भ किए । हे पुत्र ! जिसप्रकार कमलिनियो के पत्ते जलो से लिप्त नही होते एव जिसप्रकार कीचड से आकाश लिप्त नही होता उसीप्रकार शुद्ध बुद्धिवाले राजा का पापो से बन्धलेश भी किसी प्रकार नही होता ।।१५२।। हे पुत्र ! जिसप्रकार विष की औषधि विष व अग्नि की औषधि अग्नि है' यह विशेष प्रसिद्धि है उसी प्रकार जीव बध भी कल्याण हेतु होता है । हे पुत्र ! सभी खेतो मे छह हल ही नही होते, अर्थात्—किसी खेत मे कम और किसी मे ज्यादा भी हल होते है एव किसी मे छह ही हल होते है ।।१५३।। कौन विद्वान् पुरुष गायो, ब्राह्मणो, स्त्रियो, गौतम-आदि महामुनियो एव देवताओ के आचार का विचार करता है ? यदि तुम्हे अपनी आत्म-रक्षा से प्रयोजन नही है तो वेद, स्मृति (धर्म शास्त्र), इतिहास और रामायण-महाभारत-आदि पुराणो के वचन छोडो । अर्थात्—यदि तुम आत्म रक्षार्थी हो तो वेद-आदि के वचन मत छोडो ।।१५४।। हे पुत्र ! सूक्ष्म दृष्टि से विशेष परीक्षा करनेवाले मानव की कोई पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) सिद्धि नही होती । अत मनुष्य को लोक मार्ग से प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योकि जिस मार्ग से सज्जन प्रवृत्त होता है, वही कर्तव्य मार्ग है ।।१५५।। हे पुत्र ! कौन विद्वान् पुरुष ऐसे मधु व मद्य-आदि के छोडने का यत्न करेगा ? जो (मधु-आदि), कमनीय कामिनियो के विलासो (हाव भाव-आदि) के देखने मे दर्पण-सरीखे है और कामोद्रेक के उद्दीपन के कारण है एव कर्तव्य करने से उत्पन्न हुए परिश्रम को नष्ट करनेवाले है ।।१५६।। हे पुत्र ! कामशास्त्र के रहस्य मे प्रवीण-पुरुषो ने मरी हुई स्त्रियाँ और मद्य न पीनेवाली स्त्रियाँ समान मानी है । हे पुत्र ! जो मास रस-रहित भोजन करते है वे लोग क्या गोबर-सहित भोजन नही करते ? ।।१५७।।

---

१ गौतम नाम के महामुनि की कथा—एक समय गौतम नाम के महामुनि तीर्थयात्रार्थ गए परन्तु मार्ग भूल जाने के कारण महान् वन मे प्रविष्ट हुए । प्यास से व्याकुलित हुए एव भूँख की अग्नि द्वारा जलती हुई कुक्षिवाले उन्हे स्वच्छन्द विहार करनेवाला बन्दर तालाव-आदि जलस्थान पर ले गया । बाद में उस मुनि ने बन्दर द्वारा दिखाया हुआ पानी पीकर उस वन्दर को मार कर उसके मास का भोजन करके वन को पार किया ।

यदि च मधुमांसनिषेवणे महादोषस्तदा कथमेतन्महर्षिभिरुदाहृतम्—

'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेव भूतानां निवृत्तेश्च महत्फलम् ॥' इति १५८॥

कथं च हव्यकव्यविधिषु प्रबन्धेन तद्ग्रहणम्। तदाह—

'तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन च। दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवत्पितरो नृणाम् ॥१५९॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन च। औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनैव पञ्च वै ॥१६०॥
षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन हि सप्त वै। अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥१६१॥
दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः। शशकूर्मस्य मांसेन मासानेकादशैव तु ॥१६२॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वा। वार्धीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥१६३॥' इति।

राजा—(स्वगतम्।)

ऐश्वर्यमेकं तिमिरं नराणामेवंविधो बन्धुगणो द्वितीयम्। किं नाम पापं न करोतु जन्तुर्मदेन मोहेन च निर्विचारः ॥१६४॥
श्रिया मनोदर्पकरैर्विलासैरापातरम्यैश्च विलासिनीनाम्। प्रतारितान्तःकरणो दुरन्तां भवाटवीमेष विशत्यवश्यम् ॥१६५॥
बलादमीभिर्विषयैर्वराकः प्रायेण जानन्नपि मोहितात्मा। मृत्योः पुरीवारिविहारभाजां वन्यः करीवास्पदमापदां स्यात् ॥१६६॥

॥१५७॥ हे पुत्र! यदि मद्यपान व मांस-भक्षण मे महान् दोष है तब महर्षियो ने निम्न प्रकार वचन कैसे कहा? 'मांस-भक्षण मे पाप नही है एव मद्य-पान व कामसेवन मे भी पाप नही है, क्योकि प्राणियो की मद्यपान आदि मे प्रवृत्ति ही होती है। परन्तु मद्यपान व मांस-भक्षण के त्याग करने से महान् फल होता है' ॥१५८॥ हे पुत्र! और किस प्रकार से देवकार्य व पितृकार्य विधानो मे शास्त्र प्रमाण से मांस-ग्रहण वर्तमान है। उक्त बात का निरूपण—'तिलो, धान्य, जौ, उडद, पानी और मूलीके साथ मांस को विधिपूर्वक देनेसे मानवो के पूर्वज सन्तुष्ट होते है ॥ १५९ ॥ मछली के मांस से दो महीनो तक हरिण-मांस से तीन महीनो तक और भेड के मांस से चार महीने तक एव शकुनि (पक्षीविशेष) के मांस से पाँच महीने तक पिता-आदि पूर्वज तृप्त होते है ॥१६०॥ निश्चय से बकरे के मांस से छह माह तक पार्षत (मृगविशेष) के मांस से सात माह तक और कस्तूरो मृग के मांस से आठ महीनो तक तथा रुरुमृग के मांस से नौ महीने तक पितरगण (पूर्वज) तृप्त होते है ॥ १६१ ॥ शूकर व भैंसा के मांस से तो दश महीनो तक एव खरगोस व कछुए के मांस से ग्यारह महीनो तक पितृगण तृप्त होते है ॥ १६२ ॥ गाय के दूध अथवा उसकी खीर से एक वर्ष तक पितृगण तृप्त होते है एव गण्डक-मांस से पूर्वजो की बारह वर्ष तक होने वाली तृप्ति होती है ॥ १६३ ॥'

उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज अपने मन मे निम्नप्रकार सोचते हैं—ऐश्वर्य (राज्यादि वैभव), मानवो का पहिला अन्धकार है। इसीप्रकार माता-पिता-आदि लक्षणवाला बन्धुवर्ग दूसरा अन्धकार है। अत ऐश्वर्य के गर्व से व इसप्रकार के बन्धुवर्ग के मोह से विवेकशून्य हुआ प्राणी कौन सा पाप नही करता[1]? ॥१६४॥ लक्ष्मी के होने पर हृदय मे मद उत्पन्न करनेवाले प्रथम प्रारम्भ मे रमणीक प्रतीत हुए कमनीय कामिनियो के विलासो (नेत्र शोभाओ) द्वारा वञ्चित मनवाला यह प्राणी निश्चय से दुष्ट स्वभाव-वाली ससाररूपी अटवो मे प्रवेश करता है[2] ॥१६५॥ इन इष्ट विषयो के कारण अज्ञान-युक्त आत्मावाला विचारा यह प्राणी प्राय करके जानता हुआ भी हठ से उसप्रकार मृत्यु नगरी मे विहार करनेवाली आपत्तियो का स्थान होता है, जिसप्रकार जगली हाथी मृत्यु-नगरी रूपी गज-बन्धनी (हाथी पकडने के लिए बनाया हुआ गड्ढा) मे विहार करनेवाली आपत्तियो का स्थान होता है[4] ॥१६६॥

---

१ यथासख्याक्षेपालकार। २ रूपकालकार। ३ 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यमर। ४ रूपकदृष्टान्तालकार।

(प्रकाशम् ।) नान्येषु पाप मनसा विचिन्त्य साक्षात्कथ तत्क्रियते मयाद्य ।
त्वया श्रुता कि नु कथा न लोके सशालिशिक्थस्य वसो प्रसिद्धा ॥१६७॥

पिबेद्विष यद्यमृत विचिन्त्य जिजीविषु कोऽपि नरो वराक । कि तस्य तन्नैव करोति मृत्युमिच्छावशान्नैव मनीषितानि ॥१६८॥
रजस्तमोभ्या बहुलस्य पुस पाप सता नैव निदर्शनाय । नाप्येनसामासजतामपेक्षा जातौ कुले वा रजसामिवास्ति ॥१६९॥
जातिर्जरामृत्युरथामयाद्या नृपेषु चान्येषु सम भवन्ति । पुण्यैर्जनेभ्योऽभ्यधिका क्षितीशा मनुष्यभावे त्वविशेष एव ॥१७०॥
यथा मम प्राणिवधे भवत्या महान्ति दु खानि भवन्ति मात । तथा परेषामपि जीवहानौ भवन्ति दु खानि तदम्बिकानाम् ॥१७१॥
परस्य जीवेन यदि स्वरक्षा पूर्वे क्षितीशा कुत एव मन्त्र । शास्त्र तु सर्वत्र यदि प्रमाण श्वकाकमासेऽपि भवेत्प्रवृत्ति ॥१७२॥
भवन्नकृत्यावहितो हि लोक कदापि नेद जगदेकमागम् । यद्धर्मबुद्धया विदधाति पाप तन्मे मनोऽतीव दुनोति मात ॥१७३॥
लोके विनिन्द्य परदारकर्म मात्रा सहैतत्किमु कोऽपि कुर्यात् । मास जिघत्सेद्यदि कोऽपि लोल किमागमस्तत्र निदर्शनीय ॥१७४॥

अब यशोधर महाराज ने अपनी माता (चन्द्रमति) से निम्नप्रकार स्पष्ट कहा—हे माता ! जो पाप दूसरे प्राणियो के प्रति मन से चिन्तवन करने योग्य नही है, वह पाप इस समय मेरे द्वारा प्रत्यक्ष से किस प्रकार किया जा सकता है ? हे माता ! तूने वसुराजा व शालिसिक्थ नाम के मच्छ की लोक प्रसिद्ध कथा क्या नही सुनी[1] ? ॥१६७॥ यदि कोई भी विचारा मानव जीने का इच्छुक होता हुआ जहर को अमृत समझकर पी लेवे तो क्या वह जहर उस मनुष्य की मृत्यु नही करता ? क्योकि चाही हुई वस्तुएँ केवल मनोरथ से प्राप्त नही होती । अर्थात्—उसी प्रकार धर्म बुद्धि से पाप करता हुआ प्राणी क्या पुण्य प्राप्त कर सकता है[2] ? ॥१६८॥ पाप और अज्ञान से अधिकता प्राप्त किये हुए पुरुषो (गौतम व विश्वामित्र-आदि) का पाप विद्वज्जनो के दृष्टान्त के लिए नही होता । अर्थात्—जिस प्रकार उन पापियो ने प्राणियो का मास भक्षणरूप पाप किया उसप्रकार हेयोपादेय का ज्ञान रखनेवाले सज्जन पुरुष नही कर सकते । सम्बन्ध प्राप्त करते हुए पापो को उसप्रकार जाति (मातृपक्ष) व कुल विषयक वाञ्छा नही होती जिसप्रकार धूलियो को जाति व कुल विषयक अपेक्षा (इच्छा) नही होती । अर्थात्—जिसप्रकार उडती हुई धूलियाँ सभी के ऊपर गिरती है, किसी को नही छोडती उसी प्रकार बँधने वाले पाप भी किसी को नही छोडते[3] ॥१६९॥ जन्म, जरा, मृत्यु, और रोग वगैरह दु ख राजाओ व दूसरे प्राणियो मे समानरूप से होते है । उनमे राजा लोग पुण्यो के कारण मनुष्यो से अधिक होते है, राजा लोगो व पुरुषो मे मनुष्यता की अपेक्षा कोई भेद नही है[4] ॥१७०॥ हे माता ! जिसप्रकार मुझ प्राणी के वध होने पर आपको महान् दु ख होते है उसीप्रकार दूसरे प्राणियो के वध होनेपर भी उनकी माताओ को विशेष दु ख होते है[5] ॥१७१॥ हे माता ! यदि दूसरे जीवो के जोव से अपनी रक्षा होती है तो पूर्व मे उत्पन्न हुए राजा लोग क्यो मर गए ? यदि शास्त्र सर्वत्र प्रमाण है तो कुत्ता व कौए के मास के भक्षण मे भी प्रवृत्ति होनी चाहिए[6] ॥१७२॥ हे माता ! [ससार मे] मनुष्य-समूह पाप कर्म मे सावधान होकर विद्यमान है । यह ससार किसी भी अवसर पर एकमत मे आश्रित नही होता । निश्चय से मानवगण जिस कारण धर्म बुद्धि से पाप करता है उस कारण मेरा मन विशेषरूप से सन्तप्त होता है[7] ॥१७३॥ जब परस्त्री-भोग ससार मे विशेषरूप से निन्दनीय है तब यह परस्त्री-भोग क्या कोई भी माता के साथ करेगा ? अपि तु नही करेगा । इसीप्रकार यदि कोई भी पुरुष जिह्वालम्पट हुआ मास भक्षण की इच्छा करता है तो उस मास भक्षण के समर्थन मे क्या वेद शास्त्र उदाहरण देने योग्य है[8] ? ॥१७४॥ इन्द्रिय-लम्पट और लोगो की

---

१ आक्षेपालकार । २ आक्षेपालकार । ३ उपमालकार । ४ जाति अतिशयालकारश्च । ५ दृष्टान्तालकार । ६ जातिरलकार । ७ जातिरियम् । ८ आक्षेपालकार ।

लोलेन्द्रियैर्लोकमनोनुकूलै स्वाजीवनायागम एष सृष्ट ।
स्वर्गो यदि स्यात्पशुहिंसकाना सूनाकृता तर्हि भवत्स कामम् ॥१७५॥

मन्त्रेण शस्त्रैर्गलपीडनाद्वा वेद्या बहिश्चापि वध समान ।
स्वर्गो यदि स्यान्मखहिंसिताना स्वबान्धवैर्यज्ञविधिर्न कि तु ॥१७६॥

मात , आकर्णयात्रोपाख्यानम्, यन्मयापरेद्युरेव विद्यानवद्यनामकादुपासकादुपश्रुतम् । तथाहि—किलाखण्डल-सभाया ब्राह्मणाचरण प्रति विवदमानमनसौ द्वौ दिवौकसावेतत्परीक्षार्थमेकश्छगलच्छलेनापरस्तदाजीवनव्याजेन पाटलिपुत्र-पुरबाहिरिकायामवतेरतु । तस्मिन्नेवावसरे सपञ्चाशत पञ्चशती छात्राणामध्यापयन्नुपाध्याय सकलवेदवेदाङ्गोपाङ्गो-पदेशावधेय काङ्क्षायननामधेय षष्टितमीदश प्राग्वश विधित्सुस्तत्रैवाजगाम । ईक्षाचक्रे च पुरुषेणाधिष्ठितमतीव महा-देहमजम् । 'अहो, साधु भवत्ययमजास्तनधय खलु यज्ञकर्मणे' इत्यनुध्याय त गोधमेवमभ्यधात्—'अरे मनुष्य, समानीयता-मित इतोऽय छागस्तव चेदस्ति विक्रेतुमिच्छा' इति । पुरुष —'भट्ट, विचिक्रीषुरेवैन यदि भवानिद मे प्रसादीकरोत्य-ङ्गुलीयकम् ।' उपाध्यायस्तथा विधायापवर्त्य च त पुरुषमात्मदेशीय शिष्यमादिशति—'अहो कुशिक वत्स, बलीयानयम-जास्तनधय । तदतियत्नमुपसव्यानेन बद्ध्वानीयतामुदवसितम । अहमप्येष तवानुपदमेवागच्छामि ।' तथाचरति तच्छिष्ये स वसुधाया कुलिशकीलित इव निषण्ण सभूय सर्वैरपि तदन्तेवासिभिरुत्थापयितुमशक्य 'प्रीयन्तामत्रैवास्य

चित्तवृत्ति के अनुकूल चलनेवाले पुरुषो ने अपने विषयो के पोषणार्थ यह वेद सिद्धान्त रचा है । यदि अश्वमेध-आदि यज्ञकर्म मे पशु-वध करनेवालो को स्वर्ग प्राप्त होता है तो वह स्वर्ग कसाईयो को विशेषरूप से प्राप्त होना चाहिए[1] ॥१७५॥ अथर्वणमन्त्र व सहिता-वाक्य अथवा शस्त्र व कण्ठ-मरोडना इनसे यज्ञ-वेदी (प्रालम्भन कुण्ड) पर अथवा याग मण्डप के बाह्य स्थानपर जीव घात करना एक सरीखा पाप है । यदि यज्ञ मे मन्त्रो-च्चारण पूर्वक होमे गए पशुओ को स्वर्ग होता है ? तो अपने पुत्र-आदि कुटुम्ब वर्गो से यज्ञ-विधि क्यो नही होती[2] ? ॥१७६॥ हे माता ! इस जीव-घात सबधी दृष्टान्त कथा सुनिए, जिसे मैने परसो 'विद्यानवद्य' नाम के श्रावक से सुनी थी ।

सौधर्मेन्द्र की सभा मे ब्राह्मणो के आचरण के प्रति विवाद करते हुए दो देवता उनके आचार की परीक्षा के लिए एक बकरा के बहाने से (बकरा बनकर) और दूसरा बकरे की जीविका करनेवाले के बहाने से (बकरा ले जानेवाला शूद्र बनकर) पटना नगर के समीपवर्ती वन मे अवतीर्ण हुए । उसी अवसर पर 'काङ्क्षायन' नाम का उपाध्याय (पाठक), जो कि साढे पाँच सौ छात्रो को अध्यापन करनेवाला था एव जिसकी मर्यादा चारो वेद व छह वेदाङ्गो (शिक्षा व कल्प-आदि) व उपाङ्गो के उपदेश देने मे है, तथा जो साठवी वार यज्ञ करने का इच्छुक था, वही आया । उसने महाशूद्र-सहित व विशाल कायवाले बैल-सरीखे बकरे को देखा । फिर यह विचारकर कि 'आश्चर्य है कि यह बकरी का बच्चा निश्चय से यज्ञ कर्म मे अच्छा है' उस बोझा ढोनेवाले पुरुष से निम्न प्रकार कहा—अरे मनुष्य ! उस स्थान से इस स्थान पर इस बकरे को लाओ यदि तुम्हारी इसे बेचने की इच्छा है ।' फिर बकरा ले जानेवाले मानव ने कहा—'भट्ट ! मै तो इस बकरे को बेचने का इच्छुक हूँ यदि आप यह मुद्रिका मेरे लिए प्रसन्न होकर अर्पण करें ।' फिर उपाध्याय ने मुद्रिका देकर उसे वापिस भेजा और शिष्य को आज्ञा दी । 'अहो 'कुशिक' नामवाले बच्चे ! यह बकरी का बच्चा विशेष बलिष्ठ है, अत इसे विशेष यत्न पूर्वक दुपट्टे से बाँधकर मेरे गृहपर ले जाओ । मै भी आपके पीछे ही आऊँगा ।

१ आक्षेपालकार । २, उपमालकार ।

चेटस्य मासेन विधिपूर्वक देवा पितरो ब्राह्मणाश्च' इत्यलापोल्बणरुषममर्षविषोन्मेषकलुषचक्षुषमाशु स्वयमेव वधायोद्धृतपर्वताकारपाषाणपरुष स छगलस्तमुपाध्याय मनुष्यवद्बभाषे—'ननु भट्टस्य किमर्थो महानेष प्रयास' इति । भट्ट सभय सविस्मयश्च प्रत्याचष्टे—'महापुरुष, तव स्वर्गगमनाय' इति । छाग —'अन्ये खलु ते वराकतनव पशवो ये मखमिषेण भवता भक्षिता । अत्र तु प्रस्तरप्रतिमाकवलन इव केवल दन्तभङ्गस्तव' इति विचिन्त्य किंचिद्विहस्य च स स्तभस्त पुनरेवमवोचत्—

'नाह स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्व मया सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सतत हन्तु न युक्त तव ।
स्वर्ग यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुव प्राणिनो यज्ञ किं न करोषि मातृपितृभि पुत्रैस्तथा बान्धवै ॥१७७॥'

तदनु भो महाराज, सा मदीयाम्बिका ममोक्तिषु निरुत्तरा सती परमुपायान्तरमपश्यन्ती 'लब्धप्रतिष्ठातन्त्रेषु हि राजपुत्रेषु स्वभावेन भवन्ति ज्ञातिविषये शाठ्यनिष्ठुरा समाचारा । तदेते कुशलमतिभि शान्तिकमणैव कर्तव्या कार्येष्वभ्यन्तरा' इति, तथा 'महत्यपि हि पुत्रे सवित्रीणा बालकाल इव चाटुकारस्नेहला एवालापा श्लाघ्यन्ते, न पुन कर्णकटुका' इति च विचिन्त्य, 'मात, |अलमलमनेन ममाश्रेयस्करेणोपचारेण' इति मया सहबहुमान विनिवार्यमाणापि

जब शिष्य वैसा ही कर रहा था अर्थात् जब वह बकरे को बाँधकर ले जा रहा था तब वह बकरा पृथिवीपर बज्र से कीलित हुआ सरीखा बैठ गया और प्रस्तुत उपाध्याय के साढे पाँच सौ शिष्य मिलकर भी उसे उठा न सके। 'इस बकरे के मास द्वारा वेदोक्त विधि से सवित्रादि देवता, पिता-आदि पूर्वज एव ब्राह्मण-आदि तृप्ति प्राप्त करें' इस प्रकार के भाषण से उत्कट क्रोध करनेवाले व जिसके नेत्र क्रोधरूप विष की उत्पत्ति से लाल हुए है एव जो शीघ्र स्वय ही वध करने के लिए उठाए हुए पर्वताकार सरीखे पाषाणो से कर्कश हो रहा था ऐसे उपाध्याय से वह बकरा मनुष्य सरीखा (मनुष्य की वाणी से) निम्न प्रकार बोला—'भट्ट का यह महान् प्रयास किस कारण से हो रहा है ?' उपाध्याय भयभीत व आश्चर्यान्वित होता हुआ निम्न प्रकार बोला—'हे महापुरुष ! आपके स्वर्गगमन के लिए मेरा प्रयास है।' उक्त बात को सुनकर बकरे ने मन मे विचार किया। 'दूसरे पशु, जो कि यज्ञ के बहाने से आपके द्वारा भक्षण किये गए है, वे अकिञ्चित्कर (अल्प) शरीरधारी थे, परन्तु विशाल शरीर-धारक मेरे विषय मे चट्टान की मूर्ति को चबाने समान केवल तुम्हारे दाँत टूटेंगे।' फिर उस बकरे ने कुछ हँसकर उपाध्याय से कहा—'हे भट्ट ! मैं (बकरा) स्वर्ग के भोग नही चाहता। 'मुझे स्वर्ग पहुँचाओ' इसप्रकार मैने तुमसे प्रार्थना नही की। मै तो बेरी आदि के पत्तो को चबाने से ही निरन्तर सन्तुष्ट हूँ। श्रेष्ठ वर्णवाले तुम्हे कर्म चाण्डाल-सरीखे होकर मेरा बध करना उचित नही है। यदि तुम्हारे द्वारा यज्ञ मे मारे हुए प्राणी निश्चय से स्वर्ग जाते हैं, तो तुम माता-पिताओ तथा अपने पुत्रो व बन्धुवर्गो से यज्ञ क्यो नही करते ?' ॥१७७॥

फिर हे मारिदत्त महाराज ! जब वह मेरी माता (चन्द्रमति), जो कि मेरे उक्तप्रकार के वचनो मे उत्तरहीन है व जिसने दूसरा उपाय नही देखा और जो 'हे माता ! मेरे इन पैरो पर पडने रूप अकल्याणकारक विनय से पर्याप्त है' इसप्रकार विशेष मान-सहित मेरे द्वारा निवारण भी की जा रही है, मेरे पैरो पर विशेष प्रकट की हुई करुणापूवक व प्रकट हुई विशेष विनय सहित गिरी और उसने मुझसे निम्नप्रकार प्रार्थना की। मेरी माता ने क्या विचार कर ? मुझसे निम्नप्रकार प्रार्थना की ? 'निस्सन्देह समस्त ससार मे सम्मान-समूह प्राप्त करनेवाले राजपुत्रो के कर्त्तव्य स्वभाव से कुटुम्बवर्ग के प्रति धूर्तता के कारण निर्दय होते है, अत निपुणबुद्धिशाली पुरुषो को इन राजपुत्रो के लिए सामनीति से ही कर्त्तव्यो मे अपने अधीन करना चाहिए।' और निश्चय से महान् पुत्र के प्रति माताओ के शिशुकालसरीखे मिथ्यास्तुतिवाले व स्नेहपूर्ण मोठे वचन ही प्रशसनीय होते

सप्रणयमतिप्रकटितकरुणामयमाविर्भूतबहुप्रश्रयं च पादयोर्निपत्य मामेवमभ्यर्थितवती—'पुत्र, अहमनाथेत्यनुकम्पया वा, मातेति वत्सलतया वा, मद्दर्शनायत्तजीवितेत्युपरोधेन वा, वृद्धेति दयालुतया वा, गुरुवचनमनुल्लङ्घनीयमित्याशयेन वा, भविष्यत्यवश्यमनेनाभ्यर्थितभङ्गेन पूर्वमाचरितस्यापि सुकृतस्य हानिरिति परामर्शेन वा, किमपर कोऽपि नास्ति तव पण्डितमन्यभावस्यास्पद येन मयि जरत्यामेवमतीव विहितविचारचपलोऽसीत्युपालम्भनभयेन वा, युक्तमयुक्त वा गुरुरेव जानातीति मार्गानुसारणेन वा, न भवति शुभ चेदनुष्ठानमहमेव स्यामेनसा भागीति मनीषया वा, चिरमिय महीयसि पदे स्थिता मयापमानिता सती न जीविष्यतीति सभावनेन वा, पुरा हि तस्या एव मम प्रभवन्ति वचासि कुतो नाद्येति स्नेहानुगमनेन वा, नो चेदात्मानमेव करिष्यामि देवतोपहाराय त्वमेव तावदनुभवोभयकुलविशुद्ध श्रियोऽस्या फलमित्यपवादबीभत्सया वा, यदि परलोकदोषाशङ्कनेनान्येन वा केनचित्कारणेन प्राणिघाते न व्याप्रियसे, मा प्रावर्तिष्ठा । कि तु विनिवेदितदक्षिणोत्सवैर्वेदविद्भिर्वाडवै परिश्रावितसकलसत्त्वोपहारफलोत्कटेन पिष्टकुक्कुटेन कुलदेवतायै बलिमुपकल्प्य तदवशिष्ट पिष्ट मासमिति च परिकल्प्य मया सहावश्य प्राशनीयम्' इति ।

राजा—(स्वगतम् ।) 'अहो, महिलाना दुराग्रहनिरवग्रहाणि परोपघाताग्रहाणि च भवन्ति प्रायेण चेष्टितानि । स्त्रियो हि नाम भवन्तु भर्तृषु शय्याविषये पुत्रेषु च प्रतिपालनसमये प्रकाम निसृष्टार्था निरङ्कुशाचरणसमर्थाश्च, न

है न कि कानो को कटु प्रतीत होनेवाले ।' उसने मुझसे कैसी प्रार्थना की ?—'हे पुत्र ! यदि तुम दुर्गति-गमन की आशङ्का से अथवा किसी दूसरे कारण से जीवबध मे प्रवृत्त नही होते तो मत प्रवृत्त होओ, किन्तु आटे के मुर्गे से, जिसमे ऐसे ब्राह्मणो द्वारा, जिनका उत्साह विशेष रूप से निवेदन की हुई दक्षिणा के लिए है और जो त्रयीवेदविद्या मे निपुण है, समस्त प्राणियो की बलि का फल विविध ग्रन्थो के प्रमाणपूर्वक ज्ञापित किये जाने से महान् है, कुलदेवता के निमित्त बलि (पूजा) समर्पण करके तथा उससे बचे हुए आटे में मास का सकल्प करके निम्न प्रकार कारणो से तुम्हे मेरे साथ अवश्य भक्षण करना चाहिए ।

हे पुत्र ! तुम्हे किन कारणो से उक्त कार्य करना चाहिए ? 'हे पुत्र ! मै अनाथ हूँ, इसप्रकारकी दयालुता से अथवा 'यह मेरी माता है' ऐसी अनुरागता से, अथवा 'यह मेरे दर्शनाधीन जीवनवाली है' इसप्रकार के आग्रह से, अथवा, 'यह वृद्ध है' इसप्रकार की दयालुता से, अथवा 'माता पिता-आदि गुरुजनो का वचन उल्लङ्घन करने लायक नही है' ऐसे नैतिक अभिप्राय से, अथवा 'इसका मनोरथ पूर्ण न होने से पूर्वकाल मे विधिपूर्वक किये हुए पुण्य का नाश अवश्य ही होगा' इसप्रकार के विचार से अथवा हे पुत्र ! तुम्हारी मूर्खता का स्थान क्या कोई दूसरा गुण या स्वभाव नही है ? जिससे तुम मुझ वृद्धा के विषय मे भी उक्तप्रकार किये हुए विचार से विशेष अस्थिर प्रकृतिवाले हो रहे हो' इसप्रकार की उलाहना के भय से, अथवा 'योग्य-अयोग्य को माता पिता ही जानते हैं' इसप्रकार के मार्ग का अनुसरण (स्वीकार) करने से, अथवा 'यदि यह शुभ अनुष्ठान नही है तो मै ही पाप-भागिनी होऊँगी' ऐसी बुद्धि से अथवा 'विशेष पूज्य स्थान पर अधिष्ठित हुई भी, मेरे द्वारा तिरस्कृत होने के कारण यह चिरकाल तक जीवित नही रहेगी' इसप्रचार के विचार से अथवा 'जब उसके परोक्षकाल (पीठ पीछे) मे ही मेरे वचन उसको आज्ञापालन मे समर्थ होते है तब इससमय उसके समक्ष क्यो नही आज्ञापालन मे समर्थ होगे ?' इसप्रकार के प्रेमका अनुसरण करने से अथवा 'यदि मेरा वचन स्वीकार नही करते तो मै ही अपने को देवता की बलि निमित्त कर दूँगी, फिर मातृ-पितृवश मे शुद्ध हुए तुमही इस राज्य की लक्ष्मी का फल भोगो' इसप्रकार के अपवाद के भय से ।

उक्त बात को सुनकर यशोधर महराज ने अपने मन मे निम्नप्रकार विचार किया 'आश्चर्य है कि स्त्रियो के कार्य, बहुलता से दुराग्रह से रुकावट-हीन और दूसरो का बध करने मे दृढप्रतिज्ञा-युक्त होते है । क्योकि

पुन पौरुषेयेषु कर्मसु । यस्मात्कमलिनीदलेषु जलकणस्येव नारीणा मनसश्चञ्चलत्वादतीव नि सारत्वाच्च । पुरुषोऽपि गृहकार्यादन्यत्र स्त्रिय प्रमाणयन्नदीप्रवाहपतित पादप इव न चिर नन्दति । स्त्री तु पुरुषमुष्टिस्थिता खड्गयष्टिरिव साधयत्यभिमतमर्थम् । अभिनिवेश च पुन पापपुण्यक्रियासु प्रधान निधानमामनन्ति मनीषिण । बाह्यानीन्द्रियाणि तपनतेजासीव शुभेष्वशुभेषु च वस्तुषु सम विनिपतन्ति । न चैतावता भवति तदधिष्ठातु कुशलेन चादृष्टेन सबन्ध । सकल्पोपपन्नप्रतिष्ठानि च देवसायुज्यभाञ्जि शिलाशकलानि किमत्यासादयन् पुरुषो न भवति लोके महापञ्चपातकी । सकृदेव चाशुभसकल्पमलिने मनसि दुरपवादकलुषिते सत्पुरुषचेतसीव दुलभा खलु पुनस्तत्प्रसन्नतायामुपाया । चिरेणापि च कालेन कृत कल्याणकर्मणा प्रचय प्रमादवशेन सकृदपि सजातविधिदुरभिसधि पावकनिक्षेपात्प्रासाद इव क्षणेन विनश्यत्यामूलत । सकल्पेन च भवन्ति गृहमेधिनोऽपि मुनय । यथा—**उत्तरमथुराया** निशाप्रतिमास्थितस्त्रिदिवसूत्रित-कलत्रपुत्रमित्रोपद्रवोऽप्येकत्वभावनमानसोऽ**र्हद्दास** । मुनयश्च गृहस्था । यथा—**कुसुमपुरे** चिरादाकर्णितसुतसमर-स्थितिरातापनयोगयुतोऽपि **पुरुहूतदेवर्षि** ।

स्त्रियाँ, पति के साथ सुरत (मैथुन—भोग) समय मे और पुत्रो के पालनपोषण के अवसर पर यथेष्ट गृह कार्यो मे छोडी हुई व सासु-आदि से निर्भय—स्वाधीनता पूर्वक—कार्यसम्पादन मे समर्थ होवे न कि पुरुषो द्वारा किये जानेवाले कार्यो मे । क्योकि स्त्रियो का मन कमलिनी-पत्तो पर पडे हुए जलबिन्दुसरीखा विशेष चञ्चल व अत्यन्त निर्बल होता है । पुरुष भी गृहकार्य (भोजन बनाना आदि) को छोडकर दूसरे कार्यो मे स्त्री को प्रमाण मानता हुआ नदीप्रवाह मे पडे हुए वृक्ष-सरीखा चिरकाल तक स्थिर नही रहता एव स्त्री तो पुरुष की मुट्ठी मे स्थित हुई—पुरुष से परतन्त्र हुई—उसप्रकार अभिलषित प्रयोजन सिद्ध करती है जिसप्रकार उत्तम खड्गयष्टि (तलवार) योग्य पुरुष की मुष्टि मे स्थित हुई अभिलषित प्रयोजन (विजयश्री) सिद्ध करती है। विद्वान् लोग चित्त की आसक्ति को ही पाप-पुण्य क्रियाओ का मुख्य स्थान कहते है । क्योकि यद्यपि चक्षु-आदि इन्द्रियाँ पुण्यजनक व पापजनक कार्यो मे सूर्य-प्रकाश-सरीखो एककाल मे ही प्रवृत्त होती है, परन्तु इतने मात्र से—केवल दर्शनमात्र से ही—दर्शन व स्पर्शन करनेवाखे मानव को पुण्य व पाप से सबध नही होता । उदा-हरणार्थ—मानसिक सकल्प द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले व देव (ईश्वर) की समानता को प्राप्त हुए पाषाण-खण्डो (पाषाणमयो देवमूर्तियो) की आसादना (तिरस्कार) करता हुआ मानव क्या लोक मे महापञ्च पातकी[1] (स्वामी द्रोह व स्त्री-वध आदि का करनेवाला) नही होता ? जब मन एकबार भी पापपरिणाम से दूषित (मलिन) हो जाता है तब निश्चय से उसे निर्मल करने के उपाय वैसे दुर्लभ होते है जैसे निन्दा से मलिन हुए सत्पुरुष के चित्त को निर्मल बनाने के उपाय दुर्लभ होते है । जैसे अग्नि डालने से गृह नष्ट—भस्म हो जाता है वैसे ही चिरकाल से सचय किया हुआ पुण्यकर्म-समूह भी, जिसमे असावधानी से एक बार भी नष्ट अभिप्राय उत्पन्न हुआ है, क्षणभर मे समूल नष्ट हो जाता है। पुण्यपरिणाम से गृहस्थ भी मुनि-सरीखी मान्यता प्राप्त करते है । जैसे उत्तर मथुरा मे रात्रि मे ध्यानस्थ हुआ अर्हद्दासनामका सेठ, देवविशेष द्वारा किया गया है स्त्री, पुत्र व मित्र का उपद्रव जिसका, ऐसा होनेपर भी एकत्वभावना के चिन्तवन मे मग्नचित्त हुआ मुनिसदृश मान्यता को प्राप्त हुआ।[2] एव मुनि भी पापपरिणाम से गृहस्थसरीखे हो जाते है । उदाहरणार्थ—जिसप्रकार

---

१ उक्त च—'स्वामिद्रोह स्त्रीवधो बालहिंसा विश्वस्ताना घातन लिङ्गभेद । प्रायेणैतत्पञ्चक पातकाना कुर्यात्सद्य प्राणिन प्राप्तदु खान् ॥ १ ॥'

२ अर्हद्दास की कथा—उत्तर मथुरा मे जब अर्हद्दास नाम का सेठ चतुर्दशी का उपवास किये हुए रात्रि मे श्मशान भूमिपर ध्यानस्थ होकर एकत्व भावना मे लीन था तब उसके व्रत को नष्ट करने मे तत्पर हुए वनदेवताओ ने अनेक उपद्रव किये, तथापि उसे जरा भी मानसिक क्षोभ नही हुआ, जिससे उसे मुनिसदृश मान्यता प्राप्त हुई ।

अस्ति च जगत्प्रसिद्धमिदमुदाहरणम्—एकस्मिन्नेव किल कामिनीकलेवरे मुनिकामिकुणपाशिनामभिनिवेशनिमित्तो विचित्रनिषेक कर्मविपाक इति । कि च ।

नरेषु सकल्पवशेन मन्मथो यथा प्रवर्तेत पयश्च धेनुषु ।
तथैव कर्माण्युभयानि मानसाद्दधाति बोधाधिपतिर्विजृम्भितात् ॥१७८॥

इयमिज्या च मे मोहविह्वला कालरात्रिरिव दुष्परिहारा जानुभञ्जिनीव मे गतिभङ्गाय प्रत्यवस्थिता । तदत्राहम् 'इतस्तटमितो व्याघ्र केनास्तु प्राणिनो गति ' इतीम न्यायमापतितो यद्यवगणयेयमस्या प्रतिश्रुतम्, तदेत एव समीपवर्तिनो 'देव, बुद्धे फलमनाग्रह ' इत्युपदिशन्तो भविष्यन्त्युपाध्याया । सकलजनसमक्ष परमपमानिता चेय जरती न जाने कि करिष्यति । स्वरय च मनसि चोक्षापि क्रियोत्प्रेक्षा सा न भवति पुस श्रेयस्करी, या न रञ्जयति परेषा चेतासि ।

पटना नगर मे 'पुरुहूत' नामका देवर्षि (दिगम्बर मुनि), आतपन योग मे स्थित हुआ भी, जिसने गुप्तचर द्वारा अपने पुत्र को युद्धस्थिति सुनी थी गृहस्थसरीखा हो गया[1] । [2]सर्वलोक मे विख्यात निम्नप्रकार दृष्टान्त वचन है—केवल मरी हुई वेश्या के शरीर को देखकर दिगम्बर मुनि व वेश्यासक्त विट् तथा कुत्ते के अभिप्राय मे कारण नानाप्रकार के आस्रववाला कर्मविपाक (उदय) है ।[3]

जैसे कामवासना के अभिप्राय से मनुष्य मे काम (मैथुनेच्छा) उत्पन्न होता है और जैसे मरे हुए बछडे का करङ्क (ढाँचा) देखने से गायो के थनो से दूध झरता है वैसे ही यह जीव मानसिक शुभ-अशुभ अभिप्राय से क्रमश पुण्य-पाप कर्मो का बध करता है ॥ १७८ ॥

मोह (अज्ञान) से विह्वल—व्याकलित हुई मेरी माता (चन्द्रमति) और मोह (प्राणि-हिंसा) से विह्वल (भयानक) यह यज्ञ, वैसा मेरे लिए दु ख से भी त्यागने के लिए अशक्य है जैसे मोह (मूर्छा) से विह्वल—व्याकुलित करनेवाली—कालरात्रि दु ख से भी त्यागने के लिए अशक्य होती है । एव जैसे यन्त्र विशेष गतिभङ्ग (गमन-रोकने) के लिए स्थित होता है वैसे यह मेरी माता व यज्ञ गतिभङ्ग (ज्ञान नष्ट करने) के लिए स्थित है । उससे मै यहापर 'इस ओर जाने से नदी का तट है और उस ओर जाने से व्याघ्र

---

१ 'यथा कुसुमपुरे कृतोदन्ताल्लेखवाहकादाकर्णितसुतसमरस्थितिरातपनयोगयुत पुरुहूतो देवर्षि ' नागौर की ह० लि० (क) से समुद्धृत पाठान्तर—

नोट.—यद्यपि इसका अथ भी उपयुक्त सरीखा है तथापि यह पाठ मु० प्रति के पाठ की अपेक्षा विशेष उत्तम है ।

२ पुरुहूत देवर्षि की कथा—पाटलिपुत्र नगर के 'पुरुहूत' नाम के राजा ने पुत्र के लिए राज्यभार समर्पण करके जिन-दीक्षा धारण कर 'देवर्षि' नाम प्राप्त किया । एव पर्वत-मेखलापर आतपन योग मे स्थित हुआ । उसने पत्रवाहक गुप्तचर से, जिसने प्रस्तुत विद्याधर की उपासना के लिए आए हुए श्रावक के साथ बातचीत की थी, शत्रुओ के साथ अपने पुत्र का युद्ध सुना । फिर कुपित हुए उसने युद्ध करने का उद्यम किया और पहाडी से घढे हुए सरीखा हो गया । बाद मे अवधिज्ञानी चारणऋद्धिधारी मुनि ने उसे समझाया—कि ऐसे त्रिलोक पूज्य दिगम्बर वेष को धारण करके इसप्रकार चिन्तवन करना योग्य नही है ।

३ श्मशान भूमि पर पडी हुई मृत वेश्या को देखकर दिगम्बर मुनि ने विचार किया—इसने तपश्चरण क्यो नही किया ? वृथा ही मर गई । जिससे मुनि को स्वग का कारण पुण्य बन्ध हुआ । फिर उसे देखकर वेश्यासक्त विट् ने विचार किया कि यदि यह जीवित रहती तो मै इसके साथ भोग करता अत उसे पाप का कारण दुर्गति का बन्ध हुआ । कुत्ते ने उसे देखकर उसके मास-भक्षण की इच्छा की, इससे उसे पाप का कारण नरक बन्ध हुआ ।

तथा च लौकिकी श्रुति —किल बृहस्पति सद्वृत्तोऽपि **चुङ्कारनगरे** लोचनाञ्जनहरेण कितवेन मिथ्यापवाददूषित शतक्रतुसभाया प्रवेश न लेभे। अलब्धाशनाशेन तु **षजकनाम्ना** वाग्जीवनेन 'अय भिक्षाभ्रमणव्याजेनार्भकान्भक्षयति' इत्युपहतश्**चक्रपाणिः** परिव्राड्वाराणस्याम्। मधुपेषु मध्ये पीतपयाश्च **मार्कण्डतापसस्तापसाश्रमेषु**। ज्ञान च प्रतिकूलदैवोपनिपातमौषधमिव न भवति विहितोपयोगमप्यर्थक्रियाकारि। कि नु खल्वज्ञो **द्वैपायनो** येन स तादृश कर्म समाचचार। **पौलस्त्यो** नीतिशास्त्रेषु नाश्रौषीद्**दाण्डक्योपाख्यानम्**, येन स परदारानपाहरत्। नहुषेन न सम्यगुपासित गुरुकुल येन सप्तर्षीन्सयुग्यानकार्षीत्। **प्रजापतिर्जड** एव एडो वा, येनात्मदुहितरि मनश्चकार। **वररुचिश्च वृषली**निमित्तमासवनिपोद्वहनमिति।

(प्रकाशम्।) अम्ब, न बालकेलिष्वपि मे कदाचित्प्रतिलोमता गतासि। न वद्मि कथमद्यैव ते **चन्द्रमतेर**प्यस्थाने दुराग्रहमलीमसा मति समजनीति। तत्पर्याप्तमत्रालापपरम्परा। भवतु। भवत्येवात्र प्रमाणम्। उत्तिष्ठ। ननु तवैव पूर्यन्तामत्र कामितानि। आहूय त्वमेवादिश कृकवाकुविनिर्माणे शिल्पिन। साधु समाज्ञापय त्वमेव भगवतीभवनशोभारम्भाय देवभोगिनम्। अनुशाधि त्वमेव **यशोमतिकुमारस्य** राज्याभिषेकदिवसगणनाय मौहूर्तिकान्।

है, अत किस मार्ग से प्राणी का गमन हो ?' इसप्रकार की न्याय मे पडा हुआ मै यदि इस माता द्वारा प्रतिज्ञा की हुई बात (आटे के मुर्गे की बलि) तिरस्कृत करता हूँ तो ये समीपवर्ती लोग 'हे राजन्! बुद्धि का फल आग्रह न करना है' इसप्रकार उपदेश देते हुए मेरे उपाध्याय हो जॉयगे एव समस्त पुरुषो के समक्ष तिरस्कृत की हुई यह वृद्ध माता न मालूम क्या करेगी ? अपने मन मे वर्तमान शुद्ध भी कर्त्तव्य करने की इच्छा यदि दूसरो के चित्त को प्रमुदित नही करती तो वह पुरुष को कल्याण करनेवाली नही होती। उक्त बात की समर्थक लौकिक कथाएँ—निस्सन्देह 'बृहस्पति' सदाचारी होनेपर भी जब चुङ्कार नाम के नगर मे 'लोचनाञ्जनहर' नामक जुआरी द्वारा मिथ्या-अपवाद से दूषित हुआ तब इन्द्र-सभा मे प्रविष्ट न हो सका। दूसरी कथा—'चक्रपाणि' नामका सन्यासी 'षजक' नाम के स्तुतिपाठक से, जिसे प्रस्तुत सन्यासी से भोजन का भाग नही मिला था, 'यह भिक्षार्थ घूमने के बहाने से बच्चो को खाता है' ऐसी निन्दा से दूषित होने के कारण काशीनगर मे प्रवेश न कर सका। 'मार्कण्ड' नामका तपस्वी, जिसने शराबियो के बीच मे उनके स्नेह से केवल दूध ही पिया था, 'इसने शराब पी ली' इसप्रकार की लोक-निन्दा के कारण तपस्वियो के आश्रम मे प्रवेश न कर सका। प्रतिकूल भाग्य के उदय से व्याप्त हुआ ज्ञान, उपयोग किया हुआ भी सेवन की हुई औषधि की तरह सफल नही होता।

निस्सन्देह क्या 'द्वैपायन' नाम के मुनि मूर्ख थे, जिससे उन्होने द्वारिका नगरी को भस्म किया। क्या लङ्काधिपति रावण ने नीतिशास्त्रो मे 'दाण्डक्य' राजा का उदाहरण नही सुना था ? जिससे उसने परस्त्री (सती सीता) का अपहरण किया। क्या 'नहुष' राजा ने भली प्रकार गुरुकुल की उपासना नही की ? जिससे उसने सप्तर्षियो को बैलो-सरीखे वाहन बनाए। क्या ब्रह्मा विवेक-हीन या बहिरे थे ? जिससे उन्होने अपनी पुत्री के भोगने की इच्छा की। कात्यायन नाम के तपस्वी ने दासी के निमित्त शराब से भरा हुआ घडा उठाया।

अब यशोधर महाराज ने स्पष्ट कहा—हे माता! जब बाल-क्रीडाओ मे भी किसी भी अवसरपर तुमने मेरी प्रतिकूलता प्राप्त नही की, अर्थात्—सदा मेरे अनुकूल रही—तब न जाने आज चन्द्रमति (निर्मल बुद्धि-युक्त) तेरी बुद्धि अयोग्य आचरण मे दुष्ट आग्रह से विशेष मलिन किस प्रकार हुई ? अत इस कार्य मे विशेष वार्तालाप करने से कोई प्रयोजन नही। अस्तु इस कार्य (आटे के मुर्गे का मारण व उसको मास समझकर भक्षणरूप कार्य) मे आप ही प्रमाण है। हे माता! उठो। निस्सन्देह प्रस्तुत कार्य मे आपके ही मनोरथ पूर्ण हो। तुम्ही शिल्पियो को बुलाकर मुर्गा बनाने की आज्ञा दो व तुम्ही कुलदेवता-गृह की शोभा करने के

एवमन्यान्यपि विधापय त्वमेव देवद्विजपरिजनपूजापुर सराणि गृहकार्याणि। अहो वैरिकुलकमलाकरनीहार प्रतीहार, विसृज्य-तामयमशेषोऽपि यथायथमनुजीविनिवह। अहमप्येष चिरप्रवृत्तवार्तासजातश्रमो मनागप्यस्माद्वसुमतीतिलकात्सभामण्ड-पाद्दूरदेशवर्तिनि तस्मिन्मदनविलासनामनिवासभवने स्वैरविहाराय गच्छामि। तदनु तस्मिन्मयि शय्यातलमलकृतवत्यहो विक्रमालकार, सा मदीयामृतमतिमहादेवी दिवसादीयमादातुमागत्य गतात्कुसुमशेखरकात्पुष्पवटोर्मदनदमयन्तिकाया प्रसाधिकाया दुहितुर्विनोदकलहंसिकायाश्च सध्रीच्या सजातसकलसेवावसराया ससदि प्रवृत्तमुदन्तमाकर्ण्य, 'न खलु मे यामिनीसमाचरितसाहसादस्य वसुमतीपतेरपरमेवविधकूटकपटानुष्ठानमस्ति। मन्ये च दुष्करमेवमस्यास्थिरचित्तस्य चिरकालभावीनि भविष्यन्त्यायूषि। कुलवधूना ह्ययमन्यश्च देवद्विजाग्निसमक्ष मातापितृविक्रीतस्य कायस्यैव भवतीश्वर, न मनस। तस्य पुन स एव स्वामी यत्रायमसाधारण प्रवर्तते पर विश्रम्भविश्रमाश्रय प्रणय। तथाहि—

पुरापि कि न रेमे गङ्गा सह महेश्वरेण, राधा नारायणेन, बृहस्पतिपत्नी द्विजराजेन, तारा च बालिना। महासत्त्वेषु हि जगति न किंचिद्दुष्करमस्ति। अन्यत्र विरक्ते चेतसि रागप्रत्यानयनात। को हि नामाय पिण्ड इव तप्तातप्ते मनसी सधातुमर्हति। कि च परमकुहन इव पुरध्रीषु बुद्धिमानवाप्नोति स्वश्रेयसम्। अन्यथा कृत्याराधक इव ध्रुव पञ्चजन

लिए देवता-पूजक पुजारी ब्राह्मण को भली प्रकार आज्ञा दो। एव यशोमति कुमार के राज्याभिषेक करने की लग्न के शोधन के लिए तुम्ही ज्योतिषियो को आदेश दो। देवपूजा, द्विजपूजा व परिजन (कुटुम्ब) पूजा-आदि दूसरे भी गृहकार्य तुम्ही कराओ। शत्रु समूहरूपी कमल वन के शोषण के लिए हिम-सरीखे हे द्वारपाल! तुम इस समस्त किंकर-समूह को भी उपयुक्त स्थानपर भेज दो एव यह मै भी, जिसे लम्बी वेला पर्यन्त उत्पन्न हुए वार्तालाप से खेद उत्पन्न हुआ है, इस 'वसुमतीतिलक' नाम के सभा मण्डप से कुछ निकटवर्ती उस 'मदन-विलास' नाम के निवास भवन मे स्वच्छन्द विहार-निमित्त जाता हूँ। इसके बाद जब मै प्रस्तुत 'मदनविलास' नाम के निवास भवन मे स्थिति हुए पलँग को अलङ्कृत कर चुका था तब अहो! पराक्रम-पञ्चानन मारिदत्त महाराज! उस मेरी अमृतमति महादेवी ने दिन सम्बन्धी भोजन-ग्रहण करने के निमित्त आकर वापिस गये हुए 'कुसुम शेखर' नाम के विद्यार्थी से एव 'विनोद कलहसिका' नाम की सखी से, जो कि 'मदनदमयन्तिका' नाम की शृङ्गार कारिणी की पुत्री थी, सभा मे, जिसमे समस्त पुरुषो की सेवा का अवसर उत्पन्न हुआ है, उत्पन्न हुए वृत्तान्त को सुनकर निम्न प्रकार विचार किया—'इस राजा के ऐसे कूट कपट का कारण निश्चय से मेरे द्वारा रात्रि मे किये हुए दुर्विलास को छोडकर दूसरा नही है। ऐसे अस्थिर चित्तवाले इस यशोधर महाराज की आयु (जीवन) दीर्घ होगी, इसे मै असम्भव मानती हूँ। अर्थात्—यह निकट मृत्यु है। निश्चय से यह यशोधर अथवा इससे भिन्न दूसरा कोई भी मानव देव, ब्राह्मण व अग्नि के समक्ष माता-पिता द्वारा दिये गए कुलवधुओ के शरीर का ही स्वामी होता है, न कि उनके चित्त का। उन कुलवधुओ के चित्त का वही स्वामी होता है, जिस पुरुष मे ऐसा प्रेम पाया जाता है, जो कि अनोखा और विश्वास एव दु ख-निवारण का स्थान होता है। अब अमृतमति उक्त बात को दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन करती है—

पूर्वकाल मे भी शन्तनु राजा की पत्नी गङ्गा ने क्या महेश्वर के साथ रतिविलास नही किया? राधा नाम की गोपी ने क्या श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) के साथ रतिविलास नही किया? और बृहस्पति की पत्नी ने क्या चन्द्रमा के साथ रमण नही किया? एव सुग्रीव की पत्नी तारा ने बालि के साथ क्या रतिविलास नही किया? निश्चय से महासाहसियो को ससार मे कोई भी कार्य असम्भव नही है, परन्तु विरक्तचित्त को अनुरक्त बनाना शक्य नही। निश्चय से कौन पुरुष लोहे के गोलो-सरीखे तप्त और अतप्त चित्तो को जोडने मे समर्थ होता है? विशेषता यह है कि केवल स्त्रियो से ईर्ष्या न करनेवाला बुद्धिमान पुरुष ही अपना कल्याण प्राप्त करता है,

पञ्चतामञ्चेत् । भवेद्वावश्यमक्षिगत । तदेष यावन्न मयि रोषविष वर्षति तावदहमेवास्य तद्वर्षामि । यथा चेय ममात्मजस्य राज्याभिषेकवार्ता प्रतिस्वप्नविधि किवदन्ती च बाढमुच्छलिता । सा यदि दैवात्तथैव परमार्थसती तदाचिरात्प्रकाम मे मनोरथा फलिता । सिद्ध च मे समीहितम् । न चैतदाश्चर्यम् । अनुकूल हि दैव करोति कुरङ्गमपि कण्ठीरवातिवर्तनम् । अचलानपि च विदारयति नलदण्डेन । केवलमत्रौत्तायकत्व परिहर्तव्यम् । उत्तायकस्य हि पुरुषस्य हस्तायातमपि कार्य निधानमिव न सुखेन जीर्यति । भवति च जीवितव्यसदेहाय । कि च न खलु बुभुक्षितवशादुदुम्बराणि पच्यन्ते । नाप्युद्बुद्वच्छक्यते पातुम्' इति च वितर्क्य, तथा—

अनुनयत वदत मधुर यत्कार्यं तदपि मानसे कुरुत । रौति कल हि मयूर सविष च भुजङ्गम दशति ॥१७ ॥

मूर्ध्ना वहति लोकोऽय यथा दग्धुमिहेन्धनम् । अनुशील्य क्षय नेयस्तथारातिर्महात्मना ॥ १८० ॥

पुसामसारसत्त्वाना कि कुर्याद्विक्रमक्रम । भस्मीभवन्ति काष्ठानि तेजसानुगतान्यपि ॥ १८१ ॥

ज्ञानवानपि कार्येषु जन प्रायेण मुह्यति । हस्तन्यस्तप्रदीपस्य कि न स्खलति शेमुषी ॥ १८२ ॥

प्राय सरलचित्ताना जायते विपदागम । ऋजुर्याति यथा छेद न वक्र पादपस्तथा ॥ १८३ ॥

अर्थात् ईर्ष्यालु तो मर जाता है । अन्यथा—स्त्रियो से ईर्ष्या करनेवाला पुरुष निश्चय से वैसा मरण प्राप्त करता है जैसे कृत्या (देवी विशेष) की आराधना करनेवाला पुरुष मरण प्राप्त करता है । अथवा यह निश्चय मे स्त्रियो से द्वेष करने योग्य होता है । अत यह राजा जब तक मेरे ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण नही करता तब तक मै ही इसके ऊपर क्रोधरूपी विष का क्षरण करती हूँ। जिसप्रकार से यह मेरे पुत्र (यशोमतिकुमार) की राज्याभिषेक-वार्ता, दुष्ट स्वप्न का शमन-विधान और राजा के दीक्षा-ग्रहण की लोक-वार्ता विशेषरूप से उठी है, वह दीक्षाग्रहण-वार्ता यदि पुण्ययोग से वास्तविक सत्य होगी तब तो इस समय ही मेरे मनोरथ विशेष रूप से पूर्ण हुए । मेरा मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा ही। यह मनोरथ-सिद्धि लक्षणवाला कार्य आश्चर्य-जनक नही है । क्योकि निश्चय से जब दैव अनुकूल होता है तब वह (हितकारक पुण्य) हिरण को भी सिंह का घातक कर देता है और पर्वत को भी नलदण्ड से विदीर्ण कर देता है, परन्तु इस कार्य मे उत्सुकता—अस्थिरता छोड देनी चाहिए । क्योकि अस्थिर चित्तवाले पुरुषका हस्त मे आया हुआ भी कार्य निधि-सरीखा अनायास से परिणमन नही करता—सिद्ध नही होता एव अस्थिर चित्तता जीवन को सदिग्ध कर देती है। अर्थात्—अस्थिरता मे मरण भी उत्पन्न हो जाता है । निश्चय से भूँखे पुरुष की इच्छामात्र से उदम्बर फल नही पकते किन्तु प्रयत्न द्वारा पकाये जाते है । इसीप्रकार उबलता हुआ जलादि पीने के लिए शक्य नही होता ।

'तुम लोग मनुष्यो का सन्मान करो व कानो को अमृत सरीखे मिष्ट वचन बोलो तथा जो कर्त्तव्य चित्तमे वर्तमान है, उसे करो । जैसे मयूर मधुर शब्द करता हुआ विषैले साँप का खा लेता है[1] ॥१७९॥ जैसे यह लोक ईंधन को जलाने के लिए मस्तक पर धारण करता है वैसे नीतिशास्त्र मे प्रवीण पुरुष को भी शत्रु को शान्त करके क्षय करना चाहिए[2] ॥१८०॥ स्वाभाविक शक्तिहीन पुरुषो की पराक्रम-परिपाटी क्या कर सकती है ? जैसे ईंधन अग्नि से सहित होते हुए भी भस्म हो जाते है[3] ॥१८१॥ ज्ञानवान् पुरुष भी प्राय करके कर्त्तव्यो मे अज्ञान-युक्त हो जाता है । जैसे अपने हाथ पर दीपक स्थापित करनेवाले पुरुष की बुद्धि क्या स्खलित नही होती ?[4] ॥१८२॥ सरल (निष्कपट) चित्तशाली पुरुषो का प्राय. करके मरण होता है । जैसे सरल—सीधा-वृक्ष काटा जाता है वैसे वक्र (टेडा) वृक्ष नही काटा जाता । अभिप्राय यह है कि इससे मनुष्य को कुटिल ही होना

१-२ दृष्टान्तालकार । ३ दृष्टान्तालकार । ४ आक्षेपालकार ।

रक्तभाव समस्ताना प्रदर्श्योदेति य पुमान् । आदित्यवत्स किं न स्यात्पादाक्रान्तजगत्त्रय ॥ १८४ ॥

बहिर्मृदुर्लघूत्थान पूर्वं य स्यात्प्ररोहवत् । किमसौ न भिनत्त्येव प्राप्य काल महीभृत ॥ १८५ ॥

शूरोऽपि सत्त्वयुक्तोऽपि नीतिं वेत्ति न यो नर । तत्र सनिहिता नित्यमापद शरभोपमे ॥ १८६ ॥

अपि च ।

धूर्तेषु मायाविषु दुर्जनेषु स्वार्थैकनिष्ठेषु विमानितेषु । वर्तेत य साधुतया स लोके प्रतार्यते मुग्धमतिर्न केन ॥ १८७ ॥

इति च विमृश्य, शठप्रतिशठन्यायेन किमपि नि शलाके शिक्षयित्वा कुमारवयस्येनालकभञ्जनेनाधिष्ठित गविष्ठिर-ममात्य प्रहितवती । स तथैवागत्य प्रविश्य च निवेदितावसरो मामुन्मूलितमगमिवातीव परिम्लानम्, आलिख्यपरामृष्ट चित्रमिव मलिनच्छायम्, अग्निलङ्घित रत्नमिव नष्टतेजसम्, उत्पाटितपक्ष तार्क्ष्यमिव गलितप्रभावमवलोक्य 'महान्खल्वस्य महीपतेर्नवग्रहस्येव गजस्य दौर्मनस्याभिनिवेश । कुतोऽन्यथाद्यैवाय नीलिकोपदेहदूषितदेहस्त्रिपथगाप्रवाह इव नितरा मलीमसच्छवि समपादि' इति परामर्शविस्मितान्तरङ्ग कृतागमनपर्यनुयोगश्चैव मा व्यजिज्ञपत्—'देव, देवी

चाहिए[1] ॥१८३॥ जो पुरुष समस्त प्राणियो मे रक्तभाव (अनुराग) प्रदर्शित करके उदित होता है, वह, क्या वैसा पादाक्रान्तजगत्त्रय—चरणो द्वारा तीन लोक को व्याप्त करनेवाला (तीन लोक का स्वामी) नही होता ? जैसे सूर्य, पूर्व मे रक्तभाव (अरुणता-लालिमा) प्रदर्शित करके उदित होता हुआ बाद मे पादाक्रान्त जगत्त्रय (किरणो द्वारा तीन लोक को व्याप्त करनेवाला) होता है[2] ॥१८४॥ जो पुरुष पीपल के अङ्कुर सरीखा पूर्व मे बाह्य मे मृदु (कोमल) होता हुआ लघु रूप से उत्पत्ति-युक्त होता है, वह समय पाकर क्या वैसा महीभृतो (राजाओ) को विदीर्ण नही करता ? जैसे पीपल का अङ्कुर समय पाकर महीभृतो (पर्वतो) को विदीर्ण करता है[3] ॥१८५॥ जो पुरुष बहादुर व शक्तिशाली होता हुआ भी नीतिशास्त्र को नही जानता, अष्टापद-सरीखे उस पुरुष के पास सदा आपत्तियाँ (मृत्युएँ) निकटवर्ती होती है । अर्थात्—जिसप्रकार अष्टापद मेघ की गर्जना से ही मर जाता है[4] ॥१८६॥ तथा जो पुरुष, धोखेबाजो, कपटियो, शत्रुओ स्वार्थ-साधन मे तत्पर रहनेवालो एव मानभङ्ग मे प्राप्त कराये गए पुरुषो के साथ हितरूप से प्रवृत्ति करता है, वह विवेकहीन पुरुष ससार मे किस पुरुष द्वारा नही ठगाया जाता ?[5] ॥१८७॥

हे मारिदत्त महाराज ! उस अमृतमति देवी ने उक्त विचार करने के बाद शठ-प्रतिशठ न्याय (तोते के पखो का लुञ्चन व स्त्री के शिर का मूडना रूप प्रकार) से कुछ भी (सत्य-असत्य) एकान्त मे शिक्षा देकर 'अलकभञ्जन' नाम के कुमारकाल के मित्र से युक्त 'गविष्ठिर' नाम का अपना मन्त्री मेरे पास भेजा । उसने उसी तरह से आकर द्वारपाल द्वारा सूचित अवसर-वाला होकर मेरे 'तिलक-भवन विलास' नाम के महल मे प्रविष्ट होकर मुझे निम्न प्रकार का देखा । जैसे उखाडा हुआ वृक्ष कान्तिहीन होता है वैसे मै भी विशेष कान्तिहीन था । जैसे लिखकर मिटाया हुआ चित्र मलिन कान्ति-वाला होता है वेसे मै भी मलिन कान्ति-युक्त था । जिसप्रकार अग्नि से व्याप्त हुआ माणिक्य कान्ति-हीन होता है उसी प्रकार मै भी कान्ति-हीन था और जिस तरह लौचे हुए पखोवाला गरुड पक्षी नष्ट हुए माहात्म्यवाला होता है उसी प्रकार मै भी नष्ट हुए माहात्म्यवाला था । फिर उस मन्त्री ने 'निश्चय से तत्काल मे पकडे हुए हाथी-सरीखे इस राजा की उद्विग्न-उदास चित्तता का अभिप्राय अत्यधिक है, अन्यथा—यदि यह उदास चित्त नही है—तो इस समय ही यह वैसा विशेष मलिनता से दूषित कान्तियुक्त कैसे हुआ ? जैसे गुलिका-मिश्रण से दूषित देहवाला गङ्गा नदी का

१ दृष्टान्तालकार । २ श्लेष व दृष्टान्तालकार । ३ आक्षेपालकार । ४ उपमालकार । ५ आक्षेपालकार ।

मन्मुखेनेदमाह—यद्रुत देव किलाद्य दुःस्वप्नोपशमनार्थं भगवत्या कात्यायन्याः पिष्टकुक्कुटेन बलिमुपहर्तुमादृत इति कर्णपरम्परया श्रुतम्, तद्यदि सत्य तदास्तामसौ ताम्रचूडस्तावत् । अहमेवात्मना परिकल्पिततदुपहारवर्त्मना परितोषयामि भगवतीम् । प्रशाम्यन्तु देवस्य सर्वेऽपि प्रत्यूहव्यूहा । प्रवर्धता च देवस्येदमाचन्द्रार्कमसमश्रीप्राज्य राज्यम् । न च मया विना भवति देवस्य कोऽप्यून प्रदेश । मद्विधाना हि देवस्य किंकरीणामतीव सुलभत्वात् । नीतिरपि तथास्ति—

'आत्मान सतत रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।' इति ।

अथ ममैवविधे प्रेषणावरोधे देवो न करोति करुणा तदा मिथुनचरस्य पक्षिणश्चक्रवाकीव देवस्याह सहचर्यत एव रात्रौ वियुक्तासि, सरस कमलिनीवात एव जडरतासि, जलनिधेर्वेलेवात एव चपलासि, नभस शशिप्रतिमेवातएव सकलङ्कासि, विटपिनश्छायेवात एवान्योपभोग्यासि, कुलशैलस्य मेखलेवात एव क्षुद्राधिष्ठितासि, तपनस्य प्रभेवात एव सतापिकासि,

---

पूर विशेष मलिनता से दूषित कान्ति-युक्त होता है ।' इस प्रकार के विचार से जिसका मन आश्चर्यान्वित हुआ है और जिससे आने का प्रश्न (आप किस प्रयोजन से आए है ?) किया गया है, मुझ से निम्न प्रकार विज्ञापन किया—

हे राजन् ! अमृतमति महादेवी मेरे मुख से निम्न प्रकार कहती है—'जो कि राजा सा० निश्चय से आज दिन दुष्ट स्वप्न की शान्ति के लिए परमेश्वरी कात्यायनी कुल देवता की आटे के मुर्गे से बलि (पूजा) देने के लिए आदरयुक्त है' यह बात मैने कर्ण-परम्परा से सुनी है । यदि वह बलिदान सत्य है तो यह आटे का मुर्गा तब तक एक ओर रहे, मै ही स्वय अपने आप किये हुए उसके पूजा-मार्ग से परमेश्वरी चण्डिका को प्रसन्न करती हूँ । ऐसा करने पर मेरे स्वामी के समस्त विघ्नसमूह शान्त हो जॉयगे । मेरे स्वामी का अनोखी लक्ष्मी से प्रचुरता-प्राप्त हुआ राज्य चन्द्र सूर्य पर्यन्त वृद्धिगत होवे । मेरे प्राणवल्लभ को कोई भी स्थान मेरे बिना न्यून नही है, क्योकि निश्चय से मुझ सरीखी दासियाँ मेरे स्वामी को विशेष सुलभ है । नीतिशास्त्र का मार्ग भी वैसा है—'मनुष्य को स्त्रियो से व धनो से अपनी रक्षा निरन्तर करनी चाहिए' । यदि मेरे इस प्रकार के बलिविधान लक्षणवाले कार्यकारण के योग्य कर्तव्य मे मेरे स्वामी दया नही करते । अर्थात्—मेरा मरण नही चाहते है तो मै मेरे प्राणवल्लभ की वैसी सहचरी होऊँगी जैसी चकवी, चकवा पक्षी की सहचरी होती है, उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज चिन्तवन करते है, 'इसी कारण तू रात्रि मे वियुक्त (वियोग-प्राप्त) हुई है । अर्थात्—जैसे चकवी रात्रि मे चकवा से वियुक्त रहती है वैसे तू भी उस मूर्ख कुबडे मे अनुरक्त होने के कारण मुझसे रात्रि मे वियुक्त रही । मै मेरे स्वामी की वैसी सहचरी होती हूँ जैसे कमलिनी तालाब की सहचरी होती है । उक्त बात को सुनकर यशोधर महाराज मन मे विचार करते है 'इसी कारण तू वैसी जडरत (उस मूर्ख कुबडे मे अनुरक्त) है जैसे कमलिनी जडरत (डकार लकार का श्लेषालङ्कार मे अभेद होने के कारण जलरत—पानी मे लीन) होती है ।

मै अपने स्वामी की वैसी सहचरी होती हूँ जैसे समुद्र की लहर उसकी सहचरी होती है, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू समुद्र-लहर-सी चञ्चल है । मै आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे चन्द्रमूर्ति आकाश की सहचरी होती है । यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू वैसी कलङ्क-सहित (व्यभिचार-दूषित) है जैसे चन्द्रमूर्ति कलङ्क-सहित (श्यामलाञ्चन से व्याप्त) होती है । मै आपकी वृक्ष की छाया-सरीखी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू छाया-सरीखी अन्य-उपभोग्या (जार द्वारा भोगने योग्य व पक्षान्तर मे दूसरे पुरुषो द्वारा सेवन करने योग्य) है । मै आपकी कुलाचल की तटो-सी सहचरी होऊँगी,

रथस्य मार्गभूमिरिवात एव पांशुलासि, प्रदीपस्य शिखेवात एव मलिनोद्गारासि, वसन्तस्य वनलक्ष्मीरिवात एव मन्मथ-कथासनाथासि, मलयाचलस्य चन्दनलतेवात एव कटुस्वभावासि, गजस्य मदलेखेवात एव कामचारप्रवर्तनासि, हिमगिरेर्गङ्गेवात एव नीचानुगतासि, रत्नस्य रागवर्तिरिवात एव परभागघटितासि। एवमन्यदपि समान्यथार्थोपकल्पनविषयमभिधाय तद्देवस्य सर्वदा राज्यसुख दायभागिनीव समाशतयानुभूयेदानीमेकाक्येव परमार्थेनोपस्थितप्रत्यवायवचनमनीषया वा देव प्रव्रजति। अह तु पुत्रस्य श्रियमनुभवन्ती गृह एव तिष्ठामि। इत्यतीवासगतमुभयकुलानुचित शिष्टजनविर्गहित च। न चैवमावयोरनुष्ठानाधिष्ठितयो कोऽप्यागमविरोधो जनापवादानुबन्धो वा। तथा चोक्तम्—

'सत्यज्य ग्राम्यमाहार सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु दारान्निक्षिप्य वन गच्छेत्सहैव वा।। १८८।।

यशोधर चिन्तवन करता है कि इसी कारण तू तटी-सरीखी क्षुद्र-अधिष्ठित है। अर्थात्-हीन कुबडे से सहित व पक्षान्तर मे क्षुद्र—व्याघ्रादि—सहित है। मै आपकी सूर्य की कान्ति-सी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है कि इसीलिए तू सन्ताप (दु ख व पक्षान्तर मे गर्मी) देनेवाली है। मै आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे रथ की मार्गभूमि उसकी सहचरी होती है, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू मार्गभूमि-सरीखी पासुला (कुलटा व पक्षान्तर मे धूलि-सहित) है। मै आपकी दीपक-ज्वाला-सी सहचरी होऊँगी, यशोधर सोचता है, इसी कारण तू दीपक-लौ-सरीखी मलिनोद्गारा (कपट-पूर्ण वचनो को प्रकट करनेवाली व पक्षान्तर मे धुएँ का वमन करनेवाली) है। मै आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे वनलक्ष्मी वसन्त की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है—इसी कारण तू वनलक्ष्मी-सी कामकथा-सयुक्त है। मै आपकी वैसी सहचरी होती हूँ जैसे चन्दन वृक्ष की लता मलयाचल की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है इसी कारण तू चन्दनलता-सी कटुस्वभाववाली है। मै आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे मदलेखा हाथी की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है कि इसी कारण तू यथेष्ट पर्यटन करनेवाली है। मै आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे गगा नदी हिमालय पर्वत की सहचरी होती है, यशोधर सोचता है—इसी कारण तू नीचानुगता (निकृष्ट कुब्जक के साथ अनुराग करनेवाली व पक्षान्तर मे नीचे बहनेवाली) है। एव मै आपकी वैसी सहचरी होऊँगी जैसे रत्न की तेजोवर्ति उसकी सहचरी होती है।

यशोधर सोचता है—इसी कारण तू परभागघटिता (विट् के भाग्य के लिए रची हुई व पक्षान्तर मे शोभा से घटित) है। हे मारिदत्त महाराज! इसप्रकार गविष्ठिर मन्त्री ने मुझ से अमृतमति महादेवी के दूसरे भी ऐसे वचन कहे, जो कि काकु व वक्रोक्ति अलङ्कार से अलङ्कृत थे। फिर उसने निम्न प्रकार वचन कहे उस कारण मैने अपने प्राणवल्लभ के राज्य सुख की सर्वदा दाय-भागिनी-सरीखी होकर समान भागरूप से भोगा, परन्तु इस समय मेरे प्राणनाथ अकेले ही मोक्ष सुख के इच्छुक होने के कारण अथवा उपस्थित हुए दोषो का निराकरण न होने की बुद्धि से दीक्षा धारण कर रहे है और मै पुत्र यशोमतिकुमार की लक्ष्मी भोगती हुई गृह मे ही रहूँ, यह बात अनुचित व दोनो कुलो (ससुर व पिता का वश) के अयोग्य एव शिष्ट पुरुषो से निन्दित है। परन्तु यदि हम दोनो (राजा व रानी) चरित्रपालन मे तत्पर हो तो इसमे कोई आगम (शास्त्र) से विरोध नही है और न लोकनिन्दा का ही सबध है। 'मै अपने स्वामी की सहचरी होऊँगी इसका शास्त्रप्रमाण द्वारा समर्थन करती है—

मोक्षाभिलाषी मानव को सर्वलोक साधारण भोजन छोड कर अर्थात्—धान्य व फलो एव पत्तो मे प्रवृत्ति करके—समस्त परिवार को छोडकर एव स्त्रियो को पुत्रो के लिए समर्पण करके तपश्चर्या के लिए वन मे जाना चाहिए अथवा स्त्रियो के साथ वन मे जाना चाहिए ।।१८८।। स्त्रियो के लिए भिन्न कोई यज्ञ

नास्ति स्त्रीणा पृथग्यज्ञो न व्रत नाप्युपोषितम् । पति शुश्रूषयेद्यत्तु तेन स्वर्गे महीयते ॥ १८९ ॥'

कि च—

'विशील कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित । उपचर्य स्त्रिया साध्व्या सतत देववत्पति ॥ १९० ॥' इति ।

तथा च श्रुति —किल वानप्रस्थभावेऽपि **रामस्य सीता** सधर्मचारिण्यासीत् । **द्रौपदी धनजयस्य, सुदक्षिणा दिलीपस्य, लोपामुद्रागस्त्यस्य, अरुन्धती वशिष्ठस्य, रेणुका च जमदग्नेरिति** । पतिविरहे ह्येकेनाप्यङ्गुष्ठेन तपस्यन्त्य स्त्रियो भवन्त्यवश्य धिक्कारगोचरा । यथा **प्रयागे** प्रायोपवेशनस्थितापि **ब्रह्मबन्धू** ब्राह्मणी **गोविन्देन** परिव्राजा सह किल परीवादभागिनी बभूवेति । तपोग्रहणदिवसे चाम्बादेव्या सह मदीये निलये प्रवहण कर्त्तव्यमिति चाभ्यर्थ्य विरते तस्मिन्नहमिदमवादिषम्—'अहो सत्ययुधिष्ठिर **गविष्ठिर**, यदि नर्मकर्मणापि कदाचिन्महादेव्या प्रतिकूलमाचरितवानस्मि तदा त्वमेवात्र साक्षी । तदेव निवेदय देव्या —यदाह भवती तत्सर्वं देवेन प्रतिपन्नम् । अन्यत्र पूर्वमुत्थापितात्पक्षात् । इति निवेदितेतिकर्तव्ये सबहुमान विसर्जिते च तदमात्ये मया चिन्तितम्—'अहो महादेव्यामतीव खलु सवीणताबहि स्थायाम् । कि च—

राज्यस्थित मामवहाय यैषा कुब्जेन सार्धं रतिमातनोति । सा मे वनस्थस्य मुमुक्षुवृत्तेर्भवेत्सदाचारमति किलेति ॥ १९१ ॥

नही है और न व्रत है एव न उपवास भो है । तो फिर क्या है ? जिस कारण उसे पति की सेवा शुश्रूषा करनी चाहिए, जिससे स्त्री स्वर्ग मे पूजी जाती है ॥१८९॥ विशेष यह है—पतिव्रता स्त्री द्वारा पति, चाहे वह शील-रहित है, अथवा स्वेच्छाचारी है, अथवा गुणहीन है, निरन्तर ब्रह्मा, विष्णु व महेश आदि देवताओ-सरीखा सेवा करने योग्य है ॥१९०॥ वेद मे भो कहा है—वन प्रस्थान के अवसर पर भी सीता (जनक पुत्री) श्रीरामचन्द्र की सधर्मचारिणी (साथ गमन करनेवाली) हुई । द्रौपदी वन प्रस्थान के अवसर पर अर्जुन की सधर्मचारिणी हुई एव सुदक्षिणा दिलीप राजा की सहगामिनी हुई तथा लोपामुद्रा नाम की अगस्त्य-पत्नी अगस्त्य को सहचारिणी हुई एव अरुन्धती नाम की वशिष्ठ-पत्नी वशिष्ठ की सहचारिणी हुई इसीप्रकार रेणुका नाम को कन्या अपने पिता परशुराम का सहचारिणी (साथ जानेवाली) हुई ।

पति के वियोग मे निश्चय से एक पैर के अँगूठे पर भी स्थित होकर तपश्चर्या करती हुई स्त्रियाँ निश्चय से निन्दा-योग्य होती है । उदाहरणार्थ—प्रयाग तीर्थ पर प्रायोपवेशनव्रत मे स्थित हुई भी 'ब्रह्मबन्धू' नाम की ब्राह्मणी गोविन्द नाम के तपस्वी के साथ निन्दा को प्राप्त हुई । 'दीक्षा-ग्रहण के दिन चन्द्रमति माता के साथ मेरे गृह पर आपको गणभोजन करना चाहिए' ऐसी याचना करके जब गविष्ठिर नाम का मन्त्री चुप हो गया तब मैने उससे ऐसा कहा—युधिष्ठिर महाराज-सरीखे सत्यवक्ता हे गविष्ठिर ! यदि मैने मनोरञ्जन या हँसी मजाक मे भी किसी अवसर पर भी अमृतमति महादेवी का अहित किया है तो उस अवसर पर आपही साक्षी हो । उस कारण मेरी प्रियतमा से ऐसा कहो—कि जो कुछ भी आपने कहा है वह सब यशोधर महाराज ने अमृतमती महादेवी के शरीर का बलिदान कार्य को छोडकर, स्वीकार कर लिया है । इस प्रकार जब महादेवी का मन्त्री, जिसने निश्चित कार्य निवेदन किया है, विशेष सन्मान के साथ भेज दिया गया तब मैने (यशोधर ने) निम्न प्रकार विचार किया—आश्चर्य है कि अमृतमति महादेवी मे आकार-गुप्ति की प्रवीणता अवश्य ही विशेष रूप से वर्तमान है ।

जो यह महादेवी राज्य मे स्थित हुए मुझे छोडकर कुवडे के साथ रतिविलास करती है, वह क्या वन मे स्थित हुए व मोक्षाभिलाषी मेरे साथ सदाचारिणी होगी ?[1] ॥१९१॥ स्त्रीजनो की चित्तवृत्ति, जो कि

---

१ आक्षेपालकार ।

देवैर्मनुष्यैरथ राक्षसैर्वा निसर्गतो गूढतरप्रचारा। ईदृक्तया ज्ञातुमियत्तया वा न शक्यते स्त्रीजनचित्तवृत्ति ॥ १९२ ॥

इहैव वात्स्यायनगोत्रजस्य पुत्री भृगोः काञ्चनिकेतिनाम्नी।
पति च पुत्र च विट च हत्वा भर्त्रा तु सार्ध दहन विवेश ॥ १९३ ॥

अथवैतदप्यस्यामसभाव्यम्। राभसिको लोक प्रायेणान्धयष्टिरिव परामर्शमकृत्वा शुभायाशुभाय वा कर्मणे तोलयत्यात्मानम्। इय पुन प्रकृत्यैव विषजातिरिव दुष्टस्वभावा, मकरदष्ट्रेव वक्रशीलिनी, कर्णिसुतकथेव बहुकूटकपटवेष्टिता, कुमारविद्येवानेककुहुकवेदिनी, खड्गीव जिह्वयापि स्पृशन्ती दारयत्यङ्गानि। छलयति च नियतिरिव बुद्धचा बृहस्पतिमपि पुरुषम्। मदीय तु विलसित स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव मे सजातम्। अस्याश्च खल्वबिल्वसयोगसमम्।

कालश्च सकृदभ्येति य नर कालकाङ्क्षिणम्। दुर्लभ स पुन कालस्तस्य कर्म चिकीषत ॥ १९४ ॥

एतदेवार्थशास्त्रस्य नित्यमध्ययने फलम्। यत्परानभिसधत्ते नाभिसधीयते परै ॥ १९५ ॥

इति मा च नीतिमसौ बहुधा पठति। स्वभावसुभगावेशोऽपि च शास्त्रोपदेश स्त्रीषु शस्त्रीष्विव पयोलव पर परोपघातायैव प्रभवति। कि च।

स्वभाव से विशेष गहन होती है, इन्द्र-आदि देवताओ से, पुरुषो से, अथवा राक्षसो से इस रूप से अथवा इतनी रूप से जानने के लिए शक्य नही होती[1] ॥१९२॥ उदाहरणार्थ—इसी भरतक्षेत्र की उज्जयिनी नगरी मे वात्स्यायन ऋषि के कुल मे उत्पन्न हुए 'भृगु' नामक ब्राह्मण की 'काञ्चनिका' नामवाली पुत्री ने पति, पुत्र व विट् को मारकर पति के साथ अग्नि मे प्रवेश किया[2] ॥१९३॥ अथवा यह बात भी इस महादेवी (अमृतमति) मे असम्भव है। अर्थात्—यह मरेगी यह कदापि सम्भव नही, प्रत्युत मुझे मारेगी। क्योकि निश्चय से विना विचारे उतावली मे आकर कार्य करनेवाला जन-समूह अन्धे की लकडी-सरीखा होता है। अर्थात्—जैसे अन्धे पुरुष की लकडी अविचार पूर्वक यहाँ-वहाँ पडती है वैसे ही लोक भी विना विचारे कार्य करता है, इसलिए लोक तो शुभ अथवा अशुभ कर्म करने के लिए अपनी आत्मा को सशय मे डालता है। अर्थात्—विना विचारे उतावली पूर्वक काय करनेवाला लोक मरता है, परन्तु यह तो कदापि नही मरेगी। फिर यह महादेवी तो प्रकृति से विपजाति-सरीखी दुष्ट स्वभाववाली है। यह मगर की दाढ-सरीखी वक्र स्वभाव-युक्त एव मूलदेव के चरित्रसरीखी बहुत से कूट कपटो से वेष्टित है तथा धूर्तशास्त्र-रचयिता की विद्या-सरीखी बहुत से मायाचारो को जाननेवाली है। जैसे तलवार जिह्वा से छूती हुई अङ्ग विदीर्ण करती है वैसे यह भी मुझे स्पर्श करती हुई मेरे अङ्ग विदीर्ण करती है। यह देवी बुद्धि से वृहस्पति-सरीखे विद्वान् पुरुष को भी वैसा धोखा देती है जैसे नियति (भाग्य) वृहस्पति सरीखे विद्वान् पुरुष को धोखा देती है। मेरा कार्य तो अपने हाथ से अङ्गार-खीचने-सरीखा (दु खदायक) हुआ।

एव इसका कार्य खल्वविल्व के सयोग सरीखा घातक हुआ। अर्थात्—जिस तरह गञ्जे पुरुष के मस्तक पर वेलफल का गिरना घातक होता है उसी तरह इसके कार्य भी मेरे घातक है। अवसर एक बार मिलता है। अवसर चाहनेवाले पुरुष को व अवसर के अनुकूल कार्य करने के इच्छुक पुरुष को अवसर दुर्लभ होता है। अभिप्राय यह है कि यह जानती है कि यशोधर की मृत्यु करने का यही अवसर है, वह वाद मे नही मिलेगा[3] ॥१९४॥ नीतिशास्त्र के सदा काल पढने का यही फल है कि नीतिवेत्ता मानव शत्रुओ को धोखा देता है और स्वय शत्रुओ से धोखा नही खाता[4] ॥१९५॥ यह महादेवी मेरे सामने ऐसी नीति को अनेक बार

---

१ अतिशयालकार। २ आक्षेपालकार। ३ जात्यलकार। ४ जातिरलकार।

इच्छन्गृहस्यात्मन एव शान्ति स्त्रिय विदग्धा खलु क करोति ।
दुग्धेन य पोषयते भुजङ्गीं पुस कुतस्तस्य सुमङ्गलानि ॥ १९६ ॥

इति बुद्धिवृद्धैरुपदिश्यमानमिद पूवमेव नाचरितम् । तदहमेवमाकलयेयम्—मत्तप प्रत्यवायपर सकलजनरञ्जनकरश्चाय-मस्या सर्वोऽपि मृदुनोपायेन कार्योपक्रम । श्रूयते ह्यात्मन किल स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषदूषितमद्यगण्डूषेण **मणिकुण्डला** महादेवी **यवनेषु** निजतनुजराज्यार्थ**मजराज** राजान जघान, विषालक्तकदिग्धेनाधरेण **वसन्तमतिः सूरसेनेषु सुरतविलासम्**, विषोपलिप्तेन मेखलामणिना **वृकोदरी** दशार्णेषु **मदनार्णवम्**, निशितनेमिना मुकुरेण **मदिराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदम्**, कबरीनिगूढेनासिपत्रेण **चण्डरसा पाण्डुषु मुण्डीरम्**, इति ।

यथोच्छिखण्डा मण्डूक्यो लोकविप्लवहेतव । तथा स्त्रिय स्वभावेन भर्तृव्यसनतत्परा ॥ १९७ ॥

साप्रत च मे समस्तापि कार्यपरिणति 'शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न' इतीम न्यायमनुसरति । न चास्ति मत्त परोऽतीव-प्रमादी । यस्मात्

अन्त पुरे भूमिपतिर्मदान्ध करोति य सगतिमङ्गनाभि । तस्य ध्रुव स्यादचिरेण मृत्युर्बिलप्रवेशादिव दर्दुरस्य ॥ १९८ ॥

पढती है । शास्त्रोपदेश, जो कि स्वभावत दूसरो को प्रतिजनक अभिप्रायवाला भी है, स्त्रियो के लिए दिया हुआ केवल वैसा दूसरो के घात करने मे समर्थ होता है जैसे छुरी पर चढा हुआ पानी केवल दूसरो के घात करने मे ही समर्थ होता है । अपने गृह व आत्मा की शान्ति का इच्छुक कौन पुरुष निश्चय से स्त्री को चतुर करता है ? उदाहरणार्थ—जो पुरुष सर्पिणी को दूध पिला कर पुष्ट करता है, उसे उत्तम सुख कैसे प्राप्त हो सकते है ?[1] ॥१९६॥ विद्वानो द्वारा उपदेश दिये जानेवाले इस शास्त्रोपदेश को मै पहिले से ही व्यवहार मे नही लाया । उससे मै ऐसा जानता हूँ कि इस महादेवी का सभी कार्य प्रारम्भ, मेरी दीक्षा मे विघ्न उपस्थित करने मे तत्पर व समस्त लोगो को अनुरक्त करनेवाला एव कोमल उपाय से किया हुआ है । उदाहरणो मे सुना जाता है—म्लेच्छ देशो मे 'मणिकुण्डला' नाम की महादेवी ने अपना स्वेच्छाचार चाह कर अपने पुत्र को राज्य देने के लिए विषमिली हुई शराब के कुरले से 'अजराज' नाम के राजा को मार डाला । 'सूरसेन' नाम के देश मे 'वसन्तमति' नाम की महादेवी ने विष-मिश्रित लाक्षारस से लिप्त हुए अधर (ओष्ठ) से 'सुरतविलास' नाम के राजा का बध किया । 'दशार्ण' नामके देश मे 'वृकोदरी' नाम की महादेवी ने विष से लिप्त हुए करधोनी के रत्न से 'मदनार्णव' नामक राजा की हत्या की एव मगध नाम के देश मे 'मदिराक्षी' नाम की महादेवी ने तीक्ष्ण धारवाले दर्पण से 'मन्मथविनोद' नाम के राजा का घात किया तथा पाण्डु नामक देश मे 'चण्डरसा' नाम की महादेवी ने केशपाश के मध्य मे छिपाई हुई तलवार की धार से मुण्डीर नाम के राजा का घात किया । जैसे शिखा-सहित छोटे मेढक वर्षा ऋतु मे लोगो के उत्पात के कारण होते है वैसे ही स्त्रियाँ भी स्वभाव से भर्ता (पति व पक्षान्तर मे राजा) को दु ख देने मे तत्पर होती है[2] ॥१९७॥ इस समय मेरा समस्त कर्तव्य का उदय 'शिर-मुण्डन कराकर शुभ नक्षत्रो (पुष्य व पुनर्वसु-आदि) का पूँछना' इस न्याय का अनुसरण करता है । अर्थात्—जैसे बाल बनवा कर शुभ-अशुभ नक्षत्र पूँछना निरर्थक है, वैसे ही अवसर निकल जाने के बाद कर्तव्य करने का विचार भी निरर्थक है । मुझसे दूसरा कोई विशेष आलसी नही है । जो राजा मदान्ध हुआ अन्त पुर मे स्त्रियो से सगम करता है उसकी निस्सन्देह वैसी शीघ्र मृत्यु होती है जैसी सर्प के विल मे प्रवेश करने से मेढक की मृत्यु होती है[3] ॥१९८॥ [हे मारिदत्त महाराज !] मै उक्त नीति को निरन्तर पढता

---

१ दृष्टान्तालकार । २ दृष्टान्तालकार । ३ दृष्टान्तालकार ।

इति प्रत्यहमधीयानोऽपि तस्या दुष्कर्मण सद्मनि सवासपर समभवम् । अपि च ।

अज्ञानभावादथवा प्रमादादुपेक्षणाद्वाऽत्ययभाजि कार्ये । पुस' प्रयासो विफल समस्तो गतोदके क खलु सेतुबन्ध ॥१९९॥

विहाय शास्त्राण्यवमत्य मन्त्रिणो मित्राण्यवज्ञाय निरुद्धच बान्धवान् ।
भवन्ति ये दुर्नयनीतयो नृपाश्चिराय तिष्ठन्ति न तेषु सपद ॥२००॥

न चापि मे सन्ति विनीतचेतसस्तुलासमा कार्यविचारकर्मणि ।
अमी सदा ये च समीपवृत्तयो मन पर ते मदयन्त्युपाकृता ॥२०१॥

अपि च ।

प्रशास्ति य श्रोतृवशेन धर्म नृपेच्छया यो निगृणाति कार्यम् । अकल्पकामोपचयेन वैद्यस्त्रयस्त एते कलिकालपादा ॥२०२॥

एकैकमेषा गुणमाकलय्य मया ह्यमी मन्त्रिपदे नियुक्ता ।
सिहेषु दृष्ट यदि नाम शौर्य क्षेमोऽस्ति कि तै सह सगतस्य ॥२०३॥

प्रवर्तते यो नृपति खलाना प्रमाणयन्नात्महिताय वाच । नून स कल्याणमतिर्न कि स्यादाशीविषै केलिकरो यथैव ॥२०४॥

हुआ भी उस दुष्टात्मा अमृतमति महादेवी के महल मे उसके साथ सहवास करने मे तत्पर हुआ। तथा च—जब कर्तव्य, अज्ञानता से अथवा असावधानता से अथवा अनादर के कारण अवसर चूँकनेवाला हो जाता है तब उसको सिद्ध करने के लिए किया हुआ मनुष्य का समस्त श्रम निरर्थक है। क्योकि जैसे जल के निकल जानेपर उसको रोकने के लिए पुल बाँधना निरर्थक है[1] ॥ १९९ ॥ जो राजालोग नीतिशास्त्र के सिद्धान्तो को छोडकर मन्त्रियो का तिरस्कार करके व मित्रो का तिरस्कार करके एव बन्धुजनो का अनादर करके दुष्ट नीति का अनुसरण करनेवाले होते है, उनके पास चिरकाल तक धनादि लक्ष्मियाँ नही ठहरती[2] ॥ २०० ॥

मेरे मन्त्री-आदि राजकर्मचारी विनयशील नही है और कर्तव्य का विचार-कर्म करने मे तराजू के दण्डसरीखे कर्तव्य विचारक व न्यायवान नही है। जो ये सदा मेरे निकटवर्ती है, स्वीकार किये हुए वे लोग चित्त को मद-युक्त करते हैं, अर्थात्-नीतिशास्त्र से पराङ्मुख है[3] ॥ २०१ ॥ जो वक्ता श्रोता की अधीनता से धर्म—आचार का निरूपण करता है। अर्थात् श्रोता जिस धर्म मे लीन है, वक्ता भी उसी धर्म का उपदेश करता है। एव जो मन्त्री राजाकी इच्छानुसार मन्त्र (कर्तव्य-विचार) करता है और जो वैद्य ज्वरादिरोग-पीडित पुरुष की बढी हुई इच्छा (अपथ्य सेवन की रुचि) के अनुकूल उपदेश देता है। अर्थात् जो वैद्य, रोगी को जैसा रुचता है उसी के अनुसार औषधि का उपदेश करता है। पूर्वोक्त ये तीनो लोग (धर्मवक्ता, मन्त्री व वैद्य) कलिकाल के तीन पैर है। अर्थात् कलिकाल विशेष पापी है, जो कि पूर्वोक्त तीन पैरो से प्रवृत्ति करता है, यदि इसके चार पैर होवें तो लोक मे समस्त अधर्म—पाप-ही प्रवृत्त हो जाय[4] ॥ २०२ ॥ मन्त्री पदपर नियुक्त हुए इनका एक-एक गुण (दयालुता-आदि) निश्चय करके मैने इन्हे अवश्य मन्त्री पद पर नियुक्त किये है। अभिप्राय यह है कि केवल एक एक गुणसे अलङ्कृत हुए ये लोग कार्यसिद्ध करनेवाले नही हो सकते। उदाहरणार्थ—यदि सिंहो मे शूरता देखी गई तो क्या उनके साथ सगम करनेवाले मानव का कल्याण हो सकता है ? उसीप्रकार दयालुता-आदि एक-एक गुण से युक्त मन्त्री भी राज्य-सचालन कार्य करनेवाला नही हो सकता[5] ॥२०३॥ जो राजा दुष्टो के वचनो को अपने सुखके लिए प्रमाण मानता हुआ प्रवृत्ति करता है क्या वह निश्चय-

---

१ आक्षेपालकार । २ जात्यलकार । ३ उपमालकार । ४ रूपकालकार । ५ आक्षेपालकार ।

प्रतिक्षण सशयितायुषो ये न येष्वपेक्षास्ति च कार्यवादे । त एव मन्त्रेऽधिकृता नृपाणा न ये जलौकासमवृत्तयश्च ॥२०५॥

किं च ।

प्रजाविलोपो नृपतीच्छया स्यात्प्रजेच्छया चाचरिते स्वनाश । न मन्त्रिणा वेधविधायिनीवत्सुख सदैवोभयत समस्ति ॥२०६॥

तथाप्यमीभि कुशलोपदेशैर्भाव्य नृपे दुर्नयचेष्टितेऽपि । अन्ध स्खलेद्यद्यपि चात्मदोषादाकषक तत्र शपन्ति लोका ॥२०७॥

यतो यथार्थं वदता नराणामात्मक्षय स्यात्परमेक एव ।
राष्ट्रस्य राज्ञो ध्रुवमात्मनश्च मिथ्योपदेशस्तु करोति नाशम् ॥२०८॥

तदेतदित्थ मम दुर्नयेन दुर्मन्त्रिणा सश्रयणेन चैव । यथायथ कार्यमिद प्रयात देवोऽपि शक्तो घटनाय नास्य ॥२०९॥

गविष्ठिरस्यापि मया पुरस्तात्किंचित्प्रतिज्ञाविषयीकृत च । सत्यच्युताना किमु जीवितेन राज्येन वा लोकविगर्हितेन ॥२१०॥

से वैसा कल्याण करनेवाली बुद्धि से युक्त हो सकता है ? जैसे सर्पो के साथ क्रीडा करनेवाला पुरुष क्या कल्याण करनेवाली बुद्धि से युक्त होता है[1] ? ॥२०४॥ जो मन्त्री, प्रत्येक क्षणमे अपने जीवन को सशय मे डालनेवाले होते है । अर्थात्—'यह राजा हमको मार डालेगा' इसप्रकार भयभीत चित्तवाले होते है, एव जिनके मन्त्रोपदेश मे धन-ग्रहणकी लालसा नही पाई जाती तथा जो गौच-सरीखी चेष्टावाले नही है । अर्थात्—जैसे गौच स्तनपर लगाई हुई रक्त पीती है किन्तु दूध नही पीती वैसे ही जो मन्त्री दोषो को ही ग्रहण करते है और गुणो का उपदेश नही देते, ऐसे गुणोको छोडकर केवल दोष-ग्रहण करनेवाले जो नही है । वे ही मन्त्री, राजाओ के मन्त्र मे अधिकारी है[2] ॥ २०५ ॥ जब मन्त्रीलोग राजाकी इच्छानुसार राजकार्य करते है तब प्रजाका नाश होता है । अर्थात् अधिक टेक्स-आदि द्वारा प्रजा पीडित होती है । जब मत्रीलोग प्रजा की इच्छानुसार राजकार्य करते है तो धन का क्षय होता है, क्योकि प्रजा राजा के लिए धन देना नही चाहती, इससे राजकोश खाली हो जाता है । इस कारण दोनो प्रकार से—राजा की इच्छानुसार व प्रजा की इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेवाले मन्त्रियो को सदैव वैसा सुख नही है जैसे कुल्हाडी या घण्टा मस्तक पर धारण की हुई घट्टन से दु खी करती है और मुख पर स्थापित की हुई मुखभङ्ग करती है[3] ॥ २०६ ॥ तो भी अन्याय करनेवाले राजा के प्रति इन मन्त्रियो को कल्याण कारक उपदेश देनेवाले होने चाहिए । जैसे—अन्धा पुरुष यद्यपि अपने नेत्र-दोष से गिरता है तो भी लोग उसके खीचनेवाले मनुष्य को ही दोषी कहते हुए चिल्लाते है, अर्थात् वैसे ही जब राजा अन्याय करता है तब प्रजा मन्त्री को ही दूषित करती है[4] ॥ २०७ ॥ क्योकि जब मन्त्रीगण सत्यवादी होते है तब उनके मध्य केवल मन्त्री ही मरता है, परन्तु झूठा मन्त्र (कर्तव्य-विचार) तो देश, राजा व मत्री का निस्सन्देह विध्वस कर देता है । भावार्थ—मन्त्रियो का कर्त्तव्य है कि वे राजा को ठीक परामर्श दे, चाहे इससे राजा उनसे कुपित ही क्यो न हो जाय, क्योकि राजा के कुपित होने से एक मत्री की ही मृत्यु की सम्भावना है परन्तु मृत्यु-भय से झूठा मत्र देने पर तो राजा, राष्ट्र और मत्री सभी का नाश हो जाता है । अभिप्राय यह है कि मत्रियो को सदैव उचित परामर्श देना चाहिए[5] ॥ २०८ ॥ उस कारण पूर्वोक्त यह कार्य अपनी इच्छा से मेरी दुर्नीति के कारण व दुष्ट मन्त्रियो के आश्रय से नष्ट हो गया, अब इसे प्रयत्नपूर्वक सफल बनाने के लिए देवता भी समर्थ नही है[6] ॥ २०९ ॥

मैने 'गविष्ठिर' नाम के मन्त्री के सामने कुछ वचनो (महादेवी के गृह पर जाना व भोजन करना)

---

१ काकु वक्रोक्त्यलकार । २ उपमालकार । ३ उपमालकार । ४ दृष्टान्तालकार । ५ समुच्चयालकार । ६ समुच्चयालकार ।

दैवे तु पुंस प्रतिकूलवृत्तौ विवेकिता नैव भवद् गुणाय । कि लक्ष्मणस्यास्ति रणेषु भङ्ग सीतामसौ येन मुमोच राम ॥२११॥
तदत्र दैवमेव शरणम् ।' इति विचिन्त्य किंचिन्निद्रासुखमनुभूय प्रबुद्धच च

'कुर्वन्भूपतिमन्दिरेषु करिणामानन्दलीलारस नासाग्रस्फुरितेन केलिरभस वाजिव्रजाना वहन् ।
क्रीडाशैलनिकुञ्जकन्दरभुवा नृत्त दधन् केकिनामद्याय किमकाण्ड एष नगरे तूरध्वनि श्रूयते ॥२१२॥'

इति **बुधप्रबोध** सन्धिविग्रहिणमापृच्छमाने, वातायनोपान्तवर्तिनी निवर्त्य च नेत्रे

'नृत्यै सम वारविलासिनीना सगीतकस्यापि महाप्रबन्ध । गृहेषु सर्वेषु च पूर्णकुम्भा पुष्पाक्षतव्याकुल एष लोक ॥२१३॥'

इत्यस्य च हेतुविमर्शजातचेतसि मयि, 'देव, परिकल्पितनिखिलनमसितोपचारा **चन्द्रमति**महादेवी सपरिवारा चण्डिका-चरणार्चनायोच्चलिता प्राप्ता च पुरवीथीमध्यम, यतोऽयमाकर्ण्यते महानातोद्यध्वनि । तदर्थं चैष नगरे पौराणामुद्यावोद्यम । तत्र देव कालविलम्बनमकृत्वा सज्जीभवतु मज्जनादिषु क्रियासु ।' इत्यागत्य **वैकुण्ठमतिना** वरिष्ठकेन विज्ञप्ते तथैव तद्वचन सफलीकृत्य,

---

के पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है। उसे यदि नही करता हूँ। अर्थात्—महादेवी के महल पर नही जाता हूँ, और भोजन नही करता हूँ, तो सत्य से च्युत हुए पुरुषो को लोकनिन्दित जीवन से व लोक-निन्दित राज्य से क्या लाभ है[1]?॥ २१०॥ जब पुरुष का भाग्य पराङ्मुख होता है तब उस मनुष्य की चतुरता गुणकारिणी नही होती। जैसे—क्या युद्ध भूमि पर लक्ष्मण की पराजय हो रही थी? जिससे यह श्रीरामचन्द्र श्रीसीता को वन मे अकेली छोडकर लक्ष्मण की सहायता के लिए गए थे[2] ॥ २११॥ अत इस चण्डिका देवी के मन्दिर मे गमन करना-आदि कार्य मे दैव *(भाग्य) ही शरण (रक्षक) है, ऐसा विचार कर कुछ निद्रा के सुख को भोगकर फिर जाग्रत होकर मैने अपने दोनो नेत्र गवाक्ष (झरोखे) के निकटवर्ती किये। फिर जब मै 'बुधप्रबोध' नाम-के महादूत से निम्नप्रकार पूँछ रहा था—'[हे दूत!] आज बिना अवसर ही नगर मे मेरे द्वारा यह बाजो की ध्वनि क्यो सुनी जारही है? जो कि राजमहल के हाथियो मे आनन्दलीला के रस को उत्पन्न कर रही है। जो घोणा (नथने) के स्फुरण से घोडो की श्रेणी मे क्रीडा करने की उत्कण्ठा उत्पन्न कर रही है और जो क्रीडापर्वतो के लता-आच्छादित प्रदेशो मे व कन्दराओ मे रहनेवाले मयूरो का नृत्य धारण कर रही है[3] ॥ २१२॥' 'वेश्याओ के नृत्य के साथ गीत, नृत्य व वादित्र का भी महान् प्रघट्टक (जमाव) वर्तमान है एव समस्त गृहो पर पूर्ण मङ्गल कलश स्थित है और यह लोक पुष्पाक्षतो के ग्रहण करने मे व्याकुल हुआ दिखाई दे रहा है[4] ॥ २१३॥' जब मै उक्त घटनाओ के कारण-विचार मे अपना मन सलग्न कर रहा था तब 'वैकुण्ठ-मति' नामके क्षेत्रपाल ने आकर मुझे निम्न प्रकार सूचित किया—'हे राजन्! चन्द्रमति महादेवी, जिसने समस्त प्रार्थना किये हुए पूर्वजो व देवताओ के निमित्त नैवेद्य का व्यवहार उत्पन्न किया है एव जो परिवार-सहित है, चण्डिका देवी की चरण-पूजा के लिए गई है और नगर के मार्ग के मध्य मे प्राप्त हुई है, जिससे यह महान् बाजो की ध्वनि सुनाई दे रही है। उसी निमित्त से यह नगर मे नागरिको का महोत्सव सबधी उत्साह है। उस देवी की चरणपूजा मे राजाधिराज (यशोधर महाराज) काल-विलम्ब न करके स्नानादि क्रियाओ मे उद्यत होवे।' फिर मैने प्रस्तुत 'वैकुण्ठमति' क्षेत्रपाल के वचन स्नानादि क्रिया द्वारा सफल किये व निम्न-प्रकार चिन्तवन करके 'ऐरावण-पत्नी' नामकी हथिनी पर सवार होकर चण्डिका देवी के मन्दिर के प्रति चन्द्र-मति माता के पीछे प्रस्थान किया।

---

१ आक्षेपालकार। २ दृष्टान्ताक्षेपौ। ३. जात्यलकार। ४. समुच्चयालकार।

न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा । व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥२१४॥

इत्यनुस्मृत्य, विहिततदाराधनोचिताचारे समारुह्याभ्रमूनाम करेणुकामाचार्यपुरोहितसखे भैरवीभवनं प्रति गन्तुमुद्यते च 'हहो विवेकबृहस्पते, स्वभावत एव महासत्त्ववसते कण्ठगतेष्वपि प्राणेषु किमनुचितेनाचरितेनात्मनः प्रियं कर्तुं युक्तम्' इति मतिकयेव प्रतिलोमतया बृंहितमिङ्गितं च मतङ्गजगणिकया, 'कथमयं विद्वानप्यहितोपदेशाद्दुःखमकराकरवति भवोदन्वति निमङ्क्तुमुद्यत' इति कृपयेव कम्पितमवन्या, 'अये दुर्वासनावश, विशामीश, कथमीदृग्विधरभिसंधेरेष्यत्कल्मष-निषेकमातङ्कं भवान्सहिष्यते' इति सूचयतेव धूमधूसरतामुपगतमाशावलयेन, 'अयि पञ्चमीकल, लोकपाल, त्वज्जन्मजनित-पुष्पवर्षेण दुरेनसोऽस्माद्दशमीस्थस्य भवतः कथं मया सोढव्या भविष्यन्ति चिताचित्रभानोः कलुषितानिमिषमुखाः शिखा-लेखाः' इति शोकानलोल्वणेनेवोल्काज्वालाभिराडम्बरितमम्बरेण, 'अयि प्रतिपन्नोत्पथकथ पृथ्वीनाथ, तेषु तेषूत्सवेषु सपा दितानन्ददुन्दुभिनादयामुष्मादनुदर्कशर्मणः कर्मणस्त्वयि कथाशेषे सति कथं नु मया नाम कर्णकटुप्रभावस्त्वद्बान्धवहाराव श्रोतव्यो भविता' इति शोचनादिव प्रवृत्तबाष्पस्यन्दया दुर्दिनीभूतं दिवा, 'त्वमेवमवश्यमहो राजन्, जानीहि। न खलु भवत्ययमायतिषु हिताय क्रियोपायः । तदलमत्राग्रहेण । निवृत्य गम्यतां हर्म्यम्' इत्याचरितदाक्षिण्येन सुहृदेव प्रतिवात

'कानो मे शङ्ख के कुण्डलो का धारण करना अथवा शाकमात्र का भक्षण व दुग्धपान, जलपान, कन्द भक्षण व भिक्षासमूह का भोजन व्रत नही है किन्तु स्वीकार किये हुए पदार्थ का निर्वाह करना ही उन्नत बुद्धि-शाली महानुभावो का व्रत है ॥ २१४ ॥' इसके पूर्व मे, जिसने चण्डिका देवी की पूजा सबधी योग्य क्रिया की है एव जिसके समीपवर्ती आचार्य व पुरोहित है, जब चण्डिकादेवी के मन्दिर की ओर प्रस्थान करने उद्यत हुआ तब निम्नप्रकार अपशकुन हुए और दूसरे भी शकुनशास्त्र प्रसिद्ध अपशकुन हुए, जिनकी सङ्गति दुष्टस्व-भाव वाले फलो को देनेवाली है। 'बुद्धि मे बृहस्पति सरीखे व स्वभाव से ही महान् धर्मपरिणाम के निवास-स्थान ऐसे अहो यशोधर महाराज ! प्राणो के कण्ठगत होनेपर भी आपको अनुचित आचरण द्वारा अपनी आत्मा का प्रिय करना क्या उचित है ? अपि तु नही है' इसप्रकार की बुद्धि से ही मानो—ऐरावण-पत्नी नाम की हथिनी ने उल्टी चिंघारने की ध्वनि को व चेष्टा की। 'यह यशोधर महाराज विद्वान् होकर के भी पापो-पदेश से, दु खरूपी मकर-समूह से व्याप्त हुए ससार समुद्र मे डूबने के लिये किसप्रकार उद्यत हुआ ?' इसप्रकार की कृपा से ही मानो भूमि कम्पित हुई। 'अये दुर्वासना के अधीन राजन् ! इसप्रकार के मानसिक अभिप्राय से उत्पन्न हुए दु खसन्ताप को, जिसमे भविष्य मे समूहरूप से आनेवाला पापबध वर्तमान है, आप कैसे सहन करोगे ?' इस प्रकार के अभिप्राय को सूचित करता हुआ ही मानो—दिशासमूह धुएँ से धूसरता को प्राप्त हुआ।

'हे मध्यमलोकपाल यशोधर महाराज ! इस दुष्ट पाप से मरे हुए आपकी चिताग्नि की ज्वालाओ के अग्र भाग, जो कि देवो के मुख मलिन करनेवाले है, आपके जन्मावसर पर पुष्पवृष्टि करनेवाले मुझसे कैसे सहन करने योग्य होगे ?' ऐसी पश्चातापरूपी अग्नि से व्याप्त हुआ ही मानो—आकाश उल्का (विजली) ज्वालाओ से आच्छादित हुआ। 'उन्मार्ग की वार्ता स्वीकार करनेवाले हे राजन् ! मुर्गे के वधरूप पाप से, जिसमे उत्तर-काल मे सुख नही है, तुम्हारे मरनेपर, मेरे द्वारा, जिसमे उन उन प्रसिद्ध उत्सवो (राज्याभिषेक-आदि) के अवसर पर आनन्द दुन्दुभिवाजो की ध्वनि उत्पन्न कराई गई है, आपके बन्धुवर्गो की कर्णशूल प्राय रोदनध्वनि कैसे श्रवण करने योग्य होगी ?' ऐसे शोक से ही मानो—अश्रुपतन उत्पन्न करनेवाला भूमि-समीपवर्ती आकाश मेघाच्छादित (जलविन्दुओ से व्याप्त) हुआ। धूलि-चिह्न वाली वायु सन्मुख प्राप्त हुई, जो ऐसी मालूम पड़ती थी मानो—निम्नप्रकार सन्मान करनेवाला अभीष्ट मित्र ही है—

पाशुलक्षणेन, 'खरकिरणकरनिवारण एवाह प्रभवामि, न पुनरापातचण्डे यमदण्डे' इति धियेव भुवि निपतितमातपत्रेण, 'न भवतीय सा परागसततिर्यास्माभि शक्यते निवारयितुम् । एषा त्वपरैव यन्निवारणे न कुशल प्रलयकालानिलोऽपि' इति चिन्तयेव विनिकीर्णं विलासिनीकरेभ्यश्चामरनिवहेन, 'महापुरुष, एवमशुभाभिनिवेशेषु युष्मादृशेषु न चिरमस्मादृशै कल्याण-परम्पराचिह्नविनिवेशै सह समागम' इति प्रकटितसाचिव्येनेव कुटिलित पताकासतानेन, 'सवदा महोत्सवपुरश्चारिणाम-स्माक किमेवमसदृशधर्मणि कर्मणि विनियोगो युक्त' इति स्वदु खनिवेदनादिव घर्घरितमातोद्यवाद्येन, 'यद्यपि देव काम-क्रोधाभ्यामज्ञानेन वाद्यान्यथाभाव सजात, तथापि न खलु भवत्प्रसादान्निरन्तरश्रीविलासप्रकाशानामस्मादृशानामुपेक्षितु-मुचितम्' इति बुद्धचेव निपत्य पुरस्तिर्यग्भूत तोरणेन, 'क्षितिप, अद्यापि न किंचिद्विनश्यति । तदावासमनुसृत्यापरमेव किंचिदिहामुत्र च शिवकरप्रतिष्ठानमनुष्ठानमाचरितव्यम' इत्युपदिशतेव पृष्ठत शब्दित दधिमुखेन, 'हे महीपाल, किं कोऽपि परोपरोधादात्मन्यश्रेयासि कुर्वन्नवलोकितोऽस्ति, येनेत्थमकत्थने पथि प्रस्थितोऽसि' इत्युपहसतेवापाचीनतया वासित-मादित्यसुतेन, एवमन्यैरपि सद्योदुरन्तफलप्रदायिसडगैस्तैस्तैरुपालिङ्गैरभावि, तथापि 'नियति केन लङ्घ्यते' इति सत्यता नयन्निव त्रिशूलिनीनिलयमनुजगाम ।

'हे पृथिवीपति यशोधर महाराज ! आप इसप्रकार निश्चय से जानो कि यह कर्तव्य (मुर्गे का वध) का उपाय निश्चय से उत्तरकाल मे सुख के लिए नही है, अत इस कर्तव्य के उपाय मे आग्रह करना निरर्थक है, अत लौटकर गृह पर जाइए।' छत्र पृथिवी पर गिरा। इससे जो ऐसा प्रतीत होता था—मानो—'मै (छत्र), सूर्य-किरणो के रोकने मे ही समर्थ हूँ, न कि दु ख से भी निवारण के लिए अशक्य मरणकाल के रोकने मे समर्थ हूँ' इसप्रकार की बुद्धि से ही मानो—वह पृथिवी पर गिरा एव वेश्याओ के करकमलो से चमर-समूह नानाप्रकार से यहाँ वहाँ गिरे। इससे ऐसा मालूम पडता था मानो—निम्नप्रकार की चिन्ता से ही वे यहाँ वहाँ गिरे है—'यह वह रेणुमण्डली नही है, जो कि हमारे (चमरो) द्वारा रोकने के लिए शक्य है, यह योगी महा-पुरुषो द्वारा प्रत्यक्ष की हुई दूसरी ही (पापरूपी) रेणुमण्डली है, जिसे रोकने मे कल्पान्त (प्रलय) काल का वायुमण्डल भी समर्थ नही है।' ध्वजा-समूह कुटिल हो गया। जो ऐसा मालूम पडता था मानो—जिसने निम्न-प्रकार मन्त्रित्व प्रकट किया है—

'हे राजन् ! इसप्रकार का पाप करने यदि जाते हो तो तुम्ही जाओ हम नही जाते। क्योकि ऐसा जीववधसबधी पापकर्म का अभिप्राय वाले आप-सरीखे पुरुषो का हमसरीखे पुरुषो के साथ समागम, जिनका स्थापन बहुत से कल्याणो (पुत्रजन्म-आदि महोत्सवो) के चिह्न के लिए है, चिरकाल तक नही होता।'

'हे राजन् ! ऐसे विपरीत स्वभाव-वाले जीववधरूप पापकर्म मे, पुत्र-जन्म-आदि महोत्सवो मे अग्रेसर रहनेवाले हमलोगो का अधिकार क्या युक्त है ? अपितु नही है।' ऐसा दु ख-निवेदन करने से ही मानो—बाजो की ध्वनि कुत्सित शब्द करती हुई। 'यद्यपि राजा राग, द्वेष अथवा अज्ञान से इससमय विपरीत परिणाम-वाला हो गया है तो भी हमको, जिनके लिए आपके प्रसाद से निरन्तर लक्ष्मियो के भोग उत्पन्न होते है, निश्चय से आपके विषय मे अनादर करना योग्य नही है। अर्थात्—हम राजा को महल के मध्य मे ही रोकना चाहते है, जाना नही देना चाहते।' ऐसी बुद्धि से ही मानो—तोरण, आगे गिरकर तिरछा हो गया। फिर गधे ने रैकना शुरू किया। इससे ऐसा मालूम पडता था—मानो—वह निम्नप्रकार उपदेश दे रहा है—

'हे राजन् ! अब भी कुछ अशोभन नही है, उससे राजमहल मे जाकर आपको ऐसा कोई दूसरा ही कर्तव्य आचरण करना चाहिए, जिसका मूल इस लोक व परलोक मे कल्याणकारक है।' एव कौए ने प्रति-कूलता से कर्णकटु शब्द किया। इससे ऐसा मालूम पडता था—मानो—वह निम्नप्रकार उपहास कर रहा है—

तत्र च सविव्या प्रोक्षितदक्षिणाना च ब्राह्मणाना वचनात्

सर्वेषु सत्त्वेषु हतेषु यन्मे भवेत्फल देवि तदत्र भूयात् । इत्याशयेन स्वयमेव देव्या पुर शिरस्तस्य चकर्त शस्त्र्या[1] ॥२१५॥

विज्ञानिना शिल्पविशेषभावादेवविधान्मेऽभिनिवेशतश्च । स हन्यमानो हि न कामवस्था सचेतनादप्यधिका चकार ॥२१६॥

पिष्ट च मास परिकल्प्य तस्य महानसे प्रेषितवास्ततश्च । अन्येद्युरम्बासहितस्य देवी सा मे व्यधाद्भोजनमादरेण ॥२१७॥

तया सुतेन स्नुषया च मात्रा सार्धं मुदैकत्र कृताशनस्य । सा दुष्टधीर्मे जननीयुतस्य सचारयामास विषामिषाणि ॥२१८॥

वैद्याय दूता प्रहिता हि यावद्यावद्गृहेष्वौषधमीक्ष्यते च । जात नृपे दृष्टिविष जनानामिति स्म तावद्विससर्ज लोकम् ॥२१९॥

एकान्तमालोक्य विकीर्य केशान्हा नाथ नाथेति गिर गिरन्ती । निपत्य मे वक्षसि दु खितेव रुरोध कण्ठ यमपाशिकेव ॥२२०॥

अन्येऽपि ये स्त्रीष्वनुरक्तचित्ता विश्वासमायान्ति नरा, प्रमत्ता । प्रायो दशेय ननु तेष्ववश्य नदीतटस्थेष्विव पादपेषु ॥२२१॥

आकल्प परिपूर्णकामितफला काम भवन्तु प्रजा क्षोणीशा प्रतिपालयन्तु वसुधा धर्मानुबद्धोत्सवा ।

'हे राजन् ! क्या कोई भी दूसरो के आग्रह से पापकर्म करता हुआ देखा गया है ? जिससे तुम ऐसे निन्द्य मार्ग मे प्रवृत्त हुए हो।' उक्त अपशकुन होने के अनन्तर मै, चण्डिकादेवी के मन्दिर मे माता के पीछे गया। इससे ऐसा मालूम पडता था—मानो—'नियति (भवितव्यता) किसके द्वारा उल्लङ्घन की जा सकती है ? इस वचन को सत्यता मे प्राप्त करा रहा हूँ। उस चण्डिकादेवी के मन्दिर मे प्रोक्षित करने के कारण दान प्राप्त करनेवाले ब्राह्मणो के वचन से—

हे चण्डिकादेवी ! 'समस्त प्राणियो के मार देने पर जो कुछ फल होता है, वह फल यहाँपर मेरे लिए प्राप्त होवे।' ऐसे अभिप्राय से मैने स्वय चण्डिकादेवी के सामने छुरी से उस मुर्गे का मस्तक काट दिया[2] ॥ २१५ ॥ विज्ञानियो की शिल्पकला के अतिशय से और सर्वजीव-वध के सकल्परूप मेरे अभिप्राय से मेरे द्वारा घात किये जानेवाले उस आटे के मुर्गे ने जोवित मुर्गे से भी अधिक कौनसी अवस्था नही की ?[3] ॥२१६॥ मैने उस मुर्गे के चूर्ण मे 'मास' ऐसा सकल्प करके रसोई घर मे भेज दिया, फिर उस दिन से दूसरे दिन अमृतमतिदेवी ने माता-सहित मेरे लिए आदरपूर्वक भोजन बनाया[4] ॥ २१७ ॥ उस पापिनी अमृतमति ने, माता के साथ व कुसुमावली नाम की पुत्रवधू तथा यशोमतिकुमार के साथ हर्षपूर्वक भोजन करनेवाले माता-सहित मेरे भोजनो मे विषभोजन प्रवेश कर दिया। अर्थात्—उसने मेरे लिए व मेरी माता के लिए विषभोजन दे दिया। अर्थात्—यशोमतिकुमार व कुसुमावली का भोजन-पात्र एक था और चन्द्रमति एव यशोधर का भोजन-पात्र एक था[5] ॥ २१८ ॥ जब तक वैद्य बुलाने के लिए दूत भेजे गए और जब तक गृह मे जहर उतारने की औषधि देखी जाती है तब तक उसने लोगो को इसलिए भेज दिया कि राजा मे लोगो का दृष्टि-विष उत्पन्न हुआ है[6] ॥ २१९ ॥ एकान्त देखकर व केश बिखराकर 'हा नाथ हा नाथ' इसप्रकार वाणी बोलती हुई वह दु खित-सरीखी होकर मेरे वक्ष स्थल पर गिरी। फिर यमराज की जाली-सरीखी उसने मेरा कण्ठ बाँध लिया[7] ॥ २२० ॥ यशोधर के सिवाय दूसरे भी जो पुरुष स्त्रियो मे अनुरक्त होने से असावधान होते हुए विश्वास प्राप्त करते है, निश्चय से उनकी भी प्राय करके यही दशा होती है, जैसे नदी के तटवर्ती वृक्षो की होती है[8] ॥ २२१ ॥ प्रजा के लोग प्रलयकाल पर्यन्त अभिलषित फल परिपूर्ण करनेवाले यथेष्ट होवे। धर्मो

---

१ 'शस्त्रात्' इति पाठान्तर। २ अतिशयालकार। ३ व्यतिरेकालकार। ४ रूपकालकार। ५ सहोक्त्यलकार। ६ जात्यलंकार। ७ उपमालकार। ८ उपमालकार।

सन्त सन्तु सरस्वतीप्रणयिन सार्धं श्रिय सगमै र्भूयादेष जिनोक्तिमौक्तिकलतारामस्त्रिलोकीमुदे ।।२२२।।
मया वागर्थसभारे भुक्ते सारस्वते रसे। कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजना ।।२२३।।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणे श्रीमन्नेमिदेवभगवत शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ति-
शिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते
यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्येऽमृतमतिमहादेवीदुर्विलसनो नाम चतुर्थ आश्वास ।।

(पूजा व दानादि) मे आनन्द प्राप्त करनेवाले राजालोग पृथिवी की रक्षा करे। विद्वान् पुरुष लक्ष्मियो के साथ सरस्वती (जिन-वचन) से स्नेह करनेवाले हो एव यह जिनवचनरूपी मोतियो की लता का बगीचा तीन लोक के आनन्द के लिए होवे[1] ।। २२२ ।। जब मुझ सोमदेव ने शब्दसस्कार व शब्दार्थसस्कार-सहित शास्त्ररूप अमृतरस का आस्वादन कर लिया तब दूसरे कविलोग निश्चय से उच्छिष्ट भोजी होगे ।। २२३ ।। इसप्रकार समस्त तार्किक-(षड् दर्शनवेत्ता) चक्रवर्तियो के चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य नेमिदेव के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्यपद्य विद्याधरो के चक्रवर्तियो के मस्तको के आभूषण हुए हे, रचे हुए 'यशोधरचरित' म, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलक महाकाव्य' है, 'अमृतमति महादेवी दुर्विलसन' नामका चतुर्थ आश्वास पूर्ण हुआ।

इसप्रकार दार्शनिक चूडामणि श्रीमदम्बादासजो शास्त्री व श्रीमत्पूज्यपाद आध्यात्मिक सन्त
श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के प्रधानशिष्य, जैनन्यायतीर्थ,
प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ व आयुर्वेद-विशारद एव महोपदेश -आदि अनेक
उपाधिविभूषित सागरनिवासी श्रीमत्सुन्दरलाल जी शास्त्री द्वारा रची
हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि विरचित 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य' की
'यशस्तिलकदीपिका' नामकी भाषाटीका मे अमृतमति-
महादेवी-दुर्विलसन नामका चतुर्थ आश्वास पूर्ण हुआ।



१ अतिशयालकार। २ रूपकोपमालंकार।

पञ्चम आश्वासः

श्रीमानशेषभुवनाधिपतिर्जिनेन्द्रश्चन्द्रप्रभस्तव तनोतु मनीषितानि।
यद्वीक्षणादपि मन कुमुदाकर स्याल्लोकस्य लोचनदलामृतपूरसार ॥१॥

त्व सर्वस्य सदागतिर्जिनपते त्व नाथ कर्मान्तिभूस्त्व दाता वरदस्त्वमद्भुतरुची लोकेश ते ज्योतिषी।
त्वन्नामामृतमत्र योगिविषय त्व देव तेज पर त्व चानङ्गन सर्वगोऽपि नियत पाया तमस्तो जगत् ॥२॥

तदन्वहो सकलदिक्सीमन्तिनीसीमन्तसतानितप्रतापसिन्दूर दुरितविदूर, तस्माददुरन्तव्यसनव्यालव्यासङ्गपाशाद्दुरभिनिवेशात्

ऐसे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र आपके कल्याणो को वृद्धिगत करे। जो कि अन्तरङ्ग लक्ष्मी (अनन्त-दर्शनादि) व बहिरङ्गलक्ष्मी (समवसरण-आदि विभूति) से विराजमान होते हुए समस्त तीन लोको के स्वामी है। जिनके दर्शनमात्र से भी चित्तरूपी कुमुद-(चन्द्रविकासी कमल) वन, भव्यजीव समूह के नेत्ररूप-पत्तो को अमृतधारा के प्रवाह से विशेष कृतार्थ हो जाता है[1] ॥ १ ॥ हे जिनेन्द्र ! आप समस्त प्राणी-समूह को सदाशरण (दु ख नाश करने मे समर्थ) हो। हे तीन लोक के स्वामी ! आप अष्टकर्मो (ज्ञानावरण-आदि) की विनाशभूमि है।

हे भगवन् ! आप स्वर्ग व मोक्षसुख के देनेवाले व अभिलषित वर देनेवाले है। हे तीनलोक के स्वामी ! आपके ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले दोनो नेत्र, आश्चर्यजनक लोक व अलोक को प्रकाश करनेवाली दीप्ति से युक्त है। हे भगवन् ! आपका नामरूपी अमृत (मोक्ष-सुख का कारण होने से) इस ससार मे गौतमगण धरादि योगीपुरुषो द्वारा जानने योग्य है। हे परम आराधना-योग्य प्रभो ! आप कर्ममल कलङ्क को भस्म करनेवाले होने से उत्कृष्ट अग्निरूप है। हे स्त्री-रहित प्रभो ! आप केवलज्ञान से लोकाकाश व अलोकाकाश मे व्यापक (सर्वत्र व्याप्त) होते हुए भी चरमशरीरप्रमाण होने से मर्यादीभूत है, अत आप ससार मे स्थित प्राणी-समूह की अज्ञान से रक्षा कीजिये। अभिप्राय यह है—कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यजमान, आकाश, चन्द्र व सूर्य ये शभु की आठ मूर्तियाँ है, उसके निराकरणार्थ आचार्यश्री ने चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर को उक्त आठ मूर्तियुक्त निर्देश किया है। यथा 'सदागति' पद से वायुमूर्ति व 'कर्मान्तिभू' पद से पृथ्वी मूर्ति सूचित किये गए। 'कर्मान्तिभू' पद का यह अर्थ है कि कर्मक्षय की पृथ्वीरूप गणधरादिसमूह या भव्यसमूह की रक्षा करनेवाले। इसीप्रकार 'दाता' पद से यजमानमूर्ति, 'ज्योतिषी' पद से 'चन्द्रमूर्ति' व 'सूर्यमूर्ति' कथन किये गए एव 'त्वन्नामामृतम्' पद से जलमूर्ति, परमतेज पद से 'अग्निमूर्ति' और 'सर्वगोऽपि' तथा 'अनङ्गन' इस सबोधनपद से आकाशमूर्ति निरूपण की हुई समझनी चाहिए[2] ॥ २ ॥ उसके बाद समस्त दिशारूपी स्त्रियो के शिर के केशमार्गो पर प्रतापरूपी सिन्दूर को विस्तारित करनेवाले व पाप से दूरवर्ती ऐसे हे मारिदत्त महाराज ! उस मुर्गे के बधरूपी पाप युक्त अभिप्राय से, जिसमे दुष्ट स्वभाववाले दु ख-रूपी दुष्टगज अथवा कालसर्प का सगमरूपी पाश (बन्धन) वर्तमान है, देवी-समूह द्वारा सेवन किये हुए मध्य भागवाले 'सुवेल' नामक पर्वत के ईशानकोण की समीपवर्ती स्वभावत प्रचुर जलवाली भूमि मे वर्तमान वृक्ष पर मै (यशोधर), मयूरकुलमे जन्म लेनेवाला हुआ। अर्थात्—उस सुवेल पर्वत के समीपवर्ती नदी तट पर वर्तमान वृक्ष पर मै (यशोधर) मोरकुल मे मोर हुआ। सुवेल पर्वतका निरूपण—

१. उपमालकार। २ रूपक श्लेषालकारश्च।

हिमालयाद्दक्षिणदिक्कपोल शैल सुवेलोऽस्ति लताविलोल । चकार य कान्ततयामरीणा वीतस्पृह नाम नगेषु चेत ॥३॥
नभ परिच्छेत्तुमिवोद्यतस्य द्रष्टु दिगन्तानिव विस्तृतस्य । ऊर्ध्वत्वतिर्यक्त्वमहत्त्वमुच्चैर्न शक्यते यस्य जनेन मातुम् ॥४॥
नमेरुसतानकपारिजातमाकन्दमन्दारमनोहरासु । यस्यामरा केलिकृत स्थलीषु स्मरन्ति नो नन्दनकाननस्य ॥५॥
फलैस्तरूणाममृतानुकूलैर्मणिप्रकाशैश्च दरीनिवेशै । दिवौकसा सद्मसुखानि यत्र लोक स्थित प्रार्थयते न जातु ॥६॥
यत्तुङ्गशृङ्गाग्रविलम्बिबिम्ब पर्यन्तनक्षत्रमणिप्रचुम्ब । आभाति राकातुहिनाशुमाली प्रसाधित छत्रमिवाम्बरस्य ॥७॥
यश्चित्रमेघाम्बरमण्डिताङ्ग समन्ततश्चामरचारुसङ्ग । पूषातपत्रो द्विजगीतकीर्तिरिन्द्रोत्सवस्येव बिभर्ति लक्ष्मीम् ॥८॥

यश्च क्वचित्किटिकटकदंष्ट्रोत्पाटिताटनिपुटकिनीकन्ददन्तुरदरवदनविन्यास साट्टहास इव, क्वचिन्निकटतटतटाकोदर-दरद्देहदौलेयकपालसकुलमेखल प्रतिपन्नकपालिकुल इव, क्वचिन्निखिलतरूपनीतानेकनेत्रसतति शतधृतिरिव, क्वचित्प्रान्त-प्रवृत्तापगाप्रवाहविषमवलन पवनाशन इव, क्वचित्केसरिकिशोरखरनखरोत्खातकरिकुम्भस्थलोच्छलन्मुक्ताफलजालजटिल-

---

हिमालय पर्वत की दक्षिण दिशारूपी स्त्री के गालो-सरीखा शोभायमान 'सुवेल' नाम का पर्वत है, जिसमे मन्द-मन्द वायु द्वारा कम्पित होती हुई लताएँ वर्तमान है एव जिसने मनोहरता के कारण देवियो के हृदय को दूसरे पर्वतो मे इच्छा-रहित किया था[1] ॥३॥ जिस सुवेल पर्वत की ऊँचाई व दीर्घता का महत्व अतिशय रूप से मनुष्यो द्वारा मापने या जानने के लिए अशक्य है। जो विशेष ऊँचा होने से ऐसा प्रतीत होता था—मानो—आकाश को विदीर्ण करने के लिए ऊपर गया है और विस्तृत होने के कारण—मानो—दिशाओ का अन्त देखने के लिए दीर्घता को प्राप्त हुआ है[2] ॥४॥ जिस पर्वत के उन्नत प्रदेशो पर, जो कि नमेरु, सन्तानक, पारिजात (देववृक्ष), आमवृक्ष और मन्दार वृक्षो से हृदय को अनुरञ्जित करनेवाले है, क्रीडा करनेवाले देवता लोग नन्दन-वन का स्मरण नही करते[3] ॥५॥ जिस 'सुवेल' पर्वत पर स्थित हुआ जन-समूह वृक्षो के अमृततुल्य स्वादिष्ट फलो व रत्नकान्ति-युक्त गुफास्थानो के कारण देवविमान सबधी सुखो की कभी प्रार्थना नही करते[4] ॥६॥ जिस सुवेल पर्वत की ऊँची शिखर के उपरितन भाग पर जिसका मण्डल ठहरा हुआ है और जो पर्यन्त भाग पर स्थित हुए नक्षत्ररूपी मणियो को चुम्बन करनेवाला है, ऐसा पूर्णिमा-चन्द्र आकाश के सजाये हुए छत्र-सरीखा शोभायमान हो रहा है[5] ॥७॥ जो प्रस्तुत पर्वत इन्द्रोत्सव की लक्ष्मी धारण करता हुआ-सा शोभायमान हो रहा है। जिसका शरीर नानावर्ण-वाले मेघरूपी वस्त्रो से मण्डित है और इन्द्रोत्सव भी नाना वर्णवाले मेघो का आवास है। जो, चारो ओर से चामरो (चमरी-मृगो के समूह) से चारुसङ्ग (सुन्दर सङ्गम-वाला) है और इन्द्रोत्सव भी च-अमरो (देवताओ) के सुन्दर सगम से युक्त होता है। सूर्य ही है छत्र जिसका, और इन्द्रोत्सव भी सूर्य-सरीखे तेज से विराजित होता है। इसीप्रकार जिसकी कीर्ति द्विजो (पक्षियो) द्वारा गान की गई है और पक्षान्तर मे जिसकी कीर्ति द्विजो (ब्राह्मणो) द्वारा गान की गई है, ऐसा होता है[6] ॥८॥ जिस 'सुवेल' पर्वत की गुफाओ का वदन विन्यास, किसी स्थान पर, शूकर-समूह की दाढो द्वारा उखाडे हुए तरल कमलिनियो के मूलो से उन्नत दन्तशाली है। इससे जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—अट्टहास ही कर रहा है। किसी स्थान पर जिसकी मेखला (पर्वत-नितम्ब), तट के निकटवर्ती सरोवरो के मध्य भाग मे विदीर्यमाण शरीरवाले कछुओ के पृष्ठ भागो से व्याप्त है। इससे मानो—रुद्र-समूह को अङ्गीकार करनेवाला ही है। किसी स्थान पर जिसके द्वारा अनेक नेत्रो (वृक्ष-मूलो

---

१. रूपकातिशयालकार । २ उत्प्रेक्षालकार । ३. समुच्चयातिशयालकार । ४ हेतूपमातिशयालकार । ५ उपमालकार । ६ श्लेषोपमालकार ।

वल्लरीप्रतान कामिनीकुन्तलसतान इव, क्वचिद्वनेचरसहचरीचरणनखनक्षत्रपवित्रोपत्यकानिचय सुरशिलोच्चय इव, क्वचिन्निर्झरजलजर्जरितशिलान्त कृतकुञ्जरतटाघात सामन्त इव, नाकलोक इव कुशिकसुतावलोक, शरदागम इव कृतकमलसमागम, सरस्वतीसभादेश इव पुण्डरीकावकाशोपदेश, समीक्षासिद्धान्त इव कपिलकुलकान्त, शुद्धान्त इव सकञ्चुकिवृत्तान्त, पवनमार्ग इव सदन्तोत्सर्ग, सरोवकाश इव पारापतनिवेश, कात्यायिनीनिलय इव विहितहेरम्बप्रणय, पिङ्गलेक्षणावास इव शाक्वरनिवास, कल्याणपवन इव समदन, अनात्मवानपि सचेतक, अबीभत्सुरपि कपिध्वजचिह्न, अमेरुशरासनोऽपि सदुर्ग, अमनसिजरसोऽपि सजातभोगिनीसङ्ग, अरेवतीपतिरपि ताललाञ्छन, अवैवधिकोऽपि विहङ्गिकाध्यासितस्कन्ध, अकुसुमायुधोऽपि सपुष्पबाण,

---

व मृग-विशेषो) का समूह समस्त वृक्षो के समीप लाया गया है। इससे मानो—इन्द्र ही है अर्थात्—जैसे इन्द्र अनेक नेत्रो (चक्षुओ) से अलङ्कृत होता है। किसी स्थान पर बहती हुई नदियो के प्रवाहो का जहापर वक्र वलन (घुमाव-फिराव) हो रहा है। इससे मानो—सर्प ही है अर्थात्—जैसे सर्प, वक्र वलन-(सचार) युक्त होता है। किसी स्थान पर जहाँपर लता-समूह, ऐसे मोतियो के समूह से मिश्रित हो रहे है, जो कि तरुणसिहो के कठिन नखो द्वारा विदारण किये गए हाथियो के कुम्भस्थलो से उछलकर गिर रहे थे। इससे मानो—कमनीय कामिनियो का केश-पाश ही है। अर्थात् जैसे कामिनियो के केश पाश मोतियो की मालाओ से अलङ्कृत होते है। किसी स्थान पर जिसका उपत्यका-(तलहटी) समूह, भीलो की स्त्रियो के चरण-नखरूपी नक्षत्रो से पवित्र हो रहा है, इससे मानो—सुमेरु पर्वत ही है। अर्थात्—जैसे सुमेरु पर्वत नक्षत्रो से मण्डित होता है। किसी स्थान पर जिसने झरनो के जलद्वारा शिलाओ का प्रान्त भाग जर्जरित किया है, इससे मानो—हाथी के पार्श्व भागो पर निष्ठुर प्रहार करनेवाला राजा ही है। कुशिकसुतो (उल्लुओ) के लिए अवलोक (नेत्रकान्ति) देनेवाला वह ऐसा प्रतीत होता था—मानो—कुशिकसुत (इन्द्र) के अवलोक (दर्शन) वाला स्वर्गलोक ही है। कमलो (मृगो) का सम्मुख आगमन करनेवाला जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—कमलो का समागम किया हुआ शरद ऋतु का आगमन ही है। जो, पुण्डरीक-अवकाश-उप-देश है। अर्थात्—जहाँपर व्याघ्रो के स्थान (गुफा-आदि) के समीप प्रदेश वर्तमान है। इससे मानो—पुण्डरीक-अवकाश उपदेश वाला सरस्वती का सभादेश ही है। अर्थात्—जैसे सरस्वती का सभास्थान, जिसमे श्वेत कमल के अवकाश के चारो ओर व्याख्यान वर्तमान है। जो कपिलकुल-कान्त है। अर्थात्—जो कपिलकुलो (वानर-समूहो) से मनोज्ञ है अथवा वानर-समूहो के लिए अभीष्ट है। इससे मानो—साख्य दर्शन ही है। अर्थात्—जैसे साख्यशास्त्र कपिल-कुल-कान्त (कपिलमुनि के शिष्य वर्ग को अभीष्ट) होता है। जो सकञ्चुकि वृत्तान्त है। अर्थात्—जिसका मध्य भाग कञ्चुकी (सर्पो) द्वारा कुण्डलाकार किया गया है। इससे मानो—अन्त पुर ही है। अर्थात्—जैसे अन्त पुर कञ्चुकियो (रक्षको) के वृत्तान्त-सहित होता है। जो सत् दन्त-उत्सर्ग है। अर्थात्—जिसके तटो की उत्कृष्ट रचना समीचीन है। इससे मानो—आकाश ही है। अर्थात्—जैसे आकाश, सत्-अन्तोत्सर्ग (चारो ओर नक्षत्रो-सहित) होता है। जो पारापत-निवेश (कबूतरो की स्थिति वाला) है। इससे मानो—तालाब का स्थान ही है। अर्थात्—जैसे तालाब का स्थान कबूतरो के स्थान-सहित होता है। जो विहित हेरम्बप्रणय है। अर्थात्—जो हेरम्बो (भैसाओ) के साथ स्नेह करनेवाला है, इससे—मानो—पार्वती-मन्दिर ही है। अर्थात्—जैसे पार्वती-मन्दिर हेरम्ब (श्रीगणेश) के साथ किये हुए स्नेह-युक्त होता है। जो शाक्वरो (गायो) का निवास है, इससे मानो—रुद्रावास ही है, अर्थात्—जैसे (रुद्रावास शाक्वरो (वृषभो) का निवास होता है। जो समदन (राजवृक्षो से सहित) है, इससे मानो—विवाह-दिन का शरीर ही है। अर्थात्—जैसे विवाह दिन का शरीर, समदन (कामदेव को जाग्रत करनेवाला) होता

किं च ।

पाताले पादमूलोपलविलसदहिव्यूहवृत्तान्तकान्तस्तिर्यक्प्राग्भारभागाश्रयशबरवधूबन्धुराधित्यकान्त ।
ऊर्ध्वं गन्धर्वरामारतिरभसभरोल्लोलचूलाकरालस्त्रैलोक्यालोक्यलक्ष्मीर्जयति गिरिरयं मेरुलीलासराल ॥१॥

तस्य सुरसुन्दरीसमाजसेवितसकलमेखलस्याचलस्यैशान्या दिशि निसर्गाद्दुदकवत्यामुपत्यकायामस्ति भो भुवन-त्रयीव्यवहाराहितागण्यगुणपण्य, पुण्यजनानन्दावाप पादप । य खल्वनेकविकिरकुलकामिनीनिशितशिखोल्लेखनखमुख-

---

है। जो अनात्मवान् हो करके भी सचेतक है, अर्थात्—जो जितेन्द्रिय न होकर के भी आत्मज्ञानी है। यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जो जितेन्द्रिय नही है, वह आत्मज्ञानी कैसे हो सकता है? उसका समाधान यह है कि जो अनात्मवान् (अचेतन—जड) है और सचेतक (हरीतकी-वृक्ष-सहित) है। जो 'अबीभत्सु' होकर के भी कपिध्वजचिह्न है। अर्थात्—जो अर्जुन न होकर के भी वानर के चिह्नवाली ध्वजा से सहित है। यहाँपर विरोध मालूम होता है क्योकि जो अर्जुन नही है, वह वानर के चिह्न वाली ध्वजा से युक्त कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अवीभत्सु (अक्रूर) है एव जिसके चिह्न कपि (वानर) व ध्वजा (वृक्ष) है।

जो अमेरुशरासन (रुद्र-रहित) होकर के भी सदुर्ग (पार्वती-सहित) है यहाँपर विरोध मालूम पडता है, क्योकि जो रुद्र-रहित होगा, वह पार्वती परमेश्वरी से सहित कैसे हो सकता है? उसका परिहार यह है कि जहाँपर अमेरु (नमेरु वृक्ष), शर (बाणतृण), असन (सर्जक वृक्ष व प्रियाल वृक्ष) वर्तमान है और जो निश्चय से सदुर्ग (विषम—ऊबड-खाबड प्रदेश-सहित है। जो अमनसिजरस (काम-राग रहित) होकर के भी सजातभोगिनीसङ्ग (जिसको भोगने योग्य स्त्रियो के साथ सग उत्पन्न हुआ है) है। यहाँपर भी विरोध मालूम पडता है, क्योकि कामवासना से शून्य पुरुष स्त्री-सगम नही कर सकता। उसका समाधान यह है, कि पर्वत के कामवासना नही होती, क्योकि वह जड है। अत जो काम-राग-रहित है एव निश्चय से सजातभोगिनी सङ्ग (जिसको सर्पिणी का सङ्गम उत्पन्न हुआ है) है। जो अरेवतीपति होकर के भी ताल-लाञ्छन है। अर्थात्—जो बलभद्र न होकर के भी ताडवृक्ष के चिह्नवाली ध्वजा से व्याप्त है। यहाँपर विरोध प्रतीत होता है क्योकि जो बलभद्र नही है, उसके तालवृक्ष के चिह्नवाली ध्वजा कैसे हो सकती है? उसका समाधान यह है कि जो रेवती के एव उपलक्षण से दूसरो के क्षेत्रो (खेतो) से रहित है, क्योकि 'शिलाया सस्य न भवति' अर्थात्—चट्टानो पर धान्य उत्पन्न नही होती एव निश्चय से तालवृक्षो से सहित है।

जो अवैवधिक होकर के भी विहङ्गिका—अध्यासित स्कन्ध है। अर्थात्—जो वैवधिक (कावडी—वहँगीधारक) न होकर के भी विहङ्गिका (वँहगी) से समाश्रित स्कन्ध वाला है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है—कि जो वँहगीधारक नही है, वह वँहगी से आश्रित स्कन्ध वाला कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है जिसमे वैवधिक (ताराओ का समूह) नही है और निश्चय से जिसका तट प्रदेश विहङ्गिकाओ—पक्षि-णियो—से आश्रित है। और जो अकुसुमायुध हो करके भी सपुष्पबाण है। अर्थात्—जो कामदेव न हो करके भी पुष्पो के बाण वाला (कामदेव) है। यहाँ पर भी विरोध है क्योकि जो कामदेव नही है, वह कुसुमशर—कामदेव—कैसे हो सकता है? उसका समाधान यह है कि जो 'अकु—सुम—आ-युध' है। अर्थात्—जो अकु (भूमि-रहित), व सुम (उत्तम शोभा-युक्त) एव जिसमे चारो ओर से सिह व हाथियो का युद्ध वतमान है और निश्चय से जिसमे पुष्पो से व्याप्त हुए बाण वृक्ष वर्तमान है।

विशेषता यह है—सुमेरुपर्वत की शोभावाला यह सुमेरु-सा सर्वोत्कर्ष रूप से वर्तमान है। जो अधो-

विलिख्यमानशाखाभुजशिखर, शिखरशिखाडम्बरितनिबिडनीडक्रीडदण्डजडिम्भतुण्डखण्डचमानकुम्पलपर्यन्त, कुम्पलपर्यन्त सचरच्चारणचमूविमानमणिकिङ्किणीजालविलुण्ठितविटपाग्रपल्लवपुटपटल, पल्लवपुटपटलान्तरालखेलद्वाचालकीरकुटुम्बिनी-कृतकितवालापविस्मापितपथिकसार्थ, पथिकसार्थकथारथायातमिलितानेकदेशिकोचितविचित्रवार्ताकर्णनोदीर्णवचनवनदेवतो त्तरलतरहस्ताहूयमानसहचरीनिचय, सहचरीनिचयकरकिशलयसवाहनसुखसुप्तागन्तुकलोकोपसेव्यमानबहलशीतलच्छाया-च्छन्नतलदेश, छायाच्छन्नतलदेशाश्रयमूर्छदतुच्छवाञ्छागच्छदविच्छिन्नखिन्नाध्वन्यसबाधकलहाकुलितपुर प्रयातपान्थ-सदर्भ, पान्थसदर्भपरिभ्रमश्रमविश्राम्यदाश्रमार्भकदर्भगर्भितस्कन्धाभोगपरिसर, स्कन्धाभोगपरिसरोपरचितवनचरनिवास-निषण्णषिङ्गाध्वगमिथुनरतधृष्टताकुलितशकुन्तप्रज, प्रजापतिरिव प्रदर्शितानेकवर्णप्रसूति, निखिलभुवनविनिर्माणप्रदेश

भाग मे पादमूल के पाषाणो पर क्रीडा करते हुए सर्प-समूहो के कुण्डलाकार किये हुए शरीररूपी पर्वत से मनोहर है और मेरुपर्वत भी 'अहिव्यूहवृत्तान्तकान्त' अर्थात् नागदेव की कथा से मनोहर है। जिसकी ऊर्ध्वभूमि का अन्त तिरछे विस्तृत प्रदेशो पर आश्रय करनेवाली किरात-कामिनियो से व्याप्त है और सुमेरुपर्वत भी जिसकी ऊर्ध्वभूमि का प्रान्तभाग वरवाली देवियो व विद्याधरियो से व्याप्त है। जो ऊर्ध्व प्रदेशो पर गवैयो की कामिनियो के सभोग क्रीडा सम्बन्धी वेगातिशय से चञ्चल हुए अग्रभाग से उन्नत है। एव मेरु भी गन्धर्व-कामिनियो की रति से व्याप्त है एव जिसकी लक्ष्मी (शोभा) तीनो लोको (ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक) से निरीक्षण करने योग्य है[1] ॥ ९ ॥

जिसका असख्य गुणरूपी पण्य (बेचने योग्य वस्तु) तीन लोक के व्यवहार मे आचरण किया गया है ऐसे हेमारिदत्त महाराज! कैसा है वह वृक्ष? जिस पर मै (यशोधर) मोरो के कुल मे मोर हुआ? जो (वृक्ष), यक्षो के आनन्द की क्यारी है। जिसकी लताओ के बाहु-शिखर अनेक पक्षी-समूह की कामिनियो (पक्षिणियो) की तीखी शिखा के अग्रभागो से व्याप्त हुए नखो व चोचो द्वारा चुण्टन किये जा रहे है। जिसकी कोपलो के अग्रभाग वृक्ष-शिखर के अग्रभागो पर वर्तमान विस्तृत व घने घोसलो पर क्रीडा करते हुए पक्षियो के शावको की चोचो से छेदन किये जा रहे है। जिसकी शाखाओ के अग्रभागो के पल्लव पुट-पटल (समूह) कोपलो के अग्रभागो पर सचार करते हुए देवविशेषो की सेना के विमानो की रत्नजडित सुवर्णमयी क्षुद्रघण्टिकाओ की श्रेणी से तोडे गये है। जहाँ पर, सयुक्त प्रवाल-(कोमल पत्ते) समूहो के मध्य भागो पर क्रीडा करती हुई व विशेष शब्द करने वाली शुक-कामिनियो (मेनाओ) से किये हुए धूर्तता-युक्त एकान्त भाषणो द्वारा पथिक-समूह आश्चर्यान्वित कराये गये है। जिस पर ऐसे वन देवताओ के, जो कि पथिक-समूह की कथारूपो जिह्वारथो से आकर मिली हुईं, अनेक देशो के योग्य तथा चमत्कार करनेवाली किम्वदन्तियो के सुनने से विशेष वाणी बोलने वाले है, विशेष चञ्चल करकमलो द्वारा वन-देवताओ का कामिनी-समूह बुलाया जा रहा है। जिसका अध प्रदेश, ऐसी छाया से आच्छादित है, जो कि स्त्री-समूह के हस्तपल्लवो से किये हुए पाद-मर्दन से उत्पन्न हुए सुख से सोए हुए पथिकजनो द्वारा स्वीकार की जा रही है एव जो घनी व शीतल है। जहाँ पर ऐसे पथिको के, जो कि छाया से आच्छादित हुए अध प्रदेश के आश्रय के लिए बढती हुई प्रचुर अभिलाषा से आ रहे थे एव जो घने व श्रान्त (थकित) थे, मघटन से उत्पन्न हुई कलह के कारण पहिले से आया हुआ पथिक-समूह व्याकुलित हुआ है। जिसके विस्तृत स्कन्ध का समीपवर्ती स्थान पथिक-समूह के साथ पर्यटन करने से उत्पन्न हुए श्रम के कारण विश्राम करते हुए तपस्वी बालको के कुशो से आच्छादित हुआ है। विस्तृत स्कन्ध की आगे की भूमि पर निर्माण कराये हुए किरात भवनो मे स्थित हुए विट (कामुक) पथिको के स्त्री-पुरुषो के जोडो के मैथुन की

---

१ हेतूपमालकार।

इव दलबहुल, काकुत्स्थकथावतार इव कपिकुलविलुप्यमानपलाशप्रसर, सत्रमण्डप इव द्विजराजविराजित, पर्जन्यागम इव श्यामलिताखिलदिग्वलय, छन्द प्रस्तार इव पादप्रबन्धावरुद्धवसुध, क्षितिपजययात्राकाल इव सुच्छायपतत्र, काननश्री-प्रसाधितातपत्राभोग इव सुवृत्तमण्डल, पुण्योदयदिवस इव सपादितफलपरम्पर, शरणागतसभावनादिव दूरतरमभ्युत्थित, प्राघूर्णकपरिरम्भसम्भ्रमादिव प्रसारितशाखाभुजसहस्र, स्वविभवसमर्पणोपचारादिव बद्धपुटकुड्मलप्रणामाञ्जलि, सिद्धालय इवानेकशस्त्रिदशदयितोपयाचितपिष्टपञ्चाङ्गुलावरुद्धबुध्न, कुबेरपुरनिवास इव प्ररोहदोलादक्षयक्षकुलकुमार, पशुपतिरिव गामधिष्ठित समीपतरविनायकश्च, नारायण इव वनमालाविभूषण परिकल्पितभुजगशयनश्च, पितामह इव वय परिणत

निर्लज्जता के कारण जहाँ पर पक्षियो के बच्चे व्याकुलित हो रहे है। जिसने अनेक वर्णो (श्वेत व पीत-आदि) की उत्पत्ति वैसी प्रकट की है जैसी ब्रह्मा अनेक वर्णो (ब्राह्मणादि) की उत्पत्ति प्रकट करता है। जो वैसा दल-बहुल (पत्तो से प्रचुर) है जैसे समस्त लोक की रचना का स्थान दलबहुल (कारण सामग्री की अधिकता-युक्त) होता है।

जो वैसा कपिकुलविलुप्यमानपलाशप्रसर है। अर्थात्-जिसके पलाशो (पत्तो) का विस्तार या समूह कपिकुलो (वानर-समूहो) से तोडा जा रहा है, जैसे रामायण का प्रवेश कपिकुलविलुप्यमान पलाशप्रसर होता है। अर्थात्—जिसमे कपिकुलो (सुग्रीव-आदि वानरवशजो) से पलाशप्रसार (राक्षस-व्यापार) मारने-योग्य होता है। जो वैसा द्विजराजो (मुख्य पक्षियो) से सुशोभित है जैसे दानशाला द्विजराजो (मुख्य ब्राह्मणो) से सुशोभित होती है। जो वैसा समस्त दिशा-समूह को नीलवर्ण-युक्त करनेवाला है जैसे वर्षाकाल समस्त दिशा-समूह को श्यामवर्णशाली करता है। जो वैसा पादप्रबन्धो (जड-समूहो) द्वारा पातालभूमि को व्याप्त करनेवाला है जैसे छन्दप्रस्तार पादप्रबन्धो (अक्षरसघात-समूहो) द्वारा पृथिवी को व्याप्त करता है। जो वैसा सुच्छायपत्र (शोभनकान्तियुक्त पत्तोवाला) है जैसे राजाओ की दिग्विजय की यात्रा का अवसर सुच्छायपत्र (तेजस्वी अश्व-आदि वाहनो से युक्त) होता है। जो वैसा सुवृत्तमण्डल (जिसका मण्डल—वर्तुलता अच्छी तरह निष्पन्न) है, जैसे वनलक्ष्मीका मण्डित छत्रविस्तार सुवृत्तमण्डल (निष्पन्न वर्तुलाकार वाला) होता है। जो वैसा सपादितफलपरम्पर (अनार-आदि फलसमूह को उत्पन्न करनेवाला अथवा भेटरूप से उपस्थित करनेवाला) है जैसे पुण्योदय का दिन सम्पादितफलपरम्पर, (अभिलषित सुखरूपी फल-समूह को उत्पन्न करनेवाला) होता है। दूर से पथिको के सन्मुख आया हुआ जो ऐसा प्रतीत होता था मानो—शरणागत पथिक-आदि को प्रसन्न करने के कारण से ही दूर से उनके सन्मुख आया है। मानो—अतिथियो के आलिङ्गन के आदर से ही जिसने अपनी शाखारूपी हजारो भुजाएँ (बाहू) फैलाई है। मानो—अपनी सम्पत्ति को दान करने के विनय से ही जिसने सयुक्त पुष्प-कलियो की नमस्कार-अञ्जलि बाँधी है। जिसका मूलप्रदेश वैसा देवियो के अनेकवार की हुई प्रार्थनाओ एव पिष्टपञ्चाङ्गुलो (टूटे हुए एरण्ड-वृक्षो ?) से घिरा हुआ है जैसे देवमन्दिर देवियो के नमस्कारो व पिष्टपञ्चाङ्गुलो (चूर्ण के हाथाओ) से घिरे हुए बुध्न (नीचे का भाग) से व्याप्त होता है। जहाँपर शाखाओ पर बँधे हुए झूलाओ से झूलने मे यक्ष-समूह के कुमार दक्ष (निपुण) हो रहे है, अत जो अलका नगरी के मन्दिर-सरीखा है। अर्थात्—जैसे अलकानगरी का मन्दिर जहाँपर बँधे हुए झूलाओ के झूलने मे यक्ष समूहो के कुमार प्रवीण होते है। जो वैसा गो-अधिष्ठित (पृथिवी पर स्थित) व समीपतर वि-नायक (जिसके समीप पक्षियो के नायक—गरुड-आदि) है जैसे रुद्र गो अधिष्ठित (वृषभ अधिष्ठित) व समीपतर विनायक (जिसके समीप श्री गणेशजी वर्तमान है) होता है। जो नारायण-सरीखा वनमाला विभूषण (वन-श्रेणी को अलकृत करनेवाला) व परिकल्पित भुजगशयन (जिस पर सर्पो द्वारा स्थिति की गई है) है।

अर्थात्—जैसे श्री नारायण वनमाला-विभूषण (जालन्धर दैत्यभार्या-सहित) और परिकल्पित भुजग-

शुचिच्छदपरिच्छदश्च, स्कन्द इव मयूरासन सुरवाहिनीसगमश्च, तापस इव विहितवल्कलपरिग्रह कृतजटाबन्धश्च, समुद्र इव महासत्त्वसश्रय प्रवालपाटलितकटनिश्च, सत्पुरुष इव प्रियालोकन परार्थघटनानिघ्नश्च,

यश्चानवरतमखिलजनोपसेव्यमानसर्वस्व पवनवशविकाशधरेण पल्लवाधरेणोपहसतीव प्रतिवेशितरूनस्मिन्दु-सचारे कान्तारे दैवादवाप्यमानसमागमनस्यार्थिजनस्याविधाय कमप्युपकारमरे खदिर, किं तवान्त सारतया। सरल, वृथेद सरलत्वम्। सपाक, मुधेय राजवृक्षता। शाल्मले, निष्कारण कण्टकित वपु। अर्जुन, आत्मखेदाय फलभारपरिग्रह। तृणराज, निजफलविभवगोपनाय नितान्त वृद्धि। पूतीक, अर्थिजनाशाभङ्गाय मार्गावस्थिति,

किं च।

पान्थै पल्लवलुण्टन करटिभि स्कन्धस्य सघट्टन सबाधो हरिभि शकुन्तनिकरै क्षोदस्तु किं वर्ण्यते।
किं चान्यत्तव देवदेहसदृशस्त्रैलोक्यमान्यस्थितेरात्मीया इव यस्य याचकजनै स्वच्छन्दसेव्या श्रिय ॥१०॥

शयन (नागशय्या पर शयन करनेवाले) होते है। जो वैसा वय परिणत (पक्षियो से चारो ओर नम्रीभूत) और शुचि-च्छद-परिच्छद (पवित्र पत्तो से वेष्टित या आच्छादित) है जैसे श्री ब्रह्मा वय परिणत (वृद्ध) व शुचिच्छद-परिच्छद (हस-वाहनवाला) होता है। जो वैसा मयूर-आसन (जिसपर मोरो की श्रेणी वर्तमान है) व सुरवाहिनीसगम (देव-सेना के सगमवाला) है जैसे कार्तिकेय मयूरासन (मयूर वाहन वाला) व सुरवाहिनीसगम (गङ्गा नदी का सगम करनेवाला) होता है। जो वैसा विहितवल्कलपरिग्रह (वृक्ष की छाल को धारण करनेवाला) व कृतजटायुबन्ध (शाखाओ का बन्धन करनेवाला) है जैसे तपस्वी विहितवल्कलपरिग्रह (वृक्ष की छाल का धारक) और कृतजटायुबन्ध (मोरपखो की पीछी का धारक) होता है। जो वैसा महा-सत्वसश्रय (विशेष बल का आश्रय) व प्रवालपाटलितकटनि (जिसने तट को छोटी छोटी कोपलो से पाटलित किया है) है जैसे समुद्र महासत्वसश्रय (मकर-आदि जलजन्तुओ का आश्रय) व प्रवालपाटलितकटनि (जिसने तट को मूँगारत्नो से पाटलित-रक्तवर्णशाली-किया है) होता है। एव जो वैसा प्रियालोकन (प्रिय दर्शनवाला) व परार्थघटनानिघ्न (दूसरे लोगो व पक्षियो के प्रयोजन की घटना मे तत्पर) है जैसे सत्पुरुष प्रिया-अलोकन (परस्त्रियो को न देखनेवाला) व परार्थघटनानिघ्न (परोपकार करने मे तत्पर) होता है।

जो वृक्ष, जिसकी पुष्प व फलादि सर्व विभूति समस्त प्राणियो द्वारा निरन्तर जीविका-योग्य की जा रही है। जो वायु से विकसित हुए पल्लव रूपी ओष्ठो से निकटवर्ती वृक्षो का निम्नप्रकार उपहास ही कर रहा है।

'अरे! कत्थे के वृक्ष! याचक मानव का, जिसका समागमन इस दु ख से भी सचार करने के लिए अशक्य वन मे दैवयोग से प्राप्त किया जारहा है, जब तूने कुछ भी उपकार नही किया तब तेरी अन्त सारता से क्या लाभ है? हे देवदारु! जब तू कुछ भी उपकार नही करता तो तेरी सरलता वृथा है। हे सपाक (वृक्ष-विशेष)! अनुपकारी तेरी यह राजवृक्षता निरर्थक है। हे सेमर वृक्ष! अनुपकारी तेरा यह शरीर निष्कारण काँटो से व्याप्त है। हे अर्जुन! अनुपकारी तेरा यह फलो का बोझारूपी परिग्रह स्वय के खेद के लिए है, क्योकि तेरे फल अखाद्य है। हे ताड वृक्ष! अनुपकारी तेरी अतिशय ऊँचाई अपनी फलसपत्ति की रक्षा के लिए है। अरे करञ्जवृक्ष! उपकार न करते हुए तेरी मार्ग पर स्थिति याचको की आशा को भङ्ग करने वाली है।

पान्थो (वटोहियो) से पल्लवो का चुण्टन किया जाता है व हाथी तेरा तना रगडते है और बन्दर तुझे पीडित करते है एव पक्षी-समह से तेरे खोदने के विषय मे क्या कहा जावे? विशेष यह है कि देवता-

तमहो महाराज, विटपिनमधिवसति, तैस्तैः स्वैरविहारचरितैरनेकरत्नरचिता इव गिरिदरीर्विरचयति, विचित्रोद्गमस्तम्बतुरम्बाडम्बरा इव शाखिशिखा कुर्वाणे, दुश्च्यवनचापचापलाविला इव दिशो दर्शयति, चारुचित्रोल्लेखा इव मेदिनीदधाने, विविधमणिमेचकिता इव सरसी सज्जयति, वनदेवतावामरचतुरा इव लतागृहावनीर्विनिर्माणे, केशपाशपेशला इवोपवनश्रिय सपादयति, शबरशिबिरशिखण्डमण्डनोचितकलापे, पुलिन्दसु दरीवतसीकृतचन्द्रके, वनेचरवनिताहितबर्हवलयविनोदे, नरेश्वरश्रीलाञ्छनपिच्छमूर्च्छिनि, महामुनिसयमोपधिनिबन्धनाङ्गरुहसकुले, प्रचलाकिना कुलेऽहमवाप्तजन्मा। कदाचित्स्वनि श्वासावसानसमीरसारितस्वल्पतरङ्गपरम्परम, अतिजरण्डशिखण्डमण्डलीगतिस्खलितकलुषप्रसरम्, किमपि खेदसमग्रमग्रेसरतरुणतररविकरनिकरनिरुध्यमानमार्गोदय, वेशन्तोपान्तात्तोयमादायासजातकलापोच्चयोऽप्यागामितत्सपत्तिवशात्प्रवृत्तप्रतीचीनचरणप्रचार, सच्चरित्रचिक्कस्य दुराचारचिक्वणस्य पक्वणपते मतङ्गजवस्यात्मजेन गजशल्क-

---

समान शरीरवाले व तीनलोक के प्राणियो द्वारा माननीय आचारवान् तेरी फलादि सम्पत्तियाँ याचक जनो से अपनी-सरीखी समझकर यथेष्ट भोगने-योग्य होती है[1] ॥ १० ॥

हे मारिदत्त महाराज। मैने कैसे मयूर-कुल मे जन्म-धारण किया? जो (मयूर कुल), उस वृक्ष पर निवास कर रहा था। जो उन उन प्रसिद्ध इच्छानुसार की हुई पर्यटन की चेष्टाओ से पर्वत की गुफाओ को अनेक रत्नो से रची हुई-सरीखी रच रहा था। जो वृक्षो की शिखरो को विचित्र उत्पन्न हुए गुच्छो के समूह की रचना-वाला कर रहा था। जो दिशाओ को इन्द्रधनुष की चञ्चलता से व्याप्त हुई सरीखी दिखा रहा था। जो, पृथिवियो को मनोज्ञ चित्रो से सहित हुई-सी धारण कर रहा था। जो महासरोवरो को नाना माणिक्यो से रगविरगे-से कर रहा था। जो लतामण्डप की भूमियो को वनदेवताओ के चमरो से शोभित हुई-सरीखी रच रहा था। जो उपवन की लक्ष्मियो को केशपाशो से मनोज्ञ-सी उत्पन्न कर रहा था। जिसका पिच्छ-समूह भील-समूह के मस्तको के भूषण-योग्य है। जिसके पिच्छो के अग्रभाग भीलो की सुन्दरियो द्वारा मुकुट किये गए है अथवा कर्णपूर किये गये है। जिसकी पिच्छरूपी कङ्कण क्रीडा भीलो की स्त्रियो के लिए गुणकारिणी है। जो राजलक्ष्मी के योग्य चिन्ह रूपी पिच्छो से वृद्धि प्राप्त कर रहा था एव जो महामुनियो के चारित्रोपकरण (पीछी) के कारणीभूत पिच्छो से व्याप्त है। इसके बाद हे मारिदत्त महाराज। किसी अवसर पर मुझे सदाचार के पालन मे आलसी व पापाचार मे आसक्त 'मतङ्गजव' नाम के भीलो के गृहस्वामी के पुत्र 'गजशल्यक' नाम वाले ने देखा। कैसे मुझ को? गजशल्यक ने देखा?

जिसने लघु सरोवर के तट से ऐसा जल पिया था, जिसकी छोटी-छोटी तरङ्ग-श्रेणियाँ अपनी नि श्वास सम्बन्धी अवसान वायु से प्रेरित की गई है एव जिसकी कलुषता की व्याप्ति विशेष वृद्धिगत मोर की चोटी-श्रेणी के हिलाने से वृद्धिगत हुई है, फिर नही उत्पन्न हुए पिच्छकलाप-समूह वाला होने पर भी भविष्य से प्रकट होनेवाली पिच्छ-कलाप-समूह की सपत्ति के कारण जिसका चरण-प्रचार (पैरो की प्रवृत्ति) भय से विपरीत (पीछे गमन-युक्त) हुआ था। जिसके मार्ग का अग्रभाग कुछ अनिर्वचनीय विशेष खेदपूर्वक आगे जानेवाले प्रौढ यौवनशाली मौर-समूहो से रोका जा रहा है।

हे मारिदत्त महाराज। कैसे 'गजशल्यक' ने मुझे देखा? जो कि उसी लघु सरोवर के समीप पक्षियो व वायु-सरीखे तेज दौडनेवाले मृगो को मारने के लिए आया हुआ था। जो नेत्रो की किरणो से, जिनकी कान्ति मदोन्मत्त हाथी के रुधिर से अव्यक्त लालिमावाले सिंह-कण्ठ के केशो-सरीखी थी, दिशाओ मे बन्धन श्रेणियो[2] का विस्तार (फैलाव) करता हुआ-सरीखा शोभायमान हो रहा था। जो, मोरो के नेत्रान्त-सरीखे शुभ्र व विस्तृत

---

१ समासोक्त्युपमालकार। २ उक्त च—'वीत शस्त्रोपकरण बन्धने मृगपक्षिणाम्।'
स० टी० पृ० १९७ से सकलित—सम्पादक

नाम्ना तत्रैव शकुन्तवातप्रमीसमूहमुपहन्तुमागतेन, सिन्धुररुधिरारुणहरिकण्ठकेशकान्तिभिर्दृष्टिदीधितिभिर्वीतसजालानीव दिक्षु प्रतन्वता, मयूरापाङ्गपाण्डुरैर्दशनदीप्तिप्रसरैराशामुखेषु मृगबन्धानिव प्रसारयता, भाविभवान्धकारपटलैरिव लताप्रतानदलैस्तिरोहिततनुना, शनिनेव मषीमाषाङ्गारकालकायेन, पलिशदेशाश्रयिणा तेनान्तकेनेवावलोकित । पक्षाणामद्यापि पक्षतिप्रदेश एवासादितोदयत्वादतिदीनरयत्वाच्च रोदस्योरन्यतरस्मिन्नपि विषये विहर्तुमसमर्थ, परिगृह्य पञ्जरे कृतकारागारक्रिय, प्ररूढप्रचलाकप्रचयश्च, तज्जनकेन पौराङ्गनापाङ्गपताकितशालाया विशालाया पुरि **यशोमतिमहाराजायोपायनीकृत**, समवलोक्य च ता ससारसारावनी तन्निसर्गादेव सुन्दर मन्दिर च दैवादाविर्भूतभवसभालन,

सैवेय नगरी, तदेव भवन, ता एव केलीधरा, सैवेषा वनभू, स एव सरसीसारे विलासाचल, ।
सैवासौ वनिता, स एव तनयस्ते चैव मे बान्धवाश्चित्र केवलमेक एव हि कथ जातोऽहमन्याकृति ॥११॥

इति क्षणमुपजातान्तर्वाष्पोदन्त, पुनरन्त पुरकृशोदरीणा निवासतरुस्कन्धावरोहावकाशैरिवोत्सङ्गदेशैर्गिरिशिखरैरिव पयोधरै प्रमदवनवल्लरीगहनैरिव बाहूपगूहनै सरोजसर प्राणैरिव मुखाघ्राणै शयनकुञ्जकेलिचूलैरिव कुन्तलजालैर्विनोद्यमान, पुत्र इव प्रियोपचारेषु सहचर इव विहारकर्मसु दीपोत्सवादौ गृहमिव पर्वप्रासाद इव मण्डनविधिषु शिष्य इव नर्तनक्रियासु

दन्तकान्ति से दिशाओ के अग्रभागो पर मृग-बन्धनो का आरोपण करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। जिसका शरीर, लताश्रेणी के पत्रो से, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानो—भविष्य जन्म-सम्बन्धी अज्ञानान्धकार के समूह ही है, आच्छादित था। जिसका शरीर कज्जल, उडद के कण व कोयला-सरीखा काला था एव जो पलिश[1] देश (जहाँ पर स्थित होकर हिरण मारे जाते है) का आश्रय करनेवाला था, अत मानो—यमराज ही है। फिर मुझे (मोर पर्याय के धारक यशोधर को), जिसके पिच्छ अभी भी पिच्छो के मूल-प्रदेश मे ही उदित हुए थे एव जिसका वेग अति दीन था, इसीलिए आकाश व पृथिवी मे से किसी भी स्थान पर पर्यटन करने के लिए असमर्थ था। उस गजशल्यक ने पकडकर पिञ्जरे मे वन्दीकृत किया। अर्थात्—जेलखाने मे प्रविष्ट किया। इसके बाद उत्पन्न हुए पिच्छसमूह से अलकृत हुए मुझ को उक्त 'गजशल्यक' के पिता 'मतङ्गजव' ने उज्जयिनी नगरी मे, जिसके गृह नगर की कामिनियो के कटाक्ष प्रान्तो द्वारा ध्वजाओ से सयुक्त किये गए है, यशोमति महाराज के लिए भेट कर दिया। सासारिक सार वस्तुओ की भूमि उस उज्जयिनो को और स्वभावत मनोज्ञ राजमहल को देखकर मुझे भाग्योदय से जाति स्मरण प्रकट हुआ। फिर मुझे निम्नप्रकार जातिस्मरण के साथ क्षण भर मे नेत्रो के मध्य आँसुओ के पतन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

वही यह उज्जयिनी नगरी है। वही यह 'त्रिभुवन तिलक' नाम का राजमहल है। वे ही क्रीडा भूमियाँ है। वही यह वनभूमि है। वही सरोवर के समीपवर्ती क्रीडापर्वत है। वही यह अमृतमति महादेवी पत्नी है और वही यह यशोमति नाम का पुत्र है एव वे ही मेरे कुटुम्ब वर्ग है, परन्तु आश्चर्य है कि केवल अकेला मै ही (यशोधर ही) अन्यादृश (विलक्षण—मोर की पर्यायधारक) हो गया हूँ[2] ॥११॥

फिर मै अन्त पुर की स्त्रियो व मत्त कामिनियो के उत्सङ्ग देशो (गोदियो) से, जो कि निवास वृक्ष के तना से उतरने के स्थानो की तरह थे, क्रीडा किया जा रहा था और उनके पर्वत-शिखर सरीखे कुचकलशो से क्रीडा किया जा रहा था। उनकी भुजाओ के आलिङ्गनो से, जो कि उनकी क्रीडा-योग्य उपवन-सम्बन्धी

---

१ 'यत्र स्थित्वा मृगा हन्यन्ते स प्रदेश पलिश उच्यते'
स० टी० पृ० १८० से सकलित—सम्पादक

२ समुच्चयोपमालकार ।

प्रणयस्थानमिवापरास्वपि क्रीडासु वरारोहाणां च स्वयं नखनिस्तुषितमण्डलैः कलमतन्दुलैः प्रतिनिकायमुपचार्य्यमाणः, क्षितिपतिना च तेन जेमनावसरेषु स्वहस्तवर्तितकायैः प्रथमकवलैः संभाव्यमानः, तत्र लक्ष्मीविलासाकुले राजकुले सभास्तार इव प्रगल्भप्रचारः सुखेनाहमासाचक्रे।

इतश्चास्ति खलु **विन्ध्याद्दक्षिणस्यां दिशि त्रिदशदेशाश्रयश्रीनिकटः करहाटो** नाम जनपदः। यत्र

सस्यसंपत्तिसंक्षिप्तसीमाभुवः, प्रचुरपथिकप्रियापणितपथिवस्तवः।
सत्त्रवापीप्रपारामरम्योदयाः, पद्मिनीखण्डताण्डविततोयाशयाः ॥१२॥

श्रीविलासोत्सवस्खलितसुरसमितयः, फुल्लफलपल्लवोल्लासिवनवृत्तयः।
पिकवधूरुतमनोहारिसर्वर्तवः, सकलसंसारसुखसेवितागन्तवः ॥१३॥

समरभरभागिभटभाववादोत्कटाः, खेलदुन्मदवृषोत्खाततटिनीतटाः।
त्यागभोगप्रभावाद्भुतख्यातयः, शुद्धवर्णाश्रमाचरितविगतेतयः ॥१४॥

लतावन-सरीखे थे तथा कमलों से अलंकृत हुए सरोवर के जीवन-सरीखे मुख-चुम्बनों से एवं शय्यावृक्ष के क्रीडापिच्छों (मोरपंखों) सरीखे केश पाशों से क्रीडा किया जा रहा था। मैं मत्त कामिनियों के स्वयं दिये हुए धान्य-तण्डुलों से, जिनका समूह नखों द्वारा भूसी-रहित किया गया है, प्रत्येक गृह में वैसा प्रतिपालन किया जा रहा था, जैसे हित करने के विषय में पुत्र प्रतिपालन किया जाता है, जैसे पर्यटन क्रियाओं में मित्र सेवन किया जाता है, जैसे दीपोत्सव-आदि में गृह सेवन किया जाता है (सजाया जाता है), जैसे भूषाविधानों से अमावस्या-आदि पर्वों के समय राजमहल सेवा किया जाता है (सुसज्जित किया जाता है) और जैसे नृत्य-शिक्षाओं से शिष्य सेवन किया जाता है—कला-प्रवीण किया जाता है एवं जैसे दूसरी रमण क्रियाओं से प्रेमपात्र सेवन किया जाता है। यशोमति राजा द्वारा भोजनावसरों में अपने करकमलों से रचे हुए प्रथम ग्रासों से सन्तुष्ट किया हुआ मैं उस लक्ष्मी के भोग से परिपूर्ण राजमहल में सभ्य-सरीखा प्रौढ प्रवेशवाला होकर सुखपूर्वक स्थित हुआ।

हे मारिदत्त महाराज! एक पार्श्वभाग में निश्चय से 'विन्ध्याचल' नामके पर्वत से दक्षिण दिशा में स्वर्ग लक्ष्मी के समीपवर्ती 'करहाट' नाम का देश है। जिसमें ऐसे ग्राम-विन्यास (समूह) हैं। जिनमें धान्य-सम्पत्तियों से व्याप्त हुईं सीमाभूमियाँ (खेत) वर्तमान हैं। जिनमें बहुत सी पथिक-कामिनियों द्वारा मार्ग में वस्तुएँ खरीदी गई हैं। जिनकी उत्पत्तियाँ या उन्नतियाँ उपवनों, बावडियों, प्याऊओं एवं बगीचों से मनोहर हैं एवं जिनमें कमलिनी-वनों से तडाग नचाए गए हैं ॥ १२ ॥ जिन्होंने लक्ष्मीभोग-महोत्सवों से देव समूह तिरस्कृत किये हैं। जहाँपर उद्यान-वृत्तियाँ, फैले हुए फलों व पल्लवों से शोभायमान हैं। जहाँपर समस्त ऋतुएँ (हिम व शिशिर-आदि) कोकिलाओं के मञ्जुल गानों से मन को हरण करनेवाली हैं एवं जहाँपर पथिकलोग समस्त सांसारिक सुखों से सेवा किये गए हैं ॥१३॥ जो संग्राम-भार को सेवन करनेवाले योद्धाओं के अभिप्राय से उत्पन्न हुए युद्ध से उत्कट हैं। जहाँपर नदियों के तट क्रीडा करनेवाले व हर्षित हुए बैलों द्वारा गिराए गए हैं। जिनकी प्रसिद्धि लक्ष्मियों के दान व उपभोग के माहात्म्य से आश्चर्य कारिणी है। एवं जहाँपर शुद्ध (संकरता-रहित) वर्णों (ब्राह्मणादि) व आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) के आचरणों से ईतियाँ (अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि उपद्रव) नष्ट हुई हैं ॥ १४ ॥ जिनमें सरल शरणागतों की रक्षा करने में कुलपरम्परा से चली आई कीर्ति पाई जाती है। जहाँपर धर्म, अर्थ व काम इन तीनों पुरुषार्थों के अनुष्ठान में समाननीति रखनेवाले मानव पाये जाते हैं। अर्थात्—जहाँपर लोग धर्म नष्ट करके धनोपार्जन नहीं करते एवं धन को अन्याय पूर्वक नष्ट करके

प्रवणशरणागतोद्धरणकुलकीर्तय, सन्ति धर्मार्थकामेषु समनीतय ।
सुकृतफलभूमयो ग्रामविनिवेशिका, कामितावाप्तिविजितामरोद्देशका ॥१५॥

अपि च यत्र

सोत्सेधसौधशिखराश्रयशातकुम्भशुम्भत्प्रभाप्रभु नभ प्रविभाव्य भूय ।
सध्यागमादिव दिवापि रहन्ति कान्ता कोका सर सु कृतकूजितकण्ठपीठा ॥१६॥

तत्र भवत इव सकलगोमण्डलाधिपतेर्गोधनाभिधानवसतेरस्ति खलु गोकुलविशाल **श्रीशाल** नाम धनधान्यवामारामनेदिष्ठ गोष्ठम् । यत्क्वचिदुन्निगलमण्डलवालाकुलितबस्तवकरकम्, क्वचिद्गोपालपोतपरिप्लवोपद्रूयमानवृद्धवृष्णिकम्, क्वचिद्वत्सेक्षणक्षरत्स्तनधेनुदुग्धधाराधाव्यमानधरापीठम्, क्वचित्कालशेयकलशराशिविश्राणनप्रीयमाणातिथिपेठम्, क्वचित्वनविनिवृत्तनिचिकीनिटिलनिकटनिक्षिप्यमाणदधिदर्भदूर्वाक्षतप्रसवम्, क्वचिद्दलितदामदासेरकार्भकभ्रान्तिशङ्कितशकृत्करिखुरक्षुद्यमानाद्यनिदेशपल्लवम्, क्वचित्तरुणतराभीरोद्घूर्णघनद्रुघणघोरघातघूर्ण्यमानरणरभसक्षोभक्षुधितरक्ताक्षकक्षम्, क्वचिदुन्माथनाथहरियूथयुद्धबाध्यमानप्रष्ठौहीपक्षम, क्वचिद्बष्कयणीक्षीरप्रतीक्ष्यमाणगृहगृहावग्रहणीगृहदेवताकुलम्, क्वचिद्गोमिथुनपरिणयोत्फुल्लपल्लवस्ववासिनीजनोच्चायमाणमङ्गलम्, क्वचिद्दधिमन्थमन्थानध्वनिविनर्त्यमानभवनबर्हिणम्, क्वचिन्मा-

---

भोग नही भोगते एव भोग नष्ट करके धर्म व धन का सचय नही करते । एव जो पुण्य के फलो (सुखो) के स्थान है तथा जिन्होने अभिलषित फलो की प्राप्ति से स्वर्गलोक जीते है[1] ॥ १५ ॥

जिस करहाट देश मे—मञ्जुल शब्द करनेवाले कण्ठपीठो से व्याप्त हुए चकवा विपुल आकाश को ऊँचे महलो की शिखरो पर आश्रय करनेवाले सुवर्ण की शोभायमान कान्ति से सर्वत्र व्याप्त हुआ देखकर शब्दायमान कण्ठोवाली चकवियो को, दिन मे भी तालाबो पर वैसे छोड देते है, जैसे सध्या के आगमन काल मे छोड देते है[2] ॥ १६ ॥

हे मारिदत्त महाराज ! उस करहाट देश मे 'गोधन' नामके गोविन्द का, जो कि वैसा समस्त गोमण्डल (गायो के समूह) का स्वामी है जैसे आप समस्त गोमण्डल (पृथिवी मण्डल) के स्वामी है, गायो के समूह से बहुल धन एव धान्यो का स्थान तथा बगीचो के निकटवर्ती 'श्रीशाल' नामका गोकुल (गोशाला) है । जो (गोकुल), किसी स्थान पर बन्धन-रहित (छूटे हुए) कुत्तो के बच्चो से जहाँ पर बकरियो के बच्चे व्याकुलित किये गये है । जो कहीपर ग्वाल बालको की मैथुन क्रिया से जहाँपर वृद्ध मेढे दु खित किये जारहे है । किसी स्थान पर बछडे के देखने से थनो से झर रहे गो-दुग्ध की धाराओ से पृथ्वीतल प्रक्षालित किया जारहा है। कहीपर मट्ठा के घडो की राशि-वितरण करने से जहाँपर अतिथि-समूह सन्तुष्ट किया जारहा है । कही पर वन से लौटी हुईं उत्तम गायो के ललाट-परिभागो पर दही, कुश, दूर्वा व अक्षत पुष्प स्थापित किये जा रहे है । कहीपर टूटे हुए बन्धनवाले (छूटे हुए) ऊँट-बालको के पर्यटन से भयभीत हुए बछडो के खुरो से जहाँ पर घास चरने की नाँदो के पत्ते, कुचले या रौदे जारहे है । कहीपर प्रौढ यौवनवाले अहीरो से घुमाये हुए प्रचुर मुद्गरो के निष्ठुर प्रहारो द्वारा जहाँपर युद्ध-वेग के सचलन से क्रुद्ध हुआ भैसाओ का झुण्ड मूर्च्छित हो रहा है। कही पर विशेष वलिष्ठ अथवा उन्मत्त साडो के झुण्ड की लडाई से जहाँपर वालगर्भिणी गायो का झुण्ड भूमि पर लोट-पोट किया जा रहा है । कही पर प्रौढ बछडो वाली गायो के दूध से गृह-देहली के गृह देवताओ का समूह पूजा जारहा है । कहीपर गाय-बैल के विवाह के अवसर पर विकसित पुष्प-पल्लवो से युक्त हुई सुहा-

---

१ सकरालकार । २ हेतूपमालंकार भ्रान्तिमानलकारश्च ।

हैयीदोहृध्याहाराहूयमानपय पानपरपथिकगणम्, क्वचित्सदानदामिनीच्युतचपलतरतर्णकक्षोदरुदितदारकदीयमानजरतीरक्षाविधानम्, सुरसुरभिनिधानमिवैवमपराभिरपि गणतिथिभिर्गृष्टिभि पुगतिथिभि परेष्टुकाभि सङ्कुतिथिभि समासमीनाभि बहुतिथिभि सुव्रताभि सख्यातीताभि पलिक्नीभि विगतवेहद्वसावत्तोकासधिनीसृष्टिभिरुस्राभिर्वाजिवेसरवालेयकारेयजातिभिश्च प्रभूतम्, दधिदुग्धघृतोदधीनामिव समवायभूतम् । तत्र तस्य विक्रमासरालस्य व्रजपालस्य सद्मनि मृगदशवशे सा मदीया चन्द्रमतिर्माता जवस्थानरूपातिरेकैरतिशयितसकलशालावृकलोक कौलेयको बभूव जातयुवभावश्च । योग्यस्वभाव खल्वय श्वेतपिङ्गलपराक्रमो निसर्गान्मार्गायुकक्रमश्च विश्वकरवद्भूनीन्द्राणा मृगयाविनोदस्येत्यनुध्याय तेन दम्पतिना तस्यामेव मालवीमुखेन्दुमण्डनरजन्यामुज्जयिन्या यशोमतिमहाराजाय दैवात्सोऽपि प्राभृतमानायि । राजा त नित्यजागरूकसुतमवलोक्य स्वगतम्—

'निर्मासास्य कपिलनयन स्वल्पतीक्ष्णाग्रकर्ण कुक्षिक्षाम पृथुलजघन' पूर्णवक्ष प्रदेश ।
दुग्धस्निग्धप्रतनुदशन सारमेयो महीशामाखेटाय प्रजवचरण किंचिदाभुग्नवाल ॥१७॥

मन्ये चानेन शरमासुतेनाकुरङ्गमिव हरिणलाञ्छनम्, अरक्ताक्षमिव महिषवाहनम्, अदष्ट्रायुधमिवादिवराहचरितम्, अहर्यक्षामिव सिहवाहिनीम्, असत्त्वसचाराश्च वनावनीधरधरा । मृगयामनोरथाश्चाद्य मे फलिष्यन्ति कामितकथा ।'

प्रकाशम्—'मद्विनोदानन्दनमते पशुपते, इत इत समानीयतामय यक्षपुरुष ।' पशुपति—'यथाज्ञापयति देव ।' राजा प्राप्तमेन श्वान सम हस्ताभ्या परामृश्य प्रलोभ्य तत्प्रियैस्तैस्तैर्वस्तुभिर्निष्ठीव्य च तदानने 'यत्राह क्वचिदवतिष्ठे तत्राय वराहवैरी सयमनीय' इत्युक्त्वा वान्तादगणिमुख्यायाकाण्डमृत्यवे समर्पयामास ।

गिनी स्त्री समूह द्वारा जहाँपर मङ्गल-गान गाया जारहा है। कही पर दही के मथने से उत्पन्न हुई मथन-ध्वनि से जहाँपर गृह के मयूर विशेष रूप से नचाए जारहे है। कहीपर गायो की दोहन-ध्वनि से दूध पीने मे तत्पर हुआ पथिक समूह बुलाया जा रहा है। कहीपर बन्धन की खूँटी से छूटे हुए चञ्चल बछडे के रोदने से होनेवाले बच्चे का रक्षा-विधान वृद्ध स्त्रियो के लिए सोपा जा रहा है।

इसीप्रकार जो (गोकुल–गोशाला) दूसरी भी बहुत सी एकबार ब्याई हुई गायो से प्रचुर हुआ कामधेनुओ के स्थान-सरीखा सुशोभित हो रहा था। फिर कौन २ सी गायो से वह प्रचुर था ? जो बहुत सी प्रचुर-प्रसूतिवाली (अनेकबार ब्याई हुई) गायो से एव बहुत सी समासमीना[1] (प्रतिवर्ष प्रसव करनेवाली) गायो से प्रचुर था। जो बहुत सी सुखपूर्वक दुही जानेवाली गायो से व बहुत सी अल्प दिनो के गर्भवाली गायो से प्रचुर था। जो ऐसी दूषित गायो से रहित था। जिनमे गिरे हुए गर्भवाली, वन्ध्या, सीगो से रहित (मुण्डी) व गर्भिणी होकर बैल द्वारा मैथुन की गई, दूषित गाएँ है, इसीप्रकार जो घोडे, खच्चरगधे, गधे, और मेढो की जातियो से प्रचुर था एव जो दधिसागर, क्षीरसागर व घृतसागरो का समुच्चय-सरीखा शोभायमान था।

उक्त गोकुल मे उस पूर्वोक्त विशेष पराक्रमी गोधन नाम के गोकुल पति के गृह पर कुत्तो के कुल मे वह मेरी चन्द्रमति माता कुत्ता हुई। जो कि वेग, बल व रूप की अधिकता से समस्त गोकुल सबधी कुत्तो के मध्य अतिशयवान् व युवावस्था प्राप्त करनेवाला हुआ। 'सिह-सरीखा पराक्रमी यह कुत्ता, जिसके चारो पैर स्वभावत शिकार करने मे कुशल हैं, निश्चय से राजाओ की शिकार क्रीडा मे योग्य स्वभाव वाला है' ऐसा चिन्तवन करके उस गोधन नामके गोकुल-स्वामी द्वारा उसी उज्जयिनी नगरी मे, जो कि मालवा देश की

---

१. 'समासमीना तु या सा प्रतिवर्ष प्रजायते' इत्यभिधानचिन्तामणि ।
स. टी पृ १८६ से सकलित—सम्पादक

एव स्वाचरितोपचितप्रयोगाद्विधिनियोगाद्द्वयोरप्यावयोस्तत्र पूर्वभवानुभूतभूमिव्यासे नृपनिवासे सह सवसतोरेकदा निशान्तनिवासशयानामन्त पुरपुरध्रिकालकारविकृतकायाना शम्भलीनाममृतमतिमहादेवीदशनायाशु प्रकाशितगतिकेलीना गमनाभिनिवेशवशरसद्रसनामुक्तमणिकिङ्किणीजालकलकोलाहलेन सजलजलधरध्वनिनेव नूपुरनादेन विनोद्यमानमानस. सुभगकदर्पाभिधस्य सौधस्याधिरोहणाध्वना सप्तम तलमध्यारूढोऽस्मि ।

तत्र च क्षणमात्रमिव स्थित्वा प्रतिनिवृत्तासु तासु प्रतीपदर्शिनीष्वह भूतभवानुभूतभवनभूमिसभावनाविर्भूतान्त - करणतया मनाग्विलम्बमानस्ताममृतमतिमहादेवी तेन कुब्जेन सह विहितमोहनामवलोक्य प्रवृद्धानवधिक्रोधविधुरधीलोचन कोपाटोपत्रुटत्त्रोटिशिलकोल्काजालवर्षविष्यन्दनैस्तुण्डतण्डनै , निबिडावेशवशविशीर्यमाणबर्हविहिताकालकेतूद्गतिभि पक्षप्रहतिभि , कीकसावसानविश्रान्तनखमुखमार्गोद्गलद्रुधिरधाराकाण्डताण्डवितसध्यारागसततिभि क्रकाहतिभिश्च तयोराचरितसुरतसुखान्तराय , सबाधविरिञ्चावधानसविधशरीरिकया कयाचित्परिवारदारिकया सुप्रतिष्ठेन कयाचिद्वेत्रलतया कयाचित्तालवृन्तेन कयाचित्प्रकीर्णदण्डिकया कयाचिद्वाड्गुलीजालेन कयाचिदनुपदीनया, तथापराभिरपि समुत्साहितसौविदल्लसद शरीराभिरवरोधविलासिनीभिश्च तेन तेनोपकरणकलापेनातिनिर्दयहृदय प्राणप्रयाणपर्यन्तजर्जरितकाय ,

---

स्त्रियो के मुखरूपी चन्द्रो को कान्तियुक्त करने मे पूर्णिमा की रात्रि है, भाग्य से यशोमति महाराज के लिए भेट कर दिया गया ।

यशोमति महाराज ने उस कुत्ते को देखकर अपने मन मे निम्नप्रकार विचार किया—'ऐसा कुत्ता राजाओ की शिकार के लिए होता है। जो दुर्बल मुख वाला व पीत-रक्त नेत्रोवाला है। जिसके दोनो कान, कुछ तीक्ष्ण प्रान्त भागवाले है। जो दुर्बल उदर वाला, विस्तीर्ण कमर के अग्रभाग से युक्त एव स्थूल हृदयशाली है, जिसके सूक्ष्म दाँत दूध जैसे सचिक्कण है। जो वेगशाली (तेज) पैरो से युक्त होता हुआ कुछ टेढी पूँछवाला है[1] ॥ १८ ॥

मै इस कुत्ते के कारण चन्द्र को मृग-रहित-सा मानता हूँ। अर्थात्—मानो—यह कुत्ता चन्द्र के मृग को मार डालेगा। मानो—इससे महिष-बाहन वाले यम को महिष-रहित सरीखा मानता हूँ। अर्थात्—यह यमवाहन महिष (भैंसा) को भी नष्ट कर देगा। इसके कारण आदिवराह-चरित को वराह-शून्य-सा मानता हूँ। इससे सिंह-वाहन-शालिनी पार्वती को सिंह-रहित मानता हूँ। अर्थात्—यह भवानी-वाहन सिंह का भी वध कर देगा। इससे अटवी, पर्वत व पृथिवी को प्राणियो (मृग, व्याघ्र व वराह-आदि) के प्रवेश से रहित हुई मानता हूँ। अर्थात्—यह, अटवी, पर्वत, व पृथिवी के (मृग-आदि) को मार डालेगा। आज मेरे शिकार के मनोरथ अभिलाषित कथा वाले होकर फलेंगे (पूर्ण होगे)।' 'इसके बाद यशोमति महाराज ने निम्नप्रकार स्पष्ट कहा—'मेरी क्रीडा को वृद्धिगत करनेवाली बुद्धि से अलकृत हे पशुपति (कुत्तो के रक्षक) इस कुत्ते को इस स्थान से इस स्थान पर लाओ। पशुपति—स्वामी की जैसी आज्ञा है उसके अनुसार करता हूँ। फिर—यशोमति महाराज ने प्राप्त हुए इस कुत्ते को साथ-साथ दोनो करकमलो से छुआ और उसको प्रिय लगनेवाली वस्तुओ (दूध-जलेबी आदि) का प्रलोभन देकर उसके मुख का चुम्बन किया। 'हे अकाण्ड मृत्यु ! 'जहाँ कहीपर मै ठहरू वहाँपर तुम्हे इस कुत्ते को बाँधना चाहिए' ऐसा कहकर प्रस्तुत राजा ने उसे कुत्तो के प्रतिपालको मे मुख्य 'अकाण्ड मृत्यु' के लिए दे दिया। इसप्रकार स्वय उपार्जन किये हुए कर्म से वृद्धिगत व्यापार वाले कर्म की अधीनता से जब हम दोनो भी (मोर व कुत्ते का जीव, जो कि पूर्व भव मे क्रमश यशोधर व चन्द्रमती था) पूर्वभव (यशोधर व चन्द्रमति की पूर्व पर्याय) मे भोगे हुए विस्तृत भूमिवाले त्रिभुवन तिलक नाम

१ रूपकजातिसमुच्चयालकार. ।

केकिनमेनमापादितामृतमतिमहादेवीद्रोह धरत बध्नीताहत मारयतेति परिदेवनमुखरमुखीभि सोपानमार्गेण निर्लोठित, शुनींसूनुना च तेन ममायमेतन्मयूरमारणे प्रेरणोपक्रम इति मन्यमानेनापदान्तरेऽवसन्नशरीरतया समागत समवर्तिवशा दशामहमानिन्ये ।

क्षितिपतिना च तेन समीपसपादितद्यूतेन मुञ्च मुञ्चेम चित्रपिङ्गलमतीवत्वरगल गिरता सारकेलिमपहाया-कर्षेण शीर्षदेशे दृढदत्तप्रहारकल सोऽपि भण्डिलस्तामेव दिवसकरात्मजाश्रयस्थामवस्थामनुससार ।

राजा गलनिर्गतप्राणयोरावयोरकामकृतामुपसपन्नतामवेत्य शोकातङ्कसकुलकाय

प्रासादमण्डनमणौ रमणीविनोदे क्रीडावनीधरशिलातलचित्रलेखे ।
को नाम केलिकरतालविधि वधूना नृत्तानुग त्वयि करिष्यति कीर्तिशेषे ॥१८॥

के राजमहल मे साथ-साथ निवास कर रहे थे तब एक समय मै (यशोधर का जीव जो मोर हुआ हूँ) ऐसी अन्त पुर मे निवास करनेवाली दासियो के नूपुरो की मञ्जुल ध्वनि से, जिसमे गमनाभिप्राय की अधीनता से शब्द करते हुए कमर की करधोनी मे बधे हुए मणिकिङ्किणी-समूह की मधुर ध्वनि पाई जाती है एव जिसकी ध्वनि जलसे भरे हुए मेघो की ध्वनि-सरीखी है, आनन्दित किये जा रहे मनवाला होकर सुभगकन्दर्प' नामक राजमहल की सीढियो से सातवे तल्ले पर चढ गया। वे दासियाँ ? जिनका शरीर अन्त पुर की कुटुम्बिनी स्त्रियो के अलकारो से विकृत होरहा है एव जिन्होने अमृतमति महादेवी से मिलने के लिए अपनी गमनक्रीडा शीघ्र प्रकट की है।

फिर—भूतकाल सबधी यशोधर भवान्तर मे भोगे हुए राजमहल की भूमि के स्मरण से प्रकट हुई चित्तवृत्ति के कारण मै (यशोधर का जीव मोर) उस 'सुभग कन्दर्प' नामक महल के सातवें तल्ले पर कुछ विलम्ब करता हुआ उस महल मे अल्पकाल पर्यन्त स्थित हुआ और जब वे (अमृतमति महादेवी के दर्शनार्थ आई हुईं स्त्रियाँ) वापिस चली गईं तब उस अमृतमति महादेवी को उस कुबडे के साथ मैथुन क्रीडा करनेवाली देखकर मेरे बुद्धिरूपी नेत्र बढे हुए अमर्यादीभूत क्रोध से विकल (अन्ध) हुए। फिर मैने निम्न प्रकार उपायो से उस कुबडे व अमृतमति महादेवी के सभोग-सुख मे विघ्न उपस्थित किया। ऐसी चोचो के प्रहारो से, जिनमे विस्तृत क्रोध से टूटती हुई चोच के टुकडेरूपी उल्काजाल (बिजली-समूह) की वृष्टि से टुकडे पाये जाते है और बाएँ व दाहिने पखो के प्रहारो से, जिन्होने गाढ क्रोध से नष्ट होते हुए पिच्छो द्वारा अकस्मात् केतुग्रह का उदय उत्पन्न किया है, एव शिर के गले के प्रहारो से, जिन्होने हड्डियो के अखीर मे लगे हुए नख व मुख के मार्गो से ऊपर उछलती हुई रुधिर की छटाओ से असमय मे सध्याकालीन लालिमा की श्रेणियाँ विस्तारित की है। फिर ऐसा करने से मुझे किसी कुटुम्बदासी ने जिसका शरीर, युद्धरूपी ब्रह्मा की मानसिक एकाग्रता के समीप है, ताम्बूलादि के पात्र के सपुटक से अत्यन्त निर्दयपन पूर्वक प्राण निकलने पर्यन्त जर्जरित शरीरवाला किया। किसी कुटुम्बदासी ने वेतलता से, किसी दूसरी कुटुम्ब दासी ने पखे से किसी दासी ने विस्तृत लाठी से तथा किसी ने सुपारी वगैरह फल-समूह से एव किसी ने जूते से मुझे जर्जरित शरीरवाला किया। इसीतरह दूसरी अन्त पुर की स्त्रियो ने भी, जिन्होने कञ्चुकी-समूह के शरीर अच्छी तरह उत्साहित किये है, एव 'अमृतमति महादेवी के साथ द्रोह करनेवाले इस मयूर को तुम लोग पकडो, बाँधो, ताडित करो व जान से मारो' इसप्रकार रोने व विलाप करने मे जिनके मुख वाचाल है, उन प्रसिद्ध उपकरण-समूह (कर्पूर का पिटारा व हँसिया आदि साधन) से मुझे अत्यन्त निर्दय हृदय पूर्वक प्राण निकलने पर्यन्त जर्जरित शरीरवाला किया। उक्त स्त्रियो से सीढ़ियो के मार्ग से भेजे हुए मुझे (मोर को), जो कि आखिरी शरीर के

सिह सुख निवसतादचलोपकण्ठे सोत्कण्ठमेणनिचयश्चरतात् स्थलीषु ।
सत्त्वा परेऽपि विपिने विलसन्त्वशङ्क नाक गतोऽयमधुना ननु विश्वकद्रु ॥१९॥

इति सशोच्य 'हहो स्वपरजनपरीक्षणमायाकार मायाकार, कार्यन्तामनयोर्भूदेवसदोहसाक्षिणी पितृलोकसब्रह्मचारिणी पावकप्रदानवैहायिकान्वाहार्यपुर सरसमया क्रिया । प्रदाप्यन्तामनयोर्नाम्ना जननीजनकयोरिव सर्वत्र सत्त्रसभामण्डपाधिपा प्रपा ' इत्यन्वतिष्ठत् ।

समस्तसत्त्वसदयहृदय, शुभधामोदय, पुनरस्ति खलु खेचरीसगीतकमुखरचूलिकाचक्रवालात्सुवेलशैलादपरदिग्देवताविनोदायतन शिखण्डिताण्डवमण्डन नाम वनम् । यदेव देहिनो वर्णनविषयता नयन्ति ।

तथाहि—दुर्जनहृदयमिव दुष्प्रवेशम्, प्रलयकालमिव भयानकम्, निगद्यागममिव गहनावसानम्, बुद्धाण्डकमिवा-

---

कारण कुत्ते के समीप आया था, उस कुत्ते ने (जो कि पूर्वभव मे चन्द्रमति का जीव था), जो इस प्रकार मान रहा था कि इस मोर के घात करने मे मेरा यह प्रेरणा का उपक्रम (जानकर आरम्भ करना) है, यमराज की अधीन अवस्था मे ला दिया (मार डाला) । फिर वह कुत्ता भी निकटतर जुआ खेलनेवाले व 'इस मोर को छोडो-छोडो' इस प्रकार से विशेषरूप से वेग-वाले गले के शब्द पूर्वक चिल्लाते हुए राजा द्वारा शतरज-क्रीडा छोडकर फलक से जिसको मस्तक पर प्रहार की निष्ठुर अवस्था दी गयी है, मरणावस्था को प्राप्त करता हुआ । अथानन्तर यशोमति महाराज ने गले से निकले हुए प्राणवाले इन दोनो मोर व कुत्ते की विना इच्छा से उत्पन्न हुई मृत्यु जान कर शोकरूपी रोग से व्याप्त हुए शरीरवाला होकर निम्नप्रकार शोक प्रकट किया—हे मयूर ! जब तुम, जो कि राजमहल को अलकृत करने मे शिरोरत्न सरीखे हो व रमणियो का मनोरञ्जन करनेवाले हो एव जिससे क्रीडा भूमि पर स्थित पर्वत की शिलातल पर चित्ररचना होती है, मर चुके तब स्त्रियो की क्रीडा से उत्पन्न हुए हस्तताडन-विधान को, जो कि नृत्य का अनुसरण करनेवाला है, कौन करेगा ?[1] ॥ १८ ॥ यह शिकारी कुत्ता निस्सन्देह स्वर्ग चला गया, अत अब सिह पर्वत के समीप सुखपूर्वक निवास करे एव मृग-समूह उत्कण्ठापूर्वक वनस्थलियो मे यथेष्ट विहार करे तथा दूसरे प्राणी भी वन मे नि शङ्कतापूर्वक विशेषरूप से क्रीडा करें[2] ॥ १९ ॥ फिर यशोमति महाराज ने इस प्रकार किया—अपने व दूसरे लोगो की परीक्षा करने मे श्रीनारायण-सरीखे परीक्षक हे द्वारपाल ! इस मयूर व कुत्ते के निमित्त से तुम्हारे द्वारा ऐसी क्रियाए कराई जावे, जो कि ब्राह्मण समूह के प्रत्यक्ष विषयीभूत हो एव पितृलोक-सरीखी (यशोर्घ व यशोधर-आदि पूर्वजो-जैसी) है । तथा अग्नि-सस्कार, वैहायिक व मृत की मासिक क्रिया और षाण्मासिक आदि काल जिनमे वर्तमान है । इसीप्रकार चन्द्रमति व यशोधर महाराज सरीखे इनके उद्देश्य से सर्वत्र विशेषरूप से ऐसी प्याऊँ दान कराई जावे, जिनमे भोजनशाला, गोष्ठीशाला व छत्रादि स्थान, इनके अधिकारी वतमान हो ।

समस्त प्राणियो मे करुणा से व्याप्त मनवाले व पुण्यरूपी तेज के उत्पत्तिस्थान ऐसे हे मारिदत्त महाराज ! इसके पश्चात्—मोर-पर्याय व कुत्ते की पर्याय के अनन्तर—दूसरा भव वर्णन किया जाता है । विद्याधरियो के सगीत से शब्दायमान शिखर-मण्डलवाले सुवेल पर्वत से पश्चिम दिशारूपी देवता का क्रीडा-मन्दिर 'शिखण्डिताण्डवमण्डन' नाम का वन है । विद्वान् लोग जिसका निम्नप्रकार वर्णन करते है—जो दुष्ट-हृदय-सरीखा दुष्प्रवेश (दु ख से भी प्रवेश करने के लिए अशक्य) है । जो प्रलयकाल-जैसा भयानक है । जो गणित-शास्त्र-सा अवसान (अखीर) मे गहन (प्रवेश करने के लिए अशक्य व पक्षान्तर मे क्लिष्टता से जानने-योग्य) है । जो आत्मज्ञान सरीखा अलब्धमध्य सचार है (जिसके मध्यभाग मे पर्यटन प्राप्त करने के लिए अशक्य

---

१. रूपकाक्षेपालकार ।   २. हेत्वलकार ।

लब्धमध्यसंचारम्, राजकुलमिव क्षुद्रलोकाधिष्ठितम्, वामेक्षणाचरितमिव स्वभावविषमम्, नि स्वामिकमिवामर्यादव्यवस्थम, छत्रभङ्गमिव बहुकण्टकोपद्रवम्, खलोपदेशमिव दुरन्तम्, नृपतिचित्तमिव दु खोपसेव्यम्, समराङ्गणमिव सखडगसघट्टम्, वेतालकुलमिव महादेहभीषणम्, कलिङ्गवनमिव दन्तिदुर्गमम्, स्वर्धुनीप्रवाहमिव कृताष्टापदावतारम्, नाटेरमिव सचित्रकम्, वर्षारात्रिमिव घनमेघरावम्, रघुवशमिव मागधीप्रभवम्, चन्द्रमिवामृतास्पदम्, गिरिसुताचरितमिव विजयाविस्तृतम, जलनिधिमिव जम्बुकाध्युषितम, रथचरणपाणिमिव सुदशनाधारम्, युधिष्ठिरमिव मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवानुगम्, सुभटानीकमिवाभीरुप्रतिष्ठितम, दुग्धोदधिमथनमिव लक्ष्मीसनाथम्, छन्द शास्त्रमिव जातबृहतीकम्, समर्थस्थान-

---

है व पक्षान्तर मे जिसके मध्यभाग का ज्ञान अशक्य) है। जो वैसा क्षुद्रलोको (व्याघ्रादि दुष्ट जीवो) से व्याप्त है जैसे राजकुल क्षुद्रलोको (असहिष्णु लोगो) से व्याप्त होता है। जो स्त्रियो के चरित्र सरीखा स्वभाव से विषम (ऊबड-खाबड व पक्षान्तर मे कुटिल) है। जो वैसा अमर्याद व्यवस्थित (वेमर्याद स्थितिवाला) है जैसे राजा-रहित नगरादि अमर्याद व्यवस्थित (सदाचार नियम से विचलित) होता है। जो वैसा वहु कण्टकोपद्रव (सूक्ष्म तीक्ष्ण काँटो के उपद्रव वाला) है जैसे छत्रभङ्ग (राज्य-नाश अथवा राजसिंहासन से राजा का च्युत होना) वहुकण्टकोपद्रव (दुष्ट शत्रुओ के उपद्रवो से व्याप्त) होता है। जो दुष्ट-शास्त्र-सरीखा दुरन्त (अन्त-रहित व पक्षान्तर मे दुष्ट-स्वभाव वाला) है। जो वैसा दु खोपसेव्य (दु ख से आश्रय के योग्य) है जैसे राजा का चित्त दु खोपसेव्य (आराधना करने को अशक्य) होता है। जो वैसा सखङ्ग-सघट्ट (गण्डकोगेडो-के युद्ध से व्याप्त) है जैसे सग्राम-भूमि सखङ्ग-सघट्ट खङ्गो (तलवारो) की टक्करो से सहित होती है। जो वैसा महादेह-भीषण (विस्तृत होने के कारण भयानक) है जैसे वेतालो (व्यन्तरादिदेवो) का समूह महादेह-भीषण (महान् शरीर के कारण भयानक) होता है। जो कलिङ्ग देश के वन-सरीखा दन्तियो (पर्वतो) व पक्षान्तर मे हाथियो-से दुर्गम है।

जो कि गङ्गा के प्रवाह सरीखा कृत-अष्टापद-अवतार (शरभ जीवो से किये हुए प्रवेशवाला व पक्षान्तर मे कैलाश पर्वत से अवतरण करने वाला) है। जो नट-सरीखा सचित्रक (चित्रको-व्याघ्र विशेषो-से व्याप्त व पक्षान्तर मे आश्चर्यजनक) है। जो वर्षाकाल-सा घन मेघराव (बहुत सी मोरो से व्याप्त व पक्षान्तर मे प्रचुर मेघो की गर्जनावाला) है। जो वैसा मागधी प्रभव (पीपलो की उत्पत्तिवाला) है जैसे रघुवश मागधीप्रभव (सुदक्षिणा नाम की दिलीप राजा की पत्नी के वर्णनवाला) होता है। जो चन्द्र-सरीखा अमृता आस्पद (गुडूची का स्थान व पक्षान्तर मे अमृत का स्थान) है। जो वैसा विजया-विस्तृत (हरीतकियो-हरडो से विस्तृत) है जैसे पार्वती का चरित्र विजया (विजया नाम की अपनी सखी) से विस्तृत होता है। जो वैसा जम्बुक-अध्युषित (शृगालो से सेवन किया हुआ) है जैसे समुद्र जम्बुक-अध्युषित (वरुण दिक्पाल से सेवन किया हुआ) होता है। जो वैसा सुदर्शन-आधार (सुदर्शन नाम की औषधि विशेषो का स्थान) है जैसे श्रीनारायण सुदर्शन-आधार (सुदर्शन नाम के चक्र से अधिष्ठित) होते है। जो वैसा मरुद्भव-अर्जुन-नकुल, सहदेवा-अनुग (वायु की उत्पत्ति, मोर या वृक्षविशेष, नेवला, वला (खरहटी) से व्याप्त है जैसे युधिष्ठिर महाराज जिसके अनुगामी भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव नामके पाण्डुपुत्र है ऐसे है। जो (सुभटो की सेन्य-सरीखा) अभीरु (शतावरी-सहित व पक्षान्तर मे अकातर—वीर पुरुषो-से सहित) है। जो क्षीरसागर के मन्थन-सा लक्ष्मी-सनाथ (ऋद्धि व वृद्धि नाम की औषधियो से सहित व पक्षान्तर मे लक्ष्मी-सहित) है। जो वैसा जातवृहतीक क्षुद्रवार्ताकी (रान कटेहली की उत्पत्तिवाला) है जैसे छन्दशास्त्र जातवृहतीक (दो अक्षरवाली छन्दजाति से व्याप्त) होता है। जो वैसा तपस्विनी-प्रचुर (जटामाँसी व शुभ्रकमलो से प्रचुर) है जैसे आश्रमस्थान तपस्विनियो-सन्यासिनियो-से प्रचुर होता है। जो श्रीमहादेव की जटा-बन्ध-सरीखा चन्द्रलेखा-

मिव तपस्विनीप्रचुरम्, धूर्जटिजटाजूटमिव चन्द्रलेखाध्यासितम्, युगत्रयावसानमिव कलिपरिगृहीतम्, दिवसमिव सार्कमण्डलम्, अनम्बरिषमप्यरिमेदस्फारम्, अमाहेश्वरमपि जातशिवप्रियम्, अवेदवचनमपि गायत्रीसारम्, अकविलोकगणनमपि सकालिदासम्, अप्रथमाश्रममपि ब्रह्मचारिबहुलम्, अस्याद्वादसमयमपि सवर्धमादम्,

---

अध्यासित (वाकुचियो से आश्रित) व पक्षान्तर मे चन्द्रकला से सहित) है। जो वैसा कलिपरिगृहीत (विभीतक तरु-बहेडे के वृक्ष से सहित) है जैसे कृतयुग, त्रेता व द्वापर इन तीन युगो का पर्यन्त भाग कलि-परिगृहीत (दु खमकाल-सहित) होता है। जो वैसा सार्कमण्डल (अकौआ वृक्षो के वन से व्याप्त) है जैसे दिन सार्कमण्डल (श्रीसूर्यमण्डल-सहित) होता है[1]।

जो अनम्बरिष (युद्ध-रहित) होकर के भी अरि-मेद-स्फार (शत्रुओ की मेदधातु से प्रचुर) है। यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जो युद्ध-रहित होगा, वह शत्रुओ की मेदधातु से प्रचुर कैसे हो सकता है? उसका परिहार यह है कि जो अनम्वरिष (नृप-रहित) है और निश्चय से अरिमेद (विट् खदिर वृक्षो) से प्रचुर है। जो अमाहेश्वर (रुद्र-रहित) होकर के भी जातशिवप्रिय (उत्पन्न हुई पार्वती प्रिया वाला) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो रुद्र-रहित होगा, वह पार्वती प्रिया-शाली कैसे हो सकता है? उसका परिहार यह है कि जो अमा-हि-ईश्वर (निश्चय से लक्ष्मी व स्वामी से रहित) है और निश्चय से जातशिवप्रिय (उत्पन्न हुए तरुविशेष से व्याप्त) है[2]। अथवा—जो अमाहेश्वर (महेश्वर देवता की आराधना न करनेवाला) होकर के भी जात शिवप्रिय (शिवजो से प्यार करनेवाला) है। यह भी विरुद्ध है क्योकि जो महेश्वर (शिव) देवता का आराधक नही है वह शिव से प्यार करनेवाला कैसे हो सकता है? अब परिहार करते है जो, अ + मा + हि ईश्वर अर्थात्—प्राय करके वन स्वामी-हीन होता है, अत जिसमे लक्ष्मी व स्वामी नही है और निश्चय से जो, जात शिव प्रिय (धतूरो की उत्पत्ति वाला) है। जो अवेदवचन (वेद-वचन से रहित) होकर के भी गायत्रीसार (साठ छन्द-जातियो से सार) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो वेदवचन नही है, वह साठ प्रकार की छन्दजातियो से सार कैसे हो तकता है? उसका परिहार यह है कि जिसमे अवेदो (स्त्रीवेद, पुँवेद व नपुसक वेद-रहित मुनियो) के वचन पाये जाते है, क्योकि मुनिलोग वनवासी होते है। एव निश्चय से जो गायत्रीसार (खदिर वृक्षो से मनोहर) है।

जो अकविलोकगणन (कवि-समूह की गणना से रहित) होकर के भी सकालिदास (कालिदासकवि-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो कविलोक की गणन से रहित होगा, वह कालिदास महाकवि-से सहित कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अक-विलोक गणन है (जिसमे कष्ट के देखने की गणना हे) और जो निश्चय से सकालिदास (आम्रतरु-सहित) है। जो अप्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम से रहित) होकर के भी ब्रह्मचारी बहुल है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो ब्रह्मचर्याश्रम-रहित होगा, वह ब्रह्मचारियो से बहुल कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अप्रथमान-आ—श्रम है, अर्थात्—जिसमे चारो ओर से कष्ट विस्तृत नही होरहा है और जो निश्चय से ब्रह्मचारी-बहुल है (पलाश वृक्षो से प्रचुर है)। जो अस्याद्वाद समय (एकान्त समय) हो करके भी सवर्धमान (महावीर तीर्थङ्कर-सहित) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जो एकान्तदर्शन होगा, वह चरमतीर्थङ्कर-सहित कैसे हो सकता है? इसका परिहार यह है कि जो अस्याद्वादसमय (शून्य वन होने के कारण जो शब्दावसर-रहित) है और निश्चय से जो सवर्धमान (एरण्डवृक्ष-सहित) है।

---

१ श्लिष्टमालोपमालकार ।

२ उक्त च—'शिवमल्ली पाशुपत एकाष्ठीलो बुकी वसु ।' स टी० पृ० १९५ से सकलित—सम्पादक

अदिग्गजकुलमपि सवामनम्, अराकाननमपि ससोमम्, अराक्षसक्षेत्रमपि सपूतनम्, अमहानवमीदिनमपि समातृनन्दनम्, असौधतलमपि सनि श्रेणीकम्, अराजसदनमपि सलेखपत्त्रम्, अत्र्यम्बकमपि सत्रिनेत्रम्, असभलीपाटकमपि सलम्बस्तनीकम्, असमनीकरसिकमपि सकवचम्, अक्षयकालदिनमपि नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शनम् ।

जो अदिग्गजकुल (दिग्गजेन्द्रो के समूह से रहित) हो करके भी सवामन (यम-दिग्गज-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो दिग्गजेन्द्रो के समूह से रहित होगा वह यमदिग्गज-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अ-दिग्गजकुल (जिसमे शब्द-समूह विद्यमान नही है, ऐसा है) और निश्चय से जो सवामन (खाये हुए को वमन करानेवाले मदनवृक्ष से सहित) है। जो अराकानन (पूर्णिमा का आनन न) होकर के भी ससोम (चन्द्र-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो पूर्णिमा का आनन नही है, वह चन्द्र-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अ-राकानना (देखी हुई रज स्वला कन्या से रहित) है और जो निश्चय से ससोम (हरीतकी वृक्ष-सहित) है। जो अराक्षस क्षेत्र (राक्षस-भूमि न) हो करके भी सपूतन (पूतना-नाम की राक्षसी-सहित) है। यहाँ पर भी विरोध है, क्योकि जो राक्षसो की भूमि नही है वह पूतना राक्षसी-सहित कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि जो अर-अक्षस-क्षेत्र है। अर्थात्—जो पहिए की नाभि व नेमि के बीच की लकडी एव धुरी का स्थान नही है और निश्चय से सपूतन (हरीतकी-वृक्ष-सहित) है। जो अमहानवमी दिन (महानवमी दिन न) हो करके भी समातृनन्दन (देवियो को आनन्ददायक) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो महानवमी का दिन नही है वह चामुण्डा-आदि माताओ को आनन्द-दायक कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अम-हा-नवमी दिन (रोग व हाहाकार शब्द से व्याप्त अष्टागो का नवमाँ रोग) है और निश्चय से जो समातृनन्दन (करञ्ज-वृक्ष-सहित) है। जो असौधतल (राजमहल का उपरि भाग न) हो करके भी सनि श्रेणीक (सीढियो से सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो राजसदन का उपरिभाग नही है, वह सीढियो-सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो असौध-तल (निर्जल-प्रदेश) है और निश्चय से जो सनि श्रेणीक (खजूर-वृक्षो से सहित) है। जो अराजसदन (राजमहल न) हो करके भी सलेखपत्र (दूतो के लेखपत्र-सहित) है। यह भी विरुद्ध है क्योकि जो राजमहल नही है, वह दूतादिको के लेख पत्र से सहित कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अराजसदन (राजाओ के समीचीन जीवन से रहित) है और जो निश्चय से सलेखपत्र (ताडवृक्षो से सहित) है। जो अत्र्यम्बक (रुद्र-रहित) हो करके भी सत्रिनेत्र (त्रिलोचन—रुद्र-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो रुद्र-रहित होगा वह तीन नेत्रो वाला रुद्र कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो अत्र्यम्बक (अत्रि ऋषि वगैरह का गमनशील स्थान) नही है और निश्चय से जो सत्रिनेत्र (नारियल के वृक्षो से व्याप्त) है। जो असभलीपाटक (कुट्टिनियो का समूह न) होकर के भी सलम्बस्तनीक (वृद्ध स्त्रियो से सहित) है। यह भी विरुद्ध है क्योकि जो कुट्टिनियो का समूह नही है, वह वृद्ध स्त्रियो से सहित कैसे हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि जो असभलीपाटक (समीचीन पटलो या तख्तो का चीरने वाला) नही है और निश्चय से सलम्बस्तनीक (चिञ्चा वृक्ष-सहित) है। जो असमनीकरसिक (सग्राम मे अनुरक्त न) होकर के भी सकवच (बख्तर-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो सग्राम मे अनुरक्त नही है, वह बख्तर-धारक कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो असमा-नीका-रसिक (वक्र (टेडी) क्षुद्र नदियो के जल वाला) है और निश्चय से जो सकवच (पर्पटक वृक्ष-सहित) है। जो अक्षयकालदिन (प्रलय काल का दिन न) होकर के भी नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शन (जिसममे दिशा, सूर्य व चन्द्र का दर्शन नही देखा गया है) ऐसा है। यह भी विरुद्ध है क्योकि जो प्रलय काल का दिन नही है, वह दिशा, सूर्य व चन्द्रादि के न दिखाई

अपि च । क्वचिद्रक्ततुण्डकुटुम्बिनीलपनचापलच्युतोच्चिलिङ्गावचयवञ्चनसरब्धव्याधयुद्धमध्यागतसहचरीप्रणीतफूत्कारकोलाहलकुत्कीलकुञ्जकुहरम्, क्वचिदुपलम्बाप्रलम्बस्तम्बविलम्बमानजानकोत्त्रासितहरिणप्रयाणभरभीतभल्लूकनिकरम्, क्वचिदनेकनाकुनिर्गतनिर्मोकालोकनकुपितकलापिनीपोतखरनखरमुखावलिख्यमानमेदिनीवदनम्, क्वचिदनवरतमृगमार्गमार्गणश्रमश्रान्तविलातवेल्लिकोच्चुलुञ्चितचुरीवारिवीक्षणालुरतरक्षुचक्षुर्दुर्लक्ष्यनगनिम्नगापुलिनम्, क्वचिड्डामरिकनिकायसायकविद्धवृद्धवराहविरसविरसितस्रवत्कुरङ्गाङ्गनागर्भनिर्भरम्, क्वचिदुन्मदमहिषमण्डलारब्धरणविषाणसघट्टोच्छलत्स्फुलिङ्गसङ्गशीर्यमाणागमाग्रपल्लवभरम्, क्वचिद्द्विपसपत्नपादपाटितेभकुम्भस्थलोत्प्रवाहवहल्लोहितविधीयमानवियच्छत्रारुणमणिदण्डडम्बरम्, क्वचिदविच्छिन्नविहारवानरनिकरविकीर्यमाणनीडक्रोडोड्डीनाण्डजच्छदच्छन्नाम्बरम, क्वचिदभ्रकषानोकहप्रकाण्डमण्डलीक्रीडोड्डमरडाकिनीकरालितोत्सर्गम्, क्वचिद्घनघूकघोरघूत्कारघूर्ण्यमाणपुराणविटपिकोटरप्रसूतवायसीवर्गम्, क्वचिद्बलवद्बलालोन्मूलितद्रुमलाकुलकलभप्रचारम्, क्वचिच्छिलोच्चयनिकुञ्जकुञ्जरभज्यमानकुञ्जराजिकूजितजरत्खञ्जनमनस्कारम्, क्वचिच्चित्रककुलाघ्रातपृषतखुरखण्डयमानकदलीप्रबालान्तरङ्गम्, क्वचिदनन्यसामान्योदन्यानुद्रुतद्रवद्रङ्कु-

---

देने वाले दर्शनवाला कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो अ-क्षयकालदिन (जिसमे जरा भी कही पर क्षय करनेवाले सिह, व्याघ्रादिको का अवसर नही है और निश्चय से नष्टदिग्दिनाधिपेन्दुदर्शन) सघन होने के कारण जिसमे पूर्वादि दिशाएँ नही जानी जाती एव चन्द्र-सूर्यादि भी दिखाई नही देते, ऐसा है ।[1]

तथा च—किसी स्थान पर जिस पर्वत की लताओ से आच्छादित प्रदेश वाली गुफा का मध्यभाग ऐसी व्याध-कामिनियो से किये हुए फूत्कार से अव्यक्त वाचालित है, जो कि तोतो की प्राणवल्लभाओ (मैनाओ) के मुख की चपलता से नीचे गिरे हुए दाडिम फलो की रक्षा के ग्रहण मे प्रारम्भ किये हुए व्याध-युद्ध के मध्य युद्धनिवारण के लिए प्रविष्ट हुई थी । किसी स्थान पर जहाँ पर शृगाल-समूह विस्तृत लताओ की झाडियो मे विलम्ब करते हुए जगली बैलो अथवा बानरो द्वारा भयभीत कराये गये मृगो के पलायन (भागने) के अतिशय से भयभीत किया गया है। जहाँ पर पृथिवी का अग्रभाग बहुत सी बामियो से निकली हुई सापो की काँचलियो के दर्शन से कुपित हुए मयूरी के बच्चो के व्रणयुक्त नखो व चोचो द्वारा विदीर्ण किया जा रहा है ।[2] किसी स्थान पर, जहाँपर निरन्तर मृगो के मार्ग की खोज करने से उत्पन्न हुए कष्ट से दु खित हुए भील-बालको से चुण्टन की गई रेत की बावडियो के जल को देखने से व्याकुल हुए जगली कुत्तो के द्वारा पर्वत की नदियो का वालुकाद्वीप प्रविष्ट करने के लिये अशक्य है। किसी स्थान पर जो चौर-समूह के बाणो द्वारा ताडित हुए वृद्ध शूकरो के कर्कश शब्दो से गिरते हुए हिरणियो के गर्भो से व्याप्त है ।

किसी स्थान पर, जहाँ पर मदोन्मत्त भैसा-समूह से किये हुए युद्ध मे सीगो के प्रहार द्वारा उछलते हुए अग्नि-कणो के सगम से वृक्षो का उपरितन प्रवाल-समूह विध्वस किया जा रहा है । किसी स्थल पर सिह के चरणो (पञ्जो) द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथी के गण्डस्थल से ऊर्ध्व प्रवाह रूप से उछलते हुए रुधिर से, जहाँ पर आकाशरूपी छत्र के लाल रत्नमयी दण्ड का विस्तार किया जा रहा है। किसी स्थान पर, निरन्तर पर्यटन करने वाली वानर-श्रेणी द्वारा निकाले जारहे या उडाये जा रहे घोसलो के मध्यभाग से उडे हुए पक्षियो के पखो से जहाँ पर आकाश व्याप्त हो रहा है । किसी स्थान पर विशेष ऊँचे वृक्ष-समूहो की श्रेणी पर क्रीडा से भयानक डाकिनियो से जहाँ पर सृष्टि भयङ्कर की गई है । किसी स्थान पर प्रचुर उल्लुओ के शब्द-विशेषो द्वारा घूर्ण्यमान (हिलाये जानेवाले) जीर्ण वृक्षो की कोटरो मे काकिनियो का समूह, जहाँ पर प्रसूति

---

१ विरोधाभासालकार । २ भ्रान्तिमानलंकार ।

जिह्वावलिह्यमानमृगतृष्णिकातरङ्गम्, क्वचित्प्रचण्डगण्डकवदनविदार्यमाणरुरुरुधिरदुरीक्षवृक्षानीकम्, क्वचिन्निःशल्यशल्लकशलाकाजालकील्यमानरल्लकलोकलोकम्, एवमपरैरपि सत्त्वैरनायकावकाशदेशमिव बाध्यमानपरस्परजीवितम् ।

यत्र च वल्लयोऽपि मृगादनीप्राया, वीरुधोऽपि व्याघ्रीसमदर्शना, तरवोऽपि निस्त्रिंशपत्त्रसमालोका, तृणान्यपि विषाणीव घ्राणादेव मनोमोहनकराणि । किं च ।

यदग्रिमोद्गमस्थूलस्तबकाभोगसगमम् । सिंहशावकुलाकीर्णं महानीलनगोपमम् ॥२०॥
धत्ते यद्विकिराकीर्णकुड्मलाविलभूचयम् । करिवैरिप्रभिन्नेभकुम्भमुक्ताफलश्रियम् ॥२१॥

प्राप्त कर रहा है। किसी स्थान पर प्रचण्ड वायु से उखाडे हुए वृक्ष समूह द्वारा व्याकुलित हुए हाथियो के बच्चो का, जहाँ पर पर्यटन पाया जाता है। किसी स्थान पर, पर्वतो के लताओ से आच्छादित प्रदेशो पर हाथियो द्वारा तोडी जानेवाली वृक्षश्रेणी पर वर्तमान पक्षियो की ध्वनि से जहाँ पर जरा-जीर्ण खञ्जरीटो के चित्त का विस्तार हो रहा है।

किसी स्थल पर व्याघ्रविशेषो के समूह द्वारा दाँतो से पकडे हुए मृगो के खुरो से जहाँ पर कदलियो (मृगविशेषो) के प्रवालो (प्रकृष्ट बच्चो) का मन, अथवा लघु वृक्षो के पल्लवो का मध्य भाग खण्डित (चूर-चूर) किया जा रहा है। किसी स्थान पर विशेष प्यास से पीडित होने के कारण दौडते हुए मृगो की जिह्वाओ से जहाँ पर मृगतृष्णा की तरङ्गे चाटी जा रही है। किसी स्थान पर विशेष शक्तिशाली गैडो के मुखो से विदोर्ण किये जा रहे मृगो के रुधिरो से जहाँ पर वृक्ष-समूह दु ख से भी देखने के लिये अशक्य है। किसी स्थान पर निर्भय सेहियो की शलाका-श्रेणियो द्वारा जहाँ पर मृगविशेषो के विश्वलोक (समूह) घायल किये जा रहे है।

इसी प्रकार दूसरे हिसक प्राणियो द्वारा जहाँ पर परस्पर का जीवन, वैसा घात किया जा रहा है जैसे राजा से शून्य देश मे प्राणियो द्वारा परस्पर का जीवन घात किया जाता है। जहाँ पर लताएँ भी मृगादनीप्राया (लताविशेषो की प्रचुरता से युक्त) है। एव दूसरा अर्थ—जहाँ पर मृगादनी (मृगो का भक्षण करने वाली बहेलियो की स्त्रियाँ) बहुलता से पाई जाती है। जहाँ पर लताएँ भी व्याघ्री-समदर्शन (बृहती—भटकटैया (कटेहली) सरीखी दर्शनवाली) है। अथवा व्याघ्रीसमदर्शन (चीते की माँदा-सरीखे दर्शनवाली) है। जहाँ पर वृक्ष भी निस्त्रिंशपत्त्रसमालोक (सेहुण्ड वृक्षो के दर्शन वाले) है अथवा निस्त्रिंशपत्त्रसमालोक (निर्दयवाहन जीवो—सिंह व शूकर-आदि के दर्शनवाले) हैं। एव जहाँ पर तृण (घास) भी विष-सरीखे गन्ध-ग्रहण करने मात्र से चित्त मे अचेतनता उत्पन्न करते है। अब उक्त वन का विशेष वर्णन करते है—

जो मुख्य और विशाल पुष्पो के गुच्छो को परिपूर्णता का सगम वाला है एव जो सिंहो के बालक-समूह से व्याप्त है तथा जो महानील पर्वत-सरीखा है[1] ॥२०॥ जो (वन) पक्षियो से गिरी हुई पुष्प-कलियो से व्याप्त हुए भूमिभाग को धारण करता है और सिंहो द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथियो के गण्डस्थलो की मोतियों की श्रेणी की शोभा को धारण करता है ॥२१॥

विशेष वर्णन—जो समस्त अटवी ब्रह्माजिह्मितमण्डला (ब्रह्मा से अवक्र प्रदेश वाली) होकर के भी सव्याधा (बहेलियो-सहित) है। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है। क्योकि जो श्री ब्रह्मा द्वारा अवक्रप्रदेश वाली होगी, वह बहेलियो से व्याप्त कैसे हो सकती है ? इसका परिहार यह है कि जो ब्रह्मा-आ-जिह्मितमण्डला

---

१ उपमालकार.।

अपि च। ब्रह्माजिह्मितमण्डला हरिकुलव्यालोलशैलस्थली स्थाणुस्थानविसस्थुलापि समभूच्चित्र तथापीदृशी।
सव्याधा समधूत्सवा समदनोत्सर्गा च सर्वाटवी को नामैवमिहाखल. सह खलैर्वासो यदेषामपि ॥२२॥

तत्र चिल्लचिकिनाणकैकलोचनाया बाढमवगाढमध्यमावस्थानायामेणान्वेषणधिषणनिषादपरिषत्सबाधप्रधावस्खलनखरखेदखञ्जाखिलखुरायामनेकमृगभृङ्गसघट्टोन्मृष्टलोमतया निस्त्रिशनिशातशाणाकारायामिव परुषतरतनुपृषत्या तथाविधेनैव पृषतेन गर्भावासविषयता नीत', पुनरकाण्डचण्डतडिद्दण्डसघट्टभयप्रभावादपरिपूर्णविषय एव प्रसवसमये लब्धात्मलाभमात्र, सवित्र्या शून्यस्तन्यस्तनतयानुपशान्ताशनाशय, शष्पाड्कुरेषु च तृप्तिमलभमान, पवनाशनाशनाश्रयाशयतया शकशिर प्रदेशान्विषाणमण्डलेनोच्चिखनिषु,

---

(पलाश वृक्षो से चारो ओर विषम प्रदेश वाली) है एव जो निश्चय से सव्याधा (बहेलियो से व्याप्त) है। जो हरिकुलव्यालोलशैलस्थली (यादववश मे मनोज्ञ रैवत पर्वतस्थली) होकर के भी समधूत्सवा (मधुदैत्य के उत्सव-सहित) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो यादववश से मनोज्ञ रैवतपर्वत-स्थली होगी, वह मधुदैत्य के उत्सव से व्याप्त कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि जो हरिकुलव्यालोलशैलस्थली (सिह-समूहो से चञ्चल पर्वत स्थल-शालिनी) है और निश्चय से जो समधूत्सवा (मधु (शहद या वसन्त) के उत्सव वाली है। जो स्थाणुस्थानविसस्थुला (श्री महादेव के निवास से शिथिल) हो करके भी समदनोत्सर्गा (कामदेव की सृष्टि-सहित) है, यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो श्री महादेव की स्थिति से शिथिल होगी वह कन्दर्प की सृष्टि-सहित कैसे हो सकती है? क्योकि कन्दर्प (कामदेव) तो श्रीमहादेव जी द्वारा पूर्व मे भस्म कर दिया गया था, इसका समाधान यह है कि जो स्थाणुस्थानविसस्थुला (स्थाणुओ—ठूँठ वृक्षो की स्थिति से व्याप्त) है और निश्चय से जो समदनोत्सर्गा (आट वृक्षो की सृष्टि-सहित) है। अब उक्त बात को 'अर्थान्तिरन्यास' अलकार से पुष्ट करते है। इस ससार मे इसप्रकार कौन पुरुष खललोक (दुष्टलोक) से रहित है? क्योकि जब इन ब्रह्मा, विष्णु व महेश्वर का भी दुष्टो (बहेलियो-आदि) के साथ निवास वर्तमान है[1] ॥२२॥

प्रसङ्गानुवाद—हे मारिदत्त महाराज! उस पूर्वोक्त वन मे मै (यशोधर का जीव) मयूरपर्याय के बाद विशेष कठिन शरीरवाली सेही (सेही की स्त्री) के गर्भावास मे वैसा ही कठिन शरीरवाला, लँगडा व रगडे हुए रुएँ वाला सेही रूप से आया। मै, कैसी सेहिनी के गर्भावास मे आया? जो दूषित व निन्द्य केवल एक ही नेत्रवाली (कानी) थी। जो विशेष सकीर्ण उदरस्थान प्राप्त करने वाली थी। मृगो की अन्वेषण बुद्धि से निकट दौडनेवाले बहेलियो के समूह से गमन-भङ्ग के कारण उत्पन्न हुए विशेष कष्ट से जिसके चारो खुर लँगडे हो गए है। अनेक मृग-शृङ्गो की टक्कर से रगडे गए रुँओ के कारण जिसकी आकृति खड्ग को तीक्ष्ण करनेवाले शाण-सरीखो (कर्कश शरीर वाली) थी। हे राजन्! फिर मयूर-मरण के बाद उत्पन्न हुआ मै (यशोधर का जीव—सेही) बिना अवसर के (वर्षाकाल के विना भी) विशेष शक्तिशाली बिजली दड की टक्कर से उत्पन्न हुए भय के प्रभाव से थोडे ही महीनो मे उत्पन्न हुए प्रसवकाल मे केवल अपना शरीरलाभ ही कर सका। अर्थात्—एक दिन मे ही मर गया क्योकि मेरी माता सेहिनी का स्तन दुग्ध-शून्य होने से मेरी भोजन की इच्छा शान्त नही होती थी (मै भूखा ही रहता था)। छोटी-छोटी हरी घास से तृप्त न होकर मै सर्पों के भक्षण के चित्त का अभिप्राय वाला होने से दन्तश्रेणी से वाँमी के शिखर-

---

१ यथासख्यार्थान्तिरन्यासालकार।

नोट—उक्त काव्य में विरोधाभास अलकार भी है। —सम्पादक

अन्यत्र कुरुते जन्तुर्यत्सुख दु खमेव वा। तदुप्तबीजवत्क्षेत्रे भूय फलवदात्मनि ॥२३॥

इति न्यायाद्यथाह पुरा जन्मनि शिखावलपर्यायस्तेनाग्निजन्मना स्वकीयदंष्ट्राक्रकचकदर्थ्यमानता नीतस्तथैनमपि कृष्णत्व शनेरिव, कुटिलता स्त्रीभ्य, क्रौर्यं कृतान्तात्, वृषविध्वसबुद्धिमसुरेभ्य, विषाश्रयत्व जलधे, पिशितप्रियत्व यातुधानेभ्य, परोपद्रव च दुर्जनेभ्य समादायासादितसरीसृपाकार वामलूरविवरप्रविष्टार्धशरीर बलादाकृष्य पुरीततप्रतानमिव मेदिनीकुरङ्गिकाया, लाङ्गूलमिव महीसिंहिकाया, मूलमिवानन्तालतायाः, मृणालमिव भूमिकमलिन्या, वेणिदण्डमिव क्षमाराक्षस्या, पौन पुन्यप्रवृत्तोत्फणप्रहारजर्जरितवदनमुत्कृत्यमानमिवामृग्धरायाम्, उच्छलन्तमिव क्षतजेषु, स्फुरन्तमिव तरसेषु, त्रुटचन्तमिव सिरासु, स्फुटन्तमिवास्थिषु, विवर्तमानमिवान्त्रेषु, समीपतरकदम्बस्तम्बशायिना प्रबलजाङ्गलकवलाविलगलगुहाघोरघुरघुरारवप्रतिबोधितेन गतमेव श्लोक तत्रैव जन्मनि सफलयता तरक्षुणा भक्ष्यमाणस्तेन पृषदाकुना समकालमेवाह परासुरभवम्।

प्रदेशो को खोदने का इच्छुक था। 'यह जीव, दूसरे प्राणी मे जो कुछ भी सुख अथवा दु ख उत्पन्न करता है, वह सुख व दु ख अपने जीव मे वैसा प्रचुर फल देनेवाला (अधिक सुख-दु ख देनेवाला) होता है जैसे खेत मे बोया हुआ बीज प्रचुर फल देनेवाला होता है' ॥२३॥

इस न्याय से जैसे पूवजन्म (मोर की पर्याय) मे मयूर-पर्याय के धारक मुझे उस चन्द्रमति के जीव कुत्ते ने अपनी दाढरूपी आरा से मार डाला था वैसे ही मैने (यशोधर के जीव सेही ने) इस चन्द्रमति के जीव सर्प को भी अपनी दाढरूपी आरा से मृत्यु मे प्राप्त किया (मार डाला)। कैसे चन्द्रमति के जीव सर्प को मैने मारा ? जिसने मानो—शनि नामक ग्रह से कृष्णता (कालापन), स्त्रियो से कुटिलता (वक्रता) व यम से क्रूरता प्राप्त करके सर्प की आकृति प्राप्त की थी। जिसने असुरो से वृष-विध्वसबुद्धि (मूषिक-विनाश-बुद्धि पक्षान्तर मे धर्म-नष्ट करने की बुद्धि) को ग्रहण करके सर्पाकार प्राप्त किया था। जिसने समुद्र से विषाश्रयत्व (मुख मे जहर को सुरक्षित करना पक्षान्तर मे विष का स्थान) प्राप्त करके सर्पाकार प्राप्त किया था। जिसने राक्षसो से मासप्रियता और दुर्जनो से परोपद्रव (दूसरो को दु ख उत्पन्न करना) प्राप्त करके सर्प की आकृति प्राप्त की थी। जिसका अर्धशरीर बाँमी के मध्य मे प्रविष्ट हुआ था। जो मानो—पृथिवीरूपी हिरणी की नसो की श्रेणी ही है। अथवा लोकभक्षक होने से मानो—पृथिवीरूपी सिहनी की पूँछ ही है। अथवा—मानो—पृथिवीरूपी लता का मूल ही है। अथवा मानो—पृथिवीरूपी कमलिनी का मृणाल ही है। अथवा मानो—पृथिवीरूपी राक्षसी की गुँथी हुई केशयष्टि ही है। ऐसे साँप को मैने (यशोधर के जीव सेही ने) बाँमी से जवर्दस्ती खीच कर मार डाला। जिसका मुख वार-वार उत्पन्न हुए उन्नत फणो के आघातो से जर्जरित (क्षीण) हो गया है। जो अपनी त्वचा के विषय मे फाडा जा रहा सरीखा एव खूनो के विषय मे ऊपर उछलता हुआ-सा, माँस के विषय मे चमत्कार करता हुआ-सा तथा सिराओ के विषय मे टूटता हुआ-जैसा, तथा हड्डियो के बारे मे कट-कट शब्द के समान आचरण करता हुआ सा व आँतो के विषय मे भीतरी शरीर को बाहिर प्रकट करता हुआ सा प्रतीत हो रहा था। इसके बाद मुझे (यशोधर के जीव सेही को) प्रस्तुत साँप ने, जो कि पूर्व-कथित श्लोक को उसी जन्म मे सत्यता मे प्राप्त कर रहा था। जो बाँमी के विशेष समीप मे वर्तमान कदम्ब वृक्ष के तने पर शयन कर रहा था एव जो उत्तम सर्प-माँस के ग्रास से भरी हुई गलेरूपी गुफा के भयानक घुर्घुर (अव्यक्त) शब्द द्वारा जगाया गया था, भक्षण कर लिया। उसी साँप के साथ मै (सेही) एक समय मे ही काल-कवलित हुआ। अर्थात्—हम दोनो (यशोधर का जीव-सेही व चन्द्रमती का जीव साँप) काल-कवलित हुए। अर्थात्—मैने साँप को खाया और साँप ने मुझे खाया।

पुनरहो कविलोकपङ्कजविकासभास्कर, सौजन्यरत्नाकर, अस्ति खलु तेष्वेव त्रिदिवनिवासोचितकिवदन्तीषु अवन्तीषु इन्दुमणिमेखलेव पद्मावतीविलासिन्या, जलकेलिदीर्घिकेव मालवावनीपालविलासिनीनाम्, नित्योत्सवपताकेव भुजङ्गमलोकस्य, वरणमालेव मार्गमहीधराणाम्, मुक्तावलीव मेदिनीदेवताया, कीर्तिवैजयन्तीव प्रभवभूधरस्य, सेकसारणिरिव सिन्धुरत्नाङ्कुराणाम्, शरसृष्टिरिव च जगत्प्रसाधनमतीना प्रजापतीनाम्, भोगवतीव पद्माधिष्ठिता भुजङ्गलोकोचिता च, राज्यलक्ष्मीरिव कुवलयोपगता द्विजभोगभूता च, काननश्रीरिव सवरप्रचुरा मुनिजनगोचरा च, सीतेव लक्ष्मणानुगता रामानन्दिता च, भारतकथेव धृतराष्ट्रावसाना जातव्यासाधिष्ठाना च, आस्फूर्जितमूर्तिरिव कान्तावलोकना प्रसाधितबलिसताना च, सुधासृष्टिरिव कुमुदावहा विहितदेवमहा च, विपणिवीथिरिव सौगन्धिकावसथा ग्राहकमठपतिसनाथा च, सकमल कल्लोलकलशाभिषेकतोषितोपान्ताश्रमाश्रयविप्रा सिप्रा नाम नदी।

इसके बाद (सेही व सर्प-भव के वर्णन के बाद) कवि-समूह रूपी कमलो को विकसित करने के लिए श्री-सूर्य सरीखे एव परोपकाररूपी अमूल्य माणिक्य की खानि ऐसे हे मारिदत्त महाराज! देवो के योग्य वृत्तान्त वाले उन पूर्वोक्त अवन्ति देशो मे ऐसी 'सिप्रा' नाम की नदी है। जो ऐसी मालूम पडती है—मानो—उज्जयिनी नगरीरूपी कमनीय कामिनी की चन्द्रकान्त मणि की मेखला (करधोनी) ही है। मानो—मालवदेश सबधी राजाओ की रानियो की जलक्रीडा करने की बावडी ही है। मानो—पाताललोक सबधी नित्य महोत्सवो की पताका ही है। मानो—मार्गपर्वतो की वरमाला ही है। मानो—पृथिवीरूपी देवता की मोतियो की माला ही है। मानो—इसको (सिप्रा को) उत्पन्न करनेवाले पर्वत की कीर्तिपताका ही है। जो मानो—समुद्र सबधी रत्नाङ्कुरो को सिञ्चन करने वाली कृत्रिम नदी ही है। मानो—पृथिवीमण्डल की व्यवस्था करने की बुद्धिवाले राजाओ की बाण-सृष्टि ही है। जो वैसी पद्माधिष्ठित (कमल-मण्डित) व भुजङ्गलोकोचित (कामी पुरुष-समूह के योग्य) है जैसे अहिपुरी (नागलोक) पद्माधिष्ठित (पद्म नाम की नागदेवता से युक्त) व भुजङ्गलोकोचित (सर्प-समूह के योग्य) होती है। जो वैसी कुवलयोपगता (चन्द्रविकासी कमलो से मण्डित) एव द्विजभोगभूता (पक्षियो के भोगने योग्य) है जैसे राज्यलक्ष्मी कुवलयोपगता (पृथिवीमण्डल-मण्डित) एव द्विजभोगभूता (ब्राह्मणो की भोगभूत) होती है। जो वैसी सवर-प्रचुर (जल-बहुल) व मुनिजनगोचर (तापसपक्षी-युक्त) है जैसे वनलक्ष्मी सवरप्रचुर (शृगतरु-सहित मृग-आदि चतुष्पद जीवो से बहुल अथवा आस्रव-निरोध-सहित) तथा मुनिजनगोचर (दिगम्बर साधुओ के गोचर) होती है। जो वैसी लक्ष्मणानुगत (सारस पक्ति-सहित) व रामानन्दित (स्त्रियो को आनन्दित करने वाली) है जैसे सीता (जनक राजा की पुत्री), लक्ष्मणानुगत (लक्ष्मण से अनुगत) व रामानन्दित (श्रीरामचन्द्र से आल्हादित) होती है। जो वैसी धृतराष्ट्रावसाना (दोनो तटो पर हसो वाली) एव जातव्यासाधिष्ठाना (विस्तार के मूल को उत्पन्न करने वाली) है जैसी भारतकथा (महाभारत शास्त्र) धृतराष्ट्रावसाना (धृतराष्ट्र के मरण वाली) एव जातव्यासाधिष्ठाना (व्यास से उत्पन्न हुए पीठबन्धवाली) होती है। जो वैसी कान्तावलोकना (मनोहर दर्शनवाली) व प्रसाधितबलिसतान (पूर्ण किये हुए पूजासमूह वाली) है जैसी चन्द्र-मूर्ति कान्तावलोकन (सुन्दरियो के दर्शन-सहित) और प्रसाधितवलिसतान (वलि नाम के दानवविशेष को वश मे करनेवाली) होती है। जो वैसी कुमुदावहा (श्वेत कमलधारिणी) व विहिता देवमहा (वि-हिता-पक्षियो के 'लिए हित करनेवाली) और देवमहा, (राजाओ के उत्सववाली) है जैसी अमृतसृष्टि कु-मुदावहा (पृथिवी मे हर्ष उत्पन्न करनेवाली) व विहितदेवमहा (जिसमे देवो की पूजा उत्पन्न की गई है) होती है। जो 'वैसी सौगन्धिकावसथा (लालकमलो व कल्हारो (कमलो) के निवास-युक्त) है एव ग्राहकमठ-पति-सनाथा (ग्राह (मकर-आदि), कमठ (कछुओ) ,एव पक्षियो से सहित) है जैसी दुकानो की श्रेणी सौगन्धिकावसथा (सुगन्धि वस्तु बेचनेवालो के स्थान-वाली) व ग्राहक-

यत्र मदोन्मुखमरालकुलकामिनीचरणचारचलद्विकचकञ्जकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरतरङ्गम्, अखर्वगर्वदार्वाघाटपेटकपर्यटनलुण्ट्यमानपुटकिनीपुटपटलान्तरङ्गम्, उत्तरलतरतत्कारण्डोच्चण्डतुण्डकाण्डखण्डयमानखरदण्डदलोल्लसत्कल्लोलम्, अनेकमल्लिकाक्षकुटुम्बिनीकदम्बचुम्ब्यमानजम्बालजालजटिलजलदेवतादोलम्, अनवरतरतिकलहमोदमेदुरमिथुनचरपतङ्गपक्षचापलोच्छलच्छीकरासारसिच्यमानतीरतरुनिकरम्, अन्योन्यापघनघनाघट्टकुपितकुम्भीरभयभ्राम्यत्ककुभकुहूत्कारमुखरम्, अवाचाटवकोटचेष्टितचकितकमलमूलनिलीयमानपोताधानम, अम्बुरुहकुहरविहरदवहारविघ्नितवैखानसकुसुमोञ्छनविधानम्, उदीर्णदर्पदीवितुमुलकलिकोलाहलावलोकमूकमूकलोकम्, उन्मत्तमकरकरास्फालनोत्तालहरिकोत्तालितारविन्दकन्दरद्रवन्मकरन्दबिन्दुचन्द्रकावचयचटुलचञ्चरीकमेचकवीचिकानीकम्, उद्दामोदकद्विपदशनदश्यमानमृणालिनीसकलसारप्रसरम्, अतुच्छकच्छपाच्छोटमूछत्पाठीनपृष्ठपीठीलुठदुद्दण्डडिण्डीरपिण्डशिखण्डिततटिनीनिकटकर्करम्, उपान्तसैकतोल्लोलवालीविहारवाचालवारलम्, अदूरजकुजकुञ्जकुलायक्रीडत्कुररकूजितबहलम्, अमृतस्रोत इव सुखस्पर्शविदातम्,

---

मठपति-सनाथा (सुगन्धिवस्तु खरीदनेवाले गृहस्थो से सहित) होती है और जिसके द्वारा पुष्प-सहित तरङ्गरूपी कलशो के अभिषेक से नदी के समीपवर्ती गृहो मे आश्रित हुए ब्राह्मण हर्षित किये गये है।

प्रसङ्गानुवाद—जिस सिप्रा नदी मे जलक्रीडा के अवसरो पर नगर की स्त्री-समूह से मोतियो के चूर्णसमूह सरीखा स्वच्छ जल वैसा उत्कलिकाओ (तरङ्गो) से अनच्छ (मलिन) किया जाता है जैसे विरहिणीस्त्री का हृदय उत्कलिकाओ (उत्कण्ठाओ) से अनच्छ (व्याकुलित) होता है। कैसा जल मलिन किया जाता है ?

जिसकी तरङ्गे मदको प्राप्त हुई हसिनियो के चरण-सचारो से हिलते हुए विकसित कमलो की केसर श्रेणी से पीत-रक्त हुई है। जिसमे ऐसी कमलिनियो के पुटसमूहो का मध्य वर्तमान है, जो कि दीर्घतर गर्व करनेवाली सारस-श्रेणी के पर्यटन (सचरण) से हिलाई डुलाई जा रही थी। विशेष चञ्चल व तैरते हुए चकवा पक्षियो की चोचोरूपी वाणो द्वारा खड-खड किये जानेवाले कमल-पत्तो के साथ जहाँपर तरङ्गे उछलती हुई शोभायमान होरही है। जहाँपर जलदेवताओ के झूले बहुत से हसविशेषो की कामिनियो के समूह द्वारा चोचो से छुए जा रहे शैवाल-समूहो से कर्बुरित (रग-विरङ्गे) हो रहे है। निरन्तर रतियुद्ध से उत्पन्न हुए हर्ष से स्नेह-सहित चकवा-चकवी पक्षियो के पङ्खो की चपलता से ऊपर उछलते हुए जलबिन्दुओ की श्रेणी द्वारा जहाँपर तटवर्ती वृक्ष-समूह सीचे जा रहे है। जो परस्पर शरीरो की टक्कर से कुपित हुए मकरो के भय से भयभीत किये जानेवाले वालकुर्कुटो के अव्यक्त शब्दो (बाँध देने) से वाचालित हो रहा है। जहाँपर कमल मूलो मे प्रवेश करनेवाली क्षुद्र मछलियो का समूह मौनी बगुलो के व्यापारो से भयभीत हुआ है। कमलो के मध्य पर पर्यटन करनेवाले जलव्यालो (ग्राहो) से जहाँपर तपस्वियो की कमल-चुण्टन-विधि विघ्न-युक्त की गई है। उत्कट मद करनेवाले जलसर्पो के रौद्रयुद्ध सबधी कोलाहल के देखने से जहाँपर मैडको का समूह मूक हो गया है। जिसमे तरङ्ग-श्रेणी ऐसे भौरो द्वारा श्यामलित हुई है, जो कि विशेष मद को प्राप्त हुए जलहाथियो के शुण्डादण्डो के सचालन से विशेष वेग वाली तरङ्गो से कम्पित हुए कमल-कोशो से झरते हुए मकरन्द-(पुष्परस) बिन्दुओ के चन्द्राकार-मण्डल के सचय करने मे चञ्चल हो रहे थे। जिसमे कमलिनियो के समस्त विस्तृत कन्द शक्तिशाली जलहाथियो के दाँतो से चावे जा रहे है। (चट्टान-सरीखे) महान् कछुओ के फडफडाने से कुपित होनेवाले महामच्छो की प्रशस्त पीठो पर लोट-पोट करती हुई प्रचण्ड फेनराशियो से जिसने नदियो के दोनो तट के समीपवर्ती पर्वत-शिखर मुकुट वाले किये है। निकटवर्ती वालुकामय प्रदेशो पर वर्तमान चञ्चल तरङ्गो पर पर्यटन करने से जहाँपर हँसिनियाँ वाचालित हो रही है। जो निकटवर्ती वृक्षो के लतापिहित प्रदेशो

आमलकशिलातलमिव स्वच्छकलम्, इन्दुमणिनि स्यन्दनमिव सुभगावलोकनम्, शव्यय ज्योतिरिव जनितजगत्प्रणयम्, अलकवल्लरीतरङ्गभङ्गिभिर्वदनारविन्दामोदर्दुदिनैर्भुजलतावानीरसततिभि कुचकोकमिथुनमनोहरैवलिवञ्जुलवल्लीविलासिभिर्नाभिमण्डलावर्तोदात्तैर्नितम्बपुलिनस्थलश्लाघिभिरूरुकरिमकरकराभोगहृदयगमै पादनखमयूखफेनस्फीतै प्रतिनदीप्रवाहैरिव नगराङ्गनानिवहैर्जलक्रीडावसरेषु विरहिणीहृदयमिवोत्कलिकाविलोदय क्रियते मुक्ताफलद्युतिचय पय । अपि च ।

करिमकरमुखोद्गीर्णं यस्यामर्ण पुन पतद्भाति । सुरमिथुनकलहविगलितमुक्ताफलभूषणभ्रान्ति ॥२४॥
जलदेवीकरयन्त्रैरुपरिष्टाद्यत्र वारि विक्षिप्तम् । दुर्वर्णदण्डदीप्ति दधाति वियदातपत्रस्य ॥२५॥
षट्चरणचलितजलरुहमकरन्दस्यन्दबिन्दुकन्दलितम् । यस्या पाथ श्लथयति घुसृणमति पौरलोकस्य ॥२६॥
चपलकलहसबालकपरिप्लुत षट्पदोऽम्बुजे भाति । यस्या धर्मभयादिव पलायमानोऽघसघात ॥२७॥
मध्यमधुलुब्धमधुकरकुलभाण्ड पुण्डरीकमुद्दण्डम् । हरति हरिन्मणिकलशा सितातपत्रश्रिय यत्र ॥२८॥
उद्गतमकरन्दरज सिताम्बुज यत्र मोदमन्थरितम् । उपरिचलधूलिधूसरधवलच्छत्रच्छवि छुपति ॥२९॥

मे स्थित हुए घोसलो मे क्रीडा करनेवाले उत्क्रोश पक्षियो से प्रचुर है। जो अमृतप्रवाह-सरीखा सुखोत्पादक स्पर्श से उज्ज्वल है। जो आमलक—स्फटिक-शिलातल-सा स्वच्छ शरीरवाला है। जिसका दर्शन चन्द्रकान्तमणि की तरलता-सा प्रीतिजनक है। जो केवलज्ञान सरीखा समस्त लोक को प्रीति-जनक है।

कैसे नागरिक स्त्री-समूह द्वारा प्रस्तुत सिप्रा नदी का जल मलिन किया जाता है? जो (नागरिकस्त्री-समूह) दूसरी नदी के पूरो-सरीखे है। जिनमे केशलतारूपी तरङ्ग-रचना पाई जाती है। जो मुखरूपी कमलो की सुगन्धि से व्याप्त है। जिनमे बाहुलतारूपी वतवृक्षो की श्रेणियाँ है। जो कुच (स्तन) रूपी चकवा-चकवी के जोडो से मनोहर है। जो त्रिवली (उदररेखाएँ) रूपी लताविशेषो से उल्लसनशील है। जो नाभि-मण्डलरूपी आवर्तो (कूपो) से मनोहर है। जिनमे नितम्ब (स्त्रियो की कमर के पृष्ठभाग) रूपी प्रशस्त पुलिन-स्थलो की प्रशसा वर्तमान है। जो ऊरु (जघा) रूपी जलहाथी व जलग्राहो के शुण्डादण्डो के विस्तारो से रमणीक है एव जो चरणो के नख-किरणरूपी फेनपुञ्जो से प्रचुर है।

जिस सिप्रा नदी मे वर्तमान जल, जो कि जलहाथियो व मकरो के मुखो से उडेला हुआ व फिर भी आकाश से नीचे गिरता हुआ ऐसा सुशोभित होता है, जिसमे देवो के स्त्री-पुरुषो के जोडो (देव-देवियो) की मैथुनकलह से नीचे गिरे हुए मोतियो के आभूषणो की सदृशता वर्तमान है[1] ॥ २४ ॥ जिस सिप्रा नदी मे जल-देवी के हस्तरूपी यन्त्रो से आकाश मे फैका हुआ जल आकाशरूपी छत्र के चाँदी के दण्ड की शोभा को धारण करता है[2] ॥ २५ ॥ भ्रमरो से कम्पित हुए कमलो की पुष्परस सबधी क्षरण-बिन्दुओ से व्याप्त हुआ जिस सिप्रानदी का जल नागरिक लोगो की तरल कुङ्कुम के स्वीकार करने की अभिलाषा को शिथिल करता है[3] ॥ २६ ॥ जिस सिप्रा नदी मे कमल मे स्थित हुआ और चञ्चल कलहस शिशु के मुख से उछला हुआ भ्रमर धर्म के भय से भागता हुआ पाप-समूह सरीखा शोभायमान होता है[4] ॥ २७ ॥ जिस सिप्रा नदी मे पुष्परस मे लम्पट हुए भ्रमर-समूह का आधार व जल से वाहिर निकला हुआ श्वेतकमल ऐसी उज्ज्वल छत्र की शोभा को, जिसमे श्याम रत्नमयी कलश वर्तमान है, तिरस्कृत करता है। अर्थात्—कृष्णरत्नो के कलशवाली उज्ज्वल छत्र की शोभा को तिरस्कृत कर रहा है[5] ॥ २८ ॥ जिस सिप्रा नदी मे वर्तमान श्वेतकमल, जो कि ऊपर स्थित हुए

---

१ उपमालकार। २ रूपकोपमालकार। ३. हेत्वलकार। ४ प्रतिवस्तूपमालकार।
५ उपमालकार।

सपन्नपुरच्छाय तलदेशे यत्र राजते वारि । उन्मीलितभुजगजगत्सुरलोकालोकदपणद्युति च ॥३०॥

ईशानशीर्षोचितविभ्रमाणि वैखानसावासनिरन्तराणि । नीराणि यस्या सुरशेखराणि सरिद्वरावारिमनोहराणि ॥३१॥

देवार्चनासङ्गविधौ जनाना यस्या प्रसूनाञ्जलिगन्धलुब्ध । विनिर्गलत्पूर्वभवाघसङ्घ समन्ततो भाति मधुव्रतौघ ॥३२॥

यस्या प्रवाह सरित प्रकाम बलिप्रसूनप्रकराभिराम । रत्नोत्करापूरितसत्त्रवृत्तेर्महाध्वजस्येव तनोति कान्तिम् ॥३३॥

चिलीचिमनिरीक्षणा सितसरोजहासोल्बणा कलक्वणितवारलाविलसदावलीमेखला ।
उपान्तपुलिनाननोच्छलितवीचिनादानुगा मन पुरजनस्य या हरति कामिनीवापगा ॥३४॥

तस्या प्रमादमालवीजनकेलिसरस्या सरितो जलक्रीडोत्तालजलदेवताहस्तोदस्तसलिलासारधारासहस्रसपादितानेकगगनतलशतह्लदे महाह्लदे व्यतिक्रम्य त पृषतपर्यायोदन्तमसरालशयालुप्रमाणदेह पुनरहमहो महाराज, रोहिताक्षनामा पृथुरोमा समभूवम् । यस्मिञ्जलक्रीडारते

कूलरुषा मग्नतनौ मयि स्यादुन्मग्नकाये प्रतनुप्रवाहा । स्थिते तिरश्चीनतया च सिन्धु सा सेतुबन्धश्रियमादधाति ॥३५॥

पुष्परस से व्याप्त पराग वाला है और जो सुगन्धि के भार से नम्रीभूत है, उपरितन भाग पर स्थित हुई चञ्चल धूलि से धूसरित (ईषत्पाण्डुर) उज्ज्वल छत्र की शोभा को स्पर्श करता है[1] ॥ २९ ॥ जिस सिप्रा नदी मे अध प्रदेश मे स्थित हुआ जल उज्जयिनी नगरी के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होने से ऐसा शोभायमान होता है, जो प्रकट हुए नागलोक-सा है और जो स्वर्ग नगर के दर्शन के लिए दर्पण-सरीखा है[2] ॥ ३० ॥ जिस सिप्रा नदी के जल, जो कि गङ्गा नदी के जल-सरीखे मनोहर है। श्री महादेव के मस्तक पर स्थित होने से जिनकी योग्य शोभा है। जो तपस्वियो के निवास-स्थानो (गृहो) से अविच्छिन्न है और जो देवताओ के मुकुट है। अर्थात्—देवो से मस्तको पर धारण करने योग्य है[3] ॥ ३१ ॥

जिस सिप्रा नदी मे देवपूजा के अवसर पर मनुष्यो की पुष्पाञ्जलि की सुगन्धि मे लम्पट हुआ भ्रमर-समूह दूसरे जन्मो का निकलता हुआ पाप-समूह-सा सर्वत्र शोभायमान होता है[4] ॥३२॥ पूजा-निमित्त [लाए हुए] पुष्प-समूहो से मनोहर जिस सिप्रा नदी का प्रवाह, गृहवृत्ति (गृह के चारो ओर का स्थान) को रत्न श्रेणियो से भरनेवाली इन्द्रध्वज पूजा की कान्ति को विशेषरूप से विस्तारित करता है[5] ॥ ३३ ॥ जो सिप्रा नदी कमनीय कामिनी-सरीखी नगरवासी लोगो का चित्त चुराती है। जो मछलीरूपी नेत्रोवाली है और कामिनी भी मनोज्ञ नेत्रो से सुशोभित होती है। जो श्वेतकमलरूपी हास्य से उल्वण (अधिक) है और कामिनी भी हास्य-युक्त होती है। जो मधुर शब्द करनेवाली हसनियो की सुशोभित श्रेणी रूपी कटिमेखला (करधोनी) वाली है एव कामिनी भी करधोनी से अलङ्कृत होती है। जो समीपवर्ती पुलिन (जल-मध्यवर्ती वालुका द्वीप) रूपी मुख पर उछली हुई लहरियो के शब्द से अनुगमन करती है और कामिनी भी प्रियतम को प्रमुदित करने के लिए मञ्जुल गीत गाती है[6] ॥ ३४ ॥

अहो मारिदत्त महाराज! मै (यशोधर का जीव सेही) उस पूर्वोक्त सेही की पर्याय व्यतीत करके आलस्य से व्याप्त हुई मालव देश की कामिनियो की जलक्रीडा-के लिए सरसी-(महासरोवर) सी उस सिप्रा नदी के अगाध जलाशय मे, जिसमे जलक्रीडा मे उत्कट जलदेवताओ के हस्तो से ऊपर फैके हुए जल-समूह की

---

१ हेतूपमालकार । २ हेतूपमालकारः । ३ उपमालकार ।
४ उपमालकार । ५ दृष्टान्तालकार । ६ स्रग्विणीछन्द उपमालकार ।

सापि मदीयाम्बा कृतकृष्णपन्नगतनुत्यागात्तत्रैव शिशुमारतया जन्मासादयामास। एकदा नु तस्यामेव सीकरासारतारकितसकलहरिति सरिति निदाघदाहदारुणरसेषु शुचिसमाशाखादिवसेषु

भ्रश्यत्कर्णवतंसका सरलितप्रान्तप्रलम्बालका शीर्यत्कज्जललोचना परिगलद्गण्डस्थलीचन्दना।
उत्कम्पस्तनमण्डला प्रविलसल्लीलाब्जबाहाकुला क्रीडन्ति स्म पुराङ्गना प्रियतमैरासेव्यमाना इव ॥३६॥

तत्रैवावसरेऽषडक्षीणाक्षोभक्षामनिद्रोद्रेकेणातुच्छपुच्छाच्छोटनोच्छलदविच्छिन्नच्छटस्वच्छसलिलकल्लोलकल्पितजलदेवतानिकेतकेतुमालेन निजनिरवधिप्रधावप्रारम्भैर्मथ्यमानपयस्या कलशीमिव फेनाविलावर्तमण्डला कूलवन्ती कुर्वता प्रतिक्षणसधुक्ष्यमाणक्षुदाशुशुक्षणिक्षपितकुक्षिकक्षेण नीरेचरन्यक्षपक्षभक्षणाक्षिप्तक्षणेनेव शूलाक्षपतिना तेन चुलुकीसूनुना

हजारो धाराओ से जहाँपर गगन तल मे अनेक विजलियाँ उत्पन्न की गई है, महान् अजगर-सरीखी देहवाला 'रोहिताक्ष' नामका मच्छ हुआ। रोहिताक्ष नाम के मच्छ के जलक्रीडा मे रत होनेपर जब मै (रोहिताक्षमच्छ) सिप्रा नदी मे अपना शरीर डुबोता था तब वह सिप्रा नदी अपना तट भेदन-करनेवाली होती थी और जब मेरा (रोहिताक्ष का) शरीर सिप्रा नदी से बाहिर उछलता था तब वह सिप्रा नदी अल्पपूरवाली हो जाती थी, एव जब मै उसमे तिरछे रूप से स्थित होता था तब वह पुल-बन्ध की शोभा को आचरण करने लगती है[1] ॥ ३५ ॥

हे मारिदत्त महाराज! उस मेरी माता चन्द्रमति ने भी धारण की हुई काले साँप की पर्याय छोडकर उसी सिप्रा नदी के अगाध जलाशय मे 'शिशुमार' नाम के भयानक जलजन्तु (मकर-विशेष) का जन्म धारण किया। पुन एक समय उछले हुए जलकण समूहो से समस्त दिशाओ को ताराओ से व्याप्त करनेवाली उसी सिप्रा नदी मे ज्येष्ठ मास के दिनो मे, जिनमे धूप के सन्ताप से भयानक रस पाया जाया है, ऐसी स्त्रियाँ क्रीडा करती थी। जिनके कर्णपूर जलवेग से नीचे गिर रहे है। जिनके [मस्तक के] प्रान्तभागो पर वर्तमान लम्बे केश सरल हुए है। जो ऐसे नेत्रो वाली है, जिनका कज्जल जलवेग से गल रहा है। जिनके सुन्दर गालो की विलेपन रचना चारो ओर से गल रही है। जिनके स्तनमण्डल (कुच-भर) कान्तियुक्त या आनन्द-प्रद है। जो शोभायमान लीलावाली कमल-सरीखी भुजाओ से अस्थिर है और जो अपने पतियो से सुख क्रीडा मे भोगी जारही कामिनियो-सी शोभायमान हो रही है। अर्थात्—जिसप्रकार प्रियतमो द्वारा सुखक्रीडा मे भोगी जा रही कमनीय कमिनियाँ उक्त गुणो से युक्त होती है। अर्थात्—जिनके कानो के कर्णपूर, कामक्रीडा से नीचे गिर रहे है, जौर जो सरल केश युक्त, कामक्रीडा से निकलते हुए कज्जलो से युक्त नेत्रवाली, सुन्दर गालो पर की हुई चन्दनादि की चित्ररचना से हीन, चञ्चल स्तनमण्डलो से सुशोभित एव नृत्य करती हुई भुजाओ से व्याप्त होती है[2] ॥ ३६ ॥

उस नागरिक स्त्रियो की जलक्रीडा के अवसर पर उस मकरी-पुत्र मकर ने, जिसकी निद्रा की अधिकता मच्छो के क्षोभ (विशेष चलने) से क्षीण हो गई है। प्रचुर पूँछ के ताडन से ऊपर उछलते हुए अखण्ड धारा वाले निर्मल जल की तरङ्गो से जिसने जल की अधिष्ठात्री देवताओ के गृहो मे उज्वल ध्वजाओ की श्रेणी रची है। जो प्रस्तुत सिप्रा नदी को वैसी फेनो से व्याप्त हुए आवर्तमण्डल (भ्रमण-श्रेणी) वाली कर रहा है जैसे दधिमन्थिनी कलशी (जिसमे दही मन्थन किया जाता है, ऐसा अल्प घट) जिसका दही अपने वेमर्यादीभूत वेग-युक्त गति के वेगो से विलोडन किया जा रहा है, फेनो से व्याप्त हुए आवर्तमण्डलवाली

---

१ दीपकालकार अतिशयालकारश्च। २ उपमालकार।

मा ग्रहीतुं प्रत्यावृत्तेन तासु जलकेलिसक्तस्वान्तासु मध्ये **यशोमतिमहाराजमहादेव्या** कञ्चुलिका **मदनमञ्जरिका** नामाग्राहि।

ततस्तद्वृत्तान्ताकर्णनकुपितमति स महीपतिराहूयादिदेश सकलजलव्यालविलोपनाय वैवस्वतसैन्यसन्निभ-सत्वर सचरद्धीवरनिकरम्। ते च कैवर्तास्तदादेशादुत्तरलतरोत्तानकराचरितक्ष्वेलिता सत्वर लगुडगलजालव्यग्रपाणय-[1]स्तरीतर्णतुवरतरङ्गतरण्डवेडिकोडुपसपन्नपरिकरास्ता तरङ्गिणीमवतेरु।

उड्डीनाण्डजडिम्भमाकुलभवन्नालीकिनीकानन कूलोत्तालबिलान्तरालचलनग्लानालगर्दार्भकम्।
प्राय पङ्क्तिलगर्तगर्वरमिलद्दौलेयबाल मुहुस्तत्स्रोत कलुषीबभूव विवशग्राह विगाहत्तत ॥३७॥

पुनरहमहमिकया तत्सरित्स्रोतसि तेषु विहितसकलजलचरग्रहणोपायेषु तस्य चौलूकेयस्य यमदंष्ट्राकोटिकुटिल पपात गलनाले गल। तत्सगमान्मम चोपरि भ्रमदकालचक्रकराल जालम्। पुनरस्मद्ग्रहणानन्दितमनोभिस्तैर्मत्स्यवेधिभिरा-

होती है। जिसका उदररूपी वन क्षण-क्षण मे सदीप्त होती हुई बुभुक्षारूपी अग्नि से पीडित है एव जिसने वैसा मच्छो के समस्त पक्ष (पिता, माता व पुत्रादि कुटुम्ब) के भक्षण करने मे अवसर प्रारम्भ किया है जैसे यमराज जीवो के समस्त पक्ष के भक्षण करने मे अवसर प्राप्त करता है और जो, मुझ रोहिताक्ष नामके मच्छ को पकडकर खाने के निमित्त लौटा हुआ था, ऐसी 'मदनमञ्जरिका' नाम की स्त्री को पकड लिया, जो कि जल-क्रीडा मे आसक्त चित्तवाली उन नगर की स्त्रियो के मध्य यशोमतिमहाराज की कुसुमावली नाम की महादेवी की दासी थी।

इसके बाद 'मदनमञ्जरिका' नामकी दासी के पकडने का समाचार सुनने से कुपित बुद्धिवाले यशोमति महाराज ने यमराज की सेना-सरीखे शीघ्र सम्मुख आते हुए मछुआरो के समूह को बुलाकर समस्त जलचर दुष्ट जन्तुओ के विनाश के लिए आदेश दिया। फिर वे सन्मुख आये हुए मल्लाह यशोमति महाराज की आज्ञा से ऐसे होकर उस प्रसिद्ध सिप्रा नदी मे उतरे। जिन्होने विशेष वेगशाली व ऊँचे किये हुए हस्ततलो से आस्फोटित (क्रीडाएँ या विहार) किये है और जिनके हस्त लट्ठ, गल (मच्छो को वेधन करनेवाला लोहे का काँटा) व जालो के ग्रहण करने मे व्यापार-युक्त है तथा जिनका परिवार नौका, तृणमयघोटक, तुवरतरङ्ग (तुम्बी), फलक, क्षुद्रनौका व परिहार नौका इनसे परिपूर्ण है। फिर विलोडित हुआ सिप्रा नदी का पूर वारम्वार कलुषित हुआ, जिसमे पक्षियो के बच्चे उड गए है। जिसमे कमलिनी-वन कम्पित हो रहा है। जिसमे जलसर्पो के बच्चे दोनो तटो मे उत्कण्ठित है एव बिलो के मध्य मे चलने से ग्लान (नष्ट उद्यमशील) है एव जहाँपर कछुओ के वच्चे बहुलता से कीचड सहित गड्ढे के मध्य मे स्थित हुए भेसाओ के साथ एकत्रित हो रहे है, एव जिसमे मकरादि जलजन्तु पराधीन हुए है[2] ॥ ३७ ॥ तदनन्तर (सिप्रा नदी के प्रवाह मे अवगाहन करने के बाद) जब वे मल्लाह परस्पर के अहङ्कार-से उस सिप्रानदी के प्रवाह मे समस्त जलचर जन्तुओ (मकर-आदि) के पकडने का उपाय करनेवाले हुए तब उस शिशुमार (चन्द्रमति का जीव-मकर-विशेष) की कण्ठरूपी नाल मे यमराज की दाँढ के अग्रभाग-सरीखा वक्र लोहे का काँटा गिरा और उस शिशुमार के सगम से मेरे (यशोधर का जीव-रोहिताक्ष महामच्छ के) ऊपर भी ऐसा जाल पडा, जो कि भ्रमण करता हुआ व असमय मे प्राप्त हुआ यमराज के चक्र के समान रौद्र (भयानक) था। तत्पश्चात् उस यशोमति महाराज ने हमारे पकडने से हर्षित चित्तवाले उन मछुआरो से लाये हुए मुझे (रोहि-

१. 'तरीतर्णतुम्बतरण्डवेडिकोडुपसम्पन्नपरिकरा' ह लि, प्रति घ। २ अतिशयालकार।

नीत मा त च स महीपतिरवलोक्य पितृसतर्पणार्थं द्विजसमाजसत्त्ररसवतीकाराय समर्पयामास। तत्र च तदुपयोगमात्रतया प्रत्यहमुत्कृत्यमानकायैकदेश

अह पिता पूर्वभवेऽस्य राज्ञ पितामही चाम्बुचरोऽयमासीत्।
इय व्यवस्था ननु नाविदानीमस्मत्सुखार्थं च विधि. किलैष. ॥३८॥

इति विचिन्तयन्स चाह च कथकथमपि जीवितमत्यजाव।

पुनरहो धर्मधनजय, तामेव समस्ताद्‌भुतजननीमुज्जयिनी निकषा तमताजिनजेणाजीवनोटजाकुले बम्बूलबदरीकरीरप्रायक्षुपाक्षिप्तपर्यन्तस्थले कङ्काहिनामके ग्रामधामके स जलव्यालो महत्युरभ्रसदर्भे छगली बभूव। अह च तत्रैव छगल। पुनरावयोर्व्यतिक्रान्ते वर्करभाववृत्तान्ते जातस्मरस्मयस्तामेवाहमजामतिक्रामन्नखिलोरणक्षोभक्षुभितचित्तेनाविकटाधिपतिना-

ताक्ष को) और उसे (शिशुमार को) देखकर पितरो के सन्तर्पण के लिए ब्राह्मण-समूह की सदावर्तशाला के रसोइए के लिए समर्पण कर दिया। उन ब्राह्मणो की सदावर्तशाला मे ब्राह्मणमात्र का भोजन होने से मेरे शरीर का एक भाग प्रत्येक दिन काटा जा रहा था। और निम्नप्रकार विचार करके मै (रोहिताक्ष मत्स्य) और वह शिशुमार दोनो महान् कष्टपूर्वक कालकवलित हुए। पूर्वजन्म मे मै इस यशोमति महाराज का पिता (यशोधर) था और यह शिशुमार (मकर) पिता की माता थी। निश्चय से इस समय हम दोनो की ऐसी [कष्टप्रद] व्यवस्था है। यह विधि (कर्त्तव्यता) ब्राह्मणो के भोजन से हमारे सन्तुष्ट कराने के निमित्त है[1] ॥ ३८ ॥

तदनन्तर अहो धर्मधनञ्जय (धनुर्विद्या मे अर्जुन सरीखे अथवा धर्मरूपी धन से उत्कृष्ट अथवा धर्मरूपी धन का उपार्जन करनेवाले) हे राजन्! वह पूर्वोक्त चन्द्रमति का जीव शिशुमार (मकर-विशेष), अनेक आश्चर्यों की उत्पत्ति भूमि उस उज्जयिनी नगरी के समीपवर्ती 'कङ्काहि' नामवाले ग्रामस्थान मे, जो कि ऊन का बिछौना या चादर एव चर्ममयी पलान इन दोनो का उदरपूरण व्यवसाय करनेवालो के गृहो से व्याप्त है एव जिसका समीपवर्ती स्थल, बबूल, बेरी, व करीर इन वृक्षो की बहुलतावाले छोटे वृक्षो के अग्रभागो से वेष्टित है, मेढो के झुण्ड के मध्य बडी बकरी हुआ। मै (यशोधर का जीव रोहिताक्षमच्छ) उसी कङ्काहि नामके ग्राम मे मेढो के समूह के मध्य बकरा हुआ। जब हम दोनो (बकरी व बकरा) का शैशवकाल का वृत्तान्त व्यतीत हुआ। अर्थात्—शिशुमार के जीव बकरी के उदर से उत्पन्न होकर जब मेरा शैशवकाल व्यतीत हुआ तब मै, जिसको कामदेव का दर्प (मद) उत्पन्न हुआ है, अर्थात् जवान हुआ और जब उसी चन्द्रमति के जीव बकरी के साथ काम सेवन कर रहा था तब ऐसे मेढो के समूह के स्वामी ने, जिसका चित्त, समस्त मेढो के क्षोभ से कुपित हुआ है, विशेष तीक्ष्ण सीगो से जिसके मर्म (जीव) स्थानो मे निष्ठुर प्रहार किया गया है, ऐसा हुआ मै वीर्यधातु के क्षरणानन्तर ही वैसे अपने को अपने द्वारा उत्पन्न करता हुआ जैसे श्री ब्रह्मा, अपने को अपने द्वारा उत्पन्न करता है। अर्थात्—मै (यशोधर का जीव बकरा) दूसरी बार भी उसी पूर्वोक्त बकरी के गर्भ मे बकरा रूप से स्थित हुआ। तदनन्तर कुछ महीनो के व्यतीत हो जाने पर मैने जन्मावसर प्राप्त किया।

इसी अवसर पर (मेरी जन्म प्राप्ति के समय) वह यशोमति कुमार निम्नप्रकार पढे हुए नीतिशास्त्र का भी अनादर करके शिकार के लिए निकला। कैसा है वह यशोमति कुमार? जिसके चित्त का विस्तार

१ जात्यलकार।

तीव्रतीक्ष्णविषाणविनिर्मितमर्मप्रहार सौम्यघातुपातानन्तरमेव प्रेतभावमनुसरन्स्वयभूरिवात्मनात्मानमुत्पादयामास। अभूव चातिक्रान्तेषु कतिचिद्दिपक्षेषु प्राप्तप्रसवावसर।

अत्रान्तरे स यशोमतिकुमार पापर्द्धिप्रवृद्धमनस्कारस्तत्फलमिहैव जन्मनि दर्शयन्निव विदूरितनिखिलराजलक्ष्मीचिह्न कूटशाल्मलितरूल्लम्बनबन्धनैरिव लताप्रतानैर्गाढोद्ग्रन्थितमौलिर्नरकान्धकारकालकार्दमिकाशुकाधिकृतकायपरिकर श्वभ्राटवीप्रवेशदण्डकसकाण्डकोदण्डोच्चण्डदोर्दण्डमण्डल कीनाशपाशाकारवागुरोत्तसितास प्रादुर्भवद्दुरन्तपातकपातपिशुनैरिव श्वगणिभि समाचरितपुरप्रचार कृतान्तानीकभीकरैरनणुकोणोत्कूणितपाणिभि किरातै परिवृत पदातिरिव सकलसत्त्वसबाघसाधितमति

'स्तेनद्विषद्विषव्यालश्वापदप्रभव भयम्। शर्मधर्मविरामश्च मृगयाया महीपते'॥३९॥

इति नीतिमधीतामप्यवमत्य मृगयार्थं निश्चक्राम। प्रविवेश च वनदेवताविनिवेदिततदागमनमिव प्रशान्तसमस्तसत्त्वसचार कान्तारम्।

शिकार-क्रीडा मे विशेष वृद्धिगत हुआ है। जिसने राज्य लक्ष्मी के चिह्न (छत्र, चमर व ध्वजा-आदि) छोड दिये है, इससे ऐसा मालूम पडता था—मानो—जो इसी जन्म मे लोगो को शिकार खेलने का फल प्रदर्शित कर रहा है। अर्थात्—शिकार खेलनेवाला मानव अगले जन्म मे राज्य लक्ष्मी के चिह्नो (छत्र आदि) से च्युत होता है, इस घटना को इसी भव मे लोगो को दिखाता हुआ ही मानो—वह राज्यलक्ष्मी के चिह्नो का त्यागनेवाला हुआ। जिसने अपना मस्तक, लताश्रेणियो से विशेष रूप से ऊपर बाँधा है, जो (लताएँ) ऐसी मालूम पडती थी—मानो—कूटशाल्मलि तरु (नरक मे दण्ड देने का वृक्ष विशेष) पर लटकने वाले वन्धन ही है। जिसका शारीरिक वेष नरक के अन्धकार सरीखे काले व कृष्ण वर्ण वाले वस्त्र से बँधा हुआ है। जिसका विशेष प्रचण्ड (बलिष्ठ या भयानक) बाहुरूपीदण्ड मण्डल नरकरूपी अटवी मे प्रवेश करने के लिए क्षुद्रमार्ग सरीखे बाणसहित धनुष पर वर्तमान है। जिसके दोनो कन्धे यमराज के जाल सरीखी मृगबन्धनी से मुकुट-युक्त है। कुत्तो के स्वामियो ने जिसकी अग्रेसरता प्राप्त की है। जो ऐसे मालूम पडते थे—मानो—प्रकट होते हुए दुष्टस्वभाववाले पाप के आगमन के सूचक ही है। जो यमराज के सैन्य-सरीखे भयङ्कर व महान् दण्ड से सकुचित हस्तवाले किरातो (म्लेच्छो) से वेष्टित है। पैदल चलनेवाले सैनिक सरीखे जिसने समस्त प्राणियो को कष्ट देने मे या भय उत्पन्न करने मे अपनी बुद्धि स्वीकार की है। किसप्रकार के नीतिशास्त्र का अनादर करके वह शिकारनिमित्त निकला ? राजा को शिकार खेलने मे चोरो, शत्रुओ, विष, सर्पो व सिंह-व्याघ्रादि हिसक जन्तुओ से उत्पन्न होनेवाला भय होता है एव शिकार खेलने से उनके सुख व धर्मका नाश होता है और 'च' शब्द से शीलभङ्ग व प्रजा की क्षति आदि दोष उत्पन्न होते है॥ ३९॥

तत्पश्चात्—वह ऐसे वन मे प्रविष्ट हुआ, जहाँपर समस्त मृग-आदि जीवो का प्रवेश शान्त होगया है। अर्थात्—उसके आने पर समस्त मृग-आदि जीव भाग गए। अत समस्त प्राणियो के प्रवेश से शून्य हुआ वह ऐसा मालूम पडता था—मानो—जिसमे वनदेवताओ ने उसका आगमन कह दिया है। वहाँ पर उसे शिकार नही मिली, क्योकि यमराज के पेशकारो (जीवधारियो के पुण्य-पाप का लेखा-जोखा करने वालो) ने पृथिवीतल पर सचार करनेवाले (मृगादि), बिलो मे विहार करनेवाले (सर्पादि) व जल मे विहार करनेवाले (मछली-आदि) एव अन्तराल-(आकाश) विहारी (कबूतर-आदि) जीवो को वर्तमानकाल मे भी शस्त्रादि से नष्ट होनेवाली आयु से रहित कहा है। अत वह कोध से रक्तमध्य भागवाले नेत्रो के प्रान्तभागो के विस्तारो से मानो—अपने क्रोधरूपी देवता की रुधिर-पूजा को वखेरता हुआ-सा प्रतीत हो

स्थलबिलजलान्तरालविहारिणा प्राणिनामद्यापि चित्रगुप्तेनापरिमृष्टमानत्वादनासादितांहस कोपारुणान्तरैरपाङ्गप्रसरै स्वामिषदेवताया शोणितोपहारमिव विकिरस्तस्य छगलाविकैलकसनाथस्य यूथस्य मध्येन प्रत्यावर्तमानस्तिर्यग्गतिमार्गो-ल्लेखेन कपोलस्थलीचुम्बनोन्मुखपुङ्खेनायोमुखेन शरव्यीकृतबस्तवृन्दारकस्त मदीया मातर च निर्बिभेद । तावता चापर्याप्त परितोष स्वयमेव तदुदरमवदारयत् । ददर्श च मामनलावलग्नशकलिनमिव विवर्तमानवपुषम् । आयुष शेषत्वादविहित प्रमीतभावमवाप्तसमस्तसूपशास्त्राधिगमपाटवाय पौरोगवाय पोषणार्थमर्पयत् । तदन्वह गेह एव पोष्यमाणतनूना छागल-धेनूना शून्यस्तनावलेहलालोपदिग्धदेहस्तस्मिन्नेव रसवतीगृहे सकलरसप्रसाधनविधिव्यतिकराधिकविवेकेषु पाचकलोकेषु पिशितपाकोपदेशदानदुर्ललितहृदयामात्मदुष्कर्मोदयात्तत्रैव भवे सपन्नसितश्वित्रगात्रीमनवरतदरद्देहद्रवास्वादासीदन्मन्द-मक्षिकाक्षेपक्षोभपात्रीमतिपूतिपूयपिहितनासिकसविधसचरत्परिवारा स्वकीयेन दारिकाजनेन 'इय खलु हले, पापकर्मा सकलदुराचारागारा अमृतमतिमहादेवी त निखिलभुवनमाननीयमनङ्गावतार **यशोधरमहाराज** गरलप्रयोगाद्दृष्टान्तकीर्ति विधाय तत्फलेन सप्रति सजाता सकलकुष्ठाधिष्ठानम्' इति द्वन्द्वमितस्ततो मन्त्रयमाणेन राजपरिजनलञ्जिकासमाजेन च कृतधिक्कारपरम्परा कथमपि विदित्वा, कथ नाम

रहा था। उसने बकरियो, मेढा-समूह व गारड-समूह से सहित उक्त बकरा-समूह को मध्य मे करके वापिस लौटते हुए ऐसे लोहे की नोक के तीर से, जो तिरछी गति के मार्ग का उल्लेख करनेवाला है एव जिसका पुङ्ख (पत्राग्र) प्रशस्त कपोलस्थली के चुम्बन (मुख-स्पर्श) से सन्मुखीभूत है, बकरो मे से मुख्य बकरे को बाण का निशाना बनाया। जिससे उसने मेरी माता बकरी को विदीर्ण कर दिया। उतने मात्र से उसे पर्याप्त सन्तोष नही हुआ, अत परिपूर्ण सतोष-प्राप्त करने के लिये उसने स्वय बकरी का पेट फाड डाला, जिससे कम्पायमान शरीरवाले एव अङ्गारपुञ्ज के ऊपर धारण किये हुए माँस-सरीखे मुझे (यशोधर के जीव गर्भस्थित बकरे को) देखा। फिर मेरी आयु शेष होने से उसने मुझे नही मारा और समस्त पाकशास्त्र की पटुता प्राप्त करनेवाले रसोइए के लिए प्रतिपालन-निमित्त दे दिया। तत्पश्चात् पुष्ट शरीरवाली बकरियो के दुग्ध-शून्य थनो के आस्वादन करने से लार से शरीर को लिप्त करनेवाले मैने किसी प्रकार से भी ऐसी अनन्तमती महादेवी को जाना, जिसका हृदय उसी रसोईघर मे समस्त रसो (मधुर व आम्ल-आदि) की प्रसाधन-विधि के सबध मे विशेष निपुण रसोइयो के समूहो के मध्य मास पकाने की शिक्षा देने मे आसक्त है। अपने पापकर्म के उदय से उसी भव मे जिसके शरीर मे श्वेत कुष्ठ उत्पन्न हुआ है। जो निरन्तर विदारण किये जानेवाले शरीर की पीप-वगैरह के आस्वादन के लिए बैठती हुई (आती हुईं) प्रचुर मक्खियो के फैंकने अथवा चूर्ण करने मे उत्पन्न हुए क्षोभ (शरीर मोडना) की पात्री (भाजन) है एव अत्यन्त दुर्गन्धि पीप के बहने से नॉक बन्द करनेवाला परिवार जिसके समीप प्रवेश कर रहा है तथा जिसकी निम्नप्रकार तिरस्कार-श्रेणी अमृतमति की दासी समूह से व ऐसी राजपरिवार की दासी समूह से, जो कि यहाँ वहाँ स्त्री पुरुषो के जोडे को बुला रही है एव दूसरे लोगो द्वारा की गई है। 'हे सखी ! यह अमृतमति महादेवी विशेष पापिनी व समस्त दुराचारो की गृहप्राय है, क्योकि इसने उस समस्त जगत् के पूज्य व कामस्वरूप यशोधर महाराज को विष प्रयोग से मार डाला, उ I पाप के फल से यह समस्त अठारह प्रकार के कुष्ठ-समूह का गृह हुई।'

प्रसङ्गानुवाद—तदनन्तर मैने (यशोधर के जीव बकरे ने) निम्नप्रकार चिन्तवन करते हुए राज-महल की उसी भोजनशाला मे कुछ महीने व्यतीत किये। अमृतमति महादेवी का यह केशकलाप मकडियो के तन्तुसमूह-सरीखा विरूपक—कुछ शुभ्र क्यो हुआ ? और यह भौहो का जोडा शतखण्ड किये हुए शरीर वाले पिंजडा-सरीखा क्यो हो गया ? एव इसके नेत्रयुगल दावानल अग्नि से दुग्ध हुई-सी कान्ति-हीनता धारण करता हुआ दिखाई दे रहा है तथा इसका यह शरीर घुणो (कीडो) द्वारा किये हुए छिद्र-समूह से नीचे गिरते

अलिकुलमिद लूतातन्तुप्रतानविधूसर मनसिजधनुर्जात जीर्यत्तनुस्थितिपञ्जरम् ।
कुवलयवन धत्ते दैन्य दवाग्निसमाश्रय घुणदरभरभ्रस्यत्स्तम्भप्रभावमभूद्वपु ॥४०॥

अथवा न चैतदाश्चर्यम् । यत ।

स्वामिद्रोह, स्त्रीवधो, बालहिंसा, विश्वस्ताना धातन, लिङ्गभेद, ।
प्रायेणैतत्पञ्चक पातकाना कुर्यात्सद्य प्राणिन प्राप्तदु खान् ॥४१॥

इति विचिन्तयन् कतिचित्त्रिशद्रात्रानतिवाहयामास । इतश्च कलिङ्गविषयेषु महति महिषीसमुदये अहो स्वकीययश - कुसुमसौरभोन्मादितबुधमधुपसमाज महाराज,

रक्तप्रान्तविलोललोचनयुग प्रोथप्रतिष्ठानन प्रोत्कूणाग्रविषाणभीषणवपुर्नीलाञ्जनाद्रिप्रभ ।
उत्कर्ण पृथुकन्धरो गुरुखुर स्थूलत्रिकोर स्थल सा मृत्वा कमनीयवालधिरभूच्छागी पुन कासर ॥४२॥

पुनरसावशेषमहिषपरिषदतिशायिशरीरसनिवेश सार्थपार्थिवस्वीकारवशात्

सुखदु खानुभवार्थं निजकर्मगलग्रहात्सुदूरोऽपि । जालावलग्नतिमिवज्जन्तुर्यमसमयमायाति ॥४३॥
यत्र सुख वा दु ख लिखित निटिले यथास्य दैवेन । तत्रायाति प्राणी पाशाकृष्ट पतत्रीव ॥४४॥

हुए स्तम्भ-(खम्भा) सरीखी शोभावाला क्यो हो गया ? ॥ ४० ॥ अथवा ऐसा होना उचित ही है, यह आश्चर्यजनक नही है। क्योकि—ये पाँच महापाप प्राय करके प्राणियो को तत्काल (उसी जन्म मे) दु खो को प्राप्त करनेवाले कर देते है। राजहत्या, स्त्रीहत्या, बच्चो का बध, अभयदान दिये हुए का घात और जननेन्द्रिय का छेदन करना ॥ ४१ ॥ अथानन्तर अपने यशरूपी पुष्पो की सुगन्धि से विद्वज्जनरूपी भ्रमर-समूह को हर्षित करनेवाले हे महाराजाधिराज ! इस प्रस्ताव मे कलिङ्ग देशो (दन्तपुर से व्याप्त कोटिशिला देशो) मे महान् भैसो की श्रेणी के मध्य मे वह चन्द्रमति का जीव बकरी बाण से भेदी जाने से मरकर फिर ऐसा भैसा हुई। जिसके दोनो नेत्र रक्त प्रान्त वाले व चञ्चल है। जिसका मुख नासिका के समीपवर्ती है। जिसका शरीर तीक्ष्ण अग्रभाग वाले सीगो से भयानक है। जिसकी कान्ति नीलपर्वत व अस्ताचल पर्वत-सरीखी (कृष्ण) है। जो ऊँचे कानो वाला व विस्तीर्ण गर्दनशाली एव महान् खुरो वाला है। जिसका त्रिक (पीठ का नीचा प्रदेश—पीठ के नीचे जहाँ तीन हाड मिले है उस जोड का नाम) और उर स्थल (आगे का भाग—वक्ष स्थल) मासल-विशेष पुष्ट है एव जो मनोहर पूँछवाला है[1] ॥ ४२ ॥

फिर भी यह प्रस्तुत भैसा (चन्द्रमति का जीव), जिसकी शरीर-रचना समस्त भैसाओ के झुण्ड से विशेषता लिये हुए है, सौदागरो के स्वामी द्वारा खरीदने के अधीन होने से, (किसी ने बेचा और सौदागरो के स्वामी से खरीदा जाने के कारण) उसी उज्जयिनी नगरी मे, जो कामिनियो के भोगरूपी हसो के अवतरण के लिए महासरोवर-सरीखी है, मानो—निम्नप्रकार के सुभाषित श्लोको को सत्यार्थता मे प्राप्त कराता हुआ ही प्राप्त हुआ। यह जीव विशेष दूरवर्ती होकर के भी अपने पुण्य-पाप कर्मों को गले मे स्वीकार करने से अथवा[2] अपने-अपने कर्मरूपी लोहे के काँटे को ग्रहण करने से, सुख-दु ख भोगने के निमित्त मृत्यु की अधीनता मे वैसा आता है जैसे जाल मे फँसी हुई मछली, मृत्यु की अधीनता मे आती है[3] ॥ ४३ ॥ यह जीव जाल से खीचे हुए पक्षी-सरीखा उस स्थान पर आता है, जिस स्थान पर विधाता ने इस प्राणी के ललाट पर जिस प्रकार से

---

१ जात्युपमालकार । २ गल लोहकण्टक स० टी० पृ० ३१७ से सकलित—सम्पादक ३ उपमालकार ।

इति सत्यता नयन्निव ता विलासिनीविलासहसावतारसरसीमेकानसीमनुप्राप्य तस्यामेवोभयतीरावतीर्णतमालतरुपतितप्रसूनपरागपरवशवेगयामापगाया प्रतिपन्नपयोवगाहविहरण, अहिनकुलवज्जातिजनितामर्षोत्कर्षान्धान्त करण, यशोमतिमहाराजवाजिसजनितदौर्जन्यप्रकरण, तन्नृपतिनिर्दिष्टनैकटिकानीककरकीलितचतुश्चरण, प्रस्फोटनस्फारमारुतस्फुरत्खदिराङ्गारनिकरपूरितकरण, समन्तादभीक्ष्णाशुशुक्षणिक्षतक्षिप्यमाणक्षारवारिवर्षण, कर्णकटुघोरारवरसनशल्यितपुरदेवताधिषण, त्र्यूषणकषायोल्बणालन्दकोदकादानविनिरूढनिखिलगोर्वरगण, नरकदु खवेदनादप्यसह्यव्यथावेगमातङ्कसङ्गमनुभवन्निरमददाहदूषितविटप पादप इव कथाशेषतामवाप, तथाहमपि तया जाङ्गलभक्षणाक्षिप्तचित्तयामृतमतिमहादेव्या प्रत्यह धगद्धगितीद्धोद्धानमध्यभटित्रीकृतैकत्ररणश्चरमाधिकरणा दशामशिश्रियम् ।

पुनरहो धमधौरेय, अस्ति खल्विहैव रत्नाकरमेखलिन्यमरलोकोत्तम्भनस्तम्भेनेव मेरुणालङ्कृतनाभिमण्डले जम्बूलक्ष्मणि द्वीपे विजयार्धो नाम पर्वत । य

गन्धर्वाखर्वपर्वानकनिनदनदत्कदराभोगरम्य स्वर्गस्त्रीगीतकान्ताटनिरमरतरुश्लाघ्यशाखाक्षिपस्ति ।
गङ्गावुङ्गोत्तरङ्गोच्छलदनणुकणासारहाराभिराम प्रोत्तालानर्तनीतिर्नट इव विजयार्धावनीध्रश्चकास्ति ।।४५।।

सुख-दु ख भोगना लिपि-बद्ध किया है[1] ।। ४४ ।। तदनन्तर पूर्वोक्त चन्द्रमती के जीव भैसा ने जब उसी सिप्रा नदी मे (जिसमे वह पूव मे शिशुमार मकर हुआ था), जिसका वहाव दोनो तटो के नोचे की ओर स्थित हुए तमाखू के वृक्षो से गिरी हुई पुष्प-पराग के पराधीन है, जल-विलोडन के लिए प्रवेश किया तब सर्प-नौले-सरीखे जातिस्वभाव से उत्पन्न हुई क्रोध की तीव्रता से विवेक-शून्य मनवाले उस भैसे ने यशोमति महाराज के घोडे का मृत्यु-प्रस्ताव भली प्रकार उत्पन्न किया (प्रस्तुत घोडे का बध कर दिया) । जिससे यशोमति कहाराज द्वारा आज्ञापित किये हुए किंकर-समूह के हाथो से उस भैसे के चारो पैर कीलित (कीले व साकलो द्वारा निश्चल) किये गये । जिसके शारीरिक अवयव सूपो की प्रचुर वायुओ से प्रदीप्त किये जानेवाले खदिर वृक्षो के अङ्गार-समूहो से आच्छादित किये गए है । जिसके ऊपर सभी ओर से निरन्तर अग्नि के स्फुटित प्रहारो (घावो) पर नमक के जल की वृष्टि की जा रही है एव जिसने कर्ण-कटु भयानक शब्दो के आरटन से पुर देवताओ की बुद्धि दु खित की है तथा तृषा से सोट, मिर्च व पीपल के चूर्ण के काढे से उत्कट हुए मृत्तिका-कुण्ड मे भरे हुए जल-ग्रहण से जिसके पश्चिम द्वार से समस्त गोवर-श्रेणी निकली है, ऐसा वह भैसा ऐसी दु खसगति को भोगता हुआ, जिसका दु ख-वेग नरक की दु ख वेदना से भी असह्य है। अत वह ऐसे वृक्ष-सरीखा होकर, जिसकी शाखाओ का विस्तार वज्राग्नि की दाह से भस्म किया गया है, मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

हे राजन् ! उसी प्रकार मैने (यशोधर के जीव बकरे ने), जिसका खुर-सहित एक पैर मास-भक्षण मे आसक्त चित्तवाली उस अमृत मति महादेवी द्वारा निरन्तर जाज्वल्यमान प्रदीप्त चूले के मध्य पकाया गया है ऐसा हो कर मरणावस्था प्राप्त की । फिर भी—भैसे व बकरे की पर्याय-कथन के बाद—हे धर्मप्रवर्तक मारिदत्त महाराज ! जामुन के वृक्ष से उपलक्षित एव लवण समुद्ररूपी मेखलावाले इसी जम्बूद्वीप मे, जिसका नाभिमण्डल (मध्यवर्ती विस्तृत प्रदेश) स्वर्गलोक को थॉमने के लिये स्तम्भ-सरीखे सुमेरुपर्वत से सुशोभित है, ऐसा विजयार्ध नाम का पर्वत है ।

जो नट-सरीखा शोभायमान हो रहा है । जो ऐसे गुफाओ के परिपूर्ण विस्तारो से मनोज्ञ है, जो कि देवगायको के महान् उत्सव-नगाडो की ध्वनियो से प्रतिध्वनि कर रहे है । जैसे जहॉ पर नट नृत्य करता

---

१ उपमालकार ।

कि च ।

पादान्तलक्ष्मीरपर पयोधि पूर्वोऽम्बुधिर्यस्य शिरस्यदश्री । शय्यावकाशा च वसुधरेय जातामरस्त्रीजनसेवितस्य ॥४६॥
उल्लोलकल्लोलकरप्रचारात्पूर्वापरौ स्वप्तुमिव स्थितस्य । सीमन्तसवाहनयोरिवाब्धी जातोद्यमौ यस्य गिरेश्चकास्त ॥४७॥
यत्राम्बुधि पुष्करवत्स्थिताङ्गे तरङ्गहस्ताहतकदरास्य । शक्रप्रचेत पुरकामिनीना नृत्ताय वृत्त कृतपीव भाति ॥४८॥

तत्र विद्याधरसुन्दरीविलासमणिदर्पणदृषदि चारणश्रमणचरणाङ्कितमेखले सततस्यन्ददुर्दिनदरीसरत्समीरसीकरासारिणि सुरतश्रमखिन्नखचरसहचरीसेव्यमानसतानकच्छाये सुरानोकहकुहरविहरमाणमधुकरीकुलकलहगलत्प्रमूनमकरन्दामोदिन्य भ्रलिहशिखरोत्सङ्गसगतगगनगणिकोपवीणनमनोहरे मयुमिथुनसगीतकाननन्दिनि निर्दरैकदेशमध्यास्य किल चरमदेहधारी भगवान्सरस्वतीसरिज्जलकेलिकुञ्जरो मन्मथमथनाभिधानावसरश्चारणमर्हषि

है, वहाँपर नगाडो की ध्वनि होती है। जिसका कटिनीतट स्वर्ग-कामिनियो (देवियो) के गीतो से मनोहर है। जहाँपर नट नृत्य करता है, वहाँ पर स्त्रियाँ गाने गाती है। जिसकी लतारूपी भुजाएँ कल्पवृक्ष से प्रशसनीय है। जैसे नट भी भुजाओ से नृत्य करता है। जो गङ्गा की ऊँची उत्कृष्ट तरङ्गो से आकाश मे उछलते हुए स्थूल जलबिन्दुओ के समूहरूपी हार (मोतियो की माला) से मनोज्ञ है। जैसे नट भी हार से अलङ्कृत होता है। एव जिसकी आनत-(घुमाव) नीति प्रोत्ताल (उत्सुक) है। जैसे नट भी उत्ताल नृत्य-कारक होता है[1] ॥ ४५ ॥ विशेषता यह है—पश्चिम समुद्र ही जिसको चरणपक्ति की शोभा है। एव पूर्वसमुद्र ही जिसके मस्तक का उच्छीर्ष (तकिया) है तथा यह पृथिवी ही जिसकी शय्या (पलङ्ग) है। यहाँ पर शङ्का होती है कि जब पलङ्ग के ऊपर कामिनीजन देखा जाता है तो इसका स्त्रीजन कौन है? उसका समाधान करते हैं, जो कि देवो की स्त्रीजनो (देवियो) से भोगा गया है[2] ॥ ४६ ॥ जिस विजयार्ध पर्वत के पूर्व व पश्चिम समुद्र चञ्चल व विशाल तरङ्गरूपी हस्तो के सचालन से ऐसे मालूम पडते थे—मानो—निद्रा लेने के व्यापार-युक्त हुए-सरीखे उस विजयार्ध के मस्तक-समार्जन (प्रक्षालन) व पादमर्दन करने मे जिनको क्रमश उद्यम उत्पन्न हुआ है, ऐसे सुशोभित हो रहे है[3] ॥ ४७ ॥ मृदङ्गमुख-सरीखे व्यापार-युक्त शरीरवाले जिस विजयार्ध पर्वत पर ऐसा समुद्र, जिसने तरङ्गोरूपी हस्तो द्वारा गुफा-मुख ताडित किये है, मृदङ्ग-बजानेवाले सरीखा शोभायमान हो रहा है। यहाँ पर शङ्का होती है—कि मृदङ्ग-आदि वादित्रो का वादन (बजाना), नृत्य के लिए होता है, अत यहाँ पर नृत्य क्या है? इसलिए नृत्य-कारण से गर्भित हुए समुद्र-विशेषण का निरूपण करते है—कैसा है समुद्र? जो इन्द्र (पूर्वदिग्पाल) व वरुण (पश्चिम दिग्पाल) के दोनो नगरो की कामिनियो (देवियो) के नृत्य के लिए प्रवृत्त हुआ है[4] ॥ ४८ ॥

ऐसे उस विजयार्ध पर्वत पर, जिसमे विद्याधरो की कमनीय कामिनियो के नेत्र-विभ्रम के दर्शन-निमित्त मणिमय दर्पणसरीखे पाषाण-शिलातल वर्तमान है। जिसकी मेखला (पर्वत का मध्यभाग) आकाशगामी मुनियो के चरणो से चिह्नित है। जहाँपर निरन्तर जल स्रवण के कारण मेघो से आच्छादित हुई गुफाओ मे सचार करनेवाली वायु से जल-कण-समूह वर्तमान है। जहाँ पर मैथुन-खेद से खिन्न हुई विद्याधरो की कामिनियो से कल्पवृक्षो की छाया का आश्रय किया जा रहा है। जहाँपर ऐसे पुष्पो के मकरन्द (पुष्परस) की सुगन्धि विद्यमान है, जो कि कल्पवृक्षो के कुहरो (छिद्रो) मे विहार करती हुई भँवेरियो के समूह के कलह के कारण नीचे गिर रहे है। जो विशेष ऊँचे शिखरो के उपरितन भागो पर एकत्रित हुई विद्याधरो की वेश्याओ

१ युग्म श्लेषोपमा। २ रूपकहेत्वलकारः। ३ यथासख्योत्प्रेक्षालकार। ४ रूपकोपमालकार।

मन्दस्पन्दीभवति हृदये बाह्यचिन्ताविदूरव्यापारेऽस्मिन्करणनगरे योगमग्ने च पुंसि।
यत्रावृत्तिं न भजति कुलिशं वज्रिणापि प्रयुक्तं पुष्पास्त्राणां कुसुमधनुषस्तत्र का नाम वृत्तिः ॥४९॥

इति विचिन्त्य निष्पन्नयोगिलोकोदाहरणतपश्चर्यः सूर्यप्रतिमागतो बभूव। तस्यैवं स्थितस्य महर्षेरलोकाकाशवत्स्वभावादेव सकलैरपि जन्तुभिरनुल्लङ्घनीयमाहात्म्यस्य हिमवन्महीधरस्य स्कन्धाधीनानि काननानि विलोकितुमुच्चलितः कन्दलविलासो नाम विद्याधरः कदर्पंदर्पणायाः प्रियतमायाः समक्षं मदनविनोदं नाम विमानं स्खलितगमनमवेक्ष्य जातवैलक्ष्यस्तत्साधुसमाधिविध्वंसनधिया बहुरूपिणीं विद्यामनुध्याय विधाय च तडिद्दण्डसंघट्टस्फुटद्ब्रह्माण्डखण्डैरिव घोरघोषप्रचण्डैः, प्रलयकालप्रसूतिदिवसैरिव जनितसमस्तसत्त्वसाध्वसैः, क्षयक्षपान्धकारैरिव भीषणाकारैः, उत्क्षिप्तकृतान्तदृष्टिपातैरिवोल्काजालकरालद्योतैः, यमायुधविद्धैरिव मुशलप्रमाणवारिधारावर्षिभिः, स्फुटितामरलोकशैलशिखरैरिवापतत्पृथीय पाषाणैः,

के वीणा-वादन के कारण मनोज्ञ है और जहाँपर किन्नरो के जोडो (देव देवियो) के सगीत से हर्ष पाया जाता है, 'मन्मथमथन' नामकी योग्यतावाले, आकाशगामी, चरमदेहधारी मुनि, इन्द्रादि द्वारा आराधना के योग्य व सरस्वती (द्वादशाङ्ग-वाणी) रूपी नदी के जल (शब्दलक्षण वाला जल) की अनुभवन क्रीडा के गजेन्द्र है व जिसकी तपश्चर्या, धर्मध्यान व शुक्लध्यान का पूर्ण अभ्यास किये हुए ध्यानियो के समूहो को उदाहरण (दृष्टान्त-वचनरूप) है, निर्भय स्थान पर स्थित होकर निम्नप्रकार चिन्तवन करके कायात्सर्ग मे स्थित हुए। [प्रस्तुत ऋषि का ध्यान—]

'जब मन किञ्चित् भी चलायमान नही होता (स्थिरीभूत-निश्चल हो जाता है) और जब इन्द्रिय लक्षणवाला नगर बाह्यस्पर्श से शून्य हो जाता है। अर्थात्—जब इन्द्रियरूपी नगर शब्द, वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श इन पाँचो इन्द्रिय-विषयो की अभिलाषा से दूरवर्ती व्यापार वाला हो जाता है एव जब आत्मा धर्मध्यान व शुक्लध्यान मे मग्न हो जाती है, अर्थात्—एकलोलीभाव प्राप्त कर लेती है तब जिस कायोत्सर्ग मे इन्द्र-द्वारा प्रेरित किया हुआ वज्र भी प्रवृत्ति प्राप्त नही करता, उस कायोत्सर्ग मे कामदेव के पुष्परूपी अस्त्रो की क्या प्रवृत्ति हो सकती है ? अपि तु नही हो सकती[1] ॥ ४९ ॥'

इस प्रकार कायोत्सर्ग मे स्थित हुए और जिसकी महिमा अलोकाकाश-सरीखी स्वभाव से ही समस्त प्राणियो द्वारा उल्लङ्घन करने योग्य नही है ऐसे मन्मथमथन नाम के महर्षि के ऊपर कन्दल-विलास नाम के विद्याधर ने, जो हिमवन् पर्वत के ऊपर स्थित हुए वनो को देखने निमित्त विमान से आकाश मे ऊपर प्रस्थान कर रहा था। जिसने 'कन्दर्पदर्पणा' नाम की अपनी प्रिया के समक्ष अपने मदनविनोद' नाम के विमान को रुका हुआ देखकर जिसे ऋषि के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ है, जिससे उसने प्रस्तुत 'मन्मथमथन' नामक मुनि के ध्यान मे विघ्न करने की बुद्धि से वहुरूपिणी विद्या का चिन्तवन करके निम्न प्रकार उपसर्ग किये। प्रसङ्गानुवाद—बाद मे प्रस्तुत (मन्मथमथन) ऋषि की सेवार्थ आये हुए 'रत्नशिखण्ड' नामके विद्याधर-चक्रवर्ती ने उग्र कर्म करनेवाले इस विद्याधर को देखा और ऐसा करने से उसके प्रति विशेष क्रोध प्रकट किया। [प्रस्तुत ऋषि के ऊपर उपसर्ग करने के लिए] उसने पूर्व मे ऐसे मेघो से आकाश को आच्छादित किया। जो (मेघ) भयानक गरजने की ध्वनियो से विशेष शक्तिशाली हुए ऐसे मालूम पडते थे—मानो—जिनमे विजलीदण्डो के सघट्ट से त्रैलोक्य-खण्डो के सैकड़ो टुकुडे हो रहे है। समस्त प्राणियो को भयभीत करनेवाले जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानो—प्रलयकाल सबधी उत्पत्ति-दिन ही है। जो भयानक मूर्तिवाले होने के कारण ऐसे मालूम पडते थे—

१ आक्षेपालकारोऽतिशयालकारश्च। मन्दाक्रान्ता छन्द ।

असितशिलाधिष्ठानबन्धैरिव ज्योतिर्वसतीनाम्, असमयतमिस्रासमागमैरिव भुवनवलयस्य, अकाण्डकपाटघटनैरिव दक्षकन्यानाम्, अनवसरसहारवासरैरिव नेत्रवृत्तीनाम्, अकालकालायसचूर्णोपहारैरिव क्षिते, धनाघनैरावृत गगनमाभरणभुजङ्गमाभीलैर्वेतालैराकम्पिताखिलभूगोलैर्बलालैश्च दुर्दशा दिश प्रसाध्य स्वय च समाचरितमातङ्गवेषश्चण्डकर्माचरन्नेन योगिनमुपासितुमागतेन **रत्नशिखण्डिनाम्ना** विद्याधरचक्रवर्तिना व्यलोकि चुकुपे च ।

पुन 'अरे कदाचाराचार पराकदुरात्मन् खलपुरोभागिन् विद्याधराधम खेचरखेट विहायोगमयाप्य वियच्चरखेल हेठ नरकनिवास पापाचार बहुकुमतिभृतचित्त गुणमटह निहीन गन्धर्वलोकापसद मातरिपुरुष सकलसत्त्वानन्दनीयतपसि त्रिभुवनमान्ययशसि भगवति पर ब्रह्मासनमुपगतवति किमेवमाचरितुमुचितम् । न चेह महामुनिसनिधाने शास्त्राणामिवास्त्राणा व्यापारस्यावसर । तदन्यथापि ते व्यपनयामि समुन्नद्धभावम्' इति वदन्दुर्जनाविनयसमवर्ती स नभश्चरचक्रवर्ती तस्य समस्ता अपि विद्याधरलोकलक्ष्मीलाञ्छनाश्चिच्छेद विद्या । शशाप च 'भविष्यस्यनेन दुश्चेष्टितेना**वन्तिषु** राजधान्या मातङ्गसमवृत्तिश्चण्डकर्मनामको दण्डपाशिक' । स खेचर स्वयकृतानर्थवशात्तच्छापेन भूगोचरता प्रतिपद्य-

---

मानो—प्रलयकाल की रात्रि के अन्धकार ही है। उल्काजालो (तारो के टूटने की श्रेणियाँ) के भयानक प्रकाश वाले जो ऐसे मालूम पडते थे—मानो—ऊपर फैके हुए यमराज के दृष्टिपात ही है। मूसलप्रमाण (विशेष स्थूल) जलधारा की वृष्टि करने के स्वभाव वाले जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानो—जिनमे यमराज के दण्ड से छेद किया गया है। जिनसे विस्तीर्ण पाषाण गिर रहे है, अत जो ऐसे मालूम पडते थे—मानो—विदीर्ण हुए स्वर्गपर्वतो के शिखर ही है। इसी प्रकार जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानो—चन्द्र, सूर्य, ग्रह व ताराग्रहो की कृष्णवर्ण वाली शिलाओ के अधिष्ठान-वन्ध (आवास स्थानसमूह) ही है। अथवा मानो—पृथिवीमण्डल के अकाल काल रात्रिसबधी समागम ही हैं। अथवा मानो—जिन्होने दक्षकन्याओ (तारको) को असमय मे किवाड़ो की रचना की है। अथवा मानो—नेत्र व्यापारो के असमय सबधी प्रलयकाल के दिन ही है और जो मानो—पृथिवी के असमय मे होने वाले लोह के चूर्ण प्रकार ही है। इसी प्रकार उसने स्वय चाण्डाल-वेष धारण करते हुए आभरण सबधी सर्पो से भयानक वेतालो (भूत विशेषो) से और समस्त पृथिवी-मण्डल को कम्पित करने वाली प्रचण्ड वायुओ से दिशाओ को दुष्ट अवस्था वाली की।

अथानन्तर प्रसङ्गानुवाद—दुष्टो की उद्दण्डता को नष्ट करने के लिए यमराज-सरीखे उक्त 'रत्नशिखण्डी' नाम के विद्याधर-चक्रवर्ती ने प्रस्तुत 'कन्दलविलास' नाम के विद्याधर के प्रति निम्नप्रकार कोप-युक्त वचन कहते हुए उसकी समस्त विद्याएँ भी, जो कि विद्याधर-समूह की लक्ष्मी के चिह्न है, छेद दी (नष्ट कर दी)। उक्त विद्याधर चक्रवर्ती के कोप-पूर्ण वचन—'अरे ! निन्द्य आचार वाले ! अरे बध से दुष्ट आत्मा वाले ! अरे दुष्टो मे अग्रेसर व विद्याधरो मे निकृष्ट ! अरे विद्याधरो मे कुत्सित अथवा विद्याधरो को विशेष भय उत्पन्न करने वाले व विद्याधरो द्वारा निंदनीय एव विद्याधरो के मध्य मे निंदनीय ! अरे वाधा उत्पन्न करने वाले व नरक मे निवास करने वाले अथवा नरक (गूथ—मल) के निवास एव पाप को ही आचार मानने वाले ! तथा प्रचुर मायाचार से परिपूर्ण चित्तवाले ! अरे गुणो से लघु, नीच और विद्याधर लोक मे जाति से वहिष्कृत ! अरे मातृमैथुन ! तुझे ऐसे भगवान् (गुणो से इन्द्रादि द्वारा पूज्य) ऋषि के ऊपर, जिसकी तपश्चर्या समस्त प्राणियो को आनन्द देनेवाली है तथा जिसका पवित्र गुण कीर्तन त्रैलोक्य पूज्य है, एव जो उत्कृष्ट धर्मध्यान मे लीन है, क्या इस प्रकार का उपसर्ग करना उचित है ? इस महामुनि के समीप जैसे शास्त्रो की प्रवृत्ति का अवसर है वैसे शस्त्रो की प्रवृत्ति का अवसर नही है। अत मै शस्त्रो के विना भी तेरा मद चूर-चूर करता हूँ।

अथानन्तर प्रस्तुत 'रत्नशिखण्ड' नाम के विद्याधर चक्रवर्ती ने उक्त कन्दल विलास नामक विद्याधरो की केवल विद्याएँ ही नही छेदी अपितु उसने उसे निम्नप्रकार शाप भी दिया—'इस कुकृत्य से तू अवन्ति देश

मानस्त भगवद्विघ्नकर्त्तिन चक्रवर्तिनमुपसृत्यावनतमुखाब्ज सन्नेवमवादीत्—'नाथ, भवतु नामैवम् । कथमन्यथैतन्म-दीय दुष्कम विफलोदय स्यात् । स एष निसर्गजन्मभाव सरसामिव स्वामिनाम्, य खलु युक्तायुक्तकारिषु सेवकेषु स्वच्छकलुषभावो नाम । तत्क्षम्यतामिदमेक स्खलितमपुण्यभाजोऽस्य जनस्य । अनुगृह्यता च शापावसानमनीषया पुर्नविद्याधर-लोकावाप्तिकरेण वरेण' इत्यभिधाय तत्पादयोरुपरि निपपात । स महामुनिगुणवर्णनोदीर्णकीर्तिनर्ती विद्याधरचक्रवर्ती ।

दण्ड एव हि नीचाना विनयाय न सत्क्रिया । ऋजुत्वे जिह्मकाष्ठस्य नाग्नेरस्ति परो विधि ॥५०॥

य कोप. सापराधेषु य प्रसादोऽनुवर्तिषु । स्वामिनस्तेन लोकोऽय गुणकार्यपरायण ॥५१॥

इति परामृश्य, उपयुज्य च तस्य भगवत पर्युपासनविशेषाल्लब्धमवधिमुपजातानुक्रोश 'खचर, मा ताम्य । उत्तिष्ठ ।

की राजधानी उज्जयिनी नगरी मे चाण्डाल-सरीखी जीविका वाला व 'चण्डकर्मा' ऐसे कुत्सित नामवाला कोट्ट-पाल होगा ।' अथानन्तर उस 'कन्दलविलास' नाम के विद्याधर ने स्वय किये हुए अनर्थ से उक्त रत्नशिखण्ड के शाप से भूमि-गोचरीपन स्वीकार किया और गुरु के उपसर्ग को छेदन करने वाले उस 'रत्नशिखण्ड' नामक विद्याधर चक्रवर्ती के समीप जाकर उसके चरणो मे पडकर नम्रीभूत मुख कमल वाला होकर उसने इस प्रकार कहा—'हे स्वामिन् ! ऐसा हो, अर्थात्—मै कोट्टपाल होऊँगा । अन्यथा—यदि [मै भूमिगोचरी नही होऊँगा तो मेरा यह पापकर्म विफलोदय (विषम फल के उदय वाला) कैसे होगा ? हे स्वामिन् ! सरोवरसरीखे स्वा-मियो का वह जगत्प्रसिद्ध एव प्रत्यक्षीभूत स्वाभाविक परिणाम होता है, निश्चय से जो (स्वाभाविक परिणाम), युक्त-अयुक्त करने वाले सेवको के विषय मे क्रमश स्वच्छता व कलुषता उत्पन्न करता है । अर्थात्—जैसे तालावो मे स्नान करने वाले जब योग्य जल का उपयोग करते है तब तालावो मे स्वच्छता (निर्मलता) होती है और जब अयुक्त (बहुतर) स्नानादि करते है तब तालाबो मे कलुषता (मलिनता) हो जाती है वैसे ही स्वामियो के सेवक जब युक्त (उचित) कर्तव्य मे प्रवृत्त होते है तब स्वामियो मे स्वच्छता (प्रसन्नता) उत्पन्न होती है और जब सेवक अधिकता से प्रवृत्ति करते है (अनुचित कार्यो मे प्रवृत्ति करते है) तब स्वामियो मे उनके प्रति कलुषता (सकोपता) उत्पन्न होती है । उस कारण से इस मुझ पापी सेवक का एक अपराध क्षमा किया जाय और केवल मेरा अपराध क्षमा ही न किया जाय अपितु आप शाप को अन्त करनेवाली बुद्धि से फिर ही विद्या-धर-लोक की प्राप्ति करनेवाले वरदान से इस सेवक का अनुग्रह कीजिए ।

इस प्रकार कह कर उसके चरणो मे गिर गया । तत्पश्चात् उस विद्याधर-चक्रवर्ती (रत्नशिखण्ड) ने, जो कि दिगम्बर महामुनियो के गुण-वर्णन से उत्पन्न हुई कीर्ति से नृत्य करनेवाला है और जिसे प्रस्तुत विद्याधर के ऊपर दयालुता उत्पन्न हुई है, चित्त मे निम्नप्रकार विचार किया—'जैसे टेडी लकडी को सरल करने मे उसमे अग्नि लगाने को छोडकर दूसरा कर्तव्य नही है वैसे ही निश्चय से नीच पुरषो को शिक्षा देने के लिए (नम्र वनाने के लिए) दण्डनीति ही उपाय है । न कि उनका सत्कार उनको नम्र वनाने मे कारण है[1] ॥ ५० ॥ राजा का अपराधियो पर जो क्रोध होता है और उसका अनुकूल प्रवृत्ति करवाले शिष्ट पुरुषो मे प्रसाद (दानादि द्वारा सन्मान) होता है, उस कोप व प्रसाद से यह लोक गुण व कर्त्तव्य पालन मे तत्पर होता है ॥ ५१ ॥'

तत्पश्चात् उसने उस पूज्य मन्मथमथन नामक ऋषि की भक्ति विशेष से प्राप्त हुए अवधिज्ञान से जानकर कहा—हे विद्याधर ! खेद मत कर । उठो । देवताओ सरीखे राजाओ की आज्ञा सेवको के प्रति

---

१. दृष्टान्तालकार. ।

न खलु प्रभूणा देवानामिव तोषरोषयो सेवकेषु शुभमशुभ वा फलमसपाद्य तदैव प्रत्यावर्तते शासनम् । तदाकर्णयान्यदेव तव तल्लोकावाप्ते कारणम् ।

तथाहि—अस्ति खलु सकलसासारिकसुखोपकरणरत्नाकरावनिसङ्गेषु **कलिङ्गेषु** द्विरदमदामोदमन्दकन्दरोदर-परिसरत्पवनपानपरमधुकरावलीनीलमणिमेखलाङ्कितनितम्बवसुधरस्य महेन्द्रमहीधरस्याधिपति सजातमेदिनीरतिचित्तोऽपि द्विजातिस्तूयमानवृत्त अकारणरोषप्रमत्तोऽपि नि शेषशिष्टाचारप्रवृत्त **सुदत्तो** नाम राजा ।

यस्य विभवाभिवृद्धिस्तर्कुकलोकसतर्पणाय, विद्यावैशारद्य विद्वज्जनोपचरणाय, शौर्यपर्याय शरणागतरक्षणाय, राज्यावर्जनपरिग्रह प्रजापरित्राणाय, प्रभुत्वावलम्बन समाश्रितभरणाय, क्षात्रचरित्रवृत्ति परार्थकरणाय, देवताप्रसादन सत्पुरुषवरवितरणाय, साहसोत्साहानुष्ठान महामुनिप्रत्यूहनिबर्हणाय, वीरविक्रम साधकसाध्वसापहरणाय, सात्त्विकत्वमादि-क्षत्रियधृतधर्मनिर्वहणाय ।

सतुष्ट होने पर शुभफल व रुष्ट होने पर अशुभ फल उत्पन्न किये बिना, तत्काल मे ही—शाप देने के अवसर मे ही नही लोटती । अर्थात्—जैसे देवता भक्तो पर सन्तुष्ट हुए शुभ फल देते है व रुष्ट हुए अशुभ फल देते है वैसे ही राजा लोग भी सेवको पर सन्तुष्ट हुए शुभ फल व रुष्ट हुए अशुभ फल देते है । अत जो मै रुष्ट हुआ तुझे शाप दे चुका हूँ उसके अनुसार तुझे अशुभ फल अवश्य भोगना पडेगा । अत तू सुन, पुन विद्याधर लोक की प्राप्ति का कारण दूसरा ही तुझे कहता हूँ, उसी बात का निरूपण करता है—

समस्त सासारिक सुखो की आधार-भूत रत्न-खानियो की भूमि के सगम वाले कलिङ्ग देशो मे 'महेन्द्र' नाम के पर्वत का, स्वामी ऐसा सुदत्त नाम का राजा है । जिसकी नितम्बभूमि ऐसी भ्रमर श्रेणीरूपी नीलमणिमयी मेखला (कटिनी) से चिह्नित है, जो कि हस्तियो के मद (दानजल) की सुगन्धि से आर्द्र हुई गुफाओ के मध्य भागो पर चारो ओर सचार करती हुई वायु के आस्वाद मे लम्पट है । जो सजातमेदिनीरति चित्त (म्लेच्छ स्त्रियो के साथ भोगविलास के मनवाला) हो करके भी द्विजातिस्तूयमान वृत्त (ब्राह्मणो से स्तुत्य आचार वाला) है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जो म्लेच्छ-भार्याओ मे अनुरक्तचित्त होगा, वह ब्राह्मणो से स्तुत्य आचार वाला कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि 'जो मेदिनीरतिचित्त (आसमुद्रान्त पृथिवी के पालने के मनवाला) है और अपि (निश्चय से) जो द्विजातियो (तपस्वी ब्राह्मणो से प्रशसनीय चरित्रवाला) है और जो अकारणरोषप्रमत्त (निष्कारण क्रोध करनेवाला) होकर के भी नि शेष-शिष्टाचार प्रवृत्त (समस्त शिष्टाचारो मे प्रवृत्त) है यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो निष्कारण क्रोध करनेवाला होगा, वह समस्त शिष्टाचारो मे प्रवृत्त हुआ कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो अक-आ-रणरोष-प्र-मत्त है । अर्थात्—जो अकुत्सित व चारो ओर से किये हुए सग्राम-कोप के कारण प्रकर्षरूप से हर्ष को प्राप्त हुआ है, जिससे जो समस्त शिष्टाचारो मे प्रवृत्त है ।[1]

जिस सुदत्त राजा की धनवृद्धि याचकजनो को भली प्रकार सतुष्ट करने के लिए है । जिसकी शास्त्र-चतुरता विद्वज्जनो की पूजा-निमित्त है । जिसकी शूरता का अनुक्रम शरणागतो के प्रतिपालन-निमित्त है । जिसका राज्य का उपार्जन स्वीकार प्रजालोक की रक्षा के लिए है । जिसके सामर्थ्य (शक्ति) का आश्रयण सेवक लोगो के पोषण के लिए है । जिसका क्षतत्राण लक्षण-वाला क्षात्र (क्षत्रियधर्म) एव उसके आचार की प्रवृत्ति दूसरो के प्रयोजनो के पोषण के लिए है । जिसका देवो का प्रसन्न करना सत्पुरुषो के लिए वर (अभि-

---

१. विरोधाभासालकार. ।

यस्य च जनन्य परकलत्राण्येव, बन्धुवर्ग समाश्रितलोक एव, कुटुम्बक सप्तसमुद्रावधि वसुधैव, जीवित सत्य-प्रतिपालनमेव, महाव्यसन परोपकारनिघ्नतैव, व्रताचरण क्षितिरक्षणमेव, योग्योद्योग प्रजाकार्यानुशासनमेव, दक्षिणादक्षत्व जगद्व्यवहारव्यवस्थापनमेव, अवभृथस्नान परत्रेह च हितवृत्तिप्रवृत्तिषु स्वातन्त्र्यमेव, वीरत्वमरिषड्वर्गविजय एव, असि-धाराव्रतमन्यायखण्डनमेव, ऐश्वर्यमाज्ञानुल्लङ्घनमेव ।

यस्य वासतोष श्रुतेषु, तर्ष सत्पुरुषसग्रहेषु, मूकभाव स्वकीयगुणस्तवनेषु, बधिरत्व दुर्जनोपदेशेषु, दर्शनपरावृत्तिरनर्थसग-मेषु, काम पुण्यार्जनेषु, अक्षमा परोपतापेषु, विद्वेषो व्यसनेषु, असतृप्ति सुभाषितश्रवणेषु, आसक्ति पुन सद्गोष्ठीषु ।

यस्य च परिमितत्व वाचि, कालहरण कलासु, आशादर्शन दिग्विजययात्रायाम्, श्रवणगतत्व पूर्वपुरुषचरितेषु, अवधीरणमात्मसुखानाम्, अनवसर कलिकालविजृम्भितस्य, महासात्त्विक सकलजगदभ्युद्धरणेषु, ऐश्वर्यं विश्वम्भरतायाम्, न पुनरमीषा द्वन्द्वानि तस्य वदान्यताया प्रत्युपकृतिषु मान्यजनसभावनाया स्वच्छन्दवृत्तिषु च विषयभावमाजग्मु ।

लषित वस्तु) देने के निमित्त है। जिसका अद्भुत कर्म सबधी उद्यम विधान मुनियो के उपसर्ग-निवारणार्थ है। जिसका जयकुमार-आदि वीरो सरीखा पराक्रम साधको (विद्या देवता को वश करनेवाले महात्माओ) के भय को नष्ट करने के लिए है और जिसका प्रसाद (प्रसन्नता) भगवान् ऋषभदेव से धारण किये हुए धर्म के निर्वाहनिमित्त है। दूसरो की स्त्रियाँ ही जिसकी माताएँ है। सेवक-गण ही जिसका भ्रातृवर्ग है। सातसमुद्र पर्यन्त पृथिवी पर स्थित हुआ लोक ही जिसका परिवार वर्ग है। सत्यधर्म का प्रतिपालन ही जिसका जीवन है। परोपकार करने की अधीनता ही जिसका महाव्यसन है। पृथिवी का परिपालन ही जिसका व्रताचरण है। प्रजाजनो के कर्तव्य की शिक्षा देना ही जिसका उचित उद्यम है। पृथिवी मडल पर स्थित हुए तीन लोक की सदाचार प्रवृत्ति को निश्चल करना ही जिसका दानचातुर्य है। परलोक व इस लोक मे सुख उत्पन्न करने-वाले पुण्य कर्मो की प्रवृत्तियो मे स्वाधीनता ही जिसका यज्ञान्त स्नान है। अरिषड्वर्गो (काम, क्रोधादि छह शत्रु-समूहो) पर विजयश्री प्राप्त करना ही जिसकी वीरता है। अन्याय का खण्डन करना ही जिसका असिधारा-व्रत (तलवार की धार सरीखा कठोर नियम) है एव आदेश का प्रतिपालन ही जिसका ऐश्वर्य है।

जिसे तृष्णा शास्त्रो के अभ्यास मे है व लोभ महापुरुषो के स्वीकार मे है। और जो अपने गुणो की प्रशसा करने मे मौन रखता है। जो चुगलखोरो के वचनो के श्रवण करने मे बहिरा है। अलाभ-सगतियो मे जो नेत्र बन्द करता है। जो पुण्य-सचयो मे अभिलाषा करता है। जिसका क्रोध परोपतापो के अवसर पर होता है। अर्थात्—दूसरो से सन्ताप दिये जानेपर जो क्षमा नही करता है। जिसे अप्रीति जुआ खेलना-आदि सातव्यसनो मे है एव असन्तोष सुभाषितो के श्रवण मे है तथा आसक्ति विद्वानो की गोष्ठी मे है। जो वचन मे परिमित (अल्पभाषी) है किन्तु दान करने मे परिमित (थोडा देनेवाला) नही है। जो समय-यापन लेखन व पठन-आदि कलाओ मे करता है परन्तु दान करने मे समय-यापन (विलम्ब) नही करता, अर्थात्—तत्काल देता है। जिसका आशादर्शन (दिशाओ का देखना) दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने मे है परन्तु दान मे जो आशादर्शन (याचको की आकाङ्क्षा का यापन) नही करता, (तत्काल देता है)। जो पुराणपुरुषो की कथाओ के श्रवण मे श्रुतिदान (ध्यान पूर्वक सुनना) करता है परन्तु प्रजाजनो की प्रार्थनाओ मे श्रुतिदान—श्रवण-खण्डन (नही सुनना) नही करता। अर्थात् उनकी प्रार्थनाएँ अवश्य सुनता है। जो अपने सुखो का अनादर करता है परन्तु याचको का अवधीरण—अनादर नही करता। जिसको दुष्ट कलिकाल के प्रसार का अनवसर (अप्रस्ताव) है, परन्तु जिसे याचकजनो के लिए अनवसर नही है। अर्थात्—जिसे दान करने का सदा अवसर है। जो समस्त लोक की रक्षा करने मे प्रसन्न है एव जिसका ऐश्वर्य सकल लोक के भरण-पोषण मे है। इनके

यस्य चात्मसधानविनीतवृत्तय परविग्रहप्रशमनकुशला स्वभावगुणप्रणयिन परिप्राप्तश्रवणा बाणा एवासाध्यसाधनोत्सवा सचिवा, परे तु केवल सभाशोभार्थमस्थावराण्यलकरणानि। स्वपरप्रजाना सपत्त्यापत्तिकरमसहाय साहसमेव पुरोहित, परस्तु पर्वदिवसेषु वसुवितरणस्थानम्। अशेषशात्रवबलस्खलनहेतुरव्याजवर्य शौर्यमेव सेनापति, परस्तु भृत्यभरणीयसमयसूचन चेतनमुपकरणम्। अखिलसमुद्रावधिवसुधातले दुर्वारप्रसरपर्यमैश्वयमेव द्विषद्दण्डधर प्रतीहार, परस्तु सेवकानामुपासनावसरनिवेदनस्तीथपुरुष । समराङ्गणेषु परहृदयगमप्रवणानि शस्त्रसप्रेषणान्येव दूतप्रणिधय, परे तु राजनीतिप्रपञ्चा । त्रिदशैरप्यप्रतिहताटोपा प्रतापा एव दुर्गभूमय, परास्तु विभवविनियोगद्वाराणि। बेधसाप्य-

---

जोडे अर्थात्-परिमितत्व (थोडा दान करना) व कालहरण (दान मे विलम्ब करना) यह पहला जोडा। आशादर्शन (याचको की आकाक्षा का भङ्ग करना) श्रवणगतत्व (प्रार्थनाओ का न सुनना) यह दूसरा जोडा। अवधीरण (याचको का तिरस्कार) व अनवसर (मौका न होना) यह तीसरा जोडा और महासात्विकत्व (प्रसन्न रहना) व ऐश्वर्य यह चौथा जोडा। उक्त चारो जोडे क्रमश जिसकी प्रेमपूर्वक त्यागशीलता मे और प्रत्युपकारो के करने मे एव पूज्य पुरुषो के सत्कार करने मे तथा स्वेच्छाचारो (अनैतिक प्रवृत्तियो) मे विषय भाव को प्राप्त नही हुए। अर्थात्—जिसकी प्रेमपूर्वक की हुई दानशीलता मे थोडा दान करना व विलम्ब मे दान करना नही है। जो प्रत्युपकारो के करने मे याचको की आकाङ्क्षाओ का भङ्ग न करता हुआ तत्काल दान देता है तथा उनकी प्रार्थनाओ को सुनता है। एव जो पूज्य पुरुषो के सत्कार करने के अवसर पर उनका तिरस्कार नही करता एव अवसर नही चूकता। अर्थात्—आज मेरा कुटुम्बीजन मर गया है, अत अभी दान देने का अवसर नही है इत्यादि नही करता। जो अपनी प्रसन्नता व ऐश्वर्य का उपयोग स्वेच्छाचारो मे नही करता।[1]

जिसके ऐसे बाण ही मन्त्री है, जो कि अपने सन्धान (योजन) मे नम्रवृत्ति-युक्त है और मत्री भी सन्धि कार्य करते है। जो, शत्रुओ के युद्ध को शान्त करने मे दक्ष है और मन्त्री भी युद्ध को शान्त करते हैं। जो स्वभावगुणप्रणयी (प्रकृति से धनुष की डोरी पर स्थायी) है और मन्त्री भी स्वभावगुणप्रणयी (सन्धि व विग्रह-आदि मे स्नेह करनेवाले) होते है तथा जो परिप्राप्तश्रवण (आकर्पण-वेला मे खीचनेवाले के श्रवण (कान) प्राप्त करनेवाले) है और मन्त्री भी परिप्राप्त श्रवण (गुप्तमन्त्र के कथन के लिए कानो के समीप जानेवाले) होते है एव जो असाध्य साधनोत्सव (शत्रु को मृत्यु-प्रापण मे उद्यम करने वाले) है और मन्त्री भी असाध्य कार्य को सिद्ध करते है दूसरे मत्री तो केवल राजसभा की शोभा के लिए जङ्गम आभरण मात्र है। अपनी प्रजाओ मे लक्ष्मी उत्पन्न करने वाला और शत्रुओ की प्रजाओ मे आपत्ति उत्पन्न करने वाला अद्वितीय साहस (अद्भुत कर्म) ही जिसका पुरोहित (राजगुरु) है दूसरा पुरोहित तो अमावस्या-आदि पर्वदिनो मे धन देने का स्थानमात्र है। समस्त शत्रु समूह की शक्ति को नष्ट करने मे कारणीभूत व स्वभाव से मुख्य जिसकी वीरता ही सेनापति है, दूसरा सेनापति तो सेवको के भरणपोषण सबधी समय का कथन करने वाला सजीव उपकरण है। चार समुद्रो की मर्यादावाले पृथिवीमण्डल पर दुख से भी निवारण करने के लिए अशक्य प्रवृत्ति वाला जिसका ऐश्वर्य (प्रभुत्व) ही शत्रुओ के ऊपर दण्ड-निपातन करने वाला प्रतीहार (द्वारपाल) है, दूसरा द्वारपाल तो सेवको को सेवा का अवसर निवेदन करनेवाला यात्राभूत पुरुषमात्र है। युद्धाङ्गणो पर शत्रुओ के हृदय विदीर्ण करने मे चतुर जिसके शस्त्र-मोचन ही दूत (राजा का सदेश व शासन (लेख) को ले जानेवाले) व प्रणिधि (गुप्तचर) है, दूसरे दूत व गुप्तचर तो अर्थशास्त्र के विस्तारमात्र है। देवो द्वारा भी नष्ट करने के लिए अशक्य विस्तारवाले जिसके प्रताप ही दुर्गभूमियाँ (जलदुर्ग, वनदुर्ग व शत्रुदुर्ग-भूमियाँ)

---

१ यथासख्यालकार ।

तुलित बाहुबलविजृम्भितमेव वप्र ,परस्तु विनोदरदनिनामपाश्रयभूमि । वनमृगैरप्यनुल्लङ्घनीयप्रभावाज्ञैव प्राकार , परस्तु पुरस्य पांसुस्पर्शविनिवारणपरिच्छद । सकलसपत्नव्याप्तिकदर्थनसमर्थनावतार सव्येतर कर एव परिघा, परे तु दौवारिकाणा विश्रामविष्टराणि । दुर्वृत्तारातिकुलनिमज्जनजलाधारा खड्गधारैव परिखा, परास्तु नगराङ्गनाना जलक्रीडाधिकरणानि । समस्तक्षितिरक्षणक्षम पराक्रम एव परिवार परस्तु श्रीविलासाडम्बर । निजकीर्तिसुधाधवलितापघन[1] त्रिभुवनमेव विहारहर्म्याणि, पराणि तु राज्यलक्ष्मीचिह्नानि । चतुरुदधिमेखला वनमनोहरा वसुधरैव प्रियकलत्राणि, पराणि तु वशाभिवृद्धिनिबन्धनानि धर्मक्षेत्राणि ।

यस्य बाहवाङ्गणरङ्गेष्वनवरतमुक्तशरासारवर्षविकर्तरितमुखमण्डलानामहितकबन्धाना नर्तनक्रियासु परमेकान्तरसिकता, न पुनरितरास्वर्थदूषणपरासु । असमसमरावसरेष्वाश्चर्यशौर्यपरितोषितानाममरवृन्दारकाणामानन्दातोद्यवादनेषु प्रकर्षतृष्णालुता, न पुनरितरेषु शरीरायासकरेषु । त्रिविष्टपकुटीकोटरविहारिणा नरनिलिम्पाम्बरचरलोकेन निजविजयनामाङ्कसुभगस्य गीतस्य गायने नितरा स्पृहयालुता, न पुनरितरस्य हृदयहरिणहरस्य । कदनमेदिनीषु दुर्वार-

है । दूसरी जलदुर्गादि भूमियाँ तो केवल लक्ष्मियो के विशेष रूप से अविकार द्वार है । जिसकी भुजाओ का सामर्थ्य-प्रसार ही, जिसकी तुलना श्रीब्रह्मा के साथ भी नही की जा सकती, वप्र (दुर्ग की आधारभूत भित्ति) है और दूसरा वप्र तो कीडागजो का आश्रयस्थान मात्र है । जगली मृगो द्वारा भी उल्लघन करने के अयोग्य माहात्म्य वाली जिसकी आज्ञा ही प्राकार (कोट) है, दूसरा दुर्ग तो नगर सबधी धूलियो के स्पर्श-निवारण के लिये उपकरणमात्र है । जिसका दक्षिण हस्त ही, जिसका जन्म समस्त शत्रुओ के विस्तार को नष्ट करने के निश्चय वाला है, अर्गला (वेडा) है और इसके सिवाय दूसरी अर्गलाए तो द्वारपालो के खेद को दूर करने के आसनमात्र है । दुराचारी शत्रु वशो के डूबने मे जल की आधारभूत जिसकी खड्गधारा ही परिखा (खाई) है दूसरी परिखाएँ तो केवल नागरिक कामिनियो की जलक्रीडा के स्थानमात्र है । जिसका समस्त पृथिवी के परिपालन करने मे समर्थ पराक्रम ही परिवार (कुटुम्ब) है और दूसरा परिवार तो लक्ष्मी के विलास का विस्तारमात्र है । अपनी कीर्तिरूपी सुधा से उज्वलीकृत शरीरवाला तीन लोक ही जिसका क्रीडागृह है । और दूसरे क्रीडागृह तो राज्यलक्ष्मी के चिह्नमात्र है । जिसकी चार समुद्ररूपी मेखला (करधोनी) वाली व वनोसे मनोज्ञ ऐसी पृथिवी ही प्यारी स्त्रियाँ है और दूसरो प्यारी स्त्रियाँ तो वश (कुल व पक्षान्तर मे वास) की चारो ओर से वृद्धि मे कारणीभूत धर्मक्षेत्र (दान आदि पुण्य कर्मो का स्थान) है, अर्थात्—जैसे खेतो मे वशो—वाँसो की वृद्धि होती हे ।

जो सुदत्त महाराज शत्रु-कबन्धो (शिर-रहित शरीर-धडो) की, जिनके मुखमण्डल सग्रामाङ्गणरूपी नाट्यशालाओ मे निरन्तर फैके हुए बाणो की मूसलधार वेगशाली वृष्टि से विशेषरूप से खण्डित किये गये है, नृत्यचेष्टाओ मे ही केवल विशेषरूप से रसिक (अनुरक्त हृदय) है और दूसरी कामिनियो की नृत्यक्रियाओ मे, जो कि धन सबधी दोष (विनाश) उत्पन्न करने मे तत्पर है, रसिक—आसक्त नही है । जो विषम सग्रामकालो मे आश्चर्यजनक वीरता से आनन्दित किये गए देवो के मध्य प्रधान देवो के आनन्दजनक बाजो की ध्वनि के सुनने मे विशेषरूप से तृष्णालु है किन्तु शरीर को कष्ट करनेवाले दूसरे तत, वितत, धन व सुषिररूप बाजो के वादन मे तृष्णाशील नही है । जो सुदत्त महाराज तीन लोकरूपी गृह के मध्य विहार करनेवाले भूमिगोचरी मानव, देवता व बिद्याधरो के समूह से अपनी विजयश्री के कारण जीते हुए राजाओ के नामाङ्कण से प्रीति-

१ 'निजकीर्तिसुधाधवलित त्रिभुवनमेव' इति (क) प्रतौ पाठ ।

वैरिकरिशिरोविदारणेषु महती मृगयाव्यसनपरवशता, न पुनरितरेषु निरपराधेषु वनमृगेषु। नृपयज्ञाजिराष्टापदभूमिकाया चरगमगतिबन्धैररातिचतुरङ्गेषु प्रकाम द्यूतदुर्ललितता, न पुनरितरेषु नरपालकुलकलङ्कधरेषु। सकलरत्नाकरमणिमेखलाया वसुमतीयोषाया नितान्त सक्तता, न पुनरितरेषु वपुर्धर्मधनविध्वसनेषु विलासिनीजनेषु। अनन्यसामान्यजन्योपार्जितजयानिलविजृम्भितेन सुभटकुटजाटवीविलुण्ठनपटुनावलेपानलेन दुर्धर्षाणा विद्विषामशेषयश पानेष्वतीवशौण्डता, न पुनरितरेष्वैहिकामुत्रिकफलविलोपनोद्धवेष्वासवेषु। अकाण्डजगदुपद्रवदानवेषु मानवेषु दण्डपारुष्ये बाढ मनोमनीषितानि, न पुनर्भ्रूलतोल्लासवशवर्तनेषु परिजनेषु। रणकेलिकण्डूलानामरीणामायोधनवसुधायामभिमुखीभावकरणेषु वच कर्कशव्यवहारे परम नैपुण्यम्, न पुनरवलोकनमात्रविनयपरिष्वजासु प्रजासु। अखण्डब्रह्माण्डडिम्बडमरकरालै प्रतिपक्षव्यालै सचितस्य कीर्तिकुलधनस्यापहारे गाढ गृध्नुता, न पुनरात्माभ्युदयप्रणयिभिरुपार्जितस्य द्रविणोर्जितस्य, सपरायधरावारिषु शत्रुशल्लकीनगभङ्गप्रलोभनेन गजग्रहणेषु महान्ति कुतूहलानि, न पुनरितरेण चौरचारपाशादिनोपायव्यतिकरेण।

आससारमवैनश्वर्यसुरभिषु यशश्चन्दनवन्दनेषु साभिलाष मन, न पुनरितरेषु क्षणमात्रपरिमलमनोहरानुबन्धेषु गन्धेषु।

जनक हुए गीत के गाने मे विशेष उत्कण्ठित है, न कि मनरूप मृग के मोहक दूसरे शृङ्गार-आदि गीतो के गाने मे उत्कण्ठित है। जो सुदत्त महाराज युद्ध भूमियो मे दु ख से भी जीतने के लिए अशक्य शत्रु सबधी हाथियो के गण्डस्थलो के छेदने मे विशेषरूप से शिकार व्यसन के पराधीन है किन्तु दूसरे निरपराधी जगली मृगो की शिकार करने रूपी व्यसन के पराधीन नही है। जो सुदत्त महाराज युद्धाङ्गणरूपी (शतरञ्ज खेलने की भूमि) पर चरगम (गुप्तचरो का भेजना), व गतिबन्धो (शत्रु-शिविर के चारो ओर घेरा डालना) से शत्रुओ की चतुरङ्ग सेनाओ (हाथी व घोडे-आदि) के विषय मे विशेषरूप से द्यूत-दुर्ललित (विजयश्री प्राप्त करने की इच्छा के कारण विचार-हीन) है परन्तु राजवश को कलङ्कित करनेवाले दूसरे चतुरङ्गो (शतरञ्ज व पासो की क्रीडाओ) मे चर (दूसरे स्थानो मे घोडे आदि का प्रवेश) व गम (दूसरे स्थान मे घुसना एव गतिबन्ध (दूसरे शतरञ्ज सबधी घोडे आदि को चारो ओर से घेरना) से विशेषरूप से द्यूतदुर्ललित (जुआ खेलने का अनिवारक) नही हे (जुआ खेलने का त्यागी) है। जो सुदत्त महाराज चार समुद्ररूपी मणिमेखला-शालिनी पृथिवी रूपी स्त्री मे विशेषरूप से आसक्त है परन्तु दूसरी वेश्याओ मे, जो कि शरीर धर्म व धन को नष्ट करनेवाली है, आसक्त नही है।

जो सुदत्त महाराज ऐसी गर्वरूपी अग्नि से भयङ्कर शत्रुओ के, जो कि अनौखे सग्राम मे स्वीकार की हुई विजयरूपी वायु से वृद्धिगत हुई है और जो वीर योद्धारूपी कुटजो (शक्रतरुओ) के वन को भस्म करने मे दक्ष है, समस्त यशो के पान करने मे ही मद्यपी (नशेबाज) है परन्तु इसलोक व परलोक सबधी सुख को नष्ट करने मे गर्विष्ठ दूसरे मद्यो—शरावो—से मद्यपी नही है। जिस सुदत्त महाराज के सहसा जगत के ऊपर उपद्रव करने मे दैत्यप्राय मनुष्यो के लिए कठोर दण्ठ देने के चित्त-मनोरथ विशेषरूप से है, परन्तु भ्रकुटिलता के क्षेपमात्र से अपने अधीन हुए सेवको के लिए कठोर दण्ड देने के चित्त-मनोरथ नही है। जो सग्राम-क्रीडा मे विशेष उत्कण्ठित हुए शत्रुओ के प्रति सग्राम के लिए युद्धभूमि पर आने के अवसरो पर अति कठोर भाषण करने मे विशेष निपुण है परन्तु सामने देखने मात्र से विनययुक्त हुईं प्रजाओ के प्रति अति कठोर भाषण करने के व्यवहार मे निपुण नही है। जिसे समस्त पृथ्वीमण्डल का विनाश करने से उत्पन्न हुए भय से भयङ्कर शत्रुरूपी कालसर्पो से रक्षा किये हुए कीर्तिरूपी कुलधन के अपहार की विशेष लुब्धता है, परन्तु अपनी उन्नति मे स्नेह करनेवाले हितैषियो से सचय किये हुए प्रशस्त धन का अपहरण करने मे लुब्धता नही है। युद्धभूमि, हाथियो के पकडने की भूमि व हाथियो के पकडने की खाई, इनमे शत्रुरूप शल्लकी वृक्षो के भङ्ग का लोभ दिखाकर, जिस सुदत्त महाराज

अपरजनासाधारणेषु गुणमणिविभूषणेषु महानाग्रह, न पुनरितरेषु देहखेदावहेषूपलशकलनिवहेषु। निखिलजगन्मङ्गलविधानाऽमत्रेषु[1] [2]सच्चरित्रेष्वभीक्ष्ण रक्षणप्रयत्न, न पुन सर्वजनसाधारणाधिकरणेषु[3] प्राणेषु।

यस्य च सप्तसमुद्रमेखलावनिविलोकनजातकौतुकस्याभूदभिमुखीभाव शत्रूणा प्राभृतेषु, न शस्त्राणाम्। विग्रह[4] प्रणतिषु, नापकारमनीषायाम्। द्विधाभाव[5] सेवाकर्पटेषु[6], नोपचारकार्याणाम्[6]। पतन भृत्यभावेषु, न चामराणाम्। प्रसारण सर्वस्वार्पणेषु, नातपत्राणाम्। प्रबन्ध[7] कण्ठकुठारेषु, न मदविजृम्भितानाम्। [8]प्रतापावलम्बनमसहायसाहसादेशविधिषु, नैश्वर्यसभावनायाम्। आरोपण शिरसि प्रणामाञ्जलिषु, न धनुषि मौर्वीणाम्।[9]

के हाथियो के पकडने के महान् कौतूहल है, परन्तु चौर, गुप्तचर, पाश-समूह है आदि मे जिसके ऐसे दूसरे उपाय प्रघट्टक द्वारा जिसे हाथियो के पकडने से महान् कौतूहल नही है।

जिस सुदत्त महाराज का चित्त ससार पर्यन्त स्थिरतारूपी सुगन्धिवाले यशरूपी चन्दन के विलेपनो मे अभिलाषा-युक्त है किन्तु विनश्वर सुगन्धि से मनोज्ञ सबधवाले दूसरे सुगन्धि पदार्थो (चन्दनादि) मे अभिलाषा-युक्त नही है। दूसरे मनुष्यो मे न पाये जानेवाले ज्ञानादि गुणरूपी मणियो के आभूषणो मे जिसे प्रगाढ अनुराग है किन्तु शरीर मे खेद-जनक दूसरे पाषाण-खण्डो (रत्नादि) के समूहो मे प्रगाढ अनुराग नही है। समस्त लोक को आनन्दित करने के पात्र सदाचारो की निरन्तर रक्षा के लिए जिसकी चेष्टा है किन्तु समस्त प्राणियो मे साधारण रूप से पाये जानेवाले प्राणो की रक्षार्थ जिसकी निरन्तर चेष्टा नही है। सातसमुद्र रूपी करधोनी वाली पृथिवी को देखने के उत्पन्न हुए कुतूहलवाले जिस सुदत्त महाराज की शत्रुभूत राजाओ के उपहारो के ग्रहण करने मे सन्मुखता थी, न कि शस्त्रो के ग्रहण करने मे। जो नमस्कारो के करने मे विग्रह (अभिमुखीभूत) था, परन्तु अपकार करने की बुद्धि का विग्रह (विस्तार) नही करता था। जो सेवा करने मे कुटिल शत्रुओ के साथ द्विधाभाव (शत्रुता) करता था, परन्तु उपचार (प्रजापालन-आदि व्यवहार) कार्यो मे द्विधाभाव (चित्तवृत्ति के दो खण्ड करना—अस्थिरता) नही करता था अथवा उपचार (सेवनीय) शरणागतो का द्विधाभाव (विनाश) नही करता था। जिसके यहाँपर भृत्यभावो (भृत्यरूपी पदार्थो—सेवको) मे पतन (नम्रता) था परन्तु चमरो का पतन (विनाश) नही होता था। अर्थात्—निरन्तर चँवर ढोरे जाते थे। जिसका प्रसारण (विस्तार गुण) समस्त धनादि के अर्पण मे था परन्तु जिसके छत्रो का प्रसारण (निर्गमन—हटना) नही था अर्थात्—सदा छत्रधारी था। जो अभिमानी शत्रुओ के गलो पर [उनका मद चूर-खूर करने के लिए] कुठार का प्रबन्ध (प्रकृष्ट बन्धन) करता था परन्तु अहङ्कार के विस्तारो का प्रबन्ध (सबध) नही करता

---

१ 'निखिलजगन्मङ्गलविधायिषु' इति ह लि (क) प्रतौ पाठ।
२ अमत्राणि भाजनानि इति पञ्जिकाकार।
३ 'सर्वजनसाधारणेषु' इति ह लि (क) प्रतौ पाठ।
४ विग्रहोऽभिमुखीभूत 'विग्रहो युधि विस्तारे प्रविभागशरीरयो'।
५ शत्रूणामिति भाव पक्षे द्विखडकरण।
६ सेवाया कुटिलेषु। उपचारस्तु लञ्चाया व्यवहारोपचययो।
७ प्रकृष्टबन्धन शत्रूणा मानत्यजने गले कुठारस्य नाहकारस्य बधन।
८ असमर्थाना साहाय्यकरणे।
९ परिसख्यालकार। अस्य लक्षण तु एकत्र निषिध्यान्यत्र वस्तुस्थापन परिसख्या।

यस्य च निजप्रतापसपादितोत्सवभराया विश्वभरायामनन्यसामान्यमात्मैश्वर्यमवलोकमानस्य रथचमूचक्रचर्याचूर्णितनि शे षशैलमूलेषु हयानीकोद्रेकखरखुरोद्भूतधूलीपटलपूरितसकलपातालमूलेषु करटिघटाकराटोपविलुण्ठितसमस्तमहाट वीगहनेषु सुभटसैन्यदोर्दण्डदलितनिखिलसालवलनेषु द्विषद्विषयेषु पर कात्यायनीप्रतिमास्वेव दुर्गत्वमवतस्थे ।

एव तस्य कलिङ्गाधिपते सप्तधापयोराशिरत्नालकारपात्र कुलकलत्रमिवावनिवलय निहालयत [1] स्वभावादेव दयार्द्रहृदयस्य धर्मामृतरसास्वाददोहदविदूरितससारसुखोदयस्य 'समलकलश इवाय कायो बहिष्कृतयत्ननिर्णेजनोऽपि न जहाति निजा प्रकृतिम्, अत्याधानकाष्ठमिव देहिना भवदु खपरशुपाताय विषयोपसेवनमाधुर्यमिति विदन्तोऽपि कथमनया बहि प्रदर्शितापातसुन्दराडम्बरयावसानविरसया पासुलयेव श्रिया प्रतार्यन्ते मुग्धबुद्धय क्षोणीश्वरा'
इति परामशश्लथसाम्राज्यग्रहाभिनिवेशस्य पूतिपुष्पमिव केवल त्वचि मनोहर वर्णिनीजनम् वितर्कयत 'को नु खलु विश्वभरे

था। जो असमर्थो की साहसादेशविधि (सहायता करने) मे प्रताप (सैनिक व कोशशक्ति) का अवलम्बन (आश्रय-सहारा) करता था, परन्तु अपने ऐश्वर्य (राज्य विभूति) की सभावना (प्रसिद्धि) मे प्रताप (प्रकृष्ट सन्ताप का प्रकाशन) नही करता था। अर्थात्—किसी को सन्तापित नही करता था। जो मस्तक पर नमस्कार अञ्जलियो को आरोपण (धारण) करता था परन्तु धनुष पर डोरियो का आरोपण—स्थापन (चढाना) नही करता था। जिस सुदत्त महाराज के, जो कि अपने प्रताप से प्राप्त किये हुए उत्सवो की अधिकतावाली पृथिवी पर अपनी अनोखी राज्यविभूति को देख रहा था, ऐसे शत्रुदेशो मे, केवल कात्यायनी (पार्वती—दुर्गा) की मूर्तियो मे ही दुर्गत्व (दुर्गापन-पार्वतीपन) स्थित था, परन्तु शत्रुदेशो मे दुर्ग (किले) नही थे।

जिनमे (शत्रुदेशो मे) रथ-सेना के पहियो के सचार से समस्त पर्वतो के मूल (नीचे के भाग) चूर-चूर किये गए है। जिनमे घोडो की सेनाओ की अत्यन्त तीक्ष्ण टापो से उडी हुई धूली-समूह द्वारा समस्त पातालमूल (अधोलोक के नीचे भाग) पूरित (व्याप्त) किये गए है। जिनमे हाथियो के समूह की सूँडो के विस्तार से समस्त विशाल अटवियो के वृक्ष-समूह उखाडे गए है और जिनमे वीर सैनिको के भुजारूपी दण्डो से समस्त प्राकारो (कोटो) के घुमाव तोडे गए है। प्रसङ्गानुवाद—अथानन्तर 'रत्नशिखण्ड' ने कहा—हे नवीन अपराधो के पात्र 'कन्दलविलास' विद्याधर! एक समय राजदरबार मे स्थित हुए उस ऐसे कलिङ्ग देशाधिपति सुदत्त महाराज के समक्ष, जो सात समुद्ररूपी रत्नमयी करधोनी के पात्र पृथिवीमण्डल का वैसा प्रतिपालन कर रहा था जैसे रत्नाभरण-विभूषित कुलवधू प्रतिपालन की जाती है। स्वाभाविक दया से सरस हृदयवाले जिसने धर्मरूपी अमृत के रसास्वादन की उत्कट अभिलाषा के कारण सासारिक सुखो का उदय दूर कर दिया है। जिसका साम्राज्यरूपी ग्रहाभिनिवेश (भूतपिशाच की लीनता) निम्नप्रकार के उत्कृष्ट विचार से शिथिल हो गया है। 'यह शरीर गूथ (मल) से भरे हुए घटसरीखा है, जो कि बाह्य स्नानादि प्रयत्नो द्वारा प्रक्षालन किया हुआ भी, अपना स्वभाव (अपवित्रता) नही छोडता। विषयो के भोग की मधुरता प्राणियो के ऊपर वैसी सासारिक दु खरूपी परशु के पातन (गिराने) के निमित्त है जैसे अधस्तनकाष्ठ (लकडी के ऊपर रखी हुई लकडी) परशु के पातन के निमित्त होता है। इस प्रकार जानते हुए भी मूढबुद्धिवाले राजा लोग व्यभिचारिणी स्त्री-सरीखी इस राज्यलक्ष्मी द्वारा, जिसने अनुभव काल मे बाह्य मनोज्ञ आडम्बर प्रकट किये है और जो परिणाम (उत्तरकाल) मे विरस (दु ख देनेवाली) है, किस प्रकार ठगाए जाते है?

इसी प्रकार जो 'स्त्रीजन को सडे हुए कूष्माण्डफल-सरीखा केवल त्वचा से मनोज्ञ प्रतीत होनेवाला' विचार रहा है एव निम्नप्रकार के निर्दोष उपदेश से जिसका मोहरूपी जाल छिन्न भिन्न किया जा रहा है— 'समस्त विश्व का भरण-पोषण करनेवाले राजाओ मे निश्चय से कौन ऐसा राजा है? जो यमराज के नगर मे

---

१ निहलन्ति लिखडति ? मन्त्र्यादय कर्षका खेटयन्ति तान् राजा प्रयुड्क्ते—'प्रतिपालयत' इत्यर्थ ।

प्रकटाकृतिषु प्रासादशिखरेषु, क्षितीश्वरेष्विव राजहसोपसेव्यमानकोशेषु पौष्करेयकाननेषु, प्रफुल्लकमलकाननमधुपानमत्त इव मन्दमन्दसचारिणि प्रवाति वैभातिके मरुति, प्रत्यावृत्तेषु च दत्तदक्षिणेषु द्विजेष्विव राजकुलाना सेवावसरेषु कृतास्थानस्य प्रविश्य तलवर परिमुषितनगरनापितप्राणद्रविणसर्वस्वमेकमैकागारिकमानीयादर्शयत् । स राजा तमवलोक्य धर्मस्थीयाना मुखानि व्यलोकिष्ट । धर्मस्थीया —देव, अनेन मलिनात्मना मलिम्लुचेनाद्वितीय साहसमनुष्ठितमेक तावद्रात्रिर्मुषितान्यच्च सुसुप्तमनुष्यहिंसा कृता । तदस्य पाटच्चरस्य चक्रीवदारोहणोच्छिष्टशालाजिरराजिबन्धविडम्बनपूर्वकश्चित्रो वध कर्तव्यो यथाय च नक्षत्रवाणिज्यो दशभिर्द्वादशभिर्वा दिवसैरसून्विसृजति' ।

राजा स्वगतम् 'अहो कष्ट खलु प्राणिना क्षत्त्रगोत्रेष्वयमाविर्भाव , यतो यदि न्यायनिष्ठुरतया क्षोणीश्वरा क्षितिरक्षासु दक्षन्ते तदावश्य पापोपनिपात परलोकक्षतिसपातश्च । तदुक्तम्—'नरकान्त राज्य बन्धनान्तो नियोग ' इति ।

अथ न दक्षन्ते वर्णाश्रमव्यवस्थाविलोप कापुरुषतोल्लापश्च ।

तथाहि । क्षीयेताय क्षणाल्लोक क्षतरक्ष क्षितीश्वरै । लक्ष्मीक्षय क्षये तस्य किं राजत्व च जायते ।।५२।।

जब कमल वन वैसे हस पक्षियो द्वारा सेवन किये जा रहे कोश (मध्य भाग) वाले थे जैसे राजालोग राजहसो (सामन्तराजाओ) द्वारा सेवन किये जा रहे कोश (धन-सपत्ति या राजखजाना) वाले होते है और जब प्रात कालीन वायु मन्द मन्द सचार कर रही थी, इससे ऐसी प्रतीत होती थी—मानो—प्रफुल्लित कमलवनो का मधुपान (पुष्परस या मद्यपान) करने से मत्त—उन्मत्त हुई है। जब सामन्त राज-समूह की सेवाओ के अवसर वैसे प्रत्यावृत्त (व्यतीत) हो रहे थे जैसे जिन्हे दक्षिणा (दान) दी गई है, ऐसे ब्राह्मण [सन्तुष्ट हुए] प्रत्यावृत्त (वापिस जानेवाले) होते हैं। तदनन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने उस चोर को देखकर [समुचित न्याय करने के हेतु] धर्मस्थीयो[1] (अपराधानुकूल दडव्यवस्था करनेवाले धर्माधिकारियो) के मुखो की ओर दृष्टिपात किया। तब धर्माधिकारियो ने कहा—हे राजन् ! इस पापी चोर ने अनोखा या बेजौड साहस (लूटमार, हत्या व बलात्कार-आदि कुकृत्य) किया है। क्योकि एक तो इसने रात्रि भर चोरी की और दूसरे सोये हुए मनुष्य की हत्या कर डाली। अत इस पाटच्चर[2] (चोर) का गधे पर चढाना व जूँठे सकोरो की श्रेणी बाँधने की विडम्बना (दु ख) पूर्वक ऐसा चित्र वध करना चाहिए, जिससे यह, दश या बारह दिनो मे प्राण-त्याग कर देवे ।

अथानन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने अपने मन मे निम्नप्रकार विचार करते हुए निश्चय किया। 'आश्चर्य है निस्सन्देह प्राणियो की क्षत्रियवशो मे यह उत्पत्ति कष्टप्रद है' क्योकि यदि राजालोग न्याय की उग्रता से पृथिवी की रक्षार्थ हिसा करते है ता निश्चय से उन्हे पाप का आगमन व परलोक (स्वर्गादि) की हानि का प्रसङ्ग होता है। क्योकि नीतिकारो ने कहा है—'राज्य अन्त मे नरक का कष्ट देता है और राज्याधिकार अन्त मे बन्धन का कष्ट देता है।' और यदि राजा लोग न्याय की उग्रता से पृथिवी की रक्षार्थ हिंसा नही करते (अन्यायियो को दण्डित नही करते) तो वर्णो (ब्राह्मण-आदि) व आश्रमो (ब्रह्मचारी-आदि) की मर्यादा (सदाचार) नष्ट होती है। एव उनके ऊपर कायरता का आक्षेप होता है। उक्त बात को कहते है—यह लोक (पृथ्वीमण्डल) राजाओ द्वारा की हुई रक्षा से रहित होने से क्षण भर मे नष्ट हो जाता है और लोक के नष्ट हो जाने पर सम्पत्ति नष्ट हो जाती है और सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर राजापन कैसे रह सकता है ?॥ ५२ ॥

---

१. तदुक्त—सर्ववर्णाश्रमाचारविचारोचितचेतस ।
दण्डवाचो यथा दोष धर्मस्थीया प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

२. एकागरिक-मलिम्लुच-पाटच्चर नक्षत्रबाणिजका चौरपर्याया.—

तदसाध्यव्याधिपरिगृहीतदेहवदस्य राज्यस्य परित्याग एव स्वास्थ्य नान्यथा' इत्यवधार्य ।

एषोऽह मम कर्म शर्म हरते तद्बन्धनान्यास्रवैस्ते क्रोधादिवशा प्रमादजनिता क्रोधादयस्त्वव्रतात् ।
मिथ्यात्वोपचितात्ततोऽस्मि सतत सम्यक्त्ववान्सयमी दक्ष क्षीणकषाययोगतपसा कर्तेति मुक्तो यति ॥५३॥

इति च सुभाषितमास्वनिते निधाय, गतेषु कतिपयेषु गणरात्रेष्वनुजस्य राज्यश्रिय समर्प्य, प्रतिपन्नजिनरूपोचिताचरणश्चतुर्थमाश्रममशिश्रियत् ।

अस्तीदानी तस्यामेवैकानस्याममरमिथुनमान्यमानमणिमयकूट सहस्रकूट नाम निजमहिमावधीरितामरावती-वसतिर्वसति , या नयनीतिरिव नवभूमिका, योगस्थितिरिव विहितवृषभेश्वरावतारा, साख्यजनतेव कपिलतालयशालिनी,

---

अत इस राज्य का त्याग ही वैसा श्रेयस्कर है जैसे असाध्य व्याधियो से चारो ओर से ग्रहण किये गये शरीर का त्याग श्रेयस्कर होता है। अन्यथा (यदि राज्यश्री का त्याग नही किया जाता) तो यथार्थ सुख प्राप्त नही हो सकता।

तदनन्तर प्रस्तुत सुदत्त महाराज ने अपने मन मे निम्न प्रकार का सुभाषित श्लोक धारण किया। कर्म (ज्ञानावरण-आदि) मेरा आत्मिक सुख नष्ट करते है और कर्मबन्धन आस्रवो (कषायादि कर्मो के आगमन द्वारो) के कारण होते है। एव आस्रव, क्रोध, मान, माया व लोभरूप कषायो के अधीन है, और क्रोधादि कषाय, प्रमादो से उत्पन्न होते है तथा प्रमादो द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादि, मिथ्यात्व से वृद्धिगत हुए अव्रत (हिसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह) से होते है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ मै [उन कर्मबन्धनो के नष्ट करने के लिये) सम्यग्दृष्टि, सयमी, प्रमादरहित, कषायो का क्षय करनेवाला, धर्मध्यान व तपश्चर्या करनेवाला एव मोक्षमार्गी ऐसा दिगम्बर तपस्वी होता हूँ ॥५३॥

तत्पश्चात् उसने कुछ रात्रि-समूह के व्यतीत हो जाने पर अपने छोटे भाई के लिए राज्यलक्ष्मी समर्पण करके दिगम्बर मुद्रा के योग्य आचरण स्वीकार करते हुए मुनि-आश्रम मे प्रवेश किया। [हे 'कन्दल-विलास' नाम के विद्याधर !]

उसी उज्जयिनी नगरी मे देव-देवियो द्वारा पूजने योग्य मणियो के शिखरो वाली और अपनी महिमा से अमरावती (स्वगपुरी) के प्रासादो को तिरस्कृत करनेवाली सहस्रकूट नाम की वसति (प्रासाद या जिनमन्दिर) है। जो वैसी नवभूमिका या पाठान्तर मे नवभूका[1] (नवीन भूमि वाली) है जैसे नयो की नीति नवभूमिका[2] या नवभूका (नौ भेद वाली) होती है। जो वैसो विहित वृषभेश्वरावतारा[3] (वृषभ जिन के अवतरण वाली) है जैसे योगस्थिति[4] (नैयायिक व वैशेषिक के दर्शन) विहित वृषभेश्वरावतारा (शभु के अवतार वाली) होती है। जो वैसी कपि-लतालय-शालिनी[5] (वन्दरो व लतागृहो से सुशोभित) है, जैसे

---

१ 'नवभूका' इति ह लि सटि (ख) प्रतौ पाठ ।

२ नयनीतिर्नवविधा—नैगमस्त्रिविधो द्रव्यपर्यायोभयभेदेन, सग्रहव्यवहारादयश्च षड्भेदा ।
ह लि स टि प्रति (घ) से सकलित—

३. वृषभेश्वर. शभुरादितीर्थकरश्च ।

४ नैयायिक वैशेषिकप्रयोगा ।

५ कपिलदेवतालयेन शालते इत्येव शीला, पक्षे मर्कटै लतागृहैः शालिनी शोभमाना ।

अमरगुरुभारतीव निवारितपरलोकदर्शना, मीमासेव निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा, पिटकत्रयपद्धतिरिव योगाचार-गोचरा, महापुरुषमैत्रीव स्थिराधिष्ठाना, सत्सचिवप्रयुक्तिरिव सुघटितसन्धि, अभिनवविलासिनीव सुकुतूहलविलोकना, कुचुमारविद्येव बहुविस्मयावहा, विजयसेनेव बाहुबलिविदिता, रूपगुणनिकेव सुपार्श्वगता, कुबेरपुरीव यक्षमिथुनसनाथा, नन्दनवनलक्ष्मीरिवाशोकरोहिणीपेशला, शभुसमाधिविध्वसवेलेव प्रकटरतिजीवितेशा, सुकविकृतिरिव चित्रबहुला, मुनि-

---

साख्यजनता कपिलता-लय-शालिनी (कपिल मुनि मे लय से होने वाली स्वरूप प्राप्ति से सुशोभित) होती है। जो वैसी निवारित परलोकदर्शना[1] (मिथ्यादृष्टियो के मतो को निवारण करने वाली) है जैसे अमरगुरुभारती (वृहस्पति का दर्शन) निवारितपरलोकदर्शना (परलोक (स्वर्गादि) की मान्यता को निराकरण करने वाली) होती है। जो वैसी निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा (नियोग—चरणानुयोगादिप्रश्न व दर्शन-विशुद्धि-आदि षोडश कारण भावनाओ के विस्तार को निरूपण करने वाली) है, जैसे मीमासा[2] (मीमासक-दर्शन), निरूप्यमाणनियोगभावनादिप्रपञ्चा (नियोग व भावनारूप वाक्यार्थ के विस्तार को निरूपण करने वाली) होती है। जो वैसी योग-आचार-गोचरा[3] (योग (आप्त, आगम व पदार्थो के यथार्थ ज्ञान से व्याप्त हलन चलनरूप आत्मप्रदेश) व आचार (सचित कर्मो के क्षय का कारण व भविष्यत् कर्मो के आगमन को रोकने मे कारण सयमधर्म) की पद्धति है, अथवा योग (धर्मध्यान व शुक्लध्यान) तथा आचार (सम्यग्चारित्र की पद्धति है। अर्थात्—जो धर्मध्यानी, शुक्लध्यानी व चारित्रनिष्ठ महर्षियो से व्याप्त है, जैसे पिटकत्रय[4]-पद्धति (धर्म, सघ या सज्ञा तथा ज्ञान ये बौद्ध-दर्शन मे पिटकत्रय है) योगाचार गोचरा (ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धो से माननीय) होती है। जो वैसी स्थिर-अधिष्ठाना (निश्चल आचार वाली या स्थान वाली) है, जैसे महापुरुषो की मित्रता स्थिराधिष्ठाना (चिरस्थायिनी) होती है। जो वैसी सुघटितसन्धि[5] (अच्छी तरह रची हुई मिलापवाली) है, जैसे प्रशस्त सचिव[6] (मन्त्री) की सन्धि-प्रयुक्ति (सामनीति का उपयोग) सुघटित सन्धि (अच्छी तरह से तैयार किये हुए मैत्री के विधानवाली) होती है। जो वैसी सुकुतूहल विलोकना (कौतुक-जनक दर्शनवाली) है जैसे नवीन वेश्या सुकुतूहलविलोकना (उत्तम नेत्रोवाली या कामी पुरुषो के लिए श्लाघनीय दर्शनवाली) होती है। जो वैसी बहुविस्मयावहा (विशेष आश्चर्य जनक पदार्थो (चित्रादि) को धारण करनेवाली) है, जैसे कुचुमार[7] विद्या (इन्द्रजालिया की कला) बहुविस्मयावहा (दर्शको के चित्त मे विशेष आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली) होती है।

जो वैसी बाहुवलिविदिता[8] (जहाँ पर बाहुवलिस्वामी केवली चित्र-लिखित) है, जैसे विजयसेना

---

१ बृहस्पति मते परलोको नास्ति, पक्षे परेषा मिथ्यादृष्टीना मतानि यत्र त्रायन्ते।

२ मीमासकमते नियोगभावनावाक्याथ, स्वपक्षे चरणानुयोगादिप्रश्न दशनविशुद्ध्यादिका भावना।

३ योग आप्तागमपदार्थयाथात्म्यज्ञानानुविद्धसपरिस्पन्दात्मप्रदेश, उपात्तागामिककर्मक्षयप्रतिबन्धहेतुराचार।
अथवा—योगे ध्याने द्वे, आचार तयो पद्धति, पक्षान्तरे तु योगाचार ज्ञानाद्वैतवादी।

४ धम सघ ज्ञानमिति पिटकत्रयं। अथवा धर्म सज्ञाज्ञानानि इति पिटकत्रय।

५ सन्धिर्योनौ सुरगाया नद्यागे श्लेषभेदयो। 'सन्धिश्लेषे' 'सन्धिर्नाविग्रहो यानमित्यमर'।

६ तदुक्त—सपत्तौ स्वामिन स्वस्य विपत्तीस्तदरातिषु य साधयति बुद्ध्यैव त विदु सचिव बुधा ॥ १ ॥

७ कुचुमार अथवा पाठान्तर मे कचुमार कुहकविद्योपाध्याय। ह० लि० सटिप्पण प्रतियो से सकलित—सम्पादक

८ बाहुवलीश्वर केवली च।

९. विजयो जये पार्थे विमाने विजयोमातसख्योस्तिथावपि।

मतगतिरिव चरणकरणानन्दिनी, भरतपदवीव विविधलयनाटयाडम्बरा, पुरदरपुरीव सन्निहितैरावता, हरपरिषदिवासीन-सौरभेया, शिशिरगिरिदरीव निलीनोपकण्ठकण्ठीरवा, मन्थानाचलतटीव रमोपशोभिता, स्त्रक्पण्यस्थेव प्रलम्बित-कुसुमशरा, सुरशैलाटनिरिव सविधविधुब्रध्नमण्डला, पाण्डयमुद्रेव शकुलियुगलाङ्किता, सच्छकुनसपत्तिरिव पूर्णकुम्भा-भिरामा, कैटभारातितनुरिव कमलाकरसेविता, समवसरणसभेव प्रसाधितसिहासना, अजडाशयानुगतापि जडनिधिमती,

(गौरी-पार्वती की सेना) बाहुवलिविदिता (श्रीमहादेव ईश्वर से अधिष्ठित) होती है। जो वैसी सुपार्श्वगता[1] (पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर से सुशोभित) है, जैसी रूपगुणनिका[2] (चित्रकर्म) सुपार्श्वगता (समीप म वृत्तविशेष वाली या चित्रलिखित चन्द्रसूय विम्ववाली) होती है। जो वैसी यक्षमिथुनसनाथा (चित्र-लिखित कुवेरो के जोडो से सहित) है जैसी कुवेरपुरी यक्षमिथुनसनाथा (यक्षजाति के देवो के जोडो (यक्ष-यक्षिणियो) से सहित) होती है। जो वैसी अशोकरोहिणी[3] पेशला (चित्र-लिखित अशोक राजा व रोहिणी रानी से मनोज्ञ) है, जैसे नन्दनवन-लक्ष्मी अशोक रोहिणी पेशला (अशोक वृक्ष व रोहिणी वृक्षो से मनोज्ञ) होती है। जो वैसी प्रकटरति-जीवितेशा[4] (जहाँपर प्रद्युम्नस्वामी चित्र-लिखित है) है जैसे [5]शभुसमाधिविध्वसबेला (रुद्र के ध्यान को विध्वस करने का समय) प्रकटरतिजीवितेशा (कामदेव को प्रकट करने वाली) होती है। जो वैसी चित्रबहुला[6] (चित्र-सृष्टिवाली) है, जैसे उत्तम कवि की काव्य-रचना चित्रबहुला (छत्र, मुरजवन्धादि की बहुलता-युक्त) होती है। जो वैसी चरणकरणानन्दिनी[7] (चरणानुयोग व करणानुयोग सबधी शास्त्रो से आनन्द देनेवाली) है जैसे मुर्निमतगति (नास्तिक-मत व कामसूत्र) चरण-करण-आनन्दिनी (चरण (भक्षण) व कर्ण (उत्फुल्ल विजृम्भादि) से आनन्ददायिनी) होती है। जो वैसी विविधलय-नाटयाडम्बरा (नाना भाँति के सगीत-लय के साथ नृत्य के विस्तार वाली) है, जैसे भरतमुनिपदवी (भरतमुनि का नाटयशास्त्र) विविधलयनाटयाडम्बरा नानाप्रकार की लयो के साथ नृत्य का विस्तार वर्णन करनेवाली) होती है।

अब शास्त्रकार पुरन्दर[9] इत्यादि विशेषणो से प्रस्तुत वसतिका की चित्रलिखित स्वप्नावलि (१६ स्वप्नो) का वर्णन करते है—जो वैसी सन्निहितैरावत्ता (चित्र-लिखित ऐरावत हाथीवाली) है जैसे इन्द्र-नगरी सन्निहितैरावता (निकटवर्ती ऐरावत हाथी-युक्त) होती है। जो वैसी आसीन सौरभेया (चित्र-लिखित शुभ्र वृषभ वाली) है जैसे हरपरिषद (श्री शिव की सभा) आसीन सौरभेया[10] (वृषभ-नदिया की) स्थिति वाली होती है। जो वैसी निलीनोपकण्ठकण्ठीरवा (समीप मे चित्रलिखित सिहवाली) है जैसे हिमालय की गुफा निलीनोयकण्ठ-

१ पार्श्वगत चित्रकर्मणि वृत्तविशेषा, तीर्थङ्करविशेषागत च।
२ चित्रकर्मणि समीपे चन्द्रसूर्यविम्बादिचित्रलिखिता ।
३ अशोकतरु, रोहिणीवृक्ष पक्षे अशोकरोहिणी यत्र चित्ररूप।
,, अशोकवृक्ष, राजा च रोहिणीवृक्ष राज्ञी च।
४ प्रकट कामो यत्र, पक्षे प्रद्युम्नस्वामी चित्रलिखितो यत्र।
५ रुद्र ।
६ चित्रसर्ग, पक्षे छत्रमुरजबन्धादि ।
७ चरण भक्षण करण उत्फुल्लविजृम्भादिक, चरणकरणे आगमविशेषौ।
८ चार्वाकमत कामशास्त्र वा।
९ पुरन्दर इत्यादिना चित्रालिखिता स्वप्नावली वर्णयति।
१० वृषभ ।

उन्मीलिताहिलोकापि सकलजनोपभोग्या, अहोमशालापि प्रत्यक्षहुतहुताशना, नि स्पृहोपभोग्यापि समणिनिचया, विहित-मर्त्यावतारापि प्रदर्शितदेवालया।

कण्ठीरवा (समीपवर्ती सिहवाली) होती है। जो वैसी [1]रमोपशोभिता (चित्रलिखित लक्ष्मी से सुशोभित) है जैसे सुमेरु पर्वत की तटी[2] रमोपशाभिता (स्त्रियो से मण्डित) होती है। जो वैसी प्रलम्बितकुमुमशरा (चित्र-लिखित लटकी हुई पुष्पमालाओ वाली) है जैसे स्रक्पण्यसस्था (फूलमालाओ के बैचने का स्थान) प्रलम्बित कुसुमशरा (लटकी हुई फूल-मालाओ से युक्त) होती है। जो वैसी सविधविधुब्रघ्नमण्डला (समीप मे चित्र-लिखित चन्द्र व सूर्य मण्डलवाली) है जैसे सुमेरुपर्वत की तटी सविधविधुब्रध्नमण्डला (समीपवर्ती चन्द्र व सूर्य मण्डलवाली) होती है। जो वैसी शकुलियुगल अङ्किता (चित्र-लिखित मछलियो के जोडा वाली) है जैसे पाण्डुराजा की मुद्रिका (अगूठी) शकुलियुगल-अङ्किता[3] (मत्स्य चिह्नवाली) होती है। जैसे प्रशस्त शकुन-सम्पत्ति (लक्ष्मी) जल-पूर्ण घट के दर्शन से मनोज्ञ होती है वैसे ही जो चित्र-लिखित जल-पूर्ण घट के दर्शन से मनोज्ञ है। जैसे श्री विष्णु की शरीर-सम्पत्ति [4]कमलाकर-सेविता (लक्ष्मी के करकमलो से सेवा की हुई) होती है वैसे जो कमलाकर-सेविता (चित्र-लिखित सरोवर वाली) है। जैसे समवसरणसभा प्रसाधित सिंहासना (सिंहासन से अलङ्कृत) होती है वैसे जो प्रसाधित सिहासना (चित्र-लिखित सिहासन से मण्डित) है[5]।

अब विरोधाभास अलङ्कार से शेष स्वप्नावली का निरूपण करते है—जो अजडाशय-अनुगता[6] (चतुर अभिप्रायवाली) होकर के भी जड निधिमती (मूर्खता की निधि) है। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जो चतुर अभिप्राय से युक्त होगी, वह मूर्खता की निधि कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि श्लेषालकार मे ड और ल एक समझे जाते है, अत जो अजलाशय-अनुगता (तालावरूप नही) है और अपि (निश्चय से) जलनिधिमती (चित्र-लिखित समुद्र-युक्त) है। जो उन्मीलिताहिलोका[7] (प्रकट हुए सर्प-समूहवाली) होकर के भी सकलजनोपभोग्या (समस्तजनो द्वारा सेवन करने योग्य) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जहाँ पर साँपो का समूह प्रकट होगा वहाँ पर समस्त जन कैसे निवास कर सकते है? इसका परिहार यह है कि जो उन्मीलित अहिलोका (प्रकट हुए चित्र-लिखित नागेन्द्र-भवन वाली) है एव जो निश्चय से समस्त मानवो द्वारा सेवन करने योग्य है। जो अहोमशाला (होमशाला न) होकर के भी प्रत्यक्षहुत[8] हुताशना (जहाँ पर प्रत्यक्ष मे अग्नि मे हवन किया गया है, ऐसी) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो होमशाला नही है, वहाँ पर प्रत्यक्ष मे अग्नि मे हवन करना कैसे सभव हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जो सहस्रकूट मन्दिर होने के कारण होमशाला नही है एव निश्चय से जो प्रत्यक्ष हुतहुताशना (प्रत्यक्ष प्रतीत हुई चित्र-लिखित अग्नि-ज्वाला वाली) है। जो नि स्पृह-उपभोग्या (कामना-शून्य या सासारिक बन्धन-मुक्त साधु-पुरुषो द्वारा सेवन करने योग्य) होकर के भी समणिनिचया[9] (रत्नराशियो से युक्त) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो नि स्पृह साधुपुरुषो द्वारा सेवन योग्य होगी, वह रत्नराशि से युक्त कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि जो

---

१ रमा लक्ष्मी स्त्री च। २ तटी—कटणी।

३ पाण्डुराज्ञ मुद्रिकाया मत्स्यचिह्न भवति।

४ लक्ष्मीहस्त, पक्षे सरोवर चित्रे लिखित।

५ श्लेषोपमालकार।

६ दक्षाशयप्राप्ता। समुद्र।

७ प्रकटितनागालया। ८. दत्ता लिखिता अग्निज्वाला।

९ लिखितरत्नसमूहा—रत्नराशि लिखिता।



यत्र चाभिषेकसलिलेषु कलुषता, मलयजेषु जडघर्षणम्, अक्षतेषु मुशलाभिघात , स्रक्पुष्पेषु गुणविमुखता, चरुषु रससंकर , प्रदीपेषु मलिनोद्गार , धूपधूमेष्ववसानवैरस्यम्, फलस्तबकेषु पलाशोपरोध , कुसुमाञ्जलिषु विनिपात , स्तुतिषु परलोकप्रार्थनम्, जपेषु गूढमन्त्रप्रयोग , प्रसख्यानेषु देहसन्नता, अगुरुदहनशालाजिरेषु मलीमसमुखत्वम्, मुनिषुधर्मगुणविजृम्भणम्,

---

नि स्पृहो (कामना-शून्य महापुरुषो) द्वारा सेवनीय है और निश्चय से जो समणिनिचया (चित्र-लिखित रत्न-राशि-युक्त) है और जो विहित-मर्त्य-अवतारा (मनुष्यो के आगमन वाली) होकर के भी प्रदर्शित देवालया (देवो का स्थान प्रदर्शित करनेवाली) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि जो मनुष्यो का आगमन स्थान होगा वह देवो का स्थान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो विहितमर्त्यावतारा (मनुष्यो के आगमन वाली) है और निश्चय से जो प्रदर्शितदेवालया[1] (चित्र-लिखित स्वर्ग-विमान को प्रदर्शित करनेवाली) है[2]।'

जहाँ पर कलुषता[3] (कर्पूर-आदि की मिश्रता) अभिषेक सबधी जलो मे थी परन्तु मनुष्यो के हृदयो मे कलुषता (राग) नही थो। जहाँ पर मलयागिर चन्दनो मे जडघर्षण (श्लेष मे ड और ल का अभेद है, अत जल-घर्षण—जल मे पीसना) था परन्तु मनुष्यो मे जड-घर्षण (जडता--मूर्खता से कूटे जाने का कष्ट) नही था। जहाँपर मुशलाभिघात (मूसलो से कूटना) चॉवलो मे था परन्तु मनुष्यो मे मुशलाभिघात (अनैतिक प्रवृत्ति से मूसलो द्वारा दण्डित किया जाना) नही था। जहाँ पर पुष्पमाला के पुष्पो मे गुणविमुखता (तन्तु-गुम्फिता) थी परन्तु मनुष्यो मे गुण-विमुखता (ज्ञानादि गुणो से विमुखता--पराङ्मुखता) नही थी। जहाँ पर रससकरता[4] (माधुर्य-आदि रसो की मिश्रता) चरुद्रव्यो (मोदकादि नैवेद्य पदार्थों) मे थी परन्तु मनुष्यो के हृदयो मे रससकरता (राग) नही थी। जहाँ पर मलिनोद्गार[5] (कृष्ण कज्जल का वमन) दीपको मे था, परन्तु मनुष्यो के हृदयो मे मलिनोद्गार (दोषो का उदय) नही था। जहाँ पर अवसान वैरस्य (अन्त मे विरसता) धूप के धूमो मे था परन्तु मानवो मे अवसान वैरस्य (मृत्यु के अवसर पर पीडा) नही था अथवा अकाल मृत्यु का कष्ट नही था। जहाँपर [6]पलाशोपरोध (पलाशो—पल्लवो से सहित) फलो के गुच्छो मे था। अर्थात्—जहाँपर फलो के गुच्छे कोमल पत्रो से मण्डित थे एव जहाँपर मानवो मे भी पलाशोपरोध (राक्षसो का निवारण) था। अर्थात्—जहाँ पर मनुष्यो मे कोई भी मासभक्षी नही था।

जहाँ पर विनिपात[7] (अवपात—नीचे भूमि पर गिरना) पुष्पाञ्जलियो मे था परन्तु मनुष्यो मे विनिपात (दैवत-व्यसन—कुभाग्योदय से उत्पन्न होनेवाला आकस्मिक कष्ट) नही था। जहाँ पर परलोक-प्रार्थन (स्वर्गलोक की इच्छा) स्तुतियो मे था परन्तु मनुष्यो के हृदयो मे परलोक-प्रार्थन (शत्रुता की भावना) नही था। जहाँ पर गूढमन्त्र[8]-प्रयोग (एकान्त मे मन्त्रो का उच्चारण) जपो मे था परन्तु मनुष्यो

---

१ स्वर्गविमाना।

२ विरोधाभासालकार —ह० लि० सटि० (ख) प्रति से सकलित—सम्पादक

३ कर्पूरादिमिश्रितत्वात् मिश्रता, न तु हृदयेषु राग ।

४ मिश्रता, न तु हृदयेषु राग ।

५ 'मलिन कृष्णदोषयोर्मलिनो रज स्वलायाम्'।

६ राक्षसनिवारण, मासभक्षी कश्चिन्नास्ति पक्षे पत्रसहिता फलगुच्छा वर्तन्ते। ह० लि० (ख) प्रति से सकलित—

,, 'पलाशो राक्षस पल्लवश्च' यश०-पञ्जिका से—सकलित

७ विनिपातस्तु दैवत व्यसनमवपातश्च।

८ गूढ रह सवृतयो देवादिसाधने वदागे गुप्तवादे च।

प्रसूनोपहारेषु शिलीमुखसपात, पटहेषु कराहति, नमसितेषु पदबन्ध, रङ्गवल्लिषु परभागकल्पनम्, यतिचरित्रेषु विग्रहदण्डश्रुति, सोपानेषु विषमता, देहलीषु लङ्घनापराध, सुपाटीषु करग्रहणम्, अररेषु द्विधाभाव,-शास्त्रेषु परदूषणोपश्रवणम्, उपन्यासयोग्यासु विगृह्यवाद, पर्वक्रियासु वर्णसकीर्णता, विनेयविनयनेषु भ्रुकुटिकरणम्, वातायनेषु बहुमार्गता, केतुकाण्डेषु स्वभावस्तब्धत्वम्, वैजयन्तीषु परप्रणेयता, मणिवितानेषु गुणनिगूहनम्, रजनिमुखेषु गलग्रहोपदेश, शकुनावासेषु विलयविलसितम्, लिपिकरेषु वाञ्जनोपार्जनम् ।

मे गूढमन्त्र प्रयोग[1] (गुप्तमन्त्रो से प्रयोग—उच्चाटन-आदि कर्म करना) नही था। जहाँ पर धर्मध्यानो मे देह-सन्नता (शारीरिक कष्ट) थी परन्तु मनुष्यो मे देहसन्नता[2] (शारीरिक पीडा) नही थी। जहाँ पर मलीमसमुखता (कृष्णता—मलिनता) अगर, अग्नि व गृहाङ्गणो मे थी परन्तु मानवो के हृदयो मे मलीमसमुखता (दुष्टता) नही थी। जहाँ पर धर्मगुण-विजृम्भण[3] (धर्म—प्राणिरक्षा-आदि व गुण-विजृम्भण—ज्ञानादि प्रशस्त गुणो का विस्तार) मुनियो मे था परन्तु योद्धाओ मे धर्मगुणविजृम्भण (धनुष पर डोरी का आरोपण) नही था। जहाँ पर शिली-मुखसपात[4] (भौरो का पतन) पुष्पोपहारो मे था, परन्तु सग्राम मे शिलीमुख-सपात (वाणो का प्रक्षेप) नही था। जहाँ पर कराहति (हस्तो से ताडन) मृदङ्गो या नगाडो मे थी, परन्तु मनुष्यो मे कराहति (विशेष राज्य टेक्स से पीडन) नही थी।

जहाँ पर पदबन्ध (श्लोको के चरणो का गुम्फन) नमसितो[5] (नमस्कारो) मे था परन्तु मनुष्यो मे पदबन्ध (अन्याय करने से पैरो का बन्धन) नही था। जहाँ पर परभाग[6]कल्पन (शोभा करना) रङ्गवल्लियो (नाट्य-भूमियो या चित्र-रचनाओ) मे था, परन्तु जहापर पर-भागकल्पन (शत्रुओ को धन की प्राप्ति या शत्रुओ का उदय) नही था। जहाँ पर विग्रहदण्डश्रुति (शारीरिक कष्ट-सहन की प्रतिज्ञा) मुनियो के चरित्र-पालन मे थी परन्तु मानवो मे विग्रहदण्डश्रुति (युद्ध और तीक्ष्ण दण्ड विधान का श्रवण) नही था। जहाँ पर विषमता (असमानता) सीढियो मे थी, परन्तु मनुष्यो मे विषमता नही थी। जहाँ पर लङ्घनापराध (लाँघने का दोष) देहलियो मे था परन्तु मनुष्यो मे लङ्घनापराध (कडाका करने या तिरस्कार करने का दोष) नही था। जहाँ पर कर-ग्रहण (हाथो से उठाना व धरना) पुस्तको मे था परन्तु मनुष्यो मे कर ग्रहण (दान-ग्रहण) नही था। जहाँ पर द्विधाभाव (खोलना) अररो[7] (किवाडो) मे था, परन्तु जनता मे द्विधाभाव (वैमनस्य) नही था। जहाँ पर दूषणोपश्रवण (श्रुतिकटु व अश्लील-आदि काव्य दोषो) का श्रवण काव्य-शास्त्रो मे था परन्तु मनुष्यो मे परदूषणोपश्रवण (दूसरो की अपकीर्ति या अपवाद की प्रतिज्ञा) नही था। जहाँ पर विगृह्यवाद (समासपूर्वक कथन) उपन्यास-योग्या[8] मे था। अर्थात्—नीतिशास्त्रो या वाक्यो का अभ्यास समास पूर्वक होता था परन्तु मनुष्यो मे विगृह्यवाद—सग्रामवाद नही था। जहाँ पर वर्णसकीर्णता[9] (स्तुतियो की मिश्रता) पर्वक्रियाओ (उत्सव-दिनो) मे थी परन्तु मानवो मे वर्णसकरता नही थी। जहाँ पर भ्रुकुटि-करण (भोहो का चढाना) शिष्यो की शिक्षाओ मे था परन्तु मनुष्यो मे युद्ध-निमित्त भ्रुकुटि चढाना

---

१ 'प्रयोग कार्मणे पुसि प्रयुक्तौ च निदर्शने' इति विश्व । ,, 'गूढ रहसि गुप्ते च' इति विश्व ।
२ पीडा। ३ न तु सुभटेषु।
३ धर्म स्यादस्त्रिया पुण्ये धर्मो न्यायस्वभावयो । उपमाया यमाचारवेदान्तेऽपि धनुष्यपि ॥१॥ इति विश्व ।
गुणो रूपादिसत्त्वादिर्विवादिहरितादिषु । सूदेऽप्रधाने सन्ध्यादौ रज्जौ मौर्व्यां वृकोदरे इति विश्व ।
४ भ्रमर न तु सग्रामे वाणा । ५ नमस्कारेषु।
६ शोभा, न तु परेषा शत्रूणा द्रव्यभाग । ,, परभाग शोभा, परोदय च । ७ कपाटेषु।
८ योग्यार्कयोषिति, अभ्यासे अभ्यासविषये समासपूर्ववाद न तु सग्रामवादः ,, योग्या अभ्यास ।
९ 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे' इत्यमर ।

यस्याश्च प्रतिदिवसं दिविजसभाजनै पौरजनैरुपहितानि भगवत स्वकीयपादमुद्रितजगत्त्रयपतेर्जिनपतेर्मज्जन-मङ्गलानिविन्दमानाया सकृत्प्रकान्ताभिषेकमहोत्सवलज्जित इव जातखर्वतरभाव पुरो निवसति मन्दर । अपि च ।

आर्याभेद —

यामेव प्रादुष्पदनल्पसकल्पनो विनेयजन । [दृष्ट्वा] विदूरभावादुत्प्रेक्षापक्षता नयति ॥५४॥

श्रीरेषा स्वर्गसिन्धो किमु पवनबलोल्लोलकल्लोलवारे स्वर्णच्छायाप्रतानस्तदनु विसरति व्योम्नि कोऽप्य प्रकार ।
दुग्धद्योतावदाता दिशि दिशि च तता कान्तयो भान्ति मन्ये स्थानेऽस्मिञ्जैनसौधावलिरुपरिलसत्केतुसौवर्णकुम्भा ॥५५॥

नही था। जहाँ पर बहुमार्गता (वायु-प्रवेश व उसके निस्सरण-हेतु अनेक मार्ग) वातायनो (खिडकियो-आदि) मे थी परन्तु वहाँ पर बहुमार्गता (अनेक मार्गशिर—अगहन मासो—की स्थिति) नही थी। जहाँ पर स्वभाव-स्तब्धत्व[1] (स्वाभाविक कठिनता) केतुकाण्डो (ध्वजादडो) मे था परन्तु मनुष्यो मे स्वभावस्तब्धत्व (स्वाभाविक निर्दयता) नही था। जहाँ पर परप्रणेयता[2] (दूसरो के द्वारा ले जाना) वैजयन्तियो[3]—ध्वजाओ—मे थी परन्तु वैजयन्ती—सेना—मे प्रेरणता नही थी। जहाँ पर गुणनिगूहन[4] (तन्तुओ का प्रेरण) मणि-वितानो—चँदेवो—मे था परन्तु वहाँ की जनता मे गुणनिगूहन (दूसरो के ज्ञानादि गुणो का आच्छादन) नही था। जहाँ पर गलग्रहोपदेश[5] (गाय वगैरह पशुओ का बन्धन) रजनीमुख (सध्या) मे था परन्तु मनुष्यो मे गलग्रहोपदेश—अप्रत्युपकार (कृतघ्नता अथवा आकस्मिक कष्ट) नही था।

जहाँ पर वि-लय विलसित[6] (पक्षियो के निवास का विलास) शकुनावासो[7] (घोसलो) मे था, परन्तु मनुष्यो मे विलय-विलसित (विनाश का विस्तार-अपमृत्यु) नही था। जहाँ पर [8]अञ्जनोपार्जन (अञ्जन—स्याही द्वारा धनोपार्जन) लिपिकरो[9] (लेखको) मे था। परन्तु मनुष्यो मे अञ्जनोपार्जन (कलङ्क का उपार्जन) नही था[10]।

जिस वसतिका के सामने, जो कि प्रत्येक दिन देवो-सरीखे नागरिक मनुष्यो से किये गए ऐसे भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक मङ्गल प्राप्त कर रही है, जो कि अपने चरण कमलो द्वारा तीनलोकके स्वामियो (इन्द्र-आदि) को अध कृत करने वाले है, शोभा के लिए कृत्रिम सुमेरु पर्वत स्थित है। जो ऐसा मालूम पडता है—मानो—अभिषेक मेरु [देवो से] केवल एक वार किये हुए मनोज्ञ अभिषेक महोत्सव से लज्जित हुआ ही लघु हो गया है।❀

विशेषता यह है प्रचुर कल्पनाएँ प्रकट करने वाला शिष्यजन जिस वसतिका को दूर से देखकर उसे निम्न प्रकार की उत्प्रेक्षाओ के पक्ष मे ले जाता है॥ ५४॥

जो (वसतिका) ऐसी मालूम पडती थी—मानो—वायु की शक्ति से चञ्चल हुईं तरङ्गो के जलवाली स्वर्गगगा की यह लक्ष्मी ही है। अथवा—मानो—कलश-सहित सुवर्ण की कान्ति का समूह ही है। अथवा—मानो—कोई यह प्राकार (कोट) ही आकाश मे विस्तृत हो रहा है। अथवा उसकी प्रत्येक दिशा मे विस्तृत

---

१ दडेषु कठिनत्व। २ प्रेरणता। ३ पताका वैजयन्ती स्यात्केतन ध्वजमस्त्रियामित्यमर।
४ गोपन प्रेरण आच्छादन। ५ गवादीना बन्धन, न तु अप्रत्युपकार।
६ वीना लय तस्य विलसित पक्षे न पुनर्विनाश। विलयो विनाश पक्षिसश्रयश्च।
„ लयस्तूयत्रयीसाम्ये सश्लेषणविनाशयोः। ७ शकुन शकुनिश्च पक्षी।
८ अञ्जनेनार्थोपार्जन, न तु कलङ्क 'अञ्जनं मषौ रसाञ्जने उक्तो सौवीरे'।
९. लेखकेषु। १० परिसख्यालकारः। ❀ उत्प्रेक्षालकार.।

किं च । मेरुस्पर्धिविवृद्धचवन्ध्यशिखरोल्लेखस्खलज्ज्योतिषो यस्या व्यस्यदुपान्तभित्तिविलसद्रत्नासरालत्विष ।
तुङ्गोत्सङ्गतमङ्गसङ्गविवशव्यापारसारादरा स्वर्गावासनिवासमानसरसा सजज्ञिरे नामरा ।।५६।।

या च

कि पुण्यपुञ्जनिकरस्त्रिजगज्जनाना लोकेष्वमात्किमु यश प्रथित जिनानाम् ।
इत्थ वितर्कवसतिर्वसतिर्विभाति विश्वभराम्बरदिशा प्रविभक्तभावा ।।५७।।

ततो महामुनिजनाराधनविनीतवनदेवतावितीर्णप्रसूनोपहारपरिसरत्परिमलोद्याने तदुद्याने यदा तेन त्रिजगतीस्तूयमानवृत्तेन भगवता **सुदत्तेन** सह तव विवादाविरोधस्य धर्मावबोधो भविष्यति, तदा भवतो भविष्यन्ति प्रेषणानवद्या पुनरपीमा विद्या, भविष्यति च भवानभ्रप्रभुप्रभाव' इत्युक्त्वा तदनूचानचरणार्चनोपचितागण्यपुण्यतया समस्तमहाभागभुवन-चक्रवर्ती स **विद्याधरचक्रवर्ती** जगामाभिलषित विषयम् । अम्बरचरोऽप्याजगामोज्जयिनीम् ।

इतश्च तस्यामेवोरगपुरीस्पर्धिन्या**मुज्जयिन्याम**दूरदेशवर्तिनि भाविभवदुरितकन्दैरिवास्थिवृन्दैरुत्पाण्डुरितबाहिरिके, मूर्तिमद्भि कर्मभिरिव चर्मभि किर्मीरगोपानसीपर्यन्ते, पुरोजन्मदु खानलज्वालाभिरिव वल्लूरमालाभि पाटलोटज-

---

हुई कान्तियाँ, जिनमे ऊपर शोभायमान होती हुई ध्वजाएँ व सुवर्णकलश वर्तमान है, ऐसी मालूम पडती थी—मानो—इस स्थान पर दुग्ध कान्ति-सी शुभ्र जिन मन्दिरो की श्रेणी ही शोभायमान हो रही है[1] ।। ५५ ।।

जिस वसतिका की, जिसकी सुमेरु के साथ स्पर्धा करने वाली वृद्धि मे सफल हुईं (विशेष ऊँची) शिखरो की रगड से नक्षत्र मण्डल पतित हो रहे है और जो कि गिरते हुए समीपवर्ती भित्तियो के रत्नो की प्रचुर कान्तियो से शोभायमान हो रही है, ऊँची मध्यभागवाली उपरितन भूमि के सङ्गम से पराधीन व्यापार से उत्तम आदर वाले देवता लोग स्वर्ग भूमि पर निवास करने के अभिमान से सरस (रसिक—प्रमुदित) नही हुए ।। ५६ ।।

पृथिवी, आकाश व दिशाओ का विभाग करनेवाली एव इस प्रकार कल्पना की आधार रूप जो वसतिका शोभायमान होती हुई ऐसी मालूम पडती थी—मानो—क्या तीन लोक के प्राणियो की पुण्यपुञ्ज की श्रेणी ही है । अथवा क्या तीन लोक मे अवकाश प्राप्त न करता हुआ (न समाता हुआ) जिनेन्द्रो का विस्तृत यश ही है[2] ।। ५७ ।।

अथानन्तर उस वसतिका के उद्यान (वगीचे) मे, जो कि प्रशस्त मुनिजनो की आराधना—सेवा—से नम्रीभूत वनदेवता द्वारा दिये हुए पुष्पोपहारो की फैलती हुई सुगन्धि से बहुल दीप्त है, जब तीन लोक द्वारा स्तुति किया जा रहे चरित्र वाले उस भगवान् (पूज्य) सुदत्ताचार्य के साथ, वाद-विवाद से विरोध-रहित हुए आपको (कन्दल विलास नाम के विद्याधर को) यथार्थ धर्म का ज्ञान होगा, तब आपकी पुन ये [विद्याधरोचित] विद्याएँ भी आकाश मे भेजने मे निर्दोष (समर्थ) होजायगी और आप भी विद्याधर के समर्थ प्रभाव से युक्त होजाओगे ।' ऐसा कह कर उस अनूचान (साङ्गोपाङ्ग द्वादश श्रुत के अभ्यासी 'मन्मथमथन' नाम के ऋषि) की चरण-पूजा से सचित किये हुए अगण्य—असख्यात पुण्य से समस्त भाग्यशाली धर्मात्मा लोक का चक्रवर्ती वह विद्याधरो का चक्रवर्ती ('रत्नशिखण्ड' नाम का) अभिलषित देश को प्रस्थान कर गया और 'कन्दल विलास' नामका विद्याधर भी उज्जयिनी नगरी मे आगया ।

अथानन्तर हे मारिदत्त महाराज ! इसी धरणेन्द्र नगरी से स्पर्धा करनेवाली उज्जयिनी नगरी के समीपवर्ती ऐसे चाण्डाल के निवास स्थान मे, जिसकी बाह्यभूमि (वाह्यप्रदेश) ऐसी हड्डियो की श्रेणियो से

१, उत्प्रेक्षालकार । २ उत्प्रेक्षालकार ।

च्छदिषि, तमस्काण्डखण्डापसदै रिव कङ्कच्छदैर्धूसराङ्गणे, कृष्णलेश्यापटलैरिव करटकुलैरुत्कलुषितगेहाग्रभागभुवि, निरयनिवासिभिरिव कुणपकलेवरेषु युद्धोद्धवान्धहृद्भि मृगव्यद्भिरुद्वेजनीयनिवेशे, जनगमावासोद्देशे, तस्मादमृतमति-महादेवीकृतपरापायप्रयोगाद्यशोमतिमहाराजवाजिविनाशोद्योगाच्च व्यतीत्य त वस्तकातराक्षभावमह सा च मदी-याम्बिका चरणायुधान्वये सहैव जन्म प्रत्यपद्यावहि। तदनन्तरमेव च वृषदशदष्ट्राक्रकचगोचरतयावयोर्लोकान्तरगिरि मातरि पुन काकतालीयकन्यायेन कृतकोणिकोत्कलिका, मालबालिकातीव जरत्कुटीरनिकटोत्कुरुटकुलायकोटरे चिराद-वहिता सती कर्णाभ्यर्णवर्णनिर्णयेनावा निगृह्य परिगृह्य च तनूद्भहनिर्विशेष पोषयामास।

व्यतीतस्वभावे च बालभावे कदाचिदसावासन्नविद्याधरीजनकेलिशर्मा **चण्डकर्मा** समाचरितस्वैरविहारस्तत्र श्वपचपाटकोपकण्ठभूमिकायामावामेकस्यातावसायिसुतस्य हस्तगतौ समालोक्यास्मद्रूपसपद्दालोकविस्मितमनस्कारस्तुष्टि-प्रदानोत्पादितदिवाकीर्तिनन्दनानन्द समादायानीय च **यशोमति**महाराजायादीदृशत्। राजाप्यावामवेक्ष्य जाताश्चर्य

शुभ्र वर्णवाली है जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—भविष्य जन्म सबधो पापो के अङ्कुर ही है। जिसकी गोपानसी[1] (गृहाच्छादन पटलैकदेश) का पर्यन्त भाग ऐसे चमडो से चित्रवर्ण युक्त है, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानो—मूर्तिमान कर्म ही है। जिसका तृणकुटी-पटल ऐसी शुष्क मास श्रेणियो से पाटल (श्वेत-रक्त) है, जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—पूर्वजन्म सबधी दु खरूपी अग्नि की ज्वालाएँ ही है। जिसका अङ्गण ऐसे जलकाक-पखो से धूसर (धुमेले रग का) है, जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानो—गाढ अन्धकार के निकृष्ट खण्ड ही है। जिसके गृह की अग्रभागभूमि, ऐसी काक-श्रेणियो से उत्कलुषित (विशेष मलिन) है, जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—कृष्णलेश्याओ (रौद्रपरिणामो) की श्रेणियाँ ही है। जिसका निवेश (प्रवेश-द्वार) ऐसे कुत्तो से भयङ्कर है, जिनके चित्त दुर्गन्धित मुर्दा-शरीरो मे युद्ध-गर्व से अन्धे हो रहे है, (अथवा पाठान्तर मे जो दुर्गन्धित मुर्दा शरीरो मे युद्ध करने मे उद्यमशील होते हुए ऊपर उछलने का प्रयत्न कर रहे है) जो ऐसे मालूम पडते थे—मानो—नरको मे निवास करनेवाले नारकी ही है, उस अमृतमति महादेवी द्वारा किये हुए द्वितीयवार मारण के प्रयोग से एव यशोमति महाराज सबधी धोडे के विनाश के उद्योग से उस बकरे की व भैसे की पर्याय व्यतीत करके [उपर्युक्त चाण्डाल के निवास स्थान मे] मैने (यशोधर के जीव ने) और मेरी माता (चन्द्रमति के जीव) ने मुर्गो के वश मे साथ-साथ ही जन्म धारण किया। पश्चात् हम दोनो की माता मुर्गी विलाव की दाढरूपी आरे का विषय होने से काल-कवलित हुई। पश्चात्—काकतालीय न्याय (अचानक सयोग) से क्रीडा करने मे उत्कण्ठा करनेवाली चाण्डाली ने, जो कि अत्यन्त जर्जरित झोपडी के निकटवर्ती मुर्गा पक्षी के घोसले के निकट चिरकाल तक एकाग्र स्थित हो रही थी, श्रोत्र समीपवर्ती शब्द के निश्चय से हम दोनो को निश्चय करके ग्रहण किया और पुत्र-सरीखा पालन किया।

अथानन्तर जब हमारी बाल्यावस्था व्यतीत हुई तब किसी अवसर पर स्वच्छन्द पर्यटन करनेवाले इस चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने, जिसको विद्याधरीजनो के साथ क्रीडा करने का सुख समीपवर्ती है, उस क्षुद्र चाण्डाल-की समीपवर्ती भूमि पर हम दोनो (मुर्गा-मुर्गी) को एक चाण्डाल-पुत्र के हस्तगत देखा। फिर हम दोनो की लावण्य सम्पत्ति के दर्शन से आश्चर्य-युक्त चित्त के विस्तार वाले उसने, सन्तोष (पारितोषिक) प्रदान से प्रस्तुत चाण्डाल-पुत्र को आनन्द उत्पन्न करके हम दोनो को ग्रहण किया और लाकर यशोमति महा-राज के लिए दिखाया। फिर राजा ने भी हम दोनो को देखकर आश्चर्यान्वित होते हुए निम्नप्रकार विचार करके चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल से कहा—'अहो आश्चर्य है 'इन पक्षियो की शारीरिक रचना (लावण्य सपत्ति) समस्त मुर्गो की श्रेणी मे श्रेष्ठतम व दूसरी (कहने के लिए अशक्य) व अनोखी ही है' हे चण्डकर्मा कोट्टपाल!

---

१ गोपानसी-गृहाच्छादनपटलैकदेश यश० प० से सकलित—सम्पादक।

'अहो, अपर एव कोऽप्यनयो शकुनयो सकलताम्रचूडकुलातिशायी शरीरसनिवेश ' इति विमृश्य 'चण्डकर्मन्, तिष्ठतु तावदेतत्तवैव हस्ते पत्त्ररथमिथुनम् । अहमिदानीमेवेम पुष्परथ सनाथीकृत्यैतत्कर्णीरथारूढविलासिनीजनपरिवृत' सहान्त - पुरेण पीठमर्दविटविदूषकनायकसामाजिकलोकानुगत सहस्रकूटचैत्यालयोपवने मकरध्वजपूजार्थ व्रजिष्यामि । तत्र पुनर्युद्ध- विनोदायेद प्रदर्शयितव्यम्' । चण्डकर्मा 'यथाज्ञापयति देव ' इत्यभिधाय निश्चक्राम । आजगाम च गैरिकरसारुणित- पटकुटीप्रभाजालविराजमानकुजराजीकमनेकोपकार्यापर्या★यपरिगतपर्यन्तावनीक तदुद्यानम् । तत्र च शकुनसर्वज्ञेन सूरिणा भागवतेन, नक्षत्रपाठकेन धूमध्वजेन द्विजातिना खन्यवादविदा हरप्रबोधेन जटिना खरपटौषधबुधेन सुगतकीर्तिना शाक्येन सह मुधा सबन्धसार्धुकस्कन्धावलम्बितपतगपञ्जर स चण्डकर्मा

मदनशरचित्रकान्तैर्वनदेवीपाणिपेशलप्रान्तै । अधरदलरागपटलश्लाघ्यैरिव काननश्रीणाम् ।।५८।।

'यह पक्षियो (मुर्गो) का जोडा तब तक तुम्हारे ही हस्तगत रहे' क्योकि मै इस पुष्परथ (यान विशेष) मे बैठ करके इस कर्णीरथ[1] (दोनो पार्श्वस्कन्धो से ले जाने योग्य पालकी विशेष) पर आरूढ हुई विलासिनीजनो (कामिनियो) से वेष्टित हुआ अन्त पुर की रानियो के साथ पीठमर्द[2] (कामशास्त्र के अध्ययन से मनोज्ञ बुद्धि- वाला पुरुष), विट (विकृत वेषधारक), विदूषक (मसखरा), नायक (विट-आदि वेषो का अधिकारी प्रधान पुरुष) व सामाजिक (सगीत-प्रवीण पुरुष) लोक से अनुगत हुआ सहस्रकूट चैत्यालय के उपवन मे कामदेव की पूजा-निमित्त जाऊँगा । पुन तुम्हे वहाँ पर युद्धक्रीडा के लिए इस पक्षी जोडे को दिखाना चाहिए ।' चण्डकर्मा कोट्टपाल ने कहा—'जैसी राजा सा० की आज्ञा है ।' ऐसा कहकर वहाँ से निकला और उक्त उपवन मे, जहाँ पर वृक्ष-श्रेणी गेरू के रस से रञ्जित हुई तम्बुओ की कान्ति-श्रेणी से शोभायमान है एव जिसकी समीपवर्ती भूमि अनेक उपकार्या[3] (मठमन्दिर-आदि राजसदन) की रचना से व्याप्त है, आया । वहाँ पर उस चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने, जो कि शकुनसर्वज्ञ (शकुन शास्त्रवेत्ता) नाम के विष्णुभक्त विद्वान् के साथ व 'धूमध्वज' नाम के ज्योतिषशास्त्र वेत्ता ब्राह्मण विद्वान् के साथ एव पृथिवी के मध्य गडे हुए धन को जाननेवाले हरप्रबोध नाम के जटाधारी तपस्वी के साथ तथा ठक्शास्त्र वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगतकीर्ति नाम के विद्वान् के साथ वर्तमान है और जिसने व्यर्थ के सबन्धवाले सार्धुक[4] (साढूभाई) के स्कन्ध पर पक्षियो का पिंजरा स्थापन किया है, ऐसे अशोक वृक्ष के मूल मे निवास करने वाले भगवान् (पूज्य) श्री सुदत्ताचार्य को देख कर मन मे निम्न प्रकार विचार किया ।

मनोज्ञ अशोक वृक्ष को देखिये, जो कि ऐसे पल्लवो से मनोज्ञ है, जो काम-वाणो-सरीखे चित्र व मनोज्ञ

---

१ 'कर्णीरथ प्रवहण डयन च सम त्रयम्' इत्यमर ,, कर्णिषु स्कन्धेषु रथ कर्णीरथ दीर्घोभयपार्श्वस्कन्धेनोह्यमानो रथ विमानाख्य ।

२ तथाहि—पीठमर्द स विज्ञेयो य कामागमचारुधी । स्त्रीप्रसादविनोदज्ञो विटो विकृतवेषभाक् ।। १ ।।
उपप्लवस्य य पात्र स विदूषक उच्यते । यो गोष्ठ्या विटवेषानामधिकर्ता स नायक ।। २ ।।
यो गीतवाद्यनृत्यज्ञो नैपथ्यविधिकोविद' । सामाजिक स बोद्धव्यो यश्च दक्ष कलागमे ।। ३ ।।
ह० लि० सटि० (ख) प्रति से सकलित—सम्पादक

३. उपकार्योपकारिका मठमन्दिरादि राजसदन ।

★ 'पर्यायोऽवसरक्रमे निर्माणे द्रव्यधर्मे च' ।

४ सार्धुक —निजभार्याभगिनीपति ।

तरुणीचरणास्फालनसङ्क्रान्तालक्तकद्रवोद्रेकम् । विकिरद्भिरिव पलाशैरशोकमालोकयत कान्तम् ॥५९॥ तन्मूलनिवासवन्त सुदत्तभगवन्त च । स्वगतम्—'अहो कथमनेन भगवता परलोकलाञ्छनकरावकाश कथनीयता नीत शरीरसभवाभिनिवेश क्लेश । यत ।

कार्श्य क्षुत्प्रभव कदन्नमशन शीतोष्णयो पात्रता पारुष्य च शिरोरुहेषु शयन मह्यास्तले केवले ।
एतान्येव गृहे वहन्त्यवनति यान्त्युन्नति कानने । दोषा एव गुणीभवन्ति मुनिभिर्योग्ये पदे योजिता ॥६०॥

तदलमत्र विकल्पपरम्परया । सभाषामहे तावदेन सयमिनम् । न खलु रत्नाकरकल्लोला इव प्रायेण भवन्ति मुनय शून्यशीला ।' तत समुपसद्य निषद्य च तत्र विवादाध्येषणोत्कर्षकलुषधिषण किलैवमाह सूरि —

'अहो विवेकशून्यानामात्मानर्थाश्रया क्रिया । न ह्यङ्गोद्वेगतो मुक्तिर्नृणा मरुकुरङ्गवत् ॥६१॥

यस्मादेष खलु

अकर्ता निर्गुण शुद्धो नित्य सर्वगतोऽक्रिय । अमूर्तश्चेतनो भोक्ता पुमान्कपिलशासने ॥६२॥

है एव जिनके प्रान्तभाग वनदेवी के कर-कमलो-जैसे कोमल है । अत जो ऐसे मालूम पडते है—मानो—वनलक्ष्मियो की ओष्ठदलसबधी लाली की श्रेणी से ही प्रशसनीय हुए है एव जो ऐसे प्रतीत होते है—मानो—युवती स्त्रियो के पादताडन से सक्रमण को प्राप्त हुए तरल लाक्षारस की प्रचुरता को ही फैक रहे है❀, ॥५८-५९॥

अहो आश्चर्य है कि कैसे इस पूज्य ने शरीरजनित अभिप्रायवाला व स्वर्गलोक के प्रतीक अवसरवाला शारीरिक कष्ट प्रशसनीयता मे प्राप्त किया है । क्योकि—भूख से उत्पन्न होने वाली शारीरिक दुर्बलता, कुत्सित या स्वल्प अन्न वाला भोजन, शीत व उष्ण के सहन करने की योग्यता, केशो मे कठोरता एव केवल पृथिवी तल पर शयन करना ये ही वस्तुएँ गृह पर अवनति को धारण करती है, अर्थात्—मानव की दरिद्रता की प्रतीक है परन्तु वन मे उन्नति को धारण करती है, अर्थात्—वन मे उक्त कष्टो को सहन करनेवाले साधु की महत्ता सूचित करती है, क्योकि साधु पुरुषो द्वारा योग्य स्थान (धर्म ध्यानादि) मे योजना किये हुए दोष ही गुण हो जाते है ॥६०॥ अत इस विषय मे सन्देह-समूह करने से पर्याप्त है । इसी चरित्रधारक साधु से हमलोग वार्तालाप करें । निस्सन्देह मुनिलोग प्राय करके समुद्रतरङ्गो-सरीखे शून्य स्वभाववाले (निरर्थक प्रयास करनेवाले) नही होते ।' फिर श्री सुदत्ताचार्य के समीप जाकर व स्थित होकर उनमे से सूरि (शकुन सर्वज्ञ नामक विष्णुभक्त विद्वान) ने, जो कि विवाद सबधी अध्येषण[1] (सत्कारपूर्वक व्यापार) की वृद्धि से कलुषित बुद्धिवाला है, इस प्रकार कहा—'अहो ! ज्ञान-हीन पुरुषो की क्रियाए (कर्तव्य) आत्मा को विपत्तियो का सङ्गम करानेवाली होती है, क्योकि निश्चय से जैसे मृगतृष्णा मे वर्तमान मृगो को शारीरिक कष्टो (निरर्थक दौडने) से सुख प्राप्त नही होता (उनकी प्यास शान्त नही होती) वैसे ही विवेक शून्य पुरुषो को भी शारीरिक कष्टो से मुक्ति प्राप्त नही होती[2] ॥ ६१ ॥

क्योकि निश्चय से यह आत्मा निम्नप्रकार है—साख्यदर्शन मे यह आत्मा अकर्ता (पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध न करने वाला), निर्गुण (सत्व, रज व तम-आदि प्रकृति के गुणो से रहित), शुद्ध (कमल पत्र सरीखी निर्लेप), नित्य (सकलकालकलाव्यापी--शाश्वत रहने वाली अविनाशी), सर्वगत (व्यापक–समस्त मूर्तिमान पदार्थों के साथ सयोग करने वाला), निष्क्रिय (एक देश से दूसरे देश को गमन करना रूप क्रिया से शून्य), अमूर्तिक (प्रकृति के रूप, रस, गन्ध व स्पर्श तथा शब्द गुणो से शून्य), चेतन (शान्त चैतन्य-युक्त) और भोक्ता (पुण्य-पाप कर्मो के सुख दु ख रूप फलो का भोगने वाला) है ॥ ६२ ॥

❀ उत्प्रेक्षालकार । १ 'सत्कारपूर्वो व्यापारोऽध्येषण ' सटिप्पण प्रति से सकलित— २ उपमालकार ।

स यदा दु खत्रयोपतप्तचेतास्तद्विघात कहेतुजिज्ञासोत्सेकितविवेकस्रोता स्फाटिकाश्मानमिवानन्दात्मानमप्यात्मान सुखदु ख-मोहावहपरिवर्तैर्महदहकारादिविवर्तै कलुषयन्त्या सत्त्वरजस्तम साम्यावस्थापरनामवत्या सनातनव्यापिगुणाधिकृते प्रकृते स्वरूपमवगच्छति, तदायोमयगोलकानलतुल्यवर्गस्य बोधवद्बहुधालकससर्गस्य सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसबन्ध-वैकल्य कैवल्यमवलम्बते । 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानमिति वचनात् । ततश्च—

अनुभवत पिबत खादत विलसत मानयत कामित लोका । आत्मव्यक्तिविवेकान्मुक्तिर्ननु कि वृथा तपत ॥६३॥'

धूमध्वजः—

'घृष्यमाणो यथाङ्गार शुक्लता नैति जातुचित् । विशुद्धयति कुतश्चित्त निसर्गमलिन तथा ॥६४॥

न चापरमिषस्ताविष समर्थोऽस्ति यदर्थोऽय तप प्रयास सफलायास स्यात् । यत ।

द्वादशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थिति पुरुष । प्रीति परा परस्परमनयो स्वर्ग स्मृत सद्भि ॥६५॥

वह आत्मा, जिसका चित्त तीन प्रकार के दु खो (आध्यात्मिक आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टो) से सन्तप्त है, अथवा पाठान्तर मे उपलुप्त है और जिसका विवेक (सम्यग्ज्ञान) रूपी जलप्रवाह समस्त दु खो को ध्वस करने के कारणो के जानने की इच्छा से वृद्धिगत हो रहा है, अथवा पाठान्तर मे जिसका विवेकरूपी जलप्रवाह उक्त दु खो के ध्वस करने के कारणो की जिज्ञासा व उत्कण्ठा से अङ्कित चिह्नित है, जब ऐसी प्रकृति का स्वरूप जानता है, जो कि स्फटिक मणि-सरीखी शुद्ध व आनन्द स्वरूप वाली आत्मा को महान्[1] (बुद्धि), अहँकार व १६ गण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्शनादि व पाँच कर्मेन्द्रिय (पायू, उपस्थ, वचन, पाणि व पाद एव मन तथा रूप, रस, गध, स्वर व स्पर्शतन्मात्रा) आदि विकारो से, जिनमे सुख, दु ख व मोह (अज्ञान) को धारण करनेवाले परिवर्तन पाये जाते है, कलुषित (मलिन—पापिष्ठ) कर रही है एव जो सत्व, रज व तम गुणो की समतारूप दूसरे नाम वाली है और जो, शाश्वत व्यापी गुणो पर अपना अधिकार किए हुए है तब यह आत्मा ज्ञान के ससर्ग-सरीखे प्रकृति के ससर्ग का त्याग करती है, जो कि लोहे के गोले और अग्नि के सयोग सरीखा है, (अर्थात्—जैसे गरम लोहे मे लोहा और अग्नि का सयोग सबध है वैसे ही प्रकृति व पुरुष का सयोग सबध है) ऐसे कैवल्य (चैतन्य रूप) को धारण करता है, जो कि समस्त ज्ञान व ज्ञेय (पदार्थ) के सबध से शून्य है, तब आत्मा का अपने चैतन्य स्वरूप मे अवस्थान (स्थिति) हो जाता है उसे मुक्ति कहते है। अत जब आत्मा और प्रकृति के भेद ज्ञान से ही मुक्ति होती है तब हे सज्जनो ! इच्छित वस्तु भोगो, पिओ, खाओ, मनचाही वस्तु के साथ विलास करो एव इच्छित वस्तु का सम्मान करो, क्योकि जब निश्चय से प्रकृति व आत्मा के भेद ज्ञान से मुक्ति होती है, तब क्यो निरर्थक तपश्चर्या करते हुए कष्ट उठाते हो ? ॥ ६३ ॥'

अथानन्तर 'धूमध्वज' नाम के ज्योति शास्त्र वेत्ता ब्राह्मण विद्वान् ने कहा—'जैसे घर्षण किया जाने-वाला अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता—शुभ्रता-को प्राप्त नही करता वैसे ही स्वभाव से मलिन चित्त भी किन कारणो से विशुद्ध हो सकता है ? अपितु नही हो सकता ॥ ६४ ॥ परलोक स्वरूप वाला ताविष[2] (स्वर्ग) प्रत्यक्ष प्रतीत नही है (अथवा पाठान्तर मे दूसरा लोक विशेष स्वर्ग प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नही है, जिसके लिये यह तपश्चर्या का खेद सफल खेदवाला हो सके । क्योकि—बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष की योग्य आयु वाला

---

१ महानित्युक्ते साख्यमते बुद्धिर्लभ्यते, तस्मादेवाहकारो जायते, अहकाराच्च षोडश प्रकृतयस्तथाहि—स्पर्शनादि पच बुद्धीन्द्रियाणि, पायूपस्थवच पाणिपादा मनश्चेति षट् कर्मेन्द्रियाणि, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, स्वरतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र चेति पचतन्मात्राणि । ह० लि० सटि० (ख) प्रति के आधार से सकलित—सम्पादक

२ ताविष स्वर्ग ।

ततश्च—

विहाय देहस्य सुखानि येषा दु खेन सौख्येषु मनीषितानि । ते कोरके कर्षणकारशीला शालीन्पुनर्नूनमुपाहरन्ति ॥६६॥'

हरप्रबोध —

'अन्यथा लोकपाण्डित्य वेदपाण्डित्यमन्यथा । अन्यथा तत्पद शान्त लोका क्लिश्यन्ति चान्यथा ॥६७॥

भगवतो हि भर्गस्य सकलजगदनुग्रहसर्गो द्विधागमस्य मार्गो दक्षिणो वामश्च । तत्र लोकसचारणार्थं दक्षिणोमार्गं । तदाह—

प्रपञ्चरहित शास्त्र प्रपञ्चरहितो गुरु । प्रपञ्चरहित ज्ञान प्रपञ्चरहित शिव ॥६८॥

शिव शक्तिविनाशेन ये वाञ्छन्ति नराधमा । ते भूमिरहिताद्वीजात्सन्तु नून फलोत्तमा ॥६९॥

भुक्तिमुक्तिप्रदस्तु वाममार्ग परमार्थत' । तदाह—

अग्निवत्सर्वभक्षोऽपि भवभक्तिपरायण । भुक्ति जीवन्नवाप्नोति मुक्ति तु लभते मृत ॥७०॥

इममेव च मार्गमाश्रित्याभाषि भासेन महाकविना—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीय ग्राह्य स्वभावललितोऽविकृतश्च वेष ।

पुरुष इन दोनो की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति को सज्जनो ने स्वर्ग कहा है ॥ ६५ ॥ अत जिनके मनोरथ, शारीरिक सुख त्याग कर कष्ट सहन द्वारा सुख-प्राप्ति करने के है, वे धान्यकणो पर हल चलाने की प्रकृति वाले होते हुए निस्सन्देह खेत से धान्य उखाडते है। भावार्थ—जैसे हरी धान्य के पुष्पो पर हल चलाते हुए या उनको जोतते हुए, मानवो के लिए उपजाऊ भूमि के विना खेत से धान्य उखाडना असम्भव है, वैसे ही शारीरिक सुखो को तिलाञ्जलि देकर तपश्चर्या का कष्ट करते हुए मानवो को निस्सन्देह सुख प्राप्त होना असम्भव है[1] ॥ ६६ ॥' फिर गडे हुए धन को बताने वाले शास्त्र के वेत्ता 'हरप्रबोध' नामक तपस्वी ने कहा—

'लोकपटुता (व्यवहार-चातुर्य) दूसरी वस्तु है और वेदो की विद्वत्ता दूसरी चीज है एव शान्ति-युक्त मोक्षपद दूसरी असाधारण वस्तु है और मनुष्य समूह उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे प्रकार से कष्ट उठाते है। अभिप्राय यह है कि लोक मे ऐसा देखा जाता है कि विद्वान् पुरुष व्यवहार-शून्य होता है और व्यवहारी विद्वत्ता-शून्य होता है, इसी प्रकार परम शान्ति-स्थान मुक्ति भिन्न है और उससे अशान्त उपाय भिन्न है ॥ ६७ ॥ भगवान् ब्रह्मा या श्री शिव के आगम (वेद) का मार्ग, जिसकी सृष्टि समस्त ससार के अनुग्रह निमित्त हुई है, निश्चय से दो प्रकार का है। दक्षिण मार्ग और वाममार्ग। उनमे से दक्षिण मार्ग लोक व्यव-हार-सचालन के लिए है, उसके विषय मे कहा है—शास्त्र (वेद व स्मृतिशास्त्र) प्रपञ्च रहित (भ्रम-शून्य) है और गुरु प्रपञ्च-रहित (मायाजाल-शून्य) है एव ज्ञान प्रपञ्च-रहित (सदेह, मिथ्या व विपर्यस्त-रहित) है तथा शिव प्रपञ्च-रहित (ससार के माया-आदि से मुक्त) है ॥ ६८ ॥ जो मनुष्यो मे क्षुद्र मनुष्य शक्ति-विनाश[2] से (माया के विना—कमनीय कामिनी के विना) शिव (सदाशिव) की प्राप्ति चाहते है वे, निश्चय से खेत के विना ही केवल धान्यादि के बीज से धान्य-फलो के प्राप्त करने मे उत्तम हो। अर्थात्—जैसे भूमि के विना केवल धान्य-बीज से धान्य की उत्पत्ति नही हो सकती, वैसे स्त्री के विना भी सुख प्राप्त नही हो सकता ॥ ६९ ॥ निश्चय से वाममार्ग विषय-भोग और मुक्ति देनेवाला है। उसके विषय मे कहा है—जो मानव अग्नि के समान समस्त (खाद्य-अखाद्य) वस्तुओ का भक्षण करता हुआ भी केवल श्री शिव की भक्ति मे तत्पर है, वह जीवित अवस्था मे विषय-भोग प्राप्त करता है और मरने पर मुक्ति प्राप्त करता है ॥ ७० ॥ इसी वाम-मार्ग का आश्रय लेकर महाकवि भास ने कहा है—मद्य पीना चाहिए और प्रियतमा (विशेष प्यारी स्त्री) का

---

१ निदर्शनालकार । २ स्त्रिय विना ।

येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान्स पिनाकपाणि ॥७१॥'

सुगतकीर्ति —'आत्मग्रह एव प्राणिना तावन्महामोहावन्ध्यान्ध्यम् ।

यत —य पश्यत्यात्मान तस्यात्मनि भवति शाश्वत स्नेह । स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कुरुते ॥७२॥

आत्मनि सति परसज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ । अनयो सप्रतिबद्धा सर्वे दोषा प्रजायन्ते ॥७३॥

विगलिताग्रहे चात्मग्रहे निरास्रवचित्तोत्पत्तिलक्षणो निरोधापरनामपक्षो मोक्ष स्वलक्षणेऽक्षिणामक्षूण स्वलक्षण ।

तदाह— यथा स्नेहक्षयाद्दीप प्रशाम्यति निरन्वय । तथा क्लेशक्षयाज्जन्तु प्रशाम्यति निरन्वय ॥७४॥

एव च सति केशोल्लुञ्चनतप्तशिलारोहणकेशदर्शनाशनविनाशब्रह्मचर्यादिय केवलमात्मोपघातायैव । तदुक्तम्—

वेदप्रामाण्य कस्यचित्कर्तृवाद स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेप ।
सतापारम्भ क्लेशनाशाय चेति ध्वस्तप्रज्ञाना पञ्चलिङ्गानि जाड्ये ॥७५॥

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्यालापि नीलपटेन—

पयोधरभरालसा स्मरविघूर्णितार्धेक्षणा क्वचित्सलयपञ्चमोच्चरितगीतझङ्कारिणी ।

मुख देखना चाहिए एव स्वाभाविक सुन्दर विकार-शून्य वेष धारण करना चाहिए। वह भगवान शिव चिरञ्जीवी हो, जिसने ऐसा मोक्षमार्ग प्रदर्शित किया ॥ ७१ ॥' तदनन्तर ठक्शास्त्र वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगत-कीर्ति नाम के विद्वान् ने कहा—'सबसे प्रथम आत्म ग्रह (आत्म द्रव्य का आग्रह—हठ) ही प्राणियो की महान् मोह की सफल अन्धता है ।

क्योकि—जो आत्मा को जानता है, उसका आत्मा मे निरन्तर स्नेह (राग) होता है और स्नेह होने से पचेन्द्रियो के सुखो को तृष्णा करता है एव सुखो की तृष्णा दोषो को स्वीकार करती है। आत्मा के होने पर दूसरी जीव सज्ञा होती है और जिससे स्व और पर के विभाग से परिग्रह व दोष उत्पन्न होते है और इससे परिग्रह दोषो मे अच्छी तरह बँधे हुए समस्त दोष उत्पन्न होते है ॥ ७२-७३ ॥ जब आत्मद्रव्य का आग्रह (हठ) दूर (नष्ट) हो जाता है तब सन्तान-(द्रव्य) रहित चित्त की उत्पत्ति लक्षणवाला व निरोध नामक दूसरे नाम वाला ऐसा मोक्ष स्वलक्षण[1] (ऐसा क्षणिक निरश परमाणुमात्र, जो कि स्वजातीय व विजातीय पर-माणु से व्यावृत्त (निवृत्त) है) प्राणियो का परिपूर्ण होता है। उसके विषय मे कहा है—जैसे तैल के नष्ट हो जाने से दीपक अन्वय-(सतान) रहित हुआ शान्त हो जाता है (बुझ जाता है) वैसे ही यह जीव समस्त क्लेशो के क्षय हो जाने से अन्वय (सन्तान) रहित हुआ शान्त (नष्ट) हो जाता है ॥७४॥ ऐसा निश्चय होने पर केशो का उखाडना, तपी हुई शिला (चट्टान) पर चढना, केश के दिखाई देने पर भोजन का त्याग और ब्रह्मचर्य-आदि केवल आत्मा के उपघात के लिए है। कहा है—

ऋग्वेद-आदि वेदो को प्रमाण मानना, किसी का कर्तृवाद (ईश्वर को सृष्टि कर्ता की मान्यता) गङ्गा-आदि मे स्नान करने मे धर्म की अभिलाषा, ब्राह्मण-आदि जाति का गर्व करना और शरीर को कष्ट देना इस प्रकार नष्ट बुद्धिवालो की जडता के सूचक पाँच चिन्ह है ॥ ७५ ॥ नीलपट नामके कवि ने इसी विषय को लेकर निम्नप्रकार कहा है—इन ऐसी रमणियो (कमनीय कामिनियो) को छोडकर, जो कि कुचकलशो के भार से मन्द है, जिन्होने काम से आधे नेत्र चारो ओर सचालित किये है और जिनमे किसी स्थान पर लयसहित पञ्चम स्वर से गाये हुए गीतो की कानो का सुख देनेवाली झङ्कार (मनोज्ञ ध्वनि) वर्तमान है, दूसरे मोक्ष सुख

---

१ स्वजातीयविजातीयव्यावृत्ताक्षणिकनिरंशपरमाणुमात्र ।

विहाय रमणीरसूरपरमोक्षसौख्यार्थिनामहो जडिमडिण्डिमो विफलभण्डपाखण्डिनाम् ॥७६॥

स्त्रीमुद्रा झषकेतनस्य महती सर्वार्थसपत्करी ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिण ।

ते तेनैन निहत्य निर्दयतर मुण्डीकृता लुञ्चिता केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिन कापालिकाश्चापरे ॥७७॥'

चण्डकर्मा—साध्वाह खलु सुगतकीर्ति । यत —

पश्यन्ति ये जन्म मृतस्य जन्तो पश्यन्ति ये धर्ममदृष्टसाध्यम् ।

पश्यन्ति ये ऽन्य पुरुष शरीरात् पश्यन्ति ते नीलकपीतकानि ॥७८॥

ततश्च प्राणापानसमानोदानव्यानव्यतिकीर्णेभ्य कायाकारपरिणतिसकीर्णेभ्यो वनपवनावनिपवनसखेभ्य पिष्टोदकगुडधातकीप्रमुखेभ्य इव मदशक्ति पर्णचूर्णक्रमुकेभ्य इव रागसपत्तिस्तदात्मकार्यगुणस्वभावतया चैतन्यमुपजायते । तच्च गर्भादिमरण-

---

की अभिलाषा करने वाले निरर्थक चित्तमात्ररञ्जक पाखण्डियो की अहो ! यह (कायक्लेशादि) मूर्खता की घोषणा (चिह्न) है[1] ॥ ७६ ॥ जो मूढबुद्धि, झूँठे स्वर्गादि फल का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञानवश कामदेव की सर्वश्रेष्ठ और समस्त प्रयोजन रूप सपत्ति सिद्ध करनेवाली स्त्री-मुद्रा का तिरस्कार करते है, वे मानो—उसी कामदेव द्वारा विशेप निर्दयता पूर्वक ताडित कर मुण्डन किये गए, अथवा केश उखाडने वाले कर दिये गए एव मानो—पञ्चशिखा-युक्त (चोटीधारी) किए गए एव कोई तपस्वी कापालिक किये गए[2] ॥ ७७ ॥ फिर चण्डकर्मा नाम के कोट्टपाल ने कहा—कि बुद्धधर्मानुयायी सुगत कीर्ति विद्वान् ने निस्सन्देह अच्छा कहा—क्योकि—

जो मरे हुए प्राणी का जन्म (पुनर्जन्म) देखते है और जो ऐसे धर्म को देखते है, जिसका फल प्रत्यक्ष प्रतीत नही है एव जो शरीर से पृथक् आत्मा को देखते है वे (मूढ बुद्धि) भ्रमवश नीलक (नीलवर्णवाली वस्तु) को पीतक (पीतवर्णवाली) समझते है और पीतवर्णवाली वस्तु को नील वर्ण वाली समझते है। अर्थात्—जैसे, नील को पीत व पीत को नील समझना भ्रम है वैसे ही पुनर्जन्म, धर्म तथा शरीर से भिन्न आत्मद्रव्य की मान्यता भी भ्रम है ॥ ७८ ॥

अत जल, वायु, पृथिवी व अग्नि इन ऐसे चार पदार्थों से, जो कि शरीराकार परिणति (दूसरी पर्याय—अवस्था) से मिश्रित है और प्राण[3] (हृदय मे स्थित हुई वायु), अपान (गुदा मे स्थित हुई वायु), समान (नाभि मे वर्तमान वायु), उदान (कण्ठ देश मे स्थित वायु) और व्यान वायु (समस्त शरीर मे वर्तमान वायु) द्वारा क्षिप्त (फैंके गये) है, वैसा चैतन्य (आत्मद्रव्य) उत्पन्न होता है, जैसे चूर्ण किये हुए जलमिश्रित गुड व धातकी पुष्प (धाय-फूल) आदि पदार्थो से मद शक्ति (मद्य) उत्पन्न होती है। अथवा जैसे पान, चूना व सुपारी से रागसम्पत्ति (लालिमा रूपी लक्ष्मी) उत्पन्न होती है। क्योकि यह चैतन्यशक्ति (ज्ञानशक्ति) देहात्मिका[4] (शरीर रूप) देहकार्या, (शरीर से उत्पन्न हुई कार्यरूप) व देहगुण (शरीर का गुण) है। वह चैतन्य (आत्मा), गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त रचना-युक्त है, इसलिए नष्ट हुआ वह (चैतन्य) वैसा पुन उत्पन्न नही होता जैसे वृक्ष से गिरा हुआ पत्र पुन उत्पन्न नही होता। इसलिए परलोक (पुनर्जन्म) का अभाव सिद्ध होने पर और जब जल के बबूलो सरीखे क्षणिक जीवो मे मदशक्ति-सरीखी चैतन्य शक्ति सिद्ध

---

१ काव्यलिङ्गालकार । २ व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालकार ।

३ 'हृदि प्राणो गुदेऽपान. समानो नाभिसस्थित । उदान कण्ठदेशे स्याद्व्यान सर्वशरीरगः' ॥ १ ॥ इत्यमर ।

४ 'देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणतो मति । मतत्रयमिहाश्रित्य नास्त्यन्यासस्य सभव ॥ १ ॥' इति ह० लि० सटि (ग) प्रति से सकलित०—

पर्यन्तपर्यायमतीत सत्, पादपात्पतित पत्रमिव न पुन. प्ररोहति । तथा च परलोकाभावे जलबुद्बुदस्वभावेषु जीवेषु मद-शक्तिप्रतिज्ञाने किमर्थोऽय ननु लोकस्यात्मसपत्न प्रयत्न । तदपहायामीषा जीवन्मृतमनीषाणा मनीषितमेतत् कुशलाश्रयैरा-श्रेयम् ।

यावज्जीवेत् सुख जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर । भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमन कुत ॥७९॥

भगवान्— रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषावपश्यत । विलब्धा बत केनामी सिद्धान्तविषमग्रहा ॥८०॥

किं च । असमाधिकरो वादस्तत्त्वाख्यान विरुद्धबोधानाम् । भवति हि कोपाय पर शिक्षा व्यालेष्विव गजेषु ॥८१॥

अपि च व्याक्रोशी व्यापहासी वा विपर्यस्तै सहोदिते । स्वस्य मौर्ख्यमुपेक्षायामहो कष्टा विशिष्टता ॥८२॥

स्तौतु निन्दतु वा लोको विचित्ररुचिनायक । तथापि सज्जनैर्भाव्य यथातत्त्वोपदेशनै ॥८३॥

इत्यनुध्याय दशनोर्त्तैर्दिश कुर्वन्सपुण्याङ्कुरिता इव । सूरि सूनृतवागेव बभाषे स्वरितस्वर ॥८४॥

बन्धमोक्षौ सुख दु ख प्रवर्तननिवर्तने । यद्येष प्रकृतेर्धर्म कि स्यात्पुस प्रकल्पनम् ॥८५॥

होगई तब लोक का यह आत्मा के साथ शत्रुता करने वाला तपश्चर्या रूप प्रयत्न किस प्रयोजन से है ? अर्थात्—निरर्थक है। अत जीते हुए भी मुरदे सरीखी बुद्धि रखने वाले इन मुनियो के सिद्धान्त (पुनर्जन्म आदि की मान्यता) को छोडकर कुशल अभिप्राय वालो को निम्नप्रकार की नास्तिक दर्शन की मान्यता स्वीकार करनी चाहिए। जब तक जिओ तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो, क्योकि [ससार मे] कोई भी मृत्यु का अविषय नही है, अर्थात्—सभी कालकवलित होते है। भस्म रूप हुई शान्त देह का पुनरागमन कैसे हो सकता है ? अपितु नही हो सकता ॥ ७९ ॥ (इति पूर्वपक्ष समाप्त) ।

तदनन्तर इन्द्रादि द्वारा पूज्य श्री सुदत्ताचार्य ने अपने मन मे निम्नप्रकार विचार किया—'खेद है कि जन्म-काल मे मिथ्याज्ञान से रहित और गुण व दोष न देखते हुए इस जीव मे ये सिद्धान्तरूपी भीषण ग्रह किसने अर्पण कर दिये ? ॥८०॥ विशेष यह है कि मिथ्यादृष्टियो के साथ वादविवाद करना, उनका समाधान करने-वाला नही होता एव उनके लिए दी हुई यथार्थ शिक्षा निस्सन्देह वैसी उनके केवल क्रोध-निमित्त होती है जैसे दुष्ट हाथियो के लिए दी हुई शिक्षा केवल उनके क्रोध निमित्त होती है ॥८१॥ विशेष यह है कि जब मिथ्यादृष्टि वादियो के साथ कुछ कहा जाता है तो वे वक्ता को गाली देनेवाला और उपहास करनेवाला—निन्दा करनेवाला कहते है और जब वक्ता उनके प्रति माध्यस्थ्यभाव धारण करता है (कुछ भी नही कहता) तो उन्हे वक्ता की मूर्खता प्रतीत होती है। अहो आश्चर्य है कि इसप्रकार विद्वत्ता भी कष्टप्रद है ॥८२॥ यह लोक अनेक प्रकार की इच्छाओ का स्वामी है, अत यह वक्ता की स्तुति करे या निन्दा करे, तथापि सज्जनो को यथार्थ तत्व का उपदेश देनेवाले होना चाहिए ॥ ८३ ॥'

फिर सत्यवक्ता श्री सुदत्ताचार्य ने मध्यम ध्वनि वाले होते हुए व दन्तकिरणो से दिशाओ को पुण्यरूपी अङ्कुरो से व्याप्त करते हुए-से होकर निम्नप्रकार कहा[1] ॥ ८४ ॥ ['शकुनसर्वज्ञ' नाम के विष्णुभक्त विद्वान् द्वारा कहे हुए साख्यमत का खडन] यदि बन्ध मोक्ष, सुख, दु ख, प्रवृत्ति, व निवृत्ति यह प्रकृति का धर्म है तो आत्मतत्व की मान्यता का क्या प्रयोजन होगा ? अर्थात्—जब आपने पुरुषतत्व (आत्मा) को माना है तो जाना जाता है कि प्रकृति अचेतन (जड) है और आत्मा चेतन है, अत बध व मोक्ष-आदि आत्मा के ही धर्म मानने चाहिए न कि जड प्रकृति के ॥ ८५ ॥ 'जब आप 'प्रकृति कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप किन्तु चेतन '

---

१ उपमालकार ।

अकर्तापि पुमान्भोक्ता क्रियाशून्योऽप्युदासिता । नित्योऽपि जातसंसर्गः सर्वगोऽपि वियोगभाक् ॥८६॥
शुद्धोऽपि देहसंबद्धो निर्गुणोऽपि शमुच्यते[1] । इत्यन्योन्यविरुद्धोक्तं न युक्तं कापिलं वचः ॥८७॥
किं च । विश्वग्व्यापी भवेदात्मा यदि व्योमवदञ्जसा । सुखदुःखादिसद्भावः प्रतीयेताङ्गवद्बहिः ॥८८॥
नित्येऽमूर्ते सदा पुंसि कर्मभिः स्वफलैरिभिः । कुतो घटेत संबन्धो यथाकाशस्य रज्जुभिः ॥८९॥
घृष्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्धयभावे कथमिदमुदाहारि कुमारिलेन—
विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे । श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥९०॥
कथं चेदं वचनमजर्यम्—
समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं समस्तानि वस्तूनि यन्न स्पृशन्ति ।
वियद्वत्सदा शुद्धिमद्यत्स्वरूपं स सिद्धोपलब्धिः स नित्योऽहमात्मा ॥९१॥
कथं चेयं श्रुतिः समगस्त—

अर्थात्—प्रकृति को करनेवाली मानते हो और आत्मा को कमल पत्र की तरह निर्लेप व अकर्ता किन्तु चेतन मानते हो तब यदि आत्मा कर्ता नही है तो वह भोक्ता (भुजि किया का कर्ता—भोगनेवाला) कैसे हो सकता है ? जब आत्मा निष्क्रिय (क्रिया-रहित) है तो वह उदासिता (उदासीनता-युक्त) कैसे हो सकता है ? क्योकि क्या उदासीनता क्रिया नही है ? इसीप्रकार जब आत्मा नित्य (अविकारी नित्य) है तब वह प्रकृति के साथ संबध-वाला कैसे हो सकता है ? एवं जब आत्मा व्यापक (समस्त मूर्तिमान् पदार्थों के साथ सदा संयोग रखनेवाला) है तब शरीरादि प्रकृति के साथ वियोग रखनेवाला कैसे हो सकता है ? जब आत्मा शुद्ध है तब शरीर के साथ संबंधवाला कैसे हो सकता है ? और जब यह गुण-हीन है तब सुख रूप कैसे हो सकता है ? (अथवा पाठान्तर का अभिप्राय यह है कि जब आप आत्मा को शुद्ध व निर्गुण मानते हो तब वह शरीर के साथ संयोग संबध रखनेवाला कैसे हो सकता है ? इसप्रकार परस्पर विरुद्ध सांख्य दर्शन के वचन युक्ति-संगत नही है ॥ ८६-८७ ॥ यदि आत्मा वस्तुतः आकाश की तरह सर्व व्यापी है तो सुख दुःखादि का सद्भाव शरीर की तरह बाह्यप्रदेश मे प्रतीत होना चाहिए । अर्थात्—जैसे शरीर मे सुखादि मालूम पडते है वैसे ही बाह्यदेश मे भी मालूम पडना चाहिए, परन्तु शरीर से बाह्यदेश मे जब सुख दुःखादि प्रतीत नही होते तब आत्मा सर्वव्यापी कैसे हो सकती है ? ॥ ८८ ॥ जब आत्मा सदा नित्य व अमूर्तिक है तो उसका अपने सुख-दुःख रूप फलो को देनेवाले कर्मो के साथ संबंध वैसा कैसे घटित हो सकता है ? जैसे नित्य व अमूर्तिक आकाश का रज्जुओ (रस्सियो) के साथ संबध घटित नही हो सकता ॥ ८९ ॥

अब ज्योतिःशास्त्र वेत्ता धूमध्वज नामके ब्राह्मण विद्वान् की मान्यता का निराकरण करते है—जब आप घर्षण किये जानेवाले कोयले-सरीखे मन की विशुद्धि नही मानते तो कुमारिल विद्वान् ने निम्नप्रकार आत्म-विशुद्धि के विषय मे कैसे कहा ? 'उन चन्द्रकला-युक्त चन्द्रशेखर श्री शिवजी के लिए शाश्वत कल्याण की प्राप्ति-निमित्त नमस्कार हो, जो विशुद्ध ज्ञानरूपी शरीर वाले है व तीन वेदो का समूहरूपी दिव्य चक्षु वाले है ॥ ९० ॥ एवं निम्नप्रकार का वचन कैसे संगत होगा ? 'जो समस्त पदार्थों मे व्याप्त हुआ एक है, जिसे समस्त वस्तुएँ स्पर्श नही करती, जिसका स्वरूप आकाश सरीखा सदा शुद्ध है, वह सिद्ध उपलब्धि वाला नित्य आत्मा मै हूँ' ॥ ९१ ॥ एवं निम्नप्रकार के वैदिक वचन कैसे युक्ति-संगत होगे ? यह स्पष्ट है कि शरीर-सहित आत्मा के पुण्य-पाप कर्मों का विनाश नही होता (पुण्य-पाप कर्मों का संबध बना रहता है) और शरीर-शून्य (परम सिद्ध) रहनेवाले आत्मा को पुण्य-पाप कर्म स्पर्श नही करते, (नष्ट हो जाते है) ॥९२॥ अतः अब आत्मशुद्धि समर्थक युक्तियो

१ 'समुच्यते' इति ह. लि. (क) प्रतौ पाठः ।

न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत ॥९२॥

इति । ततश्च ।

मलकलुषतायात[1] रत्न विशुद्धयति यत्नतो भवति कनक तत्पाषाणो यथा च कृतक्रिय ।
कुशलमतिभि कैश्चिद्धन्यैस्तथाप्तनयाश्रितैरयमपि गलत्क्लेशाभोग क्रियेत पर पुमान् ॥९३॥
रागाद्युपहत शभुरशरीर सदाशिव । अप्रामाण्यादनुत्पत्ते कथ तत्रागमोत्सव ॥९४॥

तदुक्तम्—वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्द्वैविध्यादपर तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।
शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वानसबन्धत सबन्धोऽपि न जाघटीति भवता शास्त्र निरालम्बनम् ॥९५॥

एव च सतीद न सगच्छते—

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् । नादरूप समुत्पन्न शास्त्र परमदुर्लभम् ॥९६॥

रागादिभिरुपद्रुतस्यापि रुद्रस्याप्तताया 'क्लेशकर्मविपाककषायैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर' इति

ऐश्वर्यमप्रतिहत सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिक सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञान च सर्वविषय भगवस्तवैव ॥९७॥

का निरूपण करते है—जैसे मल (कीट) से कलुषित (मलिन) माणिक्य-आदि रत्न यत्नो (शाणोल्लेखन-आदि उपायो) से विशुद्ध हो जाता है और जैसे सुवर्ण-पाषाण, जिसकी क्रियाएँ (अग्नितापन व छेदन-आदि) की गईं है, सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही कुशल-बुद्धि-शाली व आप्त (वीतराग सर्वज्ञ) तथा उसके स्याद्वाद का आश्रय प्राप्त किये हुए किन्ही धन्यपुरुषो द्वारा आत्म-शुद्धि के उपायो (सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र-आदि) से यह मिथ्यात्वादि से मलिन आत्मा भी क्लेशो के विस्तार को नष्ट करनेवाला ऐसा उत्कृष्ट—शुद्ध किया जाता है ॥ ९३ ॥

अब हरप्रबोध तपस्वी द्वारा निरूपण की हुई वैदिक मान्यता (वाममार्ग) का निरास करते है—शभु (पार्वती-कान्त) राग व द्वेषादि विकारो मे पीडित होने से अप्रमाण है और सदाशिव से आगम (वेद) की उत्पत्ति कदापि हो नही सकती, क्योकि वह शरीररहित है, अत उसके द्वारा आगम की उत्पत्ति रूप माङ्गलिक कार्य कैसे हो सकता है ? भावार्थ—शभु जब रागादि दोष से दूषित है तब वह वैसा प्रमाण नही है जैसे रथ्यापुरुष (मार्ग मे जानेवाला मानव) प्रमाण नही है, अत अप्रमाणभूत उसका कहा हुआ आगम (वेद) प्रमाण कोटि मे नही आ सकता एव सदाशिव अशरीरी होने से उसके द्वारा वेद की उत्पत्ति वैसी नही हो सकती जैसे शरीर-रहित आकाश से वेदोत्पत्ति नही हो सकती ॥ ९४ ॥ कहा भी है—

सदाशिव वेदो का वक्ता नही हो सकता, क्योकि वह शरीर या इन्द्रियो से रहित है । एव उससे दूसरा पार्वती-कान्त (श्री शिव) वक्ता नही हो सकता, क्योकि वह सरागी है । यदि आप कहोगे कि उन दोनो से भिन्न तीसरा कोई वक्ता है, उस विषय मे प्रश्न यह है कि (उसका उत्पादक कारण कौन है ?) यदि आप कहोगे कि कोई ऐसी शक्ति है, जिससे वह उत्पन्न हुआ है, तब बताइए कि जब वह शक्ति उससे भिन्न है तो भिन्न शक्ति से वह शक्तिमान् कैसे हो सकता है ? क्योकि दूसरी शक्ति के साथ उसका सगम नही है । यदि आप कहेगे कि उस भिन्न शक्ति का उसके साथ समवाय सबध है, तब युक्ति-युक्त विचार करने पर वह सबध भी विशेष रूप से घटित नही होता अत आपका नादरूप शास्त्र (वेद) वक्ता रूप आलम्बन से शून्य हो गया ॥९५॥ ऐसा होने पर निम्न प्रकार का वचन युक्ति सगत घटित नही होता 'शरीर-रहित, शान्त व उत्कृष्ट कारण रूप शिव से नादरूप विशेष दुर्लभ शास्त्र (वेद) उत्पन्न हुआ ॥९६॥' यदि आप रागादि से पीडित रुद्र (श्रीशिव) को ईश्वर मानोगे तो 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर' अर्थात्—ऐसा पुरुष विशेष, जो कि समस्त दु खो

---

१ मलकलुषता जात ।

इति च विरुद्धयते । अन्यथाभूतस्याप्ततायाम्

आस्ता तवान्यदपि तावदतुल्यकक्षमैश्वर्यमीश्वरपदस्य निमित्तभूतम् ।
त्वच्छेफसोऽपि भगवन्न गतोऽवसान विष्णु पितामहयुत किमुतापरस्य ॥९८॥ इति,
रथ क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणि शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽय त्रिपुरतृणमाडम्बरविधिर्विधेयै क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्रा प्रभुधिय ॥९९॥
इति च ग्रहिलभाषितम् । तथेदमपि न प्राग्रहरम् ।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥१००॥ इति,
भोग्यामाहु प्रकृतिमृषयश्चेतनाशक्तिशून्या भोक्ता नैना परिणमयितु बन्धवर्ती समर्थ ।
भोग्येऽप्यस्मिन्भवति मिथुने पुष्कलस्तत्र हेतुर्नीलग्रीवस्त्वमसि भुवनस्थापनासूत्रधार ॥१०१॥ इति च,

आकाशकल्पस्य सदाशिवस्य पर प्रति प्रेरकता न युक्ता । स्वय पराप्रेषित एव शभुर्भवेत्परप्रेरयितेति चिन्त्यम् ॥

व पुण्य-पाप कर्मो तथा उनके सुख दु खरूप फलो से रहित है, ईश्वर है।' यह कथन तथा निम्नप्रकार कथन विरुद्ध प्रतीत होता है—'नष्ट न होनेवाला ऐश्वर्य, स्वाभाविक वीतरागता, स्वाभाविक तृप्ति (सन्तोष), जितेन्द्रियता, अत्यन्त—अनन्तसुख, आवरण-शून्य शक्ति और समस्त पदार्थो को प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान, ये समस्त गुण हे भगवन्! तेरे मे ही है ॥९७॥' यदि आप वीतरागी सदाशिव को आप्त (ईश्वर) मानोगे तो आपका निम्न प्रकार का कथन (शिव—रुद्र स्तुति) विरुद्ध पडता है—'हे भगवन्! तुम्हारा दूसरा अनोखा व ईश्वर पद का निमित्तभूत ऐश्वर्य भी एक जगह रहे परन्तु ब्रह्मा सहित विष्णु ने भी जब आपके शेफ[1] (रोमवृन्द परिवेष्टित जननेन्द्रिय या टि० से अभिप्राय के साधन) का भी अन्त नही पाया तब दूसरे की क्या कथा ?

भावार्थ—यहाँपर यह बात विचारणीय है कि जब वीतरागी सदाशिव के शरीर ही नही है तब उसमे शेफ (जननेन्द्रिय) कैसे घटित हो सकता है ? अत उक्त श्लोक मे शेफ का कथन भी विरुद्ध है ॥९८॥' इसी प्रकार निम्नप्रकार ग्रहिल के वचन भी विरुद्ध है—'जहाँपर पृथिवी ही रथ है, इन्द्र अथवा ब्रह्मा ही सारथि है, सुमेरुपर्वत ही धनुष है और चन्द्र व सूर्य ही पहिये है एव चक्रपाणि (श्रीनारायण) ही वाण है। इस प्रकार से त्रिपुररूप तृण को दग्ध करने के इच्छुक हुए तुम्हारी यह आडम्बर-विधि क्या है ? क्योकि प्रभु की बुद्धियाँ निश्चय से पराधीन नही होती परन्तु आज्ञाकारियो के साथ क्रीडा करती हुई होती है। अभिप्राय यह है—तब विष्णु-प्रभृति को उक्त कार्य करने निमित्त क्यो एकत्रित किये ?[2] ॥९९॥' इसी प्रकार निम्न प्रकार का कथन भी श्रेष्ठ नही है —'यह अज्ञानी प्राणी अपने सुख-दु खो की उत्पत्ति मे असमर्थ है, अत ईश्वर के द्वारा प्रेरित हुआ स्वर्ग अथवा नरक जाता है ॥१००॥' इसी प्रकार निम्न प्रकार कथन भी विरुद्ध है—

'ऋषियो ने प्रकृति को चेतना (ज्ञान) शक्ति से शून्य व भोगने योग्य कहा है और बन्ध-सहित यह भोक्ता (जीव) प्रकृति को परिणमन कराने मे समर्थ नही है और जब भोगने-योग्य स्त्री पुरुष का जोडा वर्तमान है, तब उसकी उत्पत्ति मे प्रचुर या समर्थ कारण होना चाहिए, अत हे शिव! तुम ही लोक की स्थापना करने के लिए सूत्रधार (ससार रूपी नाट्यशाला के व्यवस्थापक या प्रधान कारण) हो ॥१०१॥ आकाश सरीखे शरीर-रहित व व्यापक सदाशिव को दूसरे को प्रेरणा करनेवाला होना युक्तिसगत नही है। यदि आप कहेगे

---

१ मेहनस्य—रोमवृन्दपरिवेष्टितलिङ्गस्य 'समे मेहनशेफसी' इत्यमर ।
तथा च विरागस्य सदाशिवस्य शरीराभावे शेफ कथ घटते इति विरुद्ध ।
,,शेफस साधनस्य ।　　२ रूपकालकार ।　　ह लि सटि प्रति (ख) से समुद्धृत—

जगत्कर्तृवादश्च पूर्वमेव चिन्तित । तथाहि—

कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसङ्ग ।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यैराहत्य चेत् त्रिभुवन पुरुष करोति ॥१०२॥

कर्मपर्यायत्वे चेश्वरस्य सिद्धसाध्यता । तदाह—

विधिर्विधाता नियति स्वभाव कालो ग्रहश्चेश्वरदैवकर्म ।
पुण्यानि भाग्यानि तथा कृतान्त पर्यायनामानि पुराकृतस्य ॥१०३॥

कथमचेतन कर्म परोपभोगार्थं प्रवर्तत इति चेत् तन्न ।

रत्नायस्कान्तवातादे[1]रचितोऽपि पर प्रति । यथा क्रियानिमित्तत्व कर्मणोऽपि तथा भवेत् ॥१०४॥

तदुक्त रत्नपरीक्षायाम्—

न केवल तच्छुभकृन्नृपस्य मन्ये प्रजानामपि तद्विभूत्यै । यद्योजनाना परत शताद्धि सर्वाननर्थान्विमुखीकरोति ॥१०५॥

विष्टिकमकरादीना चेतनाना सचेतनात । दृष्टा चेष्टा विधेयेषु जगत्स्रष्टरि सास्तु व ॥१०६॥

कि दूसरे के द्वारा अप्रेरित हुआ (अथवा पाठान्तर मे प्रेरित हुआ) भी शिव स्वय दूसरे को प्रेरणा करने वाला है यह बात भी विचारणीय है। ईश्वर को जगत्स्रष्टा की मान्यता विपय पर हम पूर्व मे विचार कर चुके है।

विशेष यह कि इस ससार मे कोई भी (ईश्वर) ज्ञानशक्ति व इच्छा शक्ति द्वारा जगत का कर्ता नही देखा गया। तथापि यदि कोई कर्ता मानोगे तो उसे चटाई-आदि-कार्य का भी कर्ता मानना पडेगा। यदि ईश्वर परमाणुओ को एकत्रित करके हठ से तीन लोक की सृष्टि (रचना) करता है तो लोक मे गृहादि कार्यो के निर्माण मे बढई वगैरह से क्या प्रयोजन रहेगा ? क्योकि ईश्वर ही सबकी सृष्टि कर देगा ॥ १०२ ॥ यदि आप जगत्स्रष्टा ईश्वर को कर्म का पर्यायवाची मानकर उसे (कर्म को) जगत् का स्रष्टा मानते है तो सिद्ध साध्यता है। अर्थात्—हमारे द्वारा सिद्ध की हुई वस्तु को ही आप सिद्ध कर रहे है, अभिप्राय यह है कि इसमे हमे (स्याद्वादियो को) कोई आपत्ति नही हे, क्योकि कर्म के निम्न प्रकार नामान्तर है—

कर्म के निम्न प्रकार पर्यायवाची शब्द (नाम) है—विधि, विधाता, नियति, स्वभाव, काल, ग्रह, ईश्वर, दैव, कर्म, पुण्य, भाग्य व कृतान्त ॥ १०३ ॥ शङ्का—जब कर्म अचेतन (जड) है तब वे दूसरो के उपभोग के लिए कैसे प्रवृत्त होते है ? यह शङ्का उचित नही है, क्योकि इसका समाधान निम्न प्रकार है—जैसे रत्न (नर-मादा मोती-आदि), चुम्बक पत्थर व वायु वगैरह (अथवा पाठान्तर मे नौका वगैरह) पदार्थ, जो कि अचेतन (जड) होते हुए भी पर के प्रति क्रिया-निमित्त है वैसे ही अचेतन कर्म भी परोपभोगार्थ क्रिया-निमित्त (प्रवृत्ति मे हेतु) है। भावार्थ—जैसे मोती के पास दूसरा मोती आजाता है और चुम्बक पत्थर लोहे को खीचता है एव वायु पत्ता-आदि को उडाती है, यद्यपि ये जड हैं, वैसे ही कर्म भी अचेतन होकर दूसरो के उपभोग निमित्त प्रवृत्त होते है[2] ॥ १०४ ॥ रत्नपरीक्षा ग्रथ मे कहा है—मेरी ऐसी मान्यता है कि वह पुण्य कर्म राजा का ही कल्याण कारक नही है अपितु प्रजाजनो की विभूति-निमित्त भी है, जो कि निश्चय से सैकडो योजनो से भी आगे (हजारो व लाखो योजन) दूरवर्ती प्राणी को समस्त आपत्तियो से छुडा देता है ॥ १०५ ॥ यदि आप ऐसा कहते है कि जैसे पालकी ले जानेवाले व नौकरी लेकर काम करने वाले (मजदूर-आदि) सचेतन (ज्ञानवान) होते हुए भी (सचेतन स्वामी द्वारा प्रेरित होकर) चेष्टा (प्रयत्न—उद्योग) करते है वैसे ही सचेतन ईश्वर भी सचेतन ससारी प्राणियो द्वारा प्रेरित हुआ चेष्टा करता है, ऐसा मानने से तो यह आपत्ति

---

१ 'नावादे' इति ह० लि० (क) प्रतौ पाठ । २ दृष्टान्तालकार ।

तस्मादिद सुभाषितद्वयमत्रावसरवत् ।

स्वय कर्म करोत्यात्मा स्वय तत्फलमश्नुते । स्वय भ्रमति ससारे स्वय तस्माद्विमुच्यते ॥१०७॥

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा विधिर्वन्द्य सोऽपि प्रतिनियतकर्मान्तफलद ।
फल कर्मायत्त यदि किममरै किं च विधिना नम सत्कर्मभ्य प्रभवति न येभ्यो विधिरपि ॥१०८॥

सोऽह तदेव पात्र तान्येतानि च गृहाणि दातॄणाम् । इति नित्य विदुषोऽपि च दुराग्रह कोऽस्य नैरात्म्ये ॥१०९॥

सतानो न निरन्वये विसदृशे सादृश्यमेतन्न हि प्रत्यासत्तिहते कुत समुदय का वासना वास्थिरे ।
तत्त्वे वाचि समस्तमानरहिते ताथागते साप्रत धर्माधर्मनिबन्धनो विधिरय कोतस्कुतो वर्तताम् ॥११०॥

(दोष) आती है कि जैसे आज्ञाकारी सेवको मे जो चेष्टा देखी गई है, वह आपके जगत्स्रष्टा ईश्वर मे हो। अभिप्राय यह है कि फिर तो आपका माना हुआ स्रष्टा वृथा ही है, क्योकि वह तो सबका दास ही हुआ ॥१०६॥ अत निम्न प्रकार ये दो सुभाषित अवसर वाले है—यह आत्मा (जीव) स्वय पुण्य-पाप कर्मो का बन्ध करती है और स्वय ही उनके सुख-दु ख रूप फल भोगती है एव स्वय ही ससार मे भ्रमण करती है तथा स्वय ही ससार से छुटकारा पाकर मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्राप्त कर लेती है ॥ १०७ ॥ किन्ही विद्वानो ने कहा है, कि हम देवो को नमस्कार करेगे परन्तु निस्सन्देह वे भी तो दुष्ट विधि (भाग्य) के अधीन हे [अत देवो को छोडकर] हमसे विधि (भाग्य) हो नमस्कार-योग्य है परन्तु वह भी प्रतिनियत (निश्चित) पुण्य-पाप कर्मो के अनुसार सुख दु ख रूप फल देने वाला है। (विधि भी कर्माधीन है)। और यदि फल कर्माधीन है तो देवताओ और विधि से क्या प्रयोजन है ? अत उन पुण्य कर्मो को ही नमस्कार हो, जिनके लिए विधि भी समर्थ नही है। अर्थात्—जिन पुण्य-कर्मो को सुख रूप फल देने मे विधि भी नही रोक सकता ॥ १०८ ॥ अब ठक-शास्त्र के वेत्ता बुद्धधर्मानुयायी सुगतकीर्ति विद्वान् द्वारा निरूपित बौद्ध दर्शन का निराकरण करते है—'वही मै हूँ' 'वही (पूर्वदृष्ट) पात्र है' 'वे ही दाताओ के गृह है' इस प्रकार के सदा ज्ञानवाले बौद्ध को आत्मा की शून्यता मे कौन सा दुराग्रह है ? अपितु नही होना चाहिए ॥ १०९ ॥ [यदि बुद्ध की यह मान्यता है कि आत्मद्रव्य नष्ट हो जाती है परन्तु जैसे बहुत से वस्त्रो के मध्य मे रक्खी हुई कस्तूरी-आदि (सुगधि पदार्थ) यद्यपि नष्ट हो जाती है, परन्तु वस्त्रो मे उसकी सतति या वासना बनी रहती है वैसे ही क्षणिक आत्मा की भी सतति या वासना आदि बनी रहेगी, जिससे उसे उक्त प्रकार का ज्ञान होने मे कोई बाधा नही है, उसका निराकरण करते है—] आत्मद्रव्य को अन्वय-शून्य मानने पर अर्थात्—पूर्व व पर पर्यायो मे व्यापक रूप से रहने वाले आत्मद्रव्य सबधी अन्वय के विना सर्वथा क्षणिक आत्मा को स्वीकार करने मे, सन्तान[1] (सतति) नही बन सकती। भावार्थ—जैसे सर्वथा नष्ट हुए मयूर से केकावाणी (मयूरध्वनि) नही निकल सकती वैसे ही अन्वय-शून्य (सर्वथा नष्ट हुई) आत्मा मे सन्तान नही बन सकती और क्षण-क्षण मे अनोखी क्षणिक आत्मा को स्वीकार करने से सादृश्य भी घटित नही होता। एव आत्मद्रव्य को निरन्वय विनाश-वाली व क्षणविनश्वर मानने से सजातीय उत्पत्ति भी कैसे बन सकती है ? यदि कहोगे कि इन्द्रियादिक की वासना बनी रहेगी तो आत्मा को क्षण-विनश्वर मानने से वासना भी घटित नही होती, अत तुझ बौद्ध के यहाँ, जिसके तात्विक वचन समस्त प्रमाणो (प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाणो) द्वारा बाधित है, धर्म (दान-पुण्यादि) व अधर्म (हिसादि) निमित्तक विधान कैसे घटित होगे ? अपितु नही घटित हो सकते। अर्थात्—आत्मद्रव्य को सर्वथा क्षणिक मानने से दान पुण्यादि कर्ता के सर्वथा नष्ट हो जाने से उसका फल (स्वर्ग) दूसरा भोगेगा। इसी प्रकार हिंसक के सर्वथा नष्ट हो जाने से राजदण्डादि लौकिक कष्ट व नरकगति सबधी भीषणतम यातनाएँ दूसरे को भोगनी होगी॥ ११० ॥

१ सन्तानोऽपत्यगोत्रयो सततौ देववृक्षयो ।

दृष्टात्ययात्तत्त्वमदृष्टमेष प्रसाधयेच्चेद्वचनासराल । तदा खरोक्ष्णो श्रुतितो विषाणे [1]विधन्निषेधश्च जयी कुलाल ॥१११॥

किं च । नाह नैव परो न कर्मभिरिह प्रायेण बन्ध क्वचिद्भोक्ता प्रेत्य न तत्फलस्य च वदेदित्थ स बौद्धो यदि ।

कस्मादेष तप समुद्यतमनाश्चैत्यादिक वन्दते किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमय धूर्तैर्जडो वञ्चित ॥११२॥

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृते । भूतानन्वयनाज्जीव प्रकृतिज्ञ सनातन ॥११३॥

पृथिव्यादिवदात्मायमनाद्यनिधनात्मक । मध्ये सत्त्वात्कुतस्तत्त्वमन्यथा तव सिद्धयति ॥११४॥

कायाकारेषु भूतेषु चित्त व्यक्तिमवाप्नुवत् । तदात्मगुणकार्यत्वे प्रकल्प्येत यदि त्वया ॥११५॥

यदि यह वकवादी बौद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण के लोप वाले (प्रत्यक्ष से विरुद्ध) आत्मविनाश से अदृष्टतत्व (प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेवाला तत्व—सन्तानादि) सिद्ध करेगा तब तो केवल वचनमात्र से गधे मे सीगो का विधान करनेवाला और बैल मे सीगो का निषेध करने वाला कुँभार क्या जयशील हो सकता है ? अपितु नही हो सकता ।[2] भावार्थ—जैसे कुँभार किसी के समक्ष कहता है कि मेरे गधे मे दो सीग है और उस बैल मे दो सीग नही है, तो जयशील नही होता वैसे ही प्रस्तुत बौद्ध भी, जो कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध आत्मा का विनाश मानता है व प्रत्यक्ष से प्रतीत न होनेवाले सन्तान-आदि तत्व का समर्थन करता है, जयशील नही हो सकता ॥ १११ ॥ 'मै नही हूँ, न कोई दूसरा (शिष्य-आदि) है, इस लोक मे कही पर प्राय करके आत्मा के साथ पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध नही होता एव यह जीव मरकर दूसरे जन्म मे पुण्य-पाप कर्मो के सुख-दु ख रूप फल का भोक्ता भी नही है' ऐसा यदि बौद्ध कहता है तो हम पूँछते है, कि यह (बौद्ध) किस कारण से तपश्चर्या मे उद्यत मन-वाला होकर चैत्य (मूर्ति) आदि को नमस्कार करता है ? अथवा वहाँ पर क्या तपश्चर्या है ? केवल यह मूर्ख धूर्तो से ठगाया गया मालूम पडता है ॥ ११२ ॥ अब चण्डकर्मा कोट्टपाल द्वारा निरूपण किये हुए चार्वाकदर्शन (नास्तिकमत) का निराकरण करते है—

प्रकृति (शरीर व इन्द्रिय-आदि) को जाननेवाला यह जीव (आत्मद्रव्य) सनातन (शाश्वत—सदा से चला आया) है, क्योकि पूर्वजन्म सबधी दुग्धपान के सस्कार से उसी दिन उत्पन्न हुए बच्चे की दुग्धपान मे चेष्टा देखी जाती है, इस युक्ति से आत्मा का पूर्व जन्म सिद्ध होता है। इसी प्रकार कोई मरकर राक्षस होता हुआ देखा जाता है, इससे आत्मा का भविष्य जन्म भी है और किसी को पूर्व जन्म का स्मरण होता है, इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध होता है, क्योकि इस जीव मे पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चारो जडरूप भूत पदार्थो का अन्वय नही है। भावार्थ—क्योकि मौजूद होनेपर भी इसे उत्पन्न करनेवाली कारण सामग्री नही है, अत यह शरीर व इन्द्रियादि से भिन्न चैतन्यरूप होता हुआ आकाश को तरह अनादि अनन्त है ॥११३॥ जैसे पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चार भूत द्रव्य अनादि व अनन्त है वैसे ही आत्मा भी अनादि अनन्त है, क्योकि सत्त्वे सति अनादित्वात्, क्योकि यह पृथिवी आदि की तरह मौजूद होकर के अनादि है। यदि आप कहोगे कि (मध्ये सत्त्वात्) यह आत्मा मौजूद होनेपर भी पृथिवी-आदि के मध्य पश्चात् उत्पन्न हुआ है, तो बतलाइए कि जो वस्तु पूर्व मे अविद्यमान (गैरमौजूद) थी, वह पीछे कहाँ से आ गई ? [क्योकि असत् (गैरमौजूद) वस्तु पैदा नही होती, अन्यथा—गधे का सीग आदि असत् पदार्थ भी उत्पन्न होना चाहिए] अन्यथा, अर्थात्—यदि सदा मौजूद होनेपर भी आत्मा अनादि अनन्त नही है तो आपका भूतचतुष्टय (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चार पदार्थ) अनादि अनन्त कैसे सिद्ध होगा ? ॥११४॥ यदि आप 'बुद्धि देहात्मक है व देह का कार्य है एव देह का गुण है, ऐसी

---

१ विधन्-कुर्वन् विधृ विधाने इत्यस्य रूप (क) से सकलित ।

२ खरश्च उक्षा च (वलीवद) खरोक्षाणौ तयो , कुम्भकारो यथा कस्यचिदग्रे कथयति 'मम गदभस्य विषाणे द्वे वर्तेते, ते तदुक्षण न स्त ' स किं जयी भवति ? तद्वदसौ बौद्ध इति भाव । सटि० (ख) प्रति से सकलित—

जलान्मुक्तानल काष्ठाच्चन्द्रकान्तात्पय प्लव । भवन्व्यजनतो वायुस्तत्त्वसख्या विहापयेत् ॥११६॥
जलादिषु तिरोभूतादुर्वरादेस्तदुद्भवे । धरादिषु तिरोभूताच्चित्ताच्चित्तमपीष्यताम् ॥११७॥
पुसि तिष्ठति तिष्ठन्ति शरीरेन्द्रियधातव[1] । यान्ति यातेऽन्यथैतासा सत्त्वे सत्त्व प्रसज्यताम् ॥११८॥
विरुद्धगुणससर्गादात्मा भूतात्मको न हि । भूजलानलवातानामन्यथा न व्यवस्थिति ॥११९॥

तीन मान्यताओ का आश्रय लेकर शरीराकार परिणमन को प्राप्त हुए पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार भूतो से यह बुद्धि या जीव प्रकट हुआ है अथवा उत्पन्न हुआ है, ऐसा मानोगे तो शरीराकार परिणत पृथिवी-आदि भूतो की तरह जीव भी प्रकट रूप से दृष्टिगोचर होना चाहिए परन्तु वह दृष्टिगोचर नही होता, अत वह पृथक् चैतन्य द्रव्य है ॥११५॥ यदि आप कहेगे कि कार्यकारण विजातीय भी होता है जैसे जल से मोती (पृथिवीरूप) उत्पन्न होता है और काष्ठ से अग्नि पैदा होती है एव चन्द्रकान्तमणि से जलप्रवाह प्रकट होता है तथा पखे से वायु उत्पन्न होती है, ऐसा मानने से तो आपकी पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार तत्त्वो की सख्या विघटित हो जायगी। अर्थात्—जल से उत्पन्न हुआ पार्थिव मोती जलात्मक हो जायगा, जिससे पृथिवी तत्त्व का अभाव हुआ और काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठरूप हो जायगी, इससे अग्नि तत्त्व का अभाव हुआ और चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न हुआ जलप्रवाह चन्द्रकान्तमणिरूप—पार्थिव हो गया, अत जल तत्त्व का अभाव हो गया। इसी प्रकार पखे से उत्पन्न हुई वायु पखेरूप हुई तब वायु तत्त्व का अभाव हुआ। अर्थात्—ऐसा मानने से (बुद्धि देहात्मक है व देह का कार्य है, आदि के कारण शरीरात्मक है) तो आपके उक्त प्रकार से पृथिवी, जल, अग्नि व वायु ये चारो भूत पदार्थ विघटित हो जाते है ॥११६॥ यदि आप कहेगे कि उक्त मोती-आदि के दृष्टान्त इस प्रकार सघटित होते है कि जल-आदि मे तिरोहित (अप्रकट रूप से स्थित) पृथिवी-आदि से मोती-आदि उत्पन्न होते है। अर्थात्—जल मे तिरोहित (अप्रकटरूप से स्थित) पृथिवी से मोती हुआ और काष्ठ मे तिरोहित हुई अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुई एव चन्द्रकान्तमणि मे तिरोहित जल से जल पैदा हुआ तथा पखे मे तिरोहित वायु से वायु उत्पन्न हुई तब हमारे पृथिवी-आदि चारो तत्त्वो की सख्या कैसे विघटित होगी? तब हम कहते हैं कि पृथिवी-आदि मे तिरोहित हुए (स्वतत्र रूप से पृथक् चैतन्य की सत्ता लिए हुए) जीव से जीव को अभिव्यक्ति मान लो ॥११७॥ जीव के जीवित रहते शरीर, इन्द्रिय व बुद्धियाँ स्थिर रहती है और जीव के चले जाने पर नष्ट हो जाती है, अत चैतन्य रूप जीव स्वतत्र पदार्थ है। यदि ऐसा नही मानोगे तो मृत शरीर मे इन शरीर व इन्द्रिय-आदि की सत्ता मे जीव की सत्ता का प्रसङ्ग होगा। अर्थात्—आत्मा चेतन है और पृथिवी-आदि भूत अचेतन है। पृथिवी-आदि भूतो मे चेतन की सत्ता नही है उस अपेक्षा से भूतो को अचेतन समझना चाहिए ॥११८॥

निश्चय से जीव भूतात्मक (पृथिवी-आदि रूप—जड) नही है, क्योकि इसमे अचेतन (जड) पृथिवी-आदि भूतो की अपेक्षा विरुद्ध गुण (चैतन्य—बुद्धि) का ससर्ग पाया जाता है। अन्यथा—यदि भूतात्मक मानोगे तो पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार तत्त्वो की सिद्धि नही होगी, अर्थात्—आत्मा के नष्ट हो जाने पर भूत भी नष्ट हो जाँयगे परन्तु सत का नाश नही होता। अथवा—अन्यथा—विरुद्ध गुण (चेतन गुण) के ससर्ग होने पर भी जीव को भूतात्मक (जड) मानोगे तो आपके पृथिवी-आदि चारो तत्त्वो की सिद्धि नही होगी, क्योकि ये (पृथिवी-आदि) भी भिन्न-भिन्न धारण, ईरण व दाहादि गुणो के कारण पृथक्-पृथक् स्वतत्र सत्ता-युक्त है ॥११९॥ क्योकि यह जीव विज्ञान, सुख व दु खादि गुणो से पहचाना जाता है, अर्थात्—इसकी स्वतत्र सिद्धि मे उक्त गुण प्रतीक हैं जब कि पृथिवी, वायु, अग्नि व जल क्रमश धारण, ईरण, दाह

---

१ 'बुद्धय' इति ह लि (ग) प्रतौ पाठ ।

विज्ञानसुखदु खादिगुणलिङ्ग पुमानयम् । धारणेरणदाहादिधर्माधारा धरादय ॥१२०॥

अथ मतम्—पित्तप्रकृतिर्धीमान्मेधावी क्रोधनोऽल्पकामश्च । प्रस्वेद्यकालपलितो भवति नरो नात्र सन्देह ॥१२१॥

तन्न प्रवहम् । वृद्धिहानी यथाग्ने स्तामेधोत्कर्षापकर्षत पित्ताधिकोनभावाभ्या बुद्धे सप्राप्नुतस्तथा ॥१२२॥

गुरूपासनमभ्यासो विशेष शास्त्रनिश्चये । इति दृष्टस्य हानि स्यात्तथा च तव दर्शने ॥१२३॥

कुतश्चित्पित्तनाशेऽपि बुद्धेरतिशयेक्षणात् । कुत प्रभवभावोऽत्र स्याद्बीजाङ्कुरयोरिव ॥१२४॥

बुद्धि प्रति यदीष्येत पित्तस्य सहकारिता । का नो हानिर्भवत्येव नालवृद्धौ यथाम्भस ॥१२५॥

व च सतीद न किंचित् ।

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मति । मतत्रयमिहाश्रित्य नास्त्यभ्यासस्य सभव ॥१२६॥

ा शैत्य गुण के आधार है। अर्थात्—पृथिवी का गुण धारण, वायु का ईरण व अग्नि का दाह तथा जल का शैत्य गुण है। निष्कर्ष—इस प्रकार यह जीव इसीलिए भूतात्मक नही है, क्योकि इसमे पृथिवी-आदि जड भूतो की अपेक्षा विरुद्ध गुणो (ज्ञान, सुख व दु खादि) का ससर्ग है ॥१२०॥

यदि आपकी ऐसी निम्न प्रकार मान्यता है—'निस्सन्देह पित्त प्रकृतिवाला मानव बुद्धिमान्, धारणाशक्ति-युक्त, क्रोधी, अल्प मैथुन करने वाला, पसीनायुक्त और असमय मे सफेद बालोवाला होता है' ॥१२१॥ उक्त मत शोभन नही है, क्योकि जैसे ईधन की वृद्धि व हानि (न्यूनता—कमी) से अग्नि की वृद्धि व हानि होती है वैसे हो पित्त-वृद्धि से बुद्धि की वृद्धि व पित्त को न्यूनता से बुद्धि की हानि प्राप्त हो जायगी ॥१२२॥ यदि आपके मत मे सर्वथा पित्त प्रकृतिवाला पुरुष बुद्धिमान्-आदि होता है तब तो [बुद्धि की प्राप्ति के लिए] गुरुजनो की उपासना, शास्त्रो का अभ्यास व शास्त्र निश्चय सबधी विशेषता-इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीत हुई कारण सामग्री का अभाव हो जायगा। अर्थात्—फिर तो बुद्धि की प्राप्ति के लिए गुरुजनो की उपासना-आदि निरर्थक सिद्ध होगे ॥१२३॥ [आपकी उक्त मान्यता मे विशेष आपत्ति (दोष) यह है] कि किसी मानव मे पित्त का नाश (हीनता) होने पर भी बुद्धि की अधिकता का दर्शन होता है, अत इनमे (पित्त प्रकृति व बुद्धि मे) बीज व अङ्कुर सरीखा कार्यकारण भाव कैसे घटित हो सकता है? अर्थात्—पित्तप्रकृति बीज (उपादान कारण) है और बुद्धि अङ्कुर (कार्य) है, ऐसा कार्यकारणभाव नही घटित होता ॥१२४॥ यदि आप बुद्धि के प्रति पित्त को सहकारी कारण मानते है तो हमारी कोई हानि नही है। अर्थात्—हम भी बुद्धि के प्रति पित्त को वैसा सहकारी कारण मानते है जैसे कमल नाल की वृद्धि मे जल सहकारी कारण होता है। अर्थात्—कन्द-सरीखा जीव है और नाल-सरीखी बुद्धि है, उसमे पित्तरूपी जल सहकारी है ॥१२५॥ जब उक्त बात सिद्ध हो चुकी अर्थात्—जब चेतनाशक्ति-सम्पन्न आत्मद्रव्य पृथिवी-आदि चार भूतो से भिन्न व अनादि अनन्त विविध प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया गया तब आपकी निम्न प्रकार की मान्यता युक्तिसगत नही है—

'बुद्धि देहात्मिका (शरीर रूप), देह का कार्य व देह का गुण है, ऐसी तीन मान्यताओ का आश्रय करने से बुद्धि की प्राप्ति के लिए शास्त्रो का अभ्यास-आदि सघटित नही होगे ॥१२६॥

इति नास्तिक मतनिरास ।

केवल तत्त्वज्ञान चारित्र के विना वैसा सासारिक तृष्णा (वाञ्छा) की शान्ति का कारण नही होता जैसे जलादि का ज्ञान कर्तव्य-पालन (जलपान) के विना तृष्णा (पिपासा—प्यास) की शान्ति का कारण नही होता। अर्थात्—जैसे किसी प्यासे मनुष्य को सरोवर का ज्ञान हुआ परन्तु यदि वह वहाँ जाकर जलपान नही करता तो उसे प्यास की शान्ति रूप सुख कैसे हो सकता है? वैसे ही मुमुक्षु मानव का केवल तत्त्वज्ञान भी सदाचाररूप कर्त्तव्य पालन के विना उसकी सासारिक तृष्णा की शान्तिरूप सुख प्राप्त नही कर सकता।

तत्त्वज्ञान च जलादिज्ञानमिवाविहितानुष्ठान न भवति ससारतृष्णोपशान्तिकारणम् । असजातसदर्थक्रियारम्भ समधिगतेतिकर्तव्योऽपि कृषीवल इव न सयुज्यते फलै । अनायास्य काय सेवक इवात्मवानपि न लभते परा पदवीम् । ततश्च—

तत्त्व गुरो समधिगम्य यथार्थरूप तद्भावभावनमनोरथनिर्वृतात्मा ।
आयास्य कायमनवद्यतया तपोभिर्जन्तु पर पदमुपैति यथा क्षितीश ॥१२७॥'

सविधविद्याधरविनोदकर्मा **चण्डकर्मा**—'भगवन्, विदूरदुरागमवासनामनसा को नु खलूपाय सुमेधसामभ्युदयनिश्रेयसाधिगमाय ।' 'धर्म ।' 'को नामायं धर्म ।' 'अहिंसापूर्वकाग्रहस्तत्त्वपरिग्रह एव ।' 'ननु हिंसास्माक कुलधर्म । सा कथ त्यजनीया ।' 'अहो महापुरुष, एवमेवैतत्कुक्कुटमिथुन पुरा जन्मनि हिंसा कुलधर्ममनुमन्यमाने महतीं दु खपरम्परामनुबभूव ।' **चण्डकर्मा** (सविस्मय)—'भगवन्, कि पुन पुरा जन्मनीद किंचिद् दुष्कृतमकार्षीत् । कथ वा तदन्वभूत् ।' 'भगवान्, समाकर्णय । अस्यामेवोज्जयिन्यामस्यैव **यशोमति**महाराजस्य वशे ।

आसीच्चन्द्रमतिर्यशोधरनृपस्तस्यास्तनूजोऽभवत्तौ चण्ड्या कृतपिष्टकुक्कुटबली क्ष्वेडप्रयोगान्मृतौ ।
श्वा केकी पवनाशनश्च पृषतो ग्राहस्तिमिश्छागिका भर्तास्यास्तनयश्च गर्वरपतिर्जातौ पुन कुक्कुटौ ॥१२८॥

इसीतरह प्रशस्त कर्त्तव्य का ज्ञाता मानव, जिसने प्रशस्त प्रयोजन के लिए कर्त्तव्य का आरम्भ ही नही किया, अर्थात्—जो आलसी (श्रद्धा-हीन) है, तो वह भी वैसा सुखरूप फलो से सयुक्त नही होता जैसे आलसी किसान खेती करने के तरीको का ज्ञान रखता हुआ भी धान्यरूपी फलो से सयुक्त नही होता। इसी तरह तपश्चर्या के विना आत्मा को वश करनेवाला (जितेन्द्रिय) मानव भी वैसी उत्तम पदवी (मुक्तिस्थान) को प्राप्त नही होता, जैसे सेवक जितेन्द्रिय होनेपर भी शारीरिक कष्ट उठाए विना उत्तम पदवी (स्थान) प्राप्त नही करता। अत यह प्राणी (मुनि) गुरु से सत्यार्थ मोक्षोपयोगी तत्त्वो का निश्चय करके आत्मस्वरूप की भावना के मनोरथ से व्याप्त हुई आत्मा से युक्त हुआ (सम्यग्दृष्टि हुआ) निर्दोष तपश्चर्याओ के द्वारा शरीर को कष्ट देकर वैसा उत्तम पद (मोक्ष स्थान) प्राप्त करता है जैसे ,राजा उक्त प्रकार कर्त्तव्य पालन करता हुआ उत्तम पद (राज्यश्री का सुख) प्राप्त करता है। अर्थात्—जैसे राजा पिता के वचन सुनता है और उनपर श्रद्धा करता है एव पश्चात् प्रजापालन रूप कर्तव्य-पालन मे उद्यम करता है तब उत्तम पद (राज्य) प्राप्त करता है वैसे ही मुनि भी गुरु से तत्वज्ञान प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि हुआ निर्दोष तपश्चर्या करता है, जिससे मुक्तिश्री को प्राप्त करता है॥ १२७ ॥'

[अथानन्तर प्रस्तुत श्री सुदत्ताचार्य के अमृततुल्य व युक्ति-पूर्ण वचन सुनकर] चण्डकर्मा नामके कोट्टपाल ने, जिसके समीप विद्याधरो का क्रीडाकर्म या आमोद-प्रमोद है, कहा—'भगवन् ! मिथ्याशास्त्रो की वासना (सस्कार) से रहित चित्तवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषो के लिए निश्चय से स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति का क्या उपाय है ?'[1]

आचार्यश्री—'धर्म ही उपाय है। चण्डकर्मा—'इस धर्म का क्या स्वरूप है ?'

आचार्यश्री—'अहिंसा (प्राणिरक्षा) के साथ प्रगाढ अनुराग वाले तत्वनिश्चय को धर्म कहते है।' चण्डकर्मा—'निस्सन्देह प्राणियो की हिंसा करना हमारा कुल-धर्म है, उसे कैसे छोडनी चाहिए ? आचार्यश्री—'अहो महापुरुष ! इस मुर्गा-मुर्गी के जोडे ने, इस प्रकार ही पूर्व जन्म मे हिंसा को कुलधर्म मानने से विशेष दु ख श्रेणी भोगी।' चण्डकर्मा ने आश्चर्यान्वित होते हुए पूँछा—'भगवन् ! इस मुर्गा-मुर्गी के जोडे ने पूर्वजन्म मे कौन-सा पाप किया ? और किस प्रकार से उसका फल (दु ख-समूह) भोगा ?' प्रस्तुत आचार्य—'सुनिए। इसी उज्जयिनी नगरी मे इसी यशोमति महाराज के वश मे [यशोर्धराजा की] चन्द्रमति नामकी रानी थी, उसका पुत्र यशोधर नाम का राजा था। उन दोनो ने चण्डमारी देवी के लिए आटे के मुर्गे की बलि चढाई। फिर दोनो विषप्रयोग से कालकवलित हुए। अर्थात्—यशोधर की रानी अमृतमति द्वारा किये गये विष-प्रयोग

तत प्रशान्ताशयाशेषमलजालास्ते पञ्चापि लोकपाला इव त सुदत्तभगवन्त प्रणम्य जगृहु पाण्डुतनया इव सद्दर्शन-पूर्वकाणि त्रिदशैरपि दुरापाणि श्रावकव्रतानि । प्रमुक्तलोकायतमतधर्मा अचिरसमासजन्नभश्चरपदावाप्तिशर्मा चण्डकर्मापि धर्मावबोधात्परिपूर्णशापावधि पूर्वविद्यासदोहासादसपादिताम्बरविहार समाचरितसहचराश्चर्यव्यवहार प्रविचचार खेचरनिवेश देशम् ।

तदनु चावामप्यहो मारदत्तमहाराज, सुदत्तभगवद्भाषितपुरावृत्तवृत्तान्तश्रवणेनातीवजातनिर्वेदोद्धूतपरि-ग्रहाच्चेदानी खल्वावयोरग्निस्पृष्टबीजवन्नाविर्भाव कर्मणामित्यानन्दनादोदीर्णनिगरणावदूष्यवपुषावपि दूष्याभ्यन्तरस्थित स यशोमतिमहाराज शय्योत्सङ्गमागताया कुसुमावलीमहादेव्या शब्दवेधित्वकौशल दर्शयितु शयनासन्नशरकुरलीमध्या-दलकर्मीणकायमेक सायकमादाय विव्याध । ततश्च विधातु कल्मषशेषमनुविभावयिषोर्वशात्परित्यक्तकुक्कुटपर्याययोरशुचौ लालाहारे कृमिजालसमाकुले बभूव तद्देव्या अपर इव निरयनिलये गर्भे पुनरावयोर्जन्म । आवाभ्यामवाप्ताधाना च सा किल यशोमतिमहीपालप्रणयपादपप्रथमकन्दली कुसुमावली महादेवी रहसि

नेत्रे दिलासविरले शरपाकपाण्डु गण्डद्वय हरिततरत्नरूची कुचाग्र ।

से मरे। फिर कुत्ता व मोर हुए। अर्थात्—यशोधर का जीव मरकर मोर हुआ और उसकी माता चन्द्रमति का जोव मरकर कुत्ता हुई। इसके बाद सर्प व सेही हुए। अर्थात्—यशोधर का जीव (मोर) मरकर सेही हुआ और उसको माता चन्द्रमति का जीव (कुत्ता) मरकर सर्प हुआ। फिर वे दोनो मरकर मकर व मच्छ हुए। अर्थात्—यशोधर का जीव सेही रोहिताक्ष नामका मच्छ हुआ और उसकी माता चन्द्रमति का जीव (सर्प) शिशुमार नाम का मकर हुआ। फिर वे दोनो बकरी व उसका पति बकरा हुए। अर्थात्—चन्द्रमति का जीव (शिशुमार नाम का मकर) मरकर बडो बकरी हुआ और यशोधर का जीव (रोहिताक्ष नाम का मच्छ) मरकर उसका पति बकरा हुआ। इसके बाद दोनो बकरा व भैसा हुए। अर्थात्—यशोधर का जीव (बकरा) पुन अपनी स्त्री (बकरी) से बकरा हुआ, और चन्द्रमति का जीव (बकरी) मरकर भैंसा हुई। फिर दोनो मरकर मुर्गा-मुर्गी हुए॥ १२८॥'

अथानन्तर उक्त प्रवचन सुनने से उक्त पाँचो पुरुषो ने भी (चण्डकर्मा-आदि ने), जिनके हृदय से समस्त पापसमूह नष्ट हो गया है ऐसे होते हुए और जो दिक्पालो या राजाओ सरीखे है, पूज्य श्री सुदत्ताचार्य को नमस्कार करके पाण्डवो-सरीखे देवताओ को भी दुर्लभ श्रावको के व्रत धारण किये। फिर नास्तिक मत के सिद्धान्त छोडने वाले चण्डकर्मा ने भी, जिसे शीघ्र हो विद्याधरो की पद-प्राप्ति का सुख प्राप्त हो रहा है, जैनधर्म का ज्ञान होने से जिसकी शाप की अवधि पूर्ण हो चुकी है। जिसने पूर्व की विद्याधर-विद्याओ की श्रेणी प्राप्त हो जाने से आकाश मे विहार करना प्राप्त कर लिया है एव जिसने साथियो के साथ आश्चर्यजनक व्यवहार प्रकट किया है, ऐसा होकर विद्याधरो के निवास वाले स्थान मे [आकाश मार्ग से] प्रस्थान किया। तदनन्तर अहो मारिदत्त महाराज! ऐसे हम दोनो (मुर्गा-मुर्गी) को भी, जो कि मानो—इसलिए आनन्द जनक शब्दो से उत्कट गलेवाले हुए थे कि श्री सुदत्त भगवान् द्वारा कहे हुए पूर्वजन्म सबधी वृत्तान्त के सुनने से विशेप उत्पन्न हुए वैराग्य की उन्नत स्वीकारता से हम दोनो (मुर्गा-मुर्गी) मे अब भी निश्चय से वैसी कर्मो की उत्पत्ति नही होगी जैसे अग्नि से छुआ हुआ बीज अड्कुर उत्पन्न करने मे समर्थ नही होता और जिनका शरीर दूष्या (तम्बू) मे भी नही था, (जो यशोमति महाराज के तम्बू से भी दूर थे), दूष्या (तम्बू अथवा पापप्रवृत्ति) के मध्य मे स्थित हुए यशोमति महाराज ने शय्या के मध्य मे प्राप्त हुई कुसुमावली महादेवी को शब्दवेधिता की कुशलता दिखाने के लिए शय्या के समीपवर्ती तूणीर (वाणो का भाता) के मध्य से भेदने मे समर्थ एक वाण लेकर उससे हम दोनो को भेद दिया (विदीर्ण कर दिया)। पश्चात् मुर्गा-मुर्गी की पर्याय छोडनेवाले हम दोनो का जन्म शेष पाप का भोग कराने के इच्छुक विधाता (भाग्य) के वश से कुसुमावली

मध्यो बलित्रयखिलस्तनुजावलीयमुत्तम्भितेव विकटा वनिता सुगर्भे ॥ १२९ ॥

जातस्वागताय तस्मै महीशाय निजदोहदान्येवमाशशस—'देव, विधीयता विष्वग्घुष्टेन सर्वेषामपि सत्त्वानामभयप्रदानम् । देव, निवार्यता कल्यपालापणेषु मैरेयव्यवहार । देव, प्रतिषिध्यता महानसेषु क्रव्यागम । देव, प्रस्तूयन्तामेवमपरा अपि तास्ता क्रिया यत्र नोपयोगो मकारादित्रयस्य । देव, श्रवणकुतूहलानि महान्ति मे जीवदयागमेषु । देव, परमवलोकनाभिलाष सयतोपास्तिषु । देव, पर मनोरथा सयमपरायणीना तापसीना चरणाराधनेषु ।' राजा 'ननमेवविधप्रसादाद्देवीदोहदादस्मिन्गर्भेऽवतीर्णस्य कस्यचित्सुकृतिनो भविष्यति महती खल्वार्हती वासना । भवतु नामैवम् । तथाप्येतदभिलाष पूरयितव्य एव । अन्यथा

गर्भिणीना मन खेदात्स्यादपत्येष्वकल्पता । लताना फलसपत्ति कुतो मूलव्यथागमे ॥ १३० ॥'

इति वितर्क्य, आहूय च यथाप्रसिद्धिप्रवृत्ताख्यान्नरान्मुख्यान्तथैवान्वतिष्ठिपत् । सापि देवी व्यतिक्रम्य किल चिक्कसाकीर्णोरुपयोधरव्यवस्थामवस्थामवाप्य चावीसमयमसूतावाममृतमथनवेलेव लक्ष्मीचन्द्रमसौ पुनरावयो कृते

महादेवी के ऐसे गर्भ मे हुआ, जो कि अपवित्र है, जिसमे लार का ही भोजन है और जो कीडो के समूह से व्याप्त है तथा जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—दूसरा नरक स्थान ही है ।

हम दोनो को गर्भ मे धारण करनेवाली उस कुसुमावली महादेवी ने, जो कि यशोमति राजा के प्रेमरूपी वृक्ष की कोमल शाखा है, उस राजा के लिए, जिसके प्रति विनय प्रकट की गई है, एकान्त मे निम्न प्रकार अपने दोहद (दोहले) कहे । वह यशोमति महाराज की प्रिया—कुसुमावली महादेवी गर्भवती के अवसर पर ऐसी सुशोभित हो रही थी, जिसके दोनो नेत्र विलास[1] (हावभाव व लीला) से मन्द है । उसके दोनो गाल पके हुए सरकडा-सरीखे पाण्डु हुए । जिसके कुचो (स्तनो) के अग्रभाग हरितमणि की कान्ति-सरीखे (नीले) थे । उसका उदर भग्नरेखा वाला हुआ एव जिसकी रोमराजि विकट[2] (मनोज्ञ) थी एव रोकथाम करती हुई-सी-मालूम पडती थी ॥ १२९ ॥

[कुसुमावली महादेवी के दोहद—] 'हे राजन् ! सर्वत्र घोषणा द्वारा समस्त प्राणियो के लिए अभयदान कीजिए । हे स्वामिन् ! कल्यपालो[3] मद्य बेचने वालो) की दुकानो पर मद्य बेचने का व्यवहार रोकिए । हे देव ! पाकशालाओ मे मास का आगमन रोकिए । हे राजन् ! दूसरी भी उन-उन क्रियाओ का आरम्भ कीजिये, जिनमे मद्य, मास व मधु का उपयोग न हो । हे स्वामिन् ! मुझे जीव दया का निरूपण करने वाले शास्त्रो के श्रवण सम्बन्धी विशेष कौतूहल हो रहे है । देव ! मुनिजनो की पूजाओ के दर्शन की मेरी उत्कट इच्छा है । राजन् ! चरित्र पालन मे तत्पर रहने वाली तपस्विनियो (आर्यिकाओ) के चरण कमलो की सेवाओ के मेरे उत्कट मनोरथ है ।' [उक्त दोहलो को सुनकर] यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार विचार किया—'ऐसी प्रसन्नता वाले रानी के दोहले से, इस गर्भ मे अवतीर्ण हुए किसी पुण्यवान् पुरुष की जैनधर्म सम्बन्धी महान् वासना (भावना—सस्कार) मालूम पडती है । अस्तु ऐसा हो, तथापि इसकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करनी चाहिए । अन्यथा—यदि गर्भवती प्रिया का दोहला पूर्ण नही किया जावे तो गर्भवती स्त्रियो के मानसिक खेद से उनके बच्चे रुग्ण होते है । क्योकि जब लताओ की जडो मे रोग प्राप्त होता है तब उनमे फल-सम्पत्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १३० ॥ फिर यशोमति महाराज ने उन प्रमुख अधिकारी मनुष्यो को, जिनका नाम यथायोग्य प्रवृत्ति करने मे प्रसिद्ध है (जो उक्त दोहलो की पूर्ति करने मे समर्थ है), बुलाकर उन्हे वैसा ही स्थापित किया (उनसे उक्त कार्य सम्पन्न करने की प्रेरणा की) । इसके बाद—उस कुसुमावली रानी ने भी निस्सन्देह ऐसी

---

१. विलासो हावलीलयोरिति विश्व ।

२ 'विकट कराले पृथुरम्ययो 'ह० लि० सटि० प्रति (ख) से सकलित—सम्पादक ३ कल्यपाला मद्यसधायिन ।

यशस्तिलक इति **मदनमती**रिति च वशोचिते मातृदोहदाश्रिते **चाभयरुचि**रित्य**भयमति**रिति च नामनी । व्यतिक्रान्तवति च शैशवे, जातवति च सकलकलाकमलिनीकुलावतारसरसि कुमारवयसि, तव सपत्नाननेष्विव समधिकमधिरूढवति कुन्तलेषु कृष्णत्वे, तव गुणेष्विव विशालता प्रतिपन्नेषु लोचनेषु, तव यशसीव परिपूर्णवति वदनमण्डले, तव वैरिवर्ग इव क्षामतामाश्रितवति मध्यभागे, तव पराक्रमेष्विव प्रकटता गतेषु समस्तेष्वपि निम्नोन्नतदेशेषु प्रदेशेषु, अस्य खल्व**भयरुचिकु**मारस्य राजा करिष्यति भविष्यन्त्या पक्षतौ युवराजकण्ठिकाबन्धमिमा **चाभयमतिं** राजपुत्रीं भर्तृदारिका दास्यत्यहिच्छत्राधिपतये क्षत्रियायेत्यमात्यपरिवारवनितास्वाविर्भवन्तीषु जनश्रुतिषु, स **यशोमति**महीपाल स्वय करार्पितदशेरभृङ्खलामाल सह श्वगणिभिर्जोषधिषणपुरुषालापोल्लास्यमतिरेकदा पार्पद्धिबुद्ध्या विधीतविषयमनुसरस्तत्सहस्रकूटोद्यानप्रसूनपरिमलाघ्राणचलितलोचनालियुगलस्त **सुदत्त**भगवन्तमवलुलोके । नर्मसचिवकुमारोऽ**जमार** 'क्षितिपते, दुष्करस्य मुनेरवलोकनादद्य न भविष्यति पार्पद्धि सफलर्द्धि । राजा मनागाविग्नमनाश्चुक्षोभ । अत्रावसरे **सुदत्त**भगवद्वन्दनार्थमागतेन प्रणयप्रश्रयाश्रयेण **कल्याणमित्र**नाम्ना **वैदेह**केश्वरेण स विशापतिरेवमूचे—'राजन्, किमकाण्डे मन्युमलिनमाननम् ।' **अजमार** —'राज-

---

अवस्था को, जिसमे पीन कुचकलशो की व्यवस्था तैलाक्त होती है, अर्थात्—जिसमे तैलाभ्यङ्गन व मर्दनादि सीमन्त स्नान होता है, व्यतीत करके एव प्रसूति-व्यथा का अवसर प्राप्त करके हम दोनो को वैसा उत्पन्न किया जैसे अमृत-मथन की बेला लक्ष्मी व चन्द्रमा को उत्पन्न करती है। फिर हम दोनो (पुत्र-पुत्री) का 'यशस्तिलक' और 'मदनमति' ऐसा वश के योग्य एव 'अभयरुचि' और 'अभयमति' ऐसा माता के दोहला-धीन नाम सस्कार किया गया। अहो मारिदत्त महाराज ! जब हम दोनो का वाल्यकाल व्यतीत हो गया और जब समस्त कला-रूपी कमलिनी श्रेणी के अवतरण के लिए सरोवर-सा कुमारकाल प्राप्त हुआ उस समय जब हम दोनो के केशो मे कृष्णता (श्यामता) वैसी विशेष रूप से अधिरूढ (प्राप्त) हुई जैसे आपके शत्रु-मुखो पर कृष्णता—(म्लानता) विशेष रूप से अधिरूढ होती है। जब हम दोनो के नेत्र वैसे विशालता (दीर्घता) प्राप्त किये हुए थे जैसे आपके गुण (प्रताप-आदि) विशालता (महत्ता) प्राप्त करते है। जब हमारा मुख-मण्डल वैसा परिपूर्ण हो गया जैसे आपका यश परिपूर्ण (समस्त पृथिवी मण्डल मे व्याप्त) होता है। जब हमारा मध्यभाग (कमर) वैसी क्षामता (कृशता) प्राप्त कर चुका था जैसे आपका शत्रु-समूह क्षामता (विनाश) प्राप्त करता है और जब हमारे नीचे-ऊँचे स्थानवर्ती शारीरिक प्रदेश (हस्त-पाद-आदि अवयव) वैसे प्रकट हो चुके थे जैसे आपके पराक्रम प्रकट होते है एव जब यशोमति महाराज अभयरुचि कुमार के [गले पर] आगामी प्रतिपदा की वेला मे युवराजपद की कण्ठी बाँधेगे और राजकुमारी अभयमति को अहिच्छत्र देश के स्वामी क्षत्रिय राजकुमार के लिए देगे' मन्त्रियो के परिवार की स्त्रियो मे ऐसी जन श्रुतियाँ (किम्वदन्तियाँ—अफवाहे) प्रकट हो रही थी—सुनाई पड रही थी तब एक समय शिकार खेलने की बुद्धि से यशोमति महाराज ने, जिसने स्वय हस्त से शिकारी कुत्तो की जजीर श्रेणी धारण की है, जिसकी बुद्धि सेवकजनो के साथ वार्तालाप करने से आनन्दित हो रही है एव जो कुत्तो के रक्षक मनुष्यो के साथ जगल के क्रीडावन की ओर प्रस्थान कर रहा है तथा जिसकी नेत्रपक्ति का जोडा सहस्रकूट मन्दिर के बगीचे के पुष्पो की सुगन्धि के सूँघने से चञ्चल हुए है, श्री पूज्य सुदत्ताचार्य को देखा। उस समय 'अजमार' नाम के नर्मसचिव (विदूषक) कुमार ने कहा—'हे राजन् ! कष्टदायक इस मुनि के दर्शन हो जाने से आज शिकार सफल वृद्धि वाली नही होगी।' [उक्त बात को श्रवण कर] यशोमति महाराज कुछ उद्विग्न चित्त होते हुए मन मे मुनि से क्षुब्ध-क्रुद्ध हुए। इसी अवसर पर श्रीसुदत्त भगवान् की वन्दना के लिए आये हुए और भक्ति व विनय के आश्रय 'कल्याणमित्र' नाम के वणिक् स्वामी ने यशोमति महाराज से ऐसा कहा—'हे राजन् ! बिना अवसर के आपका मुख शोक से म्लान (कान्ति-हीन) क्यो हो रहा है ?

श्रेष्ठिन्, एतस्यामङ्गलीभूतस्य नग्नस्यावलोकनात् ।' कल्याणमित्र —'राजन, मैवमभिनिवेश कृथा । एष खलु भगवान्पुरा कलिङ्गाधिपतिस्तव पितुरन्वयसबन्धादेव नितरा माननीय सकलदिक्चक्रविक्रमाक्रान्तविनतसामन्तमुखमुकुरुन्दीकृतचणनख-मण्डलोऽभिसारिकामिव स्वयमागता श्रिय चपलाङ्गनामिवावमत्य निखिललोकनतीये तपसि वर्तमान परमेष्ठी कथ नामावैशिकलोकलोचनानन्देन त्वया मनसाप्यवमन्तव्य । कि च ।

सुखानुभवने नग्नो नग्नो जन्मसमागमे । बाल्ये नग्न शिवो नग्नो नग्नश्छिन्नशिखो यति ॥१३१॥
नग्नत्व सहज लोके विकारो वस्त्रवेष्टनम् । नग्ना चेय कथ वन्द्या सौरभेयी दिने दिने ॥१३२॥
पापिष्ठ पापहेतुर्वा यच्चानिष्ट विचेष्टनम् । अमङ्गलकर वस्तु प्रार्थितार्थविघाति च ॥१३३॥
ज्ञानध्यानतप पूता सर्वसत्त्वहिते रता । किमन्यन्मङ्गल लोके मुनयो यद्यमङ्गलम् ॥१३४॥
भाव क्वापि भवेद्राज्ञा सर्वातिथ्यक्रम सम । कि व्योमापाश्रय पूषा पक्षपातात्प्रकाशते ॥१३५॥
लोलेन्द्रिया दुराम्नाया परेच्छावशवृत्तय । अशक्तास्तत्पद गन्तु ततो निन्दा प्रचक्रिरे ॥१३६॥
धर्मकर्मोद्यतोऽप्येष मुनिलोकस्त्वया यदा । नीयेतावर्मात देव तदा कास्य तप क्रिया ॥१३७॥
वने वा नगरे वापि वपु शेषा मुनीश्वरा । निर्विघ्न यत्तपस्यन्ति तन्माहात्म्य तव प्रभो ॥१३८॥
अल दुराग्रहैर्नाथ मान्यमेतन्मुनि प्रति । प्रतिबध्नाति हि श्रेय पूज्यपूजाव्यतिक्रम ॥१३९॥

विदूषक-पुत्र अजमार—'हे वणिक्-स्वामी इस अमङ्गलीभूत (अशुभ) नग्न के देखने से ।'

कल्याण मित्र—'ऐसा अभिप्राय (विचार) मत करो । क्योकि निश्चय से यह भगवान् पूर्व मे कलिङ्ग देश के राजा थे, जो कि तुम्हारे पिता के वश-सबध से ही सदा माननीय (पूज्य) है, जिनके चरण-नखमण्डल समस्त दिशा समूह मे रहने वाले व पराक्रम से पराजित होने से नम्रीभूत हुए सामन्तो (अधीनस्थ माण्डलिक राजाओ) के मुखा के लिए दर्पण किया गया है । जिमने व्यभिचारिणी स्त्री-सरीखी स्वय आई हुई राज्यलक्ष्मी को चञ्चल स्त्री सरीखी समझकर तिरस्कृत किया और जो समस्तलोक से पूज्य तपश्चर्या मे स्थित हो रहा है, ऐसा परमेष्ठी (मोक्षपद मे स्थित) अतिथिजनो के नेत्रो को आनन्दित करने वाले आप से किस प्रकार मन से भी तिरस्कार करने योग्य है ? विशेषता यह है—

यह मानव काम-सुख भोगने के अवसर पर नग्न होता है, जन्म-प्राप्ति मे नग्न होता है, वाल्यावस्था मे नग्न रहता है और शिवजी भी नग्न है तथा चौल-रहित सन्यासी भी नग्न होता है ॥ १३१ ॥ लोक मे नग्नता स्वाभाविक है । वस्त्र से आच्छादित होना यह तो विकार है । नग्न गौ प्रत्येक दिन किस प्रकार से पूजनीय होती है ॥ १३२ ॥ ऐसी वस्तु अमङ्गल (अशुभ) कही जाती है, जो पाप-युक्त अथवा पाप का कारण है, जो अनिष्ट (अप्रिय) है और विचेष्टन (ग्लानि-जनक) है तथा जो प्रार्थना किये हुए पदार्थ का विघात (नाश) करने वाली है ॥ १३३ ॥ ज्ञान, ध्यान व तपश्चर्या से पवित्र तथा समस्त प्राणियो के कल्याण करने मे अनुरक्त हुए साधु लोग यदि अमङ्गलीक (अशुभ) है तब लोक मे दूसरी कौन वस्तु मङ्गलीक होगी ? ॥१३४॥ राजाओ के परिणाम यद्यपि किसी भी मत मे होते है तथापि उन्हे समस्त मुनियो की विनय समान रूप से करनी चाहिए । आकाश व समुद्र के आश्रय रहने वाला सूर्य क्या पक्षपात से पदार्थों को प्रकाशित करता है ? ॥१३५॥ ऐसे मानवो ने, जो चञ्चल इन्द्रियो वाले है, जो दुष्ट आम्नाय वाले है, व जिनकी प्रवृत्ति दूसरो की इच्छा के अधीन है एव जो मुनिपद प्राप्त करने मे असमर्थ है, उसकारण से मुनि-निन्दा की है ॥ १३६ ॥ देव ! धार्मिक क्रियाओ के पालन करने मे तत्पर हुआ भी यह मुनि-समूह जब तुमसे अनादर मे प्राप्त कराया जाता है, तब इसकी तपश्चर्या क्या है ? ॥ १३७ ॥ ऐसे मुनीश्वर जिनका शरीर ही शेष है (जो छत्र-आदि रक्षा के साधनो से रहित है), वन मे अथवा नगर मे भी जो निर्विघ्न तपश्चर्या करते है, वह आप स्वामी का ही माहात्म्य है ॥ १३८ ॥ हे स्वामिन् ! पूजनीय इस मुनि के प्रति दुराग्रह करने से कोई लाभ नही है, क्योकि

तत्पर्याप्तमनया दुर्वासनयाऽगच्छ । वन्दावहे तप प्रभावप्रणतनिखिलदिक्पालमौलिमणिवेदिकाधिदेवतायमानचरणमेन परमेष्ठिनम् । अतस्तौ द्वावपि मेरुमिव सूर्याचन्द्रमसौ त भगवन्त प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामौ च पुर प्रत्यक्षोदयौ नयविनयाविवोपविविशतु । भगवान्नरेश्वरमुररीकृत्योद्धृत्य च भविष्यल्लक्ष्मीलतोल्लासप्रथमपल्लवोल्लेखमिव पञ्चशाखम्

कामधेनुरखिलोत्सवसङ्गे श्रीसमागमनसूचनदूती । देवमानवमनोरथसिद्धिर्धर्मवृद्धिरियमस्तु सदा व ॥१४०॥

अपि च । त्व वीर वैरिवनितानयनेन्दुकान्तनिष्यन्दसपदि मतोऽसि नरेश राजा ।

आदित्य एव च भवान्नहिताङ्गनाङ्गनिस्तोकशोकतपनोपलदीपनेषु ॥१४१॥'

राजा 'क्वास्माकमेवविधानि मनोदुर्विलसितानि । क्व चेय भगवतामस्तुङ्कारकल्याणपरम्पराशसनपरायणता । तदत्रास्य दुश्चरितस्य निजशिर कमलेन भगवच्चरणार्चनमेव प्रायश्चेतन नान्यत् ।' इति परमपराक्रमतया नि सीमसाहसतया च कृताभिनिवेशो मुनीशेन महीश किलैवमादिदिशे—'विशापते, मैव मस्था । चित्तानि हि देहिना स्वभावचञ्चलतया-

---

निश्चय से पूजनीयो की पूजा का उल्लङ्घन कल्याण को रोकता है ॥ १३९ ॥ अत इस दुष्ट विचार से कोई लाभ नही । आइए, ऐसे इस परमेष्ठी को नमस्कार करें, जिसके चरण तपश्चर्या के प्रभाव से झुके हुए समस्त दिक्पालो के मुकुटो की मणिरूपी वेदी पर अधिष्ठात्री देवता के समान आचरण कर रहे है । इस कारण उन दोनो (कल्याण मित्र नाम के वणिक् स्वामी व यशोमति महाराज) ने उस पूज्य श्री सुदत्ताचार्य की वैसी प्रदक्षिणा करके जैसे सूर्य व चन्द्रमा सुमेरु की प्रदक्षिणा करते है प्रणाम किया । पश्चात् वे दोनो प्रत्यक्ष उत्पन्न हुए—नय (राजनीति) व विनय-सरीखे प्रस्तुत आचार्य श्री के समक्ष आसीन हुए । पूज्य सुदत्ताचार्य ने यशोमति महाराज को लक्ष्य करके ऐसा हाथ उठाकर कहा—जो कि ऐसा मालूम पडता था—मानो—भविष्य मे उत्पन्न होने वाली लक्ष्मीरूपी लता के उल्लास (विकास) के लिए उत्कृष्ट पल्लव की उत्पत्ति ही है ।

आपके लिए सदा यह धर्मवृद्धि हो, जो कि समस्त आनन्दो के सङ्गम करने मे कामधेनु है । अर्थात्—जैसे कामधेनु समस्त इच्छित सुखो का सङ्गम कराती है वैसे ही यह धर्मवृद्धि भी समस्त अभिलषित सुखो का सङ्गम कराती है । जो लक्ष्मी के भले प्रकार आगमन की सूचना देनेवाली दूती है, और जिससे देव व मनुष्यो के मनोरथ पूर्ण होते है ॥ १४० ॥ विशेषता यह है कि हे वीर नरेश ! तुम शत्रुओ की स्त्रियो के नेत्ररूपी चन्द्रकान्तमणि की जलप्रवाह-शोभा मे चन्द्र माने गए हो । अर्थात्—जैसे चन्द्र के उदय से चन्द्रकान्तमणि से जलप्रवाह लक्ष्मी उत्पन्न होती है वैसे ही चन्द्र-सरीखे आपके उदय से शत्रु-स्त्रियो के नेत्र रूपी चन्द्रकान्तमणि से अश्रुप्रवाहलक्ष्मी (अश्रुजलप्रवाह-शोभा) उत्पन्न होती है । आप शत्रु-स्त्रियो के शरीर सबधी प्रचुर शोकरूपी सूर्यकान्तमणि के उद्दीपन मे सूर्य ही है । अर्थात्—जैसे सूर्योदय से सूर्यकान्तमणि से अग्नि उद्दीपित होती है वैसे ही शत्रु-स्त्रियो के प्रचुर शोकरूपी सूर्यकान्तमणि को उद्दीपित करने मे आप सूर्य है ॥ १४१ ॥ फिर यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार विचार किया—'कहाँ तो हमारे ऐसे मानसिक दुर्विलसित (खोटे अभिप्राय) और कहाँ यह पूज्य श्री सुदत्ताचार्य की मानी हुई कल्याण श्रेणी के निरूपण की तत्परता ? इसलिए यहाँ पर अपने शिर कमल से प्रस्तुत भगवान् के चरणो की पूजा करनी ही इस पाप का प्रायश्चित्त है, अन्य नही ।' यशोमति महाराज ने विशेष पराक्रम व वेमर्याद किये जानेवाले साहस से उक्त प्रकार का अभिप्राय किया उसे जानकर प्रस्तुत मुनीश्वर ने निम्नप्रकार आदेश दिया—'हे राजन् ! ऐसा मत करो । अर्थात्—इस प्रकार के विचार मन मे मत लाओ । क्योकि निश्चय से प्राणियो के चित्त स्वभाव से चञ्चलता के कारण समुद्र की तरङ्गो के जल सरीखे ऊँचे-नीचे विषयो मे प्रवृत्ति करनेवाले (नाना प्रकार के) होते है, इसलिए दुरभिप्राय करने से कोई लाभ नही ।' तदनन्तर यशोमति महाराज ने नमस्कार पूर्वक क्षणमात्र निम्नप्रकार आश्चर्य करके भगवान् सुदत्त से पूँछा—'अहो भगवान् सुदत्त की बुद्धि, इन्द्रियो के अगोचर (अविषय)

कूपारकल्लोलजलानीवोच्चावचविषयवृत्तीनि भवन्ति । तदल दुरभिनिवेशेन । **यशोमति**महाराज सशिर कम्पम्—'अहो, भगवतामतीन्द्रियेष्वपि पदार्थहृदयेषु सातिशया शेमुषी' इति क्षणमात्र विस्मित्य भगवन्तमापपृच्छे—'भगवन्, किं नाम मे मनो दुरभिनिवेशमध्यशेत । भगवान्ववेत्याद्याश्रय तदाशयमुपादिशत् ।

कल्याणमित्रः—'काश्यपीपते, नैतदाश्चर्यम् । अय हि भगवान्महर्द्धिसपन्नतयाष्टाङ्गमहानिमित्तनिलय. सर्वावधिसमक्षसाक्षात्कृतसकलवस्तुविषय करतलामलकमिव कालत्रयत्रिलोकोदरविवरवर्तिसमर्थमपि पदार्थसार्थ कलयति । तदन्यदेव किंचिदेतत्सभासभाजनकर नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदु खजीवितमरणजन्मान्तरगोचरमापृष्टव्य । क्षितिपति (सानुनयम्)—'भगवन्, मम पितामहो **यशोर्घ**महाराजस्तादृश लोकोत्तर चरित्रमाचर्येदानी किं नु खलु लोकमध्यास्ते पितामही **चन्द्रमति** पिता **यशोधर**महाराजोऽमृतमतिश्च माता ।' भगवान्—'समाकर्णय ।

राजन्यशोर्धनृपति पलित विलोक्य निर्विद्य ससृतिसुखेषु मुनिर्बभूव ।
राज्ये यशोधरनृप तनय निवेश्य तत्याज निस्पृहतया तृणवद्विभूतिम् ॥१४२॥
जैनागमोचितमुपास्य तपश्चिराय प्रायोपवेशनविधानविमुक्तकाय ।
ब्रह्मोत्तर त्रिदशवेशमवाप्य जातस्तत्कल्पलेखपतिरद्भुतमासमेत ॥१४३॥

ब्रह्मपुत्रविधिना सह मात्रा त **यशोधर**नृप विनिपात्य । जातकुब्जरतिरङ्गविरामात्पञ्चम निरयमाप तवाम्बा ॥१४४॥

पदार्थों के रहस्यो के जानने मे विलक्षणता रखनेवाली (विशेष प्रवृत्त होनेवाली) है ।' 'हे भगवन् ! मेरी चित्तवृत्तिने कौन से दुरभिप्राय का आश्रय किया ?'

भगवान् ने उसका अभिप्राय, जिसमे 'कहाँ तो हमारे इस प्रकार के मानसिक दुर्विलसित (खोटे अभिप्राय) और कहाँ यह पूज्य श्री की अभिलषित कल्याण श्रेणी के निरूपण की तत्परता ? उस कारण इस अवसर पर अपने शिरकमल द्वारा प्रस्तुत भगवच्चरणो की पूजा करना ही इस पाप का प्रायश्चित्त है, अनन्य नही' इन वाक्यो की अर्थ सगति वर्तमान है, निरूपण कर दिया । तदनन्तर 'कल्याणमित्र' नाम के वणिक-स्वामी ने कहा—'हे राजन् ! इसमे कोई आश्चर्य नही है, क्योकि यह भगवान् निश्चय से गुरुदेशना से नही किन्तु महान् ऋद्धियो की सपन्नता (युक्तता) के कारण अष्ट अङ्गो वाले महानिमित्तो के जानने का गृह (स्थान) है और जो सर्वावधि प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा समस्त वस्तु समूह का प्रत्यक्ष ज्ञाता है, अत ये तीन काल व तीन लोक के मध्यवर्ती योग्य पदार्थसमूह को हस्ततल पर स्थित आँवले की भाँति जानते है, अत इन पूज्य सुदत्ताचार्य से दूसरा ही विषय पूँछना चाहिए, जो कि नष्ट, चोरी, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दु ख, जीवन, मरण व पूर्वजन्म इन विषयो से सबध रखता हो एव सभाजनो को प्रीतिजनक हो ।

अथानन्तर यशोमति महाराज ने विनयपूर्वक पूँछा—'भगवन् ! मेरे पितामह (पिता के पिता) यशोर्घमहाराज वैसा अलौकिक चरित्र (मुनिधर्म) धारण करके इस समय निश्चय से किस लोक मे निवास कर रहे है ? एव हमारी पितामही (पिता की माता) चन्द्रमति और मेरे पिता यशोधर महाराज तथा अमृत-मति माता ये सब किस लोक मे निवास कर रहे है ?

भगवान् सुदत्तश्री ने कहा—'सुनिए—हे राजन् ! यशोर्घ राजा शिर पर सफेद केश देखकर सासारिक सुखो से विरक्त होकर मुनि हुए। उन्होने अपने पुत्र यशोधर राजा को राज्य मे स्थापित करके नि स्पृहता के कारण तृणसमान राज्यविभूति का त्याग किया ॥ १४२ ॥ पश्चात्—उन्होंने चिरकाल तक जैनशास्त्र के योग्य तपश्चर्या करके सन्यास (समाधिमरण) सबधी उपवास विधान द्वारा शरीर छोडनेवाले होकर ब्रह्मोत्तर नाम के छठे स्वर्ग मे प्राप्त होकर उस स्वर्ग के आश्चर्य जनक लक्ष्मी सहित इन्द्र हुए ॥ १४३ ॥ कुबडे के साथ रतिविलास करने वाली तुम्हारी माता (अमृतमति) विष-

या च चन्द्रमतीस्तव पितामही यश्च यशोधरमहाराजस्तव पिता तौ द्वावपि द्विजातिभिराश्रावितसकलसत्त्वोपहारफलस्य पिष्टताम्रचूलस्यालम्भनवल्भनाभ्याममृतमतिप्रयुक्तसौल्किकेयवशात्प्रेत्य निरवधीनि दु खानि बहुषु भवान्तरेष्वनुभूय साप्रत तवैव यमलतयापत्यभावमाजग्मतु ।' राजा (स्वगतम्)—पिष्टकुक्कुटापायोपयोगाभ्यामपि पिता पितामही चैतावतीमवस्थामवापत् । नाकलेयमधुना ममाजन्म स्वय निहतजलस्थलाकाशचरप्राणिपिशितरसपुष्टवपु सरस पुरदशस इव सदैव हिसाध्यवसायसक्तचेतस के भविष्यन्ति लोका । तत्पर्याप्त मम सासारिकसुखाभिलाषेण । (प्रकाशम्) भगवन्, अय जन्तुरमोघमघसघातघनतया पातालतलमुपनिपतन्नुद्धियता दीक्षाप्रदानहस्तावलम्बनेन' इत्यभिधाय पपात भगवत्पादयोरुपरि । कृतपादपतन पराममर्श चैवम् ।

महदपि पाप विदलति पुण्याप्तिमनोरथ सुतुच्छोऽपि । कि नाल्पो रविरेष त्रिभुवनमात्र तमो हन्ति ॥१४५॥

अध ऊर्ध्वं वा प्राणी स्वय कृतैरेष कर्मभिर्याति । कूपस्य यथा खनिता यथा च कर्ता निकेतस्य ॥१४६॥

ऊर्ध्वाधोगतिहेतुर्लघुगुरुकर्मप्रयोगत स्वस्य । स्वयमेव भवति जन्तुस्तुलान्तवत् किं विषादेन ॥१४७॥'

भट्टारकः—अहो धर्मधौरेय, प्रधानगुणगन्धननिधान, उत्तिष्ठ । श्रूयता तावदिदमुभयलोकव्यवहारसर्वस्वम् ।

प्रयोग से उस यशोमति महाराज को उनकी माता (चन्द्रमति) के साथ मारकर, अर्थात्—दोनो को मारकर, शरीर के अखीर होने पर पाँचवे नरक मे प्राप्त हुई ॥ १४४ ॥ तुम्हारी पितामही (पिता की माता) चन्द्रमति और तुम्हारे पिता यशोधर महाराज वे दोनो भी ब्राह्मणो द्वारा सुनाये गये समस्त जीवो को वलि के फलवाले ऐसे आटे के मुर्गे के मारण (वलि) व भक्षण से अमृतमति द्वारा प्रयोग किये हुए विष के कारण मरकर बहुत से दूसरे जन्मो मे निस्सीम (वेमर्याद) दु खो को भोग कर इस समय तुम्हारे ही जोडे रूप से सन्तानभाव (पुत्र-पुत्री) को प्राप्त हुए है ।' [उक्त बात को सुनकर] यशोमति महाराज ने अपने मन मे निम्नप्रकार विचार किया—'जब मेरे पिता (यशोधर महाराज) व मेरी दादी (पिता की माता) चन्द्रमति ने आटे के मुर्गे के मारण व भक्षण से भी ऐसी भयानक अवस्था प्राप्त की तब इस समय जन्मपर्यन्त स्वय मारे हुए जलचर (मछली-आदि), थलचर (मृगादि) व नभचर (कबूतर-आदि) जीवो के मासरस से पुष्ट हुए शरीररूपी तडागवाले व विलाव-सरीखे सदा हिंसा के अध्यवसाय (दृढ विचार) मे आसक्त चित्तवाले मेरे परलोक (भविष्यजन्म) क्या होगे ? अर्थात्—मेरे भविष्यजन्म महाभयङ्कर होगे। अत मेरी सासारिक सुखो की अभिलाषा निरर्थक है ।'

तदनन्तर प्रस्तुत यशोमति महाराज ने सुदत्ताचार्य से स्पष्ट कहा—'भगवन् ! इस मुझ सरीखे प्राणी का, जो कि सफल पाप-समूह की प्रचुरता से पातालतल मे गिर रहा है, दीक्षा-प्रदान रूपी हस्तावलम्बन (सहारा) से उद्धार कीजिये' । ऐसा कहकर भगवान् सुदत्ताचार्य के चरणो पर गिर पडा । आचार्यश्री के चरण कमलो पर गिरनेवाले यशोमति महाराज ने निम्नप्रकार विचार किया—थोडी सी भी पुण्य-प्राप्ति की अभिलाषा महान् पाप को भी नष्ट कर देती है। उदाहरणार्थ—क्या छोटा सा यह सूर्य तीन लोक मे भरे हुए [विशाल—विस्तृत] अन्धकार को नष्ट नही करता ? ॥ १४५ ॥ यह जीव स्वय किये हुए पुण्य-पाप कर्मों से क्रमश वैसा ऊपर (स्वर्ग-आदि) व नीचे (नरक) जाता है, जैसे गृह की रचना करनेवाला मानव ऊपर जाता है और कुएँ का खोदनेवाला पुरुष नीचे जाता है ॥ १४६ ॥ यह प्राणी लघु (पुण्य व पक्षान्तर मे कम बजनवाली वस्तु) व गुरु (पाप व पक्षान्तर मे वजनदार वस्तु) कर्म के प्रयोग से स्वय ही अपने को ऊर्ध्वगति (स्वर्ग-आदि व पक्षान्तर मे ऊपर उठना) व अधोगति (नरकगति व पक्षान्तर मे नीचे जाना) का कारण वैसा होता है जैसे तराजूदण्ड लघु गुरुकर्म (हल्की व वजनदार वस्तु) के प्रयोग से ऊर्ध्व व अधोगति (ऊपर व नीचे उठने) मे हेतु होता है, अत शोक करने से क्या लाभ है ? ॥ १४७ ॥'

इय हि बहि प्रदर्शितमनोरमागमा रमाऽसृग्धारेव विमुच्यमाना भवति जीवितव्यसदेहाय देहिनाम् । चिरपरिचितालोक काय इव परित्यज्यमान करोति दूरे शरीरिणा प्राणान् । समभ्यस्तधर्मणि कर्मणि विनियुज्यमान पुमान्वारीगत करीवातीवान्तर्मनायते । सत्क्रियासु तादात्विकावापस्तनुभृता स्वैरालाप इव सुलभ खल्वभिनिवेशो न निर्वाहिषु । दिव्यचक्षु-स्खलितावाकर्षकमिव सहसा कृते कर्मणि शपन्ति लोका. । पुरश्चारक प्रतिश्रुत्य व्रताद्रणादिवापद्रवत्सु महत्सु भवति च लोकद्वयविघातिनी कौलीनता । अपि च ।

चित्त स्वभावमृदु कोमलमेतदङ्गमाजन्मभोगसुभगानि तवेन्द्रियाणि ।
एतत्तु चित्तवपुरिन्द्रियवृत्तिरोधाद्दुख तपस्तदलमत्र नृपाग्रहेण ॥१४८॥

कल्याणमित्रः—क्षितिपते, साध्वाह भगवान् ।

राजा—कल्याणमित्र, सत्यमेवैतत् । किं तु ।

मार्दवाधिकतर कलधौत तापताडनसह च निसर्गात् । एवमेव वपुरुत्तमपुसा सपदा च विपदा च सहिष्णु ॥१४ ॥

ततस्तपश्चरणकरणपरिणतान्त करण पुनरहो मारिदत्त, समाहूय सपरिवारावावा पूर्वभववृत्तान्तमकथयत् । तदाकर्णनाच्च सजातजातिस्मरणौ बन्धुबाष्पाम्बुभि सह मूर्छाविशादभुवि निपतितकरणावनवरतजलजडांशुकव्यजनशोकरासारशीतलानिलोप-

---

तदनन्तर भगवान् सुदत्तभट्टारक—'अहो धर्मभार का वहन करनेवाले व प्रशस्त ज्ञानादि गुणो के प्रकाशन के भण्डार राजन् ! उठिए । दोनो लोको के व्यवहार सबधी इस सार तत्व को सुनिए । बाह्य मे मनोज्ञ प्राप्ति को दिखानेवाली यह लक्ष्मी निश्चय से जब त्याग की जाती है तब वैसी प्राणियो के जीवन का विनाश करने मे निमित्त होती है जैसे मस्तक से प्रवाहित होनेवाली रक्तधारा प्राणियो के जीवन का विनाश करनेवाली होती है । चिरकाल से परिचित आलोक (चितवन या कान्ति) वाला प्रेमीजन (स्त्री-आदि) जब त्याग किया जाता है तब वैसा प्राणियो के प्राण नष्ट करता है जैसे छोडा जा रहा शरीर प्राणियो के प्राण नष्ट करता है। अभ्यास किये हुए धर्मवाले कर्तव्य मे किसी के द्वारा प्रेरणा किया जानेवाला पुरुष वैसा चित्त मे दु खित होता है जैसे हाथी के बन्धन-गर्त (गड्ढा) मे पडा हुआ हाथी मन मे क्लेशित होता है। प्राणियो की प्रशस्त कर्तव्यो के पालन सबधी तत्कालीन प्राप्तिवाली प्रतिज्ञा निश्चय से स्वच्छन्द वार्तालाप सरीखी सुलभ होती है परन्तु निर्वाहो (पूर्णता) मे सुलभ नही होती । उतावली मे आकर अविचार पूर्वक कार्य करनेवाले को लाग वैसा दोषी ठहराते है जैसे अन्धे के गिरने पर लोग उसके खीचनेवाले को धिक्कारते है। जब महापुरुष प्रधान नेता को अङ्गीकार करके धारण किये हुए व्रत से युद्ध की तरह भागते है तब उनकी दोनो लोको को नष्ट करनेवाली निन्दा होती है ।

विशेषता यह है कि—आपका मन स्वाभाविक कोमल है व यह शरीर भी मृदु (कोमल) है एव आपकी चक्षुरादि इन्द्रियाँ जन्म पर्यन्त [किये हुए] भोगो से मनोज्ञ है परन्तु यह तपश्चर्या तो इसलिए दु खरूप है; क्योकि यह मन, शरीर और इन्द्रिय सबधी वृत्तियो के निरोध (रोकने) से उत्पन्न होती है, अत हे राजन् ! आपको तपश्चर्या की हठ करना निरर्थक है ॥ १४८ ॥

फिर कल्याणमित्र नामके वणिक्-स्वामी ने उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा—'हे राजन् ! पूज्य श्री ने उचित कहा' ।

यशोमति महाराज—हे कल्याणमित्र ! यह वात सत्य है किन्तु जैसे सुवर्ण स्वभाव से विशेष कोमल होनेपर भी अग्नि-ताप व ताडन को सहन करने वाला होता है वैसे ही उत्तम पुरुषो का शरीर भी सपत्तियो (सुख-सामग्री) व विपत्तियो को सहन करने वाला होता है ॥ १४९ ॥ तदनन्तर अहो मारिदत्त महाराज ! यशोमति महाराज ने अपनी चित्तवृत्ति तपश्चर्या करने मे परिणत (झुकी हुई) की और सकुटुम्ब हम दोनो (यशस्तिलक या अभयरुचि व मदनमति या अभयमति) को बुलाकर पूर्वभव का वृत्तान्त कहा । उसके सुनने से हम दोनो

लालनशीलिभि, मन्दचन्दनस्यन्दोपदेहसदयहृदयै, आर्द्रार्द्रकमलदलमृणालनिचयसचारणपरपाणिभि, अविरलजम्बाल-मञ्जरीजालपरिचर्यापादनपेशलाशयै, सरसरम्भागर्भपरिरम्भसभावनप्रणयिभि, अपरिमितोसीरपरिषत्परिमलनकारण-परायणै, घनघनसारपारीस्फारपानीयसेचनचतुरचेतोभि एवमन्यासु च तासु तासु प्रत्युज्जीवनकरप्रक्रियासु क्रियासु महादरोदारै परिवारै कृतादाश्वासनादानन्दमङ्गलै सार्द्धमनतिचिरादेव कालादुत्थितावनवधिवेल पुनश्चिरजीवनजनो-चिताशीर्वादैर्विहितसबोधनै 'तात, तावदत्रभवतामस्मत्कृतकमणो जन्मान्तरातङ्ककर्मणश्च समाकर्णनादिद मुहुर्लक्ष्मीपरा-ङ्मुख मनोऽभूत्। आवा पुनरद्यापि तदातङ्कपावकचुम्बितचित्ताविव भवन्तौ कथ नामास्यामासजाव' इति विहिताग्रहा-वपि सकलकुलवृद्धसमक्षतया सताने विनिवेश्योचितमाचरत्।

मायारामसमा रमा सुखमिद दु खावलेखोन्मुख स्वप्नालोकनय सुहृत्परिचय कान्ता कृतान्तेहिता।
उत्साहोऽपि च देहगेहविषयो य सोऽप्यनित्योदयस्तत्त्वालोकविलुप्तचित्ततमसा पुसा भवेऽनुत्सव ॥१५०॥

इति चिन्तयतोर्गतेषु कतिपयेषु च दिवसेषु पुनर्नावयोर्मुनिजनमान्यप्रवृत्तेवृत्तेरन्यत्रासनाद्यभिनिवेश इति विहित-सर्गावभिषिच्य राज्ये यशोधनाभिधानरत्न सापत्नमनुजन्मानमङ्गस्य चाष्टवषदेशीयतयार्हद्रूपायोग्यत्वादिमा देशयतिश्लाघ-

---

को जातिस्मरण उत्पन्न हुआ और हमारा शरीर मूर्च्छा से बन्धु जनो के अश्रुओ के साथ पृथिवी पर गिर गया। पश्चात् ऐसे कुटुम्बीजनो द्वारा किये गए आश्वासन से आनन्द मङ्गलो के साथ शीघ्र ही अल्प काल मे पृथिवी पर से उठे। जो (कुटुम्बीजन) निरन्तर कमलो व वस्त्रो के पखो की जलकणो से व्याप्त हुई शीतल वायु से उपला-लन (उपचार) के स्वभाव वाले थे। जिनके हृदय प्रचुर चन्दन-द्रव के लेपन से दयालु है। जिनके हस्त विशेष आर्द्र (गीले) कमलपत्ते व कमलनाल-श्रेणी के सचारण (प्रेरण या स्थापन) मे तत्पर है। जिनके हृदय घनी शैवाल-मञ्जरी (वल्लरी) श्रेणी की परिचर्या (सेवा) उपस्थित करने से कोमल है। जो, सरस (भीगे हुए) केलावृक्ष के मध्यभाग का आलिङ्गन कराने के विचार से स्नेह करने वाले है। जो वेमर्याद वीरणमूल या खस-कर्दम के मलने की प्रेरणा मे तत्पर है एव जिनके चित्त प्रचुर कर्पूर-फडश के विशेष जल के सिञ्चन मे प्रवीण है और जो पुनरुज्जी-वित करने के उपाय वाले उन उन उपचारो मे विशेष आदर करने से महान है। फिर हम दोनो बहुत समय तक हमारे सम्बोधन वाले कुलवृद्धो के आशीर्वादो से व्याप्त हुए। फिर हमारे पिता यशोमति महाराज ने निम्न प्रकार आग्रह करने वाले हम दोनो को, 'हे पिता जी! हमारे द्वारा किये हुए पाप कर्म के सुनने से एव पूर्वजन्म मे उत्पन्न हुए दु खदायक कर्मो के श्रवण करने से आप पूज्यो का यह मन बार-बार लक्ष्मी से विमुख होगया पुन [जब] हम दोनो अब भी पूर्वोक्त दु खरूपी अग्नि से छुए होने से दग्ध मनवाले सरीखे हो रहे है तब कैसे इस राज्य लक्ष्मी मे आसक्ति करे?' समस्त कुलवृद्धो के समक्ष राज्यवश मे स्थापित करके—राज्य लक्ष्मी प्रदान करके उचित (जैनेश्वरी दीक्षा) धारण की। तदनन्तर जब हम दोनो निम्न प्रकार चिन्तवन कर रहे थे—'लक्ष्मी इन्द्रजाल सरीखी है। सासारिक सुख दु ख के अक्षर लेख मे तत्पर (दु खरूप) है। यह मित्र-परिचय स्वप्नदर्शन-सरीखी नीतिवाला है। स्त्री काल की अभिलाषा वाली (विनश्वर) है। जो शरीर व गृह सबधी उद्यम है, वह भी अनित्यता के आगमन वाला (विनश्वर) है। अत तत्त्वज्ञान रूपी प्रकाश से चित्त के अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले पुरुषो को सासारिक विषयो मे इच्छा का विस्तार नही होता ॥ १५० ॥' पश्चात् कुछ दिनो के व्यतीत होने पर हम दोनो ने ऐसा निश्चय करके कि 'हम दोनो का मुनिजनो द्वारा मान्य प्रवृत्ति वाले चारित्र को छोडकर दूसरे राजसिंहासन-आदि की प्राप्ति का अभिप्राय नही है' सोतेले 'यशोधन' इस श्रेष्ठ नाम वाले लघु भ्राता को राज्य मे अभिषिक्त करके राज्य लक्ष्मी का त्याग किया परन्तु आठ वर्ष की आयु (उम्र) होने से हमारा शरीर मुनिदीक्षा धारण के अयोग्य था, इसलिए क्षुल्लक क्षुल्लिका को प्रशस्त अभिलाषा वाली दीक्षा धारण करके उस भगवान् सुदत्ताचार्य के साथ विहार करते हुए हम दोनो

नीयाशा दशामाश्रित्य तेन भगवता सह विहरमाणावत्रागतौ समागतौ च भवद्भूटानयनभरादेतत्सभान्तरम्। धर्मविधानयत्नरत्नदीपदीप्तिविदूरितमतिमिथ्यात्वमहान्धकारवृत्तो मारिदत्त प्रतिक्षण शुभाशयामृतप्रवाहप्रविगलन्निखिलाञ्जन सपौरपुरदेवतापरिजन पुरा स्वय दुर्वासनया च कृतेषु निरवधिषु दुश्चरित्रेष्वतीवबीभत्सयान्त शल्यित इव कृतशरीरविधूनमस्तन्मुनिकुमारमिथुनकथाकर्णनादिम समस्तमपि ससारसुखसगम स्वप्नेन्द्रजालसम समाकर्णयन्करकमलमुकुलावचूलमौलि सबहुमानमन केलिस्त मुनिकुमारमेवमभाषत—'अहो विदग्धनाथ, नि सामान्यसुकृतसुलभदर्शनसनाथ, दुरन्तपातालपतज्जन्तुहस्तावलम्ब, निखिलभुवनमानसोल्लासन, शर्मधर्मामृतवर्षप्रतिबिम्ब, हिताहितविवेकदिङ्मूढविधुरबान्धव, लोकप्रीणनाचाराश्रयश्रीमाधव, खलीकृतसकलजगज्जयीशरमार, मुनिकुमार, नि शेषलोकाभ्युद्धरणजन्मना परमाप्तसमवर्त्मना दैवावाप्तालोकनेन तत्रभवतानुग्रहणीय खल्वय जन स्वकीयाचारणसमानभाजनतया। मुनिकुमार—निसर्गतुङ्गिमानन्दमन्दर, करुणारसस्यन्दकन्दर, समाकर्णय। स्वभावभव्यस्य विदितवेदितव्यस्य हि भवत सर्वमुप-

---

इस राजपुर के उद्यान मे आए। पश्चात् आपके कोट्टपालो को लाने की विशेषता से इस सभा के मध्य (चण्डमारी देवी के मन्दिर मे) प्राप्त हुए। तत्पश्चात् मारिदत्त महाराज ने धर्मतत्त्व के मनोयोग पूर्वक श्रवण करने के प्रयत्न रूपी रत्न की दीप्ति से अपनी बुद्धि का मिथ्यात्व रूपी गाढ व गृहीत अन्धकार नष्ट कर डाला। प्रत्येक क्षण मे शुभ परिणाम रूपी अमृतप्रवाह से गल रहे समस्त पापरूपी अञ्जनवाले और नागरिक लोक, नगर देवता (चण्डमारी देवी) व सेवको से सहित हुए मारिदत्त महाराज ने पूर्व मे स्वय दुर्वासना (दुष्ट अभिप्राय) से किये हुए वेमर्याद पापो से विशेष घृणा होने से भीतर चुभी हुई शल्य (कीला) से व्याप्त हुए-सरीखे होकर अपना शरीर कम्पित किया। जो उस क्षुल्लक जोडे की कथा-श्रवण से इस समस्त सासारिक सुख सङ्गम को स्वप्न व इन्द्रजाल सरीखा निश्चय कर रहा है एव जिसने हस्तरूपी कमल कलियो का अपने मस्तक पर मुकुट धारण किया है और जिसकी मानसिक क्रीडा [प्रस्तुत क्षुल्लक जोडे का] अतिशय सम्मान करनेवाली है, ऐसे होते हुए प्रस्तुत क्षुल्लक जोडे से निम्न प्रकार कहा—

अहो मुनिकुमार! आप विद्वानो के स्वामी है असाधारण पुण्य से प्राप्त होने योग्य दर्शन से सम्पन्न है, दुष्ट फलवाले पातालतल मे पडते हुए प्राणियो को हस्तावलम्बन (सहारा) देने वाले है, समस्त लोको के चित्तो को उल्लासित (प्रमुदित) करने वाले है, सुख व धर्मरूपी अमृत वृष्टि की प्रतिच्छाया है एव हित व अहित के विवेक मे दिङ् मूढ हुए सन्तप्त प्राणियो के बन्धु है, विष्णु-सरीखे लोक को सन्तुष्ट करनेवाले चारित्र के आधार है और समस्त जगत को जीतनेवाले पुष्प या कामवाण (कामदेव) को जीतने वाले है। ऐसे हे मुनिकुमार! समस्त लोक के उद्धार-हेतु जन्मवाले, उत्कृष्ट माता-पिता सरीखे हितैषी मार्गवाले, भाग्य से प्राप्त हुए दर्शनवाले पूज्य आपके द्वारा यह प्राणी (मै) अपने चारित्र सरीखी पात्रता से (मुनि या क्षुल्लक दीक्षा द्वारा) निश्चय से अनुग्रह करने योग्य है।'

मुनिकुमार—'स्वाभाविक तुङ्गिमा (महत्ता व पक्षान्तर मे ऊँचाई) व आह्लाद के लिए सुमेरु सरीखे व करुणा रस के झरने के लिए कन्दरा (गुफा) सरीखे हे राजन्! सुनिए—

स्वाभाविक भव्य व जानने योग्य विषय के ज्ञाता आपको निश्चय से सब ज्ञात ही है किन्तु मै ऐसे कार्य मे (आप के लिए दीक्षा देने मे) गुरु के द्वारा आज्ञा दिये हुए आचार्यपद वाला नही हूँ। अर्थात्—हम लोगो को तुम्हे दीक्षा देने मे अभी तक गुरु का आदेश नही है। अत आइए। हम दोनो शरणागत जनो के मनोरथो की अनुकूलता वाले उसके पादमूल मे गमन करे। उक्त बात को सुनकर मारिदत्त राजा ने मन मे निम्नप्रकार विचार किया—'अहो आश्चर्य है, क्योकि—

मै (मारिदत्त) प्रजाजनो का गुरु हूँ और मेरी गुरु यह देवता (चण्डमारी देवी) है एव इन तीनो (प्रजा, मेरा व देवी का) गुरु यह क्षुल्लक है तथा इस क्षुल्लक के दूसरे (सुदत्ताचार्य) गुरु हैं। उस दूसरे

पन्नमेतत् । किन्त्वहमेवविधे कर्मण्यद्यापि गुरुणाभ्यनुज्ञातसमावर्तनो न भवामि । तदेहि । गच्छाव शरणागतजनमनोरथानुकूल तत्पादमूलम् । राजा—(स्वगतम् ।) अहो आश्चर्यम् । यत ।

अह प्रजाना मम देवतेयमेतत् त्रयस्यैष तथास्य चान्य ।
गुरुस्तदर्थान्तिरगा महत्ता वेश्येव दूर समुपागतेयम् ॥१५१॥

(प्रकाशम् ।) मुनिकुमार, अल विलम्बितेन । एतर्हि प्रतिष्ठावहे त भगवन्त भदन्तमुपासितुम् ।

य स्याद्वाद्यपि सर्वयौक्तिकनयक्षोदक्षमैतिह्यधीर्नैष्किचन्यभराशयोऽपि जगत सर्वार्थसिद्धयाश्रय ।
दृष्टादृष्टफलप्रसूतिचरितोऽव्याप्तश्च मध्यस्थतामात्मस्थोऽपि समस्तग स भवत श्रेयस्कृते स्ताज्जिन ॥१५२॥
अरालकालव्यालेन ये लीढा साप्रत तु ते । शब्दा श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम ॥१५३॥

पदार्थ (पूज्य सुदत्तश्री) मे यह दूरवर्ती महत्ता (महज्जू) वैसी एक स्थान (सुदत्तश्री) मे स्थित हुई है जैसे वेश्या एक स्थान मे स्थित होती है ॥ १५१ ॥' तदनन्तर मारिदत्त राजा ने स्पष्ट रीति से कहा—हे मुनिकुमार ! विलम्ब करने से कोई लाभ नही है, अत अब हम दोनो उस भगवान् तपस्वी सुदत्ताचार्य की उपासना करने के लिए प्रस्थान करे। ऐसा वह जिनेन्द्र आपके कल्याण की प्राप्ति के लिए होवे। जो स्याद्वादी ('स्यात्' इस अक्षर मात्र को कहनेवाला) हो करके भी जिसका आगम ज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयो की परीक्षा या अनुसन्धान करने मे समर्थ है। यहाँ पर उक्त कथन विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योकि जो केवल 'स्यात्' इस अक्षर मात्र का कहने वाला होगा, उसका आगम ज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयो के अनुसन्धान करने मे समर्थ कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो स्याद्वादी (अनेकान्त दर्शन का निरूपण करनेवाला) है और निश्चय से जिसका आगमज्ञान समस्त युक्ति-युक्त नयो के अनुसन्धान करने मे समर्थ है। नैष्किचन्यभराशय (विशेष दरिद्रिता-युक्त चित्तवाला) हो करके भी ससार को सर्वार्थसिद्धि का आश्रय (समस्त धन-प्राप्ति का सहारा) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जो विशेष दरिद्र है वह लोगो की समस्त धनप्राप्ति का आश्रय कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो नैष्किचन्य भराशय (जिसका अभिप्राय परिग्रह-त्याग की विशेषताशाली) है और जो निश्चय से ससार को सर्वार्थसिद्धि का आश्रय (समस्त इष्ट प्रयोजनो (स्वर्गादि) की सिद्धि का आश्रय) है। जो दृष्टादृष्टफलप्रसूतिचरित (जिसका अभिप्राय या चित्त ऐहिक व पारलौकिक फलो (सुखो) के उत्पन्न करने मे समर्थ) है, ऐसा होकर के भी जो मध्यस्थता (उदासीनता) को प्राप्त हुआ है। यह केवल भी विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योकि जो लौकिक व पारलौकिक सुखो को उत्पन्न करने मे समर्थ चेष्टावाला होगा, वह उदासीन कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो लौकिक व पारलौकिक सुखो के उत्पन्न करने के अभिप्राय वाला है और निश्चय से मध्यस्थता (वीतरागता) को प्राप्त हुआ है। जो आत्मस्थ (शरीर परिमाण आत्मप्रदेशो वाला) होकर के भी समस्त पदार्थो मे व्यापक है। यहाँ पर भी विरोध मालूम पडता है, क्योकि जिसकी आत्मा के प्रदेश शरीर बराबर होगे, वह आकाश की तरह व्यापक (सर्वत्र विद्यमान) कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि जो आत्मस्थ (आत्मस्वरूप मे लीन) है और निश्चय से सर्वग (केवल ज्ञान से समस्त पदार्थो को प्रत्यक्ष जानने के कारण व्यापक) है ॥ १५२ ॥

जो शब्द कुटिल कलिकाल रूपी कृष्णसर्प से डँसे गए थे, वे मूर्च्छित (अप्रयुक्त) शब्द श्री सोम देव सूरि द्वारा अथवा पक्षान्तर मे अमृत वृष्टि करने वाले चन्द्र द्वारा उठाए जाते है—प्रयोग मे लाए जाते हैं—पक्षान्तर मे पुनरुज्जीवित किये जाते हैं इसमे आश्चर्य ही क्या है ? ॥ १५३ ॥ चिरकाल से शास्त्ररूपी समुद्र के

षष्ठ आश्वासः

(उपासकाध्ययन)

श्रीमानत्रान्तरे सूरि सुदत्तोऽवधिबोधत । बुद्ध्वा तदागम[1] तत्र ययौ सयमधी[2] स्वयम् ॥ १ ॥
तत्रागमान्मुनेर्मान्यात्सभा चुक्षोभ भूभुज । रत्नाकरस्य वेलेव पार्वणेन्दुसमागमात् ॥ २ ॥
विधाय विधिवत्सूरे सपर्या तत्र भूपतौ । आसीने सत्युवाचेदमसौ मुनिकुमारक ॥ ३ ॥

भगवन्, अस्ति खलु [३]कन्दरान्तराल★खेलल्लेलिहानेशानकपर्दचन्दनद्रुमालवालायमानमन्दाकिनीजलकेलिकलहसेन सुरसुन्दरीलोचनचकोरकुलसतर्प[५]णार्पितामृतासारसृष्टिना [६]सरस्वतीस्रवणतीर्थोपासनतापसेन [७]मनोजविजयार्जनावर्जितजन्मना रजनिवल्लरीकुसुमस्तबकसुन्दरेण [८]त्रिदिवदीर्घिकार्जुनाम्बुजकुञ्जविजयिमूर्तिना कौस्तुभैरावतपारिजातामृतेन्दि★रासोदरेण

इसी अवसर पर श्रुतज्ञान-आदि अन्तरङ्ग व धर्म-सभा-आदि बहिरङ्ग लक्ष्मी से सुशोभित श्री 'सुदत्त' नाम के आचार्य ने अवधिज्ञान से उस चण्डमारी देवी के मन्दिर मे उनका (अपने मुनि सघ का क्षुल्लक जोडा-आदि का) आगमन जानकर वे प्राणिरक्षारूप चारित्र-पालन मे तत्पर बुद्धिवाले अर्थात्—'इन मारिदत्त राजा-आदि के आने के कारण प्राणिवध न होने पावे' इस प्रकार की बुद्धि-युक्त होते हुए स्वय वहाँ प्राप्त हुए ॥ १ ॥ जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के उदय से समुद्रतट ज्वारभाटा के आने से क्षुब्ध (चचल) हो जाता है वैसे ही उस चण्डमारी देवी के मन्दिर मे सुदत्त आचार्य के माननीय आगमन से मारिदत्त राजा की सभा क्षुब्ध (सन्तुष्ट) हो गई] ॥२॥ जब वह मारिदत्त राजा उक्त आचार्य की यथाविधि पूजा करके स्थित हो गया तब 'अभयरुचि' नामके क्षुल्लक ने उक्त आचार्य से निम्नप्रकार कहा ॥ ३ ॥

भगवन् ! शत्रुओ के कीर्तिरूपी स्तम्भ को विदीर्ण करने के लिए घुण के कीडे-सरीखे या टि० के अभिप्राय से वज्र-सरीखे यादवो का ऐसा वश (यदुवश) है, जो कि ऐसे चन्द्र से मुद्रित (उपलक्षित) है, जो यदुवश पूर्व मे सोम (चन्द्र) वश था । अथवा मानो—जो यदुवश विशेष उच्च होने से चन्द्रपर्यन्त उपलक्षित (व्याप्त) है । मानो—वह वश चन्द्र मे लगा हुआ-सा दृष्टिगोचर हो रहा है।[1] जो (चन्द्र) ऐसा शोभायमान होता है—मानो—जिसकी मुण्डमाला मे सर्प क्रीडा कर रहा है, ऐसे ईशानरुद्र की जटाजूटरूपी चन्दनवृक्ष की क्यारी के समान आचरण करने वाले गङ्गाजल मे क्रीडा करने वाला राजहस ही है ।[2]

जिसने देव-सुन्दरियो के नेत्ररूपी चकोर पक्षियो के समूह को सन्तुष्ट करने के लिए अमृत की प्रचुर वृष्टि-रचना समर्पित की है ।[3] जो मानो—सरस्वती नदी के क्षरणरूप तीर्थ मे प्रतिबिम्बित होने से उसकी उपासना करने वाला तपस्वी ही है ।[4] मानो—जिसने कामदेव की दिग्विजय-प्राप्ति के निमित्त अपना जन्म प्राप्त किया है ।[5] जो रात्रिरूपी लता के फूलो के गुच्छो-सरीखा मनोज्ञ है ।[6] जिसकी आकृति गङ्गानदी के श्वेत कमलो के वन को जीतने वाली है ।[7] जो कौस्तुभमणि, ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष, अमृत व लक्ष्मी का सहोदर

---

१ मुनिकुमारकयुगल-पुरदेवता पुरेश्वर-पौरजनागमन । २ तेषा मारिदत्तादीनामागमने प्राणिवधो माभूदिति बुद्धि ।

३ मुण्डमालामध्ये क्रीडत्सर्प ईदृश ईशानरुद्र । ★ 'कदलान्तराल' इति च० । टिप्पणी शिर शकलानि पल्लवानि वा ।

४ जटाजूट एव चन्दनवृक्षस्तस्य आलवालायमान यन्मन्दाकिनीजल तत्र या क्रीडा तत्र राजहसेन चन्द्रेण मुद्रित उपलक्षित. यदुवश ।

५ सतर्पणार्थम् । ६ नद्या स्रवण क्षरणमेव तीर्थं तत्र प्रतिबिम्बितत्वाच्चन्द्र एव तापसस्तेन ।

७ दिग्विजयनिमित्त सज्जित जन्म येन स तेन । ८ गङ्गानदीश्वेताब्जवन । ९ कौस्तुभादीना भ्राता । ★ लक्ष्मी. ।

1 उपमालकार । 2 रूपकोपमाभ्या परिपुष्ट उत्प्रेक्षालकार ।

3 रूपकमूलक काव्यलिङ्गालकार. । 4 काव्यलिङ्गोत्थापित उत्प्रेक्षालकार. । 5 हेतूत्प्रेक्षालकार । 6 रूपक मूलक उपमालकार । 7 उपमालकार. ।

मृगमद[1]कर्दमालिखितललामलिपिविलोपिना वि[2]दलच्छदातुच्छतापिच्छगुलुञ्छाविच्छिन्नच्छायाक्षुपा[3] लाञ्छनेना[4]लंकृतिमता क्षीरोदनन्दनेन चन्द्रमसा [5]मुद्रित [6]प्रतिपर्वसपन्नफलपरम्परोऽप्युदितोदितविभूतिरहितकीर्तिस्तम्भनिर्भेदभिदूना[7] यदूना वश । [8]तत्राभ[9]वन्निखिललोकचिन्तामणीयमानचरणो रणोत्सवतारसिकसपत्नाङ्गनालोचनचन्द्रकान्तमणिप्रणालजलप्रवाहिनी [10]हारकिरणोदयो [11]दयोचिताचरणा[12]नन्दितविनीतावनीपालदारको [13]दारकोग्रतरकरवालविनिभिन्नारीभकुम्भस्थलोच्छलन्मुक्ताफलनिकरतारकितगगनतलो नतलोकपालचूडामणिमरीचिवलयालवालविलसत्क्रमाशोकपल्लवश्री श्रीवि[14]रामसो-

है ।[1] जो तरल कस्तूरी से चारो ओर लिखी हुई मनोज्ञ लिपि (तिलकरूपी लिपि) को तिरस्कृत करने वाले एव विकसित पत्तोवाले महान तमाल पत्रो के गुच्छो की निरन्तर कान्ति का धारक पौधा-सरीखे लाञ्छन (श्याम चिह्न) से अलकृत है तथा जो क्षीरसागर का पुत्र है ।[2] अनोखे वशवृक्ष-सरीखा जो (यदुवश) प्रतिपर्व-सम्पन्नफलपरम्परा वाला (वाँसवृक्ष के पक्ष मे—जो प्रत्येक पर्व (गाँठ) पर परिपूर्ण फल समूह से व्याप्त हो करके भी उदितोदितविभूतिवाला (अत्यधिक विभूति को उत्पन्न करने वाला) है । यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जब बाँस वृक्ष फलता है तब लोगो की लक्ष्मी-आदि नष्ट होती है । अर्थात्—वश वृक्ष के फलशाली होने पर उत्पात होता है । अत जो प्रत्येक पर्व—गाँठ—पर फलश्रेणी से व्याप्त होगा, उससे जनता को अत्यधिक विभूति कैसे मिल सकती है ? उसका परिहार यह है कि यह यदुवश फलशाली होकर के भी विभूति-युक्त है । अर्थात्—जो प्रतिपर्व-सम्पन्न फलपरम्परा वाला (जिसे प्रत्येक पर्व—महोत्सव मे पुण्यकर्म की फल-परम्परा (सुख-श्रेणी) प्राप्त होती है और जो निश्चय से उदितोदित विभूति-युक्त (दिनोदिन वृद्धिगत धनादि विभूति से व्याप्त) है ।[3]

उस यदुवश मे ऐसा चण्डमहासेन नाम का राजा था । जिसके चरण समस्त याचक-लोक के लिए चिन्तामणि सरीखे आचरण करते है ।[4] जो युद्ध के आनन्द मे रसिक (रुचि रखनेवाले) शत्रुओ की स्त्रियो के नेत्ररूपी चन्द्रकान्त-मणियो के प्रणालो से जल प्रवाहित करने वाले चन्द्र का उदय ही है ।[5] जिसने जीवदया के योग्य आचरण से नम्रीभूत (सेवक) राजाओ की दाराएँ (पञ्जिकाकार के अभिप्राय से स्त्रियाँ व टिप्पणीकार के अभिप्राय से दारक—पुत्र) आनन्दित किये हैं ।[6] जिसने विदारणशील विशेष तीक्ष्ण खड्ग से विदीर्ण किये हुए शत्रु-राजाओ के हाथियो के गण्डस्थलो से उछलते हुए मोतियो के समूह से आकाश तल को नक्षत्र-समूह से व्याप्त किया है ।[7] जिसकी चरणरूपी अशोक वृक्ष की पल्लव-श्री (शोभा) नम्रीभूत राजाओ के चूडामणियो (शिरोरत्नो—मुकुटमणियो) की कान्ति समूहरूपी क्यारी मे शोभायमान हो रही है[8] और जो ऐसे भुजारूपी

१ तिलकमेव लिपि कस्तुरिकायास्तिलक सरस्वतीललाटे घटते । २ विकसत्पत्रबहुलतमालपत्र टि० (ख) ।
३ ह्रस्वशाखाशिफ क्षुप इत्यमर' टि० (च) । ४ ईदृशेन लाञ्छनेन सहितेन । ५ मुद्रित, उपलक्षित', यदूना वशश्चन्द्रमसा मुद्रित आचन्द्रमुपलक्षित उच्चैस्तरत्वात् वशश्चन्द्रे लग्न इव दृश्यते पूर्व यदूना सोमवश इत्यर्थ ।
६ महोत्सव प्रति परिपूर्णफलपरम्पर लोकाना दातृगुणेन, पक्षे यदा वश वेणुस्तस्य पर्वाणि यदा फलानि फलन्ति तदा उत्पात एव स्यात्, यदा वशवृक्ष फलति तदा लोकाना द्रव्यादिक विनश्यति, वशे फलिते उत्पात स्यादय तु यदूना वश फलितोऽपि विभूतिमानित्यर्थ । ७ निर्भेदने वज्राणा टि० ख० । •'भिदु घुणकीटा ' इति पञ्जिकाकार ।
८ यदुवंशे । ९ चडमहासेन राजाऽभवत् । १० नीहारकिरणश्चन्द्र । ११ जीवदया । १२ आनन्दिता सेवकनृपपुत्रा येन स । १३ विदारणशील । १४ विनाश ।

1 उपमालकार: । 2 उपमालकार । 3 विरोधाभास-अलकार. ।
4 उपमालकार. । 5 रूपकालकार । 6 काव्यलिङ्गालंकार । 7 उत्प्रेक्षालकार' । 8 रूपकालकार: ।

[1]माश्रित[2]शत्रुसन्तानतरूत्पाटनपटुदोर्दण्डमण्डलप्रचण्डश्चण्डमहासेनो नाम नरपतिः। [3]तस्याय[4] समस्तसाम्राज्यधुरोद्धारधौरेय प्रजोपद्रवोद्र[5]तक्षुद्र[6]काद्रवेय[7]वैनतेय[8] साक्षात्कुसुमधनु[9] सूनुरावयोश्च सवित्र्या[10] सकलजगद्व्यवहारप्रवृत्तिदत्तस्कन्धात्ससारसबन्धादनुजपर्य[11] सोदर्य[12]। स एष[13] सप्रति स्वभावतो मृदुमानसरसप्रसरोऽपि [14]दुरुपदेशावसरस्ताम्र[15]पर्णीपय प्रवाह इव [16]सजातशुक्तिसपुटकोटरावगाह कठिनतानीतमतिरस्म[17]त्समागतिशलाकासादितसूत्रप्रवेशमार्गो निकाम सपद्यमानधर्मससर्गो भवितुमिच्छतीति।

तदनु राजा सबहुमान धर्मद्रुमप्रथमोत्पन्नपल्लवायमानेन[18] सकलससारव्यसनवनदावानलप्रभापटलकान्तिना नखमयूखप्रसरोत्सर्पित[19]श्रवणसमीपसरस्वतीप्रवाहेण सीमन्तप्रान्त[20]सर सजातजलेज[21]कुड्मलविडम्बिना [22]करयुगलेनो

दण्डमण्डल से विशेष तेजस्वी—प्रतापी है, जो कि लक्ष्मी के विनाश की मर्यादा को आश्रित हुए (अस्त होने वाली लक्ष्मी वाले) शत्रु-समूह रूपी वृक्षो के उन्मूलन मे समर्थ है।[1]

ये मारिदत्त महाराज उक्त राजा के समस्त साम्राज्य-भार के वहन करने मे समर्थ पुत्र है और जो प्रजा पर उपद्रव करने मे उत्सुक दुष्ट लोगरूपी सर्पो के विनाश करने मे गरुड ही है[2] एव मानो—साक्षात् कामदेव ही है।[3] तथा सकल जगत की व्यवहार-प्रवृत्ति मे स्कन्ध (सहायता) देनेवाले ससार-सबध से (गृहस्थाश्रम की अपेक्षा) यह हमारी माता (कुसुमावली रानी) के लघुभ्राता (हमारे छोटे मामा) है। ये मारिदत्त महाराज इस समय स्वभाव से कोमल मानसिक रस के विस्तार वाले भी है परन्तु इन्है दुष्ट लोगो के उपदेश का अवसर प्राप्त हुआ है, इससे ये वैसे कठिन बुद्धिवाले हो गये थे जैसे सीप-सपुट के मध्य मे प्रवेश करनेवाला ताम्रपर्णी नाम की नदी का जल-प्रवाह कठिनता से ग्रहण करने के लिये अशक्य होता है। अर्थात्—जैसे सीप सपुट का मध्यवर्ती जल मृदु होने पर भी सपुट के उद्घाटन विना ग्रहण नही किया जा सकता वैसे ये भी पूर्व मे दुरुपदेश के प्राप्त होने से कठिन बुद्धि-वाले थे[4]। परन्तु अब मणि-सरीखे इन्होने हमारी समागम वेला रूपी शलाका (सुई) से सूत्र (शास्त्र व पक्षान्तर मे तन्तु) मे प्रवेश-मार्ग प्राप्त कर लिया है इससे ये विशेषरूप से धर्म-ससर्ग प्राप्त करने के इच्छुक है।[5] निष्कर्ष—अत अब आपको पात्रता-प्राप्त किये हुए इनके लिए उपदेश शास्त्र कहना चाहिये। तदनन्तर ऐसे हस्त-युगल से मुकुटीकृत मस्तकवाले मारिदत्त राजा ने प्रस्तुत आचार्य के लिए विशेष सन्मान पूर्वक नमस्कार किया, जो (हस्त) धर्मरूपी वृक्ष का प्रथम उत्पन्न हुआ नवीन पल्लव-सरीखा है[6]। जिसकी कान्ति सासारिक समस्त व्यसन (मद्यपान-आदि दुःख) रूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल के प्रभापटल-सी है[7]। मानो—जिसने विस्तृत नख-किरणो से कानो के समीप सरस्वती नदी का प्रवाह ही प्रसारित किया है[8] और जो केश-प्रान्त रूपी तडाग मे उत्पन्न हुए कमलो की अध

---

१ मर्यादा। २ श्रिता ये शत्रव। ३ नृपस्य। ४ सूनु पुत्रोऽयम्। ५ से ८ उत्सुका ये क्षुद्रास्त एव सर्पास्तेषो विनाशकरणे गरुड। ९ कामदेव। १० मातु। ११-१२ लघुभ्राता पश्चाज्जन्मपर्याय, अर्थात्—गृहस्थापेक्षयाऽवयोर्मातुर्लघुभ्रातेत्यर्थ। १३ अय मारिदत्त। १४ दुष्टलोकोपदेशानामवसरो यस्य स। १५ काचिन्नदीनाम।
१६ यथा शुक्त्युदरगत पानीय मृद्वपि सपुटोद्घाटन विना गृहीतु न शक्यते, तद्वदय दुरुपदेशेन कठिनबुद्धि पूर्व।
१७ इदानी तु अस्मदागमनवेलेव शलाका तया आसादितसूत्रप्रवेशमार्ग। अर्थात्—अधुना श्रीमद्भिरुपदेशशास्त्र कथनीयमितिभाव। १८ ईदृशेन हस्तयुगलेन। १९ प्रसारितकर्णसमीप। २० प्रान्त एव तडाग। २१ कमल।
२२ हस्तयुग्मेन।

1 रूपकालकार। 2 रूपकालकार। 3 रूपकालकार। 4 उपमालकार। 5 रूपक व उपमालकार।
6 उपमालकार। 7 रूपक व उपमालकार। 8 उत्प्रेक्षालकार।

त्तसितशिखण्ड [1] प्रणम्यानाकुलमना [2] प्रत्याक्षिप्तव्याक्षेपैना परलोकोपायपरामर्श [3] पवित्रप्रकृति शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशपेशलमति [4] सुदत्तभगवन्तमभयरुचिविरचितावसरोदन्तमेव किलाभाषत—

'भगवन्,

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्म । किंरूप किंभेद किमुपाय किंफलश्च जायेत ॥४॥'

भगवानाह—'राजन्, समाकर्णय ।

यस्मादभ्युदय [5] पुसा नि श्रेयस [6] फलाश्रय । वदन्ति [7] विदिताम्नायास्त धर्म धर्मसूरय ॥५॥

स [8] प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थे [9] तरगोचर । प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् [10] ॥६॥

राजाह—'किं पुनर्भगवन्मुक्ते कारणम्, किं च ससारस्य, को वा गृहाश्रमिणा धर्म, कश्च सयमिलोकस्य ।'

खिली कलियो-सरीखा था। फिर निराकुल मनोवृत्तिवाले व चित्त-व्याकुलता एव पाप-प्रवृत्ति निराकृत (त्यक्त) करनेवाले तथा पारलौकिक उपाय की विचारधारा से पवित्र प्रकृति वाले मारिदत्त महाराज ने, जिसकी बुद्धि, शुश्रूषा (शास्त्र व शिष्ट पुरुषो के हितकारक उपदेश को श्रवण करने की इच्छा), श्रवण (हितोपदेश का सुनना), ग्रहण (शास्त्र के विषय का उपादान), धारण (शास्त्र-आदि के विषय को न भूलना), विज्ञान (अनिश्चय, सन्देह (सशय) व विपरीत ज्ञान इन मिथ्याज्ञानो से रहित यथार्थज्ञान होना), ऊह (निश्चित धूम-आदि पदार्थो के आधार (ज्ञान) से दूसरे अग्नि-आदि पदार्थों का उसी प्रकार निश्चय करना), अपोह (महापुरुषो के उपदेश और प्रबल युक्तियो द्वारा प्रकृति, ऋतु व शिष्टाचार से विरुद्ध पदार्थो (अनिष्ट आहार, विहार एव परस्त्री-सेवन-आदि विषयो) मे अपनी हानि या नाश का निश्चय करके उनका त्याग करना) एव तत्त्वाभिनिवेश (उक्त विज्ञान, ऊह और अपोह-आदि के सम्बन्ध से विशुद्ध हुए 'यह ऐसा ही है अन्य प्रकार नही है' इस प्रकार का दृढ निश्चय) इन बुद्धि-गुणो से मनोज्ञ है, पूज्य सुदत्ताचार्य से, जिनके लिए अभयरुचि क्षुल्लक द्वारा अवसरानुकूल वृत्तान्त निरूपण कर दिया गया है, निश्चय से निम्न प्रकार प्रश्न किये (धर्मविषयक जिज्ञासा की)—

'भगवन् ? निश्चय से यह प्राणी धर्म से ससार मे सुखी होता है, उस धर्म का क्या स्वरूप है ? और उसके कितने भेद है ? एव उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? और उसका क्या फल है ? ॥ ४ ॥'

आचार्य—'राजन् ! श्रवण कीजिए। जिन सत्कर्तव्यो के अनुष्ठान से मनुष्यो को स्वर्ग (इष्ट शरीर, इन्द्रिय व विषयो की प्राप्ति लक्षणवाला) और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसे आगमवेत्ता धर्माचार्य 'धर्म' कहते है ॥ ५ ॥ उसका स्वरूप प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप है। अर्थात्—मोक्ष के कारणो (सम्यग्दर्शन-आदि) के पालन करने मे प्रवृत्त होने को प्रवृत्ति और ससार के कारण (मिथ्यादर्शनादि) से बचने को निवृत्ति कहते है। वह धर्म गृहस्थधर्म और मुनिधर्म के भेद से दो प्रकार का है ॥ ६ ॥

राजा—'भगवन् ! मोक्ष का कारण (मार्ग) क्या है ? और ससार के कारण क्या है ? गृहस्थ धर्म क्या है व मुनि धर्म क्या है ?'

---

१ मुकुटीकृतमस्तक । २ निराकृतचित्तव्याकुलत्व पाप च । ३ विचारण । ४ अभिप्राय । ५ अभ्युदय —इष्टशरीरेन्द्रियविषयप्राप्तिलक्षण स्वर्ग । ६ नि श्रेयस निखिलमलविलयलक्षण । ७ आम्नाय आगम । ८ स. धर्म । ९ यति । १० मिथ्यात्वादेर्निवृत्ति सम्यक्त्वव्रतप्रवृत्तिरेव धम ।

भगवान्—सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रय मोक्षस्य कारणम् । ससारस्य च *मीमास्य मिथ्यात्वादि[1]चतुष्टयम् ॥७॥

सम्यक्त्व भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु । मोह[2]सन्देह[3]विभ्रान्ति[4]वर्जित ज्ञानमुच्यते ॥८॥

कर्मादाननिमित्ताया क्रियाया परम शमम् । चारित्रोचितचा[5]तुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥९॥

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रविपर्ययपर मन । मिथ्यात्व त्रिषु[6] भाषन्ते सूरय सववेदिन ॥१०॥

अत्र दुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसा प्रवर्तितप्राकृत[7]लोका[8]नोकुहोन्मूलनसमयस्रोतसा सदाचाराचरण-चातुरीविदूरवर्तिना परवादिना मुक्तेरुपाये काये[9] च बहुवृत्तय[10] खलु प्रवृत्तय । तथाहि—'सकलनि[11]ष्कलाप्तप्राप्तमन्त्र तन्त्रापेक्ष[12]दीक्षालक्षणाच्छ्द्धामात्रानुसरणान्मोक्ष ' इति सैद्धान्तवैशेषिका,[13] *द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषा-

---

आचार्य—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो की प्राप्ति मोक्ष का मार्ग है एव मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय व योग ससार के कारण समझने चाहिए ॥ ७ ॥ युक्ति-सिद्ध पदार्थो (जीव-अजीव-आदि नव पदार्थो) मे दृढ श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन कहते है और अज्ञान, सन्देह व भ्रान्ति से रहित हुए ज्ञान को 'सम्यग्ज्ञान' कहा जाता है ॥ ८ ॥ महामुनियो ने ज्ञानावरणादि कर्मबध की कारण मनोयोग, वचन-योग व काययोग तथा कषायरूप पाप क्रियाओ के त्याग करने को सम्यक्चारित्र कहा है ॥ ९ ॥ सर्ववेत्ता आचार्य, ऐसी मानसिक प्रवृत्ति को, जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को विपरीत करने मे तत्पर है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीन विषयक मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र) कहते है ॥ १० ॥

मुक्ति के विषय मे अनेक मान्यताएँ—मिथ्याशास्त्रो की वासनारूपी कामिनी से वासित चित्तवाले अन्य मतानुयायी वादियो की, जिनके सिद्धान्तरूपी जल-प्रवाह अज्ञानी मनुष्य समूहरूपी वृक्षो के उखाडने मे गतिशील है एव जो सदाचार के पालन की चतुराई से दूरवर्ती है, मुक्ति के मार्ग मे व स्वरूप मे अनेक प्रकार की मान्यताएँ है ।

१ जैसे—'सैद्धान्त वैशेषिक' (वेद को मुख्यता से प्रमाण मानने वाले कणाद ऋषि के अनुयायी) मानते है कि—ऐसी दीक्षालक्षण वाली श्रद्धामात्र के अनुसरण से मुक्ति होती है, जिसमे सगुण शिव (सशरीर—पार्वतीकान्त) व निर्गुण (परमशिव) परमगुरु या ईश्वर से प्राप्त हुए मन्त्रो (वैदिक-ऋचाओ या वैदिक मन्त्रो, जो कि निरुक्त के अनुसार तीन प्रकार के है, परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत व आध्यात्मिक अथवा वेदो का मन्त्र भाग जो ब्राह्मण से भिन्न है) व तन्त्रो (उपायो—यज्ञादि कर्मकाण्ड पद्धतियो) की अपेक्षा (वाञ्छा) वर्तमान है ।'

२ तार्किक वैशेषिक मानते हे कि 'द्रव्य (पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये ९ द्रव्य), गुण (रूप, रस, गध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व,

---

* विचार्य । १ मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा । २ मोह अज्ञान । ३ इद तत्वमिद वाऽतत्वमिति चलन्ती प्रतिपत्ति सशय सन्देह । ४ अतत्वे तत्वाध्यवसायो भ्राति । ५ महामुनय । ६ सम्यक्त्वज्ञानचारित्रेषु मिथ्यादशन, मिथ्या-ज्ञान, मिथ्याचारित्र चेत्यर्थ । ७ अज्ञानिजन । ८ लोका एव वक्षा । ९ स्वरूपे । १० स्वभावा । ११ पावतीपति परमशिवश्चैव गुरुस्तस्मात्प्राप्त । १२ वाञ्छामन्त्रतन्त्रादिरुचिरेव । १३ मोक्ष मन्यन्ते ।

* 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्' ॥—वैशे० द०१-४ ।=

भावाभिधानानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्राज्ज्ञानमात्रात्' इति तार्किकवैशेषिका[1], 'त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्या[3] [4]गड्कप्रदानाप्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनु[5]ष्ठानात्' इति पाशुपता, 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्ताद्वृत्तात्' इति कुलाचार्यका[6]। तथा च [7]त्रिकमतोक्ति — [8]'मदिरामोदमेदु[9]रवदनस्तर[10]सरसप्रसन्नहृदय [11]सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्ति[12] [13]शक्तिमुद्रासनधर स्वयमुमामहेश्वरायमाण [14]कृष्णया [15]शर्वाणीश्वरमाराधयेदिति। 'प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकमते ख्याते' इति साख्या, 'नैरात्म्यादिनिवेदितसभावनातो भावनात' इति

बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शब्द, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, सस्कार, धर्म, अधर्म ये २४ गुण), कर्म (उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण व गमन ये ५ कर्म), सामान्य (पर व अपर ये दो सामान्य), विशेष (नित्यद्रव्य-वृत्ति अनन्त विशेष पदार्थ), समवाय और अभाव (प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव व अन्योन्याभाव ये ४ अभाव) इन सात पदार्थों के सदृशधर्म व वैधर्म्य मलक शास्त्र सबधी तत्त्वज्ञानमात्र से मोक्ष होता है'।

३ पाशुपतो—शैवो—की मान्यता है कि 'प्रात मध्याह्न व सायकाल भस्म लगाना, शिवलिङ्ग की पूजा करना, गडुक-प्रदान (मुख के भीतर बकरी के शब्द का अनुकरण करना अथवा शिव लिङ्ग के सामने जल पात्र को स्थापित करना), चारो ओर से शिव-लिङ्ग की प्रदक्षिणा करना एव आत्म-विडम्बन (पचाग्नि तपश्चर्या-आदि) आदि क्रियाकाण्ड मात्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है।'

४ कुलाचार्यको (कौल मार्गानुयायियो) ने कहा है कि 'समस्त पीने योग्य, न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य पदार्थों के खाने पीने मे निशङ्क चित्तवृत्ति पूर्वक प्रवृत्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है' कौलमत (साख्यमत) का कथन यह है कि 'ऐसा मानव मुक्ति प्राप्त करता है, जिसका मुख मद्य की सुगन्धि से सुगन्धित है, जिसका हृदय मास-रस से प्रसन्न है, जिसने अपने वाम पार्श्वभाग मे शक्ति (स्त्री-शक्ति) स्थापित की है, जो स्त्रीशक्ति, मुद्रा (योनि मुद्रा) व आसन का धारक है और जो स्वय उमा (पार्वती परमेश्वरी) व महेश्वर-(श्री शिव) सरीखा आचरण कर रहा है, एव जिसे मद्य-पान से उमा व श्रीशिव की आराधना करनी चाहिए।

५ साख्यदर्शनकार की मान्यता है कि प्रकृति (महान् (बुद्धि) व अहकार एव इन्द्रिय-आदि तत्त्वो का उत्पादक अचेतन (प्रधान पदार्थ) और पुरुष (चैतन्यरूप आत्मा) के भेदज्ञान से मुक्ति होती है। भावार्थ—प्रस्तुत भेदज्ञान की प्राप्ति के लिए महान्, अहकार व इन्द्रियादि तत्त्वो का, जो कि प्रकृत्ति के परिणामभूत हैं, सकलन किया गया है। अन्यथा पुरुष (आत्मा) की उपाधिरूप बुद्धि, मन, प्राण व शरीर-आदि से आत्मा मे भेद ज्ञान भली भाँति नही जाना जा सकता। अत प्रकृति व पुरुष का अभेद ज्ञान ही ससार है और इन दोनो के भेद ज्ञान से मुक्ति-लाभ होता है।

६ बुद्ध के शिष्यो (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक भेद से चार प्रकार के बुद्धमतानुयायियो) ने कहा है, आत्मशून्यता-आदि तत्त्वो की शास्त्रनिरूपित अभ्यास वाली भावना से मुक्ति होती है। भावार्थ—बौद्ध सर्वं क्षणिक क्षणिक, दु खं दु ख, स्वलक्षण स्वलक्षण, शून्य शून्यमिति इस प्रकार भावना-

---

१ द्रव्य ९, गुण २४, कर्म ५, सामान्य २, समवाय १, असदृश पदार्थ, पदार्थाभावरत। २ भस्मनाम्लक्षण। ३ पूजा। ४ गाडीदान गाडू टालदुवा ? ५ कर्तव्यात्। ६ कौला। ७ साख्य। ८ मद्येन। ९ सरस। १० मास। ११ वाम। १२ स्त्रीशक्ति। १३ योनिमुद्रा। १४ मदिरया। १५ ईश्वर।

दशबल[1]**शिष्या**, 'अङ्गाराञ्जनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य *न कुतश्चिद्विशुद्धचित्तवृत्ति' इति **जैमिनीया**, 'सति धर्मिणि[2] धर्माश्चिन्त्यन्ते तत परलो[3]किनोऽभावात्परलोकाभावे कस्यासौ मोक्ष' इति **समवाप्त-समस्तनास्तिकाधिपत्या बार्हस्पत्या**[4], 'परमब्रह्मदर्शनवशादशेषभेदसवेदना [5]विद्याविनाशात्' इति **वेदान्तवादिन**,

'नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमञ्जसा। विचा[6]रगोचरातीते शून्यता श्रेयसी तत ॥ ११ ॥'

चतुष्टय से मुक्ति मानते है। अर्थात्—समस्त जगत् क्षणिक, दु खरूप, स्वलक्षणात्मक व शून्यरूप है, इस प्रकार चार प्रकार की भावना से मुक्ति होती है।

७ जैमिनीय (मीमासकविशेष) कहते है कि जैसे स्वभाव से विशेष मलिन कोयला व अञ्जन-आदि पदार्थ किन्ही उपायो से विशुद्ध नही हो सकते वैसे ही स्वभाव से विशेष मलिन आत्मा की मनोवृत्ति भी किन्ही उपायो (तपश्चर्या-आदि) से विशुद्ध नही हो सकती।

८ समस्त नास्तिको का स्वामित्व प्राप्त किये हुए बृहस्पति के अनुयायियो (चार्वाक मतानुयायियो) ने कहा है कि 'जब धर्मी (आत्मा-आदि पदार्थ) स्वतन्त्ररूप से सिद्ध होता है तब उसके धर्मो (ज्ञानादिगुणो) का विचार किया जाता है परन्तु जब परलोक मे गमन करने वाले आत्मद्रव्य का अभाव है तब परलोक का भी अभाव है तब मुक्ति किसे होगी ? भावार्थ—प्रस्तुत दर्शनकार 'देह एवात्मा तदतिरिक्तस्यात्मनोऽदर्शनात्' अर्थात्—शरीर को ही आत्मा मानता है, क्योकि उससे भिन्न आत्मद्रव्य की प्रत्यक्ष से प्रतीति नही होती। उसकी मान्यता है कि यावज्जीव सुख जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ' ॥ १ ॥

अर्थात्—तपश्चर्या-आदि क्लेशपूर्वक जीने से भी मृत्यु अवश्यम्भावी है, अत उसका कष्ट उठाना व्यर्थ है, इसलिए जीवनपर्यन्त सुख भोगो। शङ्का—जन्मान्तर मे विशेष स्थायी सुख की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या का कष्ट-सहन उचित है। उत्तर—जब शरीर ही आत्मा है और वह मरणकाल मे भस्मीभूत हो चुका है, उसका पुनरागमन कैसे हो सकता है ? अर्थात्—न परलोक-गमन है और न जन्मान्तर-प्राप्ति सिद्ध है तब निरर्थक तपश्चर्या का क्लेश सहन क्यो किया जाय ? इत्यादि।

९ वेदान्तवादियो ने कहा है कि परब्रह्म के दर्शन होने से समस्त भेदज्ञान करानेवाली अविद्या (माया—अज्ञान) के विनाश से मुक्ति होती है। अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से 'विप्रचाण्डालादिवर्णावर्ण-सारनि सारपदार्थपरिज्ञान सा अविद्या' अर्थात्—ब्राह्मण व चाण्डाल-आदि उच्चवर्ण व नीचवर्ण के समस्त मानव-आदि पदार्थो मे क्रमश -सार व निस्सार रूप भेदज्ञान प्रकट करना ही अविद्या है। उसके नाश से परब्रह्म का दर्शन होना ही मोक्ष है।

भावार्थ—'मूलाज्ञाननिवृत्तौ स्वस्वरूपाधिगमो मोक्ष ', अर्थात्—सत्वरजतमोमय जगत की मूलकारण अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति होने पर ऐसे परब्रह्म के स्वरूप का बोध होने से मुक्ति होती है, जो कि सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म, अर्थात्—जो सत्य, चिद्रूप व अनन्त है। शाङ्करभाष्य[7] मे भी कहा है।

---

१ दशबलो बुद्ध । * न 'कुतश्चिद्विशुद्धिरितिजैमिनीया' (क)। २ आत्मनि। ३ आत्मन । ४ चार्वाका।
५ विप्रचाण्डालादिवर्णावर्णसारनि सारपदार्थपरिज्ञान सा अविद्या तस्या विनाशात्। ६ विचाररहितत्वात्।
७ तथा च शाङ्करभाष्ये—अविद्यास्तमयो मोक्ष सा च बन्ध उदाहृत ।
अर्थात्–अविद्या (अज्ञान-माया) की निवृत्ति मोक्ष है और अविद्या ही बन्ध है। सर्वदर्शन सग्रह पृ० ४०२ से संकलित—सम्पादक

इति पश्यतोहरा प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिरा **शाक्यविशेषा**[१], तथा 'ज्ञानसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसस्काराणा नवसख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्ति' इति **काणादा**' । तदुक्तम्—

बहि शरीराद्य[२]द्रूपमात्मन सप्रतीयते । उक्त तदेव मुक्तस्य[३] मुनिना कणभोजिना ॥ १२ ॥'

'निराश्रय[४]चित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षण' इति **ताथागता**[५] । तदुक्तम्—

दिश न काचिद्विदिश न काचिन्नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेत[७] स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १३ ॥
दिश न काचिद्विदिश न काचिन्नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।
जीवस्तथा निर्वृति[८]मभ्युपेत [९]क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १४ ॥

प्रत्यक्ष-प्रतीत वस्तु का अपहरण करने वाले व सर्वथा शून्यतारूपी एकान्त अन्धकार को प्रकाशित करने वाले माध्यमिक बौद्धो ने कहा है—'इस लोक मे निश्चय से न तो कोई अन्तरङ्गतत्व (आत्मा-आदि पदार्थ) है और न वाह्यतत्व (घट-पटादि) है, क्योकि प्रस्तुत दोनो तत्व विचार-रहित है। अत शून्यता ही कल्याण करने वाली है। अर्थात्—शून्यतत्व की भावना से ही मुक्ति होती है ॥ ११ ॥'

भावार्थ—यद्यपि बुद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध एक ही थे परन्तु उनके शिष्यो की बुद्धि के भेद से उनके चार भेद हो गये हैं। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक। और ये क्रमश सर्वशून्यता, वाह्यार्थशून्यता, वाह्यार्थानुमेयत्व और वाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद मानते है। जैसे 'गतोऽस्तमर्क', (सूर्य अस्त हो चुका है) ऐसा कहने पर जैसे जार, चोर और अनूचान (वेदवेत्ता) क्रमश अभिसरण, परद्रव्यापहरण एव सदाचार-पालन का समय निर्णय करते हैं वैसे ही प्रस्तुत चारो (माध्यमिक-आदि) 'सर्व क्षणिक क्षणिक, दु ख दु ख, स्वलक्षण स्वलक्षण, शून्य शून्य ,ऐसी भावना-चतुष्टय से मुक्ति मानते है।

उनमे माध्यमिक बौद्धो का कहना है कि जब समस्त जगत् क्षणिक, दु ख, स्वलक्षण व शून्यरूप है तब उसमे स्थिरशीलता, सुख, अनुगतत्व (द्रव्यता) व सर्वसत्यता का अभाव सुतरा सिद्ध हो गया, ऐसा होने से आखिर मे सर्व शून्यता ही सिद्ध होती है, अत इसकी भावना से मुक्ति होती है[1]। कणाद ऋषि के अनुयायियो की मान्यता है कि ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म व सस्कार इन नौ आत्मिक गुणो का अत्यन्त उच्छेद (नाश) होना ही मुक्ति है।[2]

वैशेषिकदर्शन मे कहा है—'आत्मा का शरीर से वाह्यप्रदेश (आकाश) मे जो स्वरूप (निर्गुण—जडरूप) प्रतीत होता है। अर्थात्—जैसे शरीर-स्थित आत्मा मे उक्त सुख-आदि गुण पाये जाते है, परन्तु शरीर से वाह्यप्रदेश (आकाश) मे वर्त्तमान आत्मा मे उक्त सुखादि गुण नही होते। अत वाह्यप्रदेश मे उसका स्वरूप उक्त गुणो से रहित (निर्गुण—जडरूप) है वही स्वरूप कणाद मुनि ने मुक्त आत्मा का बतलाया है ॥ १२ ॥'

बौद्धो की मान्यता है कि 'निरन्वय (सन्तान-रहित) चित्तक्षण की उत्पत्ति लक्षणवाला मोक्षक्षण (पदार्थ) है'। कहा भी है—जैसे बुझता हुआ दीपक न किसी दिशा (पूर्व आदि) को जाता है न किसी विदिशा (ऐशान-आदि), को जाता है और न पृथिवी व आकाश की ओर जाता है, किन्तु तैल के नष्ट हो

---

१. बौद्धास्तेऽपि त्रिप्रकारा' सन्ति । २ आकाश जडतारूप । ३ आत्मन । ४ निराश्रय निरन्वय । ५ ताथागता' बौद्धाः ।
६ विनाश । ७ प्राप्त । ८ दीपवत् स्थानरहित मोक्षावसर । ९ अनित्यभावनया दु खस्य विनाशो भवति ।
1 देखिए सर्वदर्शन सग्रह पृ० १९, व पृ० २९। 2 देखिए सर्वदर्शन सग्रह—उपोद्घात प्रकरण पृ० ५३।

'बुद्धिमनोऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्त[1]दा द्रष्टु[2] स्वरूपेऽवस्थान मुक्ति' इति कापिला.,[3] 'यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात्सर्व प्राणी परब्रह्मणि लीयते' इति ब्रह्माद्वैतवादिन· ।

अज्ञातपरमार्थानामेवमन्येऽपि दुर्णया । मिथ्यादृशा न गण्यन्ते जात्यन्धानामिव द्विपे ॥१५॥

(स्वगतम् ।)

प्राय. सप्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् । निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥१६॥
दृष्टान्ता सन्त्यसख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी । किं न कुर्युर्महीं धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥१७॥
दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुसि करोतु किम । कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयद ॥१८॥
ईर्ते[4]युक्ति यदेवात्र तदेव परमार्थसत् । यद्भानुदीप्तिवत्तस्या[5] पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥१९॥

जाने से केवल शान्ति प्राप्त करता है वैसे ही निर्वृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त हुआ आत्मा भी किसी दिशा, विदिशा, पृथिवी मण्डल और आकाश की ओर नही जाता किन्तु [पूर्वोक्त सर्व क्षणिक क्षणिक-आदि चतुर्विध भावना से] समस्त दु खो का क्षय करके केवल शान्ति-लाभ करता है ॥ १३–१४ ॥

कपिल ऋषि के अनुयायियो ने कहा है—'समस्त इन्द्रिय-वृत्तियो को शान्त करने वाला बुद्धि, मन व अहकार का विरह (सबध-विच्छेद) हो जाने से पुरुष (आत्मा) की अपने चैतन्य स्वरूप मे स्थिति होना ही मुक्ति है ।' भावार्थ—साख्यदर्शनकार पुरुषतत्व (आत्मा) को अकर्त्ता (पुण्य पाप-कर्मों का बन्ध न करने-वाला) व असङ्ग (कमलपत्र सरीखा निर्लेप) व कूटस्थनित्य मानते है ।* जब यह प्रकृति-पुरुष के भेद-विज्ञान से प्रकृति का ससर्ग-त्याग कर अपने ऐसे शान्त चैतन्य स्वरूप मे अवस्थान करता है, जो कि ज्ञातृ-ज्ञेयभाव से शून्य है । अर्थात्—उस समय किसी भी विषय का ज्ञान नही होता तब मुक्ति होती है ।[1]

ब्रह्माद्वैतवादी मानते हैं कि—जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश (घट से रोका हुआ आकाश) आकाश मे मिल जाता है वैसे ही शरीर के नष्ट हो जाने पर समस्त प्राणी परब्रह्म मे लीन हो जाते है यही मुक्ति है ।

[प्रस्तुत आचार्य ने मारिदत्त महाराज से कहा—हे राजन् !] जैसे जन्मान्ध मनुष्यो की हाथी के विषय मे विचित्र कल्पनाएँ होती है वैसे ही परमार्थ को न जाननेवाले मिथ्यामतवादियो की मुक्ति के विषय मे अन्य भी अनेक मान्यताएँ है, उनकी गणना करना भी कठिन है ॥ १५ ॥ [अब मोक्ष के विषय मे अन्य मतो की मान्यताएँ बतलाकर आचार्य मन मे निम्न प्रकार विचार करते है—] आजकल मिथ्यादृष्टियो के लिए सन्मार्ग का उपदेश प्राय उनके वैसे कुपित करने के लिए होता है जैसे नकटे को स्वच्छ दर्पण दिखाना उसके कुपित करने के लिए होता है ॥ १६ ॥ [लोक मे] असख्यात दृष्टान्त है, उन्हे सुनकर मानवो की बुद्धि उनके अनुकूल हो जाती है, अत धूर्त लोग उनकी सामर्थ्य से क्या इस पृथिवी तल के मनुष्यो को विवेक-शून्य नही करते ? ॥ १७ ॥ जैसे मेघ जल-वृष्टि से काले पत्थर के टुकडो मे कोमलता नही ला सकता वैसे ही विद्वान् पुरुष भी खोटी हठरूपी ग्रह से ग्रस्त हुए पुरुषो को सन्मार्ग पर लाने के लिए क्या कर सकता है ? अपितु कुछ नही कर सकता ॥ १८ ॥ फिर भी लोक मे युक्ति जिस वस्तु को सिद्ध करने के लिए प्राप्त होती है वही सत्य है, क्योकि सूर्य के प्रकाश की तरह युक्ति को किसी मे पक्षपात नही होता ॥ १९ ॥

---

१ प्रवाहात् । २ आत्मन । ३ साख्या. । ४ गच्छति । ५ युक्ते । * देखिए यश० च० आ० ५ का श्लोक न० ६२ ।
1 सर्वदर्शन सग्रह उपोद्घात पृ० ५३ से संकलित ।

(प्रकाशम् ।)

श्रद्धा श्रेयोर्थिना श्रेय सश्रयाय न केवला । बुभुक्षितवशात्पाको जायते किमुदम्बरे ॥२०॥
पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षय । दृश्येत यदि को नाम कृती क्लिश्येत सयमै ॥२१॥
दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्वं ये दोषा भवसभवा । ते पश्चादपि दृश्यन्ते तन्न सा मुक्तिकारणम् ॥२२॥
ज्ञानादवगमोऽर्थाना न तत्कार्[1]र्यसमागम । तर्षापकर्षयोगि स्याद्दृष्टमेवान्यथा[2] पय ॥२३॥
ज्ञानहीने क्रिया पुसि पर नारभते फलम् । तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभि ॥२४॥

अथानन्तर प्रस्तुत आचार्य मारिदत्त महाराज के समक्ष पूर्वोक्त सैद्धान्त वैशेषिक-आदि दार्शनिको की मुक्ति विषयक मान्यताओ की समीक्षा करते हुए निम्न तीन श्लोको द्वारा सेद्धान्त वैशेषिकमत की मीमासा करते है—मुमुक्षु प्राणियो को केवल तत्वार्थो की श्रद्धा मोक्ष-प्राप्ति मे समर्थ नही है। क्या भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर फल पक जाते है ? अपि तु नही पकते। अर्थात्—जैसे भूखे मनुष्य की इच्छा मात्र से ऊमर नही पकते किन्तु प्रयत्न से पकते है वैसे ही तत्वार्थों की श्रद्धामात्र से मुक्ति नही होती किन्तु सम्यक्-चारित्ररूप प्रयत्न से साध्य है ॥ २० ॥ जैसे लोक मे मारण व उच्चाटन-आदि मन्त्र पात्रावेश (मनुष्यादि पात्रो मे प्रविष्ट होकर) कार्य-सिद्धि (मारण व उच्चाटन-आदि) करते है वैसे ही यदि केवल वैदिक मन्त्रो की आराधना मात्र से आत्मिक दोषो (मिथ्यात्व, अज्ञान व असयम) के ध्वस से मुक्ति होती हुई दृष्टिगोचर होवे तब तो लोक मे कौन कुशल पुरुष दीक्षा धारण करके चारित्र-पालन द्वारा मुक्तिश्री की प्राप्ति के लिए कष्ट-सहन करेगा ? ॥ २१ ॥ जब दीक्षित पुरुषो मे दीक्षा-धारण के अवसर से पूर्व मे जो सासारिक दोष (मिथ्यात्व, अज्ञान व असयम-आदि) वर्तमान थे वे उनमे दीक्षा धारण के पश्चात् भी देखे जाते है, अत केवल दीक्षा-ही मुक्ति का कारण नही है ॥ २२ ॥

भावार्थ—पूर्व मे सैद्धान्त वैशेषिको की मुक्ति-विषयक मान्यता का निरूपण करते हुए कहा है कि वे वैदिक मन्त्रो व तन्त्रो (यज्ञादि कर्मकान्ड-पद्धतियो) की अपेक्षावाली दीक्षा धारण करने से और उन पर श्रद्धा-मात्र रखने से मोक्ष मानते हैं उनकी मीमासा करते हुए आचार्य ने कहा है कि न केवल श्रद्धा से ही मोक्ष हो सकता है और न मन्त्र तन्त्र पूर्वक दीक्षाधारण करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। क्योकि जैसे प्रयत्न से ऊमर पकते हैं, न कि भूखे मनुष्य की इच्छामात्र से। वैसे ही तत्वार्थों की श्रद्धामात्र से मुक्ति नही होती किन्तु सम्यक्चारित्ररूप प्रयत्न से साध्य है। इसी तरह दीक्षाधारण कर लेने मात्र से मोक्ष प्राप्त नही हो सकता, क्योकि दीक्षा धारण कर लेने पर भी यदि चारित्र धारण द्वारा सासारिक दोषो के विनाश का प्रयत्न न किया गया तो वे दोष दीक्षा धारण के पूर्व की तरह बाद मे भी बने रहेगे तब मुक्ति कैसे होगी ? इसी कारण कुशल-पुरुष दीक्षा धारण करके सयम के पालन का कष्ट उठाते हैं। अत केवल दीक्षा या श्रद्धा मोक्ष की कारण नही हो सकती ॥ २०-२२ ॥

२ अब आचार्य तार्किक वैशेषिकमत की समीक्षा करते हैं—

ज्ञान मात्र से पदार्थों का निश्चय हो जाता है परन्तु उससे अभिलषित वस्तु (मोक्ष) की प्राप्ति नही हो सकती, अन्यथा—यदि ज्ञान से अर्थ-प्राप्ति होती है, ऐसा कहेगे—तब तो 'यह जल है' ऐसा ज्ञान मात्र होने पर प्यास की शान्ति होनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि यदि ज्ञानमात्र से पदार्थ-समागम होता है तो ज्ञातमात्र जल, पान किये विना भी तृषाच्छेदक (प्यास बुझाने वाला) होना चाहिए ॥ २३ ॥

---

१ अर्थ। २ चेत् ज्ञानमात्रेण पदार्थस्य समागमो भवति तर्हि दृष्ट ज्ञातमात्र जल पान विनापि तृषाच्छेदक भवति।

ज्ञान पङ्गौ क्रिया चान्धे नि श्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् । ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रय तत्पदकारणम् ॥२५॥

उक्तं च—

हत ज्ञान क्रियाशून्य हता चाज्ञानिन क्रिया । धावन्नप्यन्धको नष्ट पश्यन्नपि च पङ्गुक ॥२६॥
नि शङ्कात्मप्रवृत्ते[1] स्याद्यदि मोक्षसमीक्षणम् । ठकसूनाकृता[2] पूर्वं पश्चात्कौलेष्वसौ[3] भवेत् ॥२७॥
अव्यक्त[4]नरयो[5]र्नित्य* नित्य[6]व्यापिस्वभावयो । विवेकेन[7] कथ ख्याति[8] साख्यमुख्या प्रचक्षते ॥२८॥
सर्वं चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् । तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्ति स्याद्विप्रलम्भिनाम्[9] ॥२९॥

---

३ पाशुपत (शैव) मत-मीमासा (३ श्लोको द्वारा)—ज्ञान-हीन पुरुष की क्रिया फल देनेवाली नही होती। अर्थात्—ज्ञान के विना केवल चारित्र से मुक्ति नही होती, जैसे जन्म से अन्धा पुरुष अनार-आदि वृक्षो के नीचे पहुँच भी जावे तो क्या उसे छाया को छोडकर अनार-आदि फलो की शोभा प्राप्त हो सकती है अपि तु नही हो सकती उसी प्रकार जीवादि सात तत्वो के यथार्थ ज्ञान के विना केवल आचरण मात्र से मुक्ति-श्री की प्राप्ति नही हो सकती ॥ २४ ॥ लँगडे पुरुष को ज्ञान होने पर भी चारित्र (गमन) के विना वह अभिलषित स्थान पर नही पहुँच सकता एव अन्धा पुरुष ज्ञान के विना केवल गमनादि रूप क्रिया करके भी अभिलषित स्थान मे प्राप्त नही हो सकता और श्रद्धा-हीन पुरुष की क्रिया और ज्ञान निष्फल होते है। अत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मुक्ति के कारण है ॥ २५ ॥ शास्त्रकारो[10] ने भी कहा है—क्रिया (चारित्र—आचरण) से शून्य ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानी की क्रिया भी व्यर्थ है। जैसे देखिए एक जगल मे आग लगने पर अन्धा पुरुष दौड धूप करता हुआ भी नही बच सका क्योकि वह देख नही सकता था। और लँगडा मनुष्य आग को देखते हुए भी न भाग सकने के कारण उसी मे जल मरा ॥ २६ ॥

४ कौलमत समीक्षा—यदि भक्ष्य-अभक्ष्य-आदि मे (मद्य-मास आदि मे) निडर होकर प्रवृत्ति करने से मुक्ति प्राप्त होती है तब तो ठगो (चोरो) व वधको (कसाई-आदि हत्यारो) को पहिले मुक्ति होनी चाहिए और बाद मे कौलमार्ग के अनुयायियो को मुक्ति होनी चाहिए। क्योकि ठग व वधिक लोग कुलाचार्यों की अपेक्षा पाप प्रवृत्ति मे विशेष निडर होते है ॥ २७ ॥

५ साख्य-मत-समीक्षा—जब साख्यदर्शनकार प्रकृति व पुरुष (आत्मा) इन दोनो पदार्थो को सदा नित्य (सकलकालकलाव्यापि—शाश्वत रहने वाले) और व्यापक (समस्त मूर्तिमान पदार्थो के साथ सयोग रखनेवाले) मानते है तब उन दोनो की भेदवृद्धि वाली ख्याति (मुक्ति) कैसे कहते है ? क्योकि उक्त बात युक्ति सगत न होने से आश्चर्यजनक है।

अभिप्राय यह है जब आपके मत मे प्रकृति व पुरुष दोनो नित्य है, अत वे किसी काल मे पृथक् नही हो सकते एव दोनो व्यापक होने से किसी देश मे भी पृथक् नही हो सकते तब आपकी भेद बुद्धिवाली मुक्ति कैसे युक्ति सगत कही जा सकती है ? ॥ २८ ॥

६ नैरात्म्य भावना से मुक्ति मानने वाले बौद्धो की समीक्षा—भावना से सभी शुभ-अशुभ वस्तु

---

१. भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयादिषु। २ बवक। ३ मोक्ष। ४ अव्यक्त प्रधान। ५ प्रकृतिजीवयो। * 'अव्यक्तेतरयोर्नित्य' इति (क)। ६ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव कूटस्थनित्यमिति नित्यस्य लक्षणं। ७, भेदेन। ८ मुक्ति।
९ वियोगीना वचकाना। १० तत्वार्थराजवार्तिक पृ० १४।

तदुक्तम्—

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये । मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम् ॥३०॥
स्वभावान्तरसभूतिर्यत्र तत्र मलक्षय । कर्तुं शक्य स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥३१॥
तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृते । भूतानन्वयनाज्जीव प्रकृतिज्ञ सनातन ॥३२॥

चित्त मे स्पष्टरूप से झलकने लगती है। यदि भावनामात्र से या स्पष्ट अवलोकन मात्र से मुक्ति प्राप्त होती है तब तो वञ्चको अथवा वियोगियो को भी मुक्ति होनी चाहिये। [क्योकि वे भी भावना से कमनीय कामिनी-आदि इष्ट पदार्थों का स्पष्ट चिन्तन कर लेते है ॥ २९ ॥ कहा भी है—सब ओर से बन्द जेलखाने मे सुई की नोक द्वारा भेदने के लिए अशक्य—अत्यन्त गाढ—अन्धकार के होते हुए और मेरे नेत्र बन्द कर लेने पर भी मुझे (चोर या जार को) अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई दिया।

भावार्थ—भावना से वस्तु का चिन्तनमात्र होता है, किन्तु प्राप्ति नही होती। अत नैरात्म्य भावना से मुक्तिश्री की प्राप्ति नही हो सकती। अन्यथा वियोगियो या वचको को भी मुक्ति का प्रसङ्ग हो जायगा ॥ ३० ॥

७ अब जैमिनीय (मीमासक) मत की मीमासा करते हैं—जिस वस्तु (भव्यात्मा) मे स्वभावान्तर (वैभाविक परिणति मिथ्यात्व व अज्ञानादि) का सद्भाव है उसके मल (दोष—अज्ञानादि व आवरण—ज्ञानावरणादि) का क्षय उसके विध्वसक कारणो (सम्यग्दर्शन-आदि उपायो) से वैसा किया जाना शक्य है जैसे खानि से निकले हुए मणि व मोती-आदि पदार्थों की मलिनता का क्षय उसके विध्वसक कारणो (शाणोल्लेखन आदि उपायो) द्वारा किया जाता है। अर्थात्—योग्यतावाले अशुद्ध पदार्थ भी मणि-आदि की तरह उसके शुद्धि-साधनो से शुद्ध किये जा सकते हैं। भावार्थ—जैमिनी दर्शनकार ने जो घृष्यमाण अङ्गार का दृष्टान्त दिया था, वह असम्बद्ध है, क्योकि लोक मे किसी का मन शुद्ध और किसी का अशुद्ध देखा जाता है। अत युक्ति-सगत यही है, जो भव्यात्मा आदि पदार्थ मलिन है उनकी शुद्धि मलिनता नष्ट करने वाले उपायो (सम्यग्दर्शन-आदि साधनो) से वैसी शक्य है जैसे खानि से निकले हुए सुवर्ण की किट्टकालिमा छेदन, भेदन अग्निपुट-पाक-आदि उपायो से दूर की जाती है। अथवा जैसे मणि व मोती-आदि वस्तुओ की मलिनता उसके विध्वसक उपायो से दूर की जाती है। इसमे किसी प्रकार की वाधा नही है ॥३१॥

अब आचार्य बृहस्पति (चार्वाक) मत को मीमासा करते है—प्रकृति (शरीर व इन्द्रियादि) का ज्ञाता यह जीव (आत्मद्रव्य) सनातन (शाश्वत—अनादि अनन्त) है, क्योकि 'तदहर्जस्तनेहातः'—उसी दिन उत्पन्न हुआ बच्चा [पूर्वजन्मसबधी सस्कार से] माता के स्तनो के दूध को पीने मे प्रवृत्ति करता है।

भावार्थ—यह प्राणी पूर्व शरीर को छोड कर जब नवीन शरीर धारण करता है उस समय (उत्पन्न हुए बच्चे की अवस्था मे) क्षुधा से पीडित हुआ पूर्वजन्म मे अनेक बार किये हुए अभ्यस्त आहार को ग्रहण करके ही दुग्ध पानादि मे प्रवृत्ति करता है। क्योकि इसकी दुग्ध-पान मे प्रवृत्ति और इच्छा, विना पूर्वजन्म-सबधी अभ्यस्त आहार के स्मरण के कदापि नही हो सकती। क्योकि वर्तमान समय मे जब यह प्राणी क्षुधा से पीडित होकर भोजन मे प्रवृत्ति करता है, उसमे पूर्व दिन मे किये हुए आहारसबधी सस्कार से उत्पन्न हुआ स्मरण ही कारण है।[1] **निष्कर्ष**—इस युक्ति से आत्मा का पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

---

१ तथा च गौतम —प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१॥ गौतमसूत्र अ ३ आ० १ सूत्र २२वाँ।

भेदोऽय यद्यविद्या स्याद्वैचित्र्य जगत कुत । जन्ममृत्युसुखप्रायैर्विवर्तैर्मानवर्तिभि ॥३३॥
शून्य तत्त्वमह वादी साधयामि प्रमाणत । इत्यास्थाया विरुद्धचेत सर्वशून्यत्ववादिता ॥३४॥

इसी प्रकार 'रक्षोदृष्टे'—कोई मरकर राक्षस होता हुआ देखा जाता है। अर्थात्—ऐसा सुना जाता है कि 'अमुक का पिता-वगैरह मरकर श्मशान भूमि पर राक्षस हो गया'। फिर भला गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीवको माना जावे तो वह मरकर राक्षस—व्यन्तर कैसे हुआ? **निष्कर्ष**—इस युक्ति से आत्मा का भविष्य जन्म सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—'भवस्मृते'—किसी को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है। अर्थात्—यदि गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही जीव माना जावे तब जन्म से स्मृति-वाला मानव क्यो ऐसा कहता है? कि मै पूर्व-जन्म मे अमुक नगर मे अमृक कुटुम्ब मे इस प्रकार था? **निष्कर्ष**—प्रस्तुत युक्ति से भी जीव का पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

शङ्का—जब यह जीव शरीराकार परिणत पृथिवी-आदि चार तत्वो से उत्पन्न हुआ है तब उसे गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त शरीर रूप ही मानना उचित है] इसका समाधान—'भूतानन्वयनात्'—यह जीव उक्त अचेतन पृथिवी-आदि तत्त्वो से उत्पन्न हुआ नही है, क्योकि इसमे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन अचेतन (जड) पदार्थो का अन्वय (सत्ता मौजूदगी) नही पाया जाता।

भावार्थ—ऐसा नियम है कि उपादान कारण का अन्वय कार्य मे पाया जाता है। जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट मे मिट्टी का और तन्तुओ से उत्पन्न हुए वस्त्र मे तन्तुओ का अन्वय (सत्ता) पाया जाता है। वैसे ही यदि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन अचेतन पदार्थो से जीव की उत्पत्ति हुई है तब तो पृथिवी-आदि की अचेतनता—जडता—का अन्वय जीवद्रव्य मे भी पाया जाना चाहिए। परन्तु उसमे ऐसा नही है। अर्थात्—जीवद्रव्य मे अचेतन पृथिवी-आदि भूतचतुष्टय का अन्वय नही पाया जाता। अत जीवद्रव्य की पृथिवी आदि से उत्पत्ति मानना युक्तिसगत नही है। क्योकि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इनके स्वरूप (अचेत-नता) से जीवद्रव्य का स्वरूप (विज्ञान व सुख-आदि युक्तत्व) बिलकुल पृथक् है। अत स्वरूप भेद से जीवद्रव्य स्वतन्त्र चेतन पदार्थ है और इसी तरह जन्म पत्रिका मे लिखा जाता है कि 'इस जीव ने पूर्वजन्म मे जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, ज्योतिष शास्त्र[1] उसके उदय को वैसा प्रकट करता है जैसे अन्धकार मे वर्तमान घट-पटादि पदार्थो को दीपक प्रकाशित करता है।

निष्कर्ष—ज्योतिषशास्त्र द्वारा भी जीव का पूर्वजन्म सिद्ध होता है एव प्रस्तुत श्लोक की वह युक्ति जीवद्रव्य को पृथिवी-आदि से भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करती है ॥३२॥

अब वेदान्तवादियो के मत की समीक्षा करते है—यदि आप ब्राह्मण व चाण्डालादि वर्णावर्ण भेद को अथवा जगत-भेद को अविद्याजन्य (अज्ञान-जनित) मानते है तब प्रमाणसिद्ध जन्म, मृत्यु व सुखप्राय पर्यायो से जगत् मे विचित्रता (भेद) कहाँ से हुई? अर्थात्—अमुक का जन्म हुआ, अमुक की मृत्यु हुई, अमुक सुखी है और अमुक दु खी है, इन प्रमाण-प्रसिद्ध पर्यायो से जब सासारिक प्राणियो मे भेद प्रमाण प्रसिद्ध है तब उसे अविद्या मानना भ्रम है ॥ ३३ ।

१० अब आचार्य शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत की समीक्षा करते है—जब आपने ऐसी प्रतिज्ञा

१ यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभ तस्य कर्मण प्राप्तिम्। व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥ १ ॥
यश० च० उत्त० आ० ४ पृ० ९८

बोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भव[१]। सिद्धसाध्यतयास्माक न काचित्क्षतिरीक्ष्यते॥३५॥
न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे[२] मोक्षे कि मोक्षिलक्षणम्[३]। न ह्यग्ना[४]वन्यदुष्णत्वाल्लक्ष्मलक्ष्य विचक्षणै ॥३६॥

कि च, सदाशिवेश्वरादय ससारिणो मुक्ता वा ? ससारित्वे कथमाप्तता, मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्।

ऐश्वर्यमप्रतिहत सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु।
आत्यन्तिक सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञान च सर्वविषय भगवस्तवैव ॥३७॥

इत्यवधूताभिधान च न घटेत।

अनेकजन्मसततेर्यावदद्याक्षय[५] पुमान्। यद्यसौ मुक्त्यवस्थाया कुत क्षीयेत हेतुत ॥३८॥

की कि 'मै वादी (माध्यमिक बौद्ध) प्रमाण से शून्य तत्त्व को सिद्ध करता हूँ' तब आपका सर्वशून्यत्ववाद विरुद्ध हो जाता है, क्योकि प्रमाण तत्त्व के सिद्ध होजाने से शून्यतावाद कहाँ रहा ? ॥ ३४ ॥

११ [अब आचार्य मुक्ति मे आत्मा के विशेष गुणो का विनाश मानने वाले वैशेपिक दर्शनकार कणाद ऋषि के मत की मीमासा करते है] यदि मुक्ति-अवस्था मे सासारिक चक्षुरादि इन्द्रिय-जनित क्षायोपशमिक ज्ञान व सुख नही हे तो मुक्ति सबधी आत्मिक बोध (क्षायिक केवलज्ञान) व क्षायिक सुख है ही, ऐसी मुक्ति से तो हमे (आर्हतो-जेनो को) सिद्धसाध्यता हुई। अर्थात्—ऐसी मुक्ति हमे भी इष्ट है। तब हमारी कोई हानि नही देखी जाती ॥ ३५ ॥ समस्त पदार्थो के अवलोकन (ज्ञान) के विनाशलक्षणवाला मोक्ष मानने पर तो मुक्त आत्मा का लक्षण ही क्या होगा ? क्योकि विद्वान् लोग वस्तु के विशेष गुणो को ही वस्तु का लक्षण मानते है जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता है। यदि अग्नि की उष्णता नष्ट हो जाय तो फिर उसका लक्षण क्या होगा ? अर्थात्—उष्णता को छोड कर अग्नि का दूसरा लक्षण नही है, वैसे ही ज्ञान को छोडकर जीव का दूसरा लक्षण नही है। अत मुक्त जीव मे ज्ञानादि का सद्भाव मानना युक्ति-सगत है। अन्यथा विशेष गुणो के विना मुक्ति अवस्था मे आत्मा का भी अभाव हो जायगा ॥ ३६ ॥

तथा आपके 'सदाशिव व ईश्वर-आदि ससारी है या मुक्त ? यदि ससारी है तो वे आप्त नही हो सकते ? यदि मुक्त हैं तो पतञ्जलि का यह कथन घटित नही होता 'ऐसा पुरुष-विशेष ईश्वर है, जो कि समस्त दु खो* (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश), कर्मों (विहित व प्रतिषिद्ध या पुण्य-पाप), व विपाको (कर्मफलो—जन्म, आयु—जीवनकाल व भोग) व आशयो (धर्म, अधर्म व सस्कार) से सस्पृष्ट नही है, ऐसे परम विशुद्ध वीतराग होने मे उसकी अनोखी सर्वज्ञता बीज (कारण) है'। इसी प्रकार अवधूत विद्वान् का निम्न कथन भी सघटित नही होता। 'नित्य ऐश्वर्य, स्वाभाविक वीतरागता, नैसर्गिक तृप्ति, जितेन्द्रियता, आत्यन्तिक (अनतसुख) और आवरण-शून्य शक्ति और समस्त पदार्थो को प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान (सर्वज्ञता) ये प्रशस्त गुण हे भगवन्! तेरे मे ही है' ॥ ३७ ॥

१२· बौद्धमत-समीक्षा—जब कि इस जीव ने पूर्व मे अनेक जन्म धारण किये तथापि अभी तक

---

१ चेत्—ससारसबधी बोध सुख च नास्ति तर्हि मुक्तिसबधी बोध सुख च भवत्येव तया ईदृश्या मुक्त्याऽस्माक सिद्धसाध्य सजात न काचिद्धानि। २ न्यक्षा समस्ता। समस्तपदार्थावलोकनविनाशलक्षणे।

३ मोक्षी मुक्त। मोक्षण आत्मन। ४ ज्ञान विना जीवस्य लक्षण न भवतीत्यर्थ।

* तथा च पातञ्जल योगसूत्रम्—क्लेशा—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा' पात० यो० सू० २।३।

५ चेत्—पूर्वं बहूनि जन्मानि जीवेन गृहीतानि अद्यापि विनाशो न संजात तर्हि मोक्षगमने सति स 'दिश न काचित्'
६ इत्यादि, कस्मात् कारणात् क्षीयेत—क्षय याति ? । टि० (ख) (घ) (च)।

बाह्ये ग्राह्ये [1]मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मन । तदा द्रष्टु स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानममानकम् ॥३९॥

न चाय सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्ध स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् ।

तथाहि— यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजान कुञ्जर हयम् । सुवर्णं वृषभ गा च कुटुम्ब तस्य वर्धते ॥४०॥

यत्र नेत्रादिक नास्ति न तत्र मतिरात्मनि । तन्न युक्तमिद यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥४१॥

जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि प्रकृष्येत[3] मतिर्यदि । पराकाष्ठा[4]प्यतस्तस्या[5] क्वचित्खे परिमाणवत् ॥४२॥

तुच्छोऽ*भावो न कस्या[6]पि हानि[7]र्दीपस्तमोऽन्वयी[8] । धरादिषु[9] धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४३॥

इसका विनाश नही हुआ तब मुक्ति प्राप्त होने पर यह किस कारण से आपके 'दिश न काचित्' इत्यादि कहे अनुसार नष्ट हो जाता है ? ह लि (क) प्रति के पाठान्तर का अर्थ यह है कि इस जीव ने पूर्व मे अनन्त जन्मो मे सक्रमण किया तथापि इसका क्षय नही हुआ तब मुक्ति मे किस कारण से इसका क्षय होता है ? ॥३८॥

१३ अब आचार्य साख्यदर्शन की आलोचना करते है—ज्ञानावरण-आदि घातिया कर्मो के क्षय हो जाने से उत्पन्न हुए केवलज्ञान से आत्मा जब समस्त बाह्य पदार्थो को वेसा जान लेता है जैसे वात व पित्त-आदि के प्रकोप न होने पर सत्य स्वप्न को जानता है तब आत्मा की अपने स्वरूप मे अनन्तज्ञानवाली स्थिति हो जाती है। यह भी अर्थ है कि मुक्त होने पर आत्मा केवल अपने स्वरूप मे ही स्थित हो जाता है और वाह्य पदार्थो को नही जानता साख्य का यह कथन अप्रमाण है॥ ३९॥

हमारा सच्चा स्वप्न उदाहरण अप्रसिद्ध नही है, क्योकि स्वप्नाध्याय मे विशेषरूप से प्रसिद्ध है 'जो मानव पिछली रात्रि मे राजा, हाथी, अश्व, सुवर्ण, बैल व गाय को देखता है उसका कुटुम्ब वृद्धिगत होता है॥ ४०॥ जिसमे नेत्रादि नही है उसमे स्वप्नबुद्धि नही होती, (वह स्वप्न नही देखता) अत आपका सत्य स्वप्न-दर्शन उदाहरण असिद्ध है। ऐसी शङ्का करना उचित नही है। क्योकि अन्धा पुरुष भी स्वप्न देखता है। अत हमारा उदाहरण निर्दोष है ॥ ४१॥ अब आचार्य सर्वज्ञ न मानने वाले मीमासको की समालोचना करते है—यदि आप जैमिनि आदि आप्त पुरुषो मे प्रकृष्ट बुद्धि मानते है तब किसी सर्वोत्तम महापुरुष (ईश्वर) मे उस बुद्धि का परम प्रकर्ष (विकास की चरम सीमा) मानना भी वैसी युक्ति-सगत है जैसे आकाश मे परिमाण की पराकाष्ठा (चरम सीमा—महापरिमाण) युक्ति-सिद्ध है। अर्थात्—किसी आत्मा मे कर्म-क्षय होने पर बुद्धि के प्रकर्ष की चरम सीमा होती है।

भावार्थ—जैसे अणुपरिमाण परमाणु मे और मध्यम परिमाण घटादि मे पाया जाता है एव उस परिमाण की चरमसीमा (व्यापक परिमाण) आकाश मे पाई जाती है वैसे ही जब आप हम लोगो मे साधारण बुद्धि और जैमिनि वगैरह विद्वानो मे विशिष्ट बुद्धि मानते है तब उस बुद्धि के प्रकर्ष की परकाष्ठा भी किसी महापुरुष मे माननी पडेगी—वही सर्वज्ञ है, इसमे किसी भी प्रमाण से बाधा नही आती ॥ ४२॥ यदि आप कहेगे कि ऐसे तो किसी मे बुद्धि का सर्वथा अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तु का तुच्छाभाव नही होता—वह वस्तु इकदम नष्ट (शून्यरूप) हो जाय—ऐसा नही होता। जैसे दीपक बुझता है तो प्रकाश अन्धकार रूप मे बदल जाता है। इसी तरह पृथिवी-आदि मे बुद्धि की अत्यन्त हानि देखी जाती

---

* 'अनेकजन्मसक्रान्तेर्यावद्' १ कर्मक्षयात्केवलज्ञानेन बाह्यपदार्थे ग्राह्ये अवलोकिते सति द्रष्टु आत्मन स्वरूपे अवस्थान स्थितिर्भवति। २ मानरहित अनतज्ञान स्यादित्यर्थ। ३ प्रकृष्टा भवति। ४ परमप्रकर्षो भवति। ५ मते। * शून्यरूपो न। ६ वस्तुन। ७ हानि – अल्पत्व नाशो वा ८ 'हानिर्दीपे तमोमयी' इति ह० लि० (क०) प्रतौ पाठ। ९ पृथिव्यप्तेजोवायुषु सत्सु बुद्धेर्हानौ गत्या—बुद्धिविनाशे सति यदा धरादीना विश्लेषो भवति तदा मोक्षो भवति तद्वत् कर्मसश्लेषे सति केवलज्ञान नोत्पद्यते, कर्मविश्लेषे तु केवलज्ञान भवत्येव।

तदावृतिहतौ[1] तस्य तपनस्येव दीधिति । कथं न शेमुषी सर्वं प्रकाशयति वस्तु सत् ॥४४॥
ब्रह्मैक[2] यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्ग[3] कुतश्च न । घटाकाशमिवाकाशे तत्रेदं[4] लीयता[5] जगत् ॥४५॥

अथ मतम्—

एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थित । एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४६॥

तदयुक्तम् ।

एक खेऽनेकधान्यत्र यथेन्दुर्वेद्यते जनै । न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदभेदभाक् ॥४७॥

अलमतिविस्तरेण ।

आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता । एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्ष परिकीर्तित ॥४८॥
ज्वालोरुबूकबीजादे[6] स्वभावादूर्ध्वगामिता । नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मन ॥४९॥
तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि । स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यादलं लोकान्तरेण[7] ते ॥५०॥

है, क्योकि जब तक पृथिवी कायिक-आदि जीव पृथिवी-आदि रूप पुद्गलो को अपने शरीर रूप मे ग्रहण करता है तब तक उनमे बुद्धि रहती है, परन्तु मरण होने पर उन्हे छोड देता है, अत जीव के वियुक्त हो जाने पर उन पृथिवी आदि रूप पुद्गलो मे बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसमे तो सिद्ध साध्यता है ॥ ४३ ॥ बुद्धि के ऊपर से कर्मो का आवरण हट जाने पर आत्मा की उत्पन्न हुई केवलज्ञान-शक्ति क्या समस्त वस्तुओ को वैसी प्रकाशित नही कर सकती ? जैसे सूर्य अपने ऊपर का आवरण (मेघपटल) हट जाने पर अपनी रोशनी से क्या समस्त पदार्थो को प्रकाशित नही कर देता ? ॥ ४४ ॥

१४ अब ब्रह्माद्वैतमत की मीमासा करते है—यदि आप केवल एक ब्रह्म ही मानते है तो वह निस्तरङ्ग—निर्विकल्प (भेद-रहित) क्यो नही है ? अर्थात्—यह लोक उससे भिन्न रूप क्यो प्रत्यक्ष प्रतीत होता है ? और उसी ब्रह्म मे यह जगत् क्यो वैसा लीन नही होता जैसे घट के फूट जाने पर घट के द्वारा छेका हुआ आकाश आकाश मे लीन हो जाता है ॥ ४५ ॥ ब्रह्माद्वैतवादियो का पूर्वपक्ष—वास्तव मे ब्रह्म एक ही है परन्तु भिन्न-भिन्न प्राणियो के शरीरो मे पाया जाने से वैसा अनेक रूप मालूम पडता है जसे चन्द्र एक होकर के भा जल मे प्रतिबिम्बित होने पर पात्र-भेद से अनेक प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥ उक्त मान्यता ठीक नही है, क्योकि आपका जलचन्द्र का दृष्टान्त विषम है, क्योकि जैसे आकाश मे वर्त्तमान चन्द्रमा मनुष्यो से एकरूप और जलादि मे वर्तमान अनेक रूप भी प्रत्यक्ष देखा जाता है वैसे ही प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अनेक पदार्थो से स्वतन्त्र एक रूप ब्रह्म प्रत्यक्ष-आदि प्रमाण द्वारा प्रतीत नही होता ॥ ४७ ॥ अस्तु अब इस प्रसङ्ग को यही समाप्त करते है ।

मोक्षस्वरूप—जहाँ पर अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व-आदि गुण पाये जाते है, उसे मोक्ष कहा गया हे ॥ ४८ ॥ जैसे अग्नि की ज्वाला और एरण्ड-बीज-आदि पदार्थो का ऊर्ध्वगमन निश्चित देखा गया है वैसे ही समस्त कर्म-बन्धनो के क्षय हो जाने पर मुक्तात्मा का भी स्वभावत ऊर्ध्वगमन निश्चित किया गया है ॥ ४९ ॥ यदि यही माना जावे कि मुक्त होने पर आत्मा यही रह जाता है, कही जाता

---

१ तद्वत् कर्मसश्लेषे सति केवलज्ञान नोत्पद्यते कर्मविश्लेषे तु केवलज्ञान भवत्येव । २ यदि एक ब्रह्म वास्ति तर्हि अयं लोक पृथक् किं दृश्यते ? ३ निर्विकल्प । ४ तत्रैव ब्रह्मणि कथ न लीयते ? ५ 'लीयते' इति ह लि क० प्रतौ पाठ । ६ 'ज्वालालावुकबीजादे' इति ह० लि० च० प्रतौ पाठ । ७ ते तव मते यदि पुण्यवता स्वर्गो न पापवता च नरको न भवति तर्हि मोक्ष कथ भवति ।

इत्युपासकाध्ययने समस्तसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथम कल्प ।

अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते, सम्यक्त्व हि नाम नराणा महती खलु पुरुषदेवता[1] । यत्सकृ[2]देकमेव[3] यथोक्त-गुणप्रगुणनया सजातमशेषकल्मषकलुष[4] धिषणनया नरकादिषु गतिषु, [5]पूर्ष्यदायुषामपि मनुष्याणा षट्सु तलपातालेषु[6], अष्टविधेषु व्यन्तरेषु[7], दशविधेषु भवनवासिषु[8] पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु,[9] त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वीपय-पावकपवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति सभूतिहेतु[10] । [11]सावधि विदधात्याजवजवीभाव, नियमेन सपादयति [12]कचित्कालम् उपलभ्यात्मनश्चार्वी[13] चारित्रे, [14]साधुसपादनसार सस्कार इव बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्[15] सिद्ध[16]श्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीम कामितानि, व्रतानि[17] पुनरौषधय इव फलपाकावसानानि पाथेय[18]-

---

नही है तो पुण्यवानो को स्वर्ग व पापियो को भी नरक-गमन नही होगा फिर आपके यहाँ मोक्ष कैसे सघटित होगा ? अत मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन मानना चाहिए ॥ ५० ॥ इसका विशेष विस्तार करने के पर्याप्त है। इसप्रकार उपासकाध्ययन मे समस्त मतो के सिद्धान्तो का ज्ञान कराने वाला प्रथम कल्प समाप्त हुआ।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

[श्री सुदत्ताचार्य मारिदत्त महाराज से कहते है] धर्म की आराधना मे अद्वितीय बुद्धिशाली हे राजन् ! निश्चय से सम्यग्दर्शन मनुष्यो के सरक्षण के लिए गृहदेवता या कुलदेवता-सरीखा अधिष्ठाता है। क्योकि तीनो सम्यग्दर्शनो मे से एक भी सम्यग्दर्शन एकबार भी अपने गुणो को वृद्धिगत करता हुआ प्राप्त,हो जाता है तो पूर्व मे समस्त पाप-बुद्धि से नरक-आदि दुर्गतियो मे नही जाता। यदि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पूर्व मे जिन पुरुषो ने नरक आदि आयु बाँध ली है, उनकी नीचे के शर्कराप्रभा-आदि छह नरको मे, आठ प्रकार के व्यन्तरो (किन्नर व किंपुरुष-आदि) मे, दस प्रकार के भवनवासियो (असुर व नाग-आदि) मे, पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवो (सूर्य व चन्द्र-आदि) मे, तीन प्रकार की स्त्रियो मे, विकलेन्द्रियो मे, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक व वनस्पतिकायिक इन पाँच प्रकार के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवो मे उत्पत्ति नही होती। अर्थात्—उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व इन गतियो मे उत्पत्ति का कारण नही होता। यह ससार को सान्त कर देता है। यह चरित्र-पालन मे अपूर्व बुद्धि उत्पन्न करता है। अर्थात्—कुछ समय के बाद उस आत्मा के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते है। जैसे बीजो मे अच्छी तरह से किया गया सस्कार बीजो की वृक्षरूप पर्यायान्तर होने पर भी वर्तमान रहता है वैसे ही सम्यक्त्व जन्मान्तर मे भी आत्मा का अनुसरण करता है, उसे छोडता नही है। यह प्राप्त हुए चिन्तामणि-सरीखा असीम मनोरथ पूर्ण करता है। व्रत (चारित्र) तो आत्मा को वैसा फल देकर समाप्त होने वाले (स्वर्ग मे भोग-आदि देकर पश्चात् वहाँ से पतन करानेवाले) होते है जैसे औषधि वृक्ष फलो के पकने के बाद नष्ट होने वाले होते है और जैसे कलेवा

---

१ नरस्य रक्षणे अधिष्ठाता, गृहदेवता व कुलदेवतावच्च। २ एकवार। ३ एकमेव सम्यक्त्वमुत्पन्न सत् एतासु गतिषु उत्पत्तिकारण न स्यादित्यर्थ (च०)। उपशमादित्रयाणा मध्ये वेदकमप्युत्पन्न परन्तु तदाचरणे सति अङ्गादीना समीचीनतया य स्थित स दुर्गतिषु न जायते (ख)। ४ पूर्व पापबुद्धितया। ५ बद्धायुषामपि नराणा। ६ शर्कराप्रभादिषु उत्पत्तिर्न भवति। ७ किन्नरकिंपुरुषादिषु। ८ असुरनागादिषु। ९ चन्द्रार्कादिषु। १० सम्यक्त्वमुत्पन्न सत् एतासु गतिषूत्पत्तिकारण न स्यादित्यर्थ। ११ मर्यादामहित करोति ससार। १२ सम्यक्त्वमेतत्काल प्राप्य। १३ अपूर्वा मर्ति सम्पादयति सम्यक्त्व कर्तृ। १४ बीजस्य प्रक्षालन दुग्धगुडादिमिश्रितजलेन सस्करण। १५ सहगमन। १६ प्राप्त। १७ व्रतानि। १८ पाथेयवन्नियतवृत्तीनि सवलवत् समयदिवृत्तीनि-स्वर्गे भोगादिक दत्वा-पश्चात् सम्पूर्णे सति च्यवन कारयन्ति तेन सम्यक्त्वस्याधिको महिमा मोक्ष च दत्ते।

वन्नियतवृत्तीनि च। न च सिद्धरसवेद्धसबधा[1]दुषर्बुधसनिधानमात्रजन्मनि[2]जाम्बूनद इवात्र[3] पदार्थयाथात्म्य समवगमान्मनोमननमात्रतन्त्रे नि शेषश्रुतश्रवणपरिश्रम समाश्रयणीय, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशान्तरमनुसरणीयम्, नापि काल-क्षेप[4]कुक्षिरपे[5]क्षितव्य। तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसपद, प्राणितमिव[6] भोगा[7]यतनोपचारस्य, [8]मूलबलमिव विजयप्राप्ते, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि [9]परलोकोदाहरणस्य सम्यक्त्वमेव[10] ननु प्रथम कारण [11]गृणन्ति गरीयास [12]। तस्य चेद लक्षणम्—

आप्तागमपदार्थाना श्रद्धान कारण[13]द्वयात्। मूढाद्यपोढमष्टाङ्ग सम्यक्त्व प्रशमादिभाक् ॥५१॥
सर्वज्ञ सर्वलोकेश सर्वदोषविवर्जितम्। सर्वसत्वहित प्राहुराप्तमाप्तमतोचिता[14] ॥५२॥
ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्त[15]प्रतिपत्तये। अज्ञोपदेशकरणे [16]विप्रलम्भनशङ्किभि ॥५३॥

सीमित होता है वैसे ही व्रत भी सीमित होते है। किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नही है। इससे मुक्ति श्री की प्राप्ति होती है। निसर्गज सम्यग्दर्शन के लिए, जो कि मोक्षोपयोगी तत्त्वो के यथार्थ ज्ञान से और उनमे विशुद्ध चित्त वृत्ति को लगाने मात्र से वैसा उत्पन्न होता है जैसे शुद्ध पारे व अग्नि के सन्निधान मात्र से सुवर्ण-उत्पन्न होता है, न तो समस्त श्रुत के श्रवण सबन्धी परिश्रम का आश्रय लेना चाहिए एव न [व्रतादि पालन द्वारा] शरीर क्लेशित करना चाहिये, न देशान्तर मे भटकना चाहिए और न काल के मध्य गिरना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इसी काल मे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, इसका विचार नही करना चाहिए, क्योकि समस्त काल मे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। महामुनि सम्यग्दर्शन को ही निश्चय से मुक्ति का वैसा प्रधान कारण कहते है जैसे नीव को महल का, सौभाग्य को रूपसम्पदा का, जीवन को शरीर-सुख का, राजा की सनिक शक्ति को उसकी विजय प्राप्ति का, विनयशीलता को कुलीनता का और राजनीति का अनुष्ठान राज्य-स्थिति का प्रधान कारण कहते है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शन का लक्षण—आप्त (सर्वज्ञ वीतराग देव), आगम (आचाराङ्ग-आदि शास्त्र) और मोक्षोपयोगी सात तत्त्वो का तीन मूढता-रहित और नि शङ्कित-आदि अष्ट अङ्गो-सहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, जो कि प्रशम (क्रोध-आदि कषायो की मन्दता), सवेग (ससार से भयभीत होना), अनुकम्पा (समस्त प्राणियो मे दया करना) और आस्तिक्य (सत्यार्थ ईश्वर व पूर्वजन्म-अपरजन्म-आदि मे श्रद्धा रखना) इन विशुद्ध परिणाम रूप चिन्हो—कार्यो—से अनुमान किया जाता है एव जो निसर्ग (स्वभाव) से और अधिगम (परोपदेश) इन दो कारणो से उत्पन्न होता है, इसलिए जिसके निसर्गज और अधिगमज ये ये दो भेद हैं ॥ ५१ ॥

आप्त का स्वरूप—जो सर्वज्ञ (त्रिकालदर्शी) है, सर्वलोक का स्वामी है और क्षुधा और तृषा-आदि १८ दोषो से रहित (वीतरागी) है एव समस्त प्राणियो का हित करने वाला है, उसे आप्तस्वरूप के ज्ञाता महामुनि आप्त कहते है ॥ ५२ ॥ क्योकि मूर्ख के वचनो को प्रमाण मानने पर ठगाए जाने की आशङ्का करने वाले शिष्ट पुरुष सर्वज्ञ के वचनो को अङ्गीकार करने के लिए किसी ज्ञानी वक्ता की खोज करते है ॥५३॥

---

१ उपबुंध अग्नि। २ जाम्बूनद सुवर्ण। ३ सम्यक्त्वे। ४–५ कालस्य मध्ये न पतितव्य, अस्मिन्नेव काले सम्यक्त्वमुत्पद्यते एव न चिन्तनीय किन्तु सर्वस्मिन्नेव काले सम्यक्त्वमुत्पद्यते। ६ जीवित। ७ शरीर। ८ राज्ञ. शरीरशक्ति, अत्र मूलशब्देन नृपो ज्ञेय। ९ मोक्षस्य। १० सम्यक्त्वमेव मोक्षकारण। ११ कथयन्ति। १२ गरिष्ठा महामुनय। १३. तन्निसर्गादधिगमाद्वा। १४ आप्तश्रुतोचिता (क०) १५ सबज्ञवचनाङ्गीकारनिमित्त। १६. अन्यथा मूर्खवचनप्रमाणकरणे विप्रलम्भ उपालम्भो भवति।

यस्तत्त्वदेशनाद्दु खवार्धेरुद्धरते जगत् । कथ न सर्वलोकेश प्रह्वीभूतजगत्त्रय ॥५४॥
क्षुत्पिपासाभय द्वेषश्चि[1]न्तन [2]मूढतागम । रागो जरा रुजा मृत्यु क्रोध खेदो मदो रति ॥५५॥
विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवा । त्रिजगत्सर्वभूताना दोषा साधारणा इमे ॥५६॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्त सोऽयमाप्तो निरञ्जन । स एव हेतु सूक्तीना केवलज्ञानलोचन ॥५७॥
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारण नास्ति ॥५८॥
उच्चावच[3]प्रसूतीना सत्त्वाना सदृशाकृति । य आदर्श इवा[4]भाति स एव जगता पति ॥५९॥
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चरित्रे मुक्तिकारणे । एकवाक्यतया वृत्तिराप्त सोऽनुमत सताम् ॥६०॥
अत्यक्षे[5]प्यागमात्पुसि विशिष्टत्व प्रतीयते । उद्यानमध्यवृत्तीना ध्वने[6]रिव नगौकसाम्[7] ॥६१॥
स्वगुणै श्लाघ्यता याति स्वदोषैर्दूष्यता जन । रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसो[8]रिव ॥६२॥
द्रुहिणा[9]धोक्षजेशानशाक्यसूरपुर सरा । यदि रागाद्यधिष्ठान कथ तत्रा[10]प्तता भवेत् ॥६३॥
रागादिदोषसभूतिर्ज्ञेयामीषु तदा[11]गमात् । असत परदोषस्य गृहीतौ[12] पातक महत् ॥६४॥

जो तीर्थङ्कर प्रभु मोक्षोपयोगी तत्त्वदेशना से ससार के प्राणियो का दु ख समुद्र से उद्धार करते है, इसलिए जिनके चरणकमलो मे तीन लोक के प्राणी नम्रीभूत हो गये है, वे सर्वलोक के स्वामी क्यो नही है ? ॥ ५४ ॥ भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष तीन लोक के समस्त प्राणियो मे समान रीति से पाये जाते है, अत जो इन अठारह दोषो से रहित है, वही निरञ्जन (पापकर्मो की कालिमा से रहित—विशुद्ध) और केवलज्ञानरूप नेत्र से युक्त (सर्वज्ञ) तीर्थङ्कर ही आप्त हो सकता है, एव वही द्वादशाग शास्त्र की सूक्तियो (प्रामाणिक वचनो) का वक्ता हो सकता है ॥ ५५-५७ ॥

क्योकि राग या द्वेष से अथवा मोह (अज्ञान) से मिथ्या भाषण किया जाता है। परन्तु जिस विशुद्ध आत्मा मे उक्त तीनो दोष नही हैं, उसके झूठ वचन बोलने का कोई कारण नही है ॥५८॥ अनेक प्रकार की उत्पत्ति वाले प्राणियो की शकल सूरत सरीखा होकर भी जो उनमे दर्पण-सरीखा मोक्षोपयोगी तत्त्वो को प्रकाशित करता है वही तीन लोक का स्वामी है ॥५९॥ जिसकी आत्मा मे, आगम मे, तत्वो मे, सामायिक-आदि चारित्र मे और मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र मे पूर्वापर के विरोध से रहित वचन-प्रवृत्ति है, उसे ही गणधरो ने आप्त माना है ॥६०॥ यहाँ पर प्रश्न यह है कि जब आप्त पुरुष मोक्ष चले गए तब उनकी विशिष्टता कैसे जाने ? उसका उत्तर देते है—परोक्ष मानव की भी विशेषता (सर्वज्ञता-आदि) उसके द्वारा उपदिष्ट आगम से वैसी जानी जाती है जैसे वगीचे मे रहने वाले पक्षियो (कोकिला-आदि) के शब्द सुनने से उनकी विशिष्टता जानी जाती है।

भावार्थ—जैसे पक्षियो के विना देखे भी उनकी आवाज से उनकी पहिचान हो जाती है वैसे ही आप्त पुरुषो को विना देखे भी उनके शास्त्रो से उनकी भी आप्तता का पता चल जाता है ॥६१॥ मानव अपने ही गुणो से लोक मे प्रशसा प्राप्त करता है और अपने दोषो से निन्दा प्राप्त करता है, अत सुवर्ण व लोहे-सरीखे उन सज्जन व दुर्जन पुरुषो के विषय मे तोष (राग) व रोष (द्वेष) करना व्यर्थ है ॥६२॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध व सूर्य-आदि देवता, यदि रागादि दोषो से युक्त है तो वे आप्त कैसे हो सकते है ? ॥६३॥ इन ब्रह्मा

---

१ चिन्ता। २ मोह । ३ उच्चावच नैकभेदमित्यमर । ४ प्रकाशयति । ५ परोक्षेऽपि नरे । ६-७ यथा पक्षिणा शब्दात् परोक्षेऽपि विशिष्टत्व ज्ञायते । ८ सुवणलोहयोरिव । ९ ब्रह्म, हरि, हर, बुद्ध, सूर्यादय । १० तेषु ब्रह्मादिषु । ११ तस्य शास्त्रात् । १२ गृहणे सति ।

अजस्तिलोत्तमाचित्त श्रीरत श्रीपति स्मृत । अर्धनारीश्वर शम्भुस्तथाप्येषा किलाप्तता ॥ ६५ ॥
वसुदेव पिता यस्य सवित्री देवकी हरे । स्वय च राजधर्मस्थश्चित्र देवस्तथापि स ॥ ६६ ॥
त्रैलोक्य जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते । किमुत्पत्तिविपत्ती स्त । [1]क्वचित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥ ६७ ॥
कपर्दी दोषवानेष नि शरीर सदाशिव । अप्रामा[3]ण्यादशक्तेश्च कथ तत्रागमागम ॥ ६८ ॥
परस्परविरुद्धार्थमीश्वर पञ्च[4]भिर्मुखै । शास्त्र शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चय ॥ ६९ ॥
सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे । कथ स्वरूपभेद[5] स्यात्काञ्चनस्य कला[6]स्विव ॥ ७० ॥
भैक्ष[7]नर्तननग्नत्वे पुरत्रयविलोपनम् । ब्रह्महत्याकपालित्व[8] मेता क्रीडा किलेश्वरे ॥ ७१ ॥

व विष्णु-आदि देवताओ मे रागादि दोषो का सद्भाव (मोजूदगी) उन्ही के शास्त्रो से ही जान लेना चाहिए। क्योकि दूसरो के गैरमोजूद दोष प्रकट करने मे महान् पाप है ॥६४॥ देखिये—ब्रह्मा अपनी तिलोत्तमा नाम की अप्सरा मे आसक्त है और विष्णु (श्रीकृष्ण) अपनी लक्ष्मी प्रिया मे लम्पट है एव महेश अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध ही है। आश्चर्य है फिर भी इन्हे आप्त माना जाता है ॥६५॥ विष्णु (श्रीकृष्ण) के पिता वसुदेव थे और माता देवकी थी एव स्वय राजधर्म का पालन करते थे, आश्चर्य है फिर भी तो वे देव माने जाते है ॥६६॥ यहाँ पर विचार करने की बात है, कि जिस विष्णु के उदर मे तीन लोक बसते है और जो सर्वव्यापी है उसका मथुरा मे जन्म और वन मे मृत्यु कैसे हो सकती है ? क्योकि तीन लोक मे व्यापक रहने वाले के जन्म-मरण घटित नही होते ॥६७॥ ससारी शिव रागादि दोष-युक्त होने से अप्रामाणिक है, अत उसके द्वारा किया हुआ आगम (वेद) भी प्रमाण नही हो सकता। इसीप्रकार सदाशिव आगम-रचना करने मे समर्थ नही हो सकता, क्योकि वह शरीर-रहित होने के कारण जिह्वा व कण्ठ-आदि उपकरणो से शून्य है। जैसे हस्तादि-शून्य कुम्भकार घट-रचना करने मे समर्थ नही होता अत उक्त दोनो से आगम की उत्पत्ति कैसे घटित हो सकती है ? ॥६८॥ जब श्रीशिव पाँच मुखो से परस्पर विरुद्ध अभिप्राय वाले आगम का उपदेश देता है, तब उनमे से किसी एक अर्थ का निश्चय करना कैसे सम्भव है ? अर्थात्—उनमे से कौन-सा अर्थ सही जानना चाहिए ॥६९॥ यदि प्रत्येक युग (कृत-त्रेता व द्वापर-आदि) मे श्रीशिव (रुद्र) मे सदाशिव की कला (अश) अवतरित होती है तो सदाशिव व रुद्र मे स्वरूप-भेद क्यो है ? अर्थात्—सदाशिव वीतराग और शिव सरागी क्यो है ? क्योकि समवायिकारण सरीखा कार्य होता है, जैसे सुवर्ण-खण्ड सुवर्ण ही होता है।

भावार्थ—जब कार्य उपादान-कारण के सदृश होता है, जैसे सुवर्ण-खण्ड सुवर्ण ही होता है तब श्री शिव भी सदाशिव की कला होने से सदाशिव का कार्य है, अत सदाशिव-सरीखा वीतराग व अशरीरी क्यो नही है ? इसमे स्वरूप भेद क्यो है ? अर्थात्—यह सरागी व सशरीरी क्यो है ? ॥७०॥ भिक्षा माँगना, ताण्डव नृत्य करना, नग्न रहना, त्रिपुर को भस्म करना, ब्रह्मा का मुख काटना, तथा हाथ मे खप्पर रखना ये शिव की क्रीडाएँ है। तथापि उसे आप्त मानना आश्चर्यजनक है ॥७१॥ शैवदर्शन विचित्र है, क्योकि उसमे तत्व और आप्त का स्वरूप सिद्धान्त रूप मे कुछ अन्य कहा गया है और दर्शनशास्त्र मे कुछ अन्य है एव काव्य शास्त्र मे अन्य प्रकार है तथा व्यवहार मे भिन्न प्रकार है।

१. कदाचिदपि। २ अत्र विचार कर्तव्य, तेन दशावतारा गृहीता इत्यसवद्धम्। ३ यो रागादिदोषवान् ससारी शिव स तावदप्रमाण तत्कृतागमोऽपि प्रमाण न भवति। यस्तु सदाशिव स आगम कर्तुमशक्त जिह्वाकण्ठाद्युपकरणाभावात्, हस्तादिरहित कुभकारो यथा घट कर्तुमशक्त। ४ रुद्रस्य पचमुखानि वर्तन्ते। ५ असौ रागी, स विराग. इति भेद कथ स्यादिति पक्ष, कारणसदृश कार्य भवतीति हेतो। ६ काञ्चनस्य खड काचनमेव भवतीति दृष्टान्त। ७ भिक्षा। ८ कपालेन भिक्षार्थं गच्छति।

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते । तत्त्वमाप्तस्वरूप च विचित्र शैवदर्शनम ।। ७२ ।।
एकान्त [1] शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे । सन्तस्तत्त्व न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रत ।। ७३ ।।
दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया । दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ।। ७४ ।।
यददृष्टम [2] नुमान च प्रतीति लौकिकी भजेत् । तदाहु सुविदस्तत्त्व रह [3] कुहकर्वाजतम् ।। ७५ ।।

विशेषार्थ—जैसे 'शैवदर्शन[4] मे तीन पदार्थ माने है—ईश्वर (श्री शिव), जीव और ससारबन्धन। उनमे से परमेश्वर, जो कि अनादि, सर्वज्ञ व अशरीरी तथा प्राणियो द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मो की अपेक्षा सृष्टिकर्ता है, परन्तु जब ईश्वर को अशरीरी मानने पर सृष्टिकर्तृत्व मे निम्नप्रकार बाधा उपस्थित हुई—शङ्काकार—'ईश्वर स्वतत्र सृष्टिकर्ता हो, परन्तु वह अशरीरी होने से सृष्टिकर्ता नही हो सकता, क्योकि लोक मे शरीरी कुम्भकार घटादि कार्य करता है और ईश्वर को शरीरी मानने पर वह हम लोगो की तरह क्लेश-युक्त, असर्वज्ञ और परिमित शक्तिवाला हो जायगा।' उक्त बाधा दूर करने के लिए दर्शनकार[5] ने उसमे शाक्त (मन्त्र-जन्य) शरीर स्वीकार किया। इस दर्शन की मान्यता है कि मलादि न होने के कारण श्रीशिव का शरीर हम लोगो के शरीर-सदृश नही है किन्तु शाक्त-मन्त्र-जन्य है। इसीप्रकार इसमे पाश पदार्थ (ससार-बन्धन) के पूर्व मे चार भेद माने है।[6] पश्चात् पाँच भेद मान लिए[7]। अर्थात्—पाशपदार्थ के चार भेद है। मल (आत्माश्रित दुष्टभाव—मिथ्याज्ञानादि), कर्म (धर्म व अधर्म), माया (समस्त का मूल कारण अविद्या-प्रकृति), और रोध शक्ति (मलगत दृक्क्रिया शक्ति की आवरण सामर्थ्य)। पश्चात् दर्शनकारो ने पञ्चम पाश (शिवतत्व-वाच्य मायात्मा-बिन्दु) रूप स्वीकार किया। अभिप्राय यह है कि शैवदर्शन पूर्वापर विरुद्ध होने से विचित्र है, क्योकि उसमे मोक्षोपयोगी तत्वो व शिवतत्व का स्वरूप सिद्धान्त मे भिन्न और दर्शन मे भिन्न है। इसीप्रकार काव्य मे श्रीशिव का पार्वती परमेश्वरी के साथ विवाह का निरूपण है और प्रवृत्ति मे भी भिन्न-भिन्न है ।।७२।। तत्व को स्वीकार करने मे एकान्त (पक्ष) और कसम खाना दोनो ही व्यर्थ है, क्योकि सज्जन पुरुष दूसरो पर विश्वास करने मात्र से तत्व स्वीकार करने के इच्छुक नही होते। तपाने, काटने और कसौटी पर घिसने से जो सोना खरा निकलता हे, उसके लिए कसम खाने से क्या लाभ ? तथा तपाने, काटने और कसौटी पर घिसने से जो सोना अशुद्ध ठहरता है उसके लिए कसम खाना बेकार है ।। ७३-७४ ।। विद्वान् पुरुष उसी को यथार्थ तत्व कहते है, जो कि प्रत्यक्ष, अनुमान व लौकिक अनुभव से ठीक प्रमाणित

१ पक्षेण शपथेन च सन्त तत्व नेच्छन्ति । २ प्रत्यक्ष । ३ एकान्तकुत्सितवर्जितम् ।
४ तदुक्त शैवदर्शने—पतिपशुपाशभेदात् त्रय पदार्था इति । पतिरीश्वर । पशुर्जीव । पाश ससारबन्धनम् । तत्र पति-पदार्थ शिवोऽभिमत । सर्वदर्शनसग्रह पृ० १७४ से सकलित—सम्पादक
प्राणिकृतकर्मापेक्षया परमेश्वरस्य कर्तृत्वोपपत्ते । सर्व० पृ० १७६
तथा चोक्त—सर्वज्ञ सर्वकर्तृत्वात् साधनाङ्गफलै सह । यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम् ।। १ ।। सर्व पृ १७८ से सकलित—सम्पादक
५ तथा च शैवदर्शने—तथा चोक्त परमेश्वरस्य हि मलकर्मादिपाशजालासभवेन प्राकृत शरीर न भवति किन्तु शाक्तम्। मलाद्यसभवाच्छाक्त वपुर्नेतादृश प्रभो । प्रभोर्वपु शाक्त न त्वेतादृश मलाद्यसभवात् । एतादृशमस्मदादिशरीरसदृश । सर्वदर्शन सग्रह पृ० १७८-१७९ ।
६ पाशश्चतुर्विध मलकर्ममायारोधनशक्तिभेदात्
७ अर्थपञ्चक पाशा । सर्वदर्शनसग्रह पृ० १८७ से सकलित—सम्पादक

निर्बीजतेव[1] तन्त्रेण यदि स्यान्मुक्तताङ्गिनि[2]। बीज[3]वत्पावक[4]स्पर्श प्रणेयो[5] मोक्षकाङ्क्षिणि[6] ।। ७६ ।।
विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्क्षयश्चेदिह कर्मण । तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्युर्दोषा भवोद्भवा ।। ७७ ।।
ग्रहगोत्रगतोऽप्येष पूषा पूज्यो न चन्द्रमा । अविचारिततत्त्वस्य जन्तोर्वृत्तिनिरङ्कुशा ।। ७८ ।।
[7]द्वैताद्वैता[8]श्रय शाक्य[9] शकरानुकृतागम । कथ मनीषिभिर्मान्यस्तरसासवशक्तधी ।। ७९ ।।

अथैव प्रत्यवतिष्ठा[10]सवो, 'भवता समये किल मनुज सन्नाप्तो भवति तस्य चाप्ततातीव दुर्घटा सप्रति सजात-जनवद्भवतु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषिततत्वावबोध स्वत परतो वा ? न स्वत[11]स्तथादर्शनाभावात्[12] । परतश्चेत्[13]

होता है तथा जो सर्वथा एकान्त (सर्वथा नित्य-आदि एक धर्म का पक्ष) से रहित तथा कुत्सितपने से रहित है ।। ७५ ।।

शून्याद्वैत व तन्त्र-मन्त्र से मुक्ति मानने वालो की आलोचना—जैसे अग्नि से जल जाने के कारण बीज निर्बीज हो जाता है उसमे अकुरो को उत्पादन करने की शक्ति नही रहती वैसे ही यदि तन्त्र के प्रयोग (वैदिक कर्मकाण्ड-यज्ञादि) से प्राणी की मुक्ति होती है तो मुक्ति चाहने वाले मनुष्य को भी आग का स्पर्श करा देना चाहिए, जिससे बीज की तरह वह भी जन्म-मरण के चक्र से छूट जावे। टिप्पणीकार के अभिप्राय से यदि निर्बीजता—जीव के सर्वथा अभाव से जीव की मुक्ति होती है तो हम यह कहेगे जब आप जीव को शून्य मानते हो तो जीव के विना मोक्ष किसको होगा ? ।। ७६ ।।

'जैसे मन्त्र द्वारा विष की मारण शक्ति नष्ट कर दी जाती है वैसे ही मन्त्रो की आराधना मात्र से कर्मों का क्षय (मुक्ति) होता है' यदि ऐसा मानते है तो जिसको मन्त्र मान्य है, उसमे सासारिक दोष नही पाये जाने चाहिए। अर्थात्—मन्त्र से विष-क्षय हो सकता है न कि कर्म-क्षय ।। ७७ ।।

सूर्य-पूजा की आलोचना—ग्रहो के कुल का होने पर भी यह सूर्य तो पूज्य है और चन्द्रमा पूज्य नही है। वास्तव मे तत्त्वविचार न करने वाले प्राणी की वृत्ति निरङ्कुश (वेमर्याद) होती है ।। ७८ ।। बौद्ध मत की आलोचना—शङ्कराचार्य से अनुसरण किये हुए आगम वाला बौद्ध मत एक ओर तो द्वैतवादी (सेवन करने योग्य पदार्थो मे प्रवृत्ति और सेवन करने के अयोग्य पदार्थो से निवृत्ति का विचार करता है, तप, सयम व भक्ष्याभक्ष्य-आदि की बुद्धि वाला) है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, (सब कुछ सेवन करने की छूट देता है) ऐसा मास और मद्य मे आसक्त बुद्धि वाला मत बुद्धिमानो द्वारा मान्य कैसे हो सकता है ? ।। ७९ ।।

दूसरे मतानुयायियो का पूर्वपक्ष—पूर्वपक्ष करने के इच्छुक आप लोग यदि ऐसा कहेगे कि आप जैनो के आगम मे मनुष्य को आप्त माना है तो उसका आप्तपना वैसा सघटित नही होता जैसे वर्तमान मे उत्पन्न हुए मानवो मे आप्तपना घटित नही होता। अस्तु—यदि आपके कहने से मनुष्य को आप्त मान भी लिया जाय तो उसे इष्ट तत्त्व का ज्ञान स्वय ता हो नही सकता, क्योकि वैसा देखा नही जाता। अर्थात्—गुरु के उपदेश विना शास्त्रज्ञता नही होती। दूसरे से ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है ? तीर्थङ्कर है ? या अन्य कोई गृहस्थ है ? यदि तीर्थङ्कर है ? तो उसमे भी यही प्रश्न पैदा होता है। यदि तीर्थङ्कर को इष्ट तत्त्व का ज्ञान

१ जीवो नास्ति चेर्न्हि जीव विना मोक्ष कस्य भवति ? २ जीवे। ३ बीजे इव बीजवत्। ४ अग्निदग्धबीजवत्। ५ अभीष्ट। ६ 'मोक्षा-काङ्क्षिण' इति ह लि क० प्रतौ पाठ। ७ गम्यागम्ययो प्रवृत्तिपरिहारबुद्धिर्द्वैतम्। ८ सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्वमद्वैतम्। ९ बौद्ध। १० यूय पूर्वपक्ष चिकीर्षव। ११ स्वय न भवति। १२ गुरूपदेश विना शास्त्रज्ञस्याभावात्। १३ चेत्तीर्थकरस्य पर कश्चिद्गुरुरस्ति तर्हि तीर्थकर गृहस्थो वा गुरुश्चेत्तीर्थकरस्तर्हि तत्रापि प्रश्ने तस्य को गुरु ? एव परस्परतयाऽनुबन्धे सति अनवस्थानिरोधो न, तेन तदभाव गुरोरभाव आप्तसद्भाव च वाछद्भिरीश्वर आराधनीय इति भाव।

कोऽसौ पर ? तीर्थंकरोऽन्यो वा ? तीर्थंकरश्चेत्तत्राप्येव पर्यनुयोगे प्रकृतमनुबन्धे, तस्मादनवस्था, तदभावमाप्तसद्भाव च वाञ्छद्भि सदाशिव शिवा[1] पतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशक प्रतिश्रोतव्य[2] । तदाह पतञ्जलि —'स[3] पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात ।' तथाहि ।

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् । नादरूप समुत्पन्न शास्त्र परमदुर्लभम् ॥८०॥

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम् । ह्याप्तानामितरप्राणिवद्गण समस्ति, सभवे वा चतुर्विशतिरिति नियम[4] कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलसन च परेषाम्[5] । यत[6] ।

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्द्वैविध्यादपर तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।
शक्त्या चेत्परकीययाकथमसौ तद्वान्[7]सबन्धत सबन्धोऽपि न जाघटीति भवता शास्त्र निरालम्बनम् ॥८१॥

'सबन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भिन्नस्य सयोग[8] शक्तेर्[9]द्रव्यत्वादद्रव्य[10]योरेव सयोग' इति योग-सिद्धान्त । 'समवायलक्षणोऽपि न सबन्ध शक्ते पृथक्सिद्धत्वादयुतसिद्धाना[11]गुण[12]गुण्यादीना समवायसबन्ध' इति वैशेषिक मैतिह्यम् ।

किसी तीसरे के द्वारा होता है तो उस तीसरे को इष्ट तत्व का ज्ञान चौथे के द्वारा होगा और चौथे को इष्ट तत्व का ज्ञान पाचवे के द्वारा होगा । तो इस तरह अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना रूप अनवस्था दोष का निरोध (रुकना) नही होगा । अर्थात् उक्त दोष की आपत्ति होगी । अत उक्त दोष से बचने के इच्छुक और आप्त-सद्भाव के इच्छुक जैनो द्वारा तत्व के उपदेष्टा सदाशिव या पार्वतीकान्त (शिव) ही अङ्गीकार करने योग्य है । जैसा कि पतञ्जलि ऋषि ने कहा है—'वह सदाशिव पूर्वो का गुरु है, क्योकि उसका काल से नाश नही होता ।'

जैसा कहा है—'अशरीरी, शान्त व वेदोत्पत्ति का उत्कृष्टकारण रूप सदाशिव से नादरूप (शब्दात्मक) विशेष दुर्लभ शास्त्र (वेद) उत्पन्न हुआ ॥ ८० ॥ तथा आप्त एक ही होना चाहिए । क्योकि जैसे दूसरे प्राणियो का समूह होता है वैसा आप्तो का समूह नही होता । और यदि हो भी तो चौबीस सख्या का नियम कहाँ से आया ? इस प्रकार दूसरे मत वालो का उक्त कथन वन्ध्या-पुत्र के धैर्य-निरूपण सरीखा (असत्) है और वृद्धिगत मोह (अज्ञान) रूपी समुद्र का विलास है । क्योकि सदाशिव वक्ता नही हो सकता, क्योकि वह शरीर व इन्द्रियो से रहित है । एव उससे दूसरा पार्वती-कान्त (शिव) वक्ता नही हो सकता, क्योकि वह सरागी है । यदि आप कहोगे कि उन दोनो से भिन्न तीसरा कोई वक्ता है, उस विषय मे प्रश्न यह है कि वह तीसरा किस कारण से उत्पन्न हुआ है ? यदि कहोगे कि शक्ति से हुआ तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्ति से वह शक्तिमान कैसे हो सकता है ? क्योकि उन दोनो का कोई सबध नही है । यदि सबध मानोगे तो विचार करने पर उनका कोई सबध भी नही बनता । अत आपका नादरूप शास्त्र (वेद) निराधार ठहरता है, क्योकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नही होता ॥ ८१ ॥ शक्ति से सर्वथा भिन्न सदा शिव का शक्ति के साथ सयोग सबध घटित नही होता, क्योकि शक्ति द्रव्य नही है, 'सयोग सबध दो द्रव्यो का ही होता है' ऐसा योगो (वैशेषिको) का सिद्धान्त है । तथा समवाय सबध भी नही हो सकता, क्योकि 'जो पृथक् सिद्ध नही है, ऐसे गुण-गुणी, आदि का समवाय सबध होता है' यह वैशेषिक सिद्धान्त है, जब कि शक्ति तो शिव से पृथक् सिद्ध भावरूप वस्तु है । अब मनुष्य को आप्त मानने मे जो आपत्ति की गई है उसका निराकरण करते है—तीर्थङ्कर के पूर्वजन्म

---

१ गौरी । २ अङ्गीकर्तव्य । ३ सदाशिव । ४ वहव कथ न । ५ सदाशिवादन्येषा मोहो वर्तत एव । ६ जैनः प्राह । ७ शक्तिमान् । ८ सबधशब्दस्य पर्याय एव संयोग एक एवेत्यर्थ । ९ द्रव्यत्वाभावात् शक्तिर्भावरूपा तेन हेतुना न सयोग । १० द्वयोरेव द्रव्ययो । ११ अपृथक् सिद्धाना पदार्थाना । १२ गुणा ज्ञानादय गुणी आत्मा ।

तत्त्वभावनयोद्भूत जन्मान्तरसमुत्थया । हितාहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रय परम् ॥८२॥

दृष्टादृष्टमवैत्यर्थ रूपवन्तमथावधे । श्रुते श्रुतिसमाश्रेय क्वासौ[1] परमपेक्षताम् ॥८३॥

न चैतदसार्वत्रिकम् ।[2] कथमन्यथा स्वत एव सजातषटपदार्थाव[3]सायप्रसरे कणचरे[4] वाराणस्या महेश्वरस्योलूकसायु-[5]ज्येश्वर[6]स्येद वच सगच्छेत—'ब्रह्म[7]तुलानामिद दिवौक[8]सा दिव्यमद्भुत ज्ञान प्रादुर्भूतमिह त्वयि [9]तद्वत्सवितत्त्व[10] विप्रेभ्य ।

उपाये सत्युपेय[11]स्य प्राप्ते का प्रतिबन्धिता । पातालस्थ जल यन्त्रात्करस्थ क्रियते यत ॥८४॥

अश्मा[12] हेम जल मुक्ता द्रुमो वह्नि क्षितिर्मणि । तत्तद्धेतुतया भावा[13] भवन्त्यद्भुतसपद ॥८५॥

स[14]र्गावस्थितिसहारग्रीष्मवर्षातुषारवत् । अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्त[15]श्रुतसमाश्रय ॥८६॥

नियत न बहुत्व चेत्कथमेते[16] [17]तथाविधा । तिथितारग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मता ॥८७॥

मे उत्पन्न हुई तत्वभावना (दर्शनविशुद्धि-आदि) से हिताहित के विवेक के लिए जन्म से ही स्वत उत्कृष्ट तीन प्रकार के सम्यग्ज्ञान (मति, श्रुत व अवधि) उत्पन्न होते है, जिनके द्वारा वे दृष्ट (प्रत्यक्ष) व अदृष्ट(परोक्ष) पदार्थ जानते हैं और अवधिज्ञान से रूपी पदार्थ प्रत्यक्ष जानते है एव श्रुतज्ञान शास्त्र मे उल्लिखित तत्व जानता है, तब ये इष्ट तत्व को जानने के लिये दूसरे तीर्थङ्कर की कहाँ पर अपेक्षा करेंगे ॥ ८२-८३ ॥

यह बात कि तीर्थङ्कर स्वय ही इष्ट तत्व को जान लेते है, ऐसा नही है जिसे सब न मानते हो। यदि ऐसा नही है तो जिसमे छह पदार्थों के निश्चय का विस्तार स्वय उत्पन्न हुआ है, ऐसे कणाद ऋषि के प्रति वाराणसी मे कणाद ऋषि का साम्य प्राप्त करने वाले उनके पुत्र महेश्वर नाम कवीश्वर का यह स्तुति-वचन कैसे सघटित होगा ?

[ऋषिराज !] 'आप मे यहाँ पर देवताओ का दिव्य, अनोखा व अद्भुत तत्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ है, जो कि जगत् के तौलने (परिज्ञान) मे तराजू-सरीखा है, उसे ब्राह्मणो के लिए वितरण कीजिए।'

अब मनुष्य को आप्त होने मे कोई विरोध नही है इसे कहते है—क्योकि जब कार्यसिद्धि करनेवाली कारण सामग्री विद्यमान है तब कार्योत्पत्ति मे रुकावट कैसे हो सकती है ? क्योकि पाताल मे स्थित जल यन्त्र (मशीन) से हस्ततल पर स्थित कर दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि ससारी मानव को भी जब ईश्वरत्व साधक कारणसामग्री प्राप्त होती है तब उसे भी आप्त होने मे रुकावट नही हो सकती ॥ ८४ ॥ सुवर्ण पाषाण से सुवर्ण पैदा होता है। जल से मोती बनता है। वृक्ष से अग्नि उत्पन्न होती है तथा पृथिवी से मणि प्रकट होता है। इस तरह पदार्थ अपने अपने कारणो से अद्भुत सम्पदा-शाली हो जाते है ॥ ८५ ॥

जिस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की परम्परा अनादि अनन्त है, या ग्रीष्मऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतु की परम्परा अनादि अनन्त है उसी प्रकार आप्त और श्रुत की परम्परा भी प्रवाह रूप से चली आती है न उसका आदि है न अन्त है। आप्त (तीर्थङ्कर) से श्रुत (द्वादशाङ्ग-शास्त्र) उत्पन्न होता है और श्रुत से आप्त बनता है ॥ ८६ ॥ तीर्थङ्कर-सख्या का समाधान—यदि वस्तुओ की बहुत्व सख्या नियत नही है तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र और पहाड वगैरह नियत सख्या वाले क्यो माने गये है ? अर्थात् जैसे ये बहुत है तथापि

---

१. तीर्थङ्कर पर गुरु क्व अपेक्षताम् । २ किन्तु सर्वत्र वर्तते स्वय तत्वपरिज्ञान । ३ ज्ञान । ४ कणाद ऋषौ अक्षपादे महेश्वरकवि स्तुति चकार । ५ सायुज्य साम्य । ६ ऋषे पुत्रस्य महेश्वरकवे स्तुतिवचन कथ सगच्छेत । ७ जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्राय तव कणचरस्य ज्ञान । ८ देवानामपि दिव्य । ९ स त्व । १० कुरु । ११ कार्यस्य । १२ पाषाणो हेम भवति जल मुक्ता स्यादित्यादि । १३ पदार्था । १४ उत्पादव्ययध्रौव्य । १५ तथा आप्तात् श्रुत, श्रुतादाप्त । १६ तीर्थंकरा चतुर्विंशति भवन्ति । १७ बहव कथ तिथ्यादय तथार्हन्तोपि ।

अनयैव दिशा[1] चिन्त्य साख्यशाक्यादिशासनम् । तत्त्वागमाप्तरूपाणा नानात्वस्याविशेषत ॥८८॥
जैनमेक मत मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ । मार्गौ समाश्रिता सर्वे सर्वाभ्युपगमागमा[2] ॥८९॥
वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रीतर[3]समाश्रय । [4]कर्मज्ञानगतो ज्ञेय शभुशाक्यद्विजागम ॥९०॥

यच्चैतत्—

श्रुति वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्र स्मृतिर्मता । ते[5] सर्वार्थेष्वमीमास्ये[6] ताभ्या धर्मो हि निर्बभौ ॥९१॥
ते[7] तु यस्त्ववमन्येत[8] हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विज । स साधुभिर्बहि कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक ॥९२॥

तदपि न साधु । यत ।

इनकी सख्या नियत है, अर्थात्—जैसे तिथियाँ पन्द्रह है ग्रह नव है, समुद्र चार हैं और कुलाचल छह है वैसे ही तीर्थङ्कर चौबीस ही होते है ॥ ८७ ॥

इसी रीति से साख्य व बौद्ध-आदि के दर्शन भी विचारणीय है, क्योकि उनमे भी तत्व, आगम और आप्त के स्वरूपो मे भेद (बहुत्व) प्रतिनियत रूप से पाया जाता है। जैसे साख्यदर्शन मे प्रकृति, महान् व अहङ्कार-आदि पच्चीस तत्व माने हैं एव बौद्ध (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक व वैभाषिक) दर्शनकार क्रमश सर्वशून्यता, वाह्यार्थशून्यता, वाह्यार्थानुमेयत्व व वाह्यार्थप्रत्यक्षवाद मानकर 'सर्व क्षणिक क्षणिक, दु ख दु ख, स्वलक्षण स्वलक्षण, शून्य शून्य, ऐसी भावना-चतुष्टय से मुक्ति मानते है, इत्यादि। अर्थात्—जैसे उक्त दर्शनकार तत्व-आदि मे बहुत्व-सख्या को प्रतिनियत मानते है, वैसे ही स्याद्वादी (जैन दार्शनिक) भी तीर्थङ्करो की बहुत्व सख्या प्रतिनियत मानते है ॥ ८८ ॥

एक जैन-मत को छोडकर शेष सभी (साख्य-बौद्ध-आदि) मतवालो ने, जिनके सिद्धान्तो का पक्ष सभी ने स्वीकार किया है, या तो द्वैतमत का आश्रय किया है, अर्थात्—सेवन करने योग्य पदार्थो मे प्रवृत्ति-बुद्धि और सेवन करने के अयोग्य पदार्थो से निवृत्तिबुद्धि रूप सयम का विचार किया है, या अद्वैत मत का आश्रय किया है, अर्थात्—सभी भक्ष्य, अभक्ष्य, पेय, अपेय एव भोगने के योग्य व भोगने के अयोग्य पदार्थो मे निरङ्कुश प्रवृत्ति रूप वाममार्ग का आश्रय किया है ॥ ८९ ॥

वाममार्ग बृहस्पति ने और दक्षिणमार्ग शुक्राचार्य ने चलाया है। शैवमत, बौद्धमत और ब्राह्मण-मत ये वाममार्गी और दक्षिणमार्गी है तथा ये मन्त्र-तन्त्र का प्रधानता से मानने वाले है और मन्त्र-तन्त्र को न मानने वाले भी हैं। शैवमत वैदिक क्रियाकाण्डी (यज्ञादि का निरूपक) है तथा बौद्ध व ब्राह्मण मत ज्ञान-काण्डी है।

भावार्थ—शैवमत, ब्राह्मणमत और बौद्धमत उत्तरकाल मे वाममार्गी हो गए थे। उसमे मन्त्र, तन्त्र व वैदिक यज्ञादि क्रियाकाण्ड की प्रधानता थी। परन्तु दक्षिणमार्ग इसके विपरीत था, अर्थात्—न तो उसमे मन्त्र तन्त्र को प्रधानता थी और न क्रियाकाण्ड की। शैवमत का वाममार्ग प्रसिद्ध ही है। बौद्धमत की महायान शाखा तान्त्रिक वाममार्गी थी। इसी प्रकार वैदिक ब्राह्मणमत, जो कि पूर्ण मीमासा व उत्तर मीमासा के भेद से दो प्रकार है, उसमे पूर्वमीमासा वैदिक यज्ञादि क्रियाकाण्डी और उत्तर मीमासा (वेदान्त) ज्ञानकाण्डी है ॥ ९० ॥

[अब शास्त्रकार मनुस्मृति के दो पद्य देकर उसकी आलोचना करते है]

(मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०-११ मे) जो कहा गया है—'श्रुति को वेद कहते है और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते है। इन दोनो से धर्मतत्व प्रकट हुआ है, इसलिए वे दोनो (श्रुति व स्मृति,

---

१ अवस्थया रीत्या। २ सर्वपक्षसिद्धान्ता.। ३ बृहस्पति शुक्र सर्वान् मन्त्रेण वशीकरोति शैव । ४ जीवहोमादि क्रिया, ज्ञानप्राप्त विप्र , मासमाश्रयति बौद्ध । ५ ते द्वे। ६ न विचार्ये। ७. वेदस्मृती। ८ अवगणयेत्।

समस्तयुक्तिनिर्मुक्त[1] केवलागमलोचन ।[2] तत्त्व[3]मिच्छन्न कस्येह भवद्वादी जयावह ॥९३॥
सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु । पादेन क्षिप्यते ग्रावा[4] रत्न मौलौ निधीयते ॥९४॥
श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थ स्यात्तत श्रेष्ठतरो यति । यते श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिक परम् ॥९५॥
गेहिना समवृत्तस्य[5] यतेर[6]प्यधरस्थिते । यदि देवस्य देवत्व न देवो दुर्लभो भवेत् ॥९६॥

इत्युपासकाध्ययने आप्तस्वरूपमीमासनो नाम द्वितीय कल्प ।

देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम् । ततश्च तदनुष्ठान कुर्यात्तत्र[7] मति तत ॥९७॥
येऽविचार्य पुनर्देव रुचि तद्वाचि कुर्वते । तेऽन्धास्त[8]त्स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥९८॥
पित्रो शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते । तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥९९॥
वाग्विशुद्धा[9]पि दुष्टा स्याद्वृष्टिवत्पात्रदोषत । वन्द्य वचस्तदेवोच्चैस्तोय[10]वत्तीर्थसश्रयम् ॥१००॥
दृष्टेऽर्थे वचसो[11]ऽध्यक्षाद[12]नुमेये तु मानत । पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥१०१॥
पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्त्या च बाध्यते । मत्तोन्मत्तवच प्रख्य स प्रमाण किमागम ॥१०२॥

समस्त विषयो (कर्म व ज्ञानमार्ग) मे प्रतिकूल तर्कों द्वारा विचारणीय (खडनीय) नही है। जो ब्राह्मण तर्क व शास्त्र का आश्रय लेकर श्रुति व स्मृति का अनादर करता है, वह शिष्ट पुरुषो द्वारा बहिष्कार करने लायक है और वेदनिन्दक होने से नास्तिक है ॥ ९१-९२ ॥' उक्त मान्यता उचित नही है, क्योकि—जो मतावलम्बी समस्त युक्तियो को छोडकर केवल आगम मात्र नेत्रवाला होकर तत्व सिद्धि का इच्छुक है, वह वादी लोक मे किसी को नही जीत सकता ॥ ९३ ॥ सज्जन पुरुष गुणो से सन्तुष्ट होते हैं न कि निर्विचारित वस्तुओ से। उदाहरणार्थ —पत्थर पैर से ठुकराया जाता है और रत्न को मुकुट मे स्थापित किया जाता है ॥ ९४ ॥ अत जो गुणो से श्रेष्ठ है, वह गृहस्थ है और गृहस्थ से श्रेष्ठ यति है और यति से श्रेष्ठ देव है किन्तु देव से श्रेष्ठ कोई नही है ॥ ९५ ॥ यदि गृहस्थ-सरीखे आचरण वाला और साधु से भी हीन आचरण वाले देवता को देव माना जाता है तब तो देवत्व दुर्लभ नही रहता ॥ ९६ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे आप्त के स्वरूप की मीमासा करनेवाला दूसरा कल्प समाप्त हुआ।

[अब आचार्य आगम और तत्त्व की मीमासा करते हैं—] सबसे प्रथम देव (आप्त) की परीक्षा करनी चाहिए। पीछे उसके आगम की परीक्षा करनी चाहिए। फिर आगम मे कहे हुए चारित्र की परीक्षा करके आप्त मे श्रद्धा-बुद्धि करनी चाहिए ॥ ९७ ॥ जो मानव देव की परीक्षा किये विना उसके वचनो मे श्रद्धा करते है, वे अन्धे है, दूसरे अन्धे के कन्धो पर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते है ॥ ९८ ॥ जैसे लोक मे माता-पिता की शुद्धि (पिंडशुद्धि) होने पर उनके पुत्र-पुत्री मे शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्त के विशुद्ध (वीतराग व सर्वज्ञ) होने पर ही उसके आगम मे विशुद्धता (प्रामाणिकता) हो सकती है ॥ ९९ ॥ क्योकि विशुद्ध वचन भी पात्र के दोष (रागादि) से वैसा दुष्ट हो जाता है जैसे वर्षा का पानी दुष्ट पात्र (समुद्र व सर्प-आदि) से दुष्ट (खारा या विष) हो जाता है, परन्तु जब वह महान् तीर्थ (सर्वज्ञ तीर्थङ्कर-आदि वक्ता) का आश्रय प्राप्त करता है (उनके द्वारा कहा जाता है) तब वैसा पूज्य होता है जैसे तीर्थ का आश्रय लेनेवाला जल पूज्य होता है ॥ १०० ॥

---

१. वेदस्मृतिविचाररहित । २-३ एक आगम एव लोचन यस्य स पुमान् तत्त्व वाञ्छति स सर्वेषा जयकारी स्यादित्यर्थः । ४ पाषाण । ५-६ गृहस्थसदृशस्य देवस्य यतेरपि हीनस्य चेदीदृशस्यापि देवत्व घटते । ७ देवे । ८ तस्य अन्धस्य । ९ 'वाग्विशिष्टाऽपि' इति ह० लि० (क०) । १०. जल यथा । ११ वचनस्य । १२ प्रत्यक्षात् ।

हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात् । कालत्रयगतानर्थान्गमयन्ना[1]गम स्मृत ॥१०३॥
आत्मानात्मस्थिति[2]र्लोको बन्धमोक्षौ सहेतुकौ । आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभि ॥१०४॥
उत्पत्तिस्थितिसहारसारा सर्वे[3] स्वभावत । नय[4]द्वयाश्रयादेते[5] तरङ्गा इव तोयधे ॥१०५॥
क्षया[6]क्षयैकपक्षत्वे बन्ध[7]मोक्षक्षयागम । तात्त्विककत्वसद्भाव[8] स्वभावान्तरहानित[9] ॥१०६॥

प्रत्यक्ष से देखे हुए पदार्थ मे प्रवृत्त हुए वचन की प्रमाणता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो जाती है। जो वचन ऐसे पदार्थ को कहता है, जिसे अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है, उस वचन की प्रमाणता अनुमान प्रमाण से निश्चित होती है और जो वचन बिलकुल परोक्ष वस्तु को कहता है जिसे न प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है और न अनुमान से, उस वचन की प्रमाणता पूर्वापर मे कोई विरोध न होने से ही सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि द्वादशाङ्ग मे निरूपित पदार्थ प्रत्यक्ष व युक्ति द्वारा प्रमाणित होते है, परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष व युक्ति नही टिकती वहाँ पर पूर्वापर विरोधी बाते न होने से प्रमाण मानना चाहिए ॥ १०१ ॥ जो आगम परस्पर विरोधी बातो का कथन करने वाला है व युक्ति (तर्कप्रमाण) से बाधित है, शराबी या पागल की वकवाद-सरीखा वह आगम कैसे प्रमाण माना जा सकता है ?[10] ॥ १०२ ॥

आगम का स्वरूप और विषय—जो धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारो पुरुषार्थो के आश्रयवाले त्रिकालवर्ती पदार्थों का हेय (छोडने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने-योग्य) रूप से यथार्थ ज्ञान कराता है, वह आगम कहा गया है ॥ १०३ ॥ तत्ववेत्ता महामुनियो ने आगम मे निरूपण किये जाने वाले निम्नप्रकार पदार्थ कहे हैं—जीव, अजीव (पुद्गल-आदि), लोक तथा अपने२ कारणो के साथ बन्ध और मोक्ष।
भावार्थ—जिसमे उक्त चारो पुरुषार्थों का वर्णन करते हुए कहा है कि हेय, उपादेय क्या है, वही यथार्थ आगम है, उसमे जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा व मोक्ष इन सात तत्वो का निरूपण है ॥ १०४ ॥ पदार्थस्वरूप—ये सभी पदार्थ (उक्त जीवादि) द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा स्वभाव से वैसे उत्पाद, विनाश व स्थिरशील हैं जैसे समुद्र की तरङ्गे उक्त नयो की अपेक्षा स्वभावत उत्पाद, विनाश व स्थिरशील हैं। भावार्थ—जैनदर्शन मे प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मात्मक माना गया है, अत वह द्रव्यदृष्टि से सदा नित्य है, क्योकि कभी वह अपनी द्रव्यता—नित्यता नही छोडता और इसीलिए उसकी सभी अवस्थाओ मे यह वही है इस प्रकार की एकत्व प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ पर्यायदृष्टि से अनित्य—उत्पाद-विनाश-युक्त है। जैसे—समुद्र मे अनेक प्रकार की तरङ्गे उत्पन्न व विलीन होती हुई प्रत्यक्ष प्रतीत होती हैं ॥ १०५ ॥

यदि [बौद्धदर्शनकार] समस्त वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील मानते हैं और यदि [साख्यदर्शन] समस्त वस्तु को सर्वथा नित्य मानते है तो बध व मोक्ष का अभाव प्राप्त होगा। अर्थात्—न तो बन्ध घटित होगा और न मोक्ष घटित होगा, क्योकि सर्वथा एक रूप मानने पर उसमे भिन्न स्वभाव घटित नही होगा [अत प्रत्येक वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य व पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानना युक्तिसगत है]।

भावाथ—द्रव्यदृष्टि से वस्तु ध्रुव है और पर्याय दृष्टि से उत्पाद विनाशशील है। यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही माना जायगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षण मे समूल नष्ट हो जायगी। ऐसी अवस्था मे जो आत्मा बँधा है, वह तो नष्ट हो जायगा तब मुक्ति किसको होगी ? इसी प्रकार यदि वस्तु को सर्वथा नित्य माना

१ ज्ञापयन्। २ पुद्गल। ३ समस्ता पदार्था। ४ निश्चय व्यवहार। ५ पदार्था। ६ से ९ यदि क्षय एव अनित्य क्षणिक सर्वं मन्यते, अथ अक्षय अविनश्वर मन्यते तर्हि स्याद्भवेत् कोऽसौ बन्धमोक्षक्षयागम न बन्धो घटते न मोक्षो घटते कुत स्वभावान्तरहानित। क्व सति तात्त्विकैकत्वसद्भावे नित्यत्वे इत्यर्थ।
१० देखिए—वेद व स्मृति शास्त्रो मे पूर्वापर विरोध, यश० आ० ४ श्लोक न० १२० से १२८ तक।

ज्ञाता दृष्टा महान्सूक्ष्म कृतिभु[1] क्त्यो स्वय प्रभु । भोगायतनमात्रो[2] ऽय स्वभावादूर्ध्वग पुमान्[3] ॥१०७॥
[4] ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेद स्यादचेतनात् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वेऽ नेकधीश्चित्रमित्रवत् ॥१०८॥
प्रेर्यंते कर्म जीवेन जीव प्रेर्येत कर्मणा । एतयो प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयो ॥१०९॥
मन्त्रवन्नियतो[5] ऽप्येषोऽचिन्त्यशक्ति स्वभावत । अत शरीरतोऽन्यत्र न भा[6] वोऽस्य प्रमान्वित ॥११०॥
त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रया । जीवा केचित्तथान्ये च पञ्चमीं गतिमाश्रिता ॥१११॥
धर्माधर्मौ नभ कालो पुद्गलश्चेति पञ्चम । अजीवशब्दवाच्या. स्युरेने विविधपर्यया ॥११२॥
[7]गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् । चत्वार सर्ववस्तूना रूपाद्यात्मा च पुद्गल ॥११३॥
अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्ध कर्मात्मनोर्मत । अनादि सावसानश्च कालिकास्वर्णयोरिव ॥११४॥
प्रकृ[8] तिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रविभागत । चतुर्धा भिद्यते बन्ध सर्वेषामेव देहिनाम् ॥११५॥

जायगा तो वस्तु मे कभी भी कोई परिवर्तन नही हो सकेगा, और परिवर्तन न होने से जो जिस रूप मे है, वह उसी रूप मे बनी रहेगी, अत बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बँधेगा ही नही। अत प्रत्येक वस्तु को द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य मानना चाहिए ॥ १०६ ॥

आत्मा का स्वरूप—आत्मा ज्ञाता, दृष्टा, महान् व सूक्ष्म है, स्वय ही कर्ता और स्वय ही भोक्ता है। अपने शरीर के बराबर है तथा स्वभाव से ऊपर को गमन करने वाला है। यदि आत्मा को ज्ञानदर्शन से रहित माना जायगा तो अचेतन—जडपदार्थ से उसमे कोई भेद नही रहेगा, अर्थात्—जड और चेतन दोनो एक हो जायगे। और यदि ज्ञानमात्र को जीव माना जायगा तो चित्रमित्र की तरह उसमे अनेक बुद्धि कैसे सघटित होगी ? अर्थात्—जैसे चित्रमित्र नामका कोई पुरुष, किसी का शत्रु है और किसी का मित्र है, अत उसमे शत्रुता व मित्रता-आदि अनेक धर्म से अनेक बुद्धि सघटित होती है, परन्तु जब सिर्फ ज्ञान-मात्र को जीव माना जायगा तो उसमे केवल एक धर्म (ज्ञान-मात्र) होने से एक बुद्धि ही सघटित होगी। अनेक बुद्धि नही बनेगी॥ १०७-१०८ ॥

जीव से कर्म प्रेरित (बन्ध) किये जाते है और कर्मों से जीव प्रेरित किया जाता है। अर्थात्—अपने इष्ट अनिष्ट फलोपभोग-के लिए गर्भवास मे ले जाया जाता है। इन दोनो का सबध नौका और नाविक—खेवटिया-सरीखा है। और कोई तीसरा इन दोनो का प्रेरक नही है। भावार्थ—जैसे खेवटिया से नौका खेई जाती है और नौका से खेवटिया नदी पर पहुँचाया जाता है वैसे ही जीव कर्म परस्पर प्रेरक है और कोई तीसरा इनका प्रेरक नही है ॥ १०९ ॥ जैसे मन्त्र नियत-अक्षरो वाला होने पर भी अचिन्त्य शक्ति वाला होता है वैसे ही जीव शरीर परिमाण होकर भी अचिन्त्य शक्तिशाली है। अत शरीर से पृथक् इसका सद्भाव प्रमाण-सिद्ध नही है ॥ ११० ॥

---

१ कर्ता भोक्ता च। २ आत्मा शरीरप्रमाण । ३ आत्मा। ४ पूर्णार्थ—ज्ञानदर्शनाभ्या यत् शून्य वस्तु तस्य वस्तुन अचेतनात् को भेदो ? न कोऽपि। अथवा च ज्ञानमात्र सत् कथमनेकधी ? यथा कोऽपि 'चित्रमित्रो' नाम पुमान् स कस्यापि शत्रु कस्यापि मित्र। ५. मन्त्रो यथा अक्षरै कृत्वा समर्याद एषोऽप्यात्मा कायमात्र ।
६ न सद्भाव अस्तित्व, शरीरात् पृथक् न भवतीत्यर्थ । ७ गतिस्थित्यादि—सर्वत्र वस्तूना गतिनिबधन धर्म । स्थितिनिबधनमधर्म । अप्रतीघातनिबन्धन नभ । परिणामनिबधन काल। ८ प्रकृत्यादि—
प्रकृति स्यात् स्वभावोऽत्र स्वभावादच्युति स्थिति । तद्रसोऽप्यनुभाग स्या।त्प्रदेश स्यादियत्तत्व ॥ १ ॥

आत्मलाभ विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभावो नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ।।११६।।
बन्धस्य कारण प्रोक्त मिथ्या[1] त्वासयमादिकम् । रत्नत्रय तु मोक्षस्य कारण सप्रकीर्तितम् ।।११७।।
आप्तागमपदार्थानामश्रद्धान विपर्यय । सशयश्च त्रिधा प्रोक्त मिथ्यात्व मलिनात्मनाम् ।।११८।।

अथवा—

एकान्तसशयाज्ञान व्यत्यास[2]विनयाश्रयम । भव[3]पक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्व पञ्चधा स्मृतम् ।।११९।।
अव्रतित्व प्रमादित्व निर्दयत्वमतृप्तता । इन्द्रियेच्छानुवृत्ति[4]त्व सन्त प्राहुरसयमम् ।।१२०।।

जीव के भेद—जीवो के दो भेद है, ससारी और मुक्त । चारो गतियो (नरकगति-आदि) मे वर्तमान ससारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के है एव जिन्होने कर्मक्षय करके सिद्ध गति प्राप्त की है, उन्हे मुक्त जीव कहते है ।। १११ ।। अजीव द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल ये पाँच अजीव द्रव्य है । इनकी अनेक पर्याये होती है ।। ११२ ।। धर्मद्रव्य जीव व पुद्‌गलो की गति मे निमित्त कारण है । अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति मे निमित्त कारण है । आकाश समस्त वस्तुओ को अवकाश देने मे निमित्त कारण है एव काल समस्त वस्तुओ के परिणमन मे निमित्त है तथा जिसमे रूप, रस, गध व स्पर्श ये चारो गुण पाये जाते है उसे पुद्‌गल कहते है ।। ११३ ।।

बध का लक्षण—सुवर्णपाषाण की किट्टकालिमा और सुवर्ण सरीखे जीव कर्मो के अन्यान्यानुप्रवेश-रूप—आत्मा व कर्म के प्रदेशो का परस्पर बन्ध माना है, जो कि अनादि (जिसकी शुरुआत नही है) और सान्त (नष्ट होनेवाला) है । भावार्थ—जैसे सुवर्ण-पाषाण की किट्टकालिमा अनादि होने पर भी अग्निपुट-पाक-आदि कारण-सामग्री से नष्ट हो जाती है वैसे ही जीव और कर्मों का सबध अनादि होने पर भी सान्त है—उसका अन्त हो जाता है ।। ११४ ।।

बन्ध के भेद—वह बन्ध चार प्रकार का है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध। यह चारो प्रकार का बध सभी शरीरधारी जीवो के होता है । भावार्थ—कर्मो मे ज्ञानादि के घातने के स्वभाव को प्रकृति-बन्ध कहते है । अपने उक्त स्वभाव से च्युत नही होना स्थितिबन्ध है । तीव्र व मन्द-आदि फल देने की शक्ति अनुभाग बन्ध है और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धो का जीव के साथ सबध होने को प्रदेश वेध कहते है । इनमे से प्रकृति व प्रदेशबन्ध योग से होते है और स्थिति व अनुभाग बन्ध कषाय से होते है ।। ११५ ।। मोक्ष का स्वरूप—राग-द्वेषादिरूप आभ्यन्तर मल के क्षय हो जाने से जीव के आत्म-स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते है । अत न तो आत्म-शून्यता मुक्ति है और न आत्मा की अचेतन अवस्था मुक्ति हो सकती है एव न निरर्थक (ज्ञानरूप अर्थ क्रिया से शून्य) चैतन्य-प्राप्ति रूप मुक्ति हो सकती है । भावार्थ—बौद्ध दीपक के बुझनेसरीखी आत्मशून्यता को मुक्ति मानते है ।

वैशेषिक आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुणो के अभाव को मोक्ष मानते है । इसी तरह साख्य ज्ञानादि से रहित केवल चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति को मुक्ति मानते है । इसलिए ग्रन्थकार ने मुक्ति का स्वरूप बतलाया है ।।११६।।

---

१ मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवो भवन्ति । ह० लि० सटि० (क०) (ख०) (ग०) (घ०) (च०) से सकलित—

२ व्यत्यासो विपर्यय । ३ ससारस्याप्रतिकूलत्वात् ससारस्य हितकर्तृत्वादित्यथ । ४ 'इन्द्रियेच्छानुवर्तित्व' इति मु० व (क०) प्रतौ पाठ ।

कषाया क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतु[1]विधा । ससारसिन्धुसपातहेतव प्राणिना मता ।।१२१।।
मनोवाक्काय[2]कर्माणि शुभाशुभविभेदत । भवन्ति पुण्यपापाना बन्धकारणमात्मनि ।।१२२।
निराधारो निरालम्ब पवमान[3]समाश्रय । नभोमध्यस्थितो लोक सृष्टिसहारवर्जित ।।१२३।।

अथ मतम्[4]—

नैव लग्न जगत्क्वापि भूभृध्रा[5]म्भोधिनिर्भरम् । धातारश्च न युज्यन्ते मत्स्यकूर्माहि[6]पोत्रिण[7] ।।१२४।।

वन्ध व मोक्ष के कारण—मिथ्यात्व, असयम (अविरति) प्रमाद, कषाय व योग ये वध के कारण कहे गये है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहा है ।।११७।।

मिथ्यात्व के भेद—मिथ्यादृष्टियो के मिथ्यात्व के तीन भेद है—आप्त (तीर्थङ्कर अर्हन्त), द्वादशाङ्ग शास्त्र, व मोक्षोपयोगी जीवादि तत्वो का यथार्थ श्रद्धान न करना, और विपर्यय तथा सशय । अथवा मिथ्यात्व के, जोकि ससार के प्रतिकूल नही है, अर्थात्—ससार का कारण है, पाच भेद है—एकान्त, सशय, अज्ञान, विपर्यय और विनय मिथ्यात्व ।

भावार्थ—मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन का घातक है, क्योकि उसके रहते हुए आत्मा मे सम्यग्दर्शन प्रकट नही हो सकता । उसके पाच भेद है । अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक धर्म रूप से मानना एकान्त मिथ्यात्व है, जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है या नही इस प्रकार के सदेह को सशय मिथ्यात्व कहते है । देव, शास्त्र-आदि के स्वरूप को न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थों को सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों और उनके प्रवर्तको को समान मानना विनय मिथ्यात्व है ।।११८-११९।। असयम का स्वरूप—अहिंसा-आदि व्रतो का पालन न करना, कुशल क्रियाओ मे आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असतुष्ट रहना और इन्द्रियो की इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने को सज्जन पुरुषो ने असयम कहा है ।।१२०।।

कषाय के भेद—क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की कही हैं । उनमे से प्रत्येक के चार-चार भेद है । अनन्तानुवन्धि, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण व सज्वलन क्रोध मान, माया लोभ । ये सभी कषाय प्राणियो को ससार समुद्र मे गिराने की कारण मानी गई है ।

भावार्थ—प्राणियो को ससार समुद्र मे पतन कराने वाली कषायो के उक्त प्रकार१६ भेद है । अनन्तानुवन्धि जो मिथ्यात्व के साथ रहती हुई आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र का व सम्यक्त्व का घात करती है । अप्रत्याख्यानावरण—जिसके उदय से देशचारित्र न हो सके । प्रत्याख्यानावरण—जो सकलचारित्र का घात करती है और सज्वलन—जिसके उदय से यथाख्यात चारित्र न हो सके ।।१२१।। योग—मनोयोग, वचनयोग व काययोग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के होते है । इनमे से शुभ मनोयोग-आदि आत्मा के पुण्यवध का कारण है और अशुभ मनोयोग-आदि पापवध के कारण है ।

भावार्थ—हिंसा, चोरी व मैथुन करना-आदि अशुभ काययोग है । मिथ्याभाषण, परनिन्दा व आत्मप्रशसा-आदि अशुभ वचन योग है । किसी का अनिष्ट चिंततवन करना व ईर्ष्या करना-आदि अशुभ मनोयोग है । ये अशुभ क्रियाएँ पापबन्ध की कारण हैं और इनसे बचकर अहिंसा सत्यभाषण करना एव परोपकार-आदि शुभ क्रियाएँ पुण्यबध की कारण है ।। १२२ ।।

---

१ अनन्तानुबध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसज्वलनभेदेन । २ योगास्त्रय । ३ वायु । ४ किल जैना वदन्ति । ५ भूध्रा पर्वता । ६ अहि सर्प । ७ पोत्री शूकर ।

एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे। कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहस महत् ॥१२५॥

यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्ठकाष्ठादिधारणे। त्रैलोक्यस्य कथ स स्याद्धारणावसरक्षम ॥१२६॥

तदसत्।

ये प्लावयन्ति पानीयैर्विष्टप[1] सचराचरम्। मेघास्ते वातसामर्थ्यात्कि न व्योम्नि समासते ॥१२७॥

[2]आप्तागमपदार्थेष्वपर दोषमपश्यत[3]।

अमज्जन[4]मनाचामो[5] नग्नत्व स्थितिभोजिता। मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥१२८॥

तत्रैष समाधि —

ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम्। मुनीना स्नानम्[6] प्राप्त दोषे त्वस्य विधिर्मत ॥१२९॥

लोक का स्वरूप—आकाश के मध्य मे स्थित हुआ यह लोकाकाश निराधार (शेषनाग व कच्छप-आदि आधार-रहित) है, व आलम्बन-रहित है अर्थात्—इसका कोई आश्रय नही है। केवल घनोदधिवात-वलय-आदि तीन प्रकार की वायु के आश्रय वाला है एव उत्पत्ति व विनाश से रहित है।

भावार्थ—समस्त द्रव्यो को स्थान देनेवाला आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है। उसके बीच मे लोकाकाश है, जो कि चौदह राजू ऊँचा उत्तर दक्षिण सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम मे सात राजू मध्य मे एक राजू पुन पाँच राजू और अन्त मे एक राजू विस्तार वाला है। यह आकाश का ही एक भाग है। परन्तु जितने आकाश मे सभी द्रव्य पाये जाते है उतने को लोकाकाश कहते है, यह अमूर्तिक द्रव्य है, वह स्वय अपना आधार है, इसे किसी आधार की आवश्यकता नही। इसे घनोदधिवातवलय-आदि घेरे हुए है, जो कि पृथिवी वगैरह को धारण करने मे सहायक है ॥ १२३ ॥

जैनो की इस मान्यता पर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते है—'पृथिवी, पर्वत व समुद्रो से भरे हुए इस लोक का कोई आधार नही है और इसके धारक मत्स्य, कच्छप, शेषनाग और वराह युक्तिसगत प्रतीत नही होते। ऐसा विचार कर आलम्बन-शून्य जगत (लोक) को धारण करने के विषय मे जैनो ने वायुविशेष (घनोदधि-वातवलय आदि) की कल्पना की है यह उनका महान् साहस है, क्योकि निस्सन्देह जो वायु पत्थर व लकडी-आदि के बोझा को सम्हालने मे समर्थ नही है, वह इस [महान्] तीन लोक के धारण कार्य मे कैसे समर्थ हो सकती है ?' ॥ १२४-१२६ ॥

उनका यह आक्षेप ठीक नही है, क्योकि अपनी प्रचण्ड जल-वृष्टि से चराचर जगत को जल की बाढ मे डुबोनेवाले महान् मेघ क्या वायु की शक्ति से आकाश मे स्थित नही रहते ?

भावार्थ—जैसे वायु अपनी धारणशक्ति से चराचर विश्व को प्रचण्ड वृष्टि से जल की बाढ मे डूबा हुआ करने वाले वृहत् मेघो को थाँभे रहती है वैसे ही तीन लोक को भी धारण कर सकती है। इसमे कोई विरोध नही है ॥ १२७ ॥

जैन साधुओ पर दोषारोपण–जैनो के आप्त, आगम व मोक्षोपयोगी तत्वो मे दूसरा कोई दोष न देखने से मिथ्यादृष्टि लोग जैन साधुओ मे चार दोषो का आरोपण करते है–मिथ्यादृष्टि लोग कहते हैं कि जैन साधुओ मे चार दोष है—स्नान न करना, आचमन (कुरला) न करना, नग्न रहना और खडे होकर भोजन करना आदि। उक्त आरोपो का समाधान इस प्रकार है—[सदा] ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करने वाले और आत्मिक आचार मे लीन चित्त वाले दिगम्बर साधुओ के लिए स्नान करने का निषेध है, परन्तु जब कोई दोष लग जावे तब उन्हे स्नान करने का विधान है ॥ १२९ ॥ जब मुनि हाथ मे खोपडी लेकर माँगनेवाले वाममार्गी कापालिको से,

---

१ भुवन। २ 'आगमपदार्थेषु पर दोषमपश्यत' इति ह० लि० (क०)। ३ अदर्शनान् अथवा अदर्शनात्। ४ अस्नान। ५ न आचमन। ६ अयोग्य।

सङ्गे कापालिकात्रे[1]यीचाण्डालशबरादिभि । आप्लुत्य[2] दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रमुपोषित ॥१३०॥
एकान्तर त्रिरात्र वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके । दिने शुद्धयन्त्यसदेहमृतौ व्रतगता स्त्रिय ॥१३१॥
यदेवाङ्गमशुद्ध स्यादद्भि शोध्य तदेव हि । अङ्गुलौ सर्पदष्टाया न हि नासा निकृत्यते ॥१३२॥
निष्प[3]न्दादिविधौ वक्त्रे यद्यपूतत्वमिष्यते । तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौच नारभ्यते कुत ॥१३३॥
विकारे विदुषा द्वेषो नाविकारानुवर्तने । तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेष[4]कल्मष ॥१३४॥
नैष्किचन्यमहिसा च कुत सयमिना भवेत् । ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥१३५॥
न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न श्वभ्रायास्थिते पुन । किं तु सयमिलोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥१३६॥
पाणिपात्र मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थितिभोजने । यावत्तावदह भुञ्जे रहा[5]म्याहारमन्यथा ॥१३७॥
अदैन्यासङ्गवैराग्यपरीषहकृते कृत[6] । अत एव यतीशाना केशोत्पाटनसद्विधि ॥१३८॥

रजस्वलास्त्री से, चाण्डाल व म्लेच्छ वगैरह अस्पृश्य शूद्रो से छूजाय तो उसे दण्ड स्नान करके उपवासपूर्वक मन्त्र का जप करना चाहिए ॥ १३० ॥

ऋतुमती स्त्रियो की शुद्धि—अहिंसा-आदि व्रतो की धारक स्त्रियाँ (आर्यिका-आदि) ऋतुकाल मे एक उपवास अथवा तीन दिन का उपवास करके चौथे दिन स्नान करके निस्सन्देह शुद्ध हो जाती है ॥ १३१ ॥ आचमन न करने का समर्थन—[अब मुनियो के आचमन न करने का समर्थन करते है] क्योकि शरीर का जो अङ्ग अशुद्ध हो, निस्सन्देह जल से उसकी शुद्धि करनी चाहिए। सर्प से डसी हुई अँगुलि ही काटी जाती है न कि नासिका ॥ १३२ ॥ अधोवायु के निस्सरण-आदि करने पर यदि मुख मे अपवित्रता मानते हो तो मुख के अपवित्र होने पर अधोभाग मे शौच क्यो नही करते हो ?

भावार्थ—जैसे मुख अशुद्ध हो जाने पर आचमन से केवल उसे ही शुद्ध किया जाता है, वैसे ही जैन साधु भी शौच (मलोत्सर्ग) से अशुद्ध हुए गुदा-भाग को ही जल से शुद्ध करते है, न कि आचमन से मुख को ॥ १३३ ॥

[अब मुनियो की नग्नता का समर्थन करते है--] विद्वानो को विकार (काम-क्रोधादि) से द्वेष होता है न कि अविकारता (वोतरागता) के अनुसरण से। अत स्वाभाविक नग्नता से किस बात की द्वेषरूपी मलिनता ? ॥ १३४ ॥ यदि चारित्रधारक दिगम्बर महामुनि [पहिरने के लिए] वृक्षो को छाल मृगचर्म व वस्त्रो के ग्रहण को इच्छा करते है तो उनमे नैष्किञ्चन्य (निष्परिग्रहता) ओर अहिंसा कैसे सभव है ? ॥१३५॥

[अब मुनियो के खडे होकर आहार ग्रहण करने का समर्थन करते है—] दिगम्बर साधुओ का खडे होकर आहार-ग्रहण उनके स्वर्ग के लिए नही है और न बैठकर आहार-ग्रहण नरक-निमित्त है। किन्तु [आगम मे] खडे होकर भोजन करना सयमी मुनिजनो मे प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए चाहा गया है ॥ १३६ ॥ मुनि भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व यह प्रतिज्ञा करते हैं कि—'जब तक मेरे दोनो हाथ मिले है और मेरे मे खडे होकर आहार-ग्रहण की सामर्थ्य है तब तक मै यथाविधि आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा आहार-त्याग कर दूँगा' इसी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए मुनि खडे होकर भोजन करते हैं ॥ १३७ ॥ [अब केश-लोच का समर्थन करते हैं—] अदीनता, निष्परिग्रहपना, वैराग्य और परीषह-जय के लिए मुनियो को केश लोच करने का विधान बतलाया है ॥ १३८ ॥

---

१. आत्रेयी रजस्वला ऋतुमती। २ स्नात्वा। ३ पर्द कुत्सिते शब्दे च—पर्दने सति चेदाचमन क्रियते तर्हि मुखोच्छिष्टे अधोभागे शौच किं न क्रियते ? ४ द्वेष एव कल्मष मलिनत्व। ५ त्यजामि। ६ विहित।

इत्युपासकाध्ययन आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीय कल्प ।

सूर्यार्घो ग्रहणस्नान सक्रान्तौ द्रविणव्यय । सध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधि ॥१३९॥
नदीनदसमुद्रेषु मज्जन धर्मचेतसा । तरु[1]स्तू[2]पाग्रभक्तानां[3] वन्दन भृगु[4]सश्रय ॥१४०॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् । रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥१४१॥
समयान्तरपाखण्ड[5]वेदलोकसमाश्रयम् । एवमादिविमूढाना ज्ञेय मूढमनेकधा ॥१४२॥
वरार्थं[6] लोक[7]वार्तार्थमुप[8]रोधार्थमेव वा । उपासनममीषा स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥१४३॥
क्लेशायैव क्रियामीषु न फलावाप्तिकारणम् । यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥१४४॥
वस्तुन्येव[9] भवेद्भक्ति शुभारम्भाय भाक्तिके । न ह्यरत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥१४५॥
अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् । अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१४६॥
तथापि यदि मूढत्व न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा । मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दर ॥१४७॥
[10]न स्वतो जन्तव प्रेर्या दुरीहा स्युर्जिनागमे । स्वत एव प्रवृत्ताना तद्योग्यानुग्रहो मत ॥१४८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे आगम व पदार्थो की परीक्षा करनेवाला तीसरा कल्प समाप्त हुआ। अब लोक मे प्रचलित मूढताओ का निषेध करते है—सूर्य की पूजा-निमित्त जल चढाना, ग्रहण के समय स्नान करना, सक्रान्ति होने पर दान देना, सध्या वन्दन करना, अग्नि को पूजना, मकान व शरीर की पूजा करना, नदी, तालाव व समुद्र मे धर्म समझ कर स्नान करना, वृक्ष, पथवारी व भात को नमस्कार करना, पर्वत से गिरने मे धर्म मानना, गाय की पीठ को अनेक देवताओ का निवास स्थान समझकर नमस्कार करना और उसका सूत्र पीना, रत्न, सवारी, पृथ्वी, यक्ष, शस्त्र (खड्ग आदि) और पर्वत-आदि की पूजा करना, दूसरो के शास्त्रो को पूजा करना व उनमे उल्लिखित पाखण्ड को धर्म समझना एव वेद व लोक से सबध रखने वाली इत्यादि मिथ्यादृष्टियो द्वारा मानी हुई अनेक प्रकार की मूढताएँ समझ लेनी चाहिए ॥ १३९-१४२ ॥ जो लोग वर-प्रदान की आशा से या लोक-रिवाज के विचार से एव किसी के आग्रह से इन मूढताओ का सेवन करते है, उनका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है ॥ १४३ ॥ जैसे ऊषर जमीन मे खेती करने से कष्ट उठाने के सिवाय कोई लाभ नही होता वैसे ही मूर्खो द्वारा मानी हुई उक्त मूढताओ के मानने से भी कष्ट उठाने के सिवाय कोई फल प्राप्त नही होता ॥ १४४ ॥ यथार्थ वस्तु मे की गई भक्ति ही भक्त पुरुष को पुण्य बध कराती है, क्योकि जैसे पत्थर को रत्न मानने से कल्याण नही होता ॥ १४५ ॥

कुदेव को देव मानना, अव्रत—दुराचार को व्रत मानना और अतत्व को तत्व मानना मिथ्यात्व है, विवेकी को इसका त्याग करना चाहिए ॥ १४६ ॥ तथापि जो मानव इस मूढता को सर्वथा नही छोडता और सम्यक्त्व के साथ-साथ किसी मूढता का भी पालन करता है तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योकि मिथ्यात्व सेवन के कारण उसके समस्त धर्माचरण का लोप कर देना, अर्थात्—उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नही है ॥ १४७ ॥ जिन मनुष्यो की चेष्टाएँ अच्छी नही है, उन्हे जिनागम मे स्वय प्रेरित नही करना चाहिए, अर्थात्—ऐसे मनुष्यो को जैनधर्म मे लाने की चेष्टा नही करनी चाहिये किन्तु जो स्वय जैनधर्म मे रुचि रखते हुए प्रवृत्ति करना चाहते है, तो उनके योग्य अनुग्रह कर देना चाहिये ॥ १४८ ॥

---

१ वृक्ष । २. पाषाण स्तूपाग्र पथवारी । ३ ओदन । ४ गिरिपात । ५ 'देवलोक' ह० लि० क० । ६ वरप्रदानार्थं । ७ 'लोकयात्रार्थं' इति ह० लि० (क०) (घ०) (च०) प्रतिषु । ८ आग्रह । ९ सत्यपदार्थे सर्वज्ञ वीतरागे । १० ये नरा दुरीहा दुश्चेष्टास्ते न प्रेरणीया क्व जिनागमे । ये च स्वय प्रवृत्तास्तेषा योग्यानुग्रह कार्य ।

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थ कल्प ।

शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दा[1]न्यश्लाघा च मनसा गिरा । एते दोषा प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥१४९॥

तत्र— अहमेको न मे कश्चि[2]दस्ति त्राता जगत्त्रये । इति व्याधिव्रजोत्क्रा[3]न्तिभीति शङ्का प्रचक्षते ॥१५०॥

एतत्तत्त्वमिद तत्त्वमेतद्व्रतमिद व्रतम् । एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्का विदु पराम् ॥१५१॥

इत्थ शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता । न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्य थैवोभ[4]यवेदने[5] ॥१५२॥

एष एव भवेद्देवस्तत्त्वमप्येतदेव हि । एतदेव व्रत मुक्त्यै तदेव स्यादशङ्कधी ॥१५३॥

तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते । यस्य दोलायते चित्त रिक्त सोऽमुत्र चेह च ॥१५४॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—इहैवानेकाश्चर्यसमीपे जम्बूद्वीपे जनपदाभिधानास्पदे जनपदे भूमितिलकपुरपरमेश्वरस्य गुणमालामहादेवीरतिकुसुमशरस्य नरपालनाम्नो नरेन्द्रस्य श्रेष्ठी सुनन्दो नाम । धर्मपत्नी चास्य जनितनिखिलपरिजनहृदयानन्दा सुनन्दा नाम । अनयो सूनुर्धनद-धनबन्धु-धनप्रिय-धनपाल-धनदत्त-धनेश्वराणामनुज सकलकूटकपट-

---

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे मूढता का निषेध करनेवाला चौथा कल्प समाप्त हुआ ।

निम्न प्रकार ये पाँच दोष (अतीचार) सम्यग्दर्शन की हानि करने मे कारण हैं । शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, मन तथा वचन से मिथ्यादृष्टि की प्रशसा करना ॥ १४९ ॥ शङ्का अतीचार-निरूपण—'मै अकेला हूँ, तीन लोक मे कोई (पिता व भाई-आदि) मेरा रक्षक नही है ।' इस प्रकार बुखार व गलगण्ड-आदि रोग-समूह के आक्रमण से होनेवाली मृत्यु से भयभीत होने को 'शङ्का' कहते हैं ॥ १५० ॥ 'अथवा-आचार्य, यह जिनोक्त तत्व है ? अथवा वैशेषिका-आदि से माना हुआ यह तत्व है 'यह व्रत है, या यह व्रत है ?' यह जिनेन्द्रदेव हैं ? कि यह हरि-हर-आदि देव है ? इस प्रकार के सशय को शङ्का जानते है ॥ १५१ ॥ ऐसी शङ्कित चित्तवृत्तिवाले सम्यग्दृष्टि मानव का सम्यग्दर्शन विशुद्ध नही होता और न उसे वैसी अभिलषित वस्तु (स्वर्ग व मोक्ष) प्राप्त होती है जैसे नपुसक मानव को अभिलषित वस्तु (स्त्री-सभोग) प्राप्त नही होती । अथवा पाठान्तर मे ('उभयवेतने') जैसे भय-भीत पुरुष को अभिलषित वस्तु (विजय श्री-आदि) प्राप्त नही होती ॥ १५२ ॥ अत निश्चय से यह वीतराग सर्वज्ञ ही देव है, एव उसके द्वारा कहे हुए जीवादि तत्व ही प्रामाणिक है, तथा अहिंसा-आदि व्रत ही मुक्ति के कारण हैं, ऐसा जिसका दृढ विश्वास है, वही मानव नि शङ्क बुद्धिवाला है ॥ १५३ ॥ तत्व के जान लेने पर व शत्रु के दृष्टिगोचर होने पर एव पात्र के उपस्थित होने पर भी जिसका चित्त झूला सरीखा डोलता है, (जो कुछ भी निश्चय नही कर सकता) वह इस लोक व परलोक मे रिक्त (खाली-हाथ—सुख-शून्य) रहता है ॥ १५४ ॥

१ नि शङ्कित अङ्ग मे प्रसिद्ध अञ्जन चोर की कथा—अब नि शङ्कित अङ्ग के सबध मे कथा सुनिए—निकटवर्ती अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओ वाले इसी जम्बूद्वीप के 'जनपद' नाम के देश मे 'भूमितिलकपुर' नाम का नगर है । उसका स्वामी 'नरपाल' नाम का राजा था, जो कि 'गुणमाला' नाम की पट्टरानीरूपीरति के लिये कामदेव-सरीखा था । उसके राजश्रेष्ठी का नाम 'सुनन्द' था । सुनन्द के समस्त परिवार के हृदय को आनन्दित करनेवाली 'सुनन्दा' नामको सेठानो थी । इन दोनो के 'धनद', 'धनबन्धु', 'धनप्रिय'-'धनपाल'

---

१ विचिकित्सा । २ भय करोति, मम सहाय पिता-भ्रातादिको नास्ति । ३ उत्क्रान्ति मरण । ४ नपुसकस्य वेदने वाञ्छाया यथा वाञ्छितार्थप्राप्तिर्न भवति । ५ 'उभयवेतने' इति ख०, ग०, च० प्रतिषु पाठ । तत्र टिप्पणी कान्दिशीके भयभीते ।

चेष्टितहरिर्धन्वन्तरिर्नाम । तथा तन्नृपतिपुरोहितस्याग्निलादयितस्योदितोदितधर्मकर्मण सोमशर्मण· सुतो विश्वरूप-विश्वेश्वर-विश्वमूर्ति-विश्वामित्र-विश्वावसु-विश्वावलोकानामवरज [1] समस्तसद्वृत्तप्रतिलोमो [2] विश्वानुलोमो नाम । तौ द्वावपि सहपांशुक्रीडितत्वात्समानशीलव्यसनत्वाच्च क्षीरनीरवत्समाचरितसख्यौ द्यूतमदिरापरदारचौर्याद्यनार्यकार्यपर्यायप्रवर्तनमुख्यौ सन्तौ तेनावनीपतिनात्मीयनगरात्स [3] निकार निर्वासितौ कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवीवरेण वीरनरेश्वरेणाधिष्ठित यमदण्डतरपालेनाश्रितमशेषससारसारसीमन्तिनीमनोहर हस्तिनागपुरमवाप्य सपा [4] दितावस्थितौ कदाचिदस्तमस्तकोत्तंसतपनातपनिचये सध्यासमये मद [5] मषीमलिनकपोल [6] पालीनिलीनालिकुलालिह्य [7]-मानमुखपटाभोगभङ्गीप्रसरान्नीलगिरिकुञ्जरात्स्वच्छन्दतोऽभिमुखमागच्छतो निवृत्य श्रीधर्माचार्योच्चार्यमाणधर्मश्रवणोचित नित्यमण्डितं नाम चैत्यालयमासादयामासतु ।

तत्र च 'धन्वन्तरे, यदि सीधपिशितोपदशप्रमुखानि ससारसुखानि स्वेच्छयानुभवितुमिच्छसि, तदावश्यममीषाम्बराम्बरावृत्तवपुषा धर्मो न श्रोतव्य ' इत्यभिधाय पिधाय च श्रवणयुगलमतिनिभर प्रमीला [8] वलम्बिलोचनायामो विश्वानुलोम [9] सुष्वाप । धन्वन्तरि [10] स्तु 'प्राणिना हि नियमेन किमप्यचलितात्मतया व्रतमु [11] पात्त भवत्युदर्के [12] ऽवश्य स्व श्रेयस

'धनदत्त'-'धनेश्वर' और 'धन्वन्तरि' नाम के पुत्र थे, उनमे छोटा पुत्र 'धन्वन्तरि' सब प्रकार की कूट कपट-पूर्ण चेष्टाओ मे विष्णु-सरीखा था । राजा का पुरोहित धर्म कर्म मे विशेष निपुण 'सोमशर्मा' था । उसकी पत्नी का नाम अग्निला था । उनके 'विश्वरूप' 'विश्वेश्वर' 'विश्वमूर्ति', 'विश्वामित्र'-'विश्वावसु' 'बिश्वावलोक' और 'विश्वानुलोम' नाम के पुत्र थे, उनमे ज्येष्ठ पुत्र 'विश्वानुलोम' समस्त सदाचार का विद्वेषी था ।

धन्वन्तरि व विश्वानुलोम साथ-साथ धूलि मे खेले थे तथा दोनो का स्वभाव और बुरी आदतें भी समान थीं, इसलिये दोनो मे दूध पानी सरीखी घनिष्ठ मित्रता थी । जब इन दोनो ने राज्य मे उपद्रव करना शुरू किया—जुआ, शराब, परस्त्री गमन व चोरी-आदि म्लेच्छो के अनाचार मे अग्रेसर हुए तब उक्त नगर के राजा ने दोनो को तिरस्कार पूर्वक नगर से निकाल दिया । इससे वे 'कुरुजाङ्गल' देश के ऐसे हस्तिनागपुर नगर मे आकर ठहरे, जो कि 'वीरनरेश्वर' नाम के राजा और वीरमति महादेवी नाम की रानी तथा यमदण्ड नाम के कोट्टपाल से अधिष्ठित था और समस्त ससार मे सर्वोत्तम युवतियो से मनोहर था । किसी समय जब ऐसा संध्या-समय हो रहा था, जिसमे अस्ताचल पर्वत के शिखर का कर्णभूषण सूर्यका उष्णता-समूह वर्तमान है, तब वे दोनो स्वच्छन्दता के साथ सन्मुख आते हुये 'नीलगिरि-सरीखे मदोन्मत्त हाथी को देखकर लौट कर भागे, जिसके मुखरूपी विस्तृत वस्त्र की रचना का विस्तार मदरूपी कज्जल से मलिन हुये प्रशस्त गण्डस्थलो पर लीन होने वाले भ्रमर-समूह से आस्वाद्यमान हो रहा था । तत्पश्चात् वे दोनो ऐसे 'नित्यमण्डित' नाम के चैत्यालय मे प्राप्त हुये, जो कि 'श्रीधर्माचार्य' से निरूपण किये जानेवाले धर्म-श्रवण के योग्य था ।

वहाँ पर 'विश्वानुलोम' ने धन्वन्तरि से कहा—'धन्वन्तरि ! यदि मद्य, मास व मधु की प्रधानता वाले सासारिक सुख यथेच्छ भोगने के इच्छुक हो तो तुम्हे अवश्य दिगम्बरो का धर्म नही सुनना चाहिये ।' ऐसा कहकर दोनो कानो को बन्द करके नीद लेनेवाले विस्तृत नेत्रोवाला विश्वानुलोम आखे मीचकर सो गया । वहाँ आचार्य कह रहे थे 'निश्चय से यदि प्राणी दृढता के साथ नियमपूर्वक किसी भी व्रत का पालन करे तो उत्तरकाल (भविष्य) मे वह व्रत अवश्य ही उसका स्वर्ग सुख पैदा करता है ।'

---

१ अग्रज वर्षीयान् दशमी ज्यायान् । २ सदाचारशत्रु । ३ सपरिभवं । ४ कृत । ५ मद एव मषी तया । ६ प्रशस्तकपोल । ७ लेह्य स्वाद्यमान । ८· निद्रा । ९ विप्र । १० धन्वन्तरि इत्यवोचत् । ११ गृहीत सत् । १२ उदर्क· फलमुत्तर ।

निमित्तम्' इति प्रस्तावायातमाचार्योदितमुपश्रुत्य, प्रणिपत्य च 'यद्येव सूरे तर्हि भगवन्, अयमपि जनोऽनुगृह्यता कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन' इत्यवोचत्। तदनु 'तत सूरि [1]खलतिविलोकनात्त्वयात्तव्यम्'[2] इति व्रतेन कुलाललब्धनिधान, पय पूरावि[3]ष्टपिष्टशकटपरित्यागाद्विगतोरगोद्गीर्णगरलजनितमृत्युसगतिरज्ञातनामानोकुहफलपरिहारेण व्यतिक्रान्त-किपाकफलापादितापत्ति[4], पुनरविचार्य किमपि कार्य ना[5]चर्यमिति गृहीतव्रतजाति[6]रेकदा निशि नगरनायक निलये[7] नटनृत्यनिरीक्षणात्कृतकालक्षेपक्षण स्वावासमनुसृत्य शनैर्विघटितकपाटपुटसधिबन्ध स्वकीयया सवित्र्या विहित[8]गाढावरुण्डनमात्मकलत्र जातनिद्रातन्त्रमवलोक्योपपति[10]शङ्कया मुहुरुत्खातखड्गो भगवतोपपादित व्रतमनु-सस्मार। [11]शुश्राव च दैवात्तदैव 'मनागत्त[12]मत्त परत सर, खर[13] मे शरीरसबाध[14], इति गृहिणीगिरम्। ततश्च 'यदीद व्रतमहमद्य नाग्रहीषम्, तदेमा मातरमिद च प्रियकलत्रमसशय विश[15]स्येह दुरपवादरजसाममुत्र च दुरन्तैनसा भागी भवेयम्' इति जातनिर्वेद सर्वमपि ज्ञातिलोक यथायथ मनोरथोत्सेक[16]मवस्थाप्य 'यत्रैव देशे दुरपवादोपहत चेतस्तत्रैव देशे समाश्रीयमाणमाचरण न भवति निरपवादम्' इति प्रकाशितोपदेशस्य तस्य भगवतो[17] निदेशाद्धरणिभूषण-

---

आचार्य से कहे हुए उपदेश को सुनकर आचार्य श्री को नमस्कार कर धन्वन्तरि ने कहा—'भगवन्! यदि यह बात सत्य है तो किसी व्रत-प्रदान से इस मानव का भी अनुग्रह कीजिए'।

आचार्य ने कहा—तुम प्रतिदिन गञ्जे (घुटे सिर) व्यक्ति का दर्शन करके भोजन किया करो।'

इस व्रत के ग्रहण से धन्वन्तरिको कुम्हार से निधि का लाभ हुआ (धन से भरा हुआ घट मिला) [फिर उसने आचार्य से आटे के बने हुए पशुओ के न खाने का नियम लिया] अत उसने दुग्ध पूर से भरी हुई आटे के पशुओ वाली गाडी का त्याग किया, क्योकि उस आटे के पशुओमे जहरीला सॉप जहर छोडकर गया था, इससे वह मरण-सगम से बच गया। [फिर उसने आचार्य से अज्ञात नाम वाले वृक्ष के फल न खाने का नियम लिया] इससे 'अज्ञात नामवाले वृक्ष के फल नही खाना चाहिए' इस व्रत के ग्रहण से वह विषैले फल-भक्षण से उत्पन्न हुए मृत्यु-सकट से बच गया। पुन इसने 'बिना विचारे कोई कार्य नही करना चाहिए' यह व्रत धारण किया।

एक समय रात्रि मे राजमहल मे नट नृत्य-देखने मे इसका काफी समय लग गया। जब यह अपने गृह जाकर बन्द किये हुए किवाड धीरे से खोलने को तत्पर हुआ तब इसने अपनी माता द्वारा किये हुए गाढा-लिङ्गन वाली सोती हुई अपनी स्त्री देखी तो इसे अचानक जार की शङ्का हुई। अत इसने उसके घात के लिए खड्ग उठाया, उस समय इसे आचार्य द्वारा दिलाये हुए व्रत (बिना विचारे कोई कार्य नही करना चाहिये') का स्मरण हुआ। पश्चात् भाग्योदय से इसने निम्न प्रकार अपनी प्रियाके वाक्य श्रवण किये—'हे माता! यहा से जरा दूर हटो मुझे शारीरिक कष्ट हो रहा है, तब बाद मे इसने विचार किया—कि 'यदि आज मै यह व्रत ग्रहण नही करता तो अपनी माता और अपनी प्यारी स्त्री को निस्सन्देह मार डालता, जिससे मै इस लोकमे अपकीर्ति रूप धूलियो का पात्र और परलोक मे दु ख देनेवाले पापोका भागी हो जाता।' इस प्रकार उसकी आत्मा मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। बाद मे उसने समस्त कुटुम्बीजनो के यथोचित मनोरथ पूर्ण किए। [पश्चात् उसने जिन दीक्षा लेनेका विचार किया तब आचार्यश्री ने कहा—'जिस देश मे मानव-चित्त

---

१ खल्वाटदर्शनात्। २ भोक्तव्य। ३ भात लापसी। ४ मरण। ५ न कर्तव्य। ६ सन्। ७ राजगृहे। ८ माता। ९. कृतगाढावलिङ्गन। १० जार। ११ श्रुतवान् का गृहिणीगिर वाणी। १२ हे अत्त हे मात। १३-१४ परत सर यतो मे खर कठिन शरीरसबाध इति। १५ मारयित्वा। १६. प्रकर्षं। १७ श्रीधर्माचार्यस्य।

भूधरोपकण्ठे तपस्यत कान्तारदेवताविहितसपर्याद्धरधर्माचार्यात्सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षा दीक्षामादाय विदितवेदितव्यसप्रदाय सन्नम्बरे तपत्यम्बरमणौ स्तम्बाडम्बरितोपात्तपलाशिमालायामेतदचलमेखलायामातापनयोगस्थितोऽनवरतप्रवधमानाध्यात्मध्यानावन्ध्यबोध्यनिरत 'किमय कर्करोत्कीर्ण, कि वास्मादेव पर्वतान्निरूढ इति वितर्काभ्यर्णो बभूव।

सजातसुहृत्समालोकनकामो विश्वानुलोमोऽपि तत्परिजनात्परिज्ञाततत्प्रव्रजनव्यतिकर 'मित्रस्येयस्य धन्वन्तरेर्या गति सा ममापि' इति प्रतिज्ञाप्रवरस्तत्रागत्य जैनजनसमयस्थितिमनवबुध्यमान 'हहो मनोरहस्य वयस्य चिरान्मिलितोऽसि। किमिति न मे गाढमङ्कपाली ददासि, किमिति न काममालापयसि, किमिति न सादर वार्तामापृच्छसे', इत्यादि बहुश सप्रश्रयमभाष्य निजनियमानुष्ठानैकतानमनसि निरागसि धन्वन्तरियतीश्वरे प्ररुष्य सविधाशिवतातिप्रादुर्भवदप्रीतिर्भूतरमणीयधरणिधरसमीपसमुत्पादितोटजस्य सहस्रजटिनो निकटे शतजटोऽजनिष्ट। धन्वन्तरिरप्यातापनयोगान्ते तस्य सबोधनाय समन्ते समुपसद्य 'मत्प्रणयपान्थविश्रामाराम विश्वानुलोम, जिनधर्मस्थितिमनवबुध्यमान किमित्यकाण्डे चण्डभावमादाय दुराचारप्रधान समभू। तदेहि। विहायेम दु पथकथासनाथ समथावसथ-

नीति विरुद्ध आचरण करने से निन्द्य या अपकीर्ति से नष्ट प्राय हो जाता है (वदनाम हो जाता है) फिर उसी देश मे धारण किया हुआ आचरण निरपवाद नही रहता (निन्दित ही बना रहता है)'—

अत उक्त उपदेश देनेवाले आचार्य श्री की आज्ञा से उसने 'धरणिभूषण' नामके पर्वत-समीप मे तपश्चर्या करने वाले और वन देवता द्वारा की हुई पूजा वाले श्रेष्ठ धर्माचार्य से देवियो के कटाक्षो की प्रतिकूल (मुक्तिश्रीदेनेवाली) जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। पश्चात् आम्नाय की जानने योग्य सब बातो को जानकर धन्वन्तरि मुनि जब आकाश मे मध्याह्न सूर्य सन्तप्त हो रहा था तब आकाश तट व्यापि वृक्ष श्रेणी वाली इस पहाड की मेखला पर आतपन योग (ध्यान) मे स्थित हुए एव निरन्तर वृद्धिगत अध्यात्म ध्यान (धर्म व शुक्लध्यान) के प्रभाव से सकल जानने योग्य सूक्ष्म तत्वो मे लवलीन हुए, ऐसे निश्चल मालूम पडते थे—मानो—क्या ये पर्वत्-शिखर पर उकीरे गये है?

अथवा मानो—इसी पर्वत से निकले हुए है? [इधर] अपने मित्र के दर्शन की इच्छावाले विश्वानुलोम ने भी, [उसके गृह जाकर] उसके कुटुम्बियो से अपने मित्र के दीक्षा लेने के समाचार जाने। पश्चात् उसने ऐसी दृढ प्रतिज्ञा की 'मेरे मित्र धन्वन्तरि को जो दशा हुई है, वह मेरी भी हो'। फिर वह धन्वन्तरि के पास आया और जैन साधुओ की आचार-मर्यादा को न जानता हुआ कहने लगा—हे मानसिक अभिप्राय के ज्ञाता मित्र! बहुत दिनो के बाद मिले हो। अत मेरे लिए गाढालिगन क्यो नही देते? और मुझसे विशेष बातचीत क्यो नही करते? एव क्यो मुझसे आदरपूर्वक कुशल-समाचार नही पूछते?' इत्यादि अनेक बार विनयपूर्वक कहने पर भी [जब धन्वन्तरि मुनि ने कुछ जवाब नही दिया] तब वह अपने नियमानुष्ठान (आत्मध्यान) मे एकाग्रचित्त व निर्दोषी धन्वन्तरि मुनीश्वर से विशेष रुष्ट होकर समीपवर्ती अकल्याण परम्परावाला और धन्वन्तरि यतीश्वरसे द्वेष करने वाला वह 'भूतरमणीय' पर्वत के समीप अपनी कुटी बनाने वाले 'सहस्रजट' नामके जटाधारी सन्यासी के निकट 'शतजट' नामका जटाधारी सन्यासी हो गया।

आतपन योग के समाप्त होने पर 'धन्वन्तरि' मुनि भी उसके समीप समझाने गये। और उन्होने कहा

१ पूजा। २ आम्नाय उपदेशपरम्पर। ३ 'सन्नम्बरस्तम्बाडम्बरित' क० च०। ४ आकाशतटव्यापिवृक्षश्रेणि। ५ पर्वतदन्त चोटी। ६ निरूढ निर्गत। ७ मित्रस्यैव। ८ धन्वन्तरि-समीपे। ९ आलिङ्गन। १० अतिशयेन। ११ कुशल। १२ एकाग्र। १३ समीप-अकल्याण। १४ उटज तृणगृह, तृणगृहस्य पर्णशालोटजोऽस्त्रिया। १५ समीपे। १६ आगच्छ। १७ त्यक्त्वा। १८. समथ आश्रम।

मनोरथ सहैव तपस्याव' इति बहुश कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि दु शिक्षावशात्त[1] मोतु[2] पोतरुतभीतपतङ्गपाक[3] मिव मुधामौनमूकतो[4] त्तरङ्गितचित्तोत्सेक[5] तितउपात्र[6] इव तन्म[7] नोऽमत्रेऽप्राप्तसदुपदेशपयोवस्थान प्रतिबोधयितुम-शक्नुवन्गुरुपादमूलमनुशील्य कालेन प्रवचनोचित चर[8] माचरणाधिकृत विधि विधाय विबुधाङ्गनाजनोच्चार्यमाणमङ्गल-परम्परानल्पेऽच्युतकल्पे समस्तसुरसमाजस्तूयमानमहातप परा[9] यणप्रतिभोऽमितप्रभो नाम देवोऽभवत् ।

विश्वानुलोमोऽपि पुरोपार्जितपुण्यवशाज्जीवितावसाने विपद्योत्पद्य च व्यन्तरेषु गजानीकमध्ये **विजयनाम**-धेयस्य देवस्य **विद्युतप्रभा**ख्यया वाहनो बभूव । पुनरेकदा पुरंदरपु र सरेण दिविजवृन्देन सह **नन्दीश्वर**द्वीपात्तत्रत्यचैत्या लयाश्रयामष्टाह्नीपर्वक्रिया निर्वर्त्यागच्छन्नसा**वमितप्रभो** देवस्त **विद्युतप्रभ**मिभमवेक्ष्याह्लादमानमानस प्रयुज्यावधिमव-बुद्धपूर्ववृत्तान्त '**विद्युतप्रभ**, कि स्मरसि जन्मान्तरोदन्तम्' इत्यभाषत । **विद्युतप्रभ** '**अमितप्रभ**, बाढ स्मरामि । कि तु सकलत्रचारित्राधिष्ठानादनुष्ठानान्ममैवविध कर्मविपाका[10] नुरोध । तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृश । ये च मदीये समये[11] जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादयो महर्षयस्ते तपोविशेषादिहागत्य भवतोऽप्यभ्यधिका भविष्यन्ति । ततो न विस्मेतव्यम्' । **अमितप्रभ** —**विद्युतप्रभ**, सप्रत्यपि न मुञ्चसि दुराग्रहम् । तदेहि । तव मम च लोकस्य परीक्षा-

---

'मेरे प्रेमरूपी पथिक के विश्राम के लिये उद्यान-सरीखे हे विश्वानुलोम ! जैन धर्म की मर्यादा को न जानकर असमय मे कुपित होकर क्यो कुमार्गगामी हो गये हो ? इससे आइये और कुमार्ग की कथा वाले इस ताप-साश्रम मे निवास करने का मनोरथ छोडकर साथ ही तपश्चर्या करेगे ।' इस प्रकार धन्वन्तरि ने बार-बार विश्वानुलोम को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह ऐसे विश्वानुलोम को, कुशिक्षा के कारण जिसके चित्त का प्रकर्ष झूठे मौन से हुई मूकता से विशेष कल्लोलित हुआ है, जैसे विलाव के बच्चे के शब्द से डरा हुआ पक्षि शावक झूठा मौन धारण करता है । सन्मार्ग पर लाने मे असमर्थ हुए, क्योकि ये चलनी जैसे उसके मनरूपी पात्र मे अपना सदुपदेशरूपी दूध स्थापित न कर सके । तब धन्वन्तरि गुरु के पादमूल मे प्राप्त हुये और समय आने पर आगमानुसार विधिपूर्वक सन्यास मरण करके देवियो द्वारा उच्चारण की जाने वाली मगल परम्परा से श्रेष्ठ 'अच्युत' नामके सोलहवे स्वर्ग मे, ऐसे 'अमितप्रभ' नामके देव हुये, जिनकी महान् तप मे तत्पर प्रतिभा समस्त देव समूह द्वारा स्तुति की जानेवाली है ।

'विश्वानुलोम' भी आयुष्य के अन्त मे मरकर पूर्वमे सचय किये हुए पुण्य से विजय नामक व्यन्तर की गजसेना मे 'विद्युतप्रभ' नामका वाहन जाति का देव हुआ । पुन [एक बार] जब अष्टाह्निका पर्वमे 'अमित-प्रभ' देव, इन्द्रकी प्रधानता वाले देव समूह के साथ 'नन्दोश्वर' द्वीप से वहाँ के चैत्यालयो की अष्टाह्निका पर्व सबधी पूजा करके वापिस आ रहा था, तब अपने पूर्वजन्म के मित्र 'विद्युतप्रभ' नामके वाहन को देखकर प्रसन्नचित्त हुआ और अवधिज्ञान से पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानकर कहा—'विद्युतप्रभ ! क्या पूर्वभव का वृत्तान्त याद है ?'

'विद्युतप्रभ' ने कहा—'अमितप्रभ ! हाँ, खूब याद है । किन्तु पूर्वजन्म मे सपत्नीक चारित्र के पालन से मेरा कर्मोदय का आक्षेप ऐसा हुआ और ब्रह्मचर्य के कारण कायक्लेश उठाने से तेरा कर्मोदय का आग्रह ऐसा हुआ । और जो मेरे शासन मे 'जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल व कपिञ्जल-आदि महर्षि हुए है, वे विशेष तपश्चर्या के प्रभावसे यहाँ आकर आपसे भी बडे देव होगे, अत आपको आश्चर्य नही करना चाहिए ।'

---

१ विश्वानुलोम । २ ओतुः मार्जार । ३ डिम्भ । ४ कल्लोलित । ५ प्रकर्ष । ६ तितउ चालनि चालनि तितउ पुमान् । ७ अमत्र पात्र चित्तभाजने । ८ सन्यास । ९ तत्पर । १० आग्रह आक्षेप । ११ मम शासने ।

वहे चित्तम्' इति विहितविवादौ तौ द्वावपि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागमाश्रित्य काश्यपीतलमवतेरतु ।

तत्र च वनेचरसैन्यसौजन्याशून्ये [1]तन्निकटदण्डकारण्यवने [2]समित्कुश[3]कुशाशय[4]प्रकामे[5] बदरिकाश्रमे[6] बहुलकालकृतकृच्छ्रतपस चन्द्रचण्ड[7]मरीचिरुचिपानपरायणमनसमूर्ध्वबाहुमेकपादावस्थानाग्रहराहुमनल्पोल्लसत्पल्लवाविरल-वल्लीगुल्मवल्मीकावरुद्धवपुषमतिप्रवृद्धवृद्धतासुधाधवलितशिर श्मश्रुजटाजालत्विषमृषे कश्यपस्य शिष्य जमदग्निम वलोक्य पत्र[8]रथमिथुनकथोचिताश्लेष वेष विरचय्य तत्कूर्चकुला[9]यकुटीरकोटरे निविष्टौ 'कान्ते, काञ्चनाचलमूल मेखलायामशेषशकुन्तचक्रचक्रवर्तिनो वैनतेयस्य वात[10]राजसुतया मदनकन्दलीनामधेयया सह महान्विवाहोत्सवो वर्तते। तत्र मयावश्य गन्तव्यम्। त्व तु सखि, समासन्नप्रसवसमया सती सह न शक्यसे नेतुम[11]। अह पुनस्तद्विवाहो-त्सवानन्तरमकालक्षेपमागमिष्यामि। यथा चाह तत्र चिर नावस्थास्ये तथा मातु पितुश्चोपरि महान्त. शपथा । किं च बहुनोक्तेन। यद्यहमन्यथा वदामि तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरितभागी स्याम्[12]' इत्यालाप चक्रतु । त च जमदग्निः

तब 'अमितप्रभ' ने कहा—'विद्युतप्रभ! अब भी तुम अपना दुराग्रह नही छोडते हो तो आओ हम दोनो अपने-अपने धर्मात्मा-लोक के चित्त की परीक्षा करें।' ऐसा पारस्परिक विवाद करने वाले वे दोनो देव 'करहाट' देश की पश्चिम दिशा मे प्राप्त होकर इस पृथिवी तल पर अवतीर्ण हुए।

वहाँ पर उन्होने भीलो की सेना के युद्ध से सहित और उक्त देश की पश्चिम दिशा के निकटवर्ती 'दण्डकारण्य' नामके वन मे स्थित हुए एव ईधन, दर्भ व जलाशय की प्रचुरता वाले 'बदरिकाश्रम' मे बहुत काल से कठोर तपश्चर्या करने वाले ऐसे 'जमदग्नि' नाम के तपस्वी को देखा, जो कि 'कश्यप' ऋषि के शिष्य थे। जिसका मन चन्द्र व सूर्य की किरणो के पान करने मे तत्पर था। जिसकी दोनो भुजाएँ ऊपर उठी हुई थी। जो एक पाद (पैर व पक्षान्तर मे किरण) से खडे होने के आग्रह मे वैसे थे जैसे राहु चन्द्र-सूर्य को एकपाद (किरण या चतुर्थांश)-युक्त करने के आग्रह वाला होता है। जिसका शरीर बहुत से शोभायमान पल्लवो, घनी लताओ, बहुतलम्बी वेलो एव वामियो से आच्छादित (ढका हुआ) था और जिसके शिर व दाढी के जटा-समूह की क्रान्ति विशेष बढी हुई वृद्धावस्था रूपी सुधा (चूने) से शुभ्र होगई थी।

इसके पश्चात् उन दोनो देवो ने [विक्रिया से] पक्षियो के जोडे के वृत्तान्त-योग्य सबधवाला वेष (रूप) धारण किया और उस तपस्वी की दाढीरूपी घोसले की झोपडी की कोटर मे घुस गए।

एक दिन पक्षी ने अपनी प्रिया से कहा—'प्रिये! सुमेरु पर्वत की मूलमेखला मे समस्त पक्षि-समूह के चक्रवर्ती गरुडराज का 'मदनकन्दली' नाम की वातराज (पक्षी-विशेष) की पुत्री के साथ महान् विवाहोत्सव हो रहा है, उसमे मुझे अवश्य जाना है। प्रिये! तुम्हारा प्रसवकाल नजदीक है, अत तुम्हे ऐसे समय मे साथ ले जाना शक्य नही है। उक्त विवाहोत्सव के बाद मै शीघ्र लौट आऊँगा। वहाँ पर मै बहुत समय तक नही ठहरूँगा, यदि ठहरूँ तो मै अपने माँ-बाप की शपथ करता हूँ। अधिक क्या कहूँ, यदि मै झूठ बोलूँ तो इस पापी तपस्वी के पाप का भागी होऊँगा।' इस प्रकार उन दोनो पक्षियो ने परस्पर वार्तालाप किया।

---

१ पश्चिमभाग। २ इधन। ३ दर्भ। ४ कुशाशय जलाशय। ५ 'समित्कुजकुश' (क०)। ६ बोरवृक्ष-स्थाने। ७ सूर्य। ८ पत्ररथ. पक्षी, पक्षिचटक। ९ मालक। १० वातराज पक्षिविशेष महर्द्धिक। ११ मया। १२ अह भवामि।

कर्णकटुमालापमाकर्ण्य प्रवृद्धक्रोध कराभ्या तत्कदर्थनार्थ कूर्चं मलितवान् । अमरचरौ विकिरा[1]वप्युड्डीय तदग्रविटपिनि सनिविश्य पुनरपि त तापसमलो[2]हलालापौ निकाममुपजहसतु । तापस साध्वस[3]विस्मयोपसृतमानस 'नैतौ खलु पक्षिणौ भवत । किं तु रूपान्तरावुमामहेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ । तदुपगम्य प्रणम्य च पृच्छामि तावदात्मन पापकर्मत्वकारणम् । अहो मत्पूर्वपुण्यसपादितावलोकन दिव्यद्विजो[4] त्तमान्वयसभवसदनपतङ्गमिथुन, कथयता भवन्तौ कथमह पापकर्मा' इति । पतत्त्रिणौ 'तपस्विन्, आकर्णय ।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च । तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुक ॥ १५५ ॥

तथा—अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य युक्तित । इष्ट्वा यज्ञैर्यथाकाल तत प्रव्रजितो भवेत् ॥ १५६ ॥

इति स्मृतिकारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य तपस्यसि' इति । 'कथ तर्हि मे शुभा परलोका' । 'परिणयनकारणादौरसपुत्रोत्पादनेन' । 'किमत्र दुष्करम्' इत्यभिधाय मातुलस्य विजयामहादेवीपनेरिन्द्रपुरैश्वर्यभाज काशिराजस्य भूभुजो भवनभाग्भूत्वा तद्दुहितर रेणुका परिणीयाविरलकलापो[5]लुपाल[6]कृतपुलिनासराले मन्दाकिनीकूले महदाश्रमपद सपाद्य परशुरामपिताभूत् ।

भवति चात्र श्लोक —

उनके इस कर्ण-कटु वार्तालाप को सुनकर जमदग्नि तपस्वी का क्रोध भडक उठा, अत उसने पक्षियो को पीडित करने के लिए दोनो हाथो से अपनी दाढी मसली, तब दोनो भूतपूर्व देवता पक्षी भी उडकर उसके आगे वर्तमान वृक्ष पर जा बैठे और पुन स्पष्ट वचन बोलते हुए उस ऋषि की विशेष हँसी-मजाक उडाने लगे। [यह देखकर] तापसी का मन भयभीत व आश्चर्यान्वित हुआ, अत उसने विचार किया—'निस्सन्देह ये दोनो पक्षी नही है किन्तु दूसरा वेष धारण किये हुए पार्वती व शिव-सरीखे कोई देवता है, अत इनके पास जाकर व प्रणाम करके अपने पापी होने का कारण पूँछू।'

[यह सोचकर उसने उनके पास जाकर कहा—] 'मेरे पुण्योदय से प्राप्त हुए दर्शन वाले और दिव्य व उत्तम पक्षियो के वशरूपी उत्पत्तिगृह वाले हे पक्षियुगल ! कहिए कि मै कैसे पापी हूँ ?'

पक्षि-युगल—'तपस्वी ! सुनो—स्मृतिकारो ने कहा है—'कि पुत्र-रहित मनुष्य की सद्गति नही होती और न वह स्वर्ग प्राप्त करता है, इसलिए पुत्र का मुख देखकर पश्चात् भिक्षुक होना चाहिए। विधिपूर्वक वेदो का अध्ययन करके और युक्ति पूर्वक पुत्रो को उत्पन्न करके और यथाकाल यज्ञ सबधी क्रिया-काण्ड द्वारा पूजा करके पश्चात् तपस्वी होना चाहिए ॥ १५५–१५६ ॥

किन्तु तुम स्मृतिकार के उक्त कथन को प्रमाण न मानकर तप करते हो।'

'तो मेरे परलोक कैसे शुभ हो सकते हैं ?'

'विवाह करके औरस पुत्र के उत्पन्न करने से ?'

'यह क्या कठिन है'—ऐसा कहकर जमदग्नि तपस्वी ने विजया नाम की महादेवी के पति स्वर्ग-सरीखे ऐश्वर्य का सेवन करनेवाले अपने मामा काशीराज नाम के राजा के महलो मे जाकर उनकी रेणुका नाम की दुहिता के साथ विवाह सबध कर लिया और घने पत्र व तृणविशेषो से अलकृत और बालुकामय प्रदेश से व्याप्त गङ्गा नदी के तट पर वर्तमान महान् आश्रम-स्थान प्राप्त करके परशुराम के पिता हो गए।

इस विषय मे एक श्लोक है उसका अर्थ यह है—

१ पक्षिणौ । २ अलोहल व्यक्त स्फुटवचनौ । ३ भय । ४ पक्षि । ५ कलापा पत्राणि । ६ उलुपस्तृणविशेष ।

अन्तस्तत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यम । पुस स्वभावभीरो स्यान्न शौर्यायायुधग्रह ॥ १५७ ॥'

इत्युपासकाध्ययने जमदग्नितप प्रत्यवसादनो नाम पञ्चम कल्प । पुनस्तौ त्रिदशौ मगधदेशेषु कुशाग्र[1]नगरोपान्तापातिनि पितृवने कृष्णचतुर्दशीनिशि निशाप्रतिमाशयवशमेकाकिन जिनदत्तनामानमुपासकमवलोक्य साक्षेपम्[2] 'अरे दुराचाराचरणमते निराकृते[3] अविदितपरमसद मनुष्या[4]पसद, शीघ्रमिमामूर्ध्वशो[5]ष शुष्क[6]स्थाणुसमा प्रतिमा[7] परित्यज्य पलायस्व । न श्रेयस्कर खलु तवात्रावसर पश्याव । यस्मादावा ह्येतस्या परेतपुरभूयस्या[8] भूमे पिशाचपरमेश्वरौ । तदलमत्र कालव्यालावलोकनकरप्रस्थानेन[9] । मा[10] हि कार्षीरन्तरायोत्क[11]र्षीभावमनुच्छस्वच्छन्दकेलिकुतूहलबहलान्तकरणप्रसवयोरावयो' इत्युक्तमपि प्रकामप्रणि[12]धानोद्युक्तमवेक्ष्य न्यक्षत[13] कीना[14]शकास[15]रनिकायकायाकारघोरघन-

जैसे स्वभाव से भयभीत मानव का शस्त्र-धारण शूरता के लिए नही होता (व्यर्थ होता है) वैसे ही आत्मज्ञान से शून्य (रहित) मानव का व्रत (अहिसा-आदि)-पालन का परिश्रम भी व्यर्थ होता है ॥ १५७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे जमदग्नि तपस्वी को तपश्चर्या से पतन करनेवाला पञ्चम कल्प पूर्ण हुआ।

इसके पश्चात् उन दोनो देवो ने मगध देश के राजगृह नगर की निकटवर्ती श्मशान भूमि पर कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि मे रात्रि सबधी प्रतिमायोग (धर्मध्यान)-धारण के अभिप्राय के अधीन हुए व अकेले 'जिनदत्त' नाम के श्रावक को देखा और उससे निम्न प्रकार तिरस्कारपूर्वक कहा—'अरे दुराचार करने की बुद्धिवाले ! विरूप, मोक्षपद को न जाननेवाले, निन्द्यपुरुष ! ऊपर खडे होकर शरीर सुखाकर सूखे ठूँठ सरीखे इस कायोत्सर्ग को छोडकर शीघ्र भाग जा। हम लोग निश्चय से तेरा यहाँ ठहरना कल्याणकारक नही देखते। क्योकि पिशाचो के स्वामी हम दोनो इस विशाल श्मशान भूमि के स्वामी है। इसलिए यहाँ ठहरने से तुम्हे कालरूपी सर्प से डँसे जाने के सिवाय कोई लाभ नही हो सकता। क्योकि हम दोनो के अन्त -करण मे श्रेष्ठ व स्वच्छन्द क्रीडा करने का विशेष कौतूहल उत्पन्न हो रहा है, इसमे विशेष विघ्न बाधा मत डालो।

ऐसा कहने पर भी उसे आत्मध्यान मे विशेष तल्लीन देखकर वे दोनो देव समस्त रात्रि तक ऐसे विघ्नो की सृष्टि (रचना) से, उसे आत्मध्यान से विचलित (डिगाने) करने मे तत्पर हुए, जो कि यम के वाहन महिष-समूह के शरीर की आकृतिवाले (काले काले) भयानक मेघो की गर्जना-ध्वनि को शुरु मे प्रारम्भ करनेवाले थे। जो प्रचण्ड विजलीदण्ड के सघट्टन से बहुत ऊँची जाने वाली गडगडाहट के शब्द-समूह से सहन करने के लिए अशक्य थे। जो सीमातीत (वेमर्याद) प्रचण्ड वायु के सूत्कार-सार (झकोरो के शब्द) के विस्तार से महाशक्तिशाली थे। जो अत्यन्त भयानक वेताल-समूह के उत्पाती कोलाहल के अनुकूल थे एव जो अन्य साधारण मनुष्यो से करने के लिए अशक्य थे तथा जिनमे उसके मकानात जलाना और बन्धुजनो के और धन के नाश का सबध वर्तमान था। इसी प्रकार विशेष आदर सहित मनचाही वस्तु के देने से वे दोनो देव समस्त रात्रि पर्यन्त उसके आत्मध्यान को रोकने के अधीन हुए।

१ राजगृह। २ तिरस्कृत। ३ निकृष्टा आकृतिर्यस्य, व्रात्य सस्कारहीन स्यादस्वाध्यायो निराकृति । ४ निन्द्य पङ्क्तिरहित । ५ ऊर्ध्वशोष 'ऊर्ध्वे शुषिपूरो' ऊर्ध्वे कतृवाचिन्युपपदे शुषे पूरेश्च णम् ऊर्ध्वशोष । ६. शुष्क स चासौ स्थाणु तत्समा ७ कायोत्सर्ग । ८ महत्या । ९ स्थितिकरणेन। १० आवयोर्मा कार्षी । ११ ऊर्ध्व सन् । १२ ध्यानस्थ। १३ सर्वत । १४ यम। १५ महिष ।

घस्मराडम्बरप्रथमप्रा[१]रम्भनिवहै ★ प्रचण्डतडिद्दण्डसघट्टोच्छलच्छब्दसदोहदु सहै नि सीमसमीरासरालसूत्कारसारप्रसर प्रवलै करालवेतालकुलकाहलकोलाहलानुकुलैरनन्यसामान्यैरन्यैश्च परिगृहीतगृहदाहवान्धववधनविध्वसानुबन्धैं प्र[२]त्यूह प्रबन्धैः सबहुमानैस्तत्तद्वरप्रदानैश्च नि शेषामप्युषाम[३]ध्यात्मसमाधिनिरोधनि[४]घ्नौ विहितबहुविघ्नावपि तमेकाग्रभावा-भ्यासात्मसात्कृतान्त करणबहिकरणेहित शर्महर्म्यनिर्माणकार्मणपरमाणुप्रवर्धनाद्धर्मध्यानाच्चालयितु न शेकतु[५]। सजाते च खरकिरणविरो[६]कनिकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहृतोपसर्गवर्गौ प्रकामप्रसन्नसर्गौ[७] तैस्तैर्महाभागोचितै प्रणयोदितैराश्लाघ्य तस्मै जिनदत्ताय विहायोविहाराय पञ्चत्रिंशद्वर्णानवद्या विद्या वितेरतु[८]। इय हि विद्या तवास्मदनु-ग्रहादम्बरविहारायाससाधितापि भविष्यति परेषा त्वस्माद्विधेरिति। जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतना-लोकनकुतूहलिताशय समाचरिताम[९]रानुवर्तनसमयस्ता विद्या प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखि[१०]लनिलिम्पाचल[११] चैत्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुष्पवटवे [१२]प्रादात्।

पुनरप्यमित 'विद्युतप्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवा❀र्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्त स्वभावादेव च स्थिरमतिर-शेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च। तदत्र महदप्यपकृत कुलिशे[१३]घुणकीटचेष्टितमिव न भवति समर्थम्। अतोऽन्यमेव कञ्चनाभि-

---

उक्त प्रकार विशेष विघ्न करने वाले भी वे दोनो देव उस जिनदत्त को, जिसकी चित्तवृत्ति व वाह्य इन्द्रियवृत्ति की चेष्टा एकाग्रभाव के अभ्यास से आत्माधीन हो चुकी थी, ऐसे धर्मध्यान से, जो कि स्थायी सुखरूपी महल का निर्माण करने वाली पुण्य कर्म की परम्परा को वृद्धिगत करता है, विचलित करने के लिए समर्थ नही हुए।

इतने मे जब सूर्य की किरण-समूह द्वारा अन्धकार-समूह को नष्ट करने वाला प्रात काल हो गया तब उन्होने अपने उपसर्ग-समूह रोक दिये और वे विशेष प्रसन्न अभिप्राय वाले हुए और भाग्यशालियो के योग्य प्रेम-भरे वचनो से उसकी प्रशसा करके उसके लिए आकाश मे विहार करने के लिए पैंतीस अक्षरो से निर्दोष आकाशगामिनी विद्या प्रदान की और कहा—'यह विद्या हमारे अनुग्रह से विना सिद्ध की हुई भी तुम्हे आकाश मे विहार कराने मे समर्थ होगी, परन्तु दूसरो को अमुक विधि से सिद्ध की जाने पर।

जिनदत्त भी, जिसका मन सुमेरु पर्वत की शिखर को अलकृत करने वाले अकृत्रिम चैत्यालयो के दर्शन करने मे कौतूहल-युक्त है, एव जिसने प्रस्तुत विद्या के लिए देवो की तरह आकाश मे ले जाने का सकेत किया है, उक्त विद्या प्राप्त करके पचमेरु के समस्त चैत्यालयो को हार्दिक दर्शनोत्सव मे लाया। इसके बाद उसने उक्त चैत्यालयो के दर्शनार्थ उत्कण्ठित व ईश्वर-भक्ति मे निपुण पुरुष-श्रेष्ठ धरसेन श्रावक के लिए उक्त विद्या दे दी।

पुन 'अमितप्रभ' ने 'विद्युतप्रभ' से कहा—'विद्युतप्रभ! यह जिनदत्त सम्यग्दृष्टियो से माने हुए जीवादि तत्वो के विषय मे परिपक्व बुद्धिवाला (दृढ श्रद्धालु) है और स्वभाव से निश्चल बुद्धिशाली है तथा समस्त उपसर्गों के सहन करने की प्रकृति वाला है, अत इस पर किये जाने वाले महान् उपसर्ग भी वैसे व्यर्थ होते हैं जैसे वज्र पर घुण-कीट की चेष्टा व्यर्थ होती है, अत नवीन जिनेन्द्र भक्ति की स्थानीभूत बुद्धिवाले किसी दूसरे श्रावक की परीक्षा करे।

ऐसा विचार करके दोनो देव वहाँ से प्रस्थान कर गए और उन्होने मगधदेश को अलङ्कृत करने वाली मिथिलापुरी के स्वामी ऐसे 'पद्मरथ' राजा को देखा, जिसने ऐसे सुधर्माचार्य से, सम्यग्दर्शन पूर्वक

---

१ 'प्रारम्भावहै' मु० एव 'ख' प्रतौ। ★ विघ्नसमूहै। २ विघ्नरचनै। ३ रात्रि। ४ निघ्न तत्पर। ५ न समर्थौ तौ देवौ। ६ विरोक किरण रश्मि। ७ सर्ग अभिप्राय अभिप्रायौ। ८ दत्तवन्तौ। ९ देववत्। १०. समस्त। ११. पचमेरु.। १२ ता विद्या। ❀ अर्हद्देवोऽस्येत्यार्हत सम्यग्दृष्टिरित्यर्थ। १३. वज्रे।

नवजिनोपासनायतनचैतन्य निकषाव[1] इति विमृश्योच्चलिताम्यामेता[2]भ्या **मगधमण्डलमण्डनमिथिलापुरीनाथ पद्मरथो** नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीधरवृत[3]देहा[4] या कालगुहाया निवासरसमनसो[5] दीप्ततपसो नि शेषानिमिषपरिषन्निषेव्यमाणाचरणचातुर्यात्सुधर्माचार्यात्तदङ्गाद्भुतप्र[6] भाप्रभावदर्शनोपशान्ताशय सम्यग्दर्शनमणुव्रताश्रयमादाय तद्दिवस एव तदुपदेशान्निश्चिताहंत्परमेश्वरशरीरनिरतिशयप्रकाशम[7]हिम कृतनियम सकलभुवनपतिस्तूयमानगुणगणो[8]दन्त **श्रीवासुपूज्य**भगवन्तमुपासितु प्रतिष्ठमान प्रमद[9]नादसुन्दरदुन्दुभिरवाकारितनिरवशेषपरिजन [10]समासजत्सकलविष्टपनिविष्टविशिष्टादृष्टचेष्ट स च दृष्ट कदाचिदपि क्षुद्रोपद्रवा[11]विप्रलब्ध प्रार[12]ब्धश्च[13]पुरप्लोषान्त पुरविध्वसवरू[14]थिनीमथनप्रसभप्रभ[15]ञ्जनोर्जितपर्जन्यपरुषवर्षोपलासारादिवसति[16]भिर्दुर्दमशार्दूलोत्तराकृतिभिर्विकृतिभिरुपद्रोतु तथाप्यविचलितचेतसमवसाय[17]नरवरकुञ्जर मायामयप्रतिघे[18]ऽस्ता[19]घे व्याप्ताखिलदिगारामसगमे कर्दमे निमज्जयद्भ्या ताभ्या 'नम सुरासुरोपसर्गसङ्ग[20]सूदनाभिधानमात्रमाहात्म्यसाम्राज्याय श्रीवासुपूज्याय' इति तत्र निमज्जतो भूभृतो वचनमाकर्ण्य तद्धैर्योत्कर्षोन्मिषत्तोषमनीषाप्रसराभ्या लघु परिमुषिताशेषविघ्नव्यतिकराभ्यामाचरितसत्काराभ्याम्

श्रावको के अणुव्रत धारण किये थे, जिनका मन अपने नगर के निकटवर्ती पहाड से वेष्टित शरीर वाली कालगुहा मे निवास करने के लिए सरस (प्रीति-युक्त) था। जो महातपस्वी थे और जिनके चरित्र-पालन का चातुर्य समस्त देवो की सभा से पूजा जा रहा था। उनके शारीरिक अद्भुत तेज व प्रभाव के दर्शन से जिसका राग शान्त हो गया था। उसी दिन जिसने आचार्य के उपदेश से अर्हन्त तीर्थङ्कर के शरीर के अनोखे प्रकाश की पूजा का निश्चय किया था और जिसने नियम लिया था। जो समस्त भुवन के स्वामियो से जिनके गुण-समूह का वृत्तान्त स्तुति किया जा रहा है ऐसे वासुपूज्य भगवान् की उपासना के लिए प्रस्थान कर रहा था। आनन्दभेरी की मधुर ध्वनि से मनोज्ञ दुन्दुभियो (आनको-वाद्यविशेषो) की ध्वनि से उसने समस्त कुटुम्बी जनो को बुला लिया। जिसकी विशेष पुण्य-चेष्टा समस्त लोक मे प्रविष्ट होने का सबध प्राप्त करती थी। जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवो (विघ्नो) से पराभूत नही हुआ था।

पश्चात् उन दोनो देवो ने परीक्षा करने के लिए पद्मरथ राजा के ऊपर निम्न प्रकार की घटनाओ से विघ्न करना प्रारम्भ कर दिया, जिनमे उसके नगर का दाह, रनवास का विनाश, सेना का नाश और बलात् प्रचण्ड वायु के सचार से विशेष शक्तिशाली मेघो से उत्पन्न हुई कठोर ओलो की वृष्टि-आदि वाली भयानक जलवृष्टि पाई जाती है और जिनमे दु ख से भी दमन करने के लिए अशक्य सिंहो की उत्तम आकृतियाँ पाईं जाती है।

उक्त उपद्रवो के करने पर भी उन्होने मनुष्यो मे श्रेष्ठ पद्मरथ राजा को विचलित न होनेवाले मनवाला निश्चय किया। तब उन्होने उसे मायामयी विघ्नवाली, अगाध और जिसने समस्त दिशाओ व बगीचो के सगम को व्याप्त किया है ऐसी कीचड मे डुबो दिया।

इसके पश्चात् उन्होने कीचड मे डूबते हुए राजा के निम्न प्रकार वचन श्रवण किये—'ऐसे वासुपूज्य तीर्थङ्कर भगवान् के लिए नमस्कार हो, जिसके नाममात्र के माहात्म्य का साम्राज्य सुरासुर देवो के

१ परीक्षावहे। २ पद्मरथो राजा दृष्ट। ३ गिरिवेष्टित। ४ 'तटीध्रधृतदेहाया' इति (क)। ५ सुधर्माचार्यात् सम्यक्त्व व्रत चादाय। ६ शरीरतेज। ७ महिमा महि पूजायामस्यौणादिक'इम' प्रत्यय। ८ वृत्ताप्त। ९ आनन्दभेरी। १० समासजन्ती सबधमायान्ती। ११ अपराभूत। १२ उपद्रोतु प्रारब्ध। १३ नगरदाह। १४ सेना। १५ वायु। १६ स्थानै। १७ ज्ञात्वा। १८ विघ्ने। १९ अगाधे। २० सूदन निराकरण विनाशन।

'अहो नूतनस्य सम्यक्त्वरत्नस्याच्छद्मसद्मपथ पद्मरथ, नैतच्चित्रमत्र यत्स[1]धासत्त्वाभ्यामखिलैरपि लोकैरसदृशेषु भवादृशेषु न प्रभवन्ति प्र[2]सभप्रभवा क्षुद्रोपद्रवा । यत ।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् । पुण्यानि च पूरयितु दातु मुक्तिश्रिय कृतिन ॥ १५८ ॥'

इति निगीर्य, विती[3]र्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वशे सर्वरुजापहारोऽय हार, सकलसपत्न[4]सतानो[5]च्छेद्यमिदमातो[6]द्य च प्रेषण करिष्यतीति कृतसकेताभ्या तद्द्वय[7]मभिमतावस्थान स्थान प्रास्था[8]यि । त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसकथ पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनूनरत्नत्रयतन्त्र मोक्षामृतपात्रमजायत । भवति चात्र श्लोक —

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् । उभौ कामदुघौ लोकौ कीर्तेश्चाल्प जगत्त्रयम् ॥ १५९ ॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठ कल्प ।

उपसर्ग-सगम का विनाशक है ।' फिर राजा की धैर्य-वृद्धि के कारण उन दोनो देवो को विस्तृत आनन्द व बुद्धि उत्पन्न हुई और उन्होने समस्त विघ्न-सबध दूर करके राजा को सन्मानित करते हुए कहा—'नये सम्यग्दर्शनरूपी रत्न के निष्कपट गृह-मार्ग पद्मरथ ! प्रतिज्ञा व धैर्य के कारण समस्त प्राणियो की अपेक्षा अनोखे आपसरीखे महापुरुषो पर हठ से उत्पन्न हुए क्षुद्रोपद्रव धर्मध्यान से डिगाने मे समर्थ नही हो सकते । इसमे आश्चर्य नही ।

क्योकि अकेली एक जिनभक्ति ही धार्मिक पुरुष को दुर्गति के निवारण करने मे, पुण्य वृद्धि करने मे एव मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने मे समर्थ है ॥१५८॥'

इसके पश्चात् दिव्य वस्तुओ के प्रति सकेत करने वाले उन्होने उसे दो दिव्य वस्तुएँ प्रदान की । १ दिव्य हार २ दिव्य वाद्य । 'यह दिव्य हार जैन धर्म की आराधना के अधीन हुए आपके कुटुम्बी जनो के समस्त रोग नष्ट करेगा और यह दिव्य वाद्य समस्त शत्रु-कुल का उच्छेद (नाश) करने योग्य है और प्रेषण (भगा देना) करेगा ।' ऐसा कहकर उन दोनो देवो ने अपने अभीष्ट स्थान मे प्रस्थान किया ।

इन्द्र के मुख द्वारा निरूपण किये हुए गुण-कथनवाला पद्मरथ राजा भी उस तीर्थङ्कर के समवसरण मे गणधर के पद पर अधिष्ठित होकर अपनी आत्मा को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) से अलङ्कृत करता हुआ मोक्षरूपी अमृत का पात्र हुआ ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक पुण्य श्लोक का अर्थ यह है—

जिन महापुरुषो की मनोवृत्ति स्वीकार किये हुए व्रतो के निर्वाह सबधी साहस के योग्य है, उनके दोनो लोक अभीष्ट वस्तु का दोहन करने वाले होते है एव उनकी इतनी विस्तृत कीर्ति होती है कि उसे व्याप्त होने के लिए तीन लोक भी अल्प हैं ॥१५९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे जिनदत्त व पद्मरथ राजा का प्रतिज्ञा-निर्वाह के साहस को बतलाने वाला यह छठा कल्प समाप्त हुआ ।

---

१ सधा प्रतिज्ञा मर्यादा द्रव्या सुव्यवसायेषु सत्व । २ हठादुत्पन्ना । ३ वितीर्य दत्वा । ४-५, शत्रुकुल । ६ वाद्य । ७ हार' आतोद्य द्वय । ८, गय ।

इतश्च सगमित[1] सकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यतुच्छभूच्छाया[2] बन्ध्ये पर्वदिवसवासते[3] यीमध्ये सर्वतो यातुधान[4] धावनप्रवर्धिनीषु श्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततदाराधनानुकूलमण्डलो न्यक्षासु[5] दिक्षु निक्षिप्तरक्षावलोऽवगण[6] कृतसकलीकरणो भागधे[7] यीविधानसमग्रे वटविटपाग्रे पतिव[8] राकरकर्तितसूत्रसरसहस्रसपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्तर्जल्पसकल्पितमन्त्रवाक्य सिक्य निबध्य प्रबन्धेनाधस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्र बहिर्निवेशिताष्टविधेष्टि[9]-सिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिबभूव ।

अत्रान्तरे निष्कारणकलिकार्याञ्जनसुन्दर्या निशीथ[10] पथवर्तिवीक्षणे क्षपाक्षणे मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुर स्वामिन सुन्दरीमहादेवीविलासिन स्वकीयप्रतापहुतवा[11] हनाहुतीकृतारातिसमितेररिमन्थमहीपतेर्ललितो नाम सुत समस्तव्यसनाभिभूतत्वाद्दाया[12] दक्रव्यादसपादितसाम्राज्यपदापाय[13] परमुपायमपश्यन्नदृश्याञ्जनावर्जनोर्जितप्रज्ञ प्रतीताञ्जनचोरापरसज्ञ किलैवमुक्त —'कुशाग्रपुर[14] परमेश्वरस्याग्रमहिष्या ताविष्या[15] सौभाग्यरत्नाकरं नाम कण्ठालकारमिदानीमेव यद्यानीय प्रयच्छसि, तदा त्व मे कान्त, अन्यथा प्रणयान्त[16]' इति । सोऽपि 'कियद्गहनमेतत्' इत्युदारमुदा[17] हृत्य प्रियतमामनोरथमन्वर्थं[18] क चिकीर्षुर्निजच्छायादृश्यताशीलकज्जलबहल लोचनयुगल विधाय प्रयाय[19]

अब धरसेन की, जिसे जिनदत्त ने आकाशगामिनी विद्या साधने के लिए दी थी, और अञ्जनचोर की कथा श्रवण कीजिए।

यहाँ पर समस्त साधनो की सामग्री-समूह एकत्रित करके धरसेन भी गाढान्धकार मे सफल पर्वदिन (चतुर्दशी या अमावस्या) की रात्रि के मध्य मे सर्वत्र राक्षसो की दौड-धूप बढानेवाली श्मशान भूमि पर आकाशगामिनी विद्या के आराधन मे परिपूर्ण बुद्धिवाला हुआ। वहाँ उसने आकाशगामिनी विद्या के आराधना-योग्य मडल की रचना की, समस्त दिशाओ मे रक्षा-मण्डल स्थापित किये। पुन अकेले इसने सकलीकरण क्रिया सम्पन्न की, अर्थात्—भूमिशुद्धि व अङ्ग शुद्धि-आदि क्रियाकाण्ड पूर्ण किया। इसके बाद उसने पूजा-विधान के समय मे वटवृक्ष की शाखा के अग्रभाग पर मन मे पढने से निश्चित मन्त्रवाक्यवाला होते हुए, (मन मे ही मन्त्रोच्चारण करते हुए) ऐसा छीका बाँधा, जो कि कन्याओ के करकमलो द्वारा काते हुए सूत के हजार तन्तुओ से बनाया गया था और जिसमे अपने बैठने-सरीखा योग्य मध्य स्थान था। इसके बाद उसने छीके के नीचे पृथ्वी पर समस्त तीक्ष्ण शस्त्रो को उनका अग्रभाग ऊपर की ओर करके स्थापित किया। बाद मे मण्डल से बाह्य भूमि पर शास्त्रानुकूल आठ प्रकार की पूजा-सिद्धि स्थापित करके उसने आकाशगामिनी विद्या के आराधन मे अपनी बुद्धि सन्नद्ध (तैयार) की।

इसी बीच मे एक घटना घटी, अर्थात्—अब अञ्जनचोर की कथा श्रवण कीजिए—

इसी बीच मे विना कारण कलह करनेवाली 'अञ्जनसुन्दरी' नाम की वेश्या ने अर्धरात्रि के मार्गवर्ती वीक्षणवाले मध्य रात्रि के समय ऐसे अञ्जनचोर से कहा, जो कि मध्यदेश मे प्रसिद्ध 'विजयपुर' नगर के स्वामी, सुन्दरी नाम की पट्टरानी से विलास करनेवाले और अपनी बहुल प्रतापरूपी अग्नि द्वारा शत्रु-समूह को भस्म करनेवाले 'अरिमन्थ' नाम के प्रतापी राजा का 'ललित' नाम का पुत्र था, जो समस्त प्रकार के व्यसनो मे आसक्त था, अत जिसकी राज्यपद की प्राप्ति मे उसके बन्धुजनरूपी राक्षसो ने बाधाएँ डाली तब उसने दूसरा उपाय न देखकर अदृश्य-अञ्जन सिद्ध करके अपनी बुद्धि को शक्ति-युक्त किया, अर्थात्—उस अञ्जन के लगाने से वह अदृश्य हो जाता था और तभी से उसका नाम अञ्जनचोर प्रसिद्ध हो गया।

---

१ एकीकृत-मेलित। २ तिमिर। ३ रात्रि। ४ राक्षसा। ५ सर्वासु। ६ एकाकी। ७ बलि। ८ कन्या। ९ पूजा। १० मध्यरात्रि। ११ अग्नि। १२ गोत्रिण एव राक्षसा। १३ विनाश। १४. राजगृह। १५ 'ताविषी' नामकाया देव्या। १६ शत्रु। १७ उक्त्वा। १८ सार्थक। १९ गत्वा।

च तन्महीश्वरगृह गृहीततदलकारस्तत्प्रभाप्रसरसमुल्लक्ष्यमाणचरणसचार शब्द[1] शस्त्रोत्तालाननकरैस्तल[2] वरानुचरैरभियुक्तो निस्तरीतुमशक्त परित्यज्य तदाभरणमितस्ततो नगरबाहिरिकाया विहरमाणस्त धरसेन प्रदीप्त[3]दीपदीप्तिवशादधस्तादस्त्रनिवेशभयावेशान्मुहुर्मुहुरारोहावरोहावहदेहदीनमवलोक्य समुपढौक्य च त देशमेव निर्दिदेश—'अहो प्रलयकालान्धकाराविलायामस्या वेलाया महासाहसिकवृ[4]षन् दुष्करकर्मकारिन्, को नाम भगवान् धरसेन —'कल्याणबन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पबटुनियोगसबन्धोऽहमेतदुपदेशादाकाशविहारव्यवहारनिषद्या विद्या सिसाधयिषुरत्रायासिषम् । अञ्जनचोर —कथमिय साध्यते ? धरसेनः—कथयामि, 'पूजोपचारनिषेक्ये शिक्येऽस्मिन्नि शङ्कमुपविश्य विद्यामिमामकुण्ठकण्ठ पठन्नेकैक शरप्रवेक स्वच्छधीश्छिन्द्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते ।' 'यद्येवमपसरापसर' । 'त्व हि त[5]लोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसपातभीतमतिर्न खलु भवसि एतत्साधने । एतद्यज्ञोपवीतदर्शनेनार्थावर्जनकृतार्थं समर्थं । तत्कथय मे यथाथवादहृद्या विद्याम् । एना साधयामि । ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पवटुना साधुसर्मपितविद्य

'राजगृह नगर के राजा की 'ताविषी' नाम की पट्टरानी का 'सौभाग्यरत्नाकर' नाम का कण्ठ-आभूषण यदि इसी समय लाकर मुझे दोगे तब तो तुम मेरे पति हो अन्यथा शत्रु हो ।'

वेश्या की बात सुनकर अञ्जनचोर ने कहा—'यह क्या कठिन है ?'

इतना उदारतापूर्वक कहकर वह अपनी प्रियतमा का मनोरथ सार्थक (पूर्ण) करने का इच्छुक हुआ । अपने दोनो नेत्रो मे ऐसा अञ्जन, जिसके आँजने से उसके शरार की छाया तक किसी से देखी न जासके, आँजकर राजमहल मे घुसकर उसने उक्त राजमहिषी (पट्टरानी) का कण्ठाभरण चुरा लिया । यद्यपि अदृश्य अञ्जन के कारण उसे कोई नही देख सका परन्तु उस हार की रत्नकान्ति के विस्तार से उसका पादसचार [कोट्टपाल-आदि नगर रक्षको द्वारा] मालूम पडा तब शब्द (गाली-गिलोज) बोलने से उग्र मुखवाले और शस्त्र उठाने से ऊपर उठाये हुए हस्तवाले कोट्टपाल के सेवको ने उसका पीछा किया । परन्तु उनको धोखा देकर निकल भागने मे अपने को असमर्थ देखकर उसने उस आभूषण को वही पर छोड दिया ।

इसके पश्चात् नगर की वाह्य भूमि पर इधर उधर भागते हुए उसने [आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करनेवाले] ऐसे 'धरसेन' को देखा, जिसका शरीर उजाले हुए दीपको की कान्ति से नीचे गाढे हुए अस्त्र-शस्त्रो पर गिर जाने के भय के प्रवेश से वार-वार छीके पर चढने-उतरने से दीन था, और उस स्थान पर आकर कहा—

'अहो ! प्रलयकाल-सरीखे गाढान्धकार से मलिन इस रात्रि-वेला मे महासाहसी पुरुषो मे प्रमुख और दुख से भी करने के लिए अशक्य कर्म करनेवाले पूज्य आप कौन है ?'

धरसेन—'मेरे हितैषी वन्धु ! भाग्यशाली चरित्रवाले जिनदत्त के साथ पूजा के अवसर पर पुष्प लानेवाले पुत्र के सरीखी प्रसिद्ध आज्ञा पालन का सबध रखनेवाला मै उसके उपदेश से आकाश-विहार के व्यवहार मे प्रवृत्तिवाली (आकाशगामिनी) विद्यासिद्ध करने का इच्छुक होकर यहाँ आया हूँ ।'

अञ्जनचोर—'यह कैसे साधी जाती है ?'

धरसेन—'कहता हू—'पूजोपचार के क्षेपण-योग्य इस छीके मे निशङ्क (शङ्का-रहित) बैठकर अविराम कण्ठ से इस विद्या को पढते हुए निर्मल बुद्धि वाले होकर छीके की एक-एक डोर काटनी चाहिए,

१. शब्देन उत्ताल मुख, शस्त्रेण उत्ताल करो येषा । २ तलार । ३ 'प्रदीप्र ख० । ४ प्रधान । ५ ऊर्ध्वमुखाग्रघटित ।

सम्यग्विदितवद्य[1] सप्रत्यासन्नशिवागारोऽञ्जनचौर स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्त । स खलु महतामपि महान्प्रतिपन्नदेशयतिव्रततन्त्रो जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरितोपचारस्य तनूद्भवनिर्विशेषपोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्' इति निश्चित्य निविश्य च सौत्सुक्य सिक्ये नि शङ्कशेमु[2]षीक स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोषितसुरासुरानीक सकृदेव[3] तच्छरप्रसर विच्छेद, *आससाद च खेचरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गमन भूयादिति विहिताशासन[4] काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि सौमनसवनोदयिनि जिनसद्मनि जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृतो गुरुदेवभगवत समीपे तपो गृहीत्वावगाहितसमस्तैतिह्यतत्त्वो हिमवच्छैलचूलिकोन्मीलित[5]केवलज्ञान कैलासके[6]सरकान्तारगतो मुक्तिश्रीसमागमसङ्गिभोगा[7]यतनो बभूव ।

भवति चात्र श्लोक —

क्षत्त्रपुत्रोऽक्षविक्षिप्त[8] शिक्षितादृश्यकज्जल । अन्तरिक्षगति प्राप नि शङ्कोऽञ्जनतस्कर ॥१६०॥

ऐसा करने से अन्त मे आकाश-गामिनी विद्या सिद्ध होगी।'

अञ्जनचोर—'यदि ऐसा है तो हटो हटो, क्योकि तुम छीके के नीचे पृथिवी तल पर ऊपर अग्रभाग करके गाडे हुए तीक्ष्ण शस्त्रो पर गिर जाने की भयभीत बुद्धि वाले हो गये हो, इसलिए तुम इसे सिद्ध करने मे समर्थ नही हो सकते। क्योकि तुम तो अपना जनेऊ दिखाने मात्र से धनार्जन करने मे कृतार्थ हो। अत मुझे यथार्थ उपाय से मनोज्ञ विद्या को कहो। मै इसे साधता हूँ।'

यह सुनकर आत्मकल्याण को अप्रिय समझने वाले उसे धरसेन ने अञ्जनचोर के लिए अच्छी तरह विद्या समर्पित कर दी।

इसके बाद जानने योग्य बातो के ज्ञाता व मोक्ष स्थान के निकटवर्ती (उसी भव से मोक्ष जाने वाले) अञ्जनचोर ने निश्चय किया—'जिनदत्त सेठ, जिसकी चित्तवृत्ति स्वप्न मे भी दूसरो को धोखा देने के व्यवहार से दूर है, निश्चय से महापुरुषो मे श्रेष्ठ है और जो स्वीकार किये हुए श्रावक-व्रतो के अधीन है जब प्राणीमात्र का भी अहित चिन्तवन नही करता तब क्या उस धरसेन के विषय मे, जिसने इसकी चिरकाल तक विशेष सेवा की है और जो इसके द्वारा पुत्र-सरीखा लालन-पालन किया गया है, अहित चिन्तवन कर सकता है?,

इसके पश्चात् बडी उत्कण्ठा के साथ उस छीके पर बैठ गया और नि शङ्क बुद्धि वाला होकर अपने साहस व उद्योग द्वारा सुर व असुरो के समूह को सन्तुष्ट करने वाले उस अञ्जनचोर ने एकबार मे ही समस्त छीके के धागे काट दिये और विद्या धर-पद प्राप्त कर लिया। पुन इसने इच्छा की 'कि जहाँ जिनदत्त है, वहाँ पर मेरा गमन हो' ऐसी इच्छा करने वाला वह सुमेरु पर्वत की मेखला पर स्थित व सौमनसवन मे वर्तमान जिनालय मे स्थित होकर आचार्य गुरुदेव से धर्म श्रवण करने वाले जिनदत्त के पास पहुँच गया और प्रस्तुत आचार्य के समीप जिन दीक्षा ग्रहण करके समस्त द्वादशाङ्ग शास्त्रो के तत्वो का ज्ञाता (श्रुतकेवली) हो गया। पुन उसे हिमवन पर्वत की चूलिका पर केवलज्ञान प्रकट हो गया। जब वह कैलाश पर्वत के बकुल वृक्ष के वन मे प्राप्त हुआ तब वह मुक्तिश्री के साथ समागम करने मे आसक्त आत्मावाला हुआ।

प्रस्तुत विषय मे एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

अञ्जनचोर, जो कि क्षत्रिय राजकुमार था, और जो जुआ खेलना-आदि व्यसनो के कारण विक्षिप्त

---

१ अञ्जन । २ शेमुषी मति । ३ एकवार । * प्रासवान् । ४ 'विहिताशसन' क० । ५ प्रकटीकृत । ६ बकुल । ७ आत्मा । ८ द्यूतेन ।

इत्युपासकाध्ययने नि शङ्कितत्त्वप्रकाशनो नाम सप्तम कल्प ।

स्या[1] देव स्यामह यक्ष स्या वा वसुमतीपति । यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छा परित्यजेत् ॥१६१॥
उदश्वितेव[2] माणिक्य सम्यक्त्व भवजै सुखै । विक्रीणान पुमान्स्वस्य वञ्चक केवल भवेत् ॥१६२॥
चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुम । कामधेनुर्धन यस्य तस्य क प्रार्थनाक्रम ॥१६३॥
उचिते[3] स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला । त श्रिय स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्य इवाम्बुधिम् ॥१६४॥
तत्कु[4]दृष्टचन्तरोद्भूतामिहामुत्र च सभवाम् । सम्यग्दर्शनशुद्धचर्थमाकाङ्क्षा त्रिविधा[5] त्यजेत् ॥१६५॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अङ्गमण्डलेषु समस्तसपत्नसमरारम्भनिष्प्रकम्पाया चम्पाया पुरि लक्ष्मीमति-महादेवीदयितस्य वसुवर्धनाभिधानोचितस्य वसुधापतेर्निरव[6]शेषवैदेहकवरिष्ठ किल प्रियदत्तश्रेष्ठी धर्मपत्न्या गृहलक्ष्मी-सपत्न्या सकलस्त्रैणगुणधाम्नाङ्गवतीनाम्ना सहाह्ना[7]य प्राह्णेऽष्टाह्निक्रियाकाण्डकरणायाभ्रकषकूटकोटिघ[8]टितपताकापट-

---

बुद्धिवाला हो गया था तब उसने अदृश्य होने का अञ्जन बनाना सीखा। जब वह विद्या-सिद्धि मे नि शङ्क हुआ तब उसने आकाशगामिनी विद्या प्राप्त की और मुक्त हो गया ॥ १६० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमे नि शङ्कित तत्वको प्रकट करनेवाला सातवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब नि काक्षित अङ्ग का स्वरूप कहते है—

यदि सम्यग्दर्शन मे प्रभाव है तो 'मै देव हो जाऊँ' 'अथवा यक्ष हो जाऊँ' अथवा 'राजा हो जाऊँ' ऐसी इच्छा का त्याग करना चाहिए। जैसे छाँछ लेकर माणिक्य को बेचनेवाला मानव केवल अपनी आत्मा को ठगनेवाला होता है वैसे ही क्षणिक सासारिक सुखो के बदले मे अपने सम्यक्त्व को बेचनेवाला मानव भी केवल अपनी आत्मा को ठगनेवाला है ॥ १६१-१६२ ॥ जिस धार्मिक सम्यग्दृष्टि के मन मे चिन्तामणि है, हस्त मे कल्पवृक्ष है और धन मे कामधेनु है, उसे याचना से क्या प्रयोजन? अर्थात्—सम्यक्त्व चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु सरीखा है, अत सम्यग्दृष्टि को विना याचना किये सब मिलता है, ऐसा जानकर इच्छाएँ छोड देनी चाहिए ॥ १६३ ॥ जिसकी मनोवृत्ति धर्मलक्षणवाले योग्य स्थान को प्राप्त करके अनाकुल (सासारिक सुखो से नि स्पृह) हो जाती है उसे सम्पत्तियाँ वैसी स्वय प्राप्त होती है जैसे नदियाँ समुद्र मे स्वय प्राप्त होती है ॥ १६४ ॥ अत सम्यक्त्व की विशुद्धि के लिए मिथ्यात्व कर्म के उदय से होनेवाली इस लोक व परलोक सबधी तीन प्रकार की इच्छाएँ (देवता, यक्ष व राजा होने की अभिलाषाएँ) छोड देनी चाहिए ॥ १६५ ॥

२ नि काक्षित अङ्ग मे प्रसिद्ध अनन्तमति की कथा—

[अब इस विषय मे एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—]

अङ्गदेश मे, समस्त शत्रुओ के साथ होनेवाले युद्ध के प्रारम्भ मे कम्पन-रहित (निर्भीक) 'चम्पा नाम की नगरी है। उसमे 'वसुवर्धन' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी 'लक्ष्मीमति' नामकी पट्टरानी' थी। उसके यहाँ समस्त वणिको मे श्रेष्ठ 'प्रियदत्त' नामका श्रेष्ठी था। उसकी गृहलक्ष्मी-सी व समस्त स्त्रियो के गुणो की स्थान 'अङ्गवती' नाम की पत्नी थी।

एकबार प्रात काल मे प्रियदत्त सेठ अपनी धर्मपत्नी के साथ अष्टाह्निका पर्व का क्रियाकाण्ड करने

---

१ अहँ भवामि। २ तक्रेण। ३ धर्मलक्षणे। ४ मिथ्यादर्शनावरणोद्भूता। ५ देव-यक्ष-राजोद्भवा। ६ समग्रवणिजा मध्ये श्रेष्ठ। ७ शीघ्र सपदि। ८ सयोजित।

प्रतानाञ्चलजालस्खलितनिलिम्पविमानवलयं सहस्रकूटचैत्यालयं यियासुः स्वकीयसुतावयस्या[1]मनङ्गमतीमेवमपृच्छत्—'वत्से, अभिनवविवाहभूषणसुभगहस्ते, क्वास्ते स[2]मुल्लिखितलाञ्छनेन्दुसुन्दरमुखी प्रियसखी तवातीव केलिशीलप्रकृतिरनन्तमतिः ।' अनङ्गमतिः—'तात,[3] वणिग्वृन्दारकदारि[4] कोद्गीयमानमङ्गला कृत्त्रि[5]मपुत्रकवरव्याजेनात्मपरिणयनाचरणपरिणामपेशला पञ्जरास्थितशुकसारिकावदनवाद्यसुन्दरे वा[6]सावासपरिसरे समास्ते'। 'समाहूयतामितः'। 'यथादिशति तातः'। प्रियदत्तश्रेष्ठी वृद्धभावात्परिहासालापनपरमेष्ठी समागतां सुतामवलोक्य 'पुत्रि, निसर्गविलासरसोत्तरङ्गा[7]पाङ्गापहसितामृतसर[8]णिविषये सदैव पञ्चालि[9] काके[10]लिकिलहृद[11]ये स[12]प्रत्येव तव मन्मथपथा परिणयनमनोरथाः । तद्गृह्यतां तावत्समस्तव्रतैश्वर्यवर्यं ब्रह्मचर्यम् । अत्रैष ते साक्षी भगवानशेषश्रुतप्रकाशना[13]शायभूरिधर्मकीर्तिसूरिः । अनन्तमतिः—'तात, नितान्तं गृहीतवती । अस्मिन्न केवलमत्र मे भगवानेव साक्षी किं तु भवानम्बा च' । अन्यदा तु

> उद्भिन्ने स्तनकुड्मले स्फुटरसे हासे विलासालसे किंचित्कम्पित[14]कैतवाधरभरप्राये वचःप्रक्रमे ।
> कन्दर्पाभिनवास्त्रवृत्तिचतुरे नेत्राश्रिते विभ्रमे प्रादायेव च मध्य[15]गौरवगुणं वृद्धे नितम्बे सति ॥१६६॥

के लिए शीघ्र ऐसे 'सहस्रकूट' चैत्यालय के प्रति गमन करने का इच्छुक हुआ, जिसने गगनतल को स्पर्श करनेवाले शिखरो के अग्रभाग पर सयोजित ध्वजाओ के विस्तृत वस्त्र के प्रान्तभागो के समूह से देवताओ की विमानश्रेणी स्खलित (रोकी हुई) की है, अतः उसने अपनी पुत्री की सखी अनङ्गमति से पूछा—'नवीन विवाह के आभूषणो से सुन्दर हाथोवाली पुत्री ! लाञ्छन-रहित चन्द्रमरी खे मुखवाली तुम्हारी विशेष प्यारी सखी और क्रीडाशील स्वभाववाली पुत्री 'अनन्तमति' कहाँ है ?,

अनङ्गमती—'पिताजी ! जिसका मङ्गल श्रेष्ठ वैश्यो की कन्याजनो द्वारा गान किया गया है और जो गुड्डेरूप वर के विवाह के बहाने से अपने विवाह करने के अभिप्राय से मनोज्ञ है, ऐसी वह अनन्तमति पिजरे मे बैठी हुई तोता-मेना के मुखरूपी बाजे से मनोज्ञ निवासगृह के प्राङ्गण मे बैठी हुई है।'

'उसे यहाँ लाओ।'

'पिताजी जैसी आज्ञा देते है।'

प्रियदत्त सेठ ने, जो कि वृद्ध हो जाने से परिहास-युक्त वार्तालाप करने मे विशेष निपुण था, समीप मे आई हुई कन्या को देखकर कहा—'पुत्री ! सदैव गुड्डी से खेलने के लिए पट्टतावाले और स्वाभाविक विलासरस से उच्छलन करनेवाले नेत्रप्रान्तो से अमृत की छोटी नदी को तिरस्कृत करनेवाले तेरे हृदय मे अभी से कामदेव के मार्गरूप विवाह के मनोरथ उत्पन्न हो चुके है, अत समस्त व्रतो मे श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करो। पुत्री ! इस विषय मे समस्त आगम के प्रकाशन के अभिप्रायरूपी सुवर्णवाले ये भगवान् धर्म कीर्ति सूरि तुम्हारे साक्षी है।'

अनन्तमति—'पिताजी ! मैने सर्वथा ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया और इसमे केवल आचार्य ही साक्षी नही है किन्तु आप और माता जी भी साक्षी है।'

अनन्तमति की युवावस्था—उसकी कुचकलियाँ विकसित हो गई। उसका हास्य, विलास से सुन्दर

---

१ सखी। २ निर्लाञ्छनचन्द्रवत्। ३ हे मुख्य। ४ कन्याजन। ५ ढीगला। ६ निवासगृहप्राङ्गणे। ७ नेत्रप्रान्ते। ८ कुल्या। ९ पुत्तलिका। १० क्रीडाया। ११ पटुहृदये, पुत्तलिकाक्रीडाया पटुहृदये। १२ इदानीमपि। १३ आशय एव सुवर्णं विद्यते यस्य स। भूरि प्राज्ये सुवर्णे चेति विश्व। १४ कम्पितमिषेण। १५ गौरवगुण नितम्बेन गृहीत तेन मध्य क्षाम जात।

समायाते[1] मुहुरुत्पथप्रथमानमन्मथो[2]न्माथमन्थरसमस्तसत्त्वस्वान्ते सद्य प्र[3]सूतसहकाराङ्कुरकवलकषायकण्ठ-कोकिलकामिनीकुहारावासरालितमनोजविजये मलय चलमेखलानिलीनकिन्नरमिथुनमोह[4]नामोदमेदुरपरिसरत्सगीरसमुदये विकसत्कोश[5]कुरबक[6]प्रसवपरिमलपानलुब्धमधुकरीनिकरझङ्कारसारप्रसरे वसन्तसमयावसरे सा प्रसरत्स्मरविकारा स्मर-स्खलन्मतिगतिरनन्तमति सह[7]सहचरीसमूहेन मदनोत्सवदिवसे दोलान्दोलनलालसमानसा स्वकीयरूपातिशयसपत्तिर-स्कृतसकलभुवनाङ्गनाङ्गविलासा सुकेशीप्रियतमानुगतेन कृ[8] तकामचारप्रचारचेतसा पूर्वापराकू[9] पारपालि[10]न्दीसुन्दरी-सनाथोत्स[11]ङ्गधरस्य विजयार्धावनीधरस्य विद्याधरीविनोदपादपोत्पादक्षोण्या दक्षिणश्रेण्या किन्नरगीतनामनगरनरेन्द्रेण कुण्डलमण्डितनाम्नाम्बरचरेण निचायिता[12]

शृङ्गारसारममृतद्युतिमिन्दुकान्तिमिन्दीवरद्युतिमनङ्गशराश्च सर्वान् ।
आदाय नूनमियमात्मभुवा[13] प्रयत्नात्सृष्टा जगत्त्रयवशीकरणाय बाला ॥१६७॥

और प्रीति-जनक था। जब वह वचन बोलने का आरम्भ करती थी तो उसके ओष्ठपल्लवो मे कुछ कम्पन के बहाने से विशेष मनोज्ञता पाई जाती थी। उसके नेत्रो के कटाक्षो के सचार कामदेव के नवीन अस्त्रो के सचा-लन मे चतुर थे। उसका नितम्बभाग, मध्यभाग (कमर) की गुरुता को लेकर ही मानो—वृद्धिगत हो गया था और इसीलिए मानो—उसका मध्यभाग (कमर) कृश हो गया था ॥ १६६ ॥

जब ऐसा वसन्त ऋतु का अवसर आया, जिसमे समस्त प्राणियो के मन बारम्बार उन्मार्ग मे बढी हुई कामदेव की पीडा से चचल हो रहे थे। जिसमे नवीन उत्पन्न हुई आम्र-मञ्जरियो के भक्षण से कषायले कण्ठ-वाली कोकिलाओ के मधुर कूजन से कामदेव की विजय प्रसारित की गई है। जिसमे ऐसी उन्नतिशील वायु का सचार होरहा है, जो कि मलयाचल के तट मे प्रविष्ट हुए किन्नर देव-देवियो के जोडो की सुरत-क्रीडा से उत्पन्न हुई सुगन्धि से परिपूर्ण है और जिसमे ऐसी भौरियो के समूह की झङ्कार ध्वनि का उत्तम प्रसरण हो रहा है, जो कि विकसित कलियोवाले कुर वक-पुष्पो की सुगन्धि के रसपान मे लुब्ध (लम्पट) है।

तब ऐसी अनन्तमति एक बार मदनोत्सव के दिन सखियो के समूह के साथ झूला झूलने के लिए उत्कण्ठित मनवाली होकर उपवन (बगीचा) मे गई, जिसमे कामदेव का विकार उत्पन्न हो रहा है और जिसकी बुद्धि की गति कामदेव से स्खलित हुई है एव जिसने अपनी विशेष लावण्य सम्पत्ति से समस्त लोक की स्त्रियो के शारीरिक अङ्ग-विलास को तिरस्कृत किया है।

उसी अवसर पर उसे ऐसे कुण्डल मण्डित नाम के विद्याधर ने देखा और उसे चाहने लगा, जिसने यथेष्ट सचार मे चित्त लगाया था और जो सुकेशी नाम की पत्नी के साथ आया था एव जो,पूर्व-पश्चिम समुद्र-की वीची (तरङ्ग) रूपी कमनीय कामिनीवाली तटी के धारक विजयार्ध पर्वत की विद्याधरियो के विनोदरूपी वृक्ष की उत्पत्ति भूमिवाली दक्षिण श्रेणी मे स्थित हुए 'किन्नरगीत' नाम के नगर का स्वामी था।

इसके पश्चात् वह इसके रूप लावण्य से मोहित होकर निम्न प्रकार विचार करने लगा—

'ऐसा मालूम पडता है—मानो—ब्रह्मा ने तीन लोक को वश मे करने के लिए शृङ्गार का सार, अमृत की तरलता, चन्द्र की कान्ति, नील कमल की शोभा और कामदेव के समस्त बाण ग्रहण करके ही इस बाला की सृष्टि (रचना) स्वय विशेष प्रयत्न से की है' ॥ १६७ ॥

---

१ वसन्ते। २ पीडन। ३ उत्पन्न। ४ सुरत। ५ मध्य। ६ मोगरसदृश-रक्तसुगन्धपुष्पविशेष। ७ सखी। ८ कृतस्वेच्छाचारगमनचित्तेन। ९ समुद्र। १०-११ वीची। वेला एव स्त्री-सहिततटी। १२ दृष्टा। १३ ब्रह्मणा।

इति विचिन्त्याभिलषिता च। ततस्तामपजिहीर्षुधिषणन[1] मुहुर्निवृत्य[2] निर्वर्तितनिजनिलयसुकेशीनिवेशेन प्रत्यागत्यापहृत्य च पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता गगनमार्गार्द्धे—प्रतिनिवृत्तकुपितसुकेशीदर्शनाशङ्कितागयेन तत्कायसङ्क्रमिताव लोकिनीपर्णलघुविद्याद्वयेन शङ्खपुराभ्यर्णभागिनि भीमवननामनि कानने मुक्ता। तत्र च मृगयाप्रशस[3]नमागतेन भीमनाम्ना किरातराजलक्ष्मीसीम्नावलोकिता, नीता चोपान्तप्रकीर्णेङ्गुदी[4] फलच्छल्लि पल्लिम्[5]। एतद्रूपदर्शनदीप्तमदनमदेन च तेन स्वत परतश्च तैस्तैरुपायैरात्मसभोगसहायैः प्रार्थिताप्यसजातकामिता हठात्कृतकठोरकामोपक्रमेण तत्परिगृहीतव्रतस्थैर्याश्चर्यितकान्तारदेवताप्रातिहार्यात्प[6]र्याप्तपक्वणप्लोषेण मृत्युहेतुकातङ्कपावकपच्यमानशरीरेण च 'मात, क्षमस्वैकमिममपराधम्' इत्यभिधाय वनेचरोपचारोपचीयमानसहचरीचित्तोत्कण्ठे शङ्खपुरपर्यन्तपर्वतोपकण्ठे परिहृता तत्समीपसमावासितसार्थानीकेन पुष्पकनामकेन वणिक्पतिपाकेना[7]वलोकिता सती स्वीकृता च तेन,[8] तेन चार्थेन स्वस्य वशमानेतुमसमर्थेन कोशलदेशमध्यायामयोध्यायां पुरि व्यालिकाभिधानकामपल्लवकन्दल्या शफलया[9] समर्पिता। तयापि मदनमदसपादनावसथाभि कथाभि क्षोभयितुमशक्या तद्रा[10]जधानीवि[11]निवेशस्य सिंहमहीशस्योपायनीकृता[12]।

इसके पश्चात् उसकी बुद्धि इसे अपहरण करने की इच्छुक हुई। पश्चात् वह अपने गृह की ओर लौटा और अपनी पत्नी सुकेशी को अपने गृह मे ठहराकर वापिस उसी उद्यान मे आकर अनन्तमति को अपहरण करके अपने विद्याधर नगर की ओर चल दिया परन्तु जब इसने आधे आकाशमार्ग से वापिस लौटी हुई और कुपित हुई अपनी पत्नी सुकेशी को देखा तो इसका हृदय भयभीत हुआ। अत इसने अनन्तमति के शरीर मे 'अवलोकिनी' और 'पर्णलघु' नामकी दो विद्याएँ सक्रमण कराई। पश्चात् उन दोनो विद्याओ ने अनन्तमति को शङ्खपुर के निकटवर्ती 'भीमवन' नामके वन मे छोड दिया।

वहाँ पर शिकार-क्रीडा के लिए आये हुए भीलो की राज्यलक्ष्मी के मर्यादाभूत भिल्लराज भीम ने उसे देखा और वह उसे इङ्गुदी फलो की लताओवाली भीलो की स्थानीभूत पर्णकुटी (झोपडी) मे ले गया। इसके रूप लावण्य को देखकर भिल्लराज का काममद प्रदीप्त हो गया, अत उसने स्वय व दूसरो की सहायता की अपेक्षावाले व अपने भोग मे सहायता देनेवाले अनेक उपायो से अनन्तमति से प्रार्थना की, किन्तु उसमे कामवासना उत्पन्न नही हुई। अत उसने इससे बलात्कारपूर्वक कठोर कामरूपी रोग का इलाज किया, परन्तु इसके द्वारा धारण किये हुए ब्रह्मचर्य व्रत की निश्चलता से आश्चर्य-चकित हुई वनदेवता के माहात्म्य से भिल्लराज की पूरी झोपडी अग्नि से दग्ध कर दी गई, अत जब भिल्लराज भीम का शरीर मृत्यु-जनक भयरूपी अग्नि से जलने लगा तो उसने कहा—'माता! मेरे इस एक अपराध को क्षमा करो।' बाद मे उसने इसे शङ्खपुर के निकटवर्ती पर्वत के समीपवर्ती स्थान पर छोड दी, जो कि भीलो द्वारा की जानेवाली सेवा-शुश्रूषा से उनकी भिल्लनियो के चित्त की उत्कण्ठा वृद्धिगत करनेवाला है।

बाद मे अनन्तमति को वणिक् पति के पुत्र 'पुष्पक' ने देखा, जिसके द्वारा उक्त पर्वत के निकट व्यापारियो की समूहरूपी सेना बसाई गई है, परन्तु वह धनादि देकर उसे वश करने मे असमर्थ रहा तब उसने उसे कौशल देश की मध्यवर्ती अयोध्या नाम की नगरी मे रहनेवाली कामरूपी पल्लव की कन्दली-सरीखी 'व्यालिका' नामकी वेश्या के लिए समर्पण कर दी। जब वह वेश्या भी काम के दर्प को उत्पन्न करने की स्थानीभूत कथाओ से उसे ब्रह्मचर्य से डिगाने मे असमर्थ हुई तब उसने इसे उस देश की राजधानी मे निवास करने-

१ अपहर्तुमिच्छुमतिना। २ व्याघुटय। ३ क्रीडा प्रति। ४ हिंगोरक। ५ भिल्लालयपर्णकुटी। ६ परिपूर्णपल्लिदाहेन। ७ पुत्रेण। ८ वणिक्पुत्रेण। ९ कुट्टिन्या। १०-११, तद्राजधान्या विनिवेशो निवेश स्थान यस्य स तस्य। १२ प्राभृतीकृता।

तेनाप्यलब्धतन्मनःप्रवेशेन विलक्षिताक्षिप्तदुरभिसंधिना[1] तत्कन्यापुण्यप्रभावप्रेरितपुरदेवतापादितान्तःपुरपुरीपरिजनापकारविधिना साधु संबोध्य नियमसमाहितहृदयचेष्टा *विसृष्टा पितृस्वसुः सुदेवीनामधेयायाः पत्युः पितुश्चार्हद्दत्तस्य सुगृहीतनामवृत्तस्य[2] जिनेन्द्रदत्तस्योदवसितसमीपवर्तिनं [3]विरतिचैत्यालयमवाप्य तत्र निवसन्ती यमनियमोपवासपूर्वकैर्विधिभिः क्षपितेन्द्रियमनोवृत्तिर्भवन्ती[4] तस्मादङ्गदेशनगराज्जिनेन्द्रदत्तं चिरविरहोत्तालं श्यालं[5] विलोकितुमागतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना वीक्ष्य विषयाभिलाषमोषपरुषकचा सा विहितबहुशुचा पुनः प्रत्याप्य तस्मै जिनेन्द्रदत्तसुतायार्हद्दत्ताय दातुमुपक्रान्ता—'तात, तं भदन्तं भगवन्तं भवन्तं पितरं मातरं च तां प्रमाणीकृत्य कृतनिरवधिचतुर्थ[6] व्रतपरिग्रहा। ततः कथमहमिदानीं विवाहविधये परिकल्पनीया' इति निगीर्य कमलश्रीसकाशे विरतिविशेषवशरत्नत्रयकोशमभजत्।

हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता। कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥१६८॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षितत्त्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः।

वाले 'सिंह' नाम के राजा के लिए भेंट कर दी। परन्तु जब राजा सिंह भी अनन्तमति के हृदय में स्थान न पा सका तब उसने इसके साथ दुष्ट अभिप्राय का ग्रहण किया (बलात्कार करना चाहा) तब उस कन्या के पुण्य के प्रभाव से प्रेरित हुए नगर देवता ने उस राजा के अन्तःपुर की रानियों व नगरवासियों तथा राजसेवकों को नाना प्रकार के कष्ट देकर भले प्रकार उसकी रक्षा की तब राजा ने अनन्तमति को ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थिर चित्तवाली समझकर छोड़ दिया।

इसके पश्चात् वहाँ से प्रस्थान करके वह अपने पिता की बहिन 'सुदेवी' नामवाली के पति और 'अर्हद्दत्त' के पिता सार्थक नामवाले जिनेन्द्रदत्त के गृह के समीप में स्थित आर्यिकाओं के निवासवाले चैत्यालय में प्राप्त हुई। वहाँ निवास करती हुई उसने यम, नियम व उपवासपूर्वक विधानों से अपनी इन्द्रियवृत्ति व मनोवृत्ति की चंचलता क्षीण की। एक दिन अङ्गदेश की 'चम्पा' नगरी से चिरकालीन विरह से व्याकुलित हुए अपने साले जिनेन्द्रदत्त सेठ को देखने के लिए आये हुए इसके पिता 'प्रियदत्त' सेठ ने विषयों की लालसा के त्याग से रूक्ष केशोंवाली अपनी पुत्री अनन्तमति को देखकर विशेष शोक किया। इसके बाद आकर जब उन्होंने अपनी पुत्री अनन्तमति का विवाह जिनेन्द्रदत्त सेठ के पुत्र अर्हद्दत्त कुमार के साथ करने का आरम्भ किया तब पुत्री अनन्तमति ने कहा—'पिताजी! जब मैंने पूज्य आचार्य (धर्मकीर्ति) और माता-पिताकी साक्षीपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा आजन्म ग्रहण की है तब आप इस समय मेरा विवाह-संस्कार कैसे कर सकते हैं?'

ऐसा कहकर उसने कमलश्री नाम की आर्यिका के समीप जाकर विशेष आर्यिकाओं के वंश (कुल व पक्षान्तर में बाँस) की, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप तीन रत्न) रूपी निधि प्राप्त की अर्थात्—आर्यिका की दीक्षा धारण की।

इसके विषय में एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

अनन्तमति ने, अपने पिता के हास्यजनक वचनों से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। पुनः विषयों की इच्छा का त्याग करती हुई उसने तप करके आयु के अन्त में बारहवें स्वर्ग में प्रविष्ट हुई। अर्थात्—स्त्रीलिङ्ग-छेदकर बारहवें स्वर्ग में देव हुई॥ १६८॥

इस प्रकार सोमदेव सूरि के उपासकाध्ययन में निःकाङ्क्षित-तत्त्व को बतलानेवाला आठवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१. गृहीतदुष्टाभिप्रायेण। * समर्पिता। २. यथार्थनाम्नः। ३. आर्यिका। ४. संजायमाना। ५. मैथुनकं। ६. ब्रह्मचर्यं।

तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदं [1]सवादमन्दिरम् । अदोपवादि[2] चेत्येव चेत स्याद्विचिकित्सता[3] ॥१६९॥
स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्त श्रुताश्रयम् । [4]शीलमाश्रयितु जन्तुस्तद[5]र्थं वा निबोधितुम् ॥१७०॥
स्वत शुद्धमपि व्योम वीक्ष्यते यन्मलीमसम् । नासौ दोषोऽस्य[6] किं तु स्यात्स दोषश्चक्षु[7]राश्रय ॥१७१॥
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते । स लोहे कालिकालोकान्नून मुञ्चति काञ्चनम् ॥१७२॥
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिश्छायामनोहर । अन्तर्विचार्यमाण स्यादौदुम्बरफलोपम ॥१७३॥
तदैतिह्ये[8] च देहे च याथात्म्यं पश्यता सताम् । उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्ति प्रवर्तताम् ॥१७४॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतावधिबोधमार्गत्रयप्रवृत्तमतिमन्दाकिनीसान्द्र सौधर्मेन्द्र किल सकलसुरसेवा-सभावसरसमये सम्यक्त्वरत्नगुणान्गीर्वाणगणानुग्रहायोदाहरन्निदानीमिन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यपरनामावसरस्य

[अब निर्विचिकित्सा अङ्ग का निरूपण करते है—]

'जैन तीर्थङ्करो द्वारा कहा हुआ यह उग्र तप सत्यता का मन्दिर न होने से प्रशसनीय नही है एव यह तपरूपी वस्तु सदोष है' इस प्रकार के मानसिक अभिप्राय को विचिकित्सा-ग्लानि कहते है ॥ १६९ ॥ जो विवेक-हीन मानव शास्त्र-निरूपित शील (सदाचार या व्रतो का परिरक्षणरूप आचार) के पालन मे या उसका अभिप्राय समझने मे असमर्थ है, इसमे निश्चय से उसी मानव का दोष समझना चाहिए न कि शास्त्र का ॥ १७० ॥ क्योकि स्वत शुद्ध आकाश भी जो मलिन देखा जाता है, इसमे आकाश का कोई दोष नही है किन्तु देखनेवाले के नेत्रो का ही दोष (काच-कामलादि) है ॥ १७१ ॥

जो मानव धार्मिक महापुरुषो की शारीरिक मलिनता देखकर उनकी रत्नत्रय-(सम्यग्दर्शन-आदि) धारक आत्मा से घृणा करता है, वह निश्चय से लोहे का कालापन देखकर सुवर्ण को छोड देता है। भावार्थ—जैसे लोहे के कालापन का सुवर्ण से कोई सबध नही वैसे ही शरीर की मलिनता का आत्मा से कोई सबध नही है, अत धार्मिक मुनियो के शरीर की मलिनता देखकर उनकी आत्मा से घृणा नही करनी चाहिए ॥१७२॥ निस्सन्देह अपना या दूसरो का शरीर बाहरी चमडे की कान्ति से मनोज्ञ प्रतीत होता है परन्तु इसकी भीतरी हालत (रक्त-आदि) का विचार करने पर तो यह उदम्बर फलो-सरीखा है ॥ १७३ ॥ अत आप्तोपदेश रूप आगम को प्रमाण मानते हुए और उसके आधार से शरीर का यथार्थ स्वरूप निश्चय करनेवाले सज्जन पुरुषो की मनोवृत्ति धार्मिक पुरुषो की शारीरिक मलिनता देखकर उनसे ग्लानि करनेवाली कैसे हो सकती है ? भावार्थ—आचार्यो ने कहा है कि यह शरीर रस-रक्त-आदि सात धातुमय होने से मलिन है, परन्तु उसमे सम्यग्दर्शन-आदि रत्नत्रय की धारक आत्मा रहती है, अत मुनि-आदि महापुरुषो के शरीर से ग्लानि न करते हुए उनके आत्मिक गुणो मे अनुराग करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है ॥ १७४ ॥

निर्विचिकित्सा अङ्ग मे प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कथा—इस सबध मे एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—

मति, श्रुत व अवधिज्ञानरूपी तीन मार्गो से प्रवृत्त हुई बुद्धिरूपी मन्दाकिनी—गङ्गा-से कोमल हुए सौधर्मेन्द्र ने समस्त देवो द्वारा सेवनीय सभा मे प्रसङ्ग के समय देव-समूह का अनुग्रह करने के लिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न के गुणो का निरूपण करते हुए कहा—'इस समय 'इन्द्रकच्छ' नाम के देश मे 'रोरुकपुर' नामका नगर है, जिसका दूसरा नाम मायापुरी भी है। उसमे 'प्रभावती पट्टरानी के विनोद का स्थान 'उद्दायन' नामका

---

१ इद किंचित् श्लाघ्य न । २ सदोष अद एतद् वस्तु । ३ 'विचिकित्सना' मु० व ह० लि० 'ख' । ४ अन्वय — यत् श्रुताश्रय शीलमाश्रयितु तदर्थं वा निबोधितु-जन्तु न शक्त स स्वस्यैव हि दोष । ५ शीलार्थं आचरणप्रयोजन ज्ञातुमसमर्थो वा । ६ नभस: । ७ नेत्रस्य सबधी । ८ शास्त्रेऽनादिसिद्धान्ते ।

रौरुकपुरस्य प्रभो प्रभावतीमहादेवीविनोदायतनादौद्दायना-न्मेदिनीपते सद्दर्शनशरीरगदचिकित्सायामपर कोऽपि क्षान्तिमतिप्रसरो मोक्षलक्ष्मीकटाक्षावेक्षणा❀क्षुण्णपात्रे मर्त्यक्षेत्रे ना❀स्तीत्येतच्च वासवसज्ञशस्त्रिदश पुरदरोदितासहमानप्रज्ञस्तत्र महामुनिसमूह[1] प्रचारप्रचुरे नगरेऽवतीर्य सर्वाङ्गा[2]धिनाप्रतिष्ठ[3]कुष्ठकोष्ठक[4]निष्ठचूत[5]द्रवोद्रेकोपद्रुतदेहमखिलदेहिसदोहोद्वेजन श्रवणेक्षणघ्राण[6]गरणविनिर्गलदनर्गल[7]दुर्गन्धपूयप्रवाहमूर्धस्फुटितस्फोट[8]स्फुटचेष्टितानिष्टमक्षिकाक्षिप्ताशेषशरीरमभ्यन्तरोच्छ्व[9]यथुकोथो[10] त्तरङ्गत्वगन्तरालप्रलीनाखिलनखना[11] सीरमविच्छिन्नोन्मू[12] छदतुच्छकच्छू[13]च्छन्न[14]सृक्क[15]सारि[16]णीसर[17]न्सततलालास्रावमनवरतस्रोत [18]सृतातीसारसभूत[19]बीभत्सभावमनेकश्रशोविशि[20]खाशिखोत्पात[21]निपाताश्रिता[22]शुचिराशिदुर्दर्शवपुषमृषिवेषमादायादनाया[23]वनीपतिभवनमभजत्। भूपतिरपि सप्ततलारब्धसौधमध्यमध्यासीनस्तमसाध्यव्याधिविधुरधिषणाधीन विष्वाणा[24]ध्ये[25]षणाय निजनिलयमा[26]लीयमानमवलोक्य सौत्सुक्यमागत्य

राजा है। उसके-सरीखा सम्यग्दर्शन रूपी शरीर के रोग का इलाज करने मे व ग्लानि न करने मे क्षमा रूपी बुद्धि का प्रसार करने वाला दूसरा कोई व्यक्ति मुक्ति रूपी लक्ष्मी के कटाक्षो के देखने के लिए परिपूर्ण पात्र-स्वरूप इस मनुष्य लोक मे नही है।

जब 'वासव' नाम के देव ने उक्त बात श्रवण की तब उसकी बुद्धि इन्द्र की बात सहन करने मे अशक्य हुई। इसलिए वह उसकी परीक्षा करने के- लिए महामुनि-समूह के बिहार की बहुलतावाले रोरुकपुर मे आया और उसने अपनी विक्रिया से ऐसा कोढी मुनि का रूप धारण किया, जिसमे उसके समस्त अङ्ग सर्वाङ्गीण व्याधि (रोग) से अशोभन कोढ के सग्रहागार थे। जिसका शरीर थूँके हुए कफ की बहुलता से पीडित था जिसे देखकर समस्त प्राणी-समूह को ग्लानि उत्पन्न होती थी। जिसमे उसके श्रोत्र, नेत्र, नासिका व गले के छिद्रो से निरन्तर दुर्गन्धि पीप-प्रवाह प्रवाहित हो रहा था—बह रहा था। जिसके समस्त शरीर पर वडे वडे पके हुए फोडे प्रकट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे थे एव उनके पकने-फूटने-आदि के कारण समस्त शरीर पर अनिष्ट मक्खियाँ भिनभिना रही थी। जिसके समस्त नख व नासिका [कुष्ठ रोग के कारण गल जाने से] से] भीतरी सूजनवाले व विशेष पीडा-जनक त्वचा के मध्यभाग मे विशेष रूप से प्रविष्ट हो गए थे—घुस गये थे। जिसके निरन्तर उठने वाली तीक्ष्ण खुजली से व्याप्त हुए ओष्ठो के पर्यन्त भाग रूपी नदी से निरन्तर राल टपकती थी। जिसमे निरन्तर मल-द्वार से निकली हुई आँव व मल से घृणा उत्पन्न होती थी और नगर की गलियो के अग्रभाग पर ऊपर नीचे गिरने से निकली हुई गूथ- (विष्ठा) श्रेणी के कारण जिसका शरीर दु ख से भी देखने के लिए अशक्य था।

पुन वह भोजन करने के लिए राज-भवन मे गया। अपने सतमँजिले राजभवन मे बैठे हुए राजा ने जैसे ही असाध्य रोग से पीडित बुद्धि के अधीन हुए और आहार ग्रहण करने के लिए राजभवन की ओर आते हुए उस साधु को देखा तो वह वडी उत्कण्ठा के साथ आया और उसे पड गाहा। पश्चात्-निर्भीक मन व चरित्रवाला राजा कृत्रिम (बनावटी) रोग रूपी अग्नि से पराधीन चित्तवाले और वार-वार पृथिवीतल पर गिरते हुए एव अत्यन्त असाध्य खुजली की उत्पत्ति से जर्जरित शरीरवाले उस मुनि वेषधारी

❀ अक्षूण मु० व ख। परिपूर्ण। ❀ उद्दायननृपादन्य। १ गमनव्यापारवति। २ व्याधिना-रोगेण। ३ अशोभित। ४ ईदृगृषिवेष। ५ निष्ठीवन। ६ गरणो गल। ७ अनवरत। ८ फोडा। ९ सोजू शोथ। १० कोथस्तु नेत्ररुग्भेदे मथने शटितेऽपि च। ११ नासिका। १२ उत्पद्यमान। १३ पामा। १४ आच्छादित। १५-१६ ओष्ठपर्यन्त एव सारिणी नदी। १७ स्रवत्। १८ मलद्वारस्रवत्। १९ उत्पन्न। ★ बहुवार। २० वीथी। २१ उत्पातनिपाता उत्पतननिपतनक्रिया। २२ गूथश्रेणि। २३ आहारार्थं। २४ विष्वाण भोजन। २५ अध्येषणमर्थिता, आहार-अर्थितायै-ग्रहणाय। २६ आगच्छन्त।

वीकृत्य च कृत्रिमात[1] ङ्कपावकपरवशास्वनि[2] त मुहुर्मुहुर्महीतले निपतन्तमनुद्विग्नमन[3] श्चरित्र प्रकामदुर्जयखर्जना[4] र्जनजर्जरितगात्र काश्मीरपङ्कपिञ्जरेण भुजपञ्जरेणो[5]दानीयानीय चा[6]शनवेश्मोदर स्वयमेव समाचरितोचितोपकारस्तदभिलाषोन्मेषसारैराहारैरुपशान्ताशना[7]योत्कण्ठमाकण्ठ भोजयामास ।

मायामुनि पुनरपि तन्मनोजिज्ञा[8]समानमानस प्रसभमतिगम्भीरगलगुहाकुह[9]रोज्जि[10] हानघोरघोषातिघातघन[11]घूर्णितापघन[12]मप्रतिघ[13]चावमीत् । भूमिपतिरपि 'आ, कष्टमजनिष्ट, यन्मे मन्दभाग्यस्य गृहे गृहीताहारोपयोगस्यास्य मुनेमन खेदपादपवि[14]तर्दिच्छर्दि समभूत्' इत्युप[15]कृष्टानिष्टचेष्टितवर्त्मानमात्मान विनिन्दन्मायामयमक्षिकामण्डलितकपोलरेखादेतन्मुखादसरालललाक्लिन्नमन्नमिन्दि[16]रारविन्दोदरसौन्दर्यनिकटेनाञ्जलिपुटेनादायादाय मेदिन्यामुदसृजत्[17] । पुनश्चोद्गीर्णोदीर्णदुर्वर्णकू[18]रनिकरे भ्रमिम्र[19]मनिभरारम्भपतितशरीर सप्रयत्नकर[20]स्थामसीम समुत्थाप्य जलजनितक्षालनप्रसङ्गमुत्तरीयदुकूलाञ्चलविलुप्तसलिलसङ्गमङ्गसवाहनेनानुकम्पनविधानोचितवचनरचनेन च साधु समाश्वासयत् । तदनु[21] प्रमोदामृतामन्दहृदयालवालवलयोल्लसत्प्रीतिलतावनि सुरचरोमुनिर्यथैवाय सद्दर्शनश्रवणोत्कण्ठितहृदि त्रिदिवो[22]त्पादि परिषदि परगुणग्रहणाग्रहनिधानेन विबुधप्रधानेन प्राज्यराज्यस[23]मज्यार्जनसर्जितजगत्त्रयीनिजनामधेयप्रसिद्धि-

को तरलकेसर-सरीखे सुनहले भुजा रूप पञ्जर से उठाकर भोजनशाला के मध्य लाया और स्वय उसका उचित उपचार करने लगा एव उसकी इच्छा की उत्पत्ति से मनोज्ञ आहारो से कण्ठ तक ऐसा भोजन कराया, जिसमे उसकी भोजन की इच्छा शान्त हो गई।

पश्चात् राजा का मानसिक अभिप्राय जानने के इच्छुक मनवाले उस मायावी—बनावटी मुनि ने ऐसा विशेष वमन (उल्टी) किया, जिसमे अत्यन्त गभीर गलेरूपी गुफा के छिद्र से बाहिर आ रहे भयानक शब्दो के परस्पर ताडन की अधिकता से उसका शरीर कम्पित हो रहा था और जो निर्विघ्न (वाधा-रहित) था। उक्त घटना को देखकर राजा ने कहा—'आ ! मुझे महान् कष्ट उत्पन्न हुआ, क्योकि भाग्यहीन मेरे गृह मे आहार ग्रहण करनेवाले इस मुनि को मेरे मानसिक खेदरूपी वृक्ष को बढाने के लिए वेदिका-सरीखी उल्टी हुई।' इस प्रकार निन्दनीय व अनिष्ट चेष्टा के मार्गरूप अपनी आत्मा की निन्दा करता हुआ वह राजा मायामयी मक्खियो के झुड से को हुई गालो की रेखा वाले इस मुनि के मुख से निकला हुआ व निरन्तर वहने वाली लार से सना हुआ अन्न अपने हाथो की दोनो अजुलियो से, जो कि लक्ष्मी वाले कमल के मध्य मे रहने वाले सौन्दर्य-सरीखी है, बार बार उठा उठाकर भूमि पर फैंकने लगा। पश्चात् वमन किये हुए व प्रकट हुए दुर्गन्धित ओदन-समूह पर मायामयी—बनावटी मूर्च्छा के विशेष आरम्भ के कारण गिरे हुए शरीर वाले साधु को प्रयत्न-सहित हाथो के वल की सीमापूर्वक उठाया। पुन उसने उसे जल से धोने का प्रसङ्ग (सबध) किया और दुपट्टे के कोने से सूखा कर दिया। पुन पगचम्पी द्वारा और दयालुता के विधान वाले योग्य वचन बोलकर उसने उसे अच्छी तरह आश्वासन दिया।

पुन राजा की वैयावृत्य देखकर मुनिवेषधारी उस देव के प्रमोदरूपी अमृत से परिपूर्ण हृदयरूपी क्यारी-समूह मे प्रीतिरूपी लता स्थान पाकर लहलहाने लगी। फिर उसने विचार किया—'सम्यग्दर्शन के श्रवण मे उत्कण्ठित हृदयवाली देवो की सभा मे दूसरो के गुणो को ग्रहण करने के आग्रह की निधिरूप इन्द्र ने बहुत

१ रोग। २ आस्वनित मन । ३ चित्त। ४ उत्पत्ति । ५ उद्धृत्य। ६ रसवतीगृह-मध्य। ७ उपशान्ता अशनाय उत्कण्ठा यस्य। ८ ज्ञातुमिच्छन्। ९ विवरात्। १० उद्गच्छन्त ये घोरा शब्दा तेषा परस्परताडन। ११ बहुल। १२ शरीर। १३ निर्विघ्न वान्त (उल्टी)। १४ वेदिका। १५ निन्दनीय चेष्टा। उपकृष्ट सुप्त। १६ श्री। १७ परित्यक्तवान्। १८ ओदनसमूह। १९ भ्रमि धूर्तत्व, मायाभ्रमता। २० स्थाम वल। २१ तत पश्चात्। २२ देव २३ कीर्ति।

यंथोक्तसम्यक्त्वाधि[1]गमावधेय[2]बुद्धिरुप[3] वर्णितस्तथैवाय मया महाभागो निव[4]र्णित इति विचिन्त्य प्रकटितात्मरूप-प्रसरस्तमवनीश्वरममरतरुप्रसूनवर्षानन्ददुन्दुभीनादोपघातशुचिभि[5] साधुकारपर[6]व्याहारावसरशुचिभिरुदारैरुपचारैर[7]-निमिषविषय[8]सभूष्णुभिमनोभिलषितसपादनजिष्णुभिस्तैस्तै पठित[9]मात्रविधे[10]यविद्योपदेशगर्भैर्वस्त्रसदर्भैश्च सभाव्य सुरसेव्य देशमाविवेश ।

भवति चात्र श्लोक —

बालवृद्धगदग्लानान्मुनीनौद्दायन स्वयम् । भजन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुति प्रापत्पुरदरात् ॥१७५॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवम कल्प ।

अन्तर्दु र[11]न्तसचार बहिराकारसुन्दरम् । न श्रद्दध्यात् कुदृष्टीना मत किंपाक[12]सनिभम् ॥१७६॥

श्रु[13]तिशाक्य[14]शिवा[15]म्नाया क्षौद्रमासासवाश्रया । यदन्ते[16]मख[17]मोक्षाय विधिरत्रैतदन्वय ॥१७७॥

[18]र्भमिभ[19]स्मजटावोटयोगपट्टक[20]टासनम् । मेख[21]लाप्रो[22]क्षण मुद्रा[23] [24]वृसीदण्ड करण्डक ॥१७८॥

बड़े राज्य की कीर्ति की प्राप्ति से तीन लोक मे अपने नाम को ख्याति प्राप्त करने वाले व यथोक्त सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से धारणीय बुद्धिवाले इस राजा को जैसा श्लाघित—प्रशसा-युक्त किया था वैसा ही मैने इस महा-भाग्यशाली को प्रत्यक्ष देखा। ऐसा सोचकर उसने अपना असली रूप का प्रसार प्रकट कर दिया। एव उसने ऐसी महान् सेवा शुश्रूषाओ से राजा को विशेष सन्मानित किया, जो कि कल्पवृक्षो से होनेवाली पुष्प-वृष्टि व आनन्दभेदी की ध्वनि के आघात से पवित्र हैं, एव जो श्लाघित शब्दो की वेला से पवित्र है, और उसने उसे मन्त्र के पाठमात्र से स्वाधीन होनेवाली विद्याओ के उपदेश-सहित दिव्य वस्त्रो से सन्मानित किया। अर्थात्—उस देव ने उद्दायन राजा के लिए रोहिणी प्रज्ञप्ति-आदि विद्याएँ दी और दिव्य वस्त्र-समूह भी प्रदान किये। जो कि (विद्याएँ व वस्त्र) देवो के स्वर्ग मे उत्पन्न हुई है और उसकी मनोकामना पूर्ण करने वाली है। बाद मे वह स्वर्ग-लोकको प्रस्थान कर गया।

इस विषय मे एक श्लोक है—उसका अभिप्राय यह है—'बाल, वृद्ध और रोग-पीडित साधु पुरुषो की स्वय सेवा-शुश्रूषा करनेवाला और सम्यक्त्व के निर्विचिकित्सा अङ्ग को पालन करनेवाला राजा उद्दायन इन्द्र से प्रशसित हुआ ॥ १७५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे निर्विचिकित्सा अङ्ग मे उत्साह-वृद्धि करनेवाला नौवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब अमूढदृष्टि अङ्ग का निरूपण करते है—]

ऐसे मिथ्यादृष्टियो (बौद्ध-आदि) के मत मे श्रद्धा नही करनी चाहिए, जिसके मध्य मे दुष्ट अभिप्राय व निन्द्य आचार भरा हुआ है, किन्तु जो वाह्य रूप मे मनोज्ञ प्रतीत होता है और जो विषफल-सरीखा कष्टप्रद है ॥ १७६ ॥ वैदिकमत मधु-सेवन का विधान करनेवाला है और बौद्धमत मास-भक्षण का विधान करता है एव शैवमत मद्यपान को स्वीकार करता है। वैदिकमत और शैवमत मे यज्ञ (अश्वमेध-आदि) द्वारा मोक्ष-निमित्त विधि की जाती है, उसमे मधु व मास-आदि का प्रयोग है ॥ १७७ ॥ दूसरो को धोखा देनेवाला माया-

---

१. प्राप्ति । २ धारणीयबुद्धि । ३ श्लाघित । ४ दृष्ट । ५ पवित्रै । ६ शब्द । ७ देव । ८ उत्पादकै । ९-१० मत्रपाठमात्रेण स्वाधीनविद्योपदेशसहितै वस्त्रै, अर्थात्-वस्त्राणि दत्तानि, रोहिणी प्रज्ञप्तिप्रभृतिका विद्याश्च दत्ता । ११. अभिप्राय आचार । १२ महाकालफलसदृश । १३ वेदे क्षौद्रस्वीकार । १४ बौद्धमते मासाम्नाय । १५ शैवमते मद्य । १६ शैवमते । १७ मखेन यज्ञेन कृत्वा मोक्षनिमित्त विधि क्रियते । १८ र्भमि परवचनकर आडम्बर । १९. गोमयलेपन । २० तृणकटे उपवेशन । २१ कटीविषये पट्टबन्धनम् । २२ अम्भोक्षण । २३ हस्ते मुद्रिका डाभा वा वाहौ । २४ पाटली आषाढे व्रतिना दण्ड, पद्मक कुशासनम् ।

शौ[1]च मज्जनमाचाम[2] पितृपूजानलार्चनम् । अन्तस्तत्त्वविहीनाना प्रक्रियेय विराजते ॥१७९॥
को देव किमिद ज्ञान किं तत्त्व कस्तप क्रम । को बन्ध कश्च मोक्षो वा यत्तत्रेद न विद्यते ॥१८०॥
आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु । नाभिजात[3]फलप्राप्त्यै वि[4]जातिष्विव जायते ॥१८१॥
तत्सस्तव[5] प्रश*सा वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु । [6]ज्ञानविज्ञा[7]नयोस्तेषा विपश्चिन्न च विभ्रमेत् ॥१८२॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मुक्ताफलमञ्ज*रीविराजितविलासिनीकर्णकुण्डलेषु पाण्डयमण्डलेषु पौरपुण्याचारविदूरितदुरितविधुराया[8] *दक्षिणमथुरायामशेषश्रुतपारा[9]वारपारगमवधिबोधाम्बुधिमध्यसाधितसकलभुवनभागम्, [10]अष्टाङ्गमहानिमित्तसपत्तिसमधिकधिषणाधिकरणम्, अखिलश्रमणसघसिहोपास्यमानचरणम्, अत्याश्चर्यतपश्चरणगोचरा-

---

चार-पूर्ण आडम्बर, शरीर पर भस्म लपेटना, जटाजूट का धारण, वस्त्रविशेष का धारण, दर्भासन पर बैठना, दर्भ-सूत्र को कमर मे धारण करना, प्रोक्षण (भूमि-शुद्धि के लिए जल व दुग्ध-आदि का सिञ्चन करना), हस्त मे मुद्रिका-धारण या बाहु मे डाभ-धारण, कुश-आसन, दण्ड (पलाश-आदि-काष्ठविशेष), करण्डक (पुष्प रखने का पात्र), शारीरिक अङ्गो का जलादि से पवित्र करना, स्नान, आचमन, पितृ-पूजा (श्राद्ध द्वारा पितृतर्पण), अग्नि पूजा, ये क्रियाएँ आत्मतत्व से विमुख मानवो के लिए शोभायमान होती है, न कि तत्वज्ञानियो को ॥ १७८–१७९ ॥ आप्त कौन हो सकता है ? आत्मा व परमात्मा का बोध करानेवाला ज्ञान कौन है ? मोक्षोपयोगी तत्व कौन है ? या वस्तु स्वरूप क्या है ? अर्थात्-सर्वथा एकधर्मात्मक वस्तु है ? या अनेक धर्मात्मक वस्तु है ? वन्ध किसे कहते हैं ? और मोक्ष का क्या स्वरूप है ? इत्यादि विचार वहाँ नही है । अर्थात्-ये सब मोक्षोपयोगी सिद्धान्त वहाँ नही है । अभिप्राय यह है कि मिथ्यादृष्टियो के मत सर्वथा नित्य व सर्वथा अनित्य-आदि एकान्त वस्तु के प्रतिपादक है, इसलिए उनके यहाँ वन्ध व मोक्ष का सही स्वरूप सघटित नही होता ॥ १८० ॥

जिस सम्प्रदाय मे आप्त और आगम सदोष हैं, अर्थात्-यदि आप्त रागादि दोषो से दूषित है और आगम पूर्वापरविरोध-आदि दोषो से सहित है, तो उनमे विशुद्धि—प्रामाणिकता-सघटित नही हो सकती। उसके अनुयायियो का वाह्य क्रियाकाण्ड शुद्ध होने पर भी वैसा अभिलषित फल (मोक्ष) नही दे सकता, जैसे नीच जातियो मे कुलीन सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता नही होती ॥ १८१ ॥ इसलिए मिथ्यादृष्टियो (बौद्ध-आदि) की न वचन से स्तुति करनी चाहिए और न उनकी मन से प्रशसा करनी चाहिए एव उनका मन्त्रवाद-आदि सबधी ज्ञान व विज्ञान जानकर विद्वान् को भ्रम मे नही पडना चाहिए ॥ १८२ ॥

[अमूढदृष्टि अङ्ग मे प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा]

इस विषय मे एक कथा है, उसे सुनिए—

मोतियो की किरणो से सुशोभित हुए वेश्याओ के कर्णकुण्डलवाले पाण्डयदेश मे नागरिक मनुष्यो के पवित्र आचरण से पापरूपी राक्षसो से रहित 'दक्षिणमथुरा' नामकी नगरी है। वहाँ ऐसे पूज्य 'मुनिगुप्त' नामवाले आचार्य विराजमान थे। समस्त द्वादशाङ्ग श्रुतरूपी समुद्र के पारगामी जिन्होने अवधिज्ञानरूपी समुद्र के मध्य समस्त लोक का भाग प्रत्यक्ष करके दिखलाया था। जो अष्टाङ्ग महानिमित्तज्ञानरूपी लक्ष्मी से

---

१ मृत्तिकादिविधिना । २ आचमन । ३ अभिलषित । ४. नीचजातिषु । ५ वचसा । * मनसा । ६ मन्त्रवादादिविषय । ७ निर्बीजीकरणादिविषय । * किरण । ८ विधुरा राक्षसा । * 'विधुराया' (ख०) । ९ समुद्र । १० अष्टाङ्गमहानिमित्तानि भौमस्वरशरीरव्यञ्जनलक्षणछिन्नभिन्नस्वप्ना ।
अन्तरिक्ष स्वरो भौममगव्यञ्जनलक्षण । छिन्नभिन्न इति प्राहुर्निमित्तान्यष्ट तद्विद ॥ १ ॥

चारचातुरीचमत्कृतचित्तखचरेश्वरविरचितचरणार्चनोपचार **श्रीमुनिगुप्तनामव्याहार** भदन्त भगवन्त गगनगमनाङ्ग-[1]नापाङ्गामृतसारणीसबन्धवीध्रस्य[2] **विजयार्धमेदिनीध्रस्य** रतिकेलिविलासविगलितनिलि[3]म्पललनामेखलामणौ दक्षिण-श्रेणौ मेघकूटपत्तनाधिपत्योपान्त **सुमतिसीमन्तिनीकान्त** ससारसुखपराङ्मुखप्रतिभश्चन्द्रप्रभश्चन्द्रशेखराय सुताय निजैश्वर्यं वितीर्य प*र्यवसितदेशयतिरूप सकलाम्बरचरविद्यापरिग्रहसमीप सप्रश्रयमभिवन्द्यानवद्यविद्यामहन् भगवन्, पौराङ्गनाशृङ्गारोत्तरङ्गापाङ्गपुनरुक्तस्मरशरायामुत्तरमथुरायां जिनेन्द्रमन्दिरवन्दारुहृदयदो[4]हृदवर्ती वर्तेऽहम् । अतस्त-न्नगरीगमनाय तत्रभवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि । किं च कस्य तस्या पुरि कथयितव्यम्' इत्यपृच्छत्, मुनिसत्तम—'प्रियतम, यथा ते मनोरथस्तथाभिमतपथ समस्तु । सदेष्टव्य पुनस्तत्रैतावदेव यदुत तत्पुरीपुरदरस्य वरुणधरणीश्वरस्य शचीसदृश सुदृश पति[5]-जिनपतिचित्तचरणोपचारपदव्या महादेव्या रेवतीतिगृहीतनामाया मदीयाशीर्वाच्या तथावश्य[6]कविशे-षवश्यचित्तस्य[7] सुव्रतभगवतो वन्दना च । देशयतिवर—'किमपरस्तत्र भगवन्, जैनो जनो नास्ति' । भगवान्—'देशव्रतिन्,

---

विशिष्ट बुद्धि के आधार थे। समस्त श्रेष्ठ मुनिसघ जिनके चरण कमणो की उपासना करता था और जिनके चरणकमलो की पूजा का उपचार, ऐसे विद्याधर राजाओ द्वारा रचा गया था, जो कि इनकी विशेष आश्चर्य-जनक तपश्चर्या सबधी चरित्र-पालन की चतुरता से आश्चर्य युक्त चित्तवाले थे। उनसे ऐसे 'चन्द्रप्रभ' नाम के क्षुल्लक ने सविनय नमस्कार कर पूछा, जो कि विद्याधरो की कमनीय कामिनियो के कटाक्षरूपी अमृत-नदी के सबध से विशद—शुभ्र हुए 'विजयार्द्ध' पर्वत की रतिक्रीडा के विलास से देवियो की करधोनी के मणियो को शिथिलित करनेवाली दक्षिण श्रेणी मे स्थित हुए 'मेघकूट' नामक नगर के स्वामित्व के समीप था, अर्थात्—राजा था। सुमति नामकी उसकी रानी थी और जिसकी बुद्धि सासारिक सुखो से विमुख थी, अत जिसने अपने 'चन्द्रशेखर' नाम के राजपुत्र के लिए अपना राज्य देकर उक्त आचार्य के समीप क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण की थी और जिसके समीप विद्याधरो की आकाशगामिनी-आदि समस्त विद्याओ की स्वीकृति थी।

'निर्दोष विद्या से श्रेष्ठ भगवन्! मेरा मनोरथ नागरिक कमनीय कामिनियो के शृङ्गार से तरङ्गो-सरीखे बढे हुए कटाक्षो द्वारा दुगुने हुए काम-वाणवाली उत्तरमथुरा के अनेक जिन-मन्दिरो की वन्दनाशील हृदय वाला है, अत उस नगरी को जाने के लिए पूज्य भगवान् की अनुमति प्राप्त करना चाहता हूँ एव उस नगरी मे किसके प्रति क्या सन्देश कहना है? उसे भी बतला दे।'

आचार्य—'प्रियवर! आपका मनोरथ (अभिलाषा) इष्ट मार्ग वाला हो और वहाँ के लिए मेरा इतना ही सदेश है, कि उस नगर के इन्द्र-सरीखे वरुण राजा की इन्द्राणी-सरीखी मनोज्ञ व सम्यग्दृष्टि तथा पति (राजा) के चित्त की व तीर्थङ्कर भगवान् के चरणकमलो की पूजा को मार्गभूत महादेवी रेवती नाम की रानी के लिए मेरा आशीर्वाद कहना तथा अपने आवश्यक (सामायिक-आदि) विशेषो की अधीन बुद्धिवाले भगवान् (पूज्य) 'सुव्रत' नाम के साधु के लिए मेरी वन्दना कहना'।

क्षुल्लक ने पूछा—'भगवन्! क्या वहाँ अन्य जैनसाधु नही हैं?

आचार्य—'देशव्रती! आपको इतने विचार करने से ही पर्याप्त है, अर्थात्—विशेष पूछने की आव-

---

१ विद्याधर-स्त्री। २ विशद। ३ देवा। * गृहीत। ४ मनोरथ। ५ पतिश्च राजा, जिनपति वीतराग परमस्वामी, तयोश्चित्तचरणौ, अर्थात्—पत्युश्चित्त जिनपतेश्चरणौ उपचार (पूजा) मार्गो यया। पदवी स्थान मार्गो वा। ६ आवश्यक नियमता। ७ बुद्धेरात्मनो वा।

अल विकल्पेन । तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्याहतेतरशरीरिसप[1]क्षा सम[2]क्षा स्थिति' । 'खचरविद्याबीजप्ररोहमल्लक[3] क्षुल्लको यथादिशति दिव्यज्ञानसङ्गवान्भगवान्' इति निगीर्य गगनचर्ययावतीर्य चोत्तरमथुराया परीक्षेय[4] तावदेकाद-शाङ्गनिधान भव्यसेनम् । तदनु परीक्षिष्ये सम्यक्त्वरत्नवन्ती रेवतीमिति कृतकौतुक कलमकणिशकिशा[5]रुप्रकाशकेश-पेशलासरालचूलमुत्तप्तकाञ्चनरुचिरुचिरशरीरगौरतानुकूलमरविन्दमकरन्दपरागपिङ्गलनयनमतिस्प[6]ष्टवि[7]कटवर्णवर्णनोदीर्ण-वदनमेकादशवर्षदेशीयमतिविस्मयनीय कपटबटुवेषमाश्लिष्य[8] तन्मुनिमतमुदवसितम[9] यासीत् ।

वेषमु[10]निस्तमीक्षणकमनीय द्विजात्मजसजातीय विलोक्य किलैव स्नेहाधिक्यमालीलपत्—'हहो, निखिलद्वि-जवशव्यतिरिक्तसुकृतकृतकल्याणप्रकृतितया समस्तलोकलोचनानन्दोत्पादनपटो, बटो, कुत खलु समागतोऽसि' । 'अभिनव-जनमनोह्लादनवच[11]नागदप्रयोगचरकभट्टारक, सकलकलाविलासावासविद्वज्जनपवित्रात्पाटलिपुत्रात्'[12] । 'किमर्थम्' । 'अध्ययनार्थम्' । 'क्वाधि[13]जिगासाधिकरणमन्त करणम्' । 'वाङ्मलक्षालनकरप्रकरणे[14] व्याकरणे' । 'यद्येव मदन्तिके

श्यकता नही है', क्योकि वहाँ पर पहुँचे हुए आपको जैन व जैनेतरलोक-सरीखी स्थिति प्रत्यक्ष हो जायगी' ।

विद्याधरो की विद्यारूपी बीजाङ्कुरो के पात्ररूप (धारक) क्षुल्लक ने कहा—'अतीन्द्रिय ज्ञान के सङ्गम वाले भगवान् जैसी आज्ञा देते है, उसे प्रमाण मानता हूँ ।' इतना कहकर वह आकाश-मार्ग की चर्या (गमन) से उत्तर मथुरा मे जा पहुँचा । वहाँ उसने कौतूहल किया कि 'मुझे सबसे पहिले ग्यारह अङ्ग के निधि भव्यसेन मुनि की परीक्षा करनी चाहिए तत्पश्चात् सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से विभूषित रेवती रानी की परीक्षा करूँगा' ।

ऐसा विचार करके उसने विद्या की सामर्थ्य से ऐसा बनावटी बालक-वेष धारण किया, जो (बालक-वेष) ग्यारह वर्ष के कुमार-सरीखा था । जिसका घना मस्तक धान्य-मञ्जरी के अग्रभाग सरीखे पीले प्रकाश-मान केशो से मनोहर था । जिसका गौर वर्णवाला शरीर तपे हुए सुवर्ण की कान्ति-सरीखा सुन्दर था । जिसके नेत्र, कमल के मकरन्द और पराग-जैसे पीले थे । जिसका मुख अत्यन्त स्पष्ट व महान् शब्दो के उच्चारण करने से खुला हुआ था और जो अत्यन्त आश्चर्यजनक था । पुन वह भव्यसेन मुनि के आश्रम मे गया ।

मुनिवेषी (द्रव्यलिङ्गी) भव्यसेन ने नेत्र-प्रिय व ब्राह्मण-पुत्र-जैसे उसे देखकर निस्सन्देह विशेष स्नेहपूर्वक कहा—'समस्त ब्राह्मण-वश के विशेष पुण्य से रची हुई कल्याणकारिणी प्रकृति के कारण समस्त लोक के नेत्रो को आनन्द उत्पन्न करने मे चतुर हे कुमार ! तुम कहाँ से आये हो ?

बालक-वेषी क्षुल्लक—'नवीन मानव के मन को सुख देने वाली वचनरूपी औषधि के प्रयोग करने मे चरक वैद्य-सरीखे हे भगवन् ! मै समस्त कलाओ के विलास के स्थानीभूत विद्वानो से पवित्र हुए पाटलिपुत्र (पटना) नगर से आया हूँ ।'

'किस प्रयोजन से आये हो ?'

'पढने के लिए'

---

१ समाना । २ प्रत्यक्षा । ३ मल्लक भाजन धारक । ४ अह परीक्षेय । ५ किशारु सालक अग्रविभागमित्यर्थ । ६ असकीर्णा । ७ महान्त । ८ गृहीत्वा । ९ स्थान । १० भव्यसेन । ११ वचनमेवौषध तस्य प्रयोगे चरकवैद्य । १२ आगतोऽस्म्यह । १३ अध्ययन कर्तुमिच्छा । १४ अध्याये ।

स्वाध्यायध्यानसर्वस्व, समास्व[1]। 'परवा[2]दिमदविदारण[3]वाक्प्रक्रमाऽसे, भगवन्, साधु समासे'[4]। तदन्वतीतवतीषु कियतीषुचित्कालकलासु 'बटो, ललाटतपो वर्तते मार्तण्ड। तद्गृहाणेम कमण्डलुम्। पर्यटया[5]गच्छाव'। बटु—'यथाज्ञापयति भगवान्'। पुनर्नगरबाहिरिकाया निर्गते च रूप[6]सयते स कपटवटुर्मायामयशष्पा[7]ङ्कुरनिकरनिकीर्णां विहारावतीर्णामवनिमकार्षीत्। तद्दर्शनादाकृतियतिरपि मनाग्व्यलम्बिष्ट। बटु—'भगवन्, किमित्यकाण्डे विलम्ब्यते'। 'बटो, प्रवचने[8] किलैते शष्पाङ्कुरा स्थावरा प्राणिन प्रपठ्यन्ते'। 'भगवन्, श्वासादिषु[9] मध्ये कियतिथगुण[10] खल्वमीषा प्राणः। केवल रत्नाङ्कुरा इव धराविकारा ह्येते शष्पाङ्कुरा'। वेषमुनि—'साध्वयमभिदधाति' इति विचिन्त्य विहृत्य च नि शङ्क निष्पादितनी[11]हारो विरहित[12]व्याहार करेण किमप्यभिन[13]यन्नेवमनेनोक्त—'भगवन्, किमिद मौनेनाभि[14]नीयते'? जिनरूपाजीव—

'आपका मन किस विषय के अध्ययन करने की इच्छा का स्थान है?'

'मेरा मन वाचनिक दोषो को प्रक्षालन करने वाले अध्याय-युक्त व्याकरण के अध्ययन का इच्छुक है।'

'यदि यह बात है तो हे स्वाध्याय व ध्यान के सर्वस्व बालक! तुम मेरे पास ही ठहरो।'

'परवादियो का मद चूर-चूर करने वाली वचन पद्धतिरूपी खड्गयष्टि से सुशोभित हे भगवन्! आपके पास ही अच्छी तरह ठहरता हूँ।'

इसके बाद जब कितनी काल-कलाए (समय-विभाग) व्यतीत हो चुकी तब एक दिन भव्यसेन मुनि ने उससे कहा—

'बालक! सूर्य मस्तक को सन्तप्त करने वाला हो गया है, अर्थात्—मध्याह्न की वेला है, अत इस कमण्डलु को ग्रहण कर चलो पर्यटन करके वापिस आ जाँय।'

'भगवान् जैसी आज्ञा देते है।'

मुनिवेषी भव्यसेन के नगर के वाह्यप्रदेश मे जाने पर उस कपटवेषी बालक ने विहार भूमि को वालतृणो के अङ्कुर-समूह से व्याप्त (आच्छादित) कर दिया। उसे देखकर मुनिवेषी भी कुछ समय तक विलम्ब करके ठहर गया।

बालक—'भगवन्! असमय मे विलम्ब क्यो करते हो?'

भव्यसेन—'बालक! आगम मे ये घास के अङ्कुर निश्चय से स्थावर जीव (एकेन्द्रिय) कहे जाते हैं।'

बालक—'भगवन्! श्वास-आदि दश प्राणो मे से इनमे निश्चय से कितने प्राण होते है? घास के ये अङ्कुर तो केवल रत्नाङ्कुरो-सरीखे पार्थिव है।'

मुनिवेषी—'यह बालक सत्य कहता है' ऐसा विचार कर उस मुनिवेषी ने नि शङ्क होकर उस वाल-तृणो से व्याप्त पृथिवी पर विहार करके शौच (मलोत्सर्ग) से निवृत्त होकर मौन धारण करके हाथ से कुछ सकेत किया तो बालक ने कहा—

---

१ तिष्ठ। २ मिथ्यावादि। ३ वाक्प्रक्रम एव असि खड्गो यस्यासौ तस्य सबोधनम्। ४ तिष्ठामि। ५ पर्यटन कृत्वा। ६ वेषधारिणि। ७ वालतृण। ८ सिद्धान्ते। ९ दशप्राणेषु मध्ये। १० कतितम। ११. पुरीष। १२ मौनी। १३ सज्ञा कुर्वन्। १४ सज्ञा क्रियते।

'अभिमानस्य रक्षार्थं प्रती[1]क्षार्थं श्रुतस्य च। ध्वनन्ति मुनयो मौनमदनादिषु कर्मसु ॥१८३॥'

इति मौनफलमविकल्प्य जातजल्प 'द्विजात्मज, समन्विष्य[2] समानीयतामावा[3] यत्कायो गोमयो भसित[4]-पटलमिष्टकाशकल वा'। 'भगवन्, अखिललोकशौचोचितप्रवृत्तिकाया मृत्तिकाया को दोष'। 'वटो, प्रवचनलोचननिचा[5]यिकास्तत्कायिका किल तत्र सन्ति जीवा'। 'भगवन्, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवगुण'। न च तेषु तद्द्वय[6]मुपलभ्यते'। 'यद्येवमानीयता मृत्स्ना कृत्स्नाऽसुमत्सेव्या'। बटुस्तथाचर्य कुण्डिकामर्पयति। मुधामुनिर्जलविकल कमण्डलु करेणाकलय्य 'वटो, रिक्तोऽय कमण्डलु'। 'भगवन्, इदमुदकमचिर[7]कल्ले तल्ले[8]समास्ते'। 'बटो, पटापूतपानीयादाने महदादी[9]-नव किमिति यतो जन्तव सन्ति। 'भगवन्, तदसत्यमिह स्वच्छतया विहायसीव पयसि तदनवलोकनादिति' वचनात्तत्र बहिस्तन्त्र[10]सयमिनि तत्त्वाभि[11]निवेशव[12]शिकाशयवेश्मनि तद्देशमुद्दिश्याश्रितशौचे खचरेण चिन्तितम। अतएव भगवानतीन्द्रियपदार्थप्रकाशनशेमुषी प्राप्त। श्रीमुनिगुप्तोऽस्य किमपि न वाचिक[13] प्राहिणोत्। यस्मादस्मिन्प्रदीपवर्ति-

'भगवन्! आप मौन से सकेत क्यो करते है?'

यह सुनकर नग्नवेष से उदरपोषण करने वाले मुनिवेषी ने कहा—'स्वाभिमान (याचना न करना) की रक्षा के लिए व शास्त्र की पूजा के लिए भोजनादि क्रियाओ (भोजन, स्नान, सामायिक-आदि छह कर्म, शौच-आदि) मे मुनिगण मौन धारण करने को कहते है॥ १८३॥'

मौन के इस फल का विचार किये विना ही मुनिवेषी भव्यसेन बोल उठा—'ब्राह्मण-पुत्र! कही से खोजकर सूखा गोबर, राख समूह, या ईंट का टुकडा लाओ।'

बालक—'भगवन्! समस्त लोक की शुद्धि के योग्य प्रवृत्तिवाली मिट्टी मे क्या दोष है?'

'बालक! मिट्टी मे निश्चय से शास्त्ररूपी नेत्र द्वारा देखे गए पृथिवीकायिक जीव रहते है।'

'भगवन्! जीव का लक्षण तो ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग है परन्तु मिट्टी मे ये दोनो उपयोग नही पाये जाते।'

'यदि ऐसा है तो समस्त प्राणियो द्वारा सेवन-योग्य मिट्टी लाओ।'

बालक ने मिट्टी लाकर [जल शून्य] कमण्डलु समर्पण कर दिया।

हाथ से कमण्डलु को खाली जानकर मुनिवेषी ने कहा—'बालक! यह कमण्डलु तो खाली है।'

'भगवन्! जल तो सामने कीचड-रहित तालाब मे है।'

'बालक! वस्त्र से बिना छाने हुए जल को ग्रहण करने मे महान् पाप है, क्योकि उसमे जीव होते है।'

'यह बात बिलकुल झूठ है, क्योकि स्वच्छ होने से आकाश-सरीखे इस जल मे जीव दिखाई नही देते।'

यह सुनकर उस वाह्य सम्प्रदाय के मुनि ने, जिसका अभिप्रायरूपी भवन तत्वज्ञान के अभिप्राय से शून्य है, उस तडाग पर जाकर शुद्धि क्रिया कर ली तब विद्याधर ने विचार किया कि इसीलिए अतीन्द्रिय

१ पूजार्थ। २ दृष्ट्वा। ३ आवायत्काय शुष्यच्छरीर (शुष्क) यै वै शोषणे इत्यस्यरूप। ४ भस्म-पोटरा। ५ निचायो दर्शन स विद्यते येषामिति। इने वन इति व वस्येक तस्येकादेश। दृष्टा इत्यर्थ। ६ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वय। ७ अकर्दमे। ८ तडागे। ९ आदीनव दोष कर्मास्रवदोष। १० सप्रदाय। ११ अभिप्राय। १२ वशिक शून्य। १३ सन्देश।

वदनमिवान्तस्तत्त्वसर्गे[1] निसर्गमलीमस मानस बहि प्रकाशनसरस च । भवति चात्र श्लोक —

जले तैलमिवै*तिह्य वृथा तत्र बहि[2]र्द्युति । रस[3]वत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वे[4]धाय धातुषु ॥१८४॥

इत्युपासकाध्ययने भवसेनदुर्विलसनो नाम दशम कल्प ।

परीक्षितस्तावत्प्र[5]सभाविभविष्यद्भवसेनो भवसेनस्तदिदानी भगवदाशीर्वादपादपोत्पादवसुमती रेवती परीक्ष इत्याक्षि[6]प्तान्त-करण पुरस्य[7] पुर[8]दरदिशि हसा[9]शोत्तसावासवेदिकान्तरालकमलकर्णिकास्तीर्ण[10]मृगाजिना[11] सीनपर्यङ्कपर्यायिम्, अमर[12]सरसजातसरोजसूत्रवर्तितोपवीतपूतकायम् , अमृतकर[13]कुरङ्ग[14]कुल[15]कृष्ण[16]सारकृत्ति[17]कृतोत्तरा[18]सङ्गसनिवेशम् , अनवरतहोमारम्भसम्भूतभसितपाण्डुपुण्ड्र[19]कोत्कटनिटल[20]देशम् , अम्बरचरतरङ्गि[21]णीजलक्षालितकल्प[22]कुजवल्कलवलि-

पदार्थो को प्रकाशित करनेवाली बुद्धिवाले श्री मुनिगुप्ताचार्य ने इसे कुछ भी सन्देश नही भेजा, क्योकि इसका मन दीपक की बत्ती के अग्रभाग-सरीखा आत्मतत्व के निश्चय मे स्वभाव से ही कलुषित है परन्तु वाह्य पदार्थो को प्रकाशित करने मे प्रीति-युक्त है ।

इस विषय के समर्थक एक श्लोक का अथ यह है—

मानव का जल मे तैल-सरीखा वाह्याचार मे ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ है, क्योकि उसमे (ऊपरी शास्त्रज्ञान मे) भेदज्ञान के लिए अन्तर्बोध (आत्मज्ञान) नही होता । जैसे लोह-आदि धातुओ के भेद के लिए पारद मे अन्तर्बोध—भीतरी प्रवेश होता है, जिससे लोहादि धातुएँ सुवर्ण हो जाती है ।। १८४ ।।

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे भव्यसेन मुनि की आगम-विरुद्ध प्रवृत्ति को बतलानेवाला यह दशवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

तदनन्तर 'चन्द्रप्रभ' क्षुल्लक ने मन मे विचार किया—कि 'मैने ऐसे भव्यसेन की परीक्षा कर ली, जो कि हठ से भविष्य मे प्रकट होनेवाली ससाररूपी सेना से युक्त है, अब पूज्य मुनिगुप्ताचार्य के आशीर्वाद-रूपी वृक्ष की उत्पत्तिभूमि रेवती रानी की परीक्षा करता हूँ ।' इस प्रकार आकृष्ट मनवाले उसने नगर (उत्तर मथुरा) की पूर्वदिशा मे ऐसा कमलोत्पन्न ब्रह्मा का रूप ग्रहण करके समस्त नगर को क्षुब्ध (क्षोभ-युक्त) किया, जो कि [वाहनरूप] हस की पीठ की मुकुटप्राय आवासवाली वेदिका के मध्य मे कमल-कर्णिका पर बिछे हुए विस्तृत मृग-चर्म पर पर्यङ्कासन से बैठे हुए थे । जिनका शरीर मानसरोवर मे उत्पन्न हुए कमल-तन्तुओ से बने हुए यज्ञोपवीत से पवित्र था ।

जिनके उत्तरासन (दुपट्टा) की रचना, चन्द्र के लाञ्छन मे वर्तमान मृग के वश मे उत्पन्न हुए मृग के चर्म से की गई थी । जिनका ललाटदेश (मस्तक) निरन्तर होने वाले होम के आरम्भ से उत्पन्न हुई भस्म के शुभ्र वृत्ताकार (गोल) तिलक से उत्कट था । जिनका जटाजूट देव-गगा के जल से प्रक्षालित किये हुए (धोये हुए) कल्पवृक्ष के वक्कलो से बने हुए उपरितन वस्त्र-समूह से वेष्टित था । जिनके चारो हस्त देवगगा के तट पर उत्पन्न हुए दर्भाङ्कुर, रुद्राक्षमाला, कमण्डलु व योगमुद्रा से अङ्कित—चिह्नित थे ।

१ सर्गे निश्चये । * शास्त्र । २ वाह्याचारे । ३ पारदवत् । ४ भेदाय । ५ हठात् प्रकटीभविष्यन्ती ससार-सेना यस्य स । ६ व्याक्षिप्तचित्त । ७ नगरस्य । ८ पूर्वदिशि । ९ अशशब्देनात्र पृष्ठ तस्य पृष्ठस्य उत्तस मुकुटप्राय योऽसौ आवास । १० विस्तृत । ११ मृगचम । १२ मानसरोवर । १३-१८ चन्द्रस्य लाञ्छने यो मृगो वर्तते तस्य वशोत्पन्नस्य मृगस्य चर्मणा कृष्णसार-मृग, कृति-चर्म उत्तरासनरचनम् । १९ वृत्ताकार-तिलक । २०, ललाट । २१. देवगङ्गा । २२ कल्पवृक्ष ।

तोत्तरी[1]यप्रतानपरिवेष्टितजटावलयम्, अमृता[2]न्ध सिन्धुरोध सजातकु[3]तपाङ्कुराक्षमालाकमण्डलुयोग[4]मुद्राङ्कितकर-चतुष्टयम, उपासनसमायात मतङ्ग भृगु-भर्ग-भरत-गौतम-गर्ग-पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरीचि-विरोचन-[5]चञ्चरीकानीकास्वाद्यमानवदनारविन्दकन्दरविनिर्गलन्निखिलवेदमकरन्दसदोहम्, उभयपार्श्वावस्थितमूर्ति मन्निखिल-कलाविलासिनीसमाजसचाग्रमाणचामरप्रवाहम्, उदारनादनारदमुनिना मन्यमानप्रतीहारव्यवहारम्, अम्भोभवो[7]द्भवा-कारमासाद्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास । सापि जिनेश्वरचरणप्रणयमण्डपमण्डनमा[8]धवी वरुणधरणी-श्वरमहादेवी नृपतिपुरोहितात्तमुदन्तमाकर्ण्य त्रिषष्टिशलाकोन्मेषेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते । तथा—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य । ब्रह्मेति गी प्रगीता[9] न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥१८५॥'

इति चानुस्मृत्याऽविस्मयमतिरतिष्ठ[10]त् ।

पुन कीनाश[11]दिशि पवनाशनेश्व[12]रशरीरशयनाश्रितापघन[13]मितस्तत प्रकामप्रसरत्तदङ्गो[14]त्तरङ्गकान्ति-प्रकाशपरिकल्पितामृताम्बुधिसनिधानम्, उ[15]ल्लेखोल्लसत्फणामणिमरीचिनिचयसिच[16]याचरितनिरालम्बाम्बरवितान-

---

जिनकी ऐसी मुखकमलरूपी गुफा से समस्त वेदरूपी पुष्प-रस-समूह झर रहा है, जो कि सेवा के लिए आये हुए मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिङ्गल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरीचि व विरोचन इन ऋषि रूपी भ्रमर-समूह मे आस्वादन किया जा रहा था और जिन्है दोनो पार्श्वभागो पर खडी हुई मूर्तिमान समस्त कला-सरीखी देवियो के समूह द्वारा चमर-श्रेणी ढोरी जा रही थी। जिनके द्वारपाल का कार्य महान् शब्द करनेवाले नारद मुनि द्वारा स्वीकार किया जा रहा है।

परन्तु जब वरुण राजा की पट्टरानी रेवती रानी ने, जो कि तीर्थङ्कर भगवान् के चरणकमलो की भक्तिरूपी मण्डप को सुशोभित करने के लिए माधवीलता-सरीखी है, राजपुरोहित से उक्त वृत्तान्त सुना तो उसने विचार किया—कि 'तिरेसठ शलाका मे उत्पन्न हुए पुरुषो मे तो किसी का भी नाम ब्रह्मा नही है।'

शास्त्र मे उल्लेख है—आत्मा, मोक्ष, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एव भरत चक्रवर्ती के पिता (श्री ऋषभ देव तीर्थङ्कर) ये पाँच तत्त्व आगम मे 'ब्रह्मा' इस शब्द से कहे गए है, इनके सिवा दूसरा कोई व्यक्ति ब्रह्मा नही है ॥ १८५ ॥

ऐसा निश्चय करके वह आश्चर्य न करने वाली बुद्धि-युक्त होकर अपने स्थान पर ही स्थित रही अर्थात्—वह उक्त बनावटी ब्रह्मा के दर्शन के लिए नही गई।

इसके पश्चात् उस विद्याधर ने नगर की दक्षिण दिशा मे ऐसा विष्णु का रूप धारण करके समस्त नगर को क्षुब्ध किया। जिसका शरीर शेषनाग शय्या पर आश्रित था। यहाँ-वहाँ विशेष रूप से फैली हुई शेष-नाग के शरीर की लहर वाली कान्ति के प्रकाश से जिसके द्वारा क्षीरसागर की निकटता रची गई थी। जिसने धर्षण से शोभायमान शेषनाग के फण के मणियो की किरण-श्रेणीरूपी वस्त्र द्वारा आलम्बन-शून्य आकाश मे

---

१ उपरितनवस्त्र । २ अमृतभोजो देवास्तेषा गगा । ३ दर्भा । ४ हृदये न्यस्त हस्त ध्यानमुद्रा । ५ एते ऋषय एव भृङ्गा । ६ मूर्तिमत्य कला इव देवस्त्रीसमूह । ७ कमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूप प्राप्य । ८ वसन्तलता । ९ कथिता । १० स्थिता । ११. दक्षिणदिक् यमस्य । १२ शेषनागशय्या । १३ शरीर । १४ शेषनागशरीर । १५ घर्षण । १६ वस्त्र ।

भावम्, अ[1]मर्त्योद्यानप्रसूनमञ्जरीजालजटिलप्रतानवन[2]मालामकरन्दमण्डितकौस्तु[3]भप्रभाप्रभावम्, असितसितरत्न-कुण्डलोद्योतसपादितोभयपक्ष[4]पक्ष[5]द्वयाक्षेपम्, अनेकमाणिक्याधिकघटितकिरीटकोटिविन्यस्तास्तोकस्तबकपारिजातप्रसव-परिमलपानपरिचयवटुल[6]चञ्च[7]रीकचयरच्यमानावरेन्दीव[8]रशेखरकलापम्, अतिगम्भीरनाभिन[9]दनिर्गतोन्नालनल[10]निलय-निलीनहिरण्यगर्भसभाष्यमाणनामसहस्रकलमा[11]खण्डलजलधिसुता[12]सवाह्यमानक्रमकमलमनश्चरण[13]शङ्खसारङ्ग[14]नन्द-[15]कसकीर्णकरम्, असुरबृन्दब[16]न्दीकृतसुन्दरीसपाद्यमानचामरोपचारव्यतिकरम्, अरुणा[17]नुजविनीय[18]मानसेवागतसुरस-माजम्, अधोक्ष[19]जवेष विशिष्य[20]स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास। सापि जिनसमयरहस्याव[21]सायसरस्वती रेवती कर्णपरम्परया किवदन्तीमेतामुपश्रुत्य 'सन्ति खल्वर्धचक्रवर्तिनो नव कौमोद[22]कीप्रभव। ते तु सप्रति न विद्यन्ते। अय पुनरपर एव कश्चिदिन्द्रजालिको लोकविप्रलम्भनायावतीर्ण' इति निर्णीयाविचलितचित्ता समासीत्।

पुन पाश[23]भृद्दिशि शिशिरगिरिशिखराकारकायशा[24]क्वराश्रितशरीराभोगमन्व[25]रभृतनग[26]नन्दनानिबि[27]रीश-

---

चँदेवा विस्तारित किया था। जिसके हृदय पर स्थित हुए कौस्तुभ मणि की कान्ति का प्रभाव, नन्दनवन के पुष्प व मञ्जरी-समूह से व्याप्त व फैली हुई वन श्रेणीरूपी [देवियो की श्रेणी] के मकरन्द (पुष्परस) से अलङ्कृत था। जिसके द्वारा नील व शुभ्र रत्न-कुण्डलो के प्रकाश से सुशोभित दोनो पार्श्व भागो पर कृष्ण व शुक्ल-पक्ष का आक्षेप (आकर्षण) रचा गया था। अनेक प्रकार के माणिक्य-समूह से बने हुए मुकुट के अग्र-भाग पर स्थापित किये हुए प्रचुर गुच्छोवाले कल्पवृक्ष के पुष्पो की सुगन्धि को पीने के परिचय से चञ्चल भ्रमर समूह द्वारा ऐसा मालूम पडता था—मानो—जिसका दूसरा नीलकमलो का शिरोभूषण-समूह बनाया जा रहा है। जिसके बहुत गहरे नाभिरूपी तालाब से निकले हुए ऊँची नालवाले कमलरूपी गृह पर बैठे हुए ब्रह्मा द्वारा जिसके सहस्रनाम का मधुर पाठ किया जा रहा था। जिसके चरणकमल क्षीरसागर को पुत्री (लक्ष्मी) द्वारा दाबे जा रहे है। जिसका करकमल चक्र, शङ्ख, धनुष व खड्ग से सकीर्ण (मिश्रित या अलङ्कृत) था। जिसके शिर पर दैत्य-समूह की पूर्व मे कारागार (जेलखाने) मे रक्खी हुई सुन्दरियो द्वारा चमर ढोरे जा रहे हैं और जिसकी सेवा के लिए आया हुआ दैत्य-समूह गरुड द्वारपाल से स्वागत किया जा रहा है,

परन्तु जब जैन सिद्धान्त के रहस्य को जानने के लिए सरस्वती-सरीखी रेवती रानी ने कर्ण परम्परा से यह किवदन्ती सुनी तब उसने विचार किया—'आगम मे गदास्वामी अर्धचक्री निश्चय से नौ ही है, जो कि इस समय विद्यमान नही है, अत यह कोई दूसरा इन्द्रजालिया लोक को धोखा देने के लिए अवतीर्ण हुआ है—उत्पन्न हुआ है।' ऐसा निश्चय करके उसका चित्त नही डिगा और अपने यहाँ बैठी रही, अर्थात्—वह उसके दर्शन के लिए नही गई।

इसके पश्चात् उसने पश्चिम दिशा मे ऐसा रुद्र का रूप धारण करके समस्त नगर को क्षुब्ध किया, जिसका विशाल शरीर हिमालय पर्वत की शिखर-सरीखे शरीरवाले वृषभ पर स्थित था। जिसको पीठ का

---

१ देवा। २ वनश्रेणिवृन्दारिका, जालधरदैत्यकलत्र च। ३ मणि। ४ पार्श्व। ५ कृष्णशुक्लपक्षौ ताभ्यामाक्षेपो यस्य स। ६ चपल। ७ भ्रमरा। ८ नीलोत्पल। ९ ह्रद। १० कमल। ११ क्षीरसमुद्र। १२ तत्सुता श्री। १३ चक्र। १४ धनु। १५ खड्ग। १६ दैत्याना स्त्रिय कारागारे धृता, दैत्यमरणानन्तर ताभि चामरा क्षिप्यन्ते। १७-१८ गरुड द्वारपालो जातोऽस्ति तत्र आगत स्वागत क्रियमाण। १९-२० विष्णो. रूप प्राप्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास। २१ परिज्ञाने। २२ गदास्वामिन। २३ वरुणदिशि पश्चिमाया। २४ वृषभ। २५ पश्चाद्धृत। २६ गौरी। २७ निविड।

स्तनतुङ्गिमस्ति[1]मितपृष्ठभागम्, अनिमिषवनविसर्पिकर्पूरोद्रि[2]दगर्भसभवपरागपाण्डुरितपि[3]ण्डपरिकरम्, अचि[4]र-गोरोचनाभङ्गरागपिङ्गला[5]म्बकपरिकल्पित[6]भालसर स्वर्णसरोजाकरम, अबालकपालदल[7]कलापालवालवलयविल-सन्मौलि[8]मूलव्यतिकरम्, अतिविकटजटाजूटकोटरपर्यटद्ग[9]गनाटनतटिनीतरङ्गकरकेलिकुतूहलितबालप्रालेय[10]करम, आभरण[11]भङ्गिसद[12]र्भितानर्भ[13]कभुजङ्गभो[14]गसगतानेकमाणिक्यविरो[15]कनिकरातिशयसा[16]रशार्दूला[17]जिनविराज-मानम्, उड्डमरडमरुका[18]जकावकृपाणपरशुत्रिशूलखट्वाङ्गादिसङ्गसकट[19]शकोटकोटिविस्तारम्, स्तम्बे[20]रमासुरचर्म-द्रवद्रुधिरदुर्दिनीकृतनर्तावनीप्रतानम्, अनलोद्भव[21]-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेर[22]म्ब-भिङ्गिरिटि-प्रभृतिपारिष[23]दपरिष-त्परिकल्प्यमानबलिवि[24]धानम्, अ[25]हिर्बुध्नावतरनिधानमाकारमनुकृत्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास। सापि स्याद्वादसरस्वतीसुर[26]भिसभावनबल्ल[27]वी वरुणमहीशमहादेवी इमा जन[28]श्रुतिं कुतश्चित्पश्चिमप्रतोलिसृताद्वि-पश्चितो[29]निश्चित्य निशम्यन्ते खलु प्रवचने तप प्रत्यवाय[30]वार्ताऽभद्रा रुद्रास्ते पुन सप्रति स्वकीयकर्मणा विपाकात्का[31]लिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिन मजाता ।

भाग पीछे धारण की गई गौरी के निविड व उन्नत कुचकलशो से निश्चल था। जिसका शरीर-परि-कर (अवयव-समूह) नन्दन वन मे फैले हुए कपूर के वृक्षो के मध्य से उत्पन्न होनेवाली पराग (कपूर-धूलि) से उज्वल था। तत्काल किये हुए गोरोचना के मर्दन से उत्पन्न हुई कान्ति-सरीखे पीले नेत्र से, जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—जिसने मस्तकरूपी सरोवर मे सुवर्ण के कमल-समूह की रचना की है। जिसका गला विशाल (बडे-बडे) आधे खप्पणो की श्रेणीरूपी क्यारी-समूह मे सुशोभित हो रहा था। जिसने अत्यन्त विस्तीर्ण जटाजूट की कोटर मे विहार करती हुई देवनदी की तरङ्गरूपी हाथो की क्रीडा मे वालचन्द्र को कौतूहल-युक्त—क्रीडा-युक्त किया है। जो ऐसे गज-चर्म से सुशोभित है, जो कि आभूषणो की रचना से मिश्रित वृहत्काय सर्प की फणा के अनेक माणिक्यो की किरण-श्रेणी के अतिशय से कर्बुरित (चितकबरा) हो रहा था। जिसके हाथो का अग्रभाग श्रेष्ठ डमरू, धनुष, खड्ग, परशु, त्रिशूल, खट्वाङ्ग (अस्त्र विशेष) आदि के सङ्गम से व्याप्त था। जिसने गजासुर के चर्म से प्रवाहित हुए रुधिर-प्रवाह से विस्तृत नृत्यभूमि को वृष्टि से व्याप्त की थी और जिसकी पूजा कार्तिकेय, निकुम्भ, कुम्भोदर, विनायक व भिङ्गिरिटि-आदि गणो के सभासदो द्वारा की जा रही थी।

परन्तु जब स्याद्वाद वाणी रूपी कामधेनु को दुहने के लिए गोपी-सरीखी वरुण राजा की महादेवी रेवती रानी ने यह बात पश्चिम दिशा के मुख्य मार्ग से आने वाले किसी विद्वान् से सुनी तब उसने निश्चय किया—कि निश्चय से शास्त्र मे तपश्चर्या के भङ्ग करने की वार्ता से अभद्र रुद्र सुने जाते है, परन्तु वे इस समय अपने कर्मोदय (भुज्यमान आयु कर्म का क्षय) से यमराज की जठररूपी गर्त मे पडे हुए है, अत यह कोई दूसरा ही इन्द्रजाल-विद्या के विनोद से अज्ञानियो का हृदय मर्दन करने वाला रुद्र है, ऐसा निश्चय करके वह निस्सन्देह बुद्धिवाली होकर स्थित रही। अर्थात—उक्त रुद्र के दर्शन के लिए नही गई।

तदयमपर एव कश्चिन्नरेन्द्रवि[1]द्याविनोदाविदग्धहृदयमर्दी कप[2]र्दीति च प्रपद्य नि सदिग्धबोधा समासिष्ट ।

पुन स्वापतेये[3]शदिशि विश्वभरातलादूर्ध्वम्, अयोमुखा[4]सनदशसहस्रार्धा[5]वकृष्ट[6]म्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम्, अखिल[7]गतिगर्तोत्तरणमार्गैरिव सोपान[8]सर्गैश्चतुर्दिशमु[9]पाहितावतारम्, अनर्घद्रुघ[10]णमणिश्लाघ्योन्नत[11]नवप्राकारान्तरालविरचितस्पष्टाष्टविधवसुधरम्, अनवधिनिर्माणमाणिक्यसूत्रितत्रिमेखलालकारकण्ठीरव[12]पीठप्रतिष्ठपरमेष्ठिप्रतिममशेषत समासीनद्वादशसभान्तरालविलसन्निलि[13]म्पानकाशोकानोकहप्रमुखप्रातिहार्योपशोभितम्, ईषदुन्मि[14]षदनिमिषोद्यानप्रसूनोपहारहरिचन्दनामोदसनाथगन्धकुटीसमेतम्, अनेकमानस्तम्भनडाग[15]तोरणस्तूपध्वजधूप[16]निपनिधाननिर्भरमुरगनरानिमिषनायकानीकानीतमहामहोत्सवप्रसरम्, अभितो भवसेनप्रभृत्याहताभासप्रभावितयात्राधिकरण समवशरण विस्तार्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास। सापि जिनसमयोपदेशरसे[17]रावती रेवतीम वृत्तान्तोपक्रम कुतोऽपि जैनाभासप्रतिभा[18]तोऽवबुध्य 'सिद्धान्ते खलु चतुर्विशतिरेव तीर्थङ्करा, ते चाधुना सिद्धिबधूसौधमध्यविहारा, तदेषोऽपर एव कोऽपि मायाचारी तद्रूपधारी' इति चावधार्याविपर्यस्तमति [19]पर्यात्मधामन्येव प्रवर्तितधर्मकर्मचक्रे सुखेनासाचक्रे । पुनर्बहुकूटकपटमतिर्दर्शयतिस्ताभिर्विविधप्रकृतिभिराकृतिभिस्तदा[20]स्वनित-

---

इसके वाद उस विद्याधर क्षुल्लक ने उत्तर दिशा मे ऐसा जिनेन्द्रदेव का समवशरण रचकर समस्त नगर को क्षुब्ध किया। जो कि पृथिवी तल से पॉच हजार धनुष-प्रमाण ऊँचा था। जो अखण्ड इन्द्रनीलमणि की शिला से निर्मित हुए गोलाकार आधार से उत्तम था। जो चतुर्गति रूपी गड्ढे से निकालने वाले मार्ग-सरीखी बीस हजार सीढियो की रचना से चारो दिशाओ मे ग्रहण किये हुए अवतार वाला था। जिसमे बहुमूल्य वज्रमणियो के प्रशस्त व उन्नत नौ प्राकारो (कोटो—धूलीसाल, सुवर्णसाल, रूप्यसाल, स्फटिकसाल, गधकुटीसाल, वृक्ष-वन व कल्पवृक्ष-वन की चार-भूमियो के चार साल इस प्रकार नौ साल—प्राकार) के मध्य मे बनी हुई स्पष्ट आठ भूमियाँ वर्तमान थी। जिसमे वेमर्याद रचनावाले माणिक्यो से बनी हुई तीन कटिनियो से सुशोभित सिंहासन पर परमेष्ठी की प्रतिमा विराजमान थी। जो चारो ओर बैठी हुई बारह सभाओ के मध्य शोभायमान होनेवाले देव-दुन्दुभि व अशोक वृक्ष-आदि आठ प्रातिहार्यो से सुशोभित था। जो अधखिली नन्दनवन सबधी पुष्प श्रेणियो के उपहार (भैंट) और हरिचन्दन नाम के कल्प-वृक्ष की सुगन्धिवाली गन्धकुटी से अलङ्कृत था। जो अनेक मानस्तम्भ, तालाव, तोरण, स्तूप, ध्वजाएँ व धूप घट और निधियो से व्याप्त था। जिसमे धरणेन्द्र, चक्रवर्ती व इन्द्र की सेनाओ द्वारा विस्तृत व महान् महोत्सव किया गया था और जो चारो ओर भवसेन-आदि जैनाभासो की प्रभावनावाली यात्रा का आधार था।

परन्तु जब जैन सिद्धान्त के उपदेशरूपी जल की इरावती नदी-सरीखी रेवती रानी ने इस वृत्तान्त-घटना को किसी जैनाभास की बुद्धि से घटित हुई जानी तब कहा—'निश्चय से जैन सिद्धान्त मे तीर्थङ्कर चौबीस ही माने गये है, जो कि इस समय मुक्तिरूपी बधू के महल के मध्य मे विहार करने वाले है, अत यह कोई दूसरा ही मायाचारी, तीर्थङ्कर का रूप धारण करके प्रकट हुआ है।' उक्त प्रकार निश्चय करके भ्रान्ति-

---

१ इन्द्रजालविद्या। २ रुद्र । ३ धनद, उत्तरदिशि। ४ धनु । ५ ५०००। ६ प्रमाण। ७ चतुर्गति। ८ २००००। ९ कृतावतार। १० वज्र । ११ धूलीसाल, सुवणसाल, रूप्यसाल, स्फटिकसाल, गधकुटीति पचसाला । वृक्षवनकल्पवृक्षवनयोश्चतस्रो भूमय सालाश्चत्वार इति नवप्रकारा । १२ सिंहासनम्। १३ देवदुन्दुभि । १४ विकसत्। १५ गाथा—उववणवाविजलेण सिंभा पिछति एकभवजादिं। तस्स निरीक्षणमेत्ता, सत्तभवातीद भाविजादि ॥१॥

श्लोक—अन्धा पश्यन्ति रूपाणि श्रृण्वन्ति वधिरा श्रुति। मूका स्पष्ट विभाषन्ते चक्रम्यन्ते च पगव ।
दर्पणदर्शनाद्भवस्मृति वन्ध्यासुतप्राप्ति दुर्भिक्षादीना विनाश ।

१६ धूपघट। १७ इरावती नदी। १८ बुद्धे । १९ परि—सामस्त्येन आत्मधामनि। २० रेवतीमन ।

मक्षुभितमवगत्योपात्तमासोपवासिवेष क्रियामात्रानु[1]मेयनिखिलकरणोन्मेषो गो[2]चराय तदालय प्रविष्टस्तया स्वयमेव यथाविधिप्रतिपन्नचेष्टस्तथापि विद्यावलादनलनाशवमनादिविकारप्रबलात्कृतानेकमानसोद्वेजनवैयात्यो[3] रेवत्या. क्वचिदपि मनोमूढतामपश्यन्, 'अम्ब[4], सर्वाम्बरचरचित्तालकारसम्यक्त्वरत्नाकरक्षोणि दक्षिणमथुराया प्रसिद्धावसथ सकलगुणमणिनिर्माणविदू[5]रावनि श्रीमुनिगुप्तमुनिर्मदर्पितरचनै[6]वचनै परिमुषिताशेषकल्मषस[7]वनैरखिलकल्याणपरम्परा-विरोच[8]नैर्भवती रेवतीमभिनन्दयति। रेवती भक्तिरसवशोल्लसल्लपनरागाभिराम ससभ्रम च सप्तप्रचारोपसदै[9] पदैस्ता दिशमाश्रित्य श्रुत[10]विधानेन विहितप्रणामा प्रमोदमानमन परिणामा तदर्पितान्याशीर्वचनान्यापादिता।

भवति चात्र श्लोक —

काद[11]म्बता[12]र्क्ष्यगोसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम्। आगतेष्वप्यभून्नैषा[13] रेवती मूढतावती ॥१८६॥

रहित बुद्धिवाली वह धर्मकर्म-समूह की प्रवृत्तिवाले अपने स्थान मे ही सुखपूर्वक बैठी रही। अर्थात्—समवशरण मे नही गई।

इसके वाद अनेक कूटकपट करने की बुद्धिवाले उस क्षुल्लक ने जब अनेक स्वभाव वाले ब्रह्मा-आदि के अनेक वेषो से रेवती रानी के मन को निश्चल जान लिया तब वह एक मास का उपवास करने वाले ऐसे साधु का वेष बनाकर, जिसकी शिथिल इन्द्रियो का व्यापार क्रिया मात्र द्वारा अनुमान किया गया है, अर्थात्—'यदि यह ऐसा क्रियावान् है ? तो इसका इन्द्रिय व्यापार कैसे घटित होता है ?' इस प्रकार जो सबके द्वारा जाना गया है, आहार के लिए रेवती रानी के गृह पर आया। रेवती रानी ने स्वय ही प्रतिग्रह-आदि नव विधि के अनुसार उसका सन्मान किया किन्तु उस क्षुल्लक ने अपने ऐसे विद्यावल से, जो कि जठराग्नि के नाश से उत्पन्न हुए वमन-आदि विकारो से प्रबल है, जब रेवती रानी के मन को उद्विग्न करनेवाली अनेक धूर्तताएँ की फिर भी जब उसने प्रस्तुत रानी की मानसिक मूढता नही देखी तब उसने कहा—

'हे माता ! तुम समस्त विद्याधरो के चित्त का आभूषण सम्यग्दर्शनरूपी रत्न की खानि हो। दक्षिण मथुरा नाम की नगरी मे प्रसिद्ध निवास करनेवाले और समस्त गुणरूपी मणियो की रचना के लिए निकटवर्ती पृथिवी-सरीखे श्री मुनिगुप्त नाम के मुनिराज समस्त पाप-सबध नष्ट करनेवाले व समस्त कल्याण-परम्परा से सुशोभित एव मेरे लिए समर्पण किये हुए सबधवाले अपने आशीर्वादरूपी वचनो से आपका अभिनन्दन करते हैं।'

उक्त सन्देश सुनकर रेवती रानी ने भक्तिरस के वश से विकसित हुई मुख की कान्ति से मनोज्ञतापूर्वक व सादर गमन करनेवाले पैरो से सात पैर भूमि चलकर दक्षिण दिशा मे आश्रित होकर शास्त्र विधिपूर्वक श्री मुनिगुप्त मुनिराज के लिए नमस्कार किया और प्रमुदित हुए चित्तवाली उसने उक्त मुनिराज द्वारा भेजे हुए आशीर्वाद के वचन ग्रहण किए या स्वीकार किए।

इस विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

जब हसवाहन (ब्रह्मा), गरुडवाहन (विष्णु), गोवाहन (शिव) व सिंहासन के अधिपति (तीर्थङ्कर) स्वय प्राप्त हुए, अर्थात्—जब उक्त विद्याधर क्षुल्लक ने विद्या-वल से उक्त ब्रह्मा-आदि का रूप धारण किया तो भी रेवती रानी मूढतावाली (मिथ्यामार्ग की प्रशसा करनेवाली) नही हुई ॥ १८६ ॥

---

१ अनुज्ञात चेदीदृशोऽय क्रियावान् वर्तते तर्हि अस्येन्द्रियव्यापार कथ घटते इति सर्वैरनुज्ञात। २ आहाराथ। ३ धूर्तत्व। ४ स देवविद्याधर —हे मात। ५ निकट। ६ सबधै। ७. सबधै। ८ शोभमानै। ९ गमनप्राप्तै पदै सप्तभि प्रचारैरुपसद्य। १० 'श्रुतविश्रुतेन विधानेन' इति घ०। ११ हस। १२ गरुड। १३ नाभूत्।

इत्युपासकाध्ययनेऽमूढताप्रौढिपरिवृढो नामैकादश कल्प ।

उपगू[1]हस्थितीकारौ यथाशक्तिप्रभावनम् । वात्सल्य च भवन्त्येते गुणा सम्यक्त्वसपदे ॥१८७॥

तत्र— क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च । तपोभि सयमैर्दानै कुर्यात्समयबृ हणम् ॥१८८॥

स[2]वित्रीव तनूजानामपराध सधर्मसु । दैवप्रमादसपन्न निगूहेद् गुणसपदा ॥१८९॥

अशक्तस्यापराधेन कि धर्मो मलिनो भवेत् । न हि भेके मृते याति पयोधि पूतिगन्धिताम् ॥१९०॥

दोष गूहति नो जात यस्तु धर्म न बृ हयेत् । दुष्कर तत्र सम्यक्त्व जिनागमबहि स्थिते ॥१९१॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—सुराष्ट्रदेशेषु मृगेक्षणापक्ष्मलमूलावलोकितापहसितानङ्गास्त्रतन्त्रे पाटलिपुत्रे सुसीमाकामिनीमकरध्वजस्य यशोध्वजस्य भूभुज परा[3]क्रमाक्रान्तसकलप्रवीर सुवीरो नाम सूनुरनासादितविद्यावृद्धसयोगसमयत्वाद्विटविदूषक[4]दूषितहृदयत्वाच्च प्रायेण परद्रविणदारादानोदारक्रिय क्रीडार्थमेकदा क्रीडावने गत कितवकिरातपश्यतो[5]हरवीरपरिषदमिदमवादीत्—'अहो, विक्रमैकरसिकेषु महासाहसिकेषु भवत्सु मध्ये कि कोऽपि मे प्रार्थनातिथिमनोरथसार[6]-

---

इस प्रकार उपसकाध्ययन मे अमूढता बढाने मे समर्थ यह ग्यारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब उपगूहन अङ्ग का निरूपण करते हैं—

उपगूहन (सार्धमियो के दोष आच्छादित करना), स्थितिकरण (सम्यक्त्व व चारित्र से विचलित हुए प्राणियो को पुन धर्म मे स्थिर करना), शक्ति के अनुसार प्रभावना (जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना) और वात्सल्य (धार्मिक पुरुषो से अनुराग प्रकट करना) ये गुण सम्यक्त्वरूपी लक्ष्मी की वृद्धि के लिए है ॥१८७॥ क्षमा, सत्य, शौच (लोभ का त्याग), मार्दव (विनय), आर्जव (निष्कपटता), तप, सयम और दान इन प्रशस्त गुणो से शासन की वृद्धि करनी चाहिए ॥१८८॥ जैसे माता अपने पुत्रो के दोष आच्छादित करती है वैसे ही सार्धमियो मे से किसी से दैव व प्रमाद से कोई दोष बन गया हो तो उसे गुणरूपी सम्पत्ति से आच्छादित करना चाहिए ॥१८९॥ जैसे समुद्र मे मेढक के मर जाने से समुद्र दुर्गन्धित नही होता वैसे ही क्या असमर्थ मनुष्य के द्वारा किये हुए अपराध से धर्म मलिन हो सकता है ? ॥१९०॥ जो मानव साधर्मी जनो के दोष नही ढकता और न धर्म की वृद्धि करता है, वह जैनागम से बाह्य है, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है ॥१९१॥

उपगूहन अङ्ग मे प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्त की कथा—

इस अङ्ग के विषय मे एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—सुराष्ट्र देश को मृगनयनी कामिनियो के नेत्रो के पलको के अग्रभागवाले कटाक्षो से कामदेव के बाणो के कार्य को तिरस्कृत करनेवाले पाटलीपुत्र नगर मे सुसीमा नामकी रानी के लिए कामदेव-सरीखा 'यशोध्वज' नामका राजा था। उसके अपने पराक्रम से समस्त वीर पुरुषो पर आक्रमण करनेवाला 'सुवीर' नामका पुत्र था। कभी विद्या-वृद्ध सज्जनो के समागम से शास्त्राध्ययन प्राप्त न होने से जिसका हृदय धूर्तो व विदूषको के कुसङ्ग से दूषित (पापी) हो गया था, जिससे वह प्राय दूसरो के धन को ग्रहण करने मे और दूसरो की स्त्रियो के उपभोग मे लम्पट हो गया था।

एक बार क्रीडा करने के लिए वह क्रीडा-वन मे गया। वहाँ उसने जुआरी, म्लेच्छ व चौरो की

---

१ 'उपगूह स्थिरीकारो यथाशक्तिप्रभावनम्' (क०)। २ मातृवत् । ३ 'पराक्रमक्रमाक्रान्त' (क०)। ४ विदूषको वैवसिक प्रहसी प्रीतिद इत्यनर्थान्तर । तथानेकार्थे—विदूषकोऽन्यनिंदके क्रीडनीयकपात्रे च, कामाचार्ये वेश्याचार्य । ५ चौर । ६ सहाय ।

थिरस्ति, य खलु पूर्वदेशनिवेशावाप्तकीर्तने **ताम्रलिप्त**पत्तने पुण्य[1]पु[2]रुषकाराभ्यामात्मसात्कृतरत्नाकरसारस्य **जिनेन्द्रभक्त**नामावतारस्य वाणिक्पते सप्ततलागाराग्रिमभूमिभागिनि जिनसद्मनि छत्रत्रयशिखण्डमण्डनीभूतमद्भुतद्योतस नीड **वैडूर्यमणि**मानयति, तदानेतु पुनरभिलाषविषयनिषेकमेव पारितोषिक[4]म् ।' तत्र च सदर्प **सूर्पो** नाम समस्तमलि[5]म्लुचाग्रेसरो वीर किलैवमलापीत्—'देव, कियद्गहनमेतद्यतो योऽह देवप्रसादाद्वियद्[6]वसानविरचि**तामरावती**पुरस्य पुरदरस्यापि चूडालकारनूतन रत्न पातालमूल[7]निलीनभोगवतीनगरस्योरगेश्वरस्यापि फणगुम्फनाधिक्य माणिक्यमपहरामि, तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणधरणि मणि लोचनगोचरागारविहारमपहरत कियन्मात्रं महासाहसम्' इति शौर्यं गर्जित्वा निर्गन्यागत्य च **गौडमण्डल**मपरमुपायमपश्यन्मणिमो[8]षायाक्षि[9]प्तक्षुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणै पक्षपारणाकरणैर्मासोपवासप्रारम्भैर-परैरपि तप सरम्भै क्षोभितनगनगरग्रामग्राम[10]णीगण क्रमेण **जिनेन्द्रभक्त**भावाधिकरणतामभजत् । एकान्तभक्तिशक्त स जिनेन्द्रभक्तस्त मायात्मसात्कृतप्रियतमाकारम[11]परमार्थाचारमजानन्नार्यवर्यावश्यमनेकानर्घ्यरत्नरचितजि[12]नदेवसदोहेऽस्म-द्देवगृहे त्वया तावदासितव्य यावदह बहित्र[13]यात्रा विधाय समायामि' इत्य[14]याचत । अप्रकटकूटकपटक्रम प्रियतम —

परिषत् से कहा—'वीरो ! पराक्रम करने मे असाधारण रसिकता दिखानेवाले व महान् साहसी आप लोगो के मध्य मे क्या कोई ऐसा वीर पुरुष है ? जो कि मेरे प्रार्थनारूपी अतिथि के मनोरथ का सहायक है, अर्थात्—मेरी अभिलाषा की पूर्ति मे सहायक है ? आपमे से जो कोई निश्चय से पूर्वदेश की सेना का स्थान होने से ख्याति प्राप्त करनेवाले ताम्रलिप्त नामके नगर मे अपने पुण्य व पौरुष से समुद्र की सारभूत लक्ष्मी प्राप्त करनेवाले व वैश्य-स्वामी जिनेन्द्र भक्त सेठ के सप्तमंजिले महल की अग्रभूमि पर वर्तमान जिनमन्दिर से तीन छत्र की शिखा के अग्रभाग का अलङ्काररूप व आश्चर्यजनक कान्ति के समीपवर्ती वैडूर्यमणि को चुराकर ले आवे, उसे लानेवाले वीर पुरुष के लिए इच्छित वस्तु के दानवाला पारितोषिक दिया जायगा ।'

यह सुनकर समस्त चौरो मे अग्रेसर, अभिमानी व वीर 'सूर्प' नाम के चौर ने निस्सन्देह कहा—'हे देव ! यह क्या कठिन है ? क्योकि जो मै आपके अनुग्रह से गगन-प्रान्त मे बनी हुई अमरावती नगरी के स्वामी इन्द्र के मुकुट के अलङ्काररूप नवीन रत्न को एव पाताल-मूल मे स्थित हुई भोगवती नगरी के स्वामी धरणेन्द्र की फणा मे विशेपरूप से गुँथे हुए माणिक्य को भी अपहरण कर सकता हूँ, उसके लिए मनुष्यमात्र द्वारा रक्षा के योग्य पृथिवीवाले और नेत्रो के विषयीभूत स्थान मे वर्तमान मणि का चुराना कोई विशेष साहस नही है ।' इस प्रकार अपनी शूरता की गर्जना करके सूर्प नाम का चौर वहाँ से निकलकर गौड देश मे आया और दूसरा उपाय न देखकर उसने मणि-चुराने के लिए क्षुल्लक का वेष धारण किया । पुन उसने पन्द्रह दिनो के बाद पारणावाले और एक महिना के उपवासो से शुरु होनेवाले चान्द्रायणव्रत के आचरणो से और दूसरे तपश्चर्या के अनुष्ठानो से पर्वत, नगर व ग्रामवासी श्रेष्ठ जन-समूह को क्षोभ मे प्राप्त करा दिया और क्रम से जिनेन्द्र-भक्त सेठ के भाव का आधार स्थान हो गया । पश्चात् उसकी विशेष भक्ति मे समर्थ जिनेन्द्रभक्त सेठ ने माया से क्षुल्लक-वेष को अपने अधीन करने वाले व सत्याचार से रहित—झूठे आचार वाले उसे न जानकर उससे निम्न प्रकार प्रार्थना की—'आर्यश्रेष्ठ ! अनेक बहुमूल्य रत्नमयी जिनप्रतिमा-समूहवाले हमारे जिन मन्दिर मे आप अवश्य तब तक ठहरिए जब तक कि मै जहाज द्वारा यात्रा करके वापिस न लौटूँ ।'

१ पूर्वजन्मपुण्य । २ उद्यमश्च, पुरुषकारशब्देनात्र उद्यमो व्यवसाय धनार्जन च । ३ समीप । ४ उचित दान दास्यामि । ५ चौरा । ६ गगनप्रान्त । ७ मूले निलीन भोगगतीनगर यस्य स उरगेश्वर तस्य । ८ चोरणार्थ । ९ रचित । १० श्रेष्ठ । ११ सत्याचाररहित । १२ जिनदेहसदोहे (ख०) । १३ यानपात्रगमन । १४ प्रार्थित ।

'श्रेष्ठिन्, मैव भाषिष्ठा, यदङ्गनाजनसकीर्णेषु द्रविणोदीर्णेषु देशेषु विहितौ[१]कसा प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोदाहारा खलु खलजनतिरस्कारा ।' श्रेष्ठी—'देशयतीश, न सत्यमेतत् । अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य बहि सङ्गे स्वान्त विकुरुता नाम न पुनर्यथार्थदृशामनन्य[२]सामान्यसयमस्पृशा भवादृशा यतीशाम' इति बह्वाग्रहं देवगृह-परिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमित्रबान्धवेष्वकृतविश्वासो मन परिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरबाहिरि-काया प्रस्थानमकार्षीत् । मायामुनिस्तस्मिन्नेवावसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्यार्धविशेषाया निशि कृतरत्नापहारस्तन्म-रीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीर पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिन[३] श्रेष्ठिन प्रस्थानावासनिवेशमाविवेश । श्रेष्ठ्यपि दुरालापबहुलात्तत्कोलाहलाद्द्रा[४]ग्विद्राणनिद्रस्तदैन मृषामुनिमुद्रमव[५]साय स्वभावत शुद्धाप्तागमपदार्थसमाचार-नयस्य नि शेषान्यद[६]र्शनव्यतिरिक्तान्वयस्य समयस्याविदितपरमार्थजनापेक्षया दुरपवादो मा भूदिति च विचिन्त्य समस्त-मप्यारक्षिकलोकमेवमभणीत्—'अहो, दुर्वाणिका, किमित्येन सयमिनम[७]भल्लेन भावेन सभावयन्ति भवन्त, यदेष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी परमनि स्पृहाणामपि परमनि स्पृह प्रकृत्यैव महापुरुषो मायामोषरहितचित्तवृत्तिरस्मदभि-

---

अपने कूट कपट-क्रम को छिपाते हुए उसने कहा—'सेठ जी ! ऐसा मत कहिए, क्योकि कमनीय कामिनियो से व्याप्त और धन से परिपूर्ण स्थानो मे निवास करनेवाले निर्मलचित्तशाली महापुरुषो को भी प्राय निश्चय से दुष्ट जनो के तिरस्कार सुलभता से कथन वाले होते है ।'

सेठ—'क्षुल्लक महाराज ! यह बात सत्य नही है, क्योकि परलोक (स्वर्ग व नरकादि) के व्यव-हार को न जानने वाले व इन्द्रिय-व्यापार को काबू मे न करने वाले पुरुष की चित्तवृत्ति निश्चय से वाह्य पदार्थो (कनक व कामिनी-आदि) मे विकृत हो जाय परन्तु यथार्थदर्शी व असाधारण सयम पालने वाले आप-सरीखे योगीश्वरो की चित्तवृत्ति वाह्य पदार्थो मे कैसे विकृत हो सकती है ?' इस प्रकार जिनेन्द्र भक्त सेठ ने स्त्री, पुत्र, मित्र व बन्धुजनो मे विश्वास न करके अपने जिन मन्दिर मे निवास करने के लिए उस झूठे मुनि से विशेष आग्रह पूर्वक प्रार्थना की और मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन व वायु को अनुकूल देखकर नगर के वाह्य देश मे प्रस्थान किया ।

उसी अवसर पर वह कपटी मुनि उस सेठ के गृह को नीद मे सोते हुए कुटुम्बीजनो वाला जानकर अर्ध रात्रि मे रत्न अपहरण करके ज्यो हो चला वैसे ही उस रत्न की किरणो के फैलने से नगर-रक्षको ने उसका पीछा किया । जब वह भागने मे असमर्थ हुआ तो वह चौर उस धार्मिक जिन मन्दिर के बनाने मे ब्रह्मा-सरीखे जिनेन्द्र भक्त सेठ के प्रस्थान के निवास स्थान मे प्रविष्ट हो गया—घुस गया । गाली देना-आदि खोटे भाषण से प्रचुर उन नगर-रक्षको के कोलाहल से सेठ की नीद शीघ्र खुल गई और उसने इसे कपटी क्षुल्लक के रूप को धारण करने वाला जानकर निम्नप्रकार विचार किया—'जैन शासन की, स्वभाव से जिसके आप्त, आगम, पदार्थ, आचार व नय निर्दोष है और जो समस्त अन्य दर्शनो की अपेक्षा अधिक आम्नाय वाला है, परमार्थ को न जानने वाले अज्ञानी पुरुषो की अपेक्षा से निन्दा या अपकीर्ति नही होनी चाहिए ।' इस विचार से उसने समस्त नगर रक्षको से कहा—'अरे दुष्ट वचन बोलने वालो ! आप लोग क्यो इस सयमी चरित्रवान् सज्जन पुरुष का खोटे परिणाम से तिरस्कार करते है ? क्योकि यह महान् तपस्वियो मे भी महातपस्वी है और अत्यन्त नि स्पृही महापुरुषो मे विशेष नि स्पृही है । यह स्वभाव से ही महापुरुष है । इसकी चित्तवृत्ति मायाचार व

---

१ औक आवास । २ 'अनन्यसयमस्पृशाम्' (ख०) । ३ ब्रह्मण । ४ शीघ्र । ५ ज्ञात्वा । ६ अधि-काम्नायस्य ७ असमीचीनेन परिणामेन ।

मतेन मणिमेनमानयत् कथ नाम स्तेनभावेन[1] भवद्भि सभावनीय । तत्प्रतूर्णमभ्यर्णीभूय प्रसन्नवपुष[2] सदाचारकैरवार्जुन[3]-ज्योतिषमेन क्षमयत स्तुत नमस्यत वरिव[4]स्यत च ।

भवति चात्र श्लोक —

मायासयमिन्युत्सर्पे[5] सूर्पे रत्नापहारिणि । दोष निषूदयामास[6] जिनेन्द्रो भक्तवाक्पर[7] ॥१९२॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृहणार्हणो नाम द्वादश कल्प ।

परीषहव्रतोद्विग्नमजातागमसगमम् । स्थापयेद् भ्रस्यदात्मान समयी समयस्थितम्[8] ॥१९३॥

तपस. प्रत्यवस्यन्त[9] यो न रक्षति सयतम् । नून स दर्शनाद्वाह्य समयस्थितिलङ्घनात् ॥१९४॥

नवै सदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्गणवर्धनम् । एकदोषकृते त्याज्य प्राप्ततत्त्व कथ नर ॥१९५॥

यत समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रय[10] । अत सबोध्य यो यत्र योग्यस्त तत्र योजयेत् ॥१९६॥

उपेक्षाया तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नर । ततस्तस्य भवो[11]दीर्घ[12] समयोऽपि च हीयते ॥१९७॥

चोरी से रहित है । हमारे कहने से ही यह मणि लाया है । आपने किस प्रकार इसे चोर समझकर अनादर-युक्त—अपमानित किया ? अत शीघ्र ही इसके पास आकर विशुद्ध चित्तवृत्ति व निर्मल बाह्येन्द्रिय वृत्ति वाले होते हुए सदाचाररूपी कुमुद को विकसित करने के लिए चन्द्र-सरीखे इससे क्षमा माँगो, इसकी स्तुति करो, नमस्कार करो ओर इसकी पूजा करो ।'

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—कपटपूर्ण क्षुल्लक-वेषधारी और वैडूर्य मणि को चुराकर शीघ्र भागनेवाले सूर्प के दोष (निन्दा) को जिनेन्द्र भक्त सेठ ने आच्छादित किया—छिपाया ॥१९२॥ इस प्रकार उपासकाध्ययन मे धर्म के उपवृहण गुण के निरूपण करने मे समर्थ बारहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब स्थितिकरण अङ्ग का निरूपण करते है—

सम्यग्दृष्टि धार्मिक सज्जन को क्षुधा व तृषा-आदि परीषहो के सहन से व अहिसा-आदि व्रतो के पालन से भयभीत हुए एव आगम के अध्ययन से रहित होने से धर्म से डिगते हुए साधर्मी भाई को धर्म मे स्थापित करना चाहिए ॥१९३॥ जो धार्मिक पुरुष तप से भ्रष्ट होते हुए साधु की रक्षा नही करता (उसे पुन तप मे स्थित नही करता) वह आगम की मर्यादा का उल्लङ्घन करने के कारण निश्चय से सम्यग्दर्शन से वहिर्भूत (मिथ्यादृष्टि) है ॥१९४॥ जिनके निर्वाह (जैनधर्म के पालन) मे सदेह है, ऐसे नये मनुष्यो से सघ को वृद्धिगत करना चाहिए । केवल एक दोष के करने से तत्वज्ञानी पुरुष कैसे छोडा जा सकता है ? अर्थात्—यदि उससे दोष हो जाय तो उसे ढँकना चाहिए ॥१९५॥ क्योकि धार्मिक कार्यों की सिद्धि अनेक मानवो के आश्रय की अपेक्षा करती है, इसलिए समझा-बुझाकर जो व्यक्ति जिस कार्य (धर्म-प्रभावना आदि) मे कुशल है, उसे उसमे नियुक्त करना चाहिए ॥१९६॥ साधर्मी मनुष्य की उपेक्षा करने से वह धर्म से दूर हो जाता है (धर्म छोड देता है) और इससे उसका ससार, विशेष दीर्घ होता है और धर्म को भी क्षति होती है ॥१९७॥

---

१ चोरभावेन । २ निर्मलान्त करणबहिकरणा सन्त । ३ कुमुद तस्य विकासने चन्द्र । ४ पूजयत यूय । ५ शीघ्रगामिनि । ६ स्फेटयति स्म । ७ जिनेन्द्रभक्त इत्यर्थ । ८ 'समयी समयस्थित ' (क०) । ९ चलन्त । १० मनुष्य. । ११ ससार । १२ दीर्घ स्यात् ।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मगधदेशेषु राजगृहापरनामावसरे पञ्चशैलपुरे चेलिनीमहादेवीप्रणयक्रैणिकस्य[1] श्रेणिकस्य गोत्रा[2]कलत्रस्य पुत्र सकलवैरिपुराभिषेणो[3] वारिषेणो नाम । स किल कुमारकाल एव ससारसुखसमागमविमुखमानस परमवैराग्योद्‌गूर्ण[4] पूर्णनिर्णयरस श्रावकधर्माराधनधन्यधिषणतया गुरूपासनसवीणतया[5] च सम्यगवसि[6]तोपासकाध्ययनविधिराश्चर्यशौर्यनिधिरेकदा प्रेतभूमिषु भू[7]तवासरविभावर्या रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव । अत्रावसरे क्षपाया[8] परिणताभोगे खलु मध्यभागे[9] मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गन[10]यातमन्यतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो मृगवेग नामा वीर शयनतलमापन्न[11]सन्नेवमुक्त —'राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामनिष्ठस्य कीर्तिमतीनामाया प्रियतमाया स्तनमण्डल[12]-मण्डनोदारमलङ्कारसार हारमिदानीमेवानीय यदि विश्राणयसि[13], तदा त्व मे रतिराम, अन्यथा प्रणयविराम' इति । सोऽप्यवशानङ्गवेगो[14] मृगवेगस्तद्वचनादेव तदायतनान्निसृत्याभिसृत्य[15] च निजकलाबलात्तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितवरणवारस्तलारानुवरै[16]रनुसृतो[17] मृगायितुम[18]समर्थस्तस्य व्युत्सर्गवेषमुपेयुषो

इस विषय मे एक कथा है, उसे सुनिए।

मगध देश मे 'पचशैलपुर' नाम का नगर है, जिसे 'राजगृह' इस दूसरे नाम का अवसर प्राप्त है, उसमे चेलिनी-महारानी के प्रेम का ग्राहक व पृथिवीरूपी स्त्रीवाले 'श्रेणिक' राजा के शत्रुओ के नगरो पर सेना से आक्रमण करनेवाला (वीर) 'वारिषेण' नाम का पुत्र था। उसकी मनोवृत्ति निश्चय से कुमार-काल से ही सासारिक सुखो के समागम से विमुख थी। परम वैराग्य मे उद्यत हुआ वह तत्वो के पूर्ण निश्चय मे रुचि रखने वाला था। श्रावकधर्म की आराधना से प्रशस्त बुद्धि के कारण और गुरुजनो की उपासना मे प्रवीण होने से उसने श्रावकाचार की विधि अच्छी तरह निश्चित की थी और वह आश्चर्यजनक व रता की निधि था। एक समय वह कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि मे श्मशानभूमि मे रात्रि प्रतिमा योग से स्थित हुआ। अर्थात्— नग्न मुद्राधारक होकर धर्मध्यान मे मग्न हुआ।

इसी अवसर पर परिणत विस्तार वाली मध्यरात्रि मे 'मगध-सुन्दरी' नाम की वेश्या ने अपने मे अत्यन्त आसक्त विस्तृत चित्तवृत्ति वाले और उसकी शय्यातल मे प्राप्त हुए मृगवेग नाम के वीर चोर से कहा— '[प्रियतम !] राजश्रेष्ठी धनदत्त की पत्नी कीर्तिमती के कुच-मण्डल को अलङ्कृत करने से उत्कृष्ट और आभूषणो मे श्रेष्ठ हार इसी समय लाकर यदि मेरे लिए देते हो तो तुम मेरे रति-सुख मे लीन होनेवाले प्रेमी हो अन्यथा प्रेम का अन्त करने वाले (शत्रु) हो।'

वेश्या के वचन सुनकर काम-वेग को वश मे न करनेवाले मृगवेग ने वेश्या के गृह से निकलकर अपनी कला के बल से धनदत्त सेठ के गृह का आश्रय किया और हार को चुराकर जैसे ही वह भागा वैसे ही उस हार का किरण-समूह के प्रकाश से नगर रक्षको ने उसका भागना जान लिया, इसलिए वे उसके पीछे दौडे। अपने को दौडने मे असमर्थ जानकर मृगवेग उस हार को नग्न वेश मे कायोत्सर्ग मे स्थित हुए वारिषेण के आगे छोडकर स्वय छिप गया।

जब नगर रक्षको ने उस हार की विशेष कान्ति से ऐसा विचार किया—'कि निस्सन्देह यह राजकुमार वारिषेण है, इसके माता-पिता श्रावक है, अत अपने को भागने मे असमर्थ जानकर राजकुमार ने अपने

१ ग्राहकस्य। २ भूरेव कलत्र यस्य स.। ३ सेनयाऽभियातीति। ४ उद्यत। ५ प्रवीण। ६ निश्चित। ७ कृष्ण चतुर्दशीरात्रौ। ८ रात्रे। ९ मध्यरात्रौ। १० द्रव्यस्त्रिया। ११ आसन्न प्राप्त। १२ 'स्तनमडनोदार' ख०। १३ ददासि। १४ कामवेग। १५ आश्रित्य। १६ सेवकै। १७ पृष्ठत प्राप्त। १८. पलायितु।

वारिषेणस्य पुरतो हारमपहाय[1] तिरोदध । तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिषेणोऽय ननु राजकुमार पलायितुमशक्त पित्रो श्रावकत्वादिमामर्हत्प्रतिमासमानाकृति प्रतिपद्य पुरो निहितहार समास्त' इत्यवमृश्य प्रविश्य च विश्वभराधीशवेश्मनिवेश[2]मेतत्पितु[3] प्रतिपादितवृत्तान्ता ।

दण्डो हि केवलो लोक पर चेम च रक्षति । राज्ञा शत्रौ च मित्रे च यथादोष सम धृतः ॥१९८॥

इति वचनात् 'न हि महीभुजा गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थिति, तदस्य रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्ड समस्ति' इति न्यायनिष्ठुरताभिनिवेशात्तज्जनकादेशादागत्य त सदाचारमहान्त प्रहरन्त·[4] शरविश[5]रान्प्रसूनशेखरता[6] [7]भ्रमिलमण्डलानि कर्णकुण्डलता कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि तत्तद्भूषणतामनुसरन्ति । निबुध्य[8]तद्ध्यानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवोपहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानानकनिकरमनिमिषनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमितस्ततो महामहोत्सवावतार च

आगे हार स्थापित करके जिनेन्द्र की प्रतिमा-सी अपनी आकृति बना ली है और यहाँ स्थित है। इसके बाद वे राजा श्रेणिक के आवास-स्थान पर पहुँचे और उनसे सब समाचार कथन कर दिया।

नीतिकारो ने कहा है—'कि निस्सन्देह केवल दण्ड ही, जो कि राजा द्वारा शत्रु व मित्र को अपराध के अनुकूल समानरूप से दिया गया है, इस लोक व परलोक की रक्षा करता है ॥ १९८ ॥'

'निश्चय से राजाओ के लिए गुण-दोष छोडकर मित्र व शत्रु-व्यवस्था नही है। अर्थात्—राजाओ के लिए जो गुणी है, वह मित्र है और जो दोषी—अपराधी है, वह शत्रु है, इसलिए रत्नमयी हार को चुराने से नष्ट चरित्रवाले इस पुत्ररूप शत्रु के लिए प्राणदण्ड (फाँसी की सजा) को छोडकर कोई दूसरा तीक्ष्ण दण्ड नही हैं।' [ऐसा विचार कर राजा श्रेणिक ने अपने पुत्र के प्राणदड की आज्ञा दे दी।]

इस प्रकार न्याय की निष्ठुरता के अभिप्राय वाली वारिषेण के पिता (राजा) की आज्ञा से वे नगर-रक्षक श्मशान भूमि मे आए और उस महान् सदाचारी वारिषेण के ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे। परन्तु उन्होने वाणसमूहो को फूलो के मुकुटो का अनुसरण करते हुए, और चक्रसमूहो को कर्ण-कुण्डलो का अनुसरण करते हुए एव खड्गसमूहो को मोतियो के हारो का अनुसरण करते हुए देखा। अर्थात्—वाण-समूह फूलो के मुकुट बन गए और चक्रसमूह कर्ण-कुण्डल हो गए—इत्यादि। इसी प्रकार दूसरे अस्त्र भी उसके भूषणपने का अनुसरण करते हुए।

उक्त घटना जानकर उसकी ध्यान की धीरता से विशेष प्रमुदित होने से नगर देवता-आदि ने चारो ओर ऐसे महामहोत्सव का अवतरण किया, जिसमे नगर-देवता के करकमलो द्वारा क्षेपण किये जा रहे कल्पवृक्षो के पुष्पो के उपहार (भेटे) वर्तमान थे। जिसमे विद्याधर-कुमारो द्वारा अनेक दुन्दुभि बाजे-समूह बजाए जा रहे थे एव जिसमे देव-समूह द्वारा प्रशसा की जा रही अनेक स्तुतियो का मिश्रण था।

जब प्रहार करने वाले नगर रक्षको ने यह सब घटना देखी तो उनका मन विशेष भयभीत व आश्चर्यान्वित हुआ और शीघ्र जाकर उन्होने श्रेणिक राजा से सब समाचार निवेदन किया। राजा शीघ्र ही

---

१ त्यक्त्वा। २ आवासस्थान। ३ वारिषेणतातस्य। ४ भृत्या श्रेणिकाय निवेदयामासु। ५ प्रसरान्। ६ अनुसरतान्। ७ चक्र। ८ ज्ञात्वा।

निचा[1]य्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्त करणा श्रेणिकचरणीश्वरायेद निवेदयामासु[2]। नरवर सपरिवार सोत्ताल[3] तत्रागत सन्कुमाराचारानुरागरसोत्सारितमृतिभीतिसङ्गान्मृगवेगाद[4]वगतामूलवृत्तान्त साधु त कुमार क्षमयामास। नृपनन्दनोऽपि प्रतिज्ञात[5]समयावसाने 'प्राणिना सुलभसपाता खलु ससारे व्यसनविनिपाता । तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन। एषोऽहमिदानीमवाप्तयथार्थमनीषोन्मेषस्तावदात्महितस्यो[6]पकरिष्ये'[7] इति निश्चयमुपश्लिष्याभाष्य[8] पित-रमापिष्य[9] च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहमाचार्यस्य सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह।

भवति चात्र श्लोक —

विशुद्धमनसा पुसा परिच्छे[10]दपरात्मनाम्। किं कुर्वन्ति कृता विघ्ना सदाचार[11]खिलै खलै ॥१९९॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रवृज्याव्रजनो नाम त्रयोदश कल्प ।

पुन 'इष्ट धर्मे नियोजयेत्, तथा आतुरस्यागदका[12]रोपयोग[13]इवानिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मयोग कुशलै क्रियमाणो भवत्याय[14]त्यामवश्य नि श्रेयसाय' इति जातमतिस्तप परिग्रहेऽपि सह पांसुक्रीडितत्वाच्चिरपरिचयप्ररूढप्रणयत्वाच्चात्मन प्रियसुहृद पुष्पवतीभट्टिनीभर्तुरमात्यस्य शाण्डिल्यायनस्य नन्दनमभिनवविवाहविहितकङ्कणबन्धन पुष्पदन्ताभिधान-

---

सपरिवार वहाँ आया और जब उसने ऐसे मृगवेग नाम के चोर से, जिसने वारिषेण राजकुमार के सदाचार के पालन से उत्पन्न हुई स्नेह की उत्कटता के कारण अपनी मृत्यु के भय का सम्पर्क नष्ट कर दिया है, शुरु से अन्त तक हार की चोरी का सब समाचार जाना तब उसने राजकुमार से अच्छी तरह क्षमा माँगी।

राजकुमार वारिषेण ने ध्यान की प्रतिज्ञा के बाद यह निश्चय किया—'निश्चय से ससार मे प्राणियो को दु खो के आक्रमण सुलभ आगमन वाले होते है, अत मृत्यु के आश्रय वाले विलम्ब से क्या लाभ है ? इसलिए अब यथार्थ बुद्धि के प्रकाश को प्राप्त हुआ मै आत्मकल्याण के लिए प्रयत्नशील होऊँगा।' बाद मे उसने अपने पिता से कहकर बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह के आग्रह को चर्ण करके सुरदेव नाम के आचार्य के समीप मे जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली।

इस विषय मे एक श्लोक है, उसका भाव यह है—विशुद्ध चित्तवृत्तिवाले आत्मज्ञानी महापुरुषो के लिए सदाचार से ऊजड (शून्य) दुष्टो के द्वारा की हुईं विघ्न-बाधाएँ क्या कर सकती है ? अर्थात्—कुछ भी बिगाड नही कर सकती ॥ १९९ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे वारिषेण राजकुमार का दीक्षा के लिए
प्रस्थान वाला यह तेरहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इसके बाद वारिषेण मुनिराज के हृदय मे यह परोपकार बुद्धि उत्पन्न हुई। 'अपने प्रिय जन को धर्म मे स्थापित करना चाहिए तथा जैसे औषधि का उपयोग रोगी को उत्तरकाल मे कल्याणकारक होता है वैसे ही धर्म-पालन की इच्छा न रखते हुए प्राणी के लिए निपुण पुरुषो से किया जा रहा धर्म-सबध भी उत्तरकाल मे मोक्ष के लिए होता है।' इसलिए जब उन्होने मुनिदीक्षा ग्रहण की तब पुष्पवती नाम की मनोज्ञ पत्नीवाले 'शाण्डिल्यायन' राजमन्त्री के पुत्र ऐसे पुष्पदन्त के घर जाकर उसे अपने साथ लिया, जो कि वारिषेण राजकुमार

---

१ अवलोक्य। २ प्रहरन्त पुरुषा। ३ त्वरित। ४ चौरात्। ५ प्रतिज्ञानन्तर। ६-७ प्रतियत्ने षष्ठी। पञ्जिकाया तु आत्महितस्य प्रतियत्ने कृञ् इति। ८ कथयित्वा। ९ चूर्णीकृत्य। १०. ज्ञातात्मनाम्। ११ उद्वसै। १२. अगदकरमौषधम्। १३ वैद्यप्रयोग। १४ आयति फलमुत्तर।

लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलाया स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवाया ।
उत्तुङ्गपीवरपयोधरमण्डलायास्तस्या मया सह कदा ननु सगम स्यात् ॥२०२॥

किं च । चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिज[1]व्यापारसारामृ[2]तैर्गाढाभ्यासपुर स्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमै ।
स्वप्ने[3] सगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमैरित्थ वेषमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कण्ठित कानने ॥२०३॥

इति निर्बन्धन[4] ध्यायन्द्वादशसमा [5] समानैषीत् ।

शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्या सह तेषु तेषु विषयेषु तीर्थंकृता पञ्च कल्याणमङ्गलानि स्थानानि वन्दित्वा पुर्नविहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तसितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपु[6]रे समागत्यात्मनो वारिषेण ऋषेश्च तद्दिवसे पर्युपासितो[7]पवासत्वात्त पुष्पदन्तमेकाकिनमेव प्रत्यवसानाया[8]दिदेश । तदर्थमादिष्टेन च तेन[9] चिन्तित चिरात्कालात्खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवन्नुद धृतोऽस्मि । सप्रति हि मे नूनमनूनानि पुण्यान्यवेक्ष्य दीक्षा मुमुक्षुणा[10] मङ्क्षु[11] पाशपरिक्षेपक्षरितेनेव पक्षिणा पलायितुमारब्धम् ।

॥ २०१ ॥ ऐसी उस प्रिया का मेरे साथ निश्चय से कब समागम होगा ? जिसके नेत्ररूपी नीलकमल लीला (हाव भेद) व विलास (सौन्दर्य) से सुशोभित है। जिसके ओष्ठ पल्लव बढे हुए काम के वेग से चञ्चल है और जो उन्नत व कडे कुचमण्डल वाली है ॥ २०२ ॥

मुनिवेषी पुष्पदन्त अपनी प्रिया मे उत्कण्ठित हुआ जगल मे इस प्रकार दिन व्यतीत करता था ।

उदाहरणार्थ—वस्त्र मे प्रिया के चित्र लेखन कार्यो से, कामदेव के व्यापारो के उत्तम पदार्थों के स्मरणो से, दृढ भावना से सामने खडी हुई प्रियतमा के चरणो मे नमस्कार के क्रमो से और स्वप्न मे प्रिया का सगम होने से सुख की प्राप्ति व स्वप्न मे प्रिया का वियोग होने से दु ख की प्राप्ति से ॥ २०३ ॥

एक बार शूरदेव नाम के आचार्य भी अपने शिष्य वारिषेण व पुष्पदन्त के साथ विविध देशवर्ती तीर्थङ्करो के पच कल्याणको के माङ्गलिक तीर्थ स्थानो की वन्दना करके घूमते घूमते उसी राजगृह नगर मे आए, जिसके निकटवर्ती पर्वत-शिखर जिन-मन्दिरो से सुशोभित है। उस दिन आचार्य ने व वारिषेण मुनिराज ने उपवास धारण किया था, अत उन्होने पुष्पदन्त को अकेले ही जाकर आहार करने की आज्ञा दे दी।

आहार के लिए आज्ञा प्राप्त करनेवाले पुष्पदन्त ने विचार किया—'निस्सन्देह चिरकाल के बाद मे एक अपमृत्यु से जीवित रहकर उद्धार वाला हुआ हूँ। आज मेरे प्रचुर पुण्य का उदय है। फिर दीक्षा को छोडने के इच्छुक हुए उसने वैसा शीघ्र भागना आरभ किया जैसे जाल के आवरण से निकला हुआ पक्षी शीघ्र भागना आरभ करता है।

इसके बाद वारिषेण ने उसे इस तरह प्रस्थान करते हुए देखकर उसका भविष्य कालीन अभिप्राय जानकर विचार किया। 'यह अवश्य ही जिन दीक्षा छोडने का इच्छुक-सा जान पडता है, इसीलिए यह उत्कण्ठा के साथ भाग रहा है।' इसकी बुद्धि स्त्रीलोभ से अपहरण की जा रही है, अत जिन शासन की रक्षा का भार वहन करने वालो को इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।

---

१ काम। २ 'सारास्मृतै' मु० एव 'ख' प्रतौ पाठ। ३ यदा स्वप्ने सगमो भवति, तद्विषये प्रीत्यागमो भवति, यदा तु स्वप्ने विप्रयोगो भवति, तद्विषये अप्रमोदागमो भवति। ४ आग्रहेण। ५ वर्षाणि। ६ राजगृहे। ७ सेवित। ८ प्रत्यवसान भोजनमिति यश प। ९ पुष्पदन्तेन। १० दीक्षा मोक्तुमिच्छुना ११ शीघ्र।

वारिषेणस्तस्य तथा प्रस्थानात्कृतोदर्क वितर्क[1]यं अवश्यमय जिनरूप जिहासु[2]रिव सौत्सुक्य विक्रमते, तदेष कषायमु[3]ष्यमाणधिषण समयप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीय' इत्यनुध्यायाद्[4]ढा तमनुरु[5]ध्यैत[6]त्स्थापनाय जनकनिकेत[7]न जगाम। **चेलिनीमहादेवी** पुत्र मित्रेण सत्त्र मुपढौकमा[8]नमवेक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षाथ सरा[9]ग विराग चासनमयच्छत्। **वारिषेण**स्तेन सम चरमोपचा[10]र विष्टरमलकृत्य 'अम्ब[11], समाहूयन्ता समस्ता अप्यात्मीया *स्नुषा'। तदनु वनदेवता इव प्रसूनोत्तसोत्तरङ्गितकुन्तलारामा, कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमा, प्रावृष इव [12]समुन्नद्धपयोधराविद्ध[13]मध्यभागा, सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव सुभगभो[14]गायतनाभोगा, कङ्केल्लि[15]काननक्षितय[16] इव [17]पादपल्लवोल्लासितविहारविषया, कमलिन्य इव मणिमयमञ्जीरमणितो[18]न्मद मरा[19]लमण्डलस्खलितवलन[20]जलेशया, स्वकीयरूपसपत्तिरस्कृतत्रिभुवन[21]रामारामणीयका सलीलमहमहमिकोत्सुका समागत्य समन्तात्परिवव्रु पुण्यदेवता इव ता स्ववासिन्य[22]। 'अम्ब, मद्भ्रातृजा[23]या सुदत्यप्याकार्यताम्'। तत सध्येव [24]धातुरक्ताम्बरचराटोपा, तप श्रीरिव

ऐसा विचार करके वारिषेण मुनि शीघ्र मार्ग रोककर इसे मुनिधर्म मे स्थापित करने के लिए अपने पिता श्रेणिक राजा के निवास-स्थान पर गए। चेलिनी रानी ने अपने पुत्र वारिषेण को मित्र के साथ आते हुए देखकर उसके मन के अभिप्राय की परीक्षा करने के लिये रागियो के योग्य आसन (पलङ्ग-आदि) और वैरागियो के योग्य आसन (तृणासन) प्रदान किये। वारिषेण मुनि अपने मित्र के साथ वैरागियो के योग्य आसन (चटाई) पर बैठ गए और कहा—'माता! अपनी समस्त पुत्र-वधुओ को बुलाओ।'

बाद मे ऐसी सभी पूर्ण-युवती वारिषेण की पत्नियो ने परस्पर के अहकार से उत्कण्ठित होकर विलास के साथ आकर उन्हे चारो ओर से वेष्टित कर लिया, जिनका केशपाश रूपी बगीचा वैसा पुष्परूपी शिरोभूषणो से वृद्धिगत था जैसे वनदेवता पुष्परूपी शिरोभूषण से वृद्धिगत बगीचे वाली होती है। जिनके अङ्गो के निकास मणिमय आभूषणो से वैसे मनोज्ञ है जैसे कल्पलताएँ मणि-सरीखे (शुभ्र) पुष्परूपी आभूषणो से मनोज्ञ होती है। जिनका मध्यभाग (कमर) वैसा उन्नत पयोधरो (कुच कलशो) से आविद्ध (झुका हुआ) है जैसे वर्षा ऋतु विशाल पयोधरो (मेघो) से आच्छादित आकाश के मध्यभाग वाली होती है। जिनका विस्तृत शरीर ऐसा सुन्दर है—मानो—समस्त लोक के सौन्दर्य की अशरूप लिपि से लिखी गई है। जिन्होने विहार विषयो (लीला-प्रदेशो) को पादपल्लवो (चरणरूपी किसलयो) से वैसा सुशोभित किया है जैसे अशोक वृक्षो की वन भूमियाँ विहार विषयो (उद्यान-प्रान्तो) को पाद (मूल से लेकर) किसलयो से सुशोभित करती है। जैसे कमललताएँ रत्नमयी नूपुरो के शब्द-सरीखा शब्द करने वाले मतवाले हस-समूह से चलित कमलो वाली होती है वैसे ही जिनके चरणकमल रत्नमयी नूपुरो की मधुर झङ्कार ध्वनिरूपी मतवाले हस-समूह से चलित हो रहे हैं। जिन्होने अपनी रूपसम्पदा से तीन लोक की नारी जनो की सुन्दरता तिरस्कृत की है और जो पुण्य-देवता-सरीखी है।

इसके बाद वारिषेण ने कहा—'माता! मेरी भ्रातृ वधू सुदती को भी बुलाइए।' अत ऐसी सुदती भी वहाँ प्रविष्ट हुई। जो वैसी गेरुआ रक्त अम्बर (वस्त्र) से चञ्चल विस्तारवाली है जैसी सध्या लोहित

---

१ अभिप्रायार्यति। २ त्यक्तुमिच्छु। ३ स्त्रीलोभ। ४ शीघ्र। ५ माग रुद्ध्वा। ६ एतस्य स्थापनं। ७ श्रेणिकावास। ८ आगच्छन्त। ९ मञ्चकादिक। १० वीतरागासन। ११ हे मात। * वध्व। १२ उन्नत। १३ आभुग्नो निर्भर वा। १४ शरीर। १५ अशोकवृक्ष। १६ भूमय। १७ पादा चरणा पक्षे मूल। १८ शब्दित। १९. हस। २० चलना एव जलेशयानि यासा ता। २१ नारीजन। २२ किंचित् प्रौढा। २३ भ्रातृपत्नी। २४ गेरूरक्तवस्त्रेण चर चपल आटोपो यस्या सा।

विलुप्तकुन्तलकलापा, भव्यजनमतिरिव विभ्रमभ्रंशिदर्शना, हिमोन्मथिता कमलिनीव क्षामच्छायापघ[1]ना, शरदिव दीनपयोधरभरा, [2]खट्वाङ्गकरङ्काकृतिरिव प्रकटकीकस[3]निकरा सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिर्मूर्तिमती वैराग्यस्थितिरिव विवेश। पुष्पदन्तहृदयकन्दलो[4]ल्लासवसुमती सुदती। वारिषेणोऽवधार्य 'मित्र, सेयं तव प्रणयिनी यन्निमित्तमद्यापि न संपद्यसे मनो मुनिरिति। एताश्चैवंविधकायास्तव भ्रातृजाया, तथैते च वयं तव समक्षोदयं समाचरिताभिजातजनोचितचरिता'। पुष्पदन्त —

स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसूनताम्बूलवासविधिना[5] क्षणमात्रमेतत्।
आधे[6]यभावसुभगं वपुरङ्गनानां नैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य[7] वाच्या ॥२०४॥

इत्यसंशयमाशय्य[8] स्त्रैणेषु सुखकरणेषु विचिकित्सासज्जां लज्जामभिनीय[9] 'हहो [10]निकामनिरुद्धमकरध्व-

---

र्ण वाले अम्बर (आकाश) मे संचार करनेवाले विस्तार वाली होती है। जो वैसी विलुप्त (अस्त-व्यस्त) केश-समूह वाली है जैसी तपोलक्ष्मी विलुप्त (उत्पाटित—उखाडे हुए) केश समूह वाली होती है। जो वैसी विभ्रम (विलास—सौन्दर्य) से शून्य दर्शन वाली है जैसे भव्यप्राणी की बुद्धि विभ्रम (मिथ्याज्ञान) को नष्ट करनेवाले सम्यग्दर्शन से अलङ्कृत होती है। जो वैसी क्षामच्छायापघना (म्लानकान्ति-युक्त शरीरवाली) है जैसी पाले से पीडित हुई कमललता म्लान कान्तियुक्त पत्र-पुष्पादि अवयवो वाली होती है। जैसे शरद ऋतु दीन (दरिद्र—निर्जल) पयोधर-समूह (मेघ-समूह) वाली होती है वैसे ही जो दीन (शिथिल) पयोधर-समूह (कुच-समूह) वाली है। जैसे अनबुडी खाट की आकृति प्रकट दिखाई देनेवाले कीकसो (कीडो) के समूह वाली होती है वैसे ही जिसके कीकस-समूह (हड्डियो की श्रेणी) प्रकट दिखाई देते थे। जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—समस्त सासारिक सुखो से पराङ्मुखता (उदासीनता) की नीति वाली मूर्तिमती (स्त्री-रूपधारिणी) वैराग्य-स्थिति ही है और जो पुष्पदन्त के हृदयरूपी पल्लव के उल्लास (प्रमोद) के लिए पृथिवी-सरीखी है।

सुदती को जानकर वारिषेण ने कहा—'मित्र! यही तुम्हारी वह प्रियतमा है, जिसके निमित्त से अब तक भी—बारह वर्ष बीत जाने पर भी—तुम भाव साधु नही हुए और ये सब सामने दिखाई देने वाली मनोज्ञ शरीर वाली तुम्हारी भोजाइयाँ है एव ये हम हैं, जिन्होने तुम्हारे समक्ष चारित्र की उन्नतिपूर्वक कुलीन पुरुषो के योग्य निर्दोष चारित्र पालन किया है, अर्थात्—मेरी स्त्रियाँ विशेष सुन्दर है तो भी उन्हे छोडकर मैने निर्दोष चारित्र पालन किया और तुम कुरूप स्त्री को देवी-सरीखी समझकर हीन चारित्र वाले हुए हो। इस प्रकार वारिषेण ने पुष्पदन्त को तिरस्कृत किया।

तत्पश्चात् पुष्पदन्त ने निम्न प्रकार निस्सन्देह विचार किया—

यह स्त्रियो का शरीर, स्नान, सुगन्धित वस्तु का लेप, मनोज्ञ वस्त्र, आभूषण, पुष्प, ताम्बूल व वासन-धूपनादि विधि से अन्य दूसरी सुगन्धि वस्तुओ के आरोपण से क्षणमात्र के लिए सुन्दर प्रतीत होता है परन्तु इस शरीर की स्वाभाविक स्थिति (रस व रक्त-आदि सप्तधातु-युक्तता) कहने योग्य नही है, अर्थात्—यह अत्यन्त असमीचीन है ॥ २०४ ॥

इसके बाद उसने स्त्री सम्बन्धी क्षणिक सुख के कारणो मे ग्लानि-युक्त लज्जा को प्राप्त करके कहा—

---

१ देहा। २ खट्वाङ्गमेव करङ्क वाणदोरडीरहिता खाटलु। ३ अस्थि। ४ पल्लव। ५ वासनधूपनादि। ६ सुगन्धवस्तुनाऽरोपणेन क्षणमात्रसुभगमग। ७ अस्य अङ्गस्य नैसर्गिकी स्वाभाविकी स्थितिर्नवाच्या-नितरा असमीचीनेत्यर्थ। ८ विचिन्त्य। ९. प्राप्य। १० अतिशयेन।

[1]जोद्धव, [2]विधुरबान्धव ससारसुखसरोजोत्सा[3]रनीहारायमाणचरण[4] वारिषेण, पर्याप्तमत्रावस्थानेन। प्रकामशक[5]लितकुसुमास्त्ररसरहस्य वयस्य[6], इदानी यथार्थनिर्वेदावनिमनोमुनिरस्मीति चावधार्य विशुद्धहृदयौ द्वावपि तौ चेलिनी-महादेवीमभिनन्द्योपसद्य[7] च गुरुपादोपशल्य[8] नि शल्याशयौ साधु तपश्चक्रतु ।

भवति चात्र श्लोक —

सुदतीसङ्गमासक्त पुष्पदन्त तपस्विनम् । वारिषेण कृतत्राण स्थापयामास सयमे ॥२०५॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीतनो नाम चतुर्दश कल्प ।

[9]चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकै । पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥२०६॥

ज्ञाने तपसि पूजाया यतीना यस्त्वसूयते । [10]स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते[11] ॥२०७॥

समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासक [12] । समर्थश्चित्तवित्ताभ्या स्वस्यामुत्र[13] न भासक ॥२०८॥

'कामदेव के दर्प को विशेष रूप से रोकने वाले और कष्ट अवस्था मे बन्धु-सरीखे एव सासारिक सुखरूपी कमल को नष्ट करने मे हिम-(बर्फ) सरीखे चरित्रशाली ऐसे हे वारिषेण ! यहाँ ठहरने से कोई लाभ नही'। 'कामदेव के रस के गूढस्वरूप को विशेष रूप से खण्डित करने वाले मित्र ! इस समय मै वास्तविक वैराग्य का स्थान होकर भावमुनि हुआ हूँ। ऐसा निश्चय करके दोनो विशुद्ध हृदय वाले मित्रो ने चेलिनी महादेवी का अभिनन्दन करके गुरु के चरणकमलो के समीप प्राप्त होकर नि शल्य अभिप्राय वाले होकर अच्छी तरह उग्र तपश्चर्या की।

इस विषय मे एक श्लोक है, उसका अभिप्राय यह है—

वारिषेण ऋषि ने पुष्पदन्त नामक तपस्वी को, जो कि सुदती नाम की प्रिया के साथ सगम के लिए लालायित हो रहा था, रक्षा की और उसे चारित्र मे स्थापित किया ॥ २०५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे स्थितिकरण का कथन करने वाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब सम्यक्त्व के प्रभावना अङ्ग का निरूपण करते है—]

अनेक प्रकार के जिनबिम्ब व जिनमन्दिरो की, स्थापना के द्वारा, अनेक प्रकार के व्याकरण, काव्य, कोष, न्याय व धर्मशास्त्रा के ज्ञान के द्वारा, नाना प्रकार की तपश्चर्याओ (अनशन-आदि बारह प्रकार के तपो) द्वारा एव नाना प्रकार की महाध्वज-आदि पूजाओ (नित्यपूजा, अष्टाह्निकपूजा, इन्द्रमहपूजा व महामहपूजा-आदि) द्वारा जैनशासन की प्रभावना करनी चाहिए ॥ २०६ ॥ जो विवेक-शून्य मानव साधु महापुरुषो के सम्यग्ज्ञान, तप व पूजा से ईर्ष्या—द्वेष करता है, अर्थात्—जो मूर्ख, साधुओ के ज्ञान, तप व उपासना को देखकर उनके गुणो से द्रोह करता है, निस्सन्देह उससे स्वर्गलक्ष्मी व मोक्षलक्ष्मी भी ईर्ष्या करती है। अर्थात्—उसे स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति नही हो सकती ॥ २०७ ॥ जो विवेकी मानव विशुद्ध चित्तवृत्ति (अभिमान, ईर्ष्या व अनिष्ट चिन्तवन-आदि दोषो से रहित मनोवृत्ति) या शास्त्रज्ञान और धन (धन-धान्य-आदि के दान) से समर्थ होने पर भी शासन-दीपक (जैनधर्म की प्रभावना करने वाला) नही है, वह विशुद्ध मनोवृत्ति या

---

१ दर्प। २ कष्टे सति। ३–४ विनाशे हिममिव चारित्र यस्य। ५ खण्डित। ६ मित्र। ७ प्राप्य। ८ समीप। ९ प्रतिमाभि। १० स्वर्गापवर्गविषये भवतीति भू। ११ अक्षमा करोति। १२ न शासनदीपको य भवति। १३ आत्मन परलोके स उद्योतको न भवति।

तद्दानज्ञानविज्ञानमहामह[1]महोत्सवैः । दर्शनद्योतन कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झित[2] ॥२०९॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु श्रीमत्पार्श्वनाथपरमेश्वरयश प्रकाशनामत्रे[3] अहिच्छत्रे चन्द्राननाङ्गनारतिकुसुमचापस्य द्विषतपस्य[4] भूपतेरुदितोदितकुलशील षडङ्गे[5]वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्या चाभिविनीतमतिरापदा दैवीना मानुषीणा च प्रतिकर्ता[6] यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकदा तु सा किल यज्ञदत्तान्त[7]वत्नी सती माकन्द[8]मञ्जरी[9]कणपूरेषु [10]तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला व्यतिक्रान्तर[11]सालवल्लरीफलकालतया *कामितमनवाप्नुवती शिफासु[12] व्यथमाना प्रतानिनीव[13] [14]तनुतानवमुपेयुषी तेन पुरोहितेन

बुद्धि तथा धनादि वैभव से समर्थ होने पर भी परलोक मे अपनी आत्मा का उद्योत करने वाला नही हो सकता। अर्थात्—उसे स्वर्गश्री व मुक्तिश्री की प्राप्ति नही हो सकती ॥ २०८ ॥ इसलिए धर्म बुद्धि वाले मानव को ऐहिक सुख की अपेक्षा से रहित होते हुए आहारादि चार प्रकार के पात्रदान से, आगम के ज्ञान से, चौसठ कलाओ के विज्ञान से एव प्रतिष्ठा-आदि महोत्सवो से, सम्यग्दर्शन का प्रकाश करना चाहिए ॥ २०९ ॥

भावार्थ—स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी प्रभावना अङ्ग का निरूपण करते हुए कहा है—कि 'अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को हटाकर जैनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है।' इसमे बहुश्रुत, स्वार्थत्यागी, वक्ता व सुलेखक विद्वानो की एव दानवीर धनाढ्यो की अपेक्षा होती है। इतिहास भी साक्षी है कि ई० से ३२५ वर्ष पूर्व भद्रबाहु श्रुतकेवली ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के सहयोग से न केवल, ज्ञान का भण्डार भरकर शासन को उद्दीपित किया, किन्तु साथ मे अनेक बहुश्रुत विद्वान् चरित्रनिष्ठ मुनिसघ को पैदा करके जैनशासन की बृहत् प्रभावना की। अत वर्तमान मे जैन शासन को उद्दीपित करने के लिए अनेक बहुश्रुत स्वार्थत्यागी धुरन्धर विद्वानो को उत्पन्न करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए और यह बात तभी सभव है जब प्रत्येक स्थान मे विद्यालय व गुरुकुल हो। बहुश्रुत विद्वानो का कर्तव्य है, कि वे द्वादशाङ्ग श्रुत के उद्धार के लिए सस्कृत या प्राकृतिक शास्त्रो का खोजपूर्ण हिन्दी अनुवाद करे—ताकि शास्त्र, स्वाध्याय सुलभ हो जाय। इसी प्रकार दानवीर धनाढ्यो का कर्तव्य है कि वे विद्वानो की सेवा शुश्रूषा करते हुए उन्हे जैन शासन की प्रभावना के श्रेयस्कर मार्ग मे पूर्ण (तन, मन व धन से) सहयोग दे। ऐसा करने से वे स्वर्ग श्री व मुक्तिश्री के पात्र होकर ऐहिक कीर्तिभाजन भी होगे।

अब प्रभावना अङ्ग मे प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा सुनिए—

पञ्चाल देश मे श्रीमत्पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की कीर्ति के प्रकाशन का पात्र 'अहिच्छत्र' नाम का नगर है। उसमे 'चन्द्रानना' नाम की रानीरूपी रति के लिए कामदेव सा मनोज्ञ 'द्विषतप' नाम का राजा राज्य करता था। उसके ऐसा 'सोमदत्त' नाम का राजपुरोहित था, जो कि कुलीन, सदाचारी और छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द व ज्योतिष), चार वेद, ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दण्डनीति विद्या मे प्रवीण बुद्धिशाली था एव दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियो को दूर करने मे समर्थ था। उसकी 'यज्ञदत्ता' नामकी स्त्री थी।

एक बार यज्ञदत्ता गर्भवती हुई और उसे आम्रमञ्जरी के कर्णपूर के धारण का और पके हुए आम्रफलो के भक्षण का दोहला हुआ। परन्तु आम्र-मञ्जरी व पके हुए आम्र-फल का मौसम बीत चुका था, अत

---

१ प्रतिष्ठादि। २ इहलोकसुखापेक्षारहित। ३. अमत्रे—पात्रे भाजने। ४ नाम्न। ५ शिक्षा, कल्पो व्याकरण छन्दो ज्योतिर्निरुक्त चेति। ६ प्रतीकारकर्ता। ७ गर्भिणी। ८ माकन्दरसालपिकप्रियकालिदासा चूतपर्याया। ९ वल्लरीवल्ली मञ्जर्यामपि। १० पक्व। ११ आम्रवल्लरी। * 'कामितमनवाप्तवती' इति क०। १२ मूलेषु, शिफा जटा इति प०। १३ प्रतानिनी लता वल्ली। १४ कायकृशत्व प्राप्ता।

ज्ञातिजनेन च प्रबन्धेन[1] पृष्टा हृदयेष्टमभाषिष्ट। भट्टस्तन्निशम्य 'कथमेतन्मनोरथमयथार्थपथमस्मन्मनोमथ[2]मव्यर्थ-प्रार्थनं[3] करिष्यामि' इत्याकुलमनः परिच्छदश्छात्रतन्त्रानुपद[4] सातपत्रपदत्राण[5]स्तद्गवेषण[6]धिषणापरायण सन्नितस्ततो-व्रजन् जलवाहिनी नाम नदीतटनिकटनिविष्टप्रतनने[7] महति कालिदासकानने[8] परमतपश्चरणाचरणशुचिशरीरेण नि शेषश्रुतश्रवणप्रसृतमनस्कारेण[9] समस्तसत्त्वस्वरूपनिरूपणस्वाध्यायध्वनिसिद्धौषधिसवि[10]धसाधितवनदेवतानिकरेण मूर्तिमतेव धर्मेण विनेयदैर्घिकेयमित्रेण[11] सुमित्रेण मुनिनालङ्कृतालवालवलयमेतद्ब्रह्मवर्चस[12]माहात्म्यादामूलमाचूलचकं चूत समुल्लसल्लवली[13]फलगुलुच्छस्फीतमवलोक्य [14]च्छेकच्छात्रहस्ते कलत्रस्य पिकप्रियप्रसवफलप्रतोलीं[15] प्रहृत्य ततो भगवतोऽवधिबोधपयोधिमध्यसन्निधायमानसकलकलाकलापरत्नाद्धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात्समायात सहस्रारकल्पे सूर्यविमानसभूत सूर्यचराभिधानानुगतमत्यल्पविभवपरिप्लुतमा[16]त्मगोचर भवान्तरमाकर्ण्योदीर्णजातिस्मरभाव स्वप्न-

उसका दोहला पूर्ण न होने से उसने वैसी शारीरिक कृशता (क्षीणता) प्राप्त की जैसी मूल (जड) मे व्यथित बेलडी क्षीणता प्राप्त करती है। अत राजपुरोहित और कुटुम्बी जनो द्वारा विस्तार से पूँछी जाने पर उसने अपना दोहला कह दिया। उक्त बात सुनकर पुरोहित का मन और कुटुम्बीजन व्याकुलित हुए। उसने मन मे विचार किया—कि 'मै झूठे मार्ग का अनुसरण करने वाली व मेरा मन व्यथित (विशेष दु खित) करने वाली इसकी मनोकामना कैसे सफल (पूर्ण) करूँ ?'

पश्चात् उसने छात्र सम्प्रदाय के सघ-सहित होकर छत्ता धारण किया व जूते पहिने और आम्रफल के देखने या खोजने की बुद्धि मे तत्पर हुआ। यहाँ वहाँ पर्यटन करते हुए उसने 'जलवाहिनी' नाम की नदी के तट के निकटवर्ती, विस्तृत व महान् आम्रवन मे ऐसा आम्र-वृक्ष देखा, जिसकी क्यारी-समूह ऐसे 'सुमित्र' नाम के ऋषि से अलङ्कृत थी, जो कि (आम्रवृक्ष) प्रस्तुत ऋषि के चारित्र व विद्या के प्रभाव से जड से शिखर तक शोभायमान हो रही मञ्जरियो व आम्र फलो के गुच्छो से वृद्धिगत था। जो कि (सुमित्र ऋषि) उत्कृष्ट तपश्चर्या के अनुष्ठान से पवित्र शरीर वाले थे। समस्त द्वादशाङ्ग श्रुत के श्रवण से जिसका चित्त विस्तृत हो गया था। जिसने समस्त प्राणियो के स्वरूप को निरूपण करने वाले स्वाध्याय की ध्वनिरूपी सिद्धौषधि की समीपता से वनदेवता-समूह को अपने वश मे कर लिया था। जो ऐसे प्रतीत होते थे—मानो —मूर्तिमान् धर्म ही है—और जो शिष्यरूपी कमलो को विकसित करने के लिए सूर्य-सरीखे थे। इसके बाद उसने उस आम्र वृक्ष से उत्पन्न हुए फलो के गुच्छो को तोडकर चतुर शिष्य के हाथ अपनी प्रिया के पास भेज दिए।

इसके बाद उसने जब उक्त ऋषि से, जिसकी आत्मा मे अवधिज्ञानरूपी समुद्र के मध्य सन्निधि प्राप्त करने वाले समस्त कला-समूह रूपी रत्न प्रकट हुए है, अपना इस प्रकार पूर्वभव श्रवण किया, कि 'तू बारहवें स्वर्ग मे सूर्य नामक विमान मे उत्पन्न हुआ, बहुत थोडे ऐश्वर्य से सहित भूतपूर्व सूर्य नामका देव था और मेरे निकट धर्मश्रवण के अवसर पर प्रयत्न पूर्वक आया हुआ था' तब उसे पूर्वभव का स्मरण हुआ, अत उसने

१ प्रपञ्चेन। २ अस्मन्मनो मथ्नातीति अस्मन्मनोमथ दु खद। ३ सफलकथ। ४ सप्रदायमेलापकसहित। ५ छत्रोपानत्सहित, सहातपत्रेण छत्रेण पदत्राणाभ्यामुपानद्भ्या वर्तते इति। ६ आम्रावलोकन। ७ विस्तरणे। ८ आम्रवने। ९ चित्ताभोगेन। १० समीप। ११ कमलसूर्येण (सुमित्रेण), दैर्घिकेय कमल, मित्रेण रविणा। १२ स्याद्ब्रह्मवर्चस व्रताध्ययनर्द्धि व्रतविद्याप्रभावात्। ब्रह्मवर्चस यतिव्रतविद्याप्रभावा। १३ मञ्जरी। * 'गुलुच्छोपेतम् (क०)। १४ चतुर। १५ आम्रवरडिका। १६ परिणत सहितमित्यर्थ।

समासादितसाम्राज्यसमानसारात्ससाराद्विरज्य मनोजविजयप्राज्या प्रव्रज्यामासज्य[1] प्रबुद्धसिद्धान्तहृदयो **मगधविषये सोपारपुरपर्यन्तधाम्नि[2] नाभिगिरिनाम्नि** महीधरे सम्यग्योगातपनयोगधरो[3] बभूव ।

तदनु सा तद्वियोगातङ्कोद्वृत्तचित्ता **यज्ञदत्ता** तदन्तेवासिभ्य **सोमदत्त**व्रतव्यतिकरमात्मखेदकरमनुभूय प्रसूय च समये[4] स्तनधय पुनस्तमादाय प्रयाय च त भूमिभृतम्[5] 'अहो कूटकपटपिटक,[6] मन्मनोवनदाहदावपावक, नि स्निग्ध, दुर्विदग्ध, यदीम दिगम्बर[7]प्रतिच्छन्दमवच्छिद्य[8] स्वेच्छयागच्छसि तदाऽगच्छ, नो चेद् गृहाणैनमात्मनो नन्दनम्' इति व्याहृत्यास्योर्ध्व[9]ज्ञोर्भगवत पुरत शिलातले बालकमुत्सृज्य विजहार निज निवासम् । भगवानपि तेन सुतेन दृषद[10]प्लोषोत्कर्षकलुषत्वाद्विष्टरीकृतचरणवर्ग[11] सोपसर्गस्तथैवावतस्थे ।

अत्रान्तरे सहचरानुचरसचरत्खेचरीचरणालक्तकरक्तरन्ध्रस्य **विजयार्ध**तटीध्रस्य [12]दयिताविदूरविद्याधरी- विनोदविहारपरिमलितकान्तारधरण्यामुत्तरश्रेण्याम**मरावती**पुरीपरमेश्वर **सुमङ्गला**बलावर प्रकाम [13]निखातारातिकान्ताशयशोकशङ्कु**स्त्रिशङ्कु**र्नाम नृपति समरावसराभिसरत्सपत्नसतानावसान[14]सारशिलीमुखश्चिराय राज्यसुखमनुभूय जिनागमादवगतससारशरीरभोगवैराग्यस्थितियतिर्बुभूषुर्भू गोचरसचाराय **हेमपुरेश्वराय** समस्तमहीशमान्यशासनाय

स्वप्न-राज्य-सरीखे सारवाले (निस्सार) ससार से विरक्त होकर ऐसी जिनदीक्षा ग्रहण की, जिसमे कामदेव के विजय की प्रचुरता वर्तमान है,

बाद मे वह समस्त सिद्धान्तो के रहस्य का ज्ञाता होकर मगध देशवर्ती 'सोपारपुर' नामक नगर के समीपवर्ती तेजवाले 'नाभिगिरि' नाम के पर्वत पर भले प्रकार धर्मध्यान सबधी आतपन योग का धारक हुआ ।

इसके बाद अपने पति के वियोग की दारुण व्यथा से नष्ट चित्तवाली यज्ञदत्ता ब्राह्मणी ने शिष्यो से अपने लिए खेदजनक सोमदत्त के दीक्षा-ग्रहण का समाचार जाना और नौ महीने के अन्त मे बच्चे का प्रसव किया और उसे लेकर उसी पर्वत पर पहुँच कर अपने दीक्षित पति से बोली—'अरे कूट-कपट के समूह और मेरे मनरूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल अग्नि-सरीखे एव नि स्नेही मूर्ख ! यदि इस दिगम्बर (नग्न) वेष को छोडकर अपनी इच्छानुसार आते हो तो आओ, नही तो अपने इस पुत्र को ग्रहण कर ।' ऐसा कहकर वह ऊँचे घुटनो वाले (खडे होकर ध्यान करनेवाले) मुनि के सामने शिलातल पर बच्चे को छोडकर अपने निवास-स्थान पर चली गई । शिला के विशेष दाह से कलुषित होने से मुनि के दोनो पैर बच्चे के आधारीभूत थे और मुनि भी उस बच्चे से उपसर्ग-सहित हुए पूर्व की तरह ध्यानारूढ होकर खडे हुए थे ।

इसी बीच मे ऐसे विजयार्ध पर्वत की, जिसका मध्य-भाग साथ साथ गमन करने वाले सेवको के साथ सचार करने वाली विद्याधरियो के चरणो मे लगे हुए लाक्षारस से लाल है, उत्तर श्रेणी मे, जिसकी वन-भूमि समीपवर्ती पतिवाली विद्याधरियो के आनन्दजनक विहार से सुगन्धित है, अमरावती नामकी नगरी का स्वामी, सुमङ्गला रानी का पति और शत्रु स्त्रियो के हृदय मे विशेष रूप से शोकरूपी कीला गाडने वाला त्रिशङ्कु नामका राजा राज्य करता था, जिसके वाण युद्ध के अवसर पर सामने आ रहे शत्रु-समूह का ध्वस करने मे अव्यर्थ थे, उसने चिरकाल पर्यन्त राज्य-सुख का उपभोग करके जैन सिद्धान्त से ससार, शरीर व पचेन्द्रियो के भोगो से वैराग्य-स्थिति का अनुभव किया । अत मुनि होने के इच्छुक हुए उसने ऐसे बल-

---

१ गृहीत्वा । २ तेजसि । ३ ध्यान । ४ नवमासावसाने । ५ पर्वतम् । ६ मडल । ७ रूप । ८ मुक्त्वा । ९ ऊर्ध्वजानो । १० दाह । ११ शिशोराधारीभूतपाद । १२ समीपकान्त । १३ दाटितशोककीलक । १४ मरण ।

बलवाहनाय सुता सुदेवी राज्य च ज्येष्ठाय पुत्राय भास्करदेवाय प्रदाय सुप्रभसूरिसमीपे सयमी समजनि। ततो गतेषु कतिपयेषुचिद्दिवसेषु समुत्साहितात्मीयसहायसमूहेन स्वदोर्दर्पविद्याबलव्यूहेन दुर्विनीनवरिष्ठेन कनिष्ठेनानुजेन पुरदरदेवेन विहितराज्यापहार[1] परिजनेन सम स भास्करदेवस्तत्र बलवाहनपुरे[2] शिविरमधिनिवेश्य मणिमालया महिष्यानुगतस्त सोमदत्तभगवन्तमुपासितुमागतस्तत्पादमूले स्थलकमलमिव त बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यम्। यत कथमिदमरत्नाकरमपि[3] रत्नम्, अजलाशयमपि कुशेशयम्, अनिन्धनमपि[4] तेज पुञ्जम, अचण्डकरमप्युग्रत्विषम्, अनिला[5]-मातुलमपि कमनीयम्, अपि च कथमय बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायल्लावण्य, कठोरोष्मणि ग्रावणि वज्रघटित इव रिरसमानमानस, मातुरुत्सङ्गगत इव सुखेन समास्ते' इति कृतमति —'प्रियतमे, काम स्तनधयधृतमनोरथायास्तवाय

वाहन नाम के राजा के साथ, जो कि भूमिगोचरी व हेमपुर नगर का स्वामी एव समस्त राजाओ द्वारा मानने योग्य आज्ञा वाला था, अपनी सुदेवी नामकी पुत्री का विवाह सस्कार किया और समस्त राज्य भार 'भास्कर देव' नाम के ज्येष्ठ पुत्र को देकर सुप्रभ नाम के आचार्य के समीप दीक्षा धारण करके मुनि हो गया।

कुछ दिनो के पश्चात वह भास्करदेव, जिसका राज्य ऐसे पुरन्दरदेव नाम के छोटे भाई द्वारा छीन लिया गया था, जिसने अपना सहायक-समूह उत्साहित किया था, और जो अपनी भुजाओ का दर्प (गर्व), राजनैतिक ज्ञान व सैन्य-समूह से युक्त था एव जो उद्दण्डो मे श्रेष्ठ था, अपने कुटुम्बीजनो के साथ उक्त बलवाहन-नामके नगर मे (भगिनीपतिनगर—हेमपुर मे) अपना लश्कर डाला और सोमदत्त मुनि की पूजा के लिए अपनी मणिमाला नाम की रानी के साथ आया। वहाँ पर उसने मुनि के पादमूल मे स्थलकमल-सरीखे उस नवजात शिशु को देखकर विचार किया—'अहो महान् आश्चर्य है, क्योकि कैसे यह (नवजात शिशु) अरत्नाकरमपि (रत्न-समूह न) होकर के भी रत्न है, यहाँ पर विरोध मालूम पडता है, क्योकि जो रत्न-समूह नही है वह रत्न कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि जो (शिशु) अ-रत्नाकर है (समुद्र नही है) और अपि (निश्चय से) रत्न (रत्न-सरीखा श्रेष्ठ) है। जो अ-जलाशयमपि (तडाग के विना भी) कुशेशय (कमल) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है, क्योकि तडाग के विना कमल होना सघटित नही होता। अत इसका समाधान यह है कि जो अ-जडाशय (मूर्ख न होकर) अपि (निश्चय से) कुशेशय (कमल-सा मनोज्ञ) है। जो अनिन्धनमपि (ईधन के विना भी) तेज पुञ्ज (अग्नि) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि ईधन के विना अग्नि होना नितान्त असङ्गत है। अत इसका परिहार यह है कि जो अनिन्धन (ईधनरूप नही है) और अपि (निश्चय से) तेज पुञ्जम् (सौन्दर्य-राशि) है। इसी प्रकार जो अ-चण्डकरमपि (सूर्य के विना भी) उग्रत्विप (तीक्ष्ण कान्ति-युक्त) है। यह भी विरुद्ध है, क्योकि सूर्य के विना तीक्ष्णकान्ति-युक्त कैसे हो सकता है ? अत इसका परिहार यह है कि जो अ-चण्ड-कर (उष्ण हस्तशाली न होता हुआ) अपि (निश्चय से) उग्रत्विषम् (विशेष मनोज्ञ कान्ति वाला) है और जो अनिलामातुलमपि (चन्द्र न होकर के भी) कमनीय (मनोज्ञ) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है, क्योकि चन्द्र के विना कमनीयता (मनोज्ञता) सघटित नही होती। अत इसका समाधान यह है कि जो अनिलामातुल (चन्द्र रूप न होता हुआ) अपि (निश्चय से) कमनीय (विशेष मनोज्ञ) है। यह नवजात शिशु वैसा हस्त के स्पर्श से भी म्लान कान्तिवाला है जैसे नवीन पल्लव हस्त-स्पर्श से भी म्लानकान्ति-युक्त होता है। यह तीक्ष्ण ऊष्मावाले पाषाण पर वज्र-घटित-

१ भास्करदेव। २ भगिनीपतिनगरे हेमपुरे। ३ समुद्र विना। ४ इन्धन विनाऽपि अग्नि। ५ न इलामातुल अनिलामातुल, न चन्द्र।

भगवत्प्रसादसपन्न सर्वलक्षणोपपन्नो **वज्रकुमारो** नामास्मदीयवशविशालताविधायिधामपात्रम् पुत्र' इत्यभिधाय विधाय च यथावत्तस्य भगवत पर्युपासन [1]पुनरत[2] एव महतोऽधि[3]गततदपत्यवृत्तान्तो [4]**भावपुर**मनुससार ।

भवति चात्र श्लोक —

अन्त सारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम् । किं न स्यादग्निसयोग स्वर्णत्वाय तदश्मनि[5] ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदश कल्प ।

पुनर्बालभावा[6]च्छोणच्छायकाय [7]कङ्केलिपल्लव इव धातकीप्रसवस्तबक इवारुणमणिकन्दुक इव च बन्धूनामानन्दनिरीक्षितामृतपी[8]थमन्थरितमुख सखेल करपरम्परया सचार्यमाण क्रमेणोत्तानशयदरहसितजानुचङ्क्रमणगदगदालापस्पष्टक्रियापञ्चकस्थामवस्थामनुभूय [9]मरुमार्ग इव छायापादपेन, छायापादप इव जलाशयेन, जलाशय इव कमलाकरेण,

जैसा निश्चल हुआ प्रीति युक्त मन वाला है। यह ऐसा सुखपूर्वक स्थित है मानो—माता की गोदी मे ही वर्तमान है।'

इसके बाद उसने अपनी प्रिया से कहा—'प्रियतमे! पुत्र का विशेष मनोरथ धारण करनेवाली आपका यह वज्रकुमार नामका पुत्र पूज्य आचार्य की कृपा से प्राप्त हुआ है, यह समस्त सामुद्रिक शुभ लक्षणो वाला और हमारे वश को विस्तृत (प्रसिद्ध) करनेवाला पात्र है'।

पश्चात् उस आचार्य की पूर्व की तरह पूजा करके उसने इसी सोमदत्त गुरु से बच्चे का वृत्तान्त जानकर वलवाहनपुर को प्रस्थान किया।

इस विषय मे एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

आत्मिक शक्ति (उपसर्ग-सहन की सामर्थ्य) से युक्त शरीरवाले महापुरुषो पर शत्रुओ द्वारा की हुई चेष्टा (उपसर्ग-आदि दुष्कृत्य) उनके हित के लिए होती है, अर्थात्—महापुरुषो के गुणो की उत्पत्ति का कारण होती है। क्या अग्नि मे तपाना सुवर्णपाषाण मे सुवर्ण की उत्पत्ति के लिए नही होता? अपितु अवश्य होता है★॥ २१० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे वज्रकुमार का विद्याधर से समागम करने वाला यह पन्द्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

शैशव के कारण वज्रकुमार के शरीर की कान्ति वैसी लालिमा-युक्त थी जैसे अशोक वृक्ष का किसलय, धातकी वृक्ष के पुष्पो का गुच्छा एव पद्मराग मणि की गेंद लालिमा-युक्त होती है। उसका मुख बन्धुजनो से आनन्द पूर्वक देखा जाता था और बच्चे के पीनेलायक अमृत (जल), दूध व मक्खन-आदि का खजाना था। इसी तरह बन्धुजनो की हस्त परम्परा से क्रीडापूर्वक सचार किये जा रहे उसने क्रमश ऊपर को मुख किये लेटा रहना, मन्द-मन्द मुस्काना, घुटनो के बल चलना, गदगद वाणी बोलना और स्पष्ट वचन बोलना इस प्रकार क्रम से पाँच अवस्थाएँ अनुभव की।

इसके पश्चात् वह युवती रमणियो के मनरूपी मृग के लिए आनन्द-बाग-सरीखे यौवन से वैसा अलङ्कृत (सुशोभित) हुआ जैसे मरुभूमि छायावृक्ष से अलङ्कृत होती है, छायावृक्ष सरोवर से सुशोभित होता

१ योगावसाने। २ एतस्मात् सोमदत्तगुरो। ३ ज्ञातबालकवृत्तान्त। ४ वलवाहनपुर। ५. स्वर्णपाषाणे। ६ रक्त। ७ अशोकपल्लव। ८ वालस्य पेय दुग्धादि, मन्थरितवदन। ९ मारवाड देश, यथा मरुस्थल छायावृक्षेण शोभते तथाऽय यौवनेनालचक्रे इति सर्वत्र सबध। ★ दृष्टान्तालकार।

कमलाकर इव कलहसनिवहेन, कलहसनिवह इव रामासमागमेन, रामासमागम इव च स्मरलीलायितेन, तरुणीजनमनोमृगप्रमदवनेन यौवनेनालचक्रे ।

तदनु बाढ प्ररूढप्रौढयौवनावतारसारो वज्रकुमार पितुर्मातुश्च [1]वंशनिवेशानवद्याभिर्विद्याभि प्रवलितप्रतापगुप्त प्राप्तखचरलोकाधिक्य सुवाक्यमूर्तिनामधामस्य[2] मामस्य[3] मदनमदपण्यतारुण्यलावण्यारण्यवनदेवतावतारव सुमतीमिन्दुमती दुहितर परिणीय मणिकुण्डल-रत्नशेखर-माणिक्य-शिखण्ड-किरीट-कीर्तन-कौस्तुभ-कर्णपूरपुरसरैर्नभश्चरकुमारैरनुसृतस्त पूर्वापरावारपारतरङ्गदन्तुरकन्दराधर क्रीडारसवर्धनोद्धु[4]र विजयार्धमहीधरमध्यास्य विरहि[5]विहायश्चरीपरिमलनम्लानमृणालजलेजम[6]शोकदलशय्यादयितासाद्यविद्याधरीसुरतपरिमलबहलमिदमुपवनलतास्थान कन्दुकविनोदपरिणताम्बरचरीचरणालक्तकाङ्कि[7]तमदरतमालमूलालवालालयमेवमिद रमणीयमेत मनोहरमदश्च सुन्दरमट नीध्रतटमिति[8] विनिध्यायन् समाचरितस्वैरविहार पुन प्राप्तहिमवद्गिरिप्रा[9]भार खेचरीलोचनचन्द्रस्य चन्द्रपुरेन्द्रम्याङ्गवती युवतिप्रीतिधाम्नो गरुडवेगनाम्नो विद्याधरपतेरतिशयरूपनिरूपणपात्री प्रियपुत्री पवनवेगानामसङ्गा प्रालेयाचलमेखलाखल[10]तिकलतालयनिलीनाङ्गा बहुरूपिणी नाम निरवद्या *विद्यामाराधयन्तीमनयैव[11] विघ्ननिघ्नया जाता-

---

है, सरोवर कमल समूह से सुशोभित होता है, कमल-समूह कलहस-श्रेणी से सुशोभित होता है, कलहस-श्रेणी स्त्री-समागम मे सुशोभित होती है और स्त्री-समागम काम क्रीडा से सुशोभित होता है ।

इसके बाद अत्यन्त प्रौढ युवावस्था की उत्कृष्ट उत्पत्ति को प्राप्त करनेवाला वज्रकुमार माता-पिता के कुलक्रम से आई हुई निर्दोष विद्याधरो की विद्याओ की प्राप्ति से प्रकृष्ट सामर्थ्यशाली व प्रताप से सुरक्षित हुआ, इससे उसने समस्त विद्याधर-लोक मे महत्ता प्राप्त की और 'सुवाक्यमूर्ति' नाम के गृहभूत अपने मामा या टि० के अभिप्राय से बडे बहनोई की ऐसी 'इन्दुमती' नाम की पुत्री के साथ विवाह किया, जो कि कामोद्रेक से बैचनेयोग्य जवानी के सौन्दर्यरूपी वन की वनदेवता के अवतरण के लिए भूमि-सरीखी थी ।

इसके अनन्तर वह, मणिकुण्डल, रत्नशेखर, माणिक्य, शिखण्ड, किरीट, कीर्तन, कौस्तुभ और कर्णपूर नाम के विद्याधर जिनमे अग्रेसर है, ऐसे विद्याधर-कुमारो से युक्त होकर ऐसे विजयार्द्ध पर्वत पर अधिष्ठित हुआ (बैठा), जो कि पूर्व-पश्चिम समुद्र की तरङ्गो से ऊँची नीची गुफा-भूमियो का धारक है और जो क्रीडा रस की वृद्धि से उत्कट है । फिर उक्त पर्वत-तट के विषय मे निम्न प्रकार विचार करते हुए उसने वहाँ पर स्वच्छन्द पर्यटन (विहार—घूमना) किया—'यह विजयार्द्ध पर्वत, जिसमे विरहिणी विद्याधरियो के मर्दन से कान्तिहीन मृणाल व कमल वर्तमान है, जो अशोक वृक्ष के पत्तो की शय्या मे [रति विलास के लिए] पतियो द्वारा प्राप्त की हुई विद्याधरियो के सुरत (मैथुन) की गध से प्रचुर है, जो उपवन व लताओ का स्थान है, जो गैद-क्रीडा मे तत्पर हुई विद्याधरियो के चरणो मे लगे हुए लाक्षारस से चिह्नित है, जो तमाल-मूलो की क्यारियो का आवास स्थान है एव जो रमणीय, मनोज्ञ व सुन्दर है ।'

इसके बाद हिमवन पर्वत पर प्राप्त हुए उसने ऐसी 'पवनवेगा' नामवाली विद्याधर-राजकुमारी देखी, जो कि ऐसे 'गरुडवेग' नाम के विद्याधर राजा की प्रिय पुत्री थी, जो कि विद्याधरियो के नेत्ररूपी कुमुदो को विकसित करने के लिए चन्द्र-सरीखा था, जो चन्द्रपुर नामक नगर का स्वामी और 'अङ्गवती' नामकी युवती रानी की प्राति का आश्रय-स्थान था । जो (राजकुमारी पवनवेगा) विशेष सौन्दर्य के निरूपण की पात्र थी,

---

१ स्थान, कुलक्रमायात । २ नामाभिधानस्य (क०) । ३ माम ज्येष्ठभगिनीपति । ४ उत्कट । ५ विरहिणी । ६ अशोकदलशय्याया दयितेन भर्त्रा आसाद्या प्राप्या या विद्याधरी । ७ विह्नित । ८ पर्वत । ९ विस्तार । १० वनम् । * 'निषद्या' (ख), टिप्पण्या तु स्थिति । ११ बहुरूपिण्या ।

जगररूपया[1] विद्यया निगीर्णवदनामुपलक्ष्य परोपकारविचक्षणस्तार्क्ष्यविद्यया तमेतल्लपनाविलतालु[2] मायाशयालु[3] वित्रासयामास। पवनवेगा तत्प्र[4]त्यूहाभोगापगमानन्तरमेव विद्याया सिद्धि प्रपद्य 'अवश्यमिह जन्मन्ययमेव मे कृत-प्राणत्राणावेश प्राणेश' इति चेतस्यभिनिविश्य पुनरस्यैव नीहारमहीधरस्य नितम्बतीरि[5]णीपर्यन्ते सूर्यप्रतिमा समाश्रितवतो भगवतस्तप प्रभावसपादितसमस्तसत्वव्यापदतस्य सयतस्य पादपीठोपकण्ठ पठतस्तवेय खेत्स्यतीत्युपदेशावेशाभिनवमाराय वज्रकुमाराय गगनगमनाङ्गना[6] जीवितभूतामभिमतार्थसाधनपर्याप्ति प्रज्ञप्ति विद्या वितीर्य[7] निजनगर्या पर्यादत्। वज्रकुमारस्तथैव तत्सूरिसमक्ष फेन[8]मालिनीकूले विद्या प्रसाध्यासाध्यसाधनप्रवृद्धपराक्रमस्तमक्रमविक्रमाल्पीभूतदैव पुरदरदेव पितृव्यमव्याजमुच्छिद्य सद्यस्ता विजयोत्सवपरम्परावतीममरावती पुरमात्मपितरमखिलखचराचरितचरणसेव भास्करदेव निवेश्य वश्येन्द्रिय स्वयवरव्याजेन विहिताभिलषितकान्तसङ्गामनङ्गसङ्गसगतशृङ्गारसुभगा पवनवेगामपराश्चाम्बरचरपतिवरा विवाह्य महाभागगृह्यो विहायश्चरचित्तचिन्तामात्रायासैस्तैस्तैर्विलासै कालमतिवाहयामास।

जिसका शरीर विद्या सिद्ध करने के लिए हिमवन पर्वत की शिखर पर वर्तमान वन की लताओ से वेष्टित हुए प्रदेश पर स्थित था। जो बहुरूपिणी नाम की निर्दोष विद्या सिद्ध कर रही थी और उस समय विघ्न उपस्थित करने के अधीन होने से अजगर सर्प का वेष धारण करनेवाली इसी बहुरूपिणी विद्या ने जिसे अपने मुख मे लील लिया था।

इसके पश्चात् परोपकार करने मे चतुर वज्रकुमार ने गरुड विद्या द्वारा पवनवेगा राजकुमारी को मुख मे लीलने से गीली तालु वाले उस मायामयी अजगर सर्प को पीडित कर दिया। उस विद्या-सिद्धि मे होने वाले विस्तृत विघ्नो के नष्ट हो जाने के अनन्तर ही जब पवनवेगा राजकुमारी ने विद्या सिद्ध कर ली तब उसने मन मे यह दृढ सकल्प किया—'अवश्य इस जन्म मे मेरी प्राणरक्षा करनेवाला यही मेरा प्राणेश्वर (प्राणनाथ) होगा।

बाद मे उस विद्याधरी ने वज्रकुमार को निम्न प्रकार उपदेश दिया—'इसी हिमवन पर्वत के पार्श्वभाग पर बहने वाली नदी के तट पर सूर्य प्रतिमा (धर्मध्यान विशेष) का आश्रय किये हुए और तप के प्रभाव से समस्त प्राणियो की आपत्तियाँ नष्ट करने वाले सयमी आचार्यश्री के चरणकमलो के आसन के समीप श्रुताभ्यास करते हुए आपको यह विद्या सिद्ध होगी।' इसके बाद उस विद्याधरी ने वज्रकुमार के लिए, जो ऐसा प्रतीत होता था—मानो—नवीन कामदेव ही है, प्राणियो को जीवन-दान देने वाली व मनचाही प्रयोजन-सिद्धि की योग्यतावाली 'प्रज्ञप्ति' नाम की विद्या देकर अपनी नगरी के प्रति प्रस्थान किया।

पुन वज्रकुमार ने उक्त आचार्यश्री के समक्ष नदी के तट पर प्रस्तुत बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की। ऐसा होने से वज्रकुमार का पराक्रम दूसरो के द्वारा प्राप्त होने के अयोग्य दिव्यास्त्ररूपी साधनो से वृद्धिगत हुआ। अत उसने अपने चाचा 'पुरन्दरदेव' को, जिसका भाग्य क्रम (राजनैतिक ज्ञान सम्पत्ति आदि) व पराक्रम (सैन्य व कोषशक्ति) के अभाव से क्षीण हो गया था, निष्कपट रीति से नष्ट करके शीघ्र ही विजय श्री सबन्धी उत्सव-परम्परा वाली अमरावती नाम की नगरी मे अपने पिता भास्कर देव को, जिसके चरणकमलो की सेवा समस्त विद्याधरो द्वारा की गई थी, राज्यासन पर बैठाया।

फिर जितेन्द्रिय वज्रकुमार ने ऐसी पवनवेगा नाम की विद्याधर-राजकुमारी के साथ विवाह किया, जिसने स्वयवर के मिष से इच्छित पति प्राप्त किया है एव जो कामदेव के सङ्गम से व्याप्त हुए शृङ्गार से मनोज्ञ थी और दूसरी विद्याधर-कन्याओ के साथ विवाह किया। तदनन्तर भाग्यशाली विद्याधर राजा द्वारा

---

१ गृहीताजगरसर्पवेषया। २ अजगर। ३ मायाऽजगरसर्पं। ४ विघ्न। ५ नदी। ६ विद्याधरी। ७ दत्वा। ८ नदी।

अन्यदा पुनरिष्टदुष्टज्ञातिप्रज्ञावज्ञाभ्यामात्मन [1]परैधिततत्वमवबुध्य[2] निजान्वयनिश्चये सति शारीरेषूपचारेषु[3] प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरित्याचरितसगर[4]स्ताभ्या[5] महामुनिमाहात्म्यमन्त्रवित्रासितदुरितनिशाचराया[6] **मथुराया** तपस्यत **सोमदत्तस्य** भगवत सनीडे[7] नीतस्त[8]दङ्गमुद्राप्रायमात्मकायमवसाय[9] सजातानन्दनिकायस्तावुभावप्युपनेतारौ [10]माता-पितरौ सादरमु[11]क्तियुक्तिभ्या प्रतिबोध्यावधीरितोभयग्रन्थो निर्ग्रन्थश्चारणर्द्धिवृद्धि समपादि ।

भवति चात्रार्या—

तृणकल्प श्रीकल्प कान्तालोकश्चितो [12]चितालोक । [13]पुण्यजनश्च स्वजन कामविदूरे नरे भवति ॥२११॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडश कल्प ।

पुनर्महामहोत्सवोत्साहितातोद्यवाद्यनादमेदुर[14] प्रासादकन्दरायामेतस्यामेव **मथुराया** किल [15]गोचराय चारणऋद्धियुगल नगरमार्गे सगतगतिसर्ग सत्तत्र द्वित्रि[16]परिवत्सर एवावस्थावसरे बालिकामेका [17]चिल्लचिकिन[18]लोचनसनाथा-

पालने-योग्य वह वज्रकुमार ऐसे उन अनेक प्रकार के विलासो से, जो कि विद्याधरो के चित्त मे सकल्पमात्र से प्राप्त होने वाले थे, समय यापन करने लगा।

एक बार जब इसने इष्ट गोत्रीजनो की बुद्धि से और दुष्ट गोत्रीजनो के अनादर से अपने को दूसरे के द्वारा पाला-पोषा हुआ समझा तब इसने प्रतिज्ञा की—'जब मुझे अपने वश का निश्चय हो जायगा तभी मै शारीरिक उपचार (स्नान व भोजन-आदि) मे प्रवृत्ति करूँगा, अन्यथा उसका त्याग करूँगा।' तब उसके पालक माता-पिता उसे महामुनि के माहात्म्यरूपी मन्त्र से पापरूपी राक्षसो को भयभीत करने वाली मथुरा नगरी मे तप करने वाले सोमदत्त नामके आचार्य श्री के समीप ले गए। तब वज्रकुमार ने अपनी शरीराकृति प्रस्तुत पूज्य आचार्य के शरीर-सरीखी निश्चय की, जिससे उसकी आत्मा मे आनन्द-समूह की प्राप्ति हुई। पश्चात् इसने उन दोनो माता-पिता को सम्मानपूर्वक वचनो से और युक्ति से समझाकर वाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहो का त्याग करके निर्ग्रन्थ साधु होकर चारण ऋद्धि की वृद्धि प्राप्त की।

इस विषय मे एक आर्याच्छन्द है, उसका अर्थ यह है—जब मुमुक्षु मानव कामवासना का त्याग कर देता है अथवा समस्त परिग्रहो की अभिलाषाओ को छोड देता है तब उसे मनोज्ञ लक्ष्मी तृण-सरीखी प्रतीत होती है। और लोक मे एकत्रित हुआ स्त्री-समूह मुर्दे की चिता-सरीखा मालूम पडता है एव कुटुम्बीजन राक्षस-सरीखा प्रतीत होता है ॥ २११ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे वज्रकुमार के तपग्रहण करने का निरूपण करने वाला सोलहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अथानन्तर महामहोत्सवो के अवसर पर बजाए जाने वाले वादित्रो की ध्वनि से स्थूल हुए भवनरूपी गुफाओ वाली इसी मथुरा नगरी मे चारण ऋद्धिधारी दो मुनियो ने, जो कि आहार के लिए नगर-मार्ग मे साथ-साथ गमन करने के निश्चय वाले थे, वहाँ पर दो तीन वर्ष की अवस्थावाली एक अनाथ बालिका देखी, जो कि दूषित (धुँधले) व छोटे नेत्रोवाली थी व दूकानो के अङ्गणो पर वर्तमान धान्य-कण खानेवाली एव

१ परपोषितत्वम्। २ ज्ञात्वा। ३ स्नानभोजनादौ। ४ कृतप्रतिज्ञ। ५ पितृभ्या। ६ पापान्येव राक्षसा यत्र सा तस्या। ७ समीपे। ८ भगवत्शरीरसदृश। ९ ज्ञात्वा। १० 'ज्ञातिकरणे विक्रियाकर्तारौ' इति टि० (ख०) प्रतौ। 'जातिकरणादि क्रियाकर्तारौ' इति टि० (च०) प्रतौ। ११. वचन। १२ मृतकचितासदृश। १३ राक्षससमान। १४ स्थूल। १५ आहारार्थ। १६ वर्षद्वित्रिसमये। १७ दूषित। १८ अल्प।

मनाथामापणाङ्गणकणचारिणीं स्खलद्गमनविहारिणी निरीक्ष्य [1]प्रतीक्ष्य पश्चाच्चर सुनन्दनाभिधानगोचरो भगवानेवम-वादीत्—'अहो, दुरालोक खलु प्राणिना कर्मविपाक , यदस्यामेव दशाया क्लेशाय [2]प्रभवति' इति ।

पुरश्चारी★ भगवानभिनन्दननामधारी—'तप कल्पद्रुमोत्पादनन्दन[3] सुनन्दनमुने, मैव वादी यद्यपीय गर्भसभूता सती राजश्रेष्ठिपदप्रवृत्त समुद्रदत्त पितर जातमात्रा तद्वियोगदु खोपसदा[4] धनदा मातर प्रवर्धमाना च बन्धुजनमकाण्ड एव [5]दशमी दशामानीय इदमवस्थान्तरमनुभवन्ती तिष्ठति, तथाप्यनया प्रौढयौवनयास्य मथुरानाथस्योर्विलादेवीवि-नोदावसथस्य पूतिकवाहनस्य महीनस्याग्रमहिष्या भवितव्यम्' इत्यवोचत् । एतच्च तत्रैव प्रस्तावे [6]पिण्डपाताय हिण्डमान शाक्यभिक्षुरुपश्रुत्य[7] 'नान्यथा मुनिभाषितम्' इति निर्विकल्प सकल्प्य, स्वीकृत्य [8]चैनामर्भिकामाहितविहा[9]-रवसतिकामभिलषितानु[10]हारैराहारैरवीवृधत । [11]जुहाव च बुद्धदासीति परिजनपरिहासतन्त्रेण [12]गोत्रेण । ततो गतेषु केषुचिद्वर्षेषु [13]भ्रमरकभङ्गा[14]भिनयनभरते भ्रूविभ्रमारम्भोपाध्यायस्थानिनि लोचनविचा[15]रचातुर्याचार्ये चतुरोक्तिचातुरी-प्रचार[16]गुरुणि बिम्बाधरविकारसौन्दर्यकादम्बरीयोगे[17] निम्नोन्नतप्रदेशप्रकाशनशिल्पिनि[18] मनसिजगजमदोद्दीपनपिण्ड-

---

भूमि पर स्खलित गतिपूर्वक सचार करने वाली थी, पश्चात् पूज्य छोटे 'सुनन्दन' नाम के ऋषि ने कहा—,अहो आश्चर्य है कि प्राणियो का कर्मोदय निश्चय से दु ख से भी जानने के लिए अशक्य है, क्योकि वह (कर्मोदय) इतनी छोटी उम्र मे भी कष्ट देने के लिए समर्थ होता है ।'

इसे सुनकर 'अभिनन्दन' नामधारी, पूज्य ज्येष्ठ ऋषि ने कहा—'तपरूपी कल्पवृक्ष की उत्पत्ति के लिए नन्दनवन-सरीखे हे सुनन्दन मुनि ! ऐसा मत कहो । क्योकि यद्यपि जब यह गर्भ मे स्थित हुई तो राज-सेठ के पद पर प्रतिष्ठित हुए इसके पिता समुद्रदत्त को असमय मे मरणावस्था मे लाई और जन्मी हुई इसने पति के वियोग के दु ख को प्राप्त हुई 'धनदा' नामकी माता को असमय मे काल-कवलित अवस्था मे प्राप्त किया एव बढी हुई इसने अपने बन्धुजनो को असमय मे मरणावस्था मे प्राप्त किया । अब यह कष्टप्रद दूसरी अवस्था (दरिद्र व रुग्णावस्था) भोग रही है । तथापि जब यह प्रौढ युवती हो जायगी तब इसे 'उर्विला' नाम की पट्टरानी के विनोद के स्थान 'पूतिकवाहन' नाम के मथुरा नगरी के राजा की पट्टरानी होनी चाहिए ।'

उसी मथुरा नगरी मे इसी अवसर पर भिक्षा के लिए प्रस्थान कर रहे बौद्ध भिक्षु ने उक्त बात सुनकर निस्सन्देह विचार किया—'नान्यथा 'मुनिभाषितम्' अर्थात्—'ऋषि-वाणी मिथ्या नही होती', अत उसने इस बालिका को ग्रहण करके बुद्ध मठ मे स्थापित किया और वह इच्छानुकूल आहारो से इसका पालन-पोषण करने लगा और सेवको की हास्य-परम्परा के पात्रभूत 'बुद्धदासी' इस नाम से बुलाने लगा ।

जब कुछ वर्ष व्यतीत हुए तब ऐसे यौवन मे, लावण्य सम्पत्ति से महान् हुई उस बुद्धिदासी ने, जो कि बुद्धमठ-सबधी ऊँचे महल की शिखर के मध्य मे बैठी हुई थी, भ्रमण से बुद्ध-मठ के समीप आने वाले 'पूतिक वाहन' नामके राजा को उत्कण्ठा के साथ देखा, जो (यौवन) केशो को कुटिल करने के अभिनय मे नाट्य-शास्त्र-प्रणेता भरतऋषि-सरीखा है । जो भ्रुकुटी सबधी विलास के आरम्भ करने मे शिक्षक-जैसा है । जो नेत्रो के विचलन (भ्रमण) की निपुणता मे आचार्य-सा है । जो चतुर वाणी के कथन की निपुणता मे प्रवृत्ति करने से महान् है । जो बिम्बफल-सरीखे ओष्ठो के विकार के सौन्दर्य मे सुरा के सबध जैसा है । जो नीचे-

---

१ पूज्य । २ समर्थो भवति कर्मविपाक । ★ ज्येष्ठ । ३ हे इन्द्रवन ! । ४ प्राप्ता । ५ मरणावस्था । ६ भिक्षायै । ७ श्रुत्वा । ८ बाला । ९ बुद्धस्थान । १० सदृशै । ११. आकारितवान् । १२ नाम्ना । १३ केश । १४ वक्रित । १५ विचलन । १६ प्रवर्तन । १७ सुरा । १८ सूत्रधारे ।

पण्डिते शृङ्गारगर्भगतिरह[1]स्योपदेशिनि समस्तभुवनमनोमोहनसिद्धौषधे प्रतिदिन प्रादुर्भावसविधे [2]सति यौवने सा रूप-सपन्महीयसी बुद्धदासी सोत्तालमुत्तुङ्गत[3]मङ्गशृङ्गोत्सङ्गसगता त [4]भ्रमणिकया कृतविहारोपान्तागमन पूतिकवाहन राजानमदर्शत् । राजा च ताम्—

'अलकवलयावर्तभ्रान्ता[5] विलोचनवीचिका[6] प्रसरविधुरा मन्दोद्योगा स्तनद्वयसैकते ।
त्रिवलिवलनश्रान्ता नाभौ पुनश्च निमज्जनादिह हि सरिति[7] प्रायेणैव मतिर्मम वर्तते ॥ २१२ ॥'

इति विचिन्त्य, [8]चेतोभूविजृम्भप्रारम्भ [9]निवार्यावधार्य च, 'किमियं [10]विहितविवाहोपचारा, किं वाद्यापि [11]पतिवरा' इति [12]भिक्षूनापृच्छ्य तत्र [13]'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या' इति समर्पिताभिलाषमाप्तपुरुष [14]प्रेष्य [15]रणरणकजडान्त करण [16]शरणमगात् । आप्तपुरुषोऽप्यग्रमहिषीपदपणबन्धेन[17] साध्यसिद्धि विधाय स्वामिन तत्स-मागमिनमकरोत् ।

भवति चात्रार्या—

पुण्य वा पाप वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम् । तत्तत्समये तस्य हि सुख च दु ख च योजयति ॥ २१३ ॥

ऊँचे शारीरिक प्रदेशो (अङ्गोपाङ्गो) के प्रकाशन करने मे सूत्रधार-सा है। जो कामदेवरूपी हाथी के मद को उद्दीपित करने मे विशेष निपुण है। जो शृङ्गार रस के भीतरी ज्ञान के गोप्यतत्व का उपदेष्टा है और जो समस्त लोक के मन को मोहित करने वाली सिद्ध-औषधि-सा है एव जो प्रतिदिन वृद्धि के निकट है।

पश्चात् राजा ने उसे देखकर निम्नप्रकार विचार किया—

'इस स्त्रीरूपी नदी मे मेरी बुद्धि प्राय इस प्रकार हो रही है—वह उसके केशपाशरूपी भँवर मे पडने से भ्रान्त (एक जगह न ठहरने वाली) है। जो नेत्ररूपी तरङ्गो के प्रसार से पीडित है। जो दोनो स्तनरूपी बालकामय प्रदेश पर पहुँचने से मन्द उद्योग वाली है। फिर जो त्रिवलियो मे भ्रमण करने से थकित है और पुन जो नाभि मे डुबकी लगाने से भी क्लान्त है* ॥ २१२ ॥'

फिर उसने काम के विस्तार को रोककर और निश्चय करके मन्त्री को अपनी अभिलाषा प्रकट करके बुद्धभिक्षुओ से पूँछने को कहा—क्या, इसका विवाह हो चुका है ? अथवा अभी तक कन्या है ? यदि कन्या है ? तो इसे मेरे-अधीन करनो चाहिए।'

फिर उसका मन अरतिजनक घटना से जड हो गया और उसने अपने महल की ओर प्रस्थान किया। यहाँ पर मन्त्री ने पट्टरानी पद देने की प्रतिज्ञा द्वारा प्रस्तुत कार्य सिद्ध करके राजा का उसके साथ विवाह कर दिया।

इस विषय से एक आर्याच्छन्द है उसका अर्थ यह है—

इस प्राणी ने पूर्व काल मे जिस समय पुण्य अथवा पाप कर्म किया है वह (पुण्य व पाप) उसे समय आने पर निश्चय से क्रमश सुखी व दु खी बना देता है ॥ २१३ ॥

---

१ गोप्यतत्त्व। २ समीपे। ३ उपरितनभूमि। ४ भ्रमण। ५ कल्लोल। ६ कल्लोल। ७ क्व योषिन्नद्या मम मतिरीदृशी वतते। ८ मनोभूप्रसरण। ९ एकत्रीकृत्य। १० कृत। ११ कन्या वा। १२ बौद्धान्। १३ चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधीना कर्तव्येति। १४ मन्त्रिण। १५, कलमल (अरतिजनक)। १६ गृह। १७ प्रतिज्ञया। * रूपकालकार।

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्या पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदश कल्प ।

अथ समायाते भव्यजनानन्दसपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तया पतिप्रणयप्रेयस्या बुद्धदास्या प्रतिचातुर्मास्य-**मौर्विला**देव्या स्यन्दनविनिर्गमेण भगवत सकलभुवनोद्धरणकारणस्थितेर्जिनपतेर्महामहोत्सवकरणमुच्छेत्तुमिच्छन्त्या*[1] [2]शुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमष्टाहा[3] सकलपरिवारानुगतमेतदुचितमुपकरणजातमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत । **ऊर्विला देव्य**पि सुभगभावात्सपत्नीप्रभव दौर्जन्यमनन्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य **सोमदत्ताचार्य**मुपसद्य [4]'भदन्त, यद्येतस्मिन्द्वित्र-दिनभाविन्यष्टाहामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं **मथुरायां** मदीयो रथो भ्रमिष्यति, तदा मे देहस्थितिहेतुषु वस्तुषु साभिलाष मन, अन्यथा निरभिलाषम' इति [5]प्रतिजिज्ञासमाना तेन **सोमदत्तेन** भगवता तन्मनोरथसमर्थनार्थमवलोकितवक्त्रेण वज्रकुमारेण साधुना साधु सबोधिता 'मात, [6]सम्यग्दृशामेणीदृशामवाप्तप्रथमकथे, अलमलमावेगेन । यतो न खलु मयि तव [7]समयसवित्र्याश्चिन्तके पुत्रके सति भवितार्हतामर्हणाया [8]प्रत्यवाय.[9] । तत्स्वस्थ पूर्वस्थित्यात्मस्थाने स्थातव्यम्' इति हृद्यमनवद्यममृषोद्य च निगद्य, आसाद्य[10] च [11]**द्युगतिविद्याधरपुर** महामुनितया बान्धवधिषणतया च निखिलेन

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे बुद्धदासी का पूतिक-वाहन राजा के साथ विवाह का निरूपण करने वाला यह सत्तरहवॉ कल्प पूर्ण हुआ ।

इसके पश्चात् जिसमे भव्यजनो के आनन्द-जनक धार्मिक कार्य पाये जाते है ऐसा 'नन्दीश्वर पर्व' जब आया तब 'पूतिकवाहन' राजा की प्रेमपत्नी पट्टरानी 'बुद्धदासी', जो कि समस्त लोक का उद्धार करने वाले भगवज्जिनेन्द्र तीर्थङ्कर के महामहोत्सव विधान को, जो कि प्रतिवर्ष चातुर्मास सबधी नन्दीश्वर पर्व मे उर्विला रानी द्वारा जिनेन्द्रदेव का रथ निकाल कर किया जाता था, नष्ट भ्रष्ट करने की इच्छा कर रही थी, उसने आठ दिन तक बुद्धदेव की पूजा की आयोजना की । अत उसने राजा पूतिकवाहन से भगवान् गौतम बुद्ध की पूजा के लिए आठ दिन तक समस्त अनुचर-वर्ग-सहित रथयात्रा के योग्य उपकरण-समूह के देने की याचना की तो राजा ने समस्त उपकरण-समूह-आदि के देने की स्वीकृति दे दी ।

जब उर्विला रानी ने पति की प्रेमपात्र होने से अपनी सौत से उत्पन्न हुई, असाधारण व प्रतीकार करने के लिए अशक्य दुर्जनता का निश्चय किया तब उसने सोमदत्त आचार्य के पास प्राप्ति होकर ऐसी प्रतिज्ञा करने की इच्छुक होकर कहा—'भगवन् ! यदि इस दो तीन दिन मे होने वाले अष्टाह्निका पर्व के महोत्सव मे पूर्व क्रम के अनुसार जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के निमित्त से मेरा रथ मथुरा मे निकलेगा तो मेरा मन शारीरिक स्थिति की कारणीभूत वस्तुओ (अन्न व जलादि) के ग्रहण करने का इच्छुक होगा, अन्यथा नही ।'

उक्त बात को सुनकर पूज्य सोमदत्त आचार्य ने उसकी अभिलाषा सफल (पूर्ण) करने ने लिए मुनि वज्रकुमार के मुख की ओर देखा ।

पश्चात् वज्रकुमार साधु ने उसे अच्छी तरह आश्वासन दिया और उससे निम्न प्रकार मनोहर, निर्दोष व यथार्थ वचन कहे—

'सम्यग्दृष्टि मृगनयनी महिलाओ मे आगे वर्णन-योग्य माता ! इस विषय मे खेद मत करो । क्योकि

---

१ उच्छेदन कर्तुमिच्छन्त्या । * 'उत्सेत्तुमिच्छन्त्या' इति मु० व ख० । २ बौद्धस्य । ३ अष्टाह्नी टि० ख० । 'अहानि दिनानि, अह्नोऽस्त्री नपुसकलिङ्गत्वात् । स्त्रीलिङ्गे डापि डी विधौ च सति अहा, अह्नी इति च भवति, अष्टाहा इत्यभूत् । अस्याह्न, स्त्रिया त्रैरूप्य—अष्टाहा, अष्टाही, अष्टाह्नीति' । इति पञ्जिकाकार । ४ प्राप्य । ५ प्रतिज्ञा कर्तुमिच्छन्ती । ६ सम्यक्त्वसहिताना स्त्रीणा मध्ये धुरि वर्णनीये । ७ जैनजननमातु. । ८ ९ न भविष्यति कोऽपि विघ्न पूजाया विघ्नो न भविष्यति । १० प्राप्य । ११ द्युगत्या आकाशगमनेन ।

भास्करदेवमुख्येनाम्बरचरचक्रेण क्रमश· कृताभ्युत्थानक्रिय सप्रश्रयमागमनाय[1]तनमापृष्ट स्पष्टमाचष्ट ।

तदनन्तरमानन्ददुन्दुभिनादोत्तालक्ष्वे[2]लितमुखरमुखमण्डलैः, [3]सामयिकालकारसारसज्जितगजवाजिविमानगमनप्रचलत्कर्णकुण्डलै, अनेकानणुमणिकिङ्किणीजालजटिल[4]दुकूलकल्पि[5]तपालिध्व[6]जराजिविराजितभुजपञ्जरै,[7] करिमकरसिंहशार्दूलशरभकुम्भी[8]रशफ[9]रशकु[10]न्तेश्वरपुर सराकारपताकासतानस्तिमितकरै,[11] मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिवितानदर्पणसितातपत्रचामरविरो[12]चनचन्द्रभद्रकु[13]म्भसभृतशयै,[14] अतुच्छदेव[15]च्छन्दावि[16]च्छिन्नकर्णी[17]रथस्यन्दनद्विपतुरगनरनिकीर्णसैन्यनिचयै, सजयघण्टापटुपटहकर[18]टामृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरिभ[19]म्भादिवाद्यानुगतगीतसगताङ्गना[20]भोगसुभगसचारै, 'कुब्जवामनकिरा[21]तकितवनटनर्तकबन्दिवाग्जीवनविनोदानन्दितदिविजमनस्कारै, सखे[22]लखेचरसहचरीहस्तविन्यस्तस्वस्तिकप्रदीपधूपनि[23]पप्रभृतिविचित्रार्चनोपकरणरमणीयप्रसरै, पिष्टा[24]तकपटवासप्रसूनोपहा-

---

जब तुझ धर्म माता की चिन्ता करने वाला मेरे-सरीखा पुत्र वर्तमान है तब निश्चय से अर्हन्त-पूजा मे कोई विघ्न नही होगा। अत आप पूर्व की तरह निश्चिन्त होकर अपने महलो मे जाकर बैठिए।

इसके बाद वज्रकुमार मुनि आकाशगामिनी विद्या से विद्याधर भास्करदेव के नगर मे पहुँचे। महामुनि होने से समस्त बान्धवो मे बृहस्पति-सरीखे महाविद्वान् होने से भास्करदेव की प्रधानता वाले समस्त विद्याधर-समूह ने इनका अच्छा सत्कारादि किया और विनयपूर्वक उनके आने का कारण पूँछा।

वज्रकुमार ने सब समाचार स्पष्ट रूप से कहा, अर्थात्—उर्विला महादेवी का रथ निकालने के लिए सैनिक सहायता माँगी।

इसके बाद मथुरापुरी के नागरिको ने वज्रकुमार मुनि को महान् इक्यासी लडो वाले हारो से सघन पालकी, रथ, हाथी, घोडे व पैदल सैनिको से भरे हुए सैन्य-समूहो के साथ एव पूजा के योग्य उपकरण-समूह को धारण करने वाले दूसरे विद्याधरो के साथ आकाश से उतरे हुए देखा। जिनके (सैन्य-समूहो के) मुखमण्डल आनन्ददायक दुन्दुभि बाजो की ध्वनि से उत्कट हुए सिंघनाद की ध्वनि से मुखरित थे। जिनके कानो के कुण्डल यात्रोचित श्रेष्ठ आभूषणो से सजाए हुए हाथी, घोडो व विमानो द्वारा गमन करने से कम्पित हो रहे थे। जिनके हाथ अनेक महामणियो की क्षुद्र घण्टियो के समूह से ग्रथित हुए रेशमी वस्त्रो से रची हुई लघु ध्वजाओ की श्रेणी से सुशोभित थे। जिनके हाथ, हाथी, मकर, शेर, शार्दूल, अष्टापद, नाका, मछली व गरुड-आदि की मुख्य चिह्नो वाली पताकाओ की श्रेणी से निश्चल हो रहे थे। जिनके हाथ मानस्तम्भ, स्तूप, तोरण, मणि-समूह, दर्पण, श्वेतच्छत्र, चमर, सूर्य, चन्द्रमा, और पूर्ण कुम्भ को धारण किए हुए थे। जिनका (विद्याधरो का) गमन जयघण्टा से सहित महाभेरी, करटा (वाद्यविशेष), मृदङ्ग, शङ्ख, काहल (बडा ढोल), त्रिविल (वाद्यविशेष), ताल, झल्लरी, हुडुक्का (वाद्यविशेष), भम्भा-आदि बादित्रो के अनुकूल गान करने वाली कमनीय विद्याधरियो के शरीर से मनोज्ञ है। जिन्होने देवताओ के मन, कुब्ज, बोना, किरात, जुआरी, नट, नर्तक, स्तुति पाठक—वन्दियो व भाटो के विनोदो से आनन्दित किये है। जिनके गमन, क्रीडा करने वाली विद्याधरियो के हाथो पर रक्खे हुए स्वस्तिक (साँथिया), दीपक, धूप-घट-आदि विचित्र पूजाओ के

---

१ कारण। २ हस्तमुखसयोगजो ध्वनि। ३ यात्रोचित। ४ मिश्र। ५ रचित। ६ लघुध्वज। ७ हस्तै। ८ जलचर। ९ मत्स्य। १० गरूड। ११ 'कम्पितहस्तै' टि० ख० ? 'झपितहस्तै' टि० च०। १२ सूर्य। १३ पूर्णकुम्भ। १४ हस्तै। १५ एकाशीति यष्टिको हार। १६ निरन्तर। १७ शिविका। १८ करड। १९ हुडुक्का। २० शरीर। २१ किरात स्यादल्पतनौ। २२ सक्रीड। २३ घट। २४ नामचूर्ण।

राभिरामरमणीनिकरं, अपरैश्च तैस्तैर्विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विहायोविहारै[१] सह त वज्रकुमारभगवन्तमम्बरादवतरन्तमुत्प्रेक्ष्य [२]'भिक्षुदीक्षापटीयसी पुण्यभूयसी खलु बुद्धदासी, यस्या [३]सुगतसपर्यासमये समायात सकलमेतत्सुरसैन्यम्' इति धृतधिषणे पौरजनान्तःकरणे सति स भगवान्गगनगमनानीकैः साकमौर्विलानिलये निलीय[४] सावष्टम्भमष्टाह्नी[५] मथुराया [६]चक्रचरण परिभ्रमय्याहँतप्रतिबिम्बाङ्कि[७]तमेक स्तूप तत्रातिष्ठिपत्। अतएवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते[८]। बुद्धदासी दासीवासीद्भग्नमनोरथा।

भवति चात्र श्लोक —

और्विलाया महादेव्या पूतिकस्य महीभुज। स्यन्दन भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः॥ २१४॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादश कल्प।

अर्थित्व भक्तिसपत्ति प्रयुक्ति * सत्क्रियाविधि। सधर्मसु च [९]सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता॥ २१५॥

स्वाध्याये सयमे सङ्घे गुरौ सब्रह्मचारिणि[१०]। यथौचित्य कृतात्मानो[११] विनय प्राहुरादरम्॥ २१६॥

आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा। सौचित्यकरण प्रोक्त वैयावृत्य विमुक्तये॥ २१७॥

उपकरणो से मनोहर थे। जिनका कमनीय कामिनी-समूह, पिष्टातक नाम का सुगन्धित चूर्ण, पटवास (वस्त्र सुगन्धित करने वाली द्रव्य-विशेष-सेट-आदि) व पुष्पोपहार से मनोज्ञ है।

इसके बाद जब नागरिको के हृदय मे ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई—'यह बुद्धदासी निस्सन्देह बौद्ध दीक्षा मे विशेष निपुण व पुण्यात्मा है, उसी की बुद्ध-पूजा के अवसर पर यह समस्त देव-सेना आई हुई है।'

किन्तु उस वज्र कुमार मुनि ने विद्याधर-सैनिको के साथ औविला महादेवी के महल मे अवतरण करके अष्टाह्निका पर्ववाली मथुरा नगरी मे गर्व-सहित रथ निकलवाया एव उस नगरी मे तीर्थङ्कर भगवान् की प्रतिमा-सहित एक स्तूप स्थापित किया। इसी से आज भी वह तीर्थ देव-निर्मित नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसे देखकर दासी-सरीखी बुद्धदासी का मनोरथ भग्न हो गया।

इस विषय मे एक श्लोक है, जिसका अर्थ यह है—

वज्रकुमार मुनि ने राजा 'पूतिक वाहन' की रानी महादेवी उर्विला के रथ का विहार कराया॥२१४॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन मे प्रभावना अङ्ग का वर्णन करनेवाला अठारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब वात्सल्य अङ्ग का निरूपण करते है—

धार्मिक पुरुषो का प्रयोजन दान-मानादि द्वारा सिद्ध करना, उनके गुणो मे प्रीतिरूपी सम्पत्ति, हित, मित व प्रिय वचन बोलना, उनका आदर-सत्कार करना और साधर्मी जनो को दान व प्रिय वचनो द्वारा सन्तोष उत्पन्न करना यह वात्सल्य अङ्ग माना गया है॥ २१५॥ स्वाध्याय, सयम (प्राणिसयम व इन्द्रिय-सयम), मुनि सघ, गुरु (आरम्भ-परिग्रह से रहित, विषयो की आशा से रहित एव ज्ञान, ध्यान व तप मे लवलीन रहने वाले साधु) और सहाध्यायी को दान-मानादि से सन्तुष्ट करना व उनके आदर-सत्कार करने को आत्मतत्व के वेत्ता आचार्य विनय कहते है॥ २१६॥ मानसिक व्यथा व शारीरिक रोगो से पीडित धर्मात्मा पुरुषो की निर्दोष (निष्कपट) विधि से औषधि-आदि देकर सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य कहा गया

---

१ विद्याधरैः। २ बौद्ध। ३ बुद्धपूजा। ४ अवतीर्य। ५ अष्टाह्नी उपलक्षिताया। ६ रथ। ७ सहित। ८ प्रकाशता। * 'प्रियोक्ति' क०। ९ सौमनस्य। १०. समानशीले। ११ कृतो निश्चित आत्मा स्वरूप यै।

जिने जिनागमे सूरौ तप श्रुतपरायणे । सद्भावशुद्धिसपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ।। २१८ ।।
चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य यथायोग्य प्रमोदवान् । वात्सल्य यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयो कथम् ।। २१९ ।।
[1]तद्व्रतैर्विद्यया वित्तै. शारीरै श्रीमदाश्रयै [2] । त्रिविधात[3]ङ्कसप्राप्तानुपकुर्वन्तु सयतान् ।। २२० ।।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अवन्तिविषयेषु [4]सुधान्ध सौधस्पर्द्धिशालाया[5]विशालाया पुरि प्रभावतीमहादेवीश्रित-शर्मसीमा जयवर्मनामा [6]काश्यपीश्वर शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनक्रेण[7] शुक्रेण चार्वाकलोकदिवस्पतिना[8] बृहस्पतिना रुद्रमुद्रानु[9]द्रितविवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्याबलिना बलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिरेकदा समस्तशास्त्राभ्यासवषविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावनपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरुम्बस्य परमतपश्चरणगुणग्रहणाजि[10]ह्मब्रह्मस्तम्बस्य[11] महामुनिपञ्चशतीवयस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुष सर्वजनानन्दनं नाम नगरोपवनमधि[12]तस्थुषश्चरणार्चनोपचाराय राजमार्गेषु महामहोत्सवोत्साहो[13]त्सेकिपरिजन पौरजनमभ्रलिहगेहाग्रभागा[14]-

---

है, जो कि मुक्ति श्री की प्राप्ति का कारण है ।। २१७ ।। वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र तीर्थङ्कर भगवान् मे, उनके द्वारा कहे हुए द्वादशाङ्ग रूप शास्त्र मे, आचार्य मे, तप मे तत्पर हुए साधु मे और श्रुत के पारदर्शी उपाध्याय परमेष्ठी मे विशुद्ध भाव पूर्वक प्रकट हुए अनुराग को आचार्यों ने भक्ति कहा है ।। २१८ ।। जो प्रमुदित होकर मुनि, ऋषि, यति व अनगार इन चार प्रकार के सघ के प्रति यथायोग्य वात्सल्य नही करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? ।। २१९ ।। अत व्रतो के देने द्वारा, शास्त्रो के अध्यापन द्वारा, धन के दान द्वारा, उनके शरीर की सेवा द्वारा एव उत्तम (तप व स्वाध्याय के योग्य) स्थान के दान द्वारा शारीरिक (बुखार व गलगण्ड-आदि), मानसिक (काम-क्रोधादि) व आगन्तुक (अतिवृष्टि-आदि) दु खो से पीडित हुए सयमी जनो का उपकार करना चाहिए ।। २२० ।।

अब वात्सल्य अङ्ग मे प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा कहते है—

अवन्तिदेश की उज्जयिनी नामकी नगरी मे, जिसके भवन देवो के भवनो से स्पर्धा करने वाले है, प्रभावती महादेवी के अधीन हुई सुख-सीमावाला 'जयवर्मा' नाम का राजा राज्य करता था, जिसका राज्य-सरक्षण चार मन्त्रियो द्वारा सम्पन्न होता था । १ बौद्ध-सिद्धान्तरूपी समुद्र मे प्रविष्ट होने के लिए मकर सरीखा (बुद्ध मतानुयायी) 'शुक्र' । २ नास्तिक-मत मे इन्द्र-सा बृहस्पति । ३ रुद्र-मुद्रा से उत्कट बुद्धिवाला (शैव-सम्प्रदाय का अनुयायी) प्रल्हादक और ४ बलि नामका मत्री, जो कि प्रल्हादक का छोटा भाइ व उसका अनुयायी एव वेदविद्या मे पारगत (वैदिक मतानुयायी) था ।

एक बार राजा गगनचुम्बी महल के अग्रभाग पर आरोहण के अवसर पर 'दिग्विलोकानन्द' नाम के राजमहल पर स्थित था । उन्होने ऐसे अकम्पनाचार्य के चरण कमलो की पूजा के लिए राजमार्ग से जाते हुए नागरिक मनुष्य-समूह को देखा, जिसका कुटुम्बीजन महापूजा का उत्सव देखने के उत्साह से गर्वित था। जो कि (अकम्पनाचार्य) एक समय उक्त नगरी के 'सर्वजनानन्द' नाम के बगीचे मे आकर ठहरे हुए थे, जो पाँच-सौ महामुनियो के सघ मे प्रधान थे, जिन्होने शिष्यजनो का मनरूपी कमल-समूह समस्त शास्त्रो की अभ्यास-रूपी वृष्टि से बढी हुई सरस्वती (द्वादशाङ्ग वाणी) रूपी नदी की तरङ्ग परम्परा मे स्नान कराने से पवित्र

---

१ व्रतदानेन उपकार कुर्वन्तु । २ उत्तमस्थानैं कृत्वा । ३ शारीरमानसागन्तुक । ४ सुधान्धसोऽमृतभोजना देवा । ५ उज्जयिन्या । ६ भूपति । ७ मकरेण । ८ इन्द्रेण । ९ उत्कट । १० सरल, पटु । ११ स्तम्ब आलान-गुल्मयो , ब्रह्मादीना प्रकाण्डे च, भुवनत्रय, पटुभुवनत्रयस्य । १२ स्थितवत । १३ गर्वित । १४ आरोहणावसरे ।

वसरे दिग्विलोकानन्दमन्दिरे स्थित समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्ड पौराणामुद्या[1]वोद्योगे नियोग[2] इति वितर्कयन्, सकलसम[3]यसभवप्रसूनस्तिमि[4]तहस्तपल्लवान्तरालाद्वनपालात् 'देव, भवद्दर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने भगवत्तपप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्तून्मादितमेदिनीनन्दने[5] निजलक्ष्मीविलक्ष्यीकृ*तगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसपा[6]दितसमूहेन महता मुनिसमूहेन सह सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रबन्धावधीरितामृतमरीचिमण्डलो[7] निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकु[8]रन्दीभवत्पादनखमण्डल पुण्यद्विपयूथबन्धनवारिरकम्पनसूरि. समायात । तदुपासनाय चास्योज्जयिनीजनस्य[9] महामहावहश्चित्तोत्साह' इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पादवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय त मिथ्यात्वप्रबलतालताश्रयकलि[10] बलिमपृच्छत् ।

सद्धर्मधुरोद्धरण[11]गलिर्बलि —'देव,

न वेदादपर तत्त्व न श्राद्धादपरो विधि । न यज्ञादपरो धर्मो न द्विजादपरो यति ॥ २२१ ॥'

किया था। जिसने उत्कट तपश्चर्या रूपी गुण धारण करने से तीन लोक को सरल किया था एव जो महाऋद्धिधारी थे।

तब उसने विचार किया—'नागरिको की यह तेज उत्सव देखने की प्रवृत्ति असमय मे क्यो हो रही है ?'

इतने मे ही उसने वनपाल से, जिसके हस्त पल्लव का मध्य-भाग समस्त छह ऋतुओ मे होने वाले पुष्पो से निश्चल था, निम्नप्रकार वृत्तान्त सुना—

'हे राजन् ! आपकी नगरी के ऐसे उपवन मे, जहाँ पर वनदेवता के नेत्र आपके दर्शनार्थ उत्कण्ठित है। जिसमे आये हुए पूज्य अकम्पनाचार्य की तपश्चर्या के प्रभाव से प्रवृत्त हुई छह ऋतुओ द्वारा वृक्ष विकसित किये गए है। जिसने अपनी सौगन्ध्य लक्ष्मी द्वारा गन्धमादन (पर्वत विशेष) को तिरस्कृत या शोभा-रहित किया है। प्रशस्त गुणरूपी लक्ष्मी से यथार्थ विचार प्राप्त करने वाले महान् मुनिसघ के साथ, ऐसे श्री अकम्पनाचार्य आये हुए है, जिसने समस्त प्राणियो को आनन्द देनेवाले महान् वचनरूप अमृत-समूह द्वारा चन्द्र-मण्डल तिरस्कृत किया है, जिसके चरणो का नख-मण्डल [नम्रीभूत] समस्त दिक्पालो के मुकुटो मे जडे हुए श्रेष्ठ मणियो से दर्पण-सरीखा हो रहा है और जो पुण्य रूपी हाथियो के झुण्ड के बन्धन के लिए खूँटा-सरीखा है, उनकी उपासना करने के लिए इस उज्जयिनी नगरी के मनुष्यो के चित्त मे महान् पूजाकारक उत्साह उमड रहा है।'

फिर उक्त आचार्यश्री के चरणो की वन्दना के लिए उद्यत हृदय वाले राजा ने वहाँ प्रस्थान करने के लिए बलि नाम के मत्री से पूँछा, जो मिथ्यात्व की विशेष प्रवलतारूपी लता के आश्रय के लिए बहेडा के वृक्ष-सरीखा है।

तब सच्चे धर्म की धुरा को उखाडकर फैक देने मे दुष्ट बैल-सरीखे बलि मन्त्री ने कहा—'राजन् ! वेद से दूसरा कोई तत्व नही है। श्राद्ध से उत्कृष्ट कोई विधि नही है। यज्ञ से महान् कोई दूसरा धर्म नही है और ब्राह्मण से उत्कृष्ट कोई दूसरा साधु नही है॥ २२१ ॥

---

१ उत्सव। २. कोऽधिकार। ३ षड्ऋतु.। ४ निश्चल। ५ वृक्षे। * 'विलक्षीकृत' क०। ६ सपादित सम्यग्गूहो विचारो येन। ७ चन्द्र। ८ दर्पणीभवत्। ९ महापूजाकारक। १० विभीतकतरु। ११ गलिर्दुष्टवृष शक्तोऽप्यधूर्वह कर्मायोग्यो बलि।

सन्मार्गसर्गोच्छेदक प्रह्लादक —

[1]'अद्वैतान्न पर तत्त्व न देव शकरात्पर । शैवशास्त्रात्पर नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रद वच ॥ २२२ ॥'

तथा नास्तिक्याधिक्यवाक्यवाचस्पती [2]शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे स्वप्रतिज्ञा विज्ञापयामासतु । मनागन्त क्षुभितमति [3]क्षितिपति —'अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजा द्विजा, कि ममैव पुरतो भवता भारती प्रगल्भते । कि वा बुधप्रवेकस्य[4] लोकस्यापि । सन्नीतिवसुमतीविदारणहलि[5]र्बलि —[6]'इलापाल, यदि तवास्मन्मनीषोत्कषविषये सेर्ष्यं मन, तदास्ता तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञ पर प्राज्ञ । किन्तु सर्वज्ञस्यापि [7]वादेर्वादे पुरस्तात्परिगृहीतविद्यानवद्या एव ।' स्थिरप्रकृति क्षोणीपति —'यद्येव शूराणा कातराणा च रणे व्यक्तिर्भविष्यति' इत्यभिधायानन्ददुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो विजयशेखर नाम करिणमारुह्यान्त पुरानुगमग्राह्यो[8]ऽतिवाह्य[9] वाह्यनगरमार्गमुपगतारामसीमसगम, तत करिणोऽवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकर कतिपयाप्तपरिवारपुर सरस्त व्रतविद्यानवद्य भगवन्त यथावदभिवन्द्य समाचरितनीचासनपरिग्रह सविनयाग्रह [10]स्वर्गापवर्गस्वरूपनिरूपणपरायण सद्धर्मसनाथा कथा प्रथयामास[11] । सत्कर्मवश[12]प्रभिदलि-

---

सन्मार्ग की सृष्टि का उच्छेद करनेवाले प्रह्लादक मत्री ने कहा—'अद्वैत से महान् दूसरा कोई तत्व नही है, शङ्कर से उत्कृष्ट दूसरा कोई देवता नही है और शैव शास्त्र से बढकर दूसरा कोई भुक्ति (सासारिक भोग) व मुक्ति को देनेवाला शास्त्र नही है ॥ २२२ ॥'

विशेष नास्तिक दर्शन के वचन बोलने के लिए बृहस्पति नाम के दो मन्त्रियो ने भी राजा के लिए अपने सिद्धान्त विज्ञापित किये (समझाए) ।

फिर कुछ चित्त मे कोप से कलुषित बुद्धिवाले राजा ने कहा—'अहो दुष्टतारूपी लता के आधारदान मे वृक्ष-सरीखे ब्राह्मणो ! क्या मेरे ही सामने आपकी वाणी बोलने मे समर्थ होती है ? या महाविद्वान् लोक के सामने भी आपकी वाणी बोलने मे समर्थ होती है ?'

पुन प्रशस्त नीतिरूपी पृथिवी के विदारण के लिए महान् हल-सरीखा बलि बोला—'हे पृथिवी पालक ! यदि हमारी बुद्धि की महत्ता के विषय मे आपका मन ईर्ष्या-युक्त है तो शास्त्रो के अभ्यास से प्रवीण बुद्धिवाले विद्वान् की तो बात ही क्या है ।

यदि हम लोगो के सामने सर्वज्ञ ही वादी होकर शास्त्रार्थ करने उपस्थित हो जाय तो उसके सामने भी हमारी विद्या निर्दोष ठहरेगी ।

'यदि ऐसा है तो शूरवीर और कायरो की परीक्षा रण मे ही होगी ।'

ऐसा कहकर स्थिर स्वभाव-वाला राजा आनन्द दुन्दुभि की ध्वनि के साथ अनुचर वर्ग व पूजा के उपकरण प्राप्त करता हुआ व अन्त पुर का सहगमन न रोककर विजय शेखर नाम के हाथी पर चढकर चल दिया और नगरी के वाह्यमार्ग का उल्लङ्घन करके मुनि के उद्यान की सीमा का सग प्राप्त करते ही हाथी से उतर पडा और शिष्ट पुरुष का वेष व कुटुम्बी जनो को ग्रहण करनेवाले एव कुछ हितैषी अनुचर-वर्ग को अग्र-

---

१ एकान्तात् किन्तु सर्वथैकान्तमेव वस्तुतत्त्व । २ द्वौ मन्त्रिणौ । ३ मन्त्रिण प्रति प्राह । ४ मुख्यस्य । ५ महद्धल । ६ भू । ७ वादिन । ८ गमने सति अनिषेध्य राजा । ९ बाह्य, बहिर्नगरमार्गमतिवाह्य अतिक्रम्य सप्राप्तमुनिवनसीमसग सन् गजादुत्तीर्य । १० राजा । ११ मुनिना कृत्वा विस्तारयामास । १२ प्रभेदन-भ्रमर टि० च० । वेणुस्तत्र प्रभित् भेदन अलिर्भ्रमर प्राह । टि० (ख०) ।

बँलि—'स्वामिन्, कोऽय स्वर्गापवर्गास्तित्वसग्रहे देवस्य दुराग्रह, यतो द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवष पुरुष । तयोरन्योन्यमनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादुर्भूति प्रीति प्रत्यक्षसमधिसर्ग[1] स्वर्गो न पुनरदृष्ट कोऽपीष्ट स्वर्ग समस्ति ।' गुणभूरि सूरि—'सकलै[2]प्रमाणबले[3] बले, कि प्रत्यक्षताधिकरणमेकमेव प्रमाण समस्ति ।' नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलि[4]बँलि—'अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविदुष[5], एकमेव ।' भगवान्—'कथ तर्हि भवत पित्रोर्विवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम्, कथ वा तवादृश्याना वश्यानामवस्थिति । स्वयम[6]प्रत्यक्षप्रमेयत्वादाप्तपुरुषोपदेशाश्रितौ[7] [8]स्वपक्षपरिक्षति परमतोत्सवकृतिश्च । बलिभट्टो[9]भट्ट इवेतस्तटमितो मदोत्कट करटीति सकट प्रघट्टकमापतित पर *सभाजनसभा[10]जनकरमुत्तरमपश्यन्नश्लील[11]मसभ्यसर्गं निरर्गलमार्ग किमपि त भगवन्त प्रत्युवाच । क्षितिपतिरतीवमन्दा[12]क्षविक्षिप्तवीक्षणो

गामी करनेवाले उसने व्रत व विद्या मे निर्दोप पूज्य अकम्पनाचार्य के लिए यथाविधि नमस्कार किया और एक नीचे आसन पर बैठ गया। आग्रहपूर्वक स्वर्ग व मोक्षस्वरूप के विचार मे तत्पर हुए उसने उक्त आचार्य द्वारा प्रशस्त धर्म वाली धर्म कथा विस्तारित की।

उसे सुनकर पुण्य कर्मरूपी बाँस के विदारण करने के लिए भँवरा-सरीखे वलि मन्त्री ने कहा—'हे स्वामिन्! स्वर्ग व मोक्ष का अस्तित्व मानने का आप दुराग्रह क्यो करते है? क्योकि बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष के पुरुष की परस्पर मे असाधारण प्रेमरस की वृद्धि की उत्पत्ति वाली प्रीति ही प्रत्यक्ष-प्रतीत स्वर्ग है, उससे भिन्न कोई दूसरा अदृश्य व अभिलषित स्वर्ग नही है।'

गुणो से बहुल आचार्य ने कहा—'वाद-विवाद के कलह-सहित और प्रमाण-पूजक बलि! क्या एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है?'

नास्तिको मे इन्द्र सरीखे चार्वाक के मनोरथरूपी रथ के सचालन के लिए सारथि-सरीखे वलि ने कहा—

समस्त शास्त्ररूपी पृथिवी का उद्धार करने मे आदिपुरुष सरीखे हे विद्वन्! 'हाँ केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।'

आचार्य—'यदि आप केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हो तो आपके माता-पिता के विवाह-आदि की सत्ता कैसे सिद्ध होगी? अथवा तुम्हारे वश मे उत्पन्न हुए अदृश्य पूर्वजो की सत्ता कैसे सिद्ध होगी? उनकी सिद्धि के लिए यदि आप कहेगे कि प्रमाण द्वारा जानने योग्य उक्त पदार्थ है अवश्य, परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जानने योग्य नही है, अत वे आप्त पुरुष के उपदेश (आगम प्रमाण) की अपेक्षा करते है, तब तो आपके पूर्वपक्ष की हानि होती है, अर्थात्—'वस्तु की स्थिति का साधक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, अन्य नही' आपका यह सिद्धान्त खण्डित होता है और स्याद्वाद दर्शन की सिद्धि होती है, क्योकि आपने प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय आगम प्रमाण भी मान लिया।

इसके बाद बलि नाम का विद्वान् मत्री मूर्ख-सरीखा होकर 'यहाँ पहाड की भीट है और वहाँ मदोन्मत्त हाथी है' किस मार्ग से जाऊँ? उसकी तरह दु ख-प्रकर्ष को प्राप्त हुआ और जब सभा के सदस्यो को प्रीतिजनक उत्तर न दे सका तब वह आचार्य से अश्लील, व उच्छृ खल मार्गवाला एव दुष्टजनो के योग्य वचन बोल उठा।

---

१ निश्चय। २ सह कलिना वर्तसे। ३ प्रमाणे बलि पूजा यस्य स। ४ सारथि। ५ विदुषो बुधस्तस्य सबोधन हे मुने। ६ ज्ञान प्रमाण, ज्ञानेन यद्वस्तु ज्ञायते तत्प्रमेय, तत्तु तवाप्रत्यक्ष तेन तेषा वस्तूनामवस्थितिर्न। ७ सत्या। ८ पूर्वपक्षस्य हानि। ९ अविद्वान्। * 'पर सभाजनकरमुत्तर' क०। १० प्रीतिकर। ११ अश्रव्य। १२ लज्जा।

मुमुक्षुसमक्षमासन्नाशिव[1]ताशनिमघट्ट बलिभट्ट प्रतिष्ठाभङ्गभयात्किमप्यनभिलप्य[2] 'भगवन्, असपन्नतत्त्वसबधस्य निजस्खलितप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य सद्धर्मध्वसहेतोर्जन्तोर्निसर्गस्थैर्यमेरुषु गुणगुरुषु न खलु दुरपवादकरणात्परमवसाने प्रहरणमस्ति' इति वचनपुर सर कथान्तरमनुबध्य[3] साधु समाराध्य च प्रशान्तिहैमवती[4]प्रभवगिरिमकम्पनसूरिं विनेयजनसभावनौचित्यज्ञया तदनुज्ञयात्मसदनमासाद्यापरेद्युरपरदोषमिषेण *सनिकारकरणमनुजै सह कमस्कन्ध[5]बन्धवाद्धलि[6] बलि निजदेशान्निर्वासयामास ।

भवतश्चात्र श्लोकौ—

[7]सन्तसश्च समावेव यदि चित्त मलीमसम् । यात्यक्षान्ते[8] क्षय पूर्व पर[9]श्चाशुभचेष्टितात् ॥२२३॥

स्वमेव हन्तुमीहेत दुर्जन सज्जन द्विषन् । योऽधितिष्ठेत्तुलामेक किमसौ न व्रजेदध ॥२२४॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंश कल्प ।

बलिद्विज सानुजस्तथा सकलजनसमक्षमसू[10]क्षमसू[11]क्षमणपूर्वक निर्वासित सन्मुनिविषयरोषोन्मेषकलुषित

यह देखकर राजा के नेत्र विशेष लज्जा से विक्षिप्त होगए और उसने मुमुक्षु आचार्य के सामने समीप मे अकल्याण रूपी वज्र का प्रहार करने वाले बलि भट्ट से अपनी प्रतिष्ठा के भङ्ग होने के भय से कुछ भी नही कहा और आचार्य से कहा—

'पूज्यवर ! निस्सन्देह कुवादी मानव के लिए, जो तत्त्व-सबध का ज्ञाता नही है (मूर्ख है) और जो आत्मस्वरूप से पतित होने के कारण बढे हुए चित्तवर्ती महामोह से अन्धा है एव जो प्रशस्त धर्म का ध्वसक है, स्वाभाविक स्थिरता मे सुमेरु पर्वत-सरीखे व सम्यग्ज्ञान-आदि गुणो से महान् पूज्य पुरुषो की निन्दा करने के सिवाय अन्त मे दूसरा कोई हथियार नही है। इसके बाद उसने चर्चा के प्रसङ्ग का उपसहार करके प्रकृष्ट उत्तम क्षमारूपी गगानदी का उद्गम करने के लिए हिमवान् पर्वत-सरीखे अकम्पनाचार्य की उत्तम आराधना की। शिष्यजनो के समुचित विनय को जाननेवाली आचार्य की आज्ञा लेकर अपने महल मे लौट आया। बाद मे उसने दूसरे दिन कर्म-समूह के बध के लिए हस्तिशास्त्र प्रणेता वाद्धलि आचार्य-सरीखे बलि को किसी दूसरे अपराध के बहाने से धिक्कार के विधान सहित उसके साथी (शुक्र प्रह्लादक व बृहस्पति) मन्त्रियो के साथ अपने देश से निर्वासित कर दिया।

इस विषय मे दो श्लोक है, जिनका अर्थ यह है—

यदि चित्त मलिन (अशुभ विचार से दूषित) है तो सज्जन और दुर्जन एक सरीखे हैं। उनमे से सज्जन तो अशान्ति (क्रोध) के कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्यो के करने से नष्ट हो जाता है। क्योकि सज्जन से द्वेष करनेवाला दुर्जन स्वय अपने घात की चेष्टा करता है। ठीक ही है, जो अकेला ही तराजू मे बेठ जाता है, वह नीचे क्यो नही जायगा ? ॥ २२३-२२४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे बलि के देश निर्वासन को वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ कल्प कल्प समाप्त हुआ।

जब समस्त लोगोके समक्ष विशेष तिरस्कार पूर्वक निकाला हुआ बलि ब्राह्मण अकम्पनाचार्य को लक्ष्य करके उत्पन्न हुए क्रोध से सन्तप्त चित्त वाला हुआ तब उसने अपने छोटे भाई प्रह्लादक के साथ कुरुजाङ्गल

---

१ अकल्याण। २ अनुक्त्वा। ३ उपसहृत्य। ४ गङ्गा। * विगोपन। ५ समूह। ६ गजागमाचार्यं। ७, सत्पुरुषदुर्जनौ। ८, क्रोधात् सत्पुरुष क्षय याति। ९ दुर्जन। १० वृहत्। ११ पराभव।

कुरुजाङ्गलमण्डलेषु [1]तद्विलासिनीजलकेलिविगलितका[2]लेयपाटलकल्लोलाधरसुरसरित्[3]सीमन्तिनीचुम्बितपर्यन्तप्रसरे हस्तिनागपुरे साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमती महादेवीमवहाय[4] सरस्वतीरसावगाहसागरस्य श्रुतसागरस्य भगवतोऽभ्यर्णे पितृविनयविष्णुना[5] विष्णुना लघुजन्मना सूनुना सार्धं प्रवर्धितदीक्षापद्मस्य[6] महापद्मस्य महीपतेर्महान्त[7] पद्मनामनिलय तनयमशिश्रियत्[8]। पद्मोऽपि चारसचाराद्विदितवशविद्याप्रभावाय तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिक स्थानमदात्। बलि —'देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसभावनाह्लाद प्रसाद । किंतु कर्णेजपवृत्तीना लञ्चलुञ्चनोचितचेत प्रवृत्तीना च प्रायेण पुरुषाणा नियोगिपद हृदयास्पद न शौर्योर्जितचित्तस्योदारवृत्तस्य च, तदसाध्यसाधनेन नन्वय[9]जनो निदेश-दानेनानुगृहीतव्य'। पद्म —'सत्यमिदम्, किंतु स्वामिसमीहितसमर्थनसवीणेषु[10] सर्वधुरीणेषु* भवद्विधेषु सचिवेषु सत्सु किं नामासाध्य समस्ति।' अन्यदा तु कुम्भपुराधिकृतमूर्ति[11] सिहकीर्तिर्नाम नृपतिरनेकायोध[12]नलब्धयश प्रसाधन सनद्ध-सारसाधनो हस्तिनागपुरावस्क[13]न्दप्रदानायागच्छन्, एतन्नगरच्छन्नाव[14]सर्पनिवेदितागमन पद्मनिदेशादभ्यमित्रीण[15]-प्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकद[16]नकोविदधिषणेन बलिनाध्वमध्ये प्रबन्धेन[17] युद्ध्यमान, नामनिर्गमविधानै प्रधानैर्युद्ध-

---

देश के हस्तिनागपुर नगर के, जिसकी विस्तृत पर्यन्तभूमि ऐसी गङ्गा नदीरूपी स्त्री द्वारा चुम्बन की गई है, जिसके तरङ्गरूपी ओष्ठ वहाँ की कामिनियो द्वारा की हुई जलक्रीडा से गिरे हुए कुकुम से लालिमा-युक्त है, ऐसे महापद्म नामक राजा के ज्येष्ठ पुत्र पद्मनाम के स्थान वाले राजा का आश्रय लिया, जिसने साम्राज्य लक्ष्मी-सरीखी लक्ष्मीमति पट्टरानी का त्याग किया था और जिसने ऐसे पूज्य श्रुतसागर नामक आचार्य के समीप पितृभक्ति को विस्तारित करने वाले अपने विष्णु नाम के छोटे पुत्र के साथ दीक्षा-सम्पत्ति ग्रहण की थी, जो कि सरस्वती रूपी नदी के आनन्दरूप जल मे अवगाहन का समुद्र है।

पद्मराजा ने भी गुप्तचरो द्वारा जाने हुए वश व विद्या से प्रभावशाली बलि के लिए समस्त अधिकारी वर्ग मे श्रेष्ठ मन्त्री का पद प्रदान किया।

तब बलि ने कहा—'हे देव ! मैने आपका असाधारण सन्मान से सुखप्रद अनुग्रह ग्रहण कर लिया परन्तु अधिकार का पद चुगलखोरो और घूँसखोरो के लिए प्राय सुखदायक होता है न कि महान् चरित्र वाले व शूरता से शक्तिशाली चित्त वालो के लिए। अत मुझे ऐसी आज्ञा-प्रदान द्वारा अनुगृहीत कीजिए, जिसमे असाध्य कार्य सिद्ध हो सके।'

तब पद्मराजा ने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु स्वामी के अभीष्ट को पूरा करने मे प्रवीण और समस्त कर्तव्यो मे कुशल तुम्हारे जैसे मन्त्रियो के होते हुए कुछ भी असाध्य नही है।'

एक समय कुम्भपुर के स्वामी सिंहकीर्ति नामके राजा ने, जिसने अनेक युद्धो मे यशरूपी सिद्धि प्राप्त की थी और जो युद्ध विद्या मे कुशल सैनिको की शक्तिरूप साधनो से सन्नद्ध (सुसज्जित) था, हस्तिनागपुर पर हमला करने के लिए प्रस्थान किया। परन्तु शत्रु के नगर मे प्रच्छन्न हुए—छिपे हुए गुप्तचरो ने इसके आने का समाचार सूचित कर दिया, जिससे पद्म राजा की आज्ञा लेकर शत्रु के सन्मुख आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करने मे तत्पर हुए एव कूट कपट की अभिलाषा वाले युद्धो मे प्रवीण बुद्धि वाले बलि नामके मन्त्री ने मार्ग के मध्य मे ही मार्ग रोककर उसके साथ तुमुल

---

१ देश। २ कुङ्कुम। ३ गगानदी एव सोमन्तिनी। ४ परित्यज्य। ५ विस्तारकेण। ६ सपद। ७ ज्येष्ठ। ८ बलिमन्त्री। ९ मल्लक्षणो जन। १० प्रवीणेषु। * सवकर्मणि कुशलेषु। ११ स्वामी। १२ सग्राम। १३ धाटक। १४. प्रच्छन्नचर। १५ शत्रुसन्मुख। १६ सग्राम। १७ मार्गरोधनेन।

सिद्धान्तोपान्तै[1] सामन्तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृत ।

क्षितिपति —'शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरणव्याकरणपतञ्जले बले, निखिलेऽपि बले चिरकालमनेकश कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य द्विष्टस्य विजयान्नितान्त तुष्टोऽस्मि। तद्याच्यता मनोभिलाषधरो वर'। बलि —'अलक, यदाह याचे तदाय प्रसादीकर्तव्य' इत्युदारमुदीर्य पुनश्चतुरङ्गबलप्रबल प्रतिकूलभूपालविनयनाय पद्ममवनिपतिमादेश याचित्वा स वरमशेषाशावशनिवेशानी[2]कसूत्रितसकलमहीतलो दिग्विजययात्रार्थमुच्चचाल ।

अत्रान्तरे विहारवशाद्भगवानकम्पनाचार्यस्तेन महता मुनिनिकायेन साक हस्तिनागपुरमनुसृत्योत्तरदिग्विलासिन्यवतसकुसुमतरौ हेमगिरौ महावगाहाया[3] गुहाया चातुर्मासीनिमित्त स्थिति बबन्ध। बलिरपि निखिलजलधिरोध[4] सविधवनविनोदितवीरवधूहृदयो दिग्विजय विधायागतस्त भगवन्तमवबुध्य चिरकालव्यवधाने[5]ऽप्य[6]लर्कविषनिषेक इव जातप्रकोपोद्रेकस्तदपराधविधानाय[7] धराधीश्वर [8]पुरावितीर्णवरव्याजेन [9]समाशाखार्धमात्मैकशासनप्राज्य राज्यमन्त पुरप्रचारैश्वर्यमात्रसद्मात[10] पद्मतोऽभ्यर्थ्य मखमिषेण मुनिसैन्याजन्योत्कर्ष[11] चिकीर्षुर्मदनद्रव्याधिकरणै-[12]रुपकरणैरग्निहो[13]त्रमारेभे ।

युद्ध किया। जिससे बलि ने विख्यात नाम वाले प्रधानो और युद्ध-विद्या मे समीपभूत सामन्तो के साथ उसे बाँधकर हृदय के कीले के उन्मूलन होने से प्रसन्न बुद्धिवाले पद्मराजा के लिए भेट कर दिया।

तब पद्म ने कहा—'शास्त्र-विद्या के आधार व्याकरण शास्त्र मे पतञ्जलि-सरीखे शस्त्र विद्या मे प्रवीण बलि! समस्त सैन्य के होते हुए भी चिरकाल मे अनेक बार मेरी मुख-कान्ति को काली करने वाले इस शत्रु को जीतने से मै बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए आप मुझ से अपनी मनोकामना पूर्ण करने वाला वर माँगिए।' बलि—'स्वामिन्! जब मै आपसे याचना करूँ, तब महाराज मुझ पर कृपा करे।'

ऐसा उदारता पूर्वक कहकर और राजा पद्म से आज्ञा लेकर विरोधी राजाओ को वश मे करने के उद्देश्य से चतुरङ्ग सेना से शक्तिशाली हुए बलि ने समस्त दिशाओ को अपने अधीन करने वाले सैन्य-शिविर द्वारा समस्त पृथिवी तल को आच्छादित करके दिग्विजय करने के लिए प्रस्थान किया।

इसी बीच मे पूज्य अकम्पनाचार्य उस बडे भारी मुनि सघ के साथ विहार करते हुए हस्तिनागपुर मे पधारे और उत्तर दिशारूपी स्त्री के लिए कानो के आभूषणरूप फूले हुए वृक्षो वाले हेमगिरि नाम पर्वत की महागम्भीर गुफा मे चतुर्मास करने के लिए ठहर गए।

समस्त समुद्र-तट के समीपवर्ती वनो मे वीर वधू का हृदय प्रमुदित करने वाला बलि भी दिग्विजय करके लौट आया। जैसे बहुत समय बीत जाने पर भी वर्षा ऋतु मे पागल कुत्ते के काटने का जहर चढ जाता है, वैसे ही मुनि सघ का समाचार जानकर उसे विशेष क्रोध-वृद्धि उत्पन्न हुई। इसलिए उसने मुनिसघ की विराधना करने के उद्देश्य से पूर्व मे दिये हुए वर का बहाना लेकर अपने स्वामी राजा पद्म से, जिसका मन्दिर (स्थान) अन्त पुर मे सचार के योग्य वैभव वाला है, एक पक्ष के लिए केवल अपने ही शासन की प्रचुरता वाला राज्य शासन माँग लिया और बलि ने मुनिसघ के ऊपर विशेष उपसर्ग करने के इच्छुक होते हुए मद्य व मासादि साधनो द्वारा महायज्ञ करना आरम्भ कर दिया।

---

१ समीपभूतै। २ सैन्य। ३ गम्भीराया। ४ तटसमीप। ५ आच्छादनेऽपि। ६ 'हुडकशुनके जलसेचनमिव, किल उष्णकाले शुना दष्ट पुमान् तस्य विष वर्षाकाले उदयमागच्छति' टि० ख०। 'अलर्क ग्रहिलश्च' इति पञ्जिकाकार। 'ग्रहिलकुकुर'। टि० च०। ७ तेषा मुनीना विराधनानिमित्त। ८ पूर्व दत्त। ९ पक्षैक। १० मन्दिरात्। ११ उपसग। १२ मद्यमास। १३ महायज्ञ।

अत्रान्तरे [1]निजनिवासपवित्रितमिथिलापुरे *जिष्णुसूरेरन्तेवासी भ्राजिष्णुर्नाम [2]तमीमध्यसमये बहिर्विहितविहार [3]समीरमार्गे नक्षत्रवीथी[4] लोचनालोकनसनाथा विदधानश्च [5]भूरसचारचकितगात्र कुरङ्गकलत्रमिव, तरलतारकाश्रयण श्रवणमवेक्ष्यान्तरिक्षे[6] लक्ष्य बध्वा किलैवमुच्चैरवोचत—'अहो, न जाने क्वचिन्महामुनीना महानुपसर्गो वर्तते' इति। एतच्च [7]श्रमणशरणगणी समाकर्ण्य प्रयुक्तावधिबोधस्त[8]न्नगरगिरिगुहायामकम्पनाचार्यस्य बलिदुर्विलसितमवधार्याकार्य च गगनगमनप्रभाव पुष्पकदेव देशव्रतसेवम् 'हहो पुष्पकदेव, तव विक्रयर्द्धेर्वैधु[9]र्यान्न तदुपसर्गविसर्गे सामर्थ्यमस्ति। नतस्तथाविधर्द्धिवृद्धिरोचिष्णवे विष्णवे तामदृष्टविशिष्टतामिवात्मस्थितामप्यविदुषे[10] निवेद्य[11] तदुपसर्गापवर्गा[12]यास्मत्स[13] गन्नियोजयितव्य[14]।' पुष्पकदेवस्त्रिदशोचितचरणसेवस्य तस्य [15]महर्षेर्भाषितात्त देशमासाद्य विष्णुमुनये तथाविधर्द्धिवृत्ति गुरुनिदेशप्रवृत्ति च प्रतिपादयामास। विष्णुमुनि प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसवेदनेन मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण

इसी बीच मे अपने निवास द्वारा मिथिलापुरी को पवित्र करने वाले जिष्णु सूरि नामके आचार्य के शिष्य भ्राजिष्णु नाम के क्षुल्लक ने, जिसने अर्धरात्रि मे बाहर विहार किया था और जो आकाश मे नक्षत्र-मार्ग को नेत्रो से दर्शन-युक्त कर रहा था, श्रवण नक्षत्र देखा, जो कि वैसा कॉपने वाले नक्षत्र का आश्रय कर रहा था, जैसे मृगी का शरीर व्याघ्र के आगमन से कॉपने वाला हो जाता है। पुन ज्योतिष शास्त्र का विचार करके जोर से चिल्लाया—'आह ? न जाने कहाँ पर महामुनियो पर महान् उपसर्ग हो रहा है ?

जब उक्त बात मुनि-सरक्षक जिष्णु सूरि नामके आचार्य श्री ने सुनी तब उन्होने अवधि ज्ञान से जाना कि हस्तिनागपुर नगर के पर्वत की गुफा मे स्थित हुए अकम्पनाचार्य के ऊपर बलि घोर उपसर्ग कर रहा है।' इसके बाद उन्होने शीघ्र आकाश मे विहार करने की शक्ति वाले पुष्पक देव नाम के क्षुल्लक को बुलाकर कहा—'पुष्पक देव ! नुम्हारे पास विक्रिया ऋद्धि नही है, इसलिए तुममे मुनि सघ को उपसर्ग से दूर करने की शक्ति नही है, अत उपसर्ग निवारण करने वाली विक्रिया ऋद्धि की वृद्धि से दीप्ति-युक्त हो रहे विष्णु कुमार मुनि से निवेदन करके, जो कि अपने मे प्रकट हुई भी विक्रिया ऋद्धि को, जिसकी विशिष्टता का अनुभव स्वय उन्हे नही है, जिससे जो विशेषता-शून्य-सरीखी है, नही जान रहा है, मुनि सघ का उपसर्ग नष्ट करने अथवा छुडाने के लिए उन्हे हमारी आज्ञा से प्रस्तुत कार्य मे नियुक्त करने की प्रेरणा करनी चाहिए।'

इसके उपरान्त पुष्पकदेव देवो के योग्य चरण-कमलो की सेवा वाले महर्षि जिष्णु सूरि के कहने से उस देश मे पहुँचा और उनसे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होने की बात और गुरु की आज्ञा कह दी।

इसे सुनकर जैसे दीपक, स्फटिक मणि की भित्ति के मध्य प्रसार करनेवाले किरण-समूह से शोभायमान होता है, वैसे ही वे विष्णुकुमार मुनि भी लवण समुद्र की वज्रमयी वेदिका का भेदन करनेवाले व मानुषोत्तर पर्वत के पर्यन्त भाग का अनुभव करनेवाले एव मनुष्य क्षेत्र का आरम्भ तिरस्कृत करनेवाले अपने हाथ से सुशोभित हुए। अर्थात्—जब उन्होने अपनी विक्रिया ऋद्धि की परीक्षा करने के लिए ज्यो ही अपना कर-कमल फैलाया तो वह लवण-समुद्र की वज्रमयी वेदिका का भेदन करता हुआ मानुषोत्तर पर्वत तक फैल गया।

---

१ निवासेन पवित्रिता मिथिलापुरी येन स। * गौरप्रधानहस्तत्व तस्य सूरे। २ रात्रि। ३ गगने। ४ मार्गं। ५ व्याघ्र। ६ ज्योति शास्त्रे विचार कृत्वा। ७ श्रमणाना शरणीभूतश्चासौ गणी सूरि। ८ हस्तिनागपुर। ९ रहितत्वात्–विनाशनात्। १० अजानते। ११ कथयित्वा। १२ प्रान्ताय–विमोचनाय। १३ १४ आदेशात्स विष्णुर्योजनीय। १५ जिष्णुसूरे।

करेणोर्णनाभ[1] इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्याससमासक्रियया च [2]तामवगम्योपगम्य च हास्तिनपुरं 'न खल्वनिवेद्य निखिलव[3]णिवर्णाश्रमपालाय मध्यमलोकपालायामर्षप्रवृत्ततन्त्रेण[4] हुकारमात्रेणाप्याकम्पितजगत्त्रया [5]प्रसख्यानवनविध्वसदावे तप प्रभावे दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते[6] यतीशा' इति च परामृश्य, प्रविश्य च पुरंव चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारो[7]ऽन्त पुर 'पद्ममहीपते, [8]राजधानीष्वरण्यानीषु वा तपस्यत सयतलोकस्य न खलु नरेश्वरात्पर प्रायेणास्ति गोपायिता[9]। तत्कथ नाम तृणमात्रेऽप्यनपराधमतीना यतीनामात्मन्युशुभलोकनिषेकसर्गमुपसर्ग सहसे'[10] इत्युक्तम्। 'भगवन, सत्यमेवैतत्। कि तु कतिचिद्दिनानि बलिरत्रराजा, नाहम्' इति प्रत्युक्तियुक्तस्थित पद्म-नृपतिमवमत्य[11] 'छलेन खलु परेषु प्रायेण फलोल्लासनशीलास्तप प्रभर्वाद्धलीला' इति चावगत्य शा[12]लाजिरसपुटकोटराव-काश प्रदीपप्रकाश इव सजातवामनाकृति [13]सप्ततन्तुवसुमतीमनुसृत्य मधुरध्वनि [14]तृतीयेन सवनेन[15] प्राध्ययन व्यधात्। बलिर्जलधरध्वानबन्धुर वाक्प्रसर सिन्धुर[16] इव [17]निभृतकर्णो निर्वण्य[18] 'कोऽय खलु [19]वेदवाचि विरिञ्च[20]

इस प्रकार वह समस्त मनुष्य क्षेत्र मे फैल गया। एव जैसे मकडी अपने जाले को अपने अधीन करती हुई उन्हे विस्तृत व सकुचित करती है वैसे ही प्रस्तुत ऋषि भी अपना शरीर विस्तृत व सकुचित करते हुए अपनी विक्रिया ऋद्धि का निश्चय कर हस्तिनागपुर मे पहुँचे। 'क्रोध से उत्पन्न हुए कार्य वाले हुँकारमात्र से तीनलोक को कम्पित करनेवाले मुनीश्वर निस्सन्देह ऐसे तप के प्रभाव होने पर भी, जो कि दुर्ध्यानरूपी वन को विध्वस करनेवाली दावानल अग्नि सरीखा है, किन्तु वे समस्त पृथिवीवर्ती वर्ण व आश्रम मे रहने वाली प्रजा के रक्षक राजा से कहे विना दुष्टो को दड देने का उद्यम नही करते।'

ऐसा सोचकर विष्णुकुमार मुनि अन्त पुर मे प्रविष्ट हुए। पुराने परिचित कञ्चुकि ने उनका प्रवेश सूचित किया।

बाद मे विष्णु मुनि ने राजा से कहा—

'पृथिवीपति पद्म! जब निस्सन्देह राजधानियो मे भी वन-सरीखा परिणाम रखनेवाले तपस्वी मुनि-समूह का राजा को छोडकर प्राय कोई दूसरा रक्षक नही है तब तृणमात्र के प्रति अपराध करने की बुद्धि न रखनेवाले ऋषियो के शरीर पर किया हुआ उपसर्ग, जिसको उत्पत्ति दुष्ट लोक रूपी मलिन जल से हुई है, आप कैसे सहन करते है?

राजा पद्म—'भगवन्! आपका कहना ठीक है किन्तु यहाँ कुछ दिनो के लिए यहाँ का राजा वलि है मै राजा नही हूँ।'

तब विष्णुकुमार मुनि ने इस प्रकार के प्रत्युत्तर की युक्ति मे राजा पद्म को अनादृत करके यह निश्चय किया—कि 'निस्सन्देह तपश्चर्या से उत्पन्न होनेवाली ऋद्धियो के चमत्कार प्राय दूसरो पर किये गये छल द्वारा फलदायक होते है।' बाद मे उन्होने शराव-सपुट के मध्यवर्ती अवकाश वाले दीपक के प्रकाश-सरीखा वामन रूप धारण किया और यज्ञभूमि मे जाकर मधुर ध्वनि पूर्वक ऊँचे स्वर से वेदाध्ययन शुरु किया।

बलि ने मेघ की ध्वनि-सी मनोज्ञ उस विस्तृत वेदवाणी को वैसी निश्चल श्रोत्रवाले होकर सुनी जैसे हाथी मेघध्वनि को निश्चल कर्ण-युक्त होकर सुनता है। इससे उसका हृदय कौतूहल-युक्त हुआ।

'वेद के प्रवचन-विषय मे ब्रह्मा-सरीखा उच्चारण करने मे चतुर यह कौन है?'

---

१ लूता। २ विक्रियर्द्धि। ३ पृथ्वी। ४ क्रोधोत्पन्नकार्येण। ५ ध्यान। ६ उद्यम कुर्वन्ति। ७ प्रवेश। ८ सराग-स्थानेष्वपि वनेष्विव परिणाम स्यात्। ९ रक्षक। १० त्व सहसे। ११ अवगणय्य। १२ 'शालाजिर शब्देन कपाल' इति टि० (ख०)। 'शालाजिर शराव' इति पञ्जिकाकार। शरावो वर्धमानक इत्यमर। १३ यज्ञभूमि। १४ १५ उदात्तस्वरेण। १६ गजवत्। १७ निश्चल। १८ श्रुत्वा। १९ प्रवचनविषये। २० ब्रह्मा।

इवोच्चारणचतुर' इति कुतूहलितहृदय [1]सत्रनिलयान्निर्गत्य वयसि वपुषि च निश्चिताश्चर्यसौंदर्य द्विजवर्यमेनमवादीत्—'भट्ट, किमिष्ट वस्तु चेतसि निधाय प्राधीषे'[2]। 'बले, दायादविलुप्तालयत्वात्तदर्थं पादत्रयप्रमाणकल[3]मवनितलम्। द्विजोत्तम निकाम दत्तम्।' 'यद्येव बहुमानयजमान, विधीयतामुदकधारोत्तरप्रवृत्ति[4] दत्ति।' बलि प्रबशमा[5]लूमादाय 'द्विजाचार्य, प्रसार्यता हस्त' इत्युक्तवति[6] शुक्र[7] सक्रन्दनमिव[8] कुलिशनिकेतनम्, प्रासादमिव कलशाह्लादम्, जलाश्रयमिव मत्स्याश्रयम्, सरिन्नाथमिव शङ्खसनाथम्, विरहिणीवासरगणनकुड्य[9]प्रदेशमिवोर्ध्वरेखावकाशम्, नारायणमिव चक्रलक्षणम्, यज्ञोपकरणमिव यवाधिकरणम्,[10] जलयानपात्रमिव[11] निश्छिद्रतामत्रम्,[12] स्तम्बेरमकरमिव दीर्घाङ्गुलिप्रसरम्, वशकि[13]शलयमिवानुपूर्वीप्रवृत्तपर्वसचयम्, कमलकोशमिवारुणप्रकाशनिवेशम्, विद्रुमभङ्गा[14]भोग-

बाद मे वह यज्ञ-मण्डप से बाहर आया और इस श्रेष्ठ ब्राह्मण से, जिसकी आश्चर्य-जनक मनोज्ञता इसकी उम्र व शरीर के वामनाकार से निश्चित की गई थी, बोला—

'हे विद्वन्! किस इष्ट वस्तु की इच्छा चित्त मे स्थापित करके यह वेद पाठ करते हो?'

हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ बलि! 'मेरा गृह कुटुम्बी जनो द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाने से अपनी कुटी बनाने के लिए केवल तीन पैर के प्रमाण से मनोज्ञ पृथिवी के लिए वेदपाठ करता हूँ।

बलि—'द्विजोत्तम! मैने तुम्हे इच्छानुसार तीन पैर जमीन दे दी।'

द्विजोत्तम—'तो माननीय यजमान! जल-धारा से मनोज्ञ प्रवृत्ति वाला दान कीजिए।

एक बडी झारी [हाथ मे] लेकर बलि—'द्विजाचार्य! हाथ फैलाइए।'

ऐसा बलि के कहने पर शुक्राचार्य ने उसका ऐसा हाथ देखकर, बलि से कहा—जो वैसा कुलिश-निकेतन (वज्र के चिह्न वाला) है, जैसे इन्द्र कुलिश-निकेतन (वज्र का धारक) होता है। जो उस भाँति कलश-आह्लाद—कलश के चिह्न से आनन्द प्रद है, जिस भाँति महल कलश-आह्लाद—कलशो से आनन्द दायक होता है। जो वैसा मत्स्य-आश्रय (मछली के चिह्न से अलङ्कृत) है जैसे तालाब मत्स्य-आश्रय (मछलियो का आवास-स्थान) होता है। जो वैसा शङ्ख-सनाथ (शङ्ख के चिह्न सहित) है जैसे समुद्र शङ्ख-सनाथ शङ्खो से व्याप्त) होता है। जो वैसा ऊर्ध्व रेखा-युक्त है जैसे विरहिणी स्त्री के द्वारा पति के वियोग के दिनो की गिनती करने के लिए भित्ति देश खीची गईं रेखाओ का स्थान होता है। जो वैसा चक्रलक्षण (चक्र चिह्न से सुशोभित) है जैसे विष्णु चक्रलक्षण (सुदर्शन चक्रधारी) होता है। जो वैसा यवाधिकरण (अँगूठे मे जौ के चिह्न का, जो कि कीर्तिका चिह्न है, आधार) है जैसे यज्ञ के उपकरण यव-अधिकरण (जौ अन्न के आधार) होते है। जो वैसा निश्छिद्रता-अमत्र (सलग्न कर की अङ्गुलियो वाला), है जैसा जहाज निश्छिद्रता-अमत्र (छिद्रो से रहित का स्थान) होता है। जो वैसा दीर्घ-अङ्गुलि-प्रसर (लम्बी व विस्तृत अङ्गुलियो वाला) है जैसे हाथी की सूँड दीर्घ-अङ्गुलि प्रसर (लम्बी नोक से विस्तृत) होती है। जो वैसा आनुपूर्वी प्रवृत्त-पर्व-सचय है, अर्थात् क्रमपूर्वक प्रवृत्त होने वाले पर्व-(गाँठे) समूह से सुशोभित है जिस प्रकार बाँस के नये पत्ते आनुपूर्वी प्रवृत्त पर्व सचयशाली—पर्व और गाँठोवाले-होते है। जो वैसा अरुण-प्रकाश-निवेश (सध्याकालीन आकाश की लालिमा वाला) है जैसे कमल का कोश अरुण-प्रकाश-निवेश (सूर्य के प्रकाश का स्थान) होता है। जिसके नाखूनो का अग्रभाग वैसा स्निग्ध-पाटल (चमकीला

१ 'दानशालाया' इति टि० ख०। 'सत्र यज्ञमण्डप' इति पञ्जिकाकार। 'यज्ञमण्डपात्' इति टि० च०। २ प्राध्ययन कुरुषे। ३ मनोज्ञ। ४ मनोज्ञप्रवृत्ति। ५ भृगार झारी। ६ सति बलौ, अग्रे वक्ष्यमाण ब्रूते। ७ मन्त्री। ८ इन्द्र। ९ भित्तिदेश। १० अगुष्ठे यव यशश्चिह्न। ११ पोत। १२ सलग्नकराङ्गुलिम्। १३ अङ्कर। १४ रचनाविस्तार।

मिव स्निग्धपाटलनखराग्र लक्ष्मीलताविर्भावोदय [1]शयमुपलक्ष्य बले, न खल्वयमेवविधपाणितलमवधो गोध[2] परेषा याचिता किन्तु याच्य[3] इति वचनवक्र शुक्रमवगणय्य बलि स्वकीया दत्तिमुदकधारोत्तरामकार्षीत् ।

तदनु स विष्णुमुनिर्विरोचनविरोकनिकर[4] इवाक्रमेणोर्ध्वमधश्चान[5]वधिवृद्धिपर पवतस्योभयत प्रवृत्तापगाप्रवाह इव[6] तिर प्रसरद्देह, [7]कायधरमेकमकूपारवज्रवेदिकाया निधायापर च क्रम[8]चक्रवालचूलिकाया पुनस्तृतीयस्य मेदिनीमलभमानस्तपन[9]रथस्खलनसेतुना [10]सुरसरित्तुरी[11]यस्रोतोहेतुना सपादितदिविजसुन्दरीच[12]रणमागविभ्रमेण[13] समाचरितखेचरीचेत सभ्रमेण भूगोलगोरवपरिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन चरणन क्षोभितान्तरिक्षचरपुरकक्ष किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दैर्वन्द्यमानपादारविन्द सयतजनोपकारसार स्वकीयर्द्धिवृद्धिपरितोषितमनीषैव्यन्तरानिमिषरकारणखलतालतास्थलि[14] बलि सबान्धवमबन्धयत् । प्रावेशयच्च सदेह रसातलगेहम् ।

भवति चात्र श्लोक —

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीना हास्तिने पुरे । बलिद्विजकृत विघ्न शमयामास वत्सल ॥२२५॥

और लाली लिए हुए है जैसे मूँगो की रचना का विस्तार सचिक्कण व लालिमा-युक्त होता है एव जिसमे लक्ष्मी (शोभा) रूपी लता की अभिव्यक्ति का उद्‌गम है। 'बलि! निस्सन्देह ऐसा हस्ततल शाली मानव दूसरो से याचना करनेवाला नही हो सकता, किन्तु दूसरो के द्वारा याचना-योग्य होता है।'

इस प्रकार वक्रोक्ति पूर्वक बोलने वाले शुक्र मन्त्री को तिरस्कृत करके बलि ने अपना दान, जलधारा से मनोज्ञ किया।

इसके बाद विष्णु मुनि सूर्य की किरण-समूह सरीखे अपना शरीर एकदम से बेमर्याद ऊपर नीचे वृद्धिगत करने मे तत्पर हुए और वे वैसा अपना शरीर तिरछे रूप से फैलाने वाले हुए, जैसे पर्वत के दोनो पार्श्व भागो पर प्रवाहित होने वाली नदी का प्रवाह तिरछे रूप से फैलता है। उन्होने एक पैर फैलाकर समुद्र की वज्रमयी वेदिका पर स्थापित किया और दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत की चोटी पर स्थापित किया और तीसरे पैर को रखने के लिए जगह न मिलने से उसने उससे विद्याधरो के नगरो के गृह क्षुब्ध किये। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—सूर्य के रथ को रोकने के लिए पुल ही है। जो गगा नदी की चौथी धारा के उत्पन्न करने मे कारण है। जो देव-सुन्दरियो के नगर-समूह की भ्रान्ति को उत्पन्न करनेवाला है और जो विद्याधरियो के चित्त मे भय उत्पन्न करनेवाला है एव जो भूमण्डल की गुरुता—भारीपन-का निश्चय करने के लिए तराजू-सरीखा है। इससे किन्नरदेव, विद्याधर व चारण-आदि के समूह ने आकर उनके चरणकमलो की वन्दना की। वह सयमी जनो का उपकार करने से उत्तम था उसने अपनी विक्रिया ऋद्धि की वृद्धि से सन्तुष्ट बुद्धिवाले व्यन्तरदेवो ने स्वाभाविक दुष्टतारूपी लता के आश्रय के लिए भूमि-सरीखे बलि को उसके वन्धुजनो सहित बाँध लिया और उसे शरीर-सहित रसातल मे पहुँचा दिया।

इस विषय मे एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—सयमी जनो से वात्सल्य (प्रेम) करनेवाले व महापद्म राजा के पुत्र विष्णुकुमार मुनि ने हस्तिनागपुर नामक नगर मे बलि ब्राह्मण द्वारा मुनियो पर किया हुआ उपसर्ग निवारण किया॥ २२५॥

---

१ हस्त। २ पुरुष। ३ अन्यैर्याचनीय। ४ सूर्यकिरण। ५ अमर्याद। ६ तिरिछु। ७ चरण। ८ मानुषोत्तरगिरौ। ९ सूर्य। १० गगा किल त्रिपथगा। ११ चतुर्थ। १२ नगरसमूह। १३ भ्रान्तिना। १४ भूमि

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यप्रवचनो नाम विंशतितम कल्प ।

[1]निसर्गोऽधिगमो[2] वापि तदाप्तौ[3] कारणद्वयम् । सम्यक्त्वभाक्पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासत ॥२२६॥

उक्त च—आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामा [4] । सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥२२७॥

एतदुक्त भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य [5]तन्निदा[6]नद्रव्यक्षेत्रकालभावभ*वसपत्सेव्यस्य विधूतैत[7]त्प्रतिबन्धकान्धकारसबन्धस्याक्षि[8]प्तशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणानुबन्धस्य[9] नवस्य भाजनस्येवासजातदुर्वासनागन्धस्य[10] झटिति यथावस्थितवस्तुस्वरूपसक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिदर्पणसगन्धस्य[11] पूर्वभवसभालनेन वा वेदनानुभवनेन वा [12]धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिनिधिनिध्यानेन[13] वा महामहोत्सवनिहालनेन[14] वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यवाहनेन[15] वा नृषु नाकिषु[16] वा तन्माहात्म्यसभूतविभवसभावनेन[17] वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पद खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु [18]याथात्म्यसमवधान श्रद्धान भवति तदा प्रयोक्तु[19] सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालय

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे वात्सल्य अङ्ग का प्रवचन करनेवाला बीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ।

अब सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हैं—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दो कारणो से होती है। १ निसर्ग (परोपदेश के विना स्वभाव) से होती है और दूसरा अधिगम (परोपदेश) से होती है। क्योंकि किसी पुरुष को अल्प प्रयत्न करने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और किसी को प्रचुर प्रयत्न करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है॥ २२६॥

कहा भी है—सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण निकट भव्यता, दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय व क्षयोपसम, सज्ञीपन और शुद्ध परिणाम है तथा बाह्य कारण उपदेश और जाति स्मरण व जिनबिम्ब दर्शन-आदि है॥ २२७॥

अभिप्राय यह है—ऐसे किसी निकट भव्यजीव को, जो कि सम्यक्त्व के कारण योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो की उत्पत्तिरूपी लक्ष्मी से सेवनीय है, जिसने सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे रुकावट डालनेवाले कर्मरूपी (दर्शन मोहनीय) अन्धकार का सबध नष्ट कर दिया है। जिसने ऐसा सज्ञी पचेन्द्रियपन प्राप्त किया है, जो शिक्षा, क्रिया व वार्तालाप करने मे निपुण है। जिसमे नये वर्तन की तरह दुर्वासना का सबध उत्पन्न नही हुआ है और जो शीघ्र यथार्थ वस्तु स्वरूप के सक्रमण मे कारण होने से स्फटिक मणि के दर्पण-सरीखा है, पूर्वभव के स्मरण से, कष्टो के अनुभव से, धर्म शास्त्र के सुनने से, जिनबिम्ब के दर्शन से, महामहोत्सवो के देखने से और महाऋद्धिधारी आचार्यों के दर्शन से एव मनुष्यो मे और देवो मे सम्यक्त्व के माहात्म्य से उत्पन्न हुए ऐश्वर्य के दर्शन से अथवा अन्य किसी कारण से विचाररूपी बगीचो मे मन की क्रीडा का स्थान खेद प्राप्त न करके जब जीवादि मोक्षोपयोगी तत्वो मे यथोक्त परिज्ञान वाला श्रद्धान उत्पन्न होता है तो उस सम्यक्त्व को 'निसर्गज' सम्यग्दर्शन कहते है। तब सम्यग्दर्शन का व्यवहार करनेवाले निकट भव्यात्मा द्वारा सुलभता पूर्वक प्राप्त होजाने से यह निसर्गज सम्यग्दर्शन वैसा कहा जाता है, जैसे धान्य काटने वाले कृषक द्वारा सुल-

---

१ स्वभाव। २ आक्षेप। ३ सम्यक्त्वप्राप्तौ। ४ आभ्यन्तरकारण। ५ सम्यक्त्व। ६ कारण। * उत्पत्ति। ७ सम्यक्त्व। ८ गृहीत। ९ पचेन्द्रियमन सबधस्य। १० सबधस्य। ११ समानस्य। १२ श्रवण श्रुत, धर्मशास्त्राकर्णनेन, मूलाचारश्रावकाचारश्रवणेनेत्यर्थ। १३ प्रतिमावलोकनेन। १४ दर्शनेन। १५ दर्शनेन। अत्र पञ्जिकाकार प्राह—निध्यान निहालन, वाहन दर्शन च। हल विशोधने वह परिकल्पने अनयो रूपमिति। १६ देवेषु। १७ अवलोकनेन। १८ यथोक्तपरिज्ञान। १९ उपदेशकस्य।

स्वयमेव, विनीयन्ते[1] कुशलाशया स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निसर्गात् सजातमित्युच्यते। यदा [2]त्वव्युत्पत्तिसशीतिविपर्यस्त-समधिकबोधस्याधि[3]मुक्ति[4]युक्ति[5]सूक्तिसबन्धसविधस्य[6] प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु समस्तेष्वेतिह्येषु[7] [8]परीक्षोपक्षेपादतिक्लिश्य[9] नि शेषदुराशानिशाविनाशनाशुम[10]न्मरीचिश्चिरेण तत्त्वेषु रुचि सजायते, तदा [11]विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽय सूत्रानुसारो [12]हारो मयेद सपादित रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते। उक्त च—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवत । बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात् ॥२२८॥

द्विविध त्रिविध दशविधमाहु सम्यक्त्वमात्महितमतय । तत्त्वश्रद्धानविधि सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥२२९॥

[13]सरागवीत[14]रागात्मविषयत्वाद्द्विधा स्मृतम् । प्रशमादिगुण पूर्वं पर चात्मविशुद्धिभाक्[15] ॥२३०॥

भता पूर्वक काटी जा रही धान्यो के प्रति यह कहा जाता है, कि ये धान्य स्वय ही काटी जा रही हैं और जैसे कुशल बुद्धिशाली शिष्य स्वय शिक्षा प्राप्त करते है।

जब निकट भव्य को, जिसकी बुद्धि अनध्यवसाय, सशय व विपर्यय रूप मिथ्याज्ञान से आच्छादित है परन्तु जो श्रद्धा, नय, प्रमाण व सिद्धान्त शास्त्र के वेत्ता गुरु के निकटवर्ती है, जो ऐसे समस्त सिद्धान्त शास्त्रो की परीक्षा के आग्रह से, जो कि प्रमाण, नय, निक्षेप व चारो अनुयोगो के उपयोग द्वारा अवगाहन करने योग्य है, कष्ट उठाकर समझाया जाता है, उसे जो चिरकाल के पश्चात् समस्त दुराशारूपी रात्रि को नष्ट करने के लिए सूर्य की किरण-सरीखी तत्वरुचि उत्पन्न होती है, उसे 'अधिगमज' सम्यग्दर्शन कहते है, क्योकि उसमे तत्वोपदेशक का कष्ट कारण है। उसे वैसा अधिगमज कहते है, जैसे हार बनाने वाला कहता है, कि यह तन्तुओ मे गूँथा हुआ हार मैने बनाया है। अथवा मैने यह रत्न-खचित आभूषण बनाया है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने देवागम स्तोत्र मे कहा है कि जब मानव को बुद्धिपूर्वक प्रयत्न किये बिना ही (विना पुरुषार्थ किए) अतर्कितोपस्थित न्याय से (अचानक) सुख-दु ख प्राप्त होते हैं, उन्हे उसके भाग्याधीन समझने चाहिए। अर्थात्—उनमे उसका पूवजन्म मे किया हुआ पुण्य-पाप कर्म ही कारण है और जब उसे ऐसे सुख-दु ख प्राप्त होते है, जिनमे पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है उनमे उसका पुरुषार्थ कारण है। प्राकरणिक अभिप्राय यह है जब मुमुक्षु मानव मे, ऐसा सम्यक्त्व प्रकट होता है, जिसमे परोपदेश की अपेक्षा नही होती उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते है। और जिसमे परोपदेश (देशनालब्धि) की अपेक्षा होती है, उसे अधिगमज कहते है ॥ २२८ ॥

सम्यग्दर्शन के भेद और उसके कार्य—आत्म-कल्याण मे बुद्धि रखनेवाले आचार्यो ने सम्यक्त्व के दो, तीन और दश भेद कहे है। इन सभी भेदो मे तत्वो की श्रद्धा करना समान रूप से पाई जाती है ॥ २२९ ॥

सराग जीव मे (चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती जीवो मे) पाये जाने वाले तत्त्व-श्रद्धान को सराग सम्यक्त्व कहते है और वीतराग आत्मा मे (बारहवे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान वर्ती अयोगीजिन मे) पाये जाने वाले तत्त्वश्रद्धान को वीतराग सम्यक्त्व कहते है। इस प्रकार सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ये दो भेद समझने चाहिए। उनमे पहला सराग सम्यक्त्व प्रशम, सवेग व अनुकम्पा-आदि चार

---

१ शिक्ष्यन्ते। २ उपदेशकस्य। ३ श्रद्धा। ४ नयप्रमाण। ५ सिद्धान्त। ६ समीपस्य उपदेष्टु। ७ सिद्धान्तेषु। ८ 'आग्रहात्' टि० (ख०), 'प्रश्नस्यावलोकनात्' टि० (च०)। ९ क्लेश कृत्वा सबोध्यते। १० रवि। ११ उपदेशकस्य। १२ सूत्रमनुसरति यो हार, सूत्रमर्याद प्रलवणादिक्लेश-सहित। १३ एकादशगुणस्थानपर्यन्त सराग। १४ द्वादशादि वीतराग। १५ क्षपकश्रेणौ वीतराग।

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यङ्गनाजनाङ्गसभोगेनापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यावलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतु शक्यते, तथात्मस्वभावतयातिसूक्ष्ममयत्नमपि सम्यक्त्वरत्न प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्यैरेक-[1]वाक्यै राकलयितु[2] शक्यम्। तत्र—

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम्[3]। त प्राहु प्रशम प्राज्ञा समस्तव्रतभूषणम् ॥ २३१ ॥

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवा[4]द्भवात्[5]। स्वप्नेन्द्रजालसकल्पाद्भीति सवेगमुच्यते ॥ २३२ ॥

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्व[6] दयालव। धर्मस्य परम मूलमनुकम्पा प्रचक्षते ॥ २३३ ॥

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसयुतम्। आस्तिक्यमास्तिकैरुक्त [7]मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥ २३४ ॥

रागरोषधरे नित्य निर्व्रते निर्दयात्मनि। ससारो दीर्घसार[8] स्यान्नरे नास्तिकनीतिके[9] ॥ २३५ ॥

कर्मणा क्षयत शान्ते क्षयोपशमतस्तथा। श्रद्धान त्रिविध बोध्य [10]गतौ सर्वत्र[11] जन्तुषु ॥ २३६ ॥

गुणो से युक्त होता है और केवल आत्मविशुद्धि-युक्त क्षपकश्रेणी मे वर्तमान सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व कहते है [उक्त अभिप्राय टिप्पणीकार का है] ॥२३०॥

जैसे पुरुष की पुरुषत्त्व शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय (चक्षु-आदि इन्द्रियो द्वारा जानने के लिए अशक्य) है तथापि स्त्रीजनो के साथ रतिविलास करने से, सन्तान के उत्पादन से और विपत्ति मे धैर्य के धारण करने से अथवा प्रारम्भ किये हुए कार्य को समाप्त करना-आदि कार्यो से अनुमान प्रमाण द्वारा उसकी शक्ति का निश्चय किया जाता है वैसे ही सम्यक्त्वरूपी रत्न भी यद्यपि आत्म-स्वभाव होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि अव्यभिचारी (निर्दोष) प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यरूप चिन्हो से उसका निश्चय किया जाता है।

विद्वानो ने राग-आदि दोषो से मनोवृत्ति के निवारण (हटाने) को प्रशम गुण कहा है, जो कि समस्त व्रतो का आभूषण है। क्योकि इसके विना व्रत निरर्थक है ॥२३१॥ शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दु खो को उत्पन्न करने वाले और स्वप्न व इन्द्रजाल-सरीखे ससार से भयभीत होने को 'सवेग' गुण कहा है ॥२३२॥ समस्त प्राणियो मे मनोवृत्ति को दयालुता से सरस रखने को दयालु विद्वान् अनुकम्पा कहते है, जो कि धर्म-रूपी वृक्ष की उत्कृष्ट जड है ॥२३३॥ आस्तिक आचार्यो ने आप्त (वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्कर), द्वादशाङ्ग शास्त्र, व्रत (अहिंसा-आदि) और जीवादि तत्त्व इन पदार्थो के विषय मे 'ये मौजूद है' इस प्रकार की इनकी मौजूदगी स्वीकार करने वाली चित्तवृत्ति को 'आस्तिक्य' कहा है। यह प्रशस्त गुण मुक्ति श्री के साथ सयोग रखने वाले (मुक्तिगामी) मानव मे ही पाया जाता है ॥२३४॥ जो [मिथ्यादृष्टि] मानव सदा रागी व द्वेषी है, न कभी व्रत-धारण करता है और जिसकी आत्मा निर्दयी है एव जो नास्तिक मत को मानता है, उसका ससार दीर्घ भ्रमण वाला हो जाता है। ॥२३५॥ अभिप्राय यह है कि ऊपर कहे हुए प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये प्रशस्त गुण यथार्थरूप से सम्यग्दृष्टि मे ही पाये जाते है, मिथ्यादृष्टियो मे ये नकली होते है। राग, द्वेष, काम व क्रोधादि विकृत भावो का उदय न होने देना प्रशम गुण है। यह संसार बुखार व गलगण्डादि शारीरिक दु खो एव काम क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले मानसिक दु खो एव अति-वृष्टि, अनावृष्टि-आदि आगन्तुक कष्टो से व्याप्त है, इससे सदा डरते रहने को सवेग कहते है। इसी प्रकार दयालुता और आस्तिकता ये गुण अनन्तानुबधि कषाय चतुष्टय व मिथ्यात्त्व के अभाव हो जाने पर सम्यग्दृष्टि मे ही पाये जाते है। इन गुणो से सराग सम्यक्त्व का

---

१ अव्यभिचारै। २ परिज्ञातु। ३ 'निवारण' टि० (ख०)। 'निरसन' पञ्जिकाकार। ४ उत्पादकात्। ५ ससाराद्भीति। ६ सरसता। ७ मोक्षसयोगधरे, मुक्तिगामिनि। ८ भ्रमण। ९ शास्त्रे। १० ११ चतुर्सृषु गतिषु सर्वासु।

दशविधं तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसक्षेपात । विस्तारार्थाभ्या भवमवपरमावादिगाढ[1] च ॥ २३७ ॥

अस्यायमर्थ —भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञासज्ञा[2] आज्ञा, रत्नत्रयविचारसर्गो मार्ग, पुराणपुरुषचरितश्रवणाभिनिवेश[3] उपदेश, यतिजनाचरणनिरूपणपात्र[4] सूत्रम्, सकलसमयदल[5]सूचनाव्याज बीजम्, आप्तश्रुतव्रतपदार्थ[6]समासालापाक्षेप सक्षेप, द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तार, प्रवचनविषये [7]स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थ, त्रिविध*स्यागमस्य नि शेषतोऽन्यतमदेशाव[8]गाहालीढमवगाढम्, अवधिमन पर्ययकेवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढ[9] परमावगाढम् ।

निश्चय होता है। परन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धि रूप ही है, जो कि स्वसवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है।

[अब सम्यग्दर्शन के तीन भेदो का कथन करते है—]

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जो सम्यग्दर्शन, अनन्तानुवन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियो के उपशम होने से होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है और जो इन सात प्रकृतियो के क्षय से उत्पन्न होता है उसे क्षायिक कहते है और जो इनके क्षयोपशम से होता है उसे क्षायोपशमिक कहते है। ये तीनो सम्यग्दर्शन चारो नरकादि गतियो मे पाये जाते हैं॥ २३६ ॥

[अब सम्यग्दर्शन के दश भेदो का निरूपण करते है—]

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व ये सम्यग्दर्शन के दश भेद हैं॥ २३७ ॥

इसका स्वरूप यह है—जिस तत्वश्रद्धा मे भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा रचे हुए आगम की आज्ञा को स्वीकार करने से उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान पाया जाता है, उसे 'आज्ञासम्यक्त्व' कहते है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के विचार से प्रकट होने वाले तत्त्वश्रद्धान को 'मार्ग सम्यक्त्व' कहते है। तिरेसट शलाका मे विभक्त तीर्थङ्करादि पुराण पुरुषो के चरित को श्रवण करने से उत्पन्न होने वाले श्रद्धाविशेष को उपदेश सम्यक्त्व कहते है। साधुजनो के महाव्रत-आदि आचार को निरूपण करने के भाजनप्राय आचाराङ्ग सूत्र के श्रवण से उत्पन्न हुए तत्त्वश्रद्धान को सूत्रसम्यक्त्व कहा है। समस्त शास्त्रो के समूह की सूचना का लक्ष्य बीज पद है और उसके आधार से प्रकट होने वाली तत्त्वरुचि को 'बीज सम्यक्त्व' कहते है। आप्त, श्रुत, व्रत व पदार्थो के स्वल्प वर्णन से उत्पन्न होने वाली तत्त्वश्रद्धा को सक्षेप सम्यक्त्व कहते है। बारह अङ्ग, चौदह पूर्व और सामायिक-आदि प्रकीर्णक आगमो के अर्थ का समर्थन सुनकर प्रकट होने वाली विस्तृत तत्त्वरुचि को विस्तार सम्यक्त्व कहते है।

आगमके विषयो को श्रवण करके उत्पन्न हुए आत्मश्रद्धान मे समर्थ तत्त्वश्रद्धान को अर्थसम्यक्त्व कहते

---

१ अवगाढ परमावगाढ। २ आदेशास्तथेति। ३ अभिप्राय। ४ भाजनप्राय। ५ समूह। ६ स्वल्प। ७ आत्मनि आत्मनो वा विश्वास। * द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकभेदेन। ८ 'पूर्णं त्रिविधागममवगाह्योत्पद्यते यत् सम्यक्त्व तदवगाढ' इति टि० (ख०)। 'त्रिविधागममध्येऽन्यतमावगाहेनोत्पद्यते एव न, किन्तु परिपूर्णं त्रिविधागममवगाह्योत्पद्यते यत्सम्यक्त्व तदवगाढ इति टि० (घ०)। ९ विश्वासेनोत्पन्न।

गृहस्थो वा यति र्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रय । [1]एकादशविध पूर्वश्चरमश्च चतुर्विध [2] ॥२३८॥
मायानिदानमिथ्यात्वशल्यत्रितयमुद्धरेत् । [3]आर्जवाकाङ्क्षणाभावतत्त्वभावनकीलकै [4] ॥२३९॥
[5]दृष्टिहीन पुमानेति न यथा पदमीप्सितम् । दृष्टिहीन पुमानेति न तथा पदमीप्सितम् ॥२४०॥
सम्यक्त्व नाङ्गहीन स्याद्राज्यवत्प्राज्यभूतये । [6]ततस्तदङ्गसगत्यामङ्गी नि सङ्गमीहताम् ॥२४१॥

है। अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक इन तीनो आगमो के पूरी तरह से अवगाहन करने पर उत्पन्न होने वाली गाढ़-श्रद्धा को अवगाढ सम्यक्त्व कहते है। टिप्पणीकार ने भी यही लिखा है और अवधिज्ञानी, मन पर्यय ज्ञानी व केवलज्ञानी पूज्य महापुरुषो के विश्वास से उत्पन्न होने वाले प्रगाढ तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ सम्यक्त्व कहते है।

भावार्थ—इन सभी सम्यग्दर्शनो मे अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है, क्योकि इसके विना सम्यक्त्व होना अशक्य है। इनमे दर्शनमोह के उपशम से होनेवाले सम्यक्त्व को औपशमिक व क्षय से प्रकट होनेवाले सम्यग्दर्शन को क्षायिक और दर्शनमोह के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक कहते है। परन्तु उक्त भेद बाह्य निमित्तो को आधार बनाकर किये गए है।

गृहस्थ श्रावक हो अथवा मुनि, परन्तु उसका सम्यग्दृष्टि होना नितान्त आवश्यक है, क्योकि सम्यक्त्व के बिना न कोई श्रावक कहा जा सका है और न मुनि। गृहस्थ के ग्यारह भेद है, जिन्हे ग्यारह प्रतिमाएँ कहते है और मुनि के ऋषि, यति, मुनि व अनगार ये चार भेद है॥ २३८॥ व्रती को सरलता-रूपी कीले के द्वारा मायारूपी काँटा निकालना चाहिए। भोग-तृष्णा के त्यागरूपी कीले के द्वारा निदानरूपी काँटे का उन्मूलन करना चाहिए और तत्त्वो की भावना (सम्यक्त्व) रूपी कीले के द्वारा मिथ्यात्वरूपी काँटे को निकालना चाहिए।

भावार्थ—सूत्रकार उमास्वामी ने भी (नि शल्यो व्रती) इस सूत्र द्वारा बतलाया है, कि माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्ये (काँटे) है, इनका उन्मूलन करके अहिंसादि व्रतो का धारक व्रती कहा जा सकता है। इसमे यह बात जान लेनी चाहिए, कि 'केवल अहिंसादि व्रतो को धारण करनेवाला व्रती नही हो सकता। अन्यथा द्रव्यलिङ्गी मुनि को भी, जो कि मिथ्यात्व-आदि तीन शल्यो के होने से पहले गुणस्थान वाला मिथ्यादृष्टि है, व्रती कहा जायगा। इसलिए नि शल्य होकर व्रतो के पालन से व्रती कहा जायगा। इसी प्रकार केवल नि शल्य भी व्रत धारण न करने पर व्रती नही कहा जा सकता, अन्यथा चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि भी नि शल्य होने के कारण व्रती माना जायगा।' उक्त बात हमने श्रीमत्पूज्य विद्यानन्दि आचार्य के 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' के आधार से लिखी है॥ २३९॥*

जैसे दृष्टि—नेत्रो-से हीन (अन्धा पुरुष) अपने इच्छित स्थान पर प्राप्त नही हो सकता वैसे ही दृष्टि (सम्यक्त्व) से हीन (मिथ्यादृष्टि) मानव भी अपना अभिलषित स्थान (मुक्ति) का लाभ नही कर सकता॥ २४०॥ पहले कहे हुए नि शङ्कित-आदि आठ सम्यक्त्व के अङ्गो के विना सम्यग्दर्शन वैसा विशिष्ट विभूति (स्वर्ग व मुक्ति श्री) देने वाला नही होता जैसे मन्त्री व सेनापति आदि राज्य के अङ्गो के

---

१ मूलव्रत व्रतान्यर्चा—इत्यादिभेदेन। २ ऋषि-यति-मुन्यनगारभेदेन। ३ यथासख्येन। ४ शङ्कुभि कृत्वा। ५ नेत्र। ६. अष्टाङ्गपूर्णताया सत्या प्राणीनि.सङ्ग चारित्र वाञ्छतु।

* देखिए 'तत्वार्थश्लोकवार्तिक' अ० ७, सूत्र १८ की अन्तिम २ लकीरे।

विद्याविभूतिरूपाद्या सम्यक्त्वरहिते कुत । न हि बीजव्यपायेऽस्ति [1]सस्यसपत्तिरङ्गिनि ॥२४२॥
चक्रिश्री सश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीर्दर्शनोत्सुका । तस्य दूरे न मुक्तिश्रीनिर्दोष यस्य दर्शनम् ॥२४३॥
[2]मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि[3] षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषा पञ्चविंशति ॥२४४॥
निश्चयोचितचारित्र [4] सुदृष्टिस्तत्वकोविद । अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शन [5] ॥२४५॥
बहि क्रिया[6] बहिष्कर्म [7] कारण केवल भवेत । रत्नत्रयसमृद्धे स्यादात्मा रत्नत्रयात्मक ॥२४६॥
[8]विशुद्धवस्तुधीर्दृष्टिर्बोध [9]साकारगोचर । [10]अप्रसङ्गस्तयोर्वृत्त [11]भूतार्थनयवादिनाम् ॥२४७॥

विना राज्य विशेष समृद्धिशाली नही हो सकता। इसलिए जब सम्यक्त्व के आठो अङ्गो की परिपूर्णता हो जाय तब मुमुक्षु श्रावक नि सङ्ग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हो जाने का इच्छुक होवे ॥ २४१ ॥

जिस प्रकार किसान को धान्य के बीजो के बिना धान्य-सम्पत्ति नही हो सकती उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष को भी सम्यक्त्व के विना सम्यग्ज्ञान, राज्य-विभूति और लावण्य-सम्पत्ति कैसे हो सकती है? ॥२४२॥ जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्ती की विभूति उसका आलिङ्गन करने के लिए उत्कण्ठित रहती है और देवो की विभूति उसके दर्शन करने के लिए लालायित रहती है, अधिक क्या मुक्ति लक्ष्मी भी उससे दूर नही है ॥ २४३ ॥

[अब सम्यग्दर्शन के दोषो का निरूपण करते है—]

तीन मूँढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शङ्का-वगैरह, ये सम्यग्दशन के पच्चीस दोष है।

भावार्थ—देवमूढता, गुरुमूढता और लोकमूढता ये तीन मूढताएँ है। जाति, पूजा, कुल, ज्ञान, रूप, सम्पत्ति, तप व बल का मद करना ये आठ मद है। कुदेव और उसका मन्दिर, कुशास्त्र व कुशास्त्र के धारक, कुतप व कुतप के धारक ये छह अनायतन हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गो के उल्टे शङ्का, काक्षा, विचिकित्सा-आदि आठ दोष है। ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष है। जिसने इन दोषो का त्याग किया है, उसका सम्यग्दर्शन निर्दोष कहा जाता है ॥ २४४ ॥

मोक्षमार्गी कौन है?

तत्त्वो का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि मानव, जो कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए योग्य चारित्र का धारक है, अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र का धारक है, व्रत-धारण न करता हुआ भी मुक्ति के मार्ग मे स्थित है, किन्तु व्रतो का पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शन से रहित (मिथ्यादृष्टि) है, वह मुक्ति के मार्ग मे स्थित नही है ॥२४५॥ बाह्यक्रिया (बाह्य ज्ञान व चारित्रादि) और बाह्यकर्म (देवपूजा-आदि मे शारीरिक कष्ट-सहन-आदि) तो रत्नत्रय की उन्नति मे केवल निमित्त मात्र हैं, किन्तु रत्नत्रय की समृद्धि का प्रधान कारण (उपादान कारण) तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमय आत्मा ही है ॥ २४६ ॥

निश्चयनय के वेत्ता आचार्यो के मत मे, अर्थात्—निश्चय नय की दृष्टि से विशुद्ध आत्मस्वरूप मे रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है। एव विशुद्ध आत्मस्वरूप को विकल्प रूप से यथार्थ जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के विषय मे भेद बुद्धि न करके एक रूप होना, अर्थात्—आत्मस्वरूप मे लवलीन होना

१. धान्यसम्पत्ति। २ मूढत्रयस्य मदानाञ्च विकल्प कवि स्वयमेवोत्तरत्र वक्ष्यति। ३ अनायतनानि षट्, कुदेवतदालयतदागम—इत्यर्थ। ४ अव्रतोऽपि योग्यचारित्र। ५ मुक्तिस्थो न स्यात्। ६ बाह्यज्ञानचारित्रादि। ७ शरीरग्रहणलक्षण। ८ आत्मस्वरूपे रुचिर्निश्चयसम्यक्त्वं। ९ आत्मपरिज्ञान। १०. तयोर्दृग्बोधयोर्विषये अप्रसङ्ग अभेद एकलोलीभाव निश्चयचारित्र। ११ निश्चयनयज्ञानिनाम्।

[1]अक्षाज्ज्ञान [2]रुचिर्मोहाद्देहादवृत्त[3] च नास्ति यत् । आत्मन्यस्मिञ्छिवीभूते तस्मादात्मैव तत्त्रयम्[4]॥२४८॥
नात्मा कर्म न कर्मात्मा [5]तयोर्यन्महदन्तरम्[6] । तदात्मैव तदा [7]सत्ता* वात्मा व्योमेव केवलम् ॥२४९॥
क्लेशाय कारण कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि । नोष्णमम्बु स्वत. किन्तु तदौष्ण्य [8]वह्निसश्रयम् ॥२५०॥
आत्मा कर्ता स्वपर्याये[9] कर्म कर्तृ स्वपर्यये[10] । मिथो[11] न जातु कर्तृत्वमपरत्रोपचारत[12] ॥२५१॥
स्वत सर्व स्वभावेषु सक्रिय[13] सचराचरम[14] । निमित्तमात्रमन्यत्र वागतेरिव सारिणी[15] ॥२५२॥
जीवन्तु[16] वा म्रियन्ता वा प्राणिनोऽमी स्वकमत । स्व विशुद्ध [17]मनोऽहिंसन्हिंसक पापभाग् भवेत् ॥२५३॥

निश्चय चारित्र है ॥२४७॥ इस आत्मा के मुक्त हो जाने पर न तो उसे इन्द्रियो या मन से ज्ञान होता है, न मोह से जन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है, अत ज्ञान, दर्शन व चारित्र तीनो आत्मस्वरूप ही है।

भावार्थ—उक्त निरूपण निश्चय नय की दृष्टि से किया गया है, साथ मे अमृतचन्द्राचार्य ने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ मे कहा है कि व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता ही जगत मे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है। अत दोनो दृष्टि से वस्तु-विवेचन श्रेयस्कर है ॥ २४८ ॥

अब आत्मा और कर्म के सबध को स्पष्ट करते है—

आत्मा कर्म नही है, अर्थात्—ज्ञानावरणादि रूप नही है और कर्म आत्मा नही है, अर्थात्—शुद्ध चैतन्यरूप नही है, आत्मा ओर कर्म मे महान् भेद है, क्योकि उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। अत मुक्तावस्था मे कर्म-रहित होने से केवल आत्मा की ही सत्ता है और वहाँ वह केवल शुद्ध आकाश की तरह अमूर्तिकरूप से स्थित है ॥ २४९ ॥ आत्मा स्वय विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेश का कारण है। जैसे जल स्वय उष्ण नही है, अर्थात् शीतल है किन्तु अग्नि के आश्रय से उसमे उष्णता आ जाती है ॥ २५० ॥ आत्मा अपनी पर्याय (सिद्ध-पर्याय या ज्ञानादि गुणो की पर्याय) का कर्ता है और कर्म अपनी पर्याय (टि० नर-नरकादि पर्याय) का कर्ता है। उपचार (व्यवहार) के सिवाय दोनो परस्पर मे एक दूसरे के कर्ता नही है, अर्थात्—उपचार से आत्मा को कर्म का कर्ता, और कर्म को आत्मा का कर्ता कहा जाता है, परन्तु वास्तव मे दोनो अपनी-अपनी पर्यायो के ही कर्ता है ॥ २५१ ॥ छह द्रव्यो वाला समस्त चराचर लोक स्वय अपने-अपने स्वभावो मे क्रिया-सहित है, अर्थात्-अपने-अपने स्वभावो का कर्ता है, दूसरी वस्तु तो उसमे निमित्तमात्र है। उदाहरण मे—आत्मा अपनी सिद्धपर्याय का कर्ता है और कर्म अपनी कर्म पर्याय का कर्ता है, दूसरी वस्तु निमित्त मात्र है। जैसे जल मे स्वय प्रवाहित होने की शक्ति है परन्तु नदी उसके प्रवाहित होने मे निमित्तमात्र है ॥ २५२ ॥

यहाँ शङ्का यह है जब जीव अपने अपने कर्मो के उदय से जीते व मरते है तो मारने मे निमित्त हुए को हिंसा का पाप क्यो लगता है ? अत इसका समाधान करते है—

---

१ आत्मनि मोक्ष प्राप्ते सति अक्षात् षडिन्द्रियात् ज्ञान न भवति। २ मुक्तजीवे मोहनीयकर्मण रुचिर्न कि तु आत्मरुचिरेव। ३ शरीराच्चारित्र न कि तु आत्मन्येकलोलीभावश्चारित्र। ४ दर्शनज्ञानचारित्रत्रय। ५ आत्मकर्मणो। ६ भेद। ७ आत्मतत्त्वे। * 'वात्माऽव्योमेव केवल' (ख०)। अद्य इदानी केवलमात्मानमेव अङ्गीकृत ? एव निश्चयेन। ८ तस्य जलस्योष्णत्व अग्नेर्भवति। ९ सिद्धपर्यायलक्षणे। १० नरनरकादौ पर्याये कर्तृ। ११-१२ परस्परमात्मकर्मणो कर्तृत्व न, उपचाराद् व्यवहारादन्यत्र परस्पर कर्तृत्व भवति न तु निश्चयात्। १३ निजस्वभावेषु क्रियासहित, आत्मा आत्मान सिद्ध करोति, कर्म कर्म करोति। १४ जगत्। १५ नीकजलगमनस्य।

१६ 'मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥'

१७ अशुद्ध मन कुर्वन् पुमान् हिंसको भवति पापी च। 'स्वयमेवात्मना ऽऽत्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् पूर्व, प्राण्यन्त-राणान्तु पश्चात् स्याद्वा न वा वध'। सर्वार्थ सिद्धि अ० ७ सूत्र १३ से सकलित —

शुद्धमार्गमतोद्योग शुद्धचेतोवचोवपु । [1]शुद्धान्तरात्मसपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसक ॥ २५४ ॥
पुण्यायापि[2] भवेद्दु ख पापायापि भवेत्सुखम्[3] । स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचिन्त्य चित्तचेष्टितम् ॥ २५५ ॥
[4]सुखदु खाविधातापि भवेत्पापसमाश्रय । पटीमध्यविनिक्षिप्त वास स्यान्मलिन न किम् ॥ २५६ ॥

ये प्राणी अपने-अपने कर्म के उदय से जीवे या मरे, किन्तु जो मानव अपना मन विशुद्ध (कषाय-रहित) करता है वह अहिसक है और जो अपने मन को अशुद्ध (कषाय-युक्त) करता है, वह हिंसक और पापी है। जो शुद्ध मार्ग (सदाचार-मार्ग) मे प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन व काय शुद्ध है एव जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध (कषायभाव से कलुषित नही) है, वह हिसा करके भी हिसक नही है।

भावार्थ—अमृतचन्द्राचार्य अपने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रन्थ मे लिखते है कि 'राग, द्वेष व मोहादि, दुर्वासनाओ को त्याग कर अपने भावो को विशुद्ध रखते हुए दूसरे प्राणियो की रक्षा करना या यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना अहिसा है और इसके विपरीत आत्मिक सुख-शान्ति को भङ्ग करनेवाले रागादि दुर्भावो से अपने या दूसरो के प्राणो को घात करना या दिल दुखना हिंसा है। जो कषाय-वश यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नही करता, उसके द्वारा चाहे जीव मरे अथवा न भी मरे तो भी वह हिंसा के पाप से बच नही सकता। ॥ २५३-२५४ ॥

स्वय को या दूसरो को दु ख देने से पुण्य कर्म का भी बध होता है और सुख देने से पाप कर्म का भी बध होता है, क्योकि मन की चेष्टाएँ चिन्तवन के लिए अशक्य है। अभिप्राय यह है कि यदि तपश्चर्या व कष्ट-सहन शुभ परिणामो से यथाविधि किये जाते है तो उससे पुण्य कर्म का बन्ध होता है, परन्तु यदि अशुभ-परिणामो से किये जाते है तो उनसे पाप-बन्ध ही होगा। इसी तरह शुभ परिणाम से दूसरो को दु ख देने से पुण्य बन्ध होता है और अशुभ परिणामो से दु ख देने से पापबन्ध होता है, क्योकि मन की चेष्टाएँ अचिन्त्य होती है ॥ २५५ ॥

भावार्थ—जैनदशनकार समन्तभद्राचार्य[5] ने आप्तमीमासा मे इस विषय की विशद व्याख्या की है, उसे हम सकलित करते है—'कुछ लोगो की मान्यता है कि दूसरे प्राणी को दु ख देने से पाप-बन्ध ही होता है और सुख देने से पुण्य-बन्ध होता है।' परन्तु उक्त मान्यता सही नही है, क्योकि ऐसा मानने से तो विष व शस्त्रादि दूसरो को दु ख देने मे निमित्त है उन्हे पापबन्ध होना चाहिए एव कषाय-रहित वीतराग दूसरे को सुख देने मे निमित्त है उसे पुण्य बन्ध का प्रसङ्ग हो जायगा तो मुक्ति सघटित नही होगी। लोक मे आपरेशन करने वाला डाक्टर भी बीमार को कष्ट देने मे निमित है, तो उसे भी पापबन्ध का प्रसङ्ग हो जायगा ॥ १ ॥

कुछ लोगो की मान्यता है कि 'अपने को दु ख देने से पुण्यबन्ध होता है और सुख देने से पापबन्ध होता है।' ऐसा मानना भी ठीक नही क्योकि ऐसा मानने से तो वीतराग विद्वान् मुनि को भी पुण्य-पापकर्मों को

१ धर्मे परिणत सावद्यलेशो बहु अघ्नन्नपि वचनात्। २ तप कष्टादिक तदपि विरुद्धमाचरित कदाचित् पाषाय भवति तेन एकान्त नास्ति। ३ पापाय तदपि एकान्तं न। ४ परन्तु मन प्रसारसहित।

५ तथा च समन्तभद्राचार्य —
पाप ध्रुव परे दु खात् पुण्य च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च वध्येयाता निमित्तत ॥ १ ॥
पुण्य ध्रुव स्वतो दु खात् पाप च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वास्ताभ्या युञ्ज्यान्निमित्तत ॥ २ ॥
विशुद्धिसक्लेशाङ्ग चेत् स्वपरस्थ सुखासुख। पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेद्वचर्थस्तवार्हत ॥ ३ ॥
आप्तमीमासा से सकलित—सम्पादक

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि[1] हृद्येव संस्थिते । पर [2]पाप पर पुण्य[3] परम च पद[4] भवेत् ॥ २५७ ॥
प्रकुर्वाण क्रियास्तास्ता केवल क्लेशभाजन । यो न चित्तप्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपद कुत ॥ २५८ ॥
यज्जानाति यथावस्थ वस्तु[5]सर्वस्वमञ्जसा । तृतीय लोचन नृणा सम्यग्ज्ञान तदुच्यते ॥ २५९ ॥
यष्टिवज्जन्तुषान्धस्य तत्स्यात्सुकृतचेतस । प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्ग हिताहितविवेचनात् ॥ २६० ॥
मतिर्जागर्ति [6]दृष्टेऽथ दृष्टेऽदृष्टे तथागम । अतो न दुर्लभ तत्त्व यदि निर्मत्सर[7] मन ॥ २६१ ॥
यद्यर्थे दर्शितेऽपि स्याज्जन्तो [8] सतमसा मति । ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा[9] रविरिपोरिव ॥ २६२ ॥

बन्ध करने का प्रसङ्ग हो जायगा। क्योकि वह तपश्चर्या द्वारा अपने को दु खी व ज्ञानाभ्यास द्वारा अपने को सुखी बनाता है तब मुक्ति किसे होगी ? ॥२॥ इसलिए जैनदर्शन बताता है कि पुण्य-पापबन्ध की व्यवस्था हमारे विशुद्ध व संक्लिष्ट परिणामो पर अवलम्बित है, इससे अपने लिए या दूसरो के लिए दिये हुए सुख व दु ख यदि क्रमश शुभपरिणाम व अशुभ परिणाम पूर्वक है तब पुण्यबन्ध और पापबन्ध होता है, अर्थात्—यदि हम दूसरे प्राणी को कषाय-वश दु ख देते है तो हमे पापबन्ध ही होगा और यदि हम शुभ परिणामो से दूसरो को सुख देते है तो हमे पुण्यबन्ध ही होगा, यदि ऐसा नही है तो आपके मत मे पुण्यास्रव या पापास्रव निष्फल है ॥ ३ ॥

चचल मन वाला प्राणी दूसरो को सुख-दु ख न देता हुआ भी पापबध करने वाला हो जाता है। क्या कपडे की मञ्जूषा मे रक्खा हुआ वस्त्र मलिन नही होता ? अर्थात्—वैसे ही भोगो की ओर दौडता हुआ मन भी क्या अशुभ ध्यान के कारण मलिन होकर पापबध करने वाला नही होता ? ॥ २५६ ॥ शरीरादि से हिंसा व परोपकार-आदि अशुद्ध व शुद्ध कार्य करने मे असमर्थ होने पर भी, यदि चित्त चित्त मे लीन रहता है तो वह (चित्त) अशुभ ध्यान द्वारा तीव्रतम पापबध करता है और शुभ ध्यान द्वारा उत्कृष्ट पुण्य बध करता है तथा शुक्लध्यान द्वारा उत्कृष्ट मोक्ष पद प्राप्त करता है ॥ २५७ ॥ जो मानव चित्त की चचलता को नही जानता, अर्थात्—जो भोगो की ओर दौडते हुए मन को नियन्त्रित करके धर्मध्यान मे और जीवादि तत्त्वो के स्वरूप के चिन्तवन मे प्रेरित नही करता, वह मानव वाह्य क्रिया काण्ड (अनशन-आदि तप) को करता हुआ भी केवल कष्ट का पात्र होता है, उसे मोक्षपद कैसे प्राप्त हो सकता है ? अत चित्त को नियन्त्रित करने मे प्रयत्नशील होना चाहिए, तभी वाह्य क्रियाएँ फलप्रद हो सकती है, अन्यथा निरर्थक है ॥ २५८ ॥

[अब सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते है—]

जो वस्तु का समस्त स्वरूप (गुण व पर्याय) जैसे का तैसा (हीनाधिकता से रहित तथा सशय-आदि मिथ्याज्ञान से रहित) निश्चय करता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते है। यह मनुष्यो का तीसरा नेत्र है ॥२५९॥ वह सम्यग्ज्ञान पुण्य करने मे मनोवृत्ति रखने वाले धार्मिक मानव को हित (सुख व सुख के कारण) व अहित (दु ख व दु ख के कारण) का विवेचन करके वैसा उसकी हित-प्राप्ति व अहित-परिहार मे कारण होता है, जैसे जन्मान्ध पुरुष को लाठी ऊँची-नीची जगह बतलाकर उसकी हित-प्राप्ति और अहित-परिहार (ऊबड-खाबड जगह से बचाने) मे कारण होती है ॥२६०॥ मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियो के विषयीभूत पदार्थों को ही जानता है, किन्तु श्रुतज्ञान (आगम) इन्द्रियो के विषयभूत और अतीन्द्रिय (सूक्ष्म, अन्तरित व दूरवर्ती) दोनो प्रकार के पदार्थो का ज्ञान कराता है, इसलिए यदि ज्ञाता का मन ईर्षालु नही है तो उसे तत्वज्ञान होना दुर्लभ नही है ॥२६१॥ यदि तत्वोपदेशक द्वारा जीवादि पदार्थों का स्वरूप प्रतिपादन कर देने पर भी शिष्य

---

१ चित्ते। २ से ४ अशुभध्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्य, परमशुक्लेन पर पद। ५ सर्वार्थं—सर्ववस्तुस्वरूपमित्यर्थ। ६ गुरूपदिष्टे पदार्थे। ७ मात्सर्य-रहित। ८ मलिना। ९ उलूकस्येव।

ज्ञातुरेव स दोषोऽय यदबाधेऽपि वस्तुनि । मतिविपर्यय धत्ते[1] यथेन्दौ[2] मन्दचक्षुष ॥ २६३ ॥
[3]ज्ञानमेक पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत् । अन्यत्र केवलज्ञानात्तत्प्रत्येकमनेकधा ॥ २६४ ॥
[4]अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मिति[5] । चारित्र तच्च सागारानगारयतिसश्रयम् ॥ २६५ ॥

की बुद्धि मलिन या अज्ञान-बहुल रहती है, तो उसका ज्ञान वैसा व्यर्थ है जैसे उल्लू के लिए सूर्य का प्रकाश व्यर्थ होता है ।।२६२।। जैसे हीन दृष्टि (काच-कामलादि रोग से ग्रस्त नेत्रवाले) मनुष्य की बुद्धि चन्द्र के विषय मे विपरीत होती है, अर्थात्—उसे एक के दो चन्द्र दिखाई देते है या शुभ्र चन्द्र नीला दिखाई देता है, उसमे उसकी चक्षु का दोष समझा जाता है, न कि चन्द्र का, वैसे ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से वाधा-रहित वस्तु (कथचिन्नित्यानित्यात्मक जीवादि वस्तु) मे भी बुद्धि के विपरीत हो जाने मे (वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य समझने मे) ज्ञाता का ही दोष (मिथ्यात्व कर्म का उदय) है, न कि वस्तु का ।।२६३।।

[अब सम्यग्ज्ञान के भेदो का निरूपण करते है—]

जिसके द्वारा वाह्य व आध्यात्मिक पदार्थो मे सशय, विपर्यय व अनध्यवसाय-रहित यथार्थता का निश्चय किया जाय उसे सम्यग्ज्ञान कहते है, वह सामान्य से एक भेद वाला है । प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय और केवलज्ञान के भेद से वह पाँच प्रकार का है । केवल ज्ञान के सिवाय अन्य चार ज्ञानो मे से प्रत्येक के अनेक भेद है । जैसे—मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद है । श्रुतज्ञान अङ्ग व अङ्ग वाह्य के भेद से दो प्रकार का है । अवधिज्ञान-देशावधि, परमावधि व सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का है और देशावधि व परमावधि भी प्रत्येक जघन्य, मध्यम व उत्तम के भेद से तीन प्रकार का है । और देशावधि, परमावधि व सर्वावधि इन तीनो मे से प्रत्येक के अनुगामी, अननुगामो, वधमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, प्रतिपाति एव अप्रतिपाति के भेद से आठ प्रकार का है । मन-पर्यय ज्ञान भी ऋजु व विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है और ये दोनो जघन्य, मध्यम व उत्तम के भेद से तीन प्रकार के है ।।२६४।।

[अब सम्यग्चारित्र का स्वरूप व भेद कहते है—]

सम्यग्ज्ञानी के हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह रूप पापक्रियाओ के त्याग को और धार्मिक क्रियाओ (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग) के करने को सम्यग्चारित्र कहते है, वह चारित्र गृहस्थो से धारण करने योग्य अणुव्रत और मुनियो से धारण करने योग्य महाव्रत

---

१ चन्द्रे । २ हीनचक्षु चन्द्र नील कृष्णादिक पश्यति, द्वौ त्रीन्वा चन्द्रान् पश्यति ।

३ ज्ञानमेकमित्यादि—ज्ञायते निश्चीयते अव्युत्पत्तिसशयविपर्यासव्युदासेन वाह्याध्यात्मिकपदार्थेषु याथात्म्य येन तज्ज्ञान, एकज्ञानार्थस्य सर्वत्रानुगमात् । द्वेधा-प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन । पचधा-मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलभेदेन । प्रत्येक मतिस्तावदनेकधा—षट्त्रिशत्त्रिशतीभेदेन । तथाहि—षडिन्द्रियाणि अर्थव्यञ्जनपर्यायलक्षणपर्यायविषयैरवग्रहेहावायधारणाभिर्गुणितानि चतुर्विंशति भवन्ति । चक्षुरनिन्द्रियवर्जितानामपरेषा चतुर्णामिन्द्रियाणा व्यञ्जनलक्षणपर्यायविषयाश्चत्वारोऽवग्रह एवमेतेषामष्टाविंशति बह्वादिभिर्द्वादशभिर्गुणिता षट्त्रिशत्त्रिशती च भवति । श्रुतमनेकधा—अङ्गाङ्गवाह्यभेदेन । तत्राङ्गानि आचारादीनि अङ्गवाह्यानि सामायिकादीनि पुनरपि पर्यय-पर्ययसमासाक्षराक्षरसमासभेदेन विंशतिभेद । अवधिरनेकधा—देशावधि - परमावधि—सर्वावधिभेदेन । देशावधिपरमावधी अपि प्रत्येक जघन्यमध्यमोत्तमभेदेन-त्रिविधौ । देशावधित्रय प्रत्येक यथासभवमनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितप्रतिपाति—अप्रतिपातिभेदेनाष्टविध । मन पर्ययोऽनेकधा ऋजुविपुलमतिभेदेन पुन प्रत्येकमेतौ जघन्यादिभेदेन त्रिविधौ ।

४, त्याग । ५ करण ।

[1]देशत प्रथम तत्स्यात्सर्वतस्तु[2] द्वितीयकम् । चारित्र चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥ २६६ ॥
देशत सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् । [3]स्वर्गापवर्गयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥ २६७ ॥
[4]तुण्डकण्डूहर शास्त्र सम्यक्त्वविधुरे[5] नरे । ज्ञानहीने तु चारित्र दुर्भगाभरणोपमम् ॥ २६८ ॥
सम्यक्त्वात्सुगति प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता । वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ॥ २६९ ॥
रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्व ज्ञान तत्त्वनिरूपणम् । औदासीन्य पर प्राहुर्वृत्त सवक्रियोज्झितम् ॥ २७० ॥
वृत्तमग्निरुपायो[6] धी सम्यक्त्व च रसौषधि[7] । साधुसिद्धो भवेदेष [8]तल्लाभादात्मपारद[9] ॥ २७१ ॥
सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्तमभ्यासो मतिसपद[10] । चारित्रस्य शरीर[11] स्याद्वित्त[12] दानादिकर्मण ॥ २७२ ॥

के भेद से दो प्रकार का है ॥ २६५ ॥ विशुद्ध चारित्र के विचार से योग्य चित्त-वृत्ति वाले आचार्यो ने गृहस्थो का देशचारित्र कहा है, क्योकि उसमे हिसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाँच पापो का एक देश त्याग किया जाता है और मुनियो का सकलचारित्र कहा है, क्योकि उसमे हिसा-आदि पाँच पापो का सर्वदेश त्याग किया जाता है ॥ २६६ ॥ जिस मनुष्य मे स्वर्ग व मोक्ष मे से किसी को भी प्राप्त करने की योग्यता (शक्ति) नही है, वह न तो देश चारित्र ही पाल सकता है और न सकल चारित्र ही पाल सकता है ॥ २६७ ॥ सम्यक्त्व-हीन मानव का शास्त्रज्ञान केवल उसके मुख की खुजली दूर करता है—अर्थात्-वाद-विवाद करने मे ही समर्थ होता है, क्योकि उसमे आत्मदृष्टि नही होती । एव ज्ञान-शून्य का चारित्र-धारण विधवा स्त्री के आभूषण-धारण करने के समान निरर्थक है ।

भावार्थ—विना सम्यक्त्व के शास्त्राभ्यास–ज्ञानार्जन–निरर्थक है और विना ज्ञान के चारित्र का पालन करना व्यर्थ है ॥ २६८ ॥ सम्यग्दर्शन से मनुष्य को प्रशस्त गति–स्वर्ग-श्री प्राप्त होती है और सम्यग्ज्ञान से उसकी कीर्ति कौमुदी का प्रसार होता है और सम्यक्चारित्र से सन्मान प्राप्त होता है और तीनो से मुक्ति श्री प्राप्त होती है ॥ २६९ ॥ आचार्यो ने कहा है तत्त्वो मे रुचि का होना सम्यग्दर्शन है । तत्त्वो का कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है एव समस्त पाप क्रियाओ की त्यागवाली उदासीनता होना सम्यक् चारित्र है ॥२७०॥ जो आत्मा-रूपी पारद (पारा) अनादिकाल से मिथ्यात्व, अज्ञान व असयमरूपी कुधातुओ के ससर्ग से अशुद्ध हो रहा है, उसे विशुद्ध करने के लिए, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र अनूठा साधन है । अर्थात्–उसे विशुद्ध करने के लिए सम्यक् चारित्र अग्नि है और सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यग्दर्शन (चित्त की विशुद्धि) रसौषधि (नीबू के रस मे घुटा हुआ सिंग्रप) है । अर्थात्–उक्त रत्नत्रय की प्राप्ति से यह आत्मारूपी पारा विशुद्ध होकर सासारिक समस्त व्याधियो को ध्वस करके व मुक्ति श्री प्राप्त करता है ।

भावार्थ—अत मुमुक्षु विवेकी मानव को रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ २७१ ॥ सम्यग्दर्शन का आश्रय चित्त है । अर्थात्—इसकी प्राप्ति के लिए मानव को अपने चित्त की विशुद्धि करनी चाहिए । और ज्ञानलक्ष्मी का आश्रय शास्त्राभ्यास है । अर्थात्—ज्ञानलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए मनुष्य को शास्त्रो का अभ्यास करना चाहिए । चारित्र का आश्रय शरीर है, अर्थात्—इसकी प्राप्ति के लिए शारीरिक कष्ट

१ विरति । २ विरति । ३ स्वर्गमोक्षयोर्मध्ये यस्य जीवस्य एकस्यापि योग्यता न भवति तस्याणुव्रत महाव्रत च न भवति । ४ मुखखर्जन । ५ रहिते । ६ धमण-फूकण । ७ वीर्यसहितमौषधम् । ८ दर्शनज्ञान चारित्रप्राप्ते । ९ आत्मा एव पारद । १० ज्ञानलक्ष्म्या अभ्यास एव आश्रय स्थान । ११ आश्रय । १२ आश्रय ।

इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितम कल्प ।

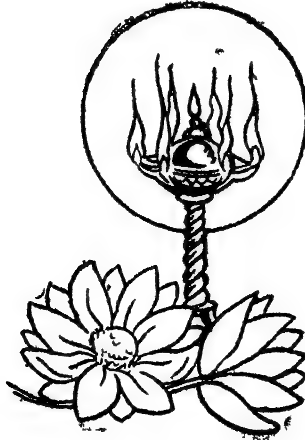
इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवत शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्न्यपवर्गमार्गमहोदयो नाम षष्ठ आश्वास —

सहन करते हुए पाप क्रियाओ का त्याग करना चाहिए और दान-पूजा-आदि धार्मिक कर्तव्यो का आश्रय धन है। अर्थात्—न्याय से सचित किये हुए धन को पात्रदान-आदि धार्मिक कार्यो मे लगाना चाहिए ॥ २७२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे रत्नत्रय का स्वरूप बतलानेवाला इक्कीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस प्रकार समस्त तार्किक-समूह मे चूडामणि (सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य श्रीमत्सोमदेव सूरि द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्य विद्याधरो के चक्रवर्तियो के मस्तको के आभूषण हुए है, रचे हुए 'यशोधरमहाराजचरित' मे, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य है, मोक्षमार्ग का उदयशाली यह षष्ठ आश्वास समाप्त हुआ।

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री व श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त
श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जो वर्णी न्यायाचार्य के प्रधान शिष्य, नीति-
वाक्यामृत के अनुसन्धान-पूर्वक भाषा-टीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक,
जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद-विशारद,
एव महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित, सागर
निवासी परवार जैन जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री
द्वारा रची हुई 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य'
की 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की
भाषाटीका मे मोक्षमार्ग का
उदयशाली यह षष्ठ
आश्वास पूर्ण हुआ।



सप्तम आश्वासः

पुन[1]र्गुणमणिकटक[2], [3]वेकटकर्मेव माणिक्यस्य, सुधाविधानमिव प्रासादस्य, [4]पुरुषकारानुष्ठानमिव दैव-सपद[5], पराक्रमावलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवेदित्वमिव[6] सेव्यत्वस्य[7], व्रत हि खलु सम्यक्त्वरत्नस्योपबृहकमाहु । तच्च[8] देशयतीना द्विविध मूलोत्तरगुणाश्रयणात् ।

तत्र—

मद्यमासमधुत्याग *सहोदुम्बरपञ्चकै । अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥ १ ॥
सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मते । सर्वेषा पातकाना च पुर सरतया स्थितम् ॥ २ ॥
हिताहितविमोहेन देहिन[9] किं न पातकम् । कुर्यु ससारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥ ३ ॥
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवा । इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन् सुप्रसिद्ध कथानकम् ॥ ४ ॥
समुत्पद्य[10] विपद्येह देहिनोऽनेकश[11] किल । मद्यीभवन्ति कालेन[12] मनोमोहाय देहिनाम् ॥ ५ ॥
मद्यैकबिन्दुसपन्ना प्राणिन प्रचरन्ति चेत् । पूरयेयु र्न सदेह समस्तमपि विष्टपम् ॥ ६ ॥
मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च[13] दुर्गते । मद्य सद्भि सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत ॥ ७ ॥

ज्ञानादि गुणरूपी मणियो के कङ्कणीभूत हे मारिदत्त महाराज ! आचार्यो ने कहा है कि निश्चय से व्रत (अहिंसा-आदि) सम्यक्त्वरूपी रत्न के वैसे गुणवर्धक है जैसे शोधनादि क्रिया (शाणोल्लेखन-आदि) माणिक्य की गुणवर्धक होती है। जैसे चूने का लेप महल की शोभावर्धक होता है। जैसे पुरुषार्थ का अनुष्ठान भाग्य सम्पत्ति (पूर्वोपार्जित पुण्य लक्ष्मी) का गुणवर्धक होता है। जैसे पराक्रम का आश्रय नीतिमार्ग—सदाचार की समृद्धि करने वाला होता है और जैसे विद्वत्ता सेवनीय (गुरु व राजा-आदि) की उन्नति करने वाली होती है।

श्रावको के व्रत मूलगुण व उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार के होते है।

आठ मूलगुण

मद्य, मास और मधु का त्याग और पाँच उदुम्बर फलो का त्याग ये गृहस्थो के आठ मूलगुण आगम मे कहे गये हैं ॥ १ ॥

मद्य--शराब-के दोष—बुद्धि को अज्ञान से आच्छादित करने वाले मद्यपान से समस्त दोष (काम व क्रोधादि) उत्पन्न होते है और यह समस्त पापो मे अग्रेसर है ॥ २ ॥ मद्य पीने से हित और अहित का विवेक नष्ट हो जाता है, जिससे शराबी लोग ससाररूपी वन मे घुमाने वाले कौन-कौन से पाप नही करते ? अर्थात्—मद्य पीने से समस्त पाप उत्पन्न होते है ॥ ३ ॥ सर्वत्र लोक मे यह कथा प्रसिद्ध है, कि शराब पीने से यदुवशी राजा लोग नष्ट हो गए और जुआ खेलने के कारण पाण्डव नष्ट हो गए ॥ ४ ॥ निश्चय से शराब मे असख्यात जीव अनेक बार जन्म-मरण करके स्वल्प समय मे शराबियो का मन मूर्च्छित करने के लिए शराब रूप हो जाते हैं ॥ ५ ॥ मद्य की एक बिन्दु मे उत्पन्न हुए बहुत से जोव यदि वहाँ से निकलकर भ्रमण करे तो निस्सन्देह समस्त लोक को व्याप्त कर सकते है ॥ ६ ॥ मद्यपान शराबी का मन मूर्च्छित करने

---

१ यथा । २ कङ्कण हे मारिदत्त ! । ३ 'शोधनरचनाक्रिया' टि० (ख०) । 'शोधनादिक्रिया' टि० (घ०) (च०) पञ्जिकाया च । ४ पौरुषशक्ति , कर्तव्य । ५ पूर्वोपार्जितपुण्यस्य । ६ विद्वत्त्व । ७ गुरो नृपादिकस्य । ८ व्रत । * 'सहोदुम्बरपञ्चक ' इति क०, ख०, घ०, च० । ९. जीवा । १०. मृत्वा । ११ बहुवारान् । १२ स्वल्पेन । १३ कारणत्वात् ।

श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्योपाख्यानम्[1]—[2]तदुर्वीश्वराखर्व[3]गर्वौर्वानला[4]हुतीभूताहितान्वयनक्रादेक[5]चक्रात्पुरादेकपान्नाम परिव्राजको जाह्नवीजलेषु मज्जनाय व्रजन्निजच्छायापरद्विपाशङ्कातिक्रुद्धमदान्धगन्धसिन्धु[6]रोद्धुरविषाण[7]-विदीर्यमाणमेदिनीहृदये विन्ध्याटवीविषये प्ररूढप्रौढयौवनासवास्वादपुनरुक्तकादम्ब[8]रीपानप्रसूतासरालविलासप्र[9]हिलाभिर्महिलाभि सह पलोप[10]दशवश्य [11]कश्यमासेवमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितः सन् सीधुसबन्ध-[12]विधुरधीसङ्गैर्मातङ्गैरुपरुध्य असौ किलैवमुक्त—'त्वया मद्यमासमहिलासु मध्येऽन्यतमसमागम कर्तव्य, अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्' इति । सोऽप्येवमुक्त[13]स्तिलसर्षपप्रमितस्यापि हि पिशितस्य प्राशने स्मृतिषु महावृत्तयो विपत्तय श्रूयन्ते । मातङ्गीसङ्गे च मृतिनिकेतन[14] प्रायश्चेतनम्[15] । य एवविधा सुरा पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखशिखामणौ सौत्रामणौ मदिरास्वादाभिसधि[16]रनुमतविधिरस्ति । यैश्च पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैर्वस्तुकायै सुरा सधीयते[17] तान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येवेति चिर चेतसि विचार्यानार्यविद्यानिधान * कृतमद्यपानस्तन्माहात्म्यात्समाविर्भूत-

---

मे कारण है और दुर्गति का कारण है, इसलिए इस लोक व परलोक मे दु ख देनेवाले मद्यपान का सज्जन पुरुषो को सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए ॥ ७ ॥

९ अब मद्य पीनेवाले एक सन्यासी की कथा कहते है—

मद्यपान के दोषो के विषय मे एक कथा है, उसे श्रवण कीजिए—

'एकपाद' नाम का सन्यासी, जहाँ के राजा की महान् गर्वरूपी बडवानल अग्नि मे शत्रुओ के वशरूप मकर होमे गए थे, ऐसे पोदनपुर नाम के नगर से गङ्गानदी मे स्नान करने के लिए जा रहा था । मार्ग मे वह विन्ध्याटवी-देश से गुजरा, जहाँपर अपनी छाया मे दूसरे हाथी की शङ्का होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुऐ मदोन्मत्त मतवाले हाथी के मजबूत दाँतो से पृथिवी का मध्यभाग विदीर्ण किया जा रहा था, वहाँ वह शराब पीने वाले और ऐसे चाण्डालो के समूह के मध्य मे जा पहुँचा, जो कि उत्पन्न हुए प्रौढ यौवन (जवानी) रूपी मद्य के आस्वादन से दुगुने हुए मद्यपान से पैदा होनेवाले उत्कट विलास को करनेवाली उन्मत्त विलासिनी तरुणियो के साथ मास शाक सहित शराब पी रहा था, सुरा पीने से विकृत बुद्धि वाले चाण्डालो ने उसे पकड कर कहा—

'तुझे मद्य, मास और स्त्री मे से किसी एक का सेवन करना होगा, नही तो तू जीते जी गङ्गा का दर्शन नही कर सकता ।'

चाण्डालो से उक्त प्रकार कहा हुआ तापसी मन मे सोचने लगा—'स्मृतियो मे एक तिल या सरसो बराबर भी मास खाने पर भयानक विपत्तियो का आना सुना जाता है और चाण्डालिनी के साथ रतिविलास करने से मरण लक्षण वाला प्रायश्चित लेना पडता है । किन्तु समस्त यज्ञो मे चूडामणि-सरीखा श्रेष्ठ सौत्रामणि नाम के यज्ञ मे मदिरा स्वाद के अभिप्राय वाला वैदिक अनुमति विधान है, और लिखा है, कि जो इस विधि से, अर्थात्—यज्ञ के मन्त्रो द्वारा पवित्र की हुई सुरा पान करता है, उसका मदिरापान मदिरापान नही है, क्योकि जिन पीठी, जल, गुड व महुआ-आदि वस्तुओ से सुरा बनाई जाती है, वे सब वस्तुएँ विशुद्ध ही होती है ।'

---

१ कथानक आख्यानक तस्य चेद लक्षणम्—

इतिहासपुरावृत्त प्रबन्धरचना कथा । दृष्टोपलब्धकथन वदन्त्याख्यानक बुधा ॥ १ ॥

२ एकचक्रनगरनृप । ३ महत् । ४ बडवानल । ५ पोदनपुरात् । ६ गज । ७ दन्त । ८ मद्य । ९ प्रचुर । १० मासशाकसहित । ११ मद्य । १२ हीन, विकलमतियुक्तै । १३ मातङ्गैरुक्त सन् चिन्तयति । १४ मरणलक्षण । १५ प्रायश्चित्त । १६ मन पूर्वको व्यापार । १७ निष्पाद्यते । * विधान क०, ख० ।

मनोमहामोह कौपीनमपहाय [1]हारहूरव्यवहारातिलङ्घितमातङ्गिकागीतानुगतकरतालिकाविडम्बनावसरो ग्रहगृहीत-शरीर इवानीतानेकविकार पुनर्बुभुक्षाशुशुक्षणि [2]क्षीणकुक्षिकुहरस्तरसमपि [3] भक्षितवान् । प्रादुर्भवद्दुसहोद्रेकमदनो मातङ्गी कामितवान् [4] । भवति चात्र श्लोक —

हेतुशुद्धे [5] श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्य किलैकपात् । मासमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानस ॥ ८ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषदशनो नाम द्वाविश कल्प ।

श्रूयता मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्—अशेषविद्यावैशारद्य[6] मदमत्तमनीषि [7]मत्तालिकुलकेलि[8] कमलनाभ्या[9] वलभ्या पुरि★ खात्रचरित्रशील [10] करवाल, कपाटोद्घाटनपटुर्बटु, महा निद्रासपादनकुशलो धूर्तिल, परगोपा[11]यितद्रविणदेशविशारद शारद, [12]खरपटागमविलास कृकिलासश्चेति पञ्च मलिम्लुचा [13] प्रतिपन्नपर-स्परप्रीतिप्रपञ्चा स्वव्य[14]वसायसाहसाभ्यामीश्वरशरीरार्धवासिनीं भवानीमपि मुकुन्दहृदयाश्रयधिय श्रियमपि कात्यायनीलोचना[15]सजनमञ्जनमपि हर्तुं समर्था, पश्यतोहराणामपि पश्यतोहरा, कृतान्तदूतानामपि कृतान्तदूता ।

ऐसा चिर काल तक मन मे विचारकर म्लेच्छविद्या के निधि वाले उसने शराब पी ली । उसस प्रभाव से उसे तीव्र नशा चढा । उसने अपनी लगोटी खोल डाली और मद्यपान से विह्वल हुई चाण्डालनियो के गीत को अनुकरण करती हुई तालियाँ पीटने लगा । उस ममय उसकी दशा ऐसी हो गई थी—मानो उसके शरीर मे कोई भूत घुस गया है, इसलिए उसने अनेक विकृत चेष्टाएँ की और जब उसके उदर का मध्यभाग भूखरूपी अग्नि से क्षीण होने लगा तब उसने मास भी खा लिया । उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने चाण्डालिनी के साथ रतिविलास भी कर लिया ।

इस विषय मे एक श्लोक है, जिसका अभिप्राय यह है—

मद्य को उत्पन्न करने वाली वस्तुओ के शुद्ध होने से तथा वेद मे लिखा होने से मूढ मनोवृत्ति वाले एकपाद सन्यासी ने मद्य पी लिया और फिर उसने मास भी खाया और चाण्डालिनी के साथ रति विलास भी किया ॥ ८ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे मद्यपान के दोष बतलाने वाला बाईसवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

१० मद्यव्रती धूर्तिल नाम के चोर की कथा—

[अब मद्यत्याग से उत्पन्न हुए गुण वाले की कथा सुनिए ।]

सभी विद्याओ की चतुराई के मद से मत्त हुए विद्वान् रूपी भँवरो के समूह की क्रीडा के लिये कमल के कोश-सरीखी 'वलभी' नाम की नगरी मे पाँच चोर रहते थे । उनमे से 'करवाल' नाम का चोर मकानो मे छिद्र (सेध) लगाने के स्वभाव वाला था । 'बटु' किवाड खोलने मे चतुर था । 'धूर्तिल' महानिद्रा उत्पन्न करा कर चोरी करने मे कुशल था । 'शारद' दूसरो के द्वारा छिपाये हुये धन का स्थान देखने मे प्रवीण था और पाँचवाँ कृकिलास ठग विद्या का विलासी था । वे पाँचो पारस्परिक प्रीति विस्तार को स्वीकार करने वाले थे और अपने उद्योग व साहस द्वारा वे शिव के अर्धाङ्ग मे निवास करने वाली पार्वती को भी, विष्णु के हृदय मे निवास करने की बुद्धि रखने वाली लक्ष्मी को भी और दुर्गा के नेत्रो मे लगे हुए अञ्जन को भी चुराने मे समर्थ थे । वे चोरो के भी चोर थे और यम-दूतो के भी यम-दूत थे ।

---

१ मद्यपानविह्वलीभूतमातङ्गी । २ अग्नि । ३ मास । ४ सेवितवान् । ५ मद्यस्य कारण गुड, धातकीप्रमुखशुद्धत्वात् । ६ चातुर्य । ७ मनीषिण एव मत्तभ्रमरा । ८ क्रीडा । ९ मध्ये कोशसदृशायाम् । ★ खात्र छिद्र । १० चौरकर्म । ११ गोपित । १२ ठकशास्त्र । १३ चौरा । । १४ उद्यम । १५ आसक्त ।

कदाचिदेकस्यां निशि चेलक्नोपं वर्षति देवे कज्जलपटलकायेषु[1] ककुभामुदरेषु[2] नगरे [illegible] चिन्तित पुरसारं[3] [illegible] पुरः [illegible] रेकोपवने च विभजन्तस्तेषु इदं मम इदं तवेति [illegible] कलहायमाना [illegible] करैया [illegible] [7]पूर्वं [illegible] कलहकोपे मद्यपानेन [illegible] युद्धं विधाय सर्वेऽपि समरम्पत्र धूर्तिल [illegible] किल [8]यस्मिन्नहनि [illegible] मुनि [illegible] तत्र [illegible] व्रतं गृह्णाति [illegible] सर्वदा तत्तद्गृहीत ।

तदनु धूर्तिल समानशीलेषु [illegible] [illegible] शलेश्यामावस्थां [illegible] [illegible] उत्पाट्य[13] च [illegible] मनोजकुज[14]जटाजाल [illegible] चिरकाल[16] [illegible] परलोक [illegible] चरित्र [illegible]।

भवति चात्र श्लोक —

एकस्मिन्वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिल किल । एतद्दोषात्सहायेषु मृतेष्वापदनास्पदम् ॥ ९ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितम कल्प ।

किसी समय एक रात्रि मे जब मेघ वस्त्र को आर्द्र (भीगा) करने वाली जोर की जलवृष्टि कर रहे थे और समस्त दिशाएँ कज्जल पटल-सरीखी कृष्ण शरीर वाली हो रही थी तब उन्होने नगर के सार द्रव्य (सुवर्ण व रत्नादि) की चोरी की। फिर वे नगर के बाहर के बगीचे मे उसका विभाग (बँटवारा) कर रहे थे और 'यह मेरा है और यह तेरा है' यह कहकर झगड रहे थे। पश्चात् युद्ध (झगडना) छोडकर उन्होने पहले किसी एक चोर द्वारा शराब मँगवाई और शराब की पान गोष्ठी की, अर्थात्—एक स्थान पर बैठकर प्राय सभी ने शराब पी, जिसमे पहले किये हुए कलह का कोप बढ जाने से मलिन बुद्धि वाले उन्होने लठा-लठी और मुक्का मुक्की वाला तुमुल युद्ध किया जिससे धूर्तिल के सिवा सब मर गये

निस्सन्देह धूर्तिल के एक नियम था, कि उसे जिस दिन मुनि का दर्शन होता था, उस दिन वह सदा एक व्रत ग्रहण करता था, अत उसने उस दिन मुनि के दर्शन होने से शराब के त्याग का व्रत ले लिया था, इसी से वह बच गया।

एक सरीखे स्वभाव वाले अपने साथी चोरो की शराबखोरी के आश्रय मे उत्पन्न हुई मरणावस्था को प्रत्यक्ष देखकर वह विशेष दु खो के कारण ससार से विरक्त हो गया और कामदेव रूपी वृक्ष के जटा-समूह के प्रवेश-सरीखे केश-समूह उखाड कर पारलौकिक दु खो को जीतने वाले चरित्र के पालन करने का चिरकाल तक इच्छुक हुआ।

उक्त कथा के सबध के एक श्लोक का अर्थ यह है—

'जब कि मद्यपान के दोष से दूसरे साथी चोर मर गये तब एक दिन के लिये शराब का त्याग कर देने से धूर्तिल चोर बच गया और उसने दीक्षित होकर आपत्तियो से रहित स्थान (मुक्तिपद) प्राप्त किया ॥ ९ ॥'

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे मद्य-त्याग के गुणो का निदान करने वाला तेईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

'चेलक्नोप ग०'। १ कृष्णशरीर। २ दिशासु। ३ सारद्रव्य। ४ युद्ध। ५ अनेन केनचित् कृत्वा आनायितमद्या। ६ एकत्र पान। ७ मद्यपानात् पूर्व कृत। ८ यस्मिन् दिने मुनयो मिलन्ति तद्दिने नित्य व्रत गृह्णाति। ९ मुनिदर्शनात्। १० मरणावस्था। ११ दृष्ट्वा। १२ ससारात्। १३ उत्पाटन कृत्वा। १४ काम। १५ वृक्ष। १६ चिर दीर्घकाल पालितवानित्यर्थ। १७ परलोकापद्दुखजयनशीलाय। १८ प्राप्तवान्। १९ आपत्-रहित स्थान।

स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायदुरास्पदम्[१] । सन्तोऽदन्ति[२] कथ मास विपाके दुर्गतिप्रदम् ॥ १० ॥
कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यदि चात्मन । [३]हन्यमानविधिर्न स्यादन्यथा[४] वा न जीवनम् ॥ ११ ॥
धर्माच्छर्मभुजा धर्मे किन्तु विद्वेषकारणम । प्रार्थितार्थप्रद द्वेष्टि[५] को नामामरपादपम ॥ १२ ॥
अल्पात्क्लेशात्सुख सुष्टु सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति । आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ॥ १३ ॥
स सुख सेवमानोऽपि[६] जन्मान्तरसुखाश्रय[७] । यः परानुपघातेन सुखसेवापरायण ॥ १४ ॥
स पुमान्ननु लोकेऽस्मिन्नुदर्के[८] दु खवर्जित । [९]यस्तदात्वसुखासङ्गान्न मुह्येद्धर्मकर्मणि ॥ १५ ॥
स भूभार पर प्राणी जीवन्नपि मृतश्च स । यो न धर्मार्थकामेषु भवेदन्यतमाश्रय[१०] ॥ १६ ॥
स मूर्ख स जड सोऽज्ञ स पशुश्च पशोरपि । योऽश्नन्नपि फल धर्माद्धर्मे भवति मन्दधी ॥ १७ ॥
स विद्वान्स महाप्राज्ञ स धीमान् स च पण्डित । य स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥ १८ ॥

मास-त्याग—

सज्जन पुरुष ऐसे मास को, कैसे भक्षण करते है ? जो कि स्वभाव से अपवित्र व दुर्गन्धित है, जो दूसरे पशु-पक्षियो के घात से उत्पन्न होता है, जो कसाईयो व खटीको आदि के खोटे स्थान से प्राप्त होता है एव जो भविष्य मे दुर्गति को देने वाला है ॥ १० ॥ यदि माँस के निमित्त हमारे द्वारा घात किया जा रहा पशु दूसरे जन्म मे हमारा घात न करे या माँस के विना दूसरा कोई भी उदर-पोषण का उपाय नही है तो प्राणी नही करने योग्य कर्म (जीव-घात) भले ही करे, किन्तु ऐसी बात नही है, माँस के बिना भी अन्न व भक्ष्य फलादि से उदर-पोषण होता ही है, अत मास-भक्षण नही करना चाहिए ॥ ११ ॥ अहिसा धर्म के माहात्म्य से सुख भोगने वालो को धर्म से द्वेष करने का क्या कारण है ? अर्थात्—धर्म से द्वेष करना उनकी निरी मूर्खता है। क्योकि कौन बुद्धिमान् पुरुष अभिलषित—इच्छित वस्तु देनेवाले कल्प वृक्ष से द्वेष करता है ? अपितु कोई नही करता ॥ १२ ॥ यदि बुद्धिमान पुरुष थोडा-सा क्लेश उठाकर अपने लिये विशेष सुखी देखना चाहती है, तो उसका कर्तव्य है, कि जैसा व्यवहार (मारना व विश्वास-घात-आदि) अपने लिए दु खदायक है, वैसा व्यवहार दूसरो के प्रति न करे ॥ १३ ॥ जो पुरुष दूसरो का घात न करके अपनी सुख-सामग्री के भोगने मे तत्पर है, वह इस लोक मे सुख भोगता हुआ भी दूसरे जन्म मे सुख का स्थान होता है ॥१४॥

जो मनुष्य इस जन्म मे तात्कालिक सासारिक सुखो मे आसक्त होकर धार्मिक कर्तव्यो मे मूढ नही होता अर्थात्—धर्म कर्म मे प्रवृत्त होता रहता है, वह इस लोक मे व परलोक मे दु खी नही होता—सुख-लाभ करता है ॥ १५ ॥ जो मानव धर्म, अर्थ व काम मे से एक का भी आश्रय नही करता वह पृथ्वी का भार रूप है और जीता हुआ भी मरा-सा है ॥ १६ ॥ जो मानव धर्म से उत्पन्न होने वाले सासारिक सुख रूप फल का उपभोग करता हुआ भी धर्मानुष्ठान मे मन्दबुद्धि (आलसी) है, वह मूर्ख है, जड है, अज्ञानी है और पशु से भी निरापशु है ॥ १७ ॥ जो स्वय या दूसरो के द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी अधर्म करने की चेष्टा नही करता, वही विद्वान्, महा-विद्वान् और बुद्धिमान तथा पण्डित है ॥ १८ ॥

१ दु स्थाने सूनाकारगृहे लभ्य । २ भक्षयन्ति । ३-४ यथा पशुहत तथा पश्चाच्चेत् स पशु तस्य हिंसकस्य न हिनस्ति, अथवा चेन्मास विनाऽन्य कोऽपि जीवनोपायो नास्ति । चेदन्नभक्ष्यफलादिक वर्तते तर्हि मास कथ भक्ष्यते । ५. को द्वेष करोति । ६ भुञ्जानोऽपि । ७ भवति । ८ आगामिकाले । ९ इहलोके तत्काले । १० त्रिषु मध्ये एकस्यापि य आश्रयो न भवति ।

तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहित मुहु । अन्यमासै स्वमासस्य कथ वृद्धिविधायिन ॥ १९ ॥
यत्परत्र[1] करोतीह सुख वा दु खमेव वा । वृद्धये[2] धनवद्दत्त स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥ २० ॥
मद्यमासमधुप्राय कर्म धर्माय चेन्मतम् । अधर्म कोऽपर कि वा भवेद्दुर्गतिदायकम् ॥ २१ ॥
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुख यत्र नासुखम् । तज्ज्ञान यत्र नाज्ञान सा गतिर्यत्र नागति ॥ २२ ॥
स्वकीय जीवित यद्वत्सर्वस्य प्राणिन प्रियम् । तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिसा परित्यजेत् ॥ २३ ॥
मासादिषु[3] दया नास्ति न सत्य मद्यपायिषु । आनृशस्य[4] न मर्त्येषु[5] मधूदुम्बरसेविषु ॥ २४ ॥
मक्षिकागर्भसभूतबालाण्डविनिपीडनात् । जात मधु कथ सन्त सेवन्ते कललाकृति[6] ॥ २५ ॥
[7]उद्भ्रान्ताभकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत्[8] । कुतो मधु[9] मधुच्छत्रे[10] व्याधलु[11]ब्धकजीवितम् ॥ २६ ॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष[12]न्यग्रोधादिफलेष्वपि । प्रत्यक्षा प्राणिन स्थूला सूक्ष्माश्चागमगोचरा ॥ २७ ॥

जो अपने कल्याण के इच्छुक है और बार-बार दु ख देने वाले पाप कर्म का त्याग करते है, वे दूसरे पशु-पक्षियो के मास से अपने मास की वृद्धि करने वाले कैसे हो सकते है ? ॥ १९ ॥ जिस प्रकार दूसरो को वृद्धि के लिए दिया गया धन, कालान्तर मे व्याज के बढ जाने से देने वाले को अधिक प्राप्त होता है (व्याज-सहित मिल जाता है) उसी प्रकार मनुष्य दूसरे प्राणियो के लिए जो सुख या दु ख देता है, वह सुख या दु ख कालान्तर मे उसे अधिक प्राप्त होता है। अर्थात्—सुख देने से विशेष सुख प्राप्त होता है और दु ख देने से विशेष दु ख प्राप्त होता है । २० ॥ यदि मद्य-पान, मास भक्षण और मधु आस्वादन की अधिकता वाला क्रिया काण्ड (यज्ञ व श्राद्धादि) धर्म है तो फिर दूसरा अधर्म क्या है ? और दुर्गति देने वाला क्या है ? ॥ २१ ॥ सच्चा धर्म वही है, जिसमे अधर्म (हिंसा-आदि व मिथ्यात्व-आदि) नही है। सच्चा सुख वही है, जिसमे नरक-आदि का दु ख नही है। सम्यग्ज्ञान वही है, जिसमे अज्ञान नही है तथा सच्ची गति वही है, जिसके मिलने पर ससार मे पुनरागमन नही होता ॥ २२ ॥ जिस तरह सभी प्राणियो के लिए अपना जीवन प्यारा है उसी तरह दूसरो को भी अपना जीवन प्यारा है, इसलिए जीव हिसा का त्याग करना चाहिए ॥ २३ ॥ मास भक्षको मे दया नही होती और शराब पीने वालो मे सत्य भाषण नही होता एव मधु और उदुम्बर फलो का भक्षण करने वालो मे दयालुता नही होती,अर्थात्—निर्दयी होते है ॥ २४ ॥

मधु के दोष

सज्जन पुरुष गर्भाशय मे स्थित हुए शुक्र-शोणित के सम्मिश्रण-सरीखे आकार वाले मधु को, जो कि शहद की मक्खियो तथा उनके छोटे-छोटे बच्चो के घात से उत्पन्न होता है, किस प्रकार सेवन करते है ? ॥२५॥ जिसके बीच मे छोटे-छोटे शहद की मक्खियो के बच्चे भिनभिना रहे है, ऐसे शहद के छत्ते मे स्थित हुआ मधु, जो कि अण्डो से उत्पन्न हुए पक्षियो के बालको के झुण्ड-सरीखा है, बहेलियो तथा भील लोगो के लिए खाने-योग्य किस प्रकार हो गया ? यह आश्चर्यजनक है ॥ २६ ॥

पॉच उदुम्बर फलो के दोष

पीपल, गूलर, पाकर, बड और कठूमर (अजीर) इन पॉच उदुम्बर फलो मे भी स्थूल त्रसजीव उडते हुए दृष्टिगोचर होते है और अनेक सूक्ष्मजीव भी उनमे पाये जाते है, जो शास्त्रो द्वारा जाने जा सकते है ॥ २७ ॥

---

१ परजने । २ वृद्धिनिमित्त भवति व्याजफल तद्वत् । ३ मास अदन्ति इत्येव शीला । ४ कारुण्य । ५ मनुष्येषु । ६ गर्भवेष्टन । ७ चलित । ८ पक्षिबालकसमूहवत् । ९ माधुर्यं । १० मधुफले । ११ भिल्ललोकाना भक्ष्य । १२ कठुम्बर अजीरापरनाम ।

[1]मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्न च नाचरेत् । [2]तदमत्रादिसपर्क न कुर्वीत कदाचन ॥ २८ ॥
कुर्वन्नव्रतिभि सार्धं ससर्ग भोजनादिषु । प्राप्नोति [3]वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥ २९ ॥
दृतिप्रायेषु[4] पानीय स्नेह च कुतुपादिषु[5] । व्रतस्थो वर्जयेन्नित्य योषितश्चाव्रतोचिता[6] ॥ ३० ॥
[7]जीवयोगाविशेषेण [8]मयमेषादिकायवत् । मुद्ग*माषादिकायोऽपि मासमित्यपरे[9] जगु ॥ ३१ ॥

तदयुक्त । तदाह—

मास जीवशरीर जीवशरीर भवेन्न वा[10] मासम् । यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवन्न वा निम्ब ॥ ३२ ॥

मद्यादिक का सेवन करने वालो से बचने का उपदेश—

मद्य, मास व मधु को भक्षण करने वालो के गृहो मे कभी खान-पान नही करना चाहिए तथा उनके बर्तनो आदि का स्पर्श नही करना चाहिए ॥ २८ ॥ व्रत न पालने वाले पुरुषो के साथ भोजनादि मे ससर्ग रखने वाले मानव की इस लोक मे निन्दा होती है और परलोक मे भी उसे प्रशस्त फल नही मिलता अर्थात्—कटु फल भोगना पडता है ॥ २९ ॥ व्रती पुरुष को चमडे की मशक का पानी, चमडे के कुप्पो मे रक्खा हुआ घी व तैल का उपयोग सदा छोडते हुए रज स्वला स्त्रियो का ससर्ग (छूना) नही करना चाहिए ॥ ३० ॥

कुछ लोगो ने कहा है कि मूँग व उडद-आदि एकेन्द्रिय जीवो का शरीर भी मास है, क्योकि वह जीव का शरीर है, जैसे ऊँट व मेढा-आदि का शरीर । अर्थात्—जैसे ऊँट व मेढा आदि त्रस जीवो का शरीर जीव-शरीर होने से मास है वैसे ही मूँग व उडद-आदि धान्यो का शरीर भी जीव-शरीर होने से मास है, क्योकि जहाँ-जहाँ जीव-शरीर है वहाँ वहाँ मास है, जैसे ऊँट वगैरह, ऐसी व्याप्ति है । क्योकि जीव का शरीरपन सर्वत्र समानरूप से पाया जाता है ॥ ३१ ॥ उक्त मान्यता योग्य नही है, क्योकि मास, जीव का शरीर है यह कहना उचित है, किन्तु जो जीव का शरीर है, वह मास होता भी है और नही भी होता । जैसे नीम, वृक्ष होता है, किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नही भी होता । अर्थात्—यदि किसी जीव का शरीर मास होता है, तो क्या समस्त जीवो के शरीर मास ही होते है ? यह नियम नही है, क्योकि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय-पर्यन्त जीवो मे विशेषता है । यदि नीम वृक्ष होता है, तो क्या दूसरे वृक्ष भी नीम हो सकते है ?

भावार्थ—जहाँ-जहाँ मास होता है, वहाँ-वहाँ जीव-शरीर अवश्य होता है, परन्तु जहाँ जीव-शरीर होता है, वहाँ मास होने का नियम नही है । क्योकि मासपन व्याप्य है और जीव शरीरपन व्यापक है, इसलिये जहाँ-जहाँ व्याप्य होता है, वहाँ-वहाँ व्यापक अवश्य होता है । परन्तु जहाँ व्यापक है वहाँ व्याप्य के होने का नियम नही है । जिस प्रकार जहाँ जहाँ नीमपन होता है, वहाँ वृक्षपन अवश्य होता है, परन्तु जहाँ वृक्षपन है वहाँ नीमपन के होने का नियम नही है । अत मूँग, उडद-आदि को एकेन्द्रिय जीव के शरीर होने से मास मानना युक्तिसगत नही है ॥ ३२ ॥

---

१ मद्यमासमधुभक्षकाणा । २ भाजनादिस्पर्श । ३ निन्दा । ४ चर्मभाण्डेषु । ५ घृततैलाधारचर्मभाजनेषु । ६ रज स्वला , कार्ये ससग ।

७ प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि भोज्य मास न धार्मिकै । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१॥ सागारधर्मा० । ८ उष्ट्र । * एकेन्द्रियशरीरमपि मास । ९ मिथ्यादृष्टय । १० यदि कस्यचित् शरीर मास सजात र्तहि सर्वेषा जीवाना शरीर किं मासमेव भवति ? तन्न, एकेन्द्रियादि पचेन्द्रिय-पयन्त विशेषोऽस्ति, चेत् कश्चिन्निम्बवृक्ष सजातर्स्तहि अन्येऽपि वृक्षा किं निम्बा एव ? अपि तु न ।

किं च— [1]द्विज [illegible] विशिष्यते [2] [illegible] ॥ ३३ ॥
[illegible] ॥ ३४ ॥
शुद्धं दुग्धं [illegible] ॥ ३५ ॥
अथवा। हेयं [illegible] ॥ ३६ ॥
अपि च [8]शरीर [illegible] ॥ ३७ ॥
[10]विधि [illegible] ॥ ३८ ॥

जेसे ब्राह्मण और पक्षी दोनो मे जीव-शरीर होने से संग्रहनय की अपेक्षा अभेद है तथापि पक्षी के घात की अपेक्षा ब्राह्मण के घात करने मे अधिक पाप है वैसे ही फल और मांस दोनो जीव के शरीर है किन्तु फल खानेवाले को स्तोक (थोडा) पाप लगता है क्योंकि फलो मे एकेन्द्रिय जीव ही होते है, और मास-भक्षण मे महापाप-बन्ध है क्योंकि मास मे दो इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त जीव-राशि सदैव रहती है ॥३३॥ जो वादी यह कहता है कि मूँग-आदि धान्य और मास दोनो ही जीव के शरीर होने से एक सरीखे भक्षणीय है, उसके यहाँ पत्नी और माता, दोनो मे स्त्रीपन समान होने से एक सरीखी है और सुरा व जल दोनो मे पीने लायकपन होने से एक सरीखे है, अतः उसे माता को स्त्री की तरह और सुरा को जल की तरह समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

भावार्थ—जब वादी मद्य व जल मे पीनेलायकपन समान होने पर भी जल पीता है और मद्य का त्याग करता है और पत्नी व माता मे स्त्रीपन समान होनेपर भी पत्नी का उपभोग करता है और माता को नमस्कार करता है, उसी तरह उसे जीव का शरीरपन समान होने पर भी मूँग-आदि धान्य भक्षण करनी चाहिए और सदाके लिए मास का त्याग सुरा की तरह करना चाहिए ॥ ३४ ॥

गाय का दूध शुद्ध है परन्तु गो-मास शुद्ध नहीं है। वस्तु के स्वभाव की विचित्रता ही ऐसी है। उदाहरण के रूप मे—साँप की फणा का नागदमनमणि तो विप को नष्ट करनेवाला है और उसका जहर तत्काल मार देता है ॥ ३५ ॥ अथवा—यद्यपि मास और दूध के उत्पादक कारण (घास-आदि) एक सरीखे है, तथापि मास छोडने योग्य है और दूध पीने-योग्य है। उदाहरण के रूप मे—जैसे विषवृक्ष का पत्ता और उसकी जड इन दोनो के उत्पादक कारण एक-से है तथापि विषवृक्ष का पत्ता आयु-रक्षक है और उसकी जड (विप) मृत्यु का कारण होती है ॥ ३६ ॥ यद्यपि मास और घी इन दोनों का निमित्त कारण शरीर ही है, अर्थात्—गाय के शरीर से ही मास व घी उत्पन्न होते है, तथापि मास-भक्षण मे पाप है न कि घी खाने मे। जिस प्रकार ब्राह्मणादि को जिह्वा से शराब के स्पर्श करने मे पाप है, परन्तु पैर मे शराब के लगाने मे पाप नही होता ॥ ३७ ॥ यदि विधि (संप्रोक्षण—कुश व मन्त्रो के जल द्वारा वस्तु को शुद्ध करना) से ही वस्तु शुद्ध हो जाती है तो ब्राह्मणो के लिए सभी योग्य-अयोग्य वस्तु का सेवन कर लेना चाहिए, अर्थात्— फिर तो उन्हे 'अन्न भक्षणीय है और मास त्याज्य है' ऐसा आग्रह नही करना चाहिए। अथवा उक्त दोष के निवारण के लिए आप कहेंगे कि समस्त वस्तु शुद्ध ही होती है, तो चाण्डाल के गृह पर भी भोजन कर लेना चाहिए, क्योंकि आपके कहने से चाण्डाल का गृह भी शुद्ध है ॥ ३८ ॥'

---

१ विप्रपक्षि। २ संग्रहनयापक्षयाऽभेदेऽपि। * 'पाप पलाशिनाम्' क० च० प०। ३ पाप विनिष्यते। ४ मातरं दारानिव मद्य वारीव इहेना। ५ अहे सपस्येद रत्नं नागदमनमणि। ६ विषवृक्षस्य पत्त्र। ७ आयु निमित्त। ८ द्वयोर्मांससर्पिषोर्निमित्त शरीरमेव। ९ पादे लग्न। १० संप्रोक्षणयज्ञादिरचनेन शुद्धं भवति। ११ योग्यमयोग्य च। १२ अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्धं वर्तते।

तद्द्रव्यदातृपात्राणा विशुद्धौ विधिशुद्धता । यत्सस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजता व्रजेत् ॥ ३९ ॥
तच्छाक्यसाख्यचार्वाकवेदवैद्य[1]कपर्दिनाम् । मत विहाय [2]हातव्यं मास श्रेयोऽर्थिभि सदा ॥ ४० ॥
यस्तु लौल्येन मासाशी[3] धर्मधी स द्विपातक । परदारक्रियाकारी मात्रा सत्र यथा नर ॥ ४१ ॥

श्रूयतामत्र मासाशनाभिध्यानमात्रस्यापि[4] पातकस्य फलम्—श्रीमत्पुष्पदन्तभदन्तावतारावतीर्णत्रिदिवपतिसपादितो-[5]द्यावेन्दिरासद्या काकन्द्या पुरि श्रावकान्वयसभूति **सौरसेनो** नाम नृपति कुलधर्मानुरोध बुद्धचा गृहीतपिशितव्रत [6]पुनर्वेदवैद्याद्वैतमतमोहितमति सजात[7]जाङ्गलजिघित्सानुमतिरङ्गीकृतवस्तु[8]निवर्हणाज्जनापवादाज्जुगुप्समानो मनोविश्रान्ति-हेतुना **कर्मप्रियनामकेतुना** वल्लवेन[9] रहसि[10] बिलस्थलजलान्तरालचरतरसमा[11]नाययन्नप्यनेकराजकार्यपर्याकुलमानसतया मासभक्षणक्षण[12] नावाप ।

कर्मप्रियोऽपि तथा पृथिवीश्वर निदेशमनुदिनमनुतिष्ठन्नेकदा [13]पृदाकुपाकोपद्रुत प्रेत्य[14] स्वयभूरमणाभिधान-

---

जैसे सैकडो सस्कारो से सुसस्कृत हुआ शूद्र ब्राह्मण नही हो सकता [वैसे ही सैकडो विधियो (प्रोक्षण व यज्ञमन्त्रादि विधियो) से शुद्ध किया हुआ माँस भी शुद्ध नही हो सकता] क्योकि द्रव्य, दाता और पात्र इन तीनो के शुद्ध हो जाने पर शुद्ध विधि घटित होती है ॥ ३९ ॥ आत्मकल्याण के इच्छुक मानवो को बौद्ध, साख्य, चार्वाक, वेदिक, वैद्य और शैवो की युक्ति-शून्य मान्यता पर ध्यान न देकर सदा के लिए मास का त्याग कर देना चाहिए ॥ ४० ॥ जैसे जो परस्त्री-लम्पट मनुष्य माता के साथ रतिविलास करता है, वह दो पाप (कुशील व अन्याय) करता है वैसे ही जो मनुष्य धर्म-बुद्धि से लालसा पूर्वक मास-भक्षण करता है वह भी दो पाप करता है (मास-भक्षण का पाप और माँस-भक्षण को धर्म समझना रूप मिथ्यात्व) ॥ ४१ ॥

मास-भक्षण का सकल्प (चिन्तन) करनेवाले राजा सौरसेन की कथा—

[अब मास-भक्षण के चिन्तनमात्र से होनेवाले पाप के विषय मे एक कथा है, उसे सुनिए—]

ऐसी काकन्दी नामकी नगरी मे, जो कि श्रीपुष्पदन्त भगवान् के जन्मोत्सव के लिए आये हुए इन्द्र द्वारा की जानेवाली उत्सव लक्ष्मी की स्थान थी, श्रावक कुलोत्पन्न 'सौरसेन' नाम का राजा राज्य करता था। उसने अपने कुलधर्म के अनुसरण की बुद्धि से माँस-भक्षण का त्याग स्वीकार किया था। परन्तु बाद मे जब वेद-वचन, वैद्य-वचन व शैव दर्शन से उसकी बुद्धि विपरीत हो गई तब उसे माँस-भक्षण की इच्छा को अनुसरण करने वाली बुद्धि उत्पन्न हुई। इसलिए वह स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा के निर्वाह करने मे असमर्थ हो गया। परन्तु वह लोकापवाद से डरता था। यद्यपि वह अपने मन को आराम देने वाले 'कर्मप्रिय' नामरूपी ध्वजा वाले रसोईए से एकान्त मे अनेक बिलो मे रहने वाले जन्तुओ, जलचर, थलचर एव भूमिचर जीवो का माँस मँगवाता था, परन्तु उसका मन अनेक राजकार्यो मे व्याकुलित रहता था, इसलिए उसे माँस-भक्षण का अवसर नही मिलता था।

'कर्मप्रिय' रसोईया भी राजा की आज्ञा के अनुसार प्रतिदिन मास पकाता था। एक दिन उसने साँप के बच्चे का मास पकाया और उसी के जहर से पीडित हुआ और मरकर वह 'स्वय भूरमण' नाम के चिह्न वाले समुद्र मे अनेक मछलियो को निगलने वाला, विशालकाय व शक्तिशाली महामच्छ हुआ।

---

१ भिषज। २ त्याज्य। ३ भक्षक धर्मनिमित्त तस्य पातकद्वय भवति। ४ चिन्तनमात्र। ५ उत्सवलक्ष्मीस्थान। ६ वेदवचनवैद्यवचनशैववचनै। ७ मास। ८ निवर्हणमत्तीति निवर्हणात्। ९ वल्लव स्यात् सूपकारे गोदोग्धरि वृकोदरे। १० एकान्ते। ११ सूपकारेण कृत्वा आनयन कारयन्। १२ अवसर। १३ सर्पशिशुना। १४ मृत्वा।

मुद्रे[1] समुद्रे महादेहबलस्तिमिङ्गिलगिलो बभूव[2]। भूपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाश्रित्य पिशिताशनाशयानुबन्धात्तत्रैव[3] सिन्धौ तस्यैव महामीनस्य कर्णबिले तन्मलाशनशील[4] शालिसिक्थकलकलेवर[5] शफरोऽभूत्। तदन्वेष [6]पर्याप्तोभयकरणस्तस्य वदन व्यादाय[7] निद्रायतो गलगुहावगाहे [8]वेलानदीप्रवाह इवानेक जलचरानीक प्रविश्य तथैव *निष्क्रामन्निरीक्ष्य 'पापकर्मा निर्भाग्याणा चाग्रणीरधर्मा खल्वेष झषो यद्वक्त्रसपातरतचेतास्यपि न शक्नोति अशितु यादासि। मम पुनर्यदि हृदयेप्सितप्रभावाद्दैवादेतावन्मात्र गात्र स्यात्तदा समस्तमपि समुद्र [9]विद्रुतसकलसत्त्वसचारमुद्र विदधामि' [10]इत्यभिध्यानादल्पकायकल[11] शकुलो[12] निखिलनक्रचक्रचाराच्च[13] महादेहाधीनो मीन कालेन[14] [15]विपद्योत्पद्य चोत्तमनस्त्रयस्त्रिशत्सागरोपमायुर्निलये निरये भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतज्ञानविशेषौ तावनिमिषचरौ[16] नारकपर्यायधरौ किलैवमालाप चक्रतु —'अहो क्षुद्रमत्स्य, तथा निर्मितकर्मणो दुष्कर्मणो ममात्रागतिरुचितैव। तव तु मत्कर्णविले मलोपजीवनस्य कथमत्रागमनमभूत्। 'महामत्स्य, चेष्टितादपि दुरन्तदु खसबन्धनिबन्धनादशुभध्यानात्।'

भवति चात्र श्लोक —

कुछ काल के बाद सौरसेन राजा भी मरकर मास-भक्षण के अभिप्राय के निरन्तर सस्कार से उसी समुद्र मे उसी महामच्छ के कर्णरूप विल मे कानो के मैल का भक्षण करने वाला और शालि चॉवल के प्रमाण शरीर वाला मच्छ हुआ। पश्चात् तन्दुलमच्छ स्पर्शन-आदि इन्द्रिय व मन की पर्याप्ति को पूर्ण करने वाला हुआ। महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसकी समुद्र-नदी के सगम के प्रवाह-सरीखी विस्तृत गहरी गलेरूपी गुफा मे अनेक जलचर जीवो की सेना घुसकर जीवित निकल आती थी। उसे देखकर तन्दुल मत्स्य सोचता था 'यह मत्स्य बडा पापी और भाग्य-हीनो मे अग्रेसर है, जो अपने मुँह मे स्वय ही आने वाले मत्स्य-आदि जल जन्तुओ को भी नही खा सकता।

यदि हार्दिक इच्छा के प्रभाव वाले शुभ दैव से मेरा इतना विशालकाय शरीर होता तो मै इस समस्त समुद्र को भी समस्त जल-जन्तुओ के सचार-चिन्ह से शून्य कर डालता।'

उक्त निन्द्य दुर्ध्यान के कारण अल्पकाय के लेशवाला तन्दुलमत्स्य और समस्त मकर-समूह के भक्षण से महाकाय महामत्स्य एक गव्यूति (दो कोस) का शरीर और एक पल्य की आयु पूर्ण करके मरकर सातवे नरक मे तैतीस सागर की उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुए। वहाँ उन दोनो के उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञान, भवप्रत्यय नामक अवधिज्ञान के अधीन थे, अर्थात्—उन्हे भवप्रत्यय अवधिज्ञान था।

वे दोनो भूतपूर्व मत्स्य नारकी पर्यायधारी परस्पर मे वार्तालाप करते थे—'क्षुद्रमत्स्य! अनेक जल-जन्तुओ के सहार-सबधी पाप कर्म करने वाले मुझ पापी का यहाँ आना उचित ही था, परन्तु मेरे कर्णो के बिलो मे मल भक्षण करनेवाले तुम्हारा यहाँ आना कैसे हुआ?'

तन्दुल मत्स्य—'महामत्स्य! मेरा यहाँ आना ऐसे अशुभ ध्यान (आर्त-रौद्रध्यान) से हुआ है, जो कि विकृत मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ है और जो भयानक दु ख-सबध का कारण है।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

---

१ चिन्हे। २ सूपकारोऽभूत्। ३ सतत्या प्रवर्तनात्। ४ भक्षण। ५ शालिसिक्थमात्र। ६ अन्त करण (मन) वहि करण (इन्द्रिय) आहितशरीर द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियपरिपूर्णपर्याप्तिसहित सजात। जीवास्त्रिप्रकारा — पर्याप्ता अपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ता। ७ प्रसार्य। ८ समुद्रनदीसगमवत् विस्तारे। * 'निष्क्रामन्त निरीक्ष्य' इति ग०। ९ रहित। १० चिन्तनात्। ११ भाग लेश। १२ मत्स्य। १३ भक्षणात्। १४ एकगव्यूतिकाय एकपल्यायु। १५ मृत्वा। १६ भूतपूर्वमत्स्यौ।

क्षुद्रमत्स्य किलैकस्तु स्वयभूरमणोदधौ। महामत्स्यस्य कर्णस्थ [1]स्मृतिदोषादधो गत ॥ ४२ ॥

इत्युपासकाध्ययने मासाभिलाषमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विशतितम कल्प ।

श्रूयतामत्र मासनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—[2]अवन्तिमण्डलनलिनाभिनिवाससरस्यामेकानस्या[3] पुरि पुरबाहिरिकाया देविलामहिलाविलासविशिख वृत्तिकोदण्डस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्यैकस्या दिशि निवेशितपिशितोपदशस्या[5] परस्या दिशि विन्यस्तसुरासभृतकलशस्य ता पलोपदशोदारा सुरा पाय पाय तदुभयान्तराले चर्मनिर्माणतन्त्रा[7] [8]वरत्रा वर्तयतो वियद्विहारोडडीनाण्डजडिम्भतुण्डखण्डनविनिष्यन्दि[9] विषधरविषदोषावसरा सुरासीत् । अत्रैवावसरे तत्समीपवर्त्मगोचरे[10] धर्मश्रवणजन्मान्तरादिप्रकाशनपथाभि कथाभिर्विनेयजनोपकाराय कृतकामचारप्रचारमम्बरान्मूर्तिमत्स्वर्गापवर्गमार्गयमलमिवावतरच्चारणर्षियुगलमवलोक्य सजातकुतूहलस्त देशमनुगम्य नगरे[11] तद्दर्शनेन श्रावकलोक व्रतानि समाददानमनुस्मृत्य समाचरितप्रणाम सुनन्दनाग्रेसरगमनमभिनन्दन भगवन्तमात्मोचित व्रतमयाचत । भगवानपि—

निस्सन्देह 'स्वयभूरमण' समुद्र मे महामत्स्य के कर्ण मे स्थित हुआ तन्दुलमत्स्य अशुभ चिन्तन के दोष से (बुरे सकल्प से) नरक मे गया ॥ ४२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे मास की इच्छामात्र करने का फल बतलानेवाला चौबीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब मॉस-त्याग के फल के विषय मे एक कथा कहते है, उसे सुनिए—

१२ मासत्यागी चाण्डाल की कथा—

अवन्तिदेश मे उत्पन्न हुए मानवरूपी कमलो के निवास के लिए तडाग-सरीखी उज्जयिनी नगरी मे नगर के बाहर निवास करने वाला और देविला नाम की पत्नी के साथ रतिविलासरूप बाणवृत्ति के लिए धनुष-जैसा 'चण्ड' नाम का चाण्डाल रहता था। जिसने बीच-बीच मे खाने के लिए अपने गृह की एक दिशा मे मॉस रूप शाक स्थापित की थी। और मध्य मे पीने के लिए दूसरी दिशा मे सुरा से भरा हुआ घट स्थापित किया था। एव जो उन दोनो दिशाओ के मध्य मे बैठकर मॉस रूप शाक से प्रचुर सुरापान करता जाता था और बीच-बीच मे चमडे की रचना के सप्रदायवाली चर्मयष्टि बटता जाता था। उस समय उसकी शराब ऐसे जहरीले सर्प के विष से विषैली हो गई, जो कि आकाश मे विहार करने से उडते हुए पक्षि-शावक की चोच से खण्ड-खण्ड किये जाने से स्राव-सहित था।

उसने इसी अवसर पर ऐसा चारण ऋद्धि-धारक ऋषि-युगल देखा, जो कि उसके गृह के निकटवर्ती मार्ग मे आकाश से उतरता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था। जिसने धर्मोपदेश और पूर्वभवो को प्रकाश करने वाली विस्तृत धर्मकथाओ द्वारा शिष्य जनो के उपकार के लिए इच्छानुसार विहार किया था एव जो आकाश से अवतरण करता हुआ ऐसा मालूम पडता था—मानो—मूर्तिमान स्वर्ग व मोक्षमार्ग का जोडा ही है—इसे देखकर चाण्डाल को कौतूहल हुआ। यह भी उनके समीप गया और नगर के बीच मुनि-दर्शन से व्रत ग्रहण कर रहे श्रावक-समूह को देखकर इसने उन्हे प्रणाम किया और सुनन्दन मुनि के आगे गमन करने वाले ज्येष्ठ भगवान् अभिनन्दन मुनि से इसने अपने योग्य व्रत ग्रहण करने की याचना की।

---

१ चिन्तनदोषात् । २ देशोत्पन्ना जना एव नलिनानि कमलानि तेषा वसने सर । ३ उज्जयिन्या । ४ बाण । ५ मध्ये मध्ये भक्षण शाक । ६ दिशो । ७ सप्रदाया । ८ चर्मयष्टि । ९ स्रावसहितसप । १० विषये । ११ नगरमध्ये मुनिदर्शनात् ।

उपकाराय सर्वस्य पर्जन्य[1] इव धार्मिक । स्थानास्थानचिन्तेयं दृष्टिवद्द हितोक्तिषु[2] ॥ ४३ ॥

इत्यवगम्य स्वज्ञानावधिबोधोपयोगाद[3]वगतैतदासन्न*परासुतायोगस्तन्मातङ्गमेवमवोचत्—'अहो मातङ्ग, तदुभया[4]न्तरालसज्जां रज्जूं 'सृजतस्तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम्' इति । मातङ्गस्तथा प्रतिपद्योपसद्य[5] च [6]तमवकाशं पिशितं प्राश्य[7] 'यावदहमिदं स्थानकं नायामि तावन्मेऽस्य निवृत्तिः' इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थानः[8] प्रतिपन्नपानस्तत्*दुग्रतरगरभराल्लघू[10]ल्लङ्घितमतिप्रसरस्तन्[11]निवृत्तिमलभमानश्चेत्तोऽपि प्रेत्य[12] तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन यक्षकुले यक्षमुख्यत्वं प्रतिपेदे । भवति चात्र श्लोक —

चण्डोऽवन्तिषु मातङ्ग पिशितस्य निवृत्तित । अत्यल्पकालभाविन्या[13] प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥ ४४ ॥

इत्युपासकाध्ययने मासनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितम कल्प ।

धार्मिक महापुरुष समस्त लोक का उपकार करने के लिए मेघ-सरीखे होते है। अर्थात्—जैसे मेघ सब का उपकार करने के लिए है वैसे ही धार्मिक महापुरुष सब का उपकार करने के लिये हैं और जैसे स्थान और अस्थान का विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है, वैसे ही धार्मिक पुरुष कल्याणकारक धर्मोपदेश मे स्थान और अस्थान का विचार नही करते। अर्थात्—उन्हे यह उत्तम है और यह नीच है, इस प्रकार की चिन्ता (विचार) नही होती। अभिप्राय यह है, कि वे समस्त सर्व साधारण प्राणियो के प्रति धर्म का निरूपण करते है ॥ ४३ ॥

ऐसा निश्चय करके भगवान् 'अभिनन्दन' मुनि ने अवधिज्ञान के उपयोग से इस चाण्डाल की निकट मृत्यु जान ली। अत उन्होने उससे कहा—'अहो चाण्डाल! मास व सुरा से भरे हुए घडो के मध्यदेश मे बँधी हुई चर्म-रज्जु को बाँटनेवाले तुम्हारे लिए जिस वस्तु (मास-आदि) के पास जाकर उसे एक बार भक्षण करली, उसकी समीपता छोडकर दूसरी बार जब तक नही पहुँचते हो, अर्थात्—जब तक रस्सी बट रहे हो, उतने समय तक तुम्हे उसका त्याग है।'

चाण्डाल उक्त नियम लेकर उस स्थान पर पहुँचा। उसने मास भक्षण करके नियम किया 'कि जब तक मै इस स्थान पर न आऊँ तब तक के लिए मुझे इसका त्याग है।' इसके बाद वह सुरा से भरे हुए घडे के पास पहुँचा और उसने सुरा पी ली। पीते ही जहरीले साँप के तीव्रतर जहर के प्रभाव से उसकी बुद्धि का प्रसार शीघ्र नष्ट हो गया। यद्यपि वह सुरा का त्याग न कर सका तथापि मरकर केवल उतने मात्र व्रत के माहात्म्य से वह यक्ष जाति के देव-समूह मे प्रधान यक्ष हुआ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

अवन्ति देश मे 'चण्ड' नाम का चाण्डाल बहुत थोडे समय मे होनेवाली मास की निवृत्ति (त्याग) से मरकर यक्ष देवो मे प्रधान हुआ ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे मास-त्याग का फल निरूपण करनेवाला पच्चीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१ मेघ। २ एष उत्तम एष नीच धर्मकथने इति चिन्ता न, सर्वेषा धर्मो वाच्य। ३ ज्ञात। * मरण। ४ मासमद्यमध्यबद्धा। ५ कुर्वत। ६ यस्मिन् पार्श्वे यद्भुक्त तत्समीप त्यक्त्वा द्वितीयवार यावन्नायाति तावत्कालपर्यन्त तद्व्रत। ७ गत्वा। ८ स्थान। ९ भुक्त्वा। * 'तदुग्रतरगराल्लघू' इति च०। १० शीघ्र। ११ मद्यनियम। १२ मृत्वा। १३ सेवन-शीलाया।

अथ के ते उत्तरगुणा —

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकार गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणा स्युर्द्वादशोत्तरे ॥ ४५ ॥

तत्र—

हिसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहा । एतानि देशत पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥ ४६ ॥

सकल्पपूर्वक सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते । [1]प्रवृत्तिविनिवृत्ती[2] वा सदसत्कर्मसभवे ॥ ४७ ॥

हिसायामनृते चौर्यामब्रह्मणि परिग्रहे । दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गति ॥ ४८ ॥

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम्[3] । सा हिसा रक्षण तेषामहिसा तु सता मता ॥ ४९ ॥

विकथाक्षकषायाणा निद्राया प्रणयस्य च । अभ्यासाभिरतो जन्तु प्रमत्त परिकीर्तित ॥ ५० ॥

देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय[4] वा । न हिस्यात्प्राणिन सर्वानहिसा नाम तद्व्रतम् ॥ ५१ ॥

गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् । द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥ ५२ ॥

आसन शयन मार्गमन्नमन्यच्च वस्तु यत् । अदृष्ट तन्न सेवेत यथाकाल भजन्नपि ॥ ५३ ॥

श्रावको के उत्तर गुण—

[अब श्रावको के उत्तरगुण बतलाते है—)

पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण है ॥ ४५ ॥ हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पॉच पापो के एकदेश त्याग करने को पॉच अणुव्रत कहते है ॥ ४६ ॥

व्रत का लक्षण--

सेवनीय वस्तु का सकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा प्रशस्त कार्यो (दान, पूजा व व्रतादि) मे प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त (निन्द्य) कार्यो (मिथ्यात्व-आदि) के त्याग करने को व्रत कहते है ॥ ४७ ॥

पॉच पापो का कटुक फल—

हिसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाप क्रियाओ मे प्रवृत्ति करने से इस लोक मे भयानक दु ख और परलोक मे दुर्गति के दु ख भोगने पडते है ॥ ४८ ॥

अहिसा का लक्षण—प्रमाद के योग से प्राणियो के प्राणो का घात करने को सज्जनो ने हिसा मानी है और उनकी रक्षा करना अहिसा मानी है ॥ ४९ ॥

प्रमत्त का लक्षण—जो जीव, चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय एक निद्रा और एक मोह, इन पन्द्रह प्रकार के प्रमादो के अभ्यास मे अनुराग करने वाले प्राणियो को प्रमत्त कहा गया है ॥ ५० ॥

जो मानव देवताओ की पूजा के लिए, अतिथिसत्कार के लिए, पितरो के लिए, मन्त्रो की सिद्धि के लिए, औषधि के लिए अथवा भय-निमित्त सब प्राणियो की हिंसा नही करता, उसका वह अहिंसा व्रत है ॥ ५१ ॥

पानी वगैरह को छानकर उपयोग करना—

सभी गृहकार्य देखभाल कर कराने चाहिए और समस्त तरल पदार्थ (घी, दूध, तैल व जलादि) वस्त्र से छानकर उपयोग मे लाने चाहिए ॥ ५२ ॥ आसन, शय्या, मार्ग, अन्न, और जो कुछ भी दूसरे पदार्थ है उन्हे यथासमय सेवन करता हुआ भी बिना देखे शोधे सेवन न करे ॥ ५३ ॥

---

१ दानपूजाव्रतादौ । २ मिथ्यात्वाविरत्यादौ । ३ त्याग । ४ भयनिमित्त च ।

[1]दर्शनस्पर्श[2]सकल्प[3]ससर्ग[4]त्यक्तभोजिता[5] । हिंसनाक्रन्दनप्राय [6]प्राशप्रत्यूहकारका ॥ ५४ ॥
अतिप्रसङ्गहानाय[7] तपस परिवृद्धये । अन्तराया स्मृता सद्भिर्व्रतबीजविनिक्रिया[8] ॥ ५५ ॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । निशाया वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दु खदाम् ॥ ५६ ॥
आश्रितेषु[9] च सर्वेषु यथावद्विहितस्थिति । गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम ॥ ५७ ॥
सधान पानक धान्य पुष्प मूल फल दलम् । जीवयोनि न सग्राह्य यच्च जीवैरुपद्रुतम् ॥ ५८ ॥
अमिश्र[10] [11]मिश्रमुत्सर्गि[12] [13]कालदेशदशाश्रयम् । वस्तु किंचित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे[14] ॥ ५९ ॥
यदन्त शुषिरप्राय हेय नालीनलादि तत् । अनन्तकायिकप्राय[15] [16]वल्लीकन्दादिक[17] त्यजेत् ॥ ६० ॥
द्विदल[18] द्विदल[19] प्राश्य [20]प्रायेणानवता गतम् । शिम्बय [21] [22]सकलास्त्याज्या साधिता[23] *सकलाश्च या ॥६१॥

भोजन के अन्तराय—गीला चमडा, हड्डी, मास, रक्त, पीप-आदि का देखना, रज स्वला स्त्री, शुष्क चर्म, हड्डी, कुत्ता, बिल्ली व चाण्डाल-आदि का छू जाना, भोज्य पदार्थ मे 'यह माम की तरह है' इस प्रकार का बुरा सकल्प हो जाना, भोज्य पदार्थ मे मक्खी वगैरह का गिरकर मर जाना, त्याग की हुई वस्तु को भक्षण कर लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने-आदि की आवाज सुनना, ये सब भोजन के अन्तराय (विघ्न पैदा करनेवाले) है। अर्थात्—उक्त अवस्थाओ मे धार्मिक पुरुष को भोजन छोड देना चाहिए ॥ ५४ ॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीज की रक्षा करने के लिए वाड-सरीखे हैं, इनके पालने से अतिप्रसङ्ग दोष की निवृत्ति होती है, और तपकी वृद्धि होती है, ऐसा आचार्यो ने माना है ॥ ५५ ॥ अहिसाव्रत की रक्षा के लिए व मूलगुणो की विशुद्धि करने के लिए इस लोक व परलोक मे दु ख देनेवाले रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए ॥ ५६ ॥ गृहस्थ को चाहिए, कि जो अपने अधीन (गो, दासी व दास-आदि) हो, पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वय भोजन करे और शारीरिक अवसर (भोजनादि) मे स्वय यत्न करना चाहिए ॥ ५७ ॥ त्रसजीवो की राशिरूप अचार, पानक, धान्य, पुष्प, मूल, फल, पत्ता, जो कि जीवो की योनि (उत्पत्तिस्थान) है, ग्रहण नही करना चाहिए (भक्षण नही करना चाहिए) तथा कीडो से खाई हुई घुनी वस्तु को भी उपयोग मे नही लानी चाहिए ॥ ५८ ॥ आचार शास्त्र मे कोई वस्तु (जीव-योनि होने से) अकेली त्याज्य कही है, कोई वस्तु किसी के साथ सयुक्त (मिल जाने) से त्याज्य हो जाती है। कोई पदार्थ निरपवाद होने से त्याज्य होता है, अर्थात्—कोई वस्तु सर्वदा त्याज्य होती है। कोई वस्तु अमुक देश (स्थान) के आश्रय हो जाने से त्याज्य हो जाती है। कोई अमुक काल (चन्द्रग्रहण व वर्षाकाल-आदि) का आश्रय पाने से त्याज्य होती है एव कोई पदार्थ अमुक दशा (अवस्था) का आश्रय हो जाने से त्याज्य होता है। परन्तु ये बाते पिण्ड शुद्धि-आदि शास्त्रो से विस्तार पूर्वक जानने के लिए शक्य है ॥ ५९ ॥

अहिसा की रक्षार्थ दूसरे आवश्यक कर्तव्य—जिसके मध्य बहुत से छिद्र हो, ऐसी कमल-डडी-आदि शाके नही खानी चाहिए, क्योकि उनमे आगन्तुक त्रसजीव होते है और जो अनतकाय है, जैसे—लताएँ,

---

१ मासरुधिरादीना। २ श्व-रज स्वलादीनाम्। ३. इद मासमिद रुधिर इत्याशय। ४ मृतजीवजन्त्वादिभिरशुद्धता। ५ प्रत्याख्यातान्नसेवनात् या परिहृताभ्यवहरण। ६ भोजनविघ्ना या भोजनान्तराया। ७ त्यागाय। ८ व्रतबीज-वृत्तय। ९. गोदासीदासादिषु। १० केवल। ११ सयुक्त। १२ निरपवाद। १३ देशाश्रय कालाश्रय अवस्थाश्रय च, एतच्च देशान्तर पिण्डशुद्ध्यादिशास्त्रेभ्यो विस्तारेण प्रतिपत्तव्य। १४ किंचित् त्याज्यमपि वस्तु वर्तते। १५ अखण्डा। १६ गुडूच्यादि। १७ सूरणादि। १८ द्विखण्ड। १९ 'माषमुद्गादि' टि० ख०, 'माषमुद्गचणकादिधान्य' प०। २० जीर्णता प्राप्त द्विदल, नवीन कदाचिच्चणकादिक अखण्डमपि प्राश्य। २१ फलय। २२ अखण्डिता। २३ 'रद्धा' पं०, 'राद्धा अपि' टि० ख०, 'रद्धा' टि० च०। * 'सकलाश्रया' इति क०।

तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रह । वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥ ६२ ॥
शोकसतापसक्रन्द[1]परिदेवनदु खधी । भवन्स्वपरयोजन्तुरसद्वेद्याय जायते ॥ ६३ ॥
कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते । जीवो जायेत चारित्रमोहस्यासौ समाश्रय ॥ ६४ ॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम् । सत्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥ ६५ ॥
कायेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि । अदु खजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदा मता ॥ ६६ ॥
तपोगुणाधिके पुसि प्रश्रयाश्रयनिर्भर । जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषा मत ॥ ६७ ॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धि कारुण्य करुणात्मनाम् । हर्षामर्षोज्झिता[2] वृत्तिर्माध्यस्थ्य निर्गुणात्मनि ॥ ६८ ॥
इत्थ प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिन । करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम्[3] ॥ ६९ ॥
पुण्य तेजोमय प्राहु प्राहु पाप तमोमयम् । तत्पाप पुसि कि तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥ ७० ॥
सा क्रिया कापि नास्तीह यस्या हिंसा न विद्यते । विशिष्येते पर भावावत्र [4]मुख्यानुषङ्गिकौ ॥ ७१ ॥

गुडूची (गुरवेल) और सूरण-आदि कन्द भी भक्षण नही करना चाहिए ॥ ६० ॥ पुराने (प्राय जीर्ण हुए) मूँग, उडद और चना-आदि को दलने के बाद ही खाना चाहिए। बिना दले हुए मूँग व सारा उडद-आदि नही खाना चाहिए और अखण्डित (पूरी) समस्त फलियाँ राँधी हुई या बिना राँधी हुई (कच्ची) नही खानी चाहिए, क्योकि उनमे त्रसजीवो का वास होता है। उन्हे खोलकर शोधने के बाद ही राँधकर ही या बिना राँधे खानी चाहिए ॥ ६१ ॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है, वहाँ अहिसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मानव मे दयालुता नही होती ॥ ६२ ॥ जो मानव स्वय शोक करता है तथा दूसरो को शोक उत्पन्न करने मे कारण होता है। स्वय सन्ताप करता है तथा दूसरो को सन्तापित करता है, स्वय रोता है और दूसरो को रुलाता है और जो स्वय दु खी होता है और दूसरो को दु खी करता है, उसे असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥ ६३ ॥ जिसके कषाय के उदय से अत्यन्त सक्लिष्ट परिणाम होते है, वह प्राणी चारित्र-मोहनीय कर्म का बध करता है ॥ ६४ ॥

मैत्री प्रमोद व कारुण्यादि भावनाओ का स्वरूप—समस्त जीवो मे मैत्री भाव का चिंतवन करना चाहिए। जो ज्ञानादि गुणो मे विशिष्ट हो, उनके प्रति प्रमोद भाव का चिन्तवन करना चाहिए। दु खी जीवो के प्रति करुणा भाव रखना चाहिए और गुणो से हीन (असभ्य व उद्धत) पुरुषो के प्रति माध्यस्थ्य भाव का चिंतवन करना चाहिए ॥ ६५ ॥ मैत्रीभावना के ज्ञाताओ ने दूसरे समस्त प्राणियो के प्रति मन, वचन व काय से दु ख उत्पन्न न करने की इच्छा-युक्त वृत्ति को मैत्री भावना स्वीकार की है ॥६६॥ तप व ज्ञानादि गुणो से विशिष्ट पुरुष को देखकर जो विनय के आधार से पूर्ण हार्दिक प्रेम उमडता है, उसे विद्वानो ने 'प्रमोद' कहा है ॥ ६७ ॥

दीन (दु खी) पुरुषो की दरिद्रता व रोगादि पीडा के दूर करने की बुद्धि को 'कारुण्य' कहते है और गुणो से शून्य मिथ्यादृष्टि असभ्यो के प्रति रागद्वेष न करने की वृत्ति को 'माध्यस्थ्य' कहते है ॥ ६८ ॥ इस प्रकार यत्नशील पुरुष को गृहस्थ हो करके भी स्वर्ग सुख हाथ मे स्थित रहता है और उसे मोक्ष भी दूर नही है ॥ ६९ ॥ शास्त्रकारो ने पुण्य को प्रकाशरूप और पाप को अन्धकार रूप कहा है, अत जिसके हृदय मे दयारूपी सूर्य का प्रकाश हो रहा है, उसमे क्या अन्धकार रूप पाप ठहर सकता है ? ॥ ७० ॥ लोक मे ऐसी कोई क्रिया नही है, जिसमे हिंसा नही होती, किन्तु हिंसा और अहिंसा मे केवल मुख्य व गौणभावो की विशे-

१ रोदन। २ त्यक्ता। ३ मोक्ष। ४ मुख्यत्वेन यदा बध क्रियते तदा महत् पाप, यदाऽकस्मात् प्रसङ्गेन कदाचिद् बधो भवति तदा स्वल्प पाप स्यादित्यर्थ ।

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् । अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ७२ ॥
कस्यचित्संनिविष्टस्य दारान्मातरमन्तरा² । वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते ॥ ७३ ॥

तदुक्तम्—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः कुशलाः । तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः ॥ ७४ ॥
—आत्मानुशासन श्लोक २३।

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया । क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत्* ॥ ७५ ॥
क्रियान्यत्र³ क्रमेण स्यात्कियत्स्वेव च वस्तुषु । जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥ ७६ ॥

तथा च लोकोक्तिः—

एकस्मिन्मनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम् । अनायासेन समान्ति भुवनानि चतुर्दश ॥ ७७ ॥

षता है। अर्थात्—जब निर्दयी मानव द्वारा मुख्यता से—संकल्पपूर्वक वध किया जाता है तब उसे महान् पापबन्ध होता है और जब उसके द्वारा प्रसङ्ग से (कृषि-आदि जीवनोपाय के उद्देश्य से) वध किया जाता है, तब उसे स्वल्प पाप होता है।

भावार्थ—पं० आशाधर ने भी कहा है, कि गृहस्थाश्रम कृषि-आदि आरम्भ के बिना नहीं होता और आरम्भ हिंसा बिना नहीं होता, अतः मानव को संकल्पी हिंसा के त्याग करने में प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ ७१ ॥ संकल्प में भेद होने से अथवा मानसिक अभिप्राय की विशेषता से धीवर मछलियों का घात न करता हुआ भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है। अर्थात्—वह 'मैं कुटुम्ब के पालन के लिए धान्य पैदा करूँगा' इस विशुद्ध चित्तवृत्ति पूर्वक कृषि में प्रवृत्त होता है, जब कि धीवर बहुत मछलियाँ मारूँगा, इस दुरभिप्राय से नदी में जाल डालता है ॥ ७२ ॥ कोई एक मनुष्य, जिसके एक पार्श्वभाग में उसकी पत्नी बैठी है और दूसरे पार्श्वभाग में उसकी माता बैठी हुई है और वह उन दोनों के बीच में बैठा है यद्यपि वह दोनों के शरीर का स्पर्श कर रहा है, उस अङ्ग-स्पर्श में कोई भेद नहीं है परन्तु उसकी मानसिक भावना में बड़ा अन्तर है। अर्थात्—वह माता के स्पर्श-काल में विशुद्ध चित्तवृत्ति के कारण पुण्यवान् है और पत्नी के स्पर्शकाल में संक्लिष्ट चित्तवृत्ति के कारण पापी—कामी है ॥ ७३ ॥

निस्सन्देह प्रवीण पुरुषों ने परिणामों को ही पुण्य-पाप का कारण कहा है, अतः शुभ परिणामों से पुण्य का संचय करते हुए पाप की हानि करनी चाहिए ॥ ७४ ॥ मन के निमित्त से ही काय व वचन की क्रिया भी शुभ और अशुभ का आश्रय करती है। मन की शक्ति अचिन्तनीय है, इसलिए मन को नियन्त्रित (काबू) व शुद्ध करने में प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ ७५ ॥ शरीर व वचन की क्रिया तो क्रमिक (क्रम से) होती है और कुछ प्रतिनियत (सीमित) स्थूल पदार्थों में ही होती है, अर्थात्—कुछ ही पदार्थों को अपना विषय बनाती है परन्तु मन की क्रिया तो क्षणभर में तीन लोक से भी महान् होती है। अर्थात्—मन एक क्षण में तीन लोक के विषय में सोच सकता है। अतः विवेकी मन को नियन्त्रित करने में सावधान होवे अन्यथा महान् पाप बन्ध होगा ॥ ७६ ॥

इस विषय में एक लोकोक्ति भी है—

उद्यमशील पुरुषों के मन के एक कोने में बिना परिश्रम के चौदह लोक समा जाते हैं, अर्थात्—मन की

---

१ एकस्मिन् पार्श्वे दारान् एकत्र मातरं एतयोर्मध्ये उपविष्टस्य स्पर्शे विशेषो न परन्तु मनसि विशेषोऽस्ति। २ मध्ये।
* ह० लि० क०, ख०, ग०, घ०, प्रतियों से संकलित—सम्पादक। ३ काये वचसि च।

भूपय पवनाग्नीना तृणादीना च हिसनम् । यावत्प्रयोजन स्वस्य तावत्कुर्यादजतु[1] यत् ॥ ७८ ॥
ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोक प्रवर्तताम् । गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरु ॥ ७९ ॥
दर्पेण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने । प्रायश्चित्तविधि कुर्याद्यथादोष यथागमम् ॥ ८० ॥
प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत् । एतच्छुद्धिकर कर्म प्रायश्चित्त प्रचक्षते ॥ ८१ ॥
द्वादशाङ्गधरोऽप्येको[2] न *कृच्छ्[3] दातुमर्हति । तस्माद्बहुश्रुता प्राज्ञा प्रायश्चित्तप्रदा स्मृता ॥ ८२ ॥
मनसा कर्मणा वाचा यद्दुष्कृतमुपार्जितम् । मनसा कर्मणा वाचा तत्तथैव विहापयेत्[4] ॥ ८३ ॥

अचिन्त्य शक्ति है उससे चौदह लोक जाने जाते है ॥ ७७ ॥ पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक एव घास-आदि वनस्पतिकायिक इन पाँच स्थावर—एकेन्द्रिय जीवो की विराधना उतनी ही करनी चाहिए, जितने से अपना प्रयोजन सिद्ध हो एव जिस स्थान मे दो-इन्द्रिय-आदि त्रसजीव नही है, उस स्थान से उक्त पृथिवी व जल-आदि अपने प्रयोजन के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ॥७८॥ ग्राम-कार्य (ग्राम-सेवा-आदि), स्वामि-कार्य व निजी कार्यो (कुटुम्ब-सरक्षण व परोपकार-आदि) मे लोकरीति के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। क्योकि इन कार्यो के गुण-दोषो का पृथक्-पृथक् बोध कराने मे लोक ही गुरु है। अर्थात्-लौकिक कार्यो को लोकरीति के अनुसार ही करना चाहिए ॥ ७९ ॥

प्रायश्चित्त का विधान

मद से अथवा कषाय से दो इन्द्रिय-आदि त्रस जीवो का घात हो जाने पर अपने दोष के अनुकूल प्रायश्चित्त शास्त्र का अनुसरण करके प्रायश्चित्त विधि करनी चाहिए ॥ ८० ॥ 'प्राय' शब्द का अर्थ साधुलोक है और उसके मन को चित्त कहते है, अत साधुलोक की मानसिक शुद्धि करनेवाले प्रशस्त कार्यो (उपवास-आदि तपो) को आचार्य प्रायश्चित्त कहते है।

भावार्थ—प्रायश्चित्त करने से अपराधी जन की मानसिक शुद्धि होती है और दूसरे साधर्मी जनो का मन भी सन्तुष्ट हो जाता है। इसके ग्रहण करने से पुन अकार्य (असयम) मे प्रवृत्ति नही होती और जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का पालन भी होता है, इत्यादि अनेक लाभ होते है ॥ ८१ ॥

प्रायश्चित्त-प्रदान का अधिकार

आचाराङ्ग-आदि द्वादशाङ्ग श्रुत का धारक भी एक गुरु प्रायश्चित्त देने मे समर्थ नही है, क्योकि अकेला एक विद्वान्, देश व काल-आदि समस्त अवस्थाओ के विचार करने मे समर्थ नही हो सकता। टिप्पणीकार ने भी लिखा है—'आचार्य को गृहस्थ श्रावको को प्रायश्चित्त देने के अवसर पर बहुत से विद्वानो को साक्षी करना चाहिए।' अत आगम मे बहुश्रुत अनेक विद्वान् प्रायश्चित्त देने के अधिकारी माने गए है। अर्थात्—आचार्य, साधुजनो-आदि के लिए प्रायश्चित्त देने के अवसर पर देश व कालादि का विचार करने के लिए बहुश्रुत विद्वान् साधुओ को भी नियुक्त करे ॥ ८२ ॥

पाप के त्याग की अमोघ रामबाण औषधि

[इस मानव ने] अशुभ मन, वचन व काययोग द्वारा जो पाप-सचय किये हैं, उन्हे उसके विपरीत शुभ मन, वचन व काययोग द्वारा त्याग करना चाहिए।

---

१ यत्र स्थाने त्रसा न सन्ति तस्मात् स्थानाद् गृहीतव्य। २ किन्तु गृहिणा दडदाने बहव साक्षिण कर्तव्या।
* 'कृत्स्न' क०, 'कृच्छ्' च०। ३ समग्र प्रायश्चित्त। ४ त्यजेत्।

आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदा मत । मनोवाक्कायतस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रय ॥ ८४ ॥
हिसनाब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभ विदु । असत्यासभ्यपरुष्यप्राय वचनगोचरम् ॥ ८५ ॥
[1]मदेर्ष्यासूयनादि[2] स्यान्मनोव्यापारसश्रयम । [3]एतद्विपर्ययाज्ज्ञेय शुभमेतेषु तत्पुन ॥ ८६ ॥
हिरण्यपशुभूमीना कन्याशय्यान्नवाससाम् । दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पापमुपशाम्यति ॥ ८७ ॥
लङ्घनौषधसाध्याना व्याधीना बाह्यको विधि । यथाकिंचित्करो लोके तथा पापेऽपि मन्यताम् ॥ ८८ ॥
निहत्य निखिल पाप मनोवाग्देहदण्डनै । करोतु सकल कर्म दानपूजादिक तत ॥ ८९ ॥

भावार्थ—प्राय विवेक-हीन मानव मानसिक असयम (मद, ईर्षा व अनिष्ट-चिन्तवन-आदि) और वाचनिक असयम (असत्य, असभ्य व मर्म-वेधक वचन बोलना) और कायिक असयम (हिंसा, कुशील व चोरी-आदि) द्वारा जो पाप-सचय कर चुका है, तो इसका कर्त्तव्य है कि इसके विपरीत मानसिक सयम (अहिंसा, मार्दव-आदि) व वाचनिक सयम (हित, मित व प्रिय भाषण-आदि) और कायिक सयम (अहिंसा, अचौर्य व ब्रह्मचर्य-आदि) द्वारा पापो का त्याग करे।

विमर्श—यहाँ पर श्लोक मे 'विहापयेत्' का अथ टिप्पणीकार ने 'त्यजेत् किया है उसी अर्थ का अनुकरण हमने भी किया है। आगे के श्लोको से यही अर्थ ठीक मालूम पडता है ॥ ८३ ॥

योग का स्वरूप और भेद—

योग वेत्ता आचार्यो ने मन, वचन व काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशो के सकम्प होने को योग माना है। उसके तीन भेद है—मनोयोग, वचनयोग व काययोग। मन के निमित्त से आत्म-प्रदेशो का सकम्प होना मनोयोग है। वचन के निमित्त से आत्म-प्रदेशो का सकम्प होना वचन योग है और काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशो का सकम्प होना काययोग है। उक्त तीनो प्रकार का योग पुण्य व पाप कर्मो के आस्रव (आगमन) का कारण है। अर्थात्—शुभ मन, वचन व काययोग पुण्य कर्म के आस्रव का कारण है और अशुभ मन, वचन व काययोग पाप कर्म के आस्रव का कारण है ॥ ८४ ॥ आचार्य जानते है कि प्राणियो को हिंसा करना, कुशील-सेवन करना व चोरी करना अशुभ काययोग है और असत्य, असभ्य और दूसरो के मम-भेदक अप्रिय एव कठोरप्राय वचन बोलना अशुभ वचनयोग है ॥ ८५ ॥ विद्वत्ता व पूजादि का घमण्ड करना, (अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से काम वासना से उत्पन्न हुआ कोप,) ईर्ष्या (धर्म द्वेष) करना, असूया (दूसरो के गुणो मे भी दोषारोपण करना) आदि विकृत मनोवृत्ति के व्यापार के आश्रयवाला अशुभ मनोयोग जानना चाहिए और इनसे विपरीत अहिंसा व मार्दव-आदि शुभ मनोयोग समझना चाहिए ॥ ८६ ॥

पापो से बचने का उपाय

सुवर्ण, पशु, पृथिवी, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओ के दान देने से पाप शान्त नही होता ॥ ८७ ॥ जिस प्रकार लोक मे लङ्घन और औषधि द्वारा नष्ट होने वाले रोगो को नष्ट करने के लिऐ केवल वाह्य उपचार व्यर्थ होता है उसी प्रकार पाप के विषय मे भी मानना चाहिए। अर्थात्—मन, वचन व काय को वश मे किये विना केवल वाह्य वस्तुओ के त्याग कर देने मात्र से पापरूपी रोग शान्त नही होता ॥ ८८ ॥ इसलिए मन, वचन व काय के निग्रह द्वारा समस्त पाप नष्ट करके पश्चात् दान और पूजा-आदि सर्व शुभ कार्य करो ॥ ८९ ॥

---

१ कामज कोप धर्मद्वेष । २ दोषारोपो गुणेष्वपि । ३ एतेषा विपर्ययात् अहिंसाब्रह्मास्तेयादिशुभपरिणामै ।

आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रिय । सस्मृत्य गुरुनामानि कुर्यान्निद्रादिक विधिम् ॥ ९० ॥
दैवादायुर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफल महत् । [1]भोगशून्यमत काल [2]नावहेदव्रत व्रती ॥ ९१ ॥
एका जीवदयैकत्र परत्र सकला क्रिया । पर फल तु पूर्वत्र[3] [4]कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥ ९२ ॥
आयुष्मान्सुभग श्रीमान्सुरूप कीर्तिमान्नर । अहिसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥ ९३ ॥

श्रूयतामत्राहिसाफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिदेशेषु सकललोकमनोहरागमारामे[5] शिरीषग्रामे मृगसेनाभिधानो मत्स्यबन्ध स्कन्धावलम्बितगलजालाद्युपकरण [6]पृथुरोमसमानयनो[7]पनीतविहरण कल्लोलजलप्लावितकूलशालेयमालवप्रा[8] सिप्रा सरितमनुसरन्नशेषमहर्षिपरिषद्वर्यमखिलमहाभागभूपतिकल्पितसपर्य *मिथ्यात्वविरहितधर्मचर्य[9] श्रीयशोधराचार्यं निचाय्य[10] समासन्नसुकृतासाद्यहृदयत्वाद्दूरादेव परित्यक्तपापसपादनोपकरणग्राम [11]

शयन के पहिले के कर्तव्य

'जब तक मेरी पचेन्द्रियो के विषयो मे प्रवृत्ति नही हुई तब तक के लिए मेरे सब का त्याग है' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए फिर पचनमस्कार मत्र का स्मरण करके निद्रा आदि लेनी चाहिए ॥ ९० ॥ क्योकि दैव-वश यदि आयु क्षीण हो जाय तो त्याग से विशेष लाभ होता हे, अत व्रती का कर्तव्य है, जिस काल मे वह भोग न करता हो, उस काल को विना व्रत के न जाने दे। अर्थात्—उतने समय के लिए उसे भोग का व्रत ले लेना चाहिए। टिप्पणीकार ने भी लिखा है कि 'निद्रादि लेते समय भोग-शून्यता रहती ही है, अत नियम लिये बिना काल व्यतीत न करे' ॥ ९१ ॥ अकेली जीवदया एक ओर है और बाकी की समस्त धार्मिक क्रियाएँ दूसरी ओर है। अर्थात् अन्य समस्त क्रियाओ से जीवदया श्रेष्ठ है। अन्य समस्त धार्मिक क्रियाओ का फल खेती करने सरीखा (भविष्य कालीन) है और जीवदया का फल चिन्तामणि रत्न की तरह है, अर्थात्—चाही हुई चिन्तित वस्तु तत्काल देता है ॥ ९२ ॥ केवल अहिसा व्रत के प्रभाव से ही दयालु मानव दीर्घायु, भाग्यशाली, लक्ष्मीवान्, सुन्दर व यशस्वी होता है ॥ ९३ ॥

अहिसा व्रत के पालक मृगसेन धीवर की कथा

अब अहिसा व्रत के फल के सबध मे एक कथा सुनिए—

अवन्ति देश के शिरीष नामक ग्राम मे, जहाँ के उद्यानो मे सभी जन समूह आनन्द पूर्वक विचरते है, मृगसेन नाम का धीवर रहता था। एक दिन वह कँधे पर लटकाए हुए मछलियो के फँसाने के काँटे व जाल-आदि साधनो को लेकर मछली लाने के लिए विचरता हुआ ऐसी सिप्रा नदी की ओर चला, जो कि अपनी तरङ्गो के जल प्रवाह द्वारा तटवर्ती वृक्षश्रेणी को और खेतो को डुबो रही थी।

मार्ग मे उसने श्रीयशोधर आचार्य के दर्शन किये, जो कि समस्त मुनियो को सभा मे श्रेष्ठ थे और समस्त भाग्यशाली राजाओ द्वारा पूजित थे और मिथ्यात्व से रहित (सम्यग्दर्शन-पूर्वक) धर्म का आचरण करनेवाले थे।

---

१ निद्रादिक कुर्वता भोगस्य शून्यता स्यात्तेन नियम विना काल न गमयेत्। २ न निर्गमन कुर्यात्। ३ दयाया। ४ अन्यासा क्रियाणा फल कृषिवत्, दयायास्तु चिन्तामणिवत्। ५ मनोहर आगम – आगमन यत्र आरामेषु। ६ पृथुरोमा, शकुली, वैसारिण, अषडक्षीण, पाठीनश्च मत्स्य। ७ कृत। ८ वृक्षश्रेणितटा। * 'इच्छाविहारविहितवर्त्मचर्य' अथवा 'धर्मचर्य' इति क०। ९ मिथ्यात्वेन विरहिता धर्मचर्या—चारित्र यस्य स त। १० अवलोक्य—दृष्टवा। ११ समूह।

ससभ्रम[1] सपादितदीर्घप्रणाम प्रकाम प्रगलदेना समाहितमना 'साधुसमाजसत्तम,[2] समस्तमहामुनिजनोत्तम, देवादुपपन्नपुण्यगृह्यभावोऽनुगृह्यता कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेनाय जन' इत्यभाषत। भगवान्—'ननु कथमस्य पय पतङ्गस्येव[3] सदैव [4]शकुलिविनाशनि शूकाशयवशस्य[5] व्रतग्रहणोपदेशे प्रवीणमन्त करणमभूत्। अस्ति हि लोके प्रवाद, न खलु प्रायेण प्राणिना प्रकृतेर्विकृतिरायत्या[6] शुभमशुभ वा विना भवति' इत्युपश्रुत्यावधि सम्यगवबुद्ध[7]सविधैतत्[8]विनावधिस्तमेवमवादीत्—'अहो शुभाशयायतन अद्यतनाह्नि दस्तवादावे[9]दानाये[9] मीन समापतति स त्वया न प्रमापयितव्य[10]। यावच्चात्मवृत्तिविषय[11]मामिष न प्राप्नोषि तावत्तव तन्निवृत्ति[12]। अयपुन पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रो मन्त्र सवदा सुस्थितेन दु स्थितेन च त्वया ध्यातव्य' इति। मृगसेन—'यथादिशति बहुमानस्तथास्तु' इत्यभिनिविश्य[13] ता शैवलिनीमनुसृत्य जनितजालक्षेपोऽ[14][15]कालक्षेपमतनुकरण[16]वैसारिण[17]मासाद्य स्मृतव्रतस्तस्य[18] श्रवसि[19] चिह्नाय[20] चीरचीरी[21] निबध्यात्याक्षीत्[22]। पुनरपरावकाशे[23] तीरिणीप्रदेशे तथैवादूरतरशर्मा समाचरितकर्मा तमेवाषडक्षीण-[24]मक्षीणायुषमवाप्यामुञ्चत। तदेवमेतस्मिन्ननणिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पञ्चकृत्वो लग्ने विपदमग्ने मुच्यमाने सति, अस्त-

---

उस धीवर का हृदय निकट मे पुण्य प्राप्त करने योग्य था, इसलिये उसने पापार्जन मे सहायक जाल-आदि उपकरण-समूह दूर स्थान पर छोड दिये और आचार्य श्री के पास पहुँचा और उन्हे सादर साष्टाङ्ग नमस्कार किया, उस समय उसके पाप विशेषरूप से गल रहे थे और उसकी चित्तवृत्ति भी एकाग्र थी।

फिर उसने कहा—'हे साधु-समाज मे श्रेष्ठ और समस्त महामुनियो म उत्तम मुनिराज! आज भाग्य से ही पुण्य-सचय का यह अवसर प्राप्त हुआ ह, अत मेरे लिए कोई व्रत देकर अनुगृहीत कीजिए।'

यह सुनकर मुनिराज ने सोचा— निस्सन्देह बगुला-सरीखे निरन्तर मछलियो का घात करने मे निर्दयी चित्त वाले इस धीवर का मन व्रत-ग्रहण के कहने मे कैसे निपुण हुआ ? निस्सन्देह लोक मे ऐसी जनश्रुति है, कि प्राय प्राणियो की प्रकृति (स्वभाव) उत्तरकाल मे होनेवाले हित अहित के बिना नही पलटती' यह सोचकर उन्होने अवधिज्ञान का उपयोग कर उसे अल्पायु निश्चय करते हुए कहा—'हे शुभ मनोवृत्ति के आश्रय! आज जो पहली मछली तुम्हारे जाल मे फँस जाय, उसे तुम नही मारना और जब तक तुम्हे अपनी जीविका रूप मास प्राप्त न हो, तब तक के लिए तुम्हारे मास का त्याग है और यह पैंतीस अक्षरो का पवित्र पच नमस्कार मन्त्र है, इसका निरन्तर सुखी व दु खी अवस्था मे ध्यान करो।'

मृगसेन ने 'पूज्य की जो आज्ञा' ऐसा अभिप्राय करके व्रत ग्रहण कर लिए और सिप्रा नदी पर पहुँच कर जाल डाल कर शीघ्र वृहत्काय (बडी) मछली पकड ली। उसने अपने व्रत को स्मरण करके पहचान के लिए उस मछली के कान मे कपडे की धज्जी बाधकर जल मे जीवित छोड दिया। फिर निकट मे सुख को प्राप्त होने वाले उसने दूसरे स्थान से नदी मे जाल-विक्षेप-आदि कार्य किया। किन्तु वही मछली जाल मे फिर आकर फँस गई, अत उसने उसे फिर जीवित छोड दिया और जब वही मछलियो मे श्रेष्ठ वृहत्कायवाली महामछली उसके जाल मे पाँच बार फँसकर आपत्ति मे फँसी तो भी उसने उसे जीवित जल मे छोड दिया।

---

१ सादर। २ हे मुने!। ३ वकस्य। ४ मत्स्यविनाशे। ५ निर्दयस्य। ६ उत्तरकाले। ७ समीप। ८ प्रथमत। ९ जाले। १० न मारणीय। ११ स्वकरमानीत। १२ मासस्य नियम। १३ अभिप्राय कृत्वा। १४ सिप्रा नदी। १५ शीघ्र। १६ वृहच्छरीर। १७ मत्स्य। १८ मत्स्यस्य। १९ कर्णे। २० अभिज्ञानाय। २१ वस्त्रं। २२ त्यजति स्म। २३ स्थाने। २४ मत्स्य।

[1]मस्तकमध्यास्त[2] घनघुसृणरसारुणितवरुणपुरपुरन्ध्रीकपोलकान्तिशाली गभस्तिमाली। तदनु त गृहीतव्रतापरित्यागमोदमानचेतन मृगसेनमधार्मिकलोकव्यतिरिक्त[3] रिक्तमागच्छन्त परिच्छिद्य,[4] अतुच्छकोपापरिहार्या तद्भार्या घण्टाख्या यमघण्टेव किमपि कर्णकटु क्वणन्ती कुटीरान्त श्रितशरीरा [5]निर्विवरमरर[6] प्रदायास्थात्।

मृगसेनोऽपि तया निरुद्धवेश्मप्रवेशनस्तन्मन्त्र[7]स्मरणसक्तचित्त [8]पुराणतरतरुभित्त[9]मुच्छीर्षे निधाय सान्द्र [10]निद्रायन्नेतत्तरुभित्ताभ्यन्तरविनि सृतेन सरीसृपसुतेन[11] दष्ट कष्टमवस्थान्तरमाविष्टो[12]व्युष्टसमये[13] घण्टया दृष्ट। पुनरनेन सार्धमुष[14]र्बुधमध्यानुगमोचितनिश्चययात्मनि विहितबहुनिन्दया शोचितश्च। तत सा 'यदेवास्य व्रत तदेव ममापि। जन्मान्तरे चायमेव मे पति' इत्यावेदितनिदाना समित्समिद्धमहसि [15]द्रविणोदसि हव्यसमस्नेह[16] देह जुहाव[17]।

अथ विलासिनीविलोचनोत्पलपुनरुक्तबन्दनमालाया[18] विशालाया पुरि विश्वगुणामहादेवीश्वरो विश्वभरो विश्वभरो नाम नृपति। धनश्रीपति पिता च दुहितु[19] सुबन्धोर्गुणपालो नाम श्रेष्ठी। तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपालिकायामेतस्या [20]कुलपालिकायामनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वाया[21] सत्याम, असौ वसुधापति विटकथासमृष्टतया [22]प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभावो नर्मभर्मनाम्नो नमसचिवस्य सुताय नर्मधर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनमखिल-

---

इतने मे ऐसा सूर्य अस्ताचल पर्वत पर आश्रित हुआ—अस्त हो गया। जिसने घने कुड्कुम रस से वरुणपुर की स्त्रियो की गालो की कान्ति लालिमा-युक्त-की है।

इसके पश्चात् स्वीकार किए हुए व्रत का पालन करने से प्रसन्न चित्त होकर खाली हाथ लौटे हुए धार्मिक मृगसेन को आते हुए जानकर उसकी पत्नी घष्टा उसपर विशेष कुपित हुई और यमराज की घण्टा-सरीखी कर्ण-कटु गाली-गलौज बकती हुई अपनी झोपडी मे चली गई ओर अन्दर से किवाड निश्छिद्र (बन्द) करके बैठ गई।

पत्नी द्वारा गृह मे प्रवेश रोका हुआ मृगसेन भी पच नमस्कार मन्त्र के स्मरण करने मे सलग्न चित्त हुआ और एक जीर्ण वृक्ष के खण्ड को तकिया बनाकर मस्तक के नीचे रखकर गाढ निद्रा ले रहा था, कि इतने मे उस वृक्ष की जड के भीतरी भाग से निकले हुए साँप के बच्चे ने उसे डस लिया, जिसके कारण विशेष कष्ट अवस्था मे प्रविष्ट हुआ—मर गया। प्रभात होने पर जब उसकी घष्टा नाम की स्त्री ने उसे मरा देखा तब उसने अपनी विशेष निन्दा करके विशेष शोकाकुल होकर इसी के साथ अग्नि मे जल जाने का निश्चय किया तथा उसने निदान किया, कि 'जो इसका व्रत था वही मेरा भी है और दूसरे जन्म मे भी यही मेरा पति हो'। उसके बाद उसने ईंधन से प्रज्वलित कान्तिवाली चिता की अग्नि मे घी-सरीखी चिकनी अपनी देह की आहुति दे दी—अपनी देह होम दी।

वेश्याओ के नेत्ररूपी कमलो के द्वारा दुगुनी हुई तोरण-पक्तिवाली उज्जयिनी नगरी मे 'विश्वगुणा' नाम की पट्टरानी का स्वामी और विश्व का पालक 'विश्वम्भर' नाम का राजा था। वही पर गुणपाल नाम का सेठ था। उसकी धनश्री नाम की प्रिया थी और सुबन्धु नाम की पुत्री थी। जब गुणपाल के मनोरथरूपी पथिक के लिए प्रीतिरूपी प्याऊ-सी उसकी पत्नी इस मृगसेन धीवर के आये हुए जीव से गर्भवती हुई तब वहाँ के

---

१ अस्तपर्वत। २ आश्रित। ३ पृथग्भूत। ४ ज्ञात्वा। ५ निश्छिद्र। ६ कपाट। ७ पचनमस्कार। ८ ९. पुराणतरु—जीर्णवृक्षखण्ड काष्ठ। १० निद्रा कुर्वन्। ११ सर्पेण। १२ प्रविष्ट। १३ प्रभाते। १४. अग्नि। १५ अग्नौ। १६ घृतवच्चिक्कण। १७ आहुतीचकार। १८ तोरण। १९ सुबन्धुपुत्री-तात। २० कुलभार्याया। २१ गर्भिण्या। २२ भाण्डादिरतो नृप।

कलाकलापालकृतरूपसमन्विता सुतामयाचत । श्रेष्ठी दुष्प्रज्ञेन राज्ञा तथा याचित 'यदि नर्मसचिवसुताय सुता वितरामि[1] तदावश्य कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च । अथ [2]स्वामिशासनमतिक्रम्यात्रैवासे तदा सर्वस्वापहार प्राणसहारश्च' इति निश्चित्य प्रियसुहृद श्रीदत्तस्य वणिक्पतेर्निकेतने समणिमेखलकलत्र[4] कलत्र[5]मवस्थाप्य [6]स्वापतेयसार दुहितर चात्मसात्कृत्य सुलभकेलिवनवना[7]शयनिवेश कौशाम्बीदेशमयासीत् ।

अत्रान्तरे [8]श्रीमद्दरिद्रमन्दिरनिर्विशेषमाचरितचर्यापर्यटनौ शिवगुप्तमुनिगुप्तनामानौ मुनी श्रीदत्तप्रतिवेश[9]निवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रहौ[10] कृतोपचारविग्रहौ च तामङ्गणाश्रया धनश्रियमपश्यताम् । तत्र मुनिगुप्तभगवान्किल केवलखलिस्नानपरुषवपुषमुद्गमनी[11]यसगताङ्गाभोगत्विषमवैधव्यचिह्नदवर [12]दवरकमात्रालकरणमुषमाप्तकान्तापत्यपरिजनविरहदेहसादा गर्भगौरवखेदा च शिशिराजस्रवा[13]स्रवशवर्तिनी स्थलकमलिनीमिव म्लिनच्छविमुदवसि[14]तपरिसरे[15] परगृहवासविशीर्यमा[16]णमुखश्रिय धनश्रिय निध्याय[17] 'अहो, महीयसा खलु [18]एनसामावास कोऽप्यस्या कुक्षौ महापुरुषोऽवतीर्ण, येनावतीर्णमात्रेणापि [19]दुष्पुत्रेणेय वराकी इयदावेशा दशामशिश्रयत्' इत्यभाषत ।

राजा विश्वम्भर को विटो के साथ वार्तालाप करने मे शामिल होने के कारण भाण्डजन बहुत प्रिय थे । अत उसने नर्मभर्म नाम के विदूषक के पुत्र नर्मधर्म के लिए गुणपाल सेठ से समस्त कलाओ की श्रेणी मे अलङ्कृत व सर्वाङ्ग सुन्दरी पुत्री की याचना की । दुर्बुद्धि राजा की इस माँग से गुणपाल ने निश्चय किया—'यदि विदूषक के पुत्र को कन्या देता हूँ तो अवश्य कुल-परम्परा का उल्लङ्घन होता है एव अपकीर्ति भी फैलती है और यदि स्वामी की आज्ञा को उल्लङ्घन करके भी यहाँ स्थित रहता हूँ तो सर्वस्व अपहरण के साथ-साथ प्राण भी जाते है ।' ऐसा निश्चय करके रत्नजटित करधोनी से अलङ्कृत जङ्घाओ वाली अपनी पत्नी को तो अपने प्रिय मित्र श्रीदत्त सेठ के यहाँ रक्खी और सार सम्पत्ति-सी अपनी पुत्री को अपने अधीन करके (साथ लेकर) क्रीडावनो व जलाशयो की स्थानीभूत 'कौशाम्बी' देश की ओर प्रस्थान किया ।'

इसी बीच मे धनाढ्य और निर्धनो के गृहो मे समान चित्तवृत्तिपूर्वक (भेद न रखते हुए) आहारचर्या के लिए विहार करनेवाले शिवगुप्त व मुनिगुप्त नामके दो मुनिराजो ने श्रीदत्त के आगन मे बैठी हुई धनश्री को देखा, जिनका पडगाहना श्रीदत्त के निकट रहनेवाले (पडोसी) श्रावक द्वारा यथाविधि किया गया था, एव जिनकी शारीरिक सेवा-शुश्रूषा की गई थी ।

उनमे से मुनिगुप्त मुनि ने ऐसी धनश्री को देखकर कहा,—जिसका शरीर तैल के बिना स्नान करने से रूक्ष था । जिसके शारीरिक अङ्गो की विस्तृत कान्ति शुक्ल वस्त्र से सुशोभित थी । जो सौभाग्य-सूचक मङ्गलसूत्रमात्र आभूषण को प्रीतिपूर्वक धारण कर रही थी । जिसका शरीर हितैषी जन, पति, पुत्री एव परिजनो के वियोग मे कृश हो गया था । जो गर्भ के भार से खेद-खिन्न थी और जिसकी कान्ति उस प्रकार म्लान थी जिस प्रकार शीत ऋतु सबधी दिवसो के निरन्तर आने से स्थल कमलिनी की कान्ति म्लान होती है । एव जो गृहाङ्गण मे स्थित थी और जिसकी मुखश्री दूसरे के गृह मे रहने से म्लान हो रही थी ।

'अहो आश्चर्य है कि निस्सन्देह इसकी कुक्षि मे ऐसा कोई महान् पापो का स्थान (बडा पापी)

१ चेद्ददामि । २ राजादेश । ३ तिष्ठामि । ४. जघन यस्या । ५ भार्या, कलत्र जघन भार्या चेति पञ्जिकाकार । ६ धन । ७ जलाशय । ८ सधननिर्धनगृहसमचित्तम् । ९ निकटवासिना । १० स्वीकारौ । ११ शुक्लवस्त्रयुक्ता अङ्गत्विक् यस्या । १२ दवरक दोर । १३ वास्रो वासर । १४ उदवसित गृह । १५ परिसर अङ्गण । १६. म्लायन्ती । १७ दृष्ट्वा । १८ पापाना । १९ दुष्टसुतेन ।

मुनिवृष[1] शिवगुप्त—'मुनिगुप्त, मैव भाषिष्ठा। यतो यद्यपीय श्रेष्ठिनी कानिचिद्दिनान्येवभूता सती पराधिष्ठाने[2] तिष्ठति, तथाप्येतन्नन्दनेन सकलवणिक्पतिना निरवधिशेवधीश्वरेण[3] [4]विश्वभरेश्वरसुतावरेण च भवितव्यम्' इत्यवोचत्।

एतच्च स्वकीयमन्दिरालिन्दकगत[5] श्रीदत्तो निशम्य 'न खलु प्रायेणासत्यमिदमुक्त भविष्यति महर्षे' इत्यवधार्य सूचीमुखसपवद्दुरीहितदत्तचेतोवृत्तिरासीत्। धनश्रीश्च परिप्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत। श्रीदत्त—[6]'चित्रभानुरिवायमाश्रयाश[7] खलु वालिश। [8]तदसजातस्नेहायामेवास्य जनन्यामुपाशुदण्ड[9] श्रेयान्' इति परामृश्य प्रसूतिदु खेनातुच्छमूर्छापाश्रया[10] धनश्रियमाकलय्य निजपरिजनज[11]रतीमुखेन 'प्रमीत[12] एवाय तनय सजात' इति प्रसिद्धि विधायाकार्य चैकमाचरितोपचारप्रपञ्च[13]श्वपच[14]जिह्मब्राह्मी[15]रहस्यनिकेत कृतापायसकेतस्त[16]स्तन्यपमेतस्य[17] समर्पयामास।

सोऽपि जनगम स्वर्भानुप्रभेण[18] करेण रामरश्मिमिव[19] त स्तनधयमुपरुध्य नि शलाकावकाश[20] देशमाश्रित्य

महापुरुष आया हुआ प्रतीत होता है, जिस दुष्ट पुत्र के गर्भ मे आने मात्र से इस विचारी ने ऐसी शोचनीय दशा का आश्रय किया है।'

उक्त बात सुनकर मुनियो मे मुख्य या ज्येष्ठ 'शिवगुप्त' मुनिराज ने कहा—'मुनिगुप्त! ऐसा मत कहो, क्योकि यद्यपि यह सेठानी कुछ दिनो तक ऐसी शोचनीय दशा का अनुभव करती हुई दूसरे के गृह मे रह रही है, तथापि इसका पुत्र समस्त वणिको का स्वामी, राज-श्रेष्ठी व निस्सीम निधि का स्वामी एव विश्वम्भर राजा की राजकुमारी का वर होना चाहिए।'

अपने गृह के वाह्य द्वार पर बैठे हुए श्रीदत्त ने उक्त ऋषि की बात सुनकर 'निस्सन्देह महर्षि द्वारा कही हुई वाणी प्राय झूठी नही होती।' ऐसा निश्चय करके उसने अपनी चित्तवृत्ति को उस प्रकार दुष्ट सकल्प की ओर लगाई जिस प्रकार दृष्टि-विषवाला साँप दर्शन मात्र से दुष्ट सकल्प (डँसने) की ओर लगाता है। प्रसव के दिन समाप्त करके धनश्री ने पुत्र को जन्म दिया।

श्रीदत्त ने विचार किया—'निस्सन्देह यह बच्चा अग्नि की तरह अपने आश्रय का भक्षक है, माता का इस पर स्नेह उत्पन्न होने के पूर्व ही इसका गुप्तवध कर देना श्रेयस्कर है।' अत उसने धनश्री को प्रसूति के कष्ट से विशेष मूर्च्छा का आश्रय करनेवाली (मूर्च्छित—बेहोश) निश्चय कर अपने कुटुम्ब की एक वृद्ध स्त्री के मुख से 'बच्चा मरा ही पैदा हुआ है' ऐसी प्रसिद्धि करके कुटिल भाषा के रहस्य के स्थानीभूत हुए इपने सेवा का प्रपञ्च करनेवाले—घूसखोर एक चाण्डाल को बुलाकर वध का सकेत करते हुए उसके लिए बच्चा समर्पण कर दिया।

वह चाण्डाल भी राहु-सरीखे कृष्ण कान्ति वाले हाथ से चन्द्र-सरीखे बच्चे को आच्छादित करके

---

१ मुख्य। २ परगृहे। ३ 'स्थायिधन' टि० ख०, 'शेवधि निधि' इति पञ्जिकाकार। ४ राजकन्या-भर्ता भविता। ५ प्रधाणप्रघणालिन्दबहिर्द्वारप्रकोष्ठके। ६ अग्निवत्। ७ आश्रय अश्नातीति। ८ तस्मात् कारणात्। ९ गूढवध। १० सश्रया। ११ वृद्धा स्त्री। १२ मृत एव जनित। १३ श्वपच, जनगम, अन्त्यावसायी, दिवाकीर्तिश्च चाण्डाल। १४ कुटिला। १५ वाणी। १६ शिशु। १७ जनगमस्य। १८ राहुसदृशकृष्णेन। १९ 'चन्द्रमसमिव' टि० ख०, 'रामरश्मि हरिणकिरणश्च श्वेतभानुश्चन्द्र इति यावत्। राम सितेऽपि निर्दिष्टो हरिणश्च तथा मत इति वचनात्' इति पञ्जिकाकार। २० एकान्त।

पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव शुभशरीरभाजमेनमवेक्ष्य सजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुख सुखेन विनिधाय धाम [1]स्वकीयमटीकत ।

पुनरस्यै[2]वाधरभव[3]भगिनीपतिरशेषापणिक[4]पणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी विक्रयाडम्बरितशण्ड[5]मण्डलाधीन पीठोपकण्ठगोष्ठी[6]नमनुसृतो [7]वत्सीयविषयसनीड[8]क्रीडागतगोपालबालकलपन[9]परम्परालापाद्वत्सतर[10]-[11]तानकसतानपरिवृतमनेकचन्द्रकान्तोपलान्तरालनिलीनमरुणमणिनिधानमिव त [12]जातमुपलभ्य स्वयमदृष्टनन्दनवदनत्वा[13]त्तद्बुद्धया साध्वनुरुध्य 'स्तनधयावधानधृतबोधे राधे[14], तवाय गूढगर्भसभवस्तनूद्भव' इति प्रवर्धितप्रसिद्धिर्महान्तमपत्योत्पत्तिमहोत्सवमकार्षीत् ।

श्रीदत्त [15]श्रवणपरम्परया तमेत वृत्तान्तमुपश्रुत्याश्रित्य च शिशुविनाशनाशयेन कीनाश[16]इव तन्निवेशम्[17] 'इन्द्रदत्त, अय महाभागधेयो भागिनेयो ममैव तावद्धाम्नि वर्धताम्' इत्यभिधाय सभागिनीक [18]तोकमात्मावासमानीय पुरावत्क्रूरप्रज्ञ [19]सज्ञपनार्थमन्तावसायिने[20] प्रायच्छत । सोऽपि दिवाकीर्तिरुपात्तपुत्रभाण्ड सत्वरमुपह्वर[21]गह्वरानुसारी [22]समीरवशविगलितघनाम्बरावरण हरिणकिरणमिव[23] ईक्षणरमणीय गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदय प्रबल-

---

एकान्त स्थान मे ले गया। वहाँ पुण्य-परमाणुओ के पुञ्ज-जैसे सुन्दर शरीर-धारक इस बच्चे को देखकर इसे विशेष करुणारस उत्पन्न होने से इसका मुख प्रसन्न हो गया, अत वह जीवित बच्चे को सुख से लिटाकर अपने स्थान पर चला गया।

इसके पश्चात् श्रीदत्त का छोटा बहनोई 'इन्द्रदत्त' नामका सेठ, जो कि सभी वणिक् व्यवहार मे श्रेष्ठ था, बेचने के लिए इकट्ठे किये हुए बैलो के झुण्ड की अधीनता वाले स्थान के निकटवर्ती गोकुल मे पहुँचा और उसे ऐसा बालक प्राप्त हुआ, जो कि बछडो के लिए हितकारक प्रदेश के निकट क्रीडा करने के लिए आये हुए ग्वालो के बच्चो की मुखपरम्परा के वार्तालाप से और छोटे बछडो के झुण्ड से घिरा हुआ था। एव जो अनेक चन्द्रकान्त मणिमयी शिलाओ के बीच मे मौजूद था। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—लाल मणियो की निधि ही है। उसने कभी स्वय पुत्र का मुख नही देखा था, अर्थात्—उसके पुत्र नही था, इसलिए उसने इसे अपने पुत्र की बुद्धि से उठा लिया। उसने विशेष आग्रह पूर्वक अपनी पत्नी राधा से कहा—'सदा बच्चे की लालसा के ध्यान मे अपनी बुद्धि प्रेरित करने वाली प्रिये राधे! यह तुम्हारे गूढ गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र है। उसने उक्त प्रकार प्रसिद्धि को वृद्धिगत करते हुए पुत्रोत्पत्ति का महान् महोत्सव किया।

श्रीदत्त कर्णपरम्परा से यह समाचार सुनकर बच्चे का घात करने के दुरभिप्राय से यमराज-सरीखा होकर इन्द्रदत्त के गृह पर पहुँच कर उससे बोला—'इन्द्रदत्त! यह महाभाग्यशाली भानजा मेरे ही स्थान पर बडा होना चाहिए।' और बहिन-सहित बच्चे को अपने गृह पर ले आया एव पूर्व की तरह निर्दय बुद्धि-वाले उसने वध करने के लिए बच्चे को चाण्डाल के लिए दे दिया। वह चाण्डाल भी पुत्ररूपी बर्तन को लेकर शीघ्र ही एकान्त गुफा की ओर चल दिया। जब उसने ऐसे गुणपाल के शिशु को देखकर, जो कि वायु के सचार से जिसके ऊपर से मेघ-पटल का आवरण हट गया है, ऐसे चन्द्रमा-सरीखा नेत्रो को प्यारा है। उसका

---

१ स्वगृह गत। २. श्रीदत्तस्य। ३ लघुभगिनी। ४ वणिग्व्यवहार। ५ वृषभा। ६ गोष्ठीन गोकुलस्थान। ७ वत्सेभ्यो हितप्रदेश। ८ समीप। ९ मुखपरम्परा। १० लघुवत्स। ११ वृषभा। १२ बाल। १३ पुत्र। १४ हे भार्ये!। १५ कर्णपरम्परया। १६ यम। १७ इन्द्रदत्तगृह। १८ अपत्य पुत्र वा। १९ मारणार्थं। २० मातङ्गाय। २१ एकान्त, रह। २२ वायुपरवशेन। २३ चन्द्रमिव।

विटपिसकटे सरित्तटनिकटे परित्यज्य यथायथमश्वल्लीत्[१] ।

तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावादुपमातृभिरिव[२] [३]एतद्वीक्षणात्क्षरत्क्षीरस्तनीभिरानन्दोदीरितनिर्भरह[४]-भाध्वनिभि [५]प्रचारायागताभि कुण्डोध्नीभिर्व्रजलो[६]कधेनुभिरुपरुद्धसविधभाग[७] [८]उपदान्तरमागतेन तद्रक्षण-दक्षेण गोपालजनेन अस्नावत*सभासिन्य[९]शोकस्तबकसुन्दरे सरोजसुहृदि[१०] सति विलोकित । कथितश्च सकलगोष्ठ-ज्येष्ठाय [११]बल्लवकुलवरिष्ठाय निजाननापहसितारविन्दाय गोविन्दाय । सोऽपि पुत्रप्रेम्णा प्रमोदगरिम्णा चानीय जनित-हृदयानन्दाया सुनन्दाया समर्पितवान् । अकरोच्चा[१२]स्येन्दिरामन्दिरस्य[१३] धनकीर्तिरिति नाम । ततोऽसौ क्रमेण परि-त्यक्तशैशवदश कमलेश[१४]इव युवजनमन [१५]पण्यतारुण्योत्फुल्लबल्ल[१६]वीलोचनालिकुलावलेह्य[१७]लावण्यमकरन्दममन्दानन्द-*कामन्द[१८]मतिकान्तरूपायतन यौवनमासादित पुनरपि प्राज्याज्यवणिज्योपार्जनसज्जागमनेन तेन श्रीदत्तेन दृष्ट । पृष्टश्च गोविन्दस्तदवाप्तिप्रपञ्चम् । [१९]श्रीदत्त —'गोविन्द, मदीये सदने किमपि महत्कार्यमात्मजस्य[२०] निवेद्यमस्ति । तदय

हृदय दया से द्रवीभूत हो गया। अत उसने उसे स्थूल वृक्षो से व्याप्त नदी के तट के समीप छोडकर पूर्व की तरह वहाँ से शीघ्र चल दिया।

इसके पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से वहाँ पर भी ऐसी गोकुल की गायो से इसका निकटवर्ती स्थान रोका गया, जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—इसकी धाएँ ही है—इस बच्चे को देखने से जिनके थनो से दूध झर रहा था। जिन्होने आनन्द से विशेष रँभाने की ध्वनि प्रकट की थी। जो घास चरने के लिए वहाँ आई हुई थी और जिनके थन प्रचुर मात्रा मे दूध से भरे होने के कारण कुण्ड-सरीखे थे।

जब सन्ध्या के समय अशोक वृक्ष के गुच्छा-सरीखा मनोज्ञ सूर्य अस्ताचल पर मुकुट-सरीखा शोभायमान हो रहा था, तब इसके पास आए हुए गोरक्षा मे चतुर ग्वालो ने इसे देखा और समस्त गोकुल—गोशाला के स्वामी व ग्वालो के वर्ग मे श्रेष्ठ एव अपनी मुख-कान्ति द्वारा कमला की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले 'गोविन्द' नामके स्वामी से कहा। पुत्र-स्नेह से व आनन्द से महान् गोविन्द भी उस बच्चे को घर ले आया और उसने हृदय मे उत्पन्न हुए आनन्द वाली सुनन्दा नाम की प्रिया के लिए समर्पण कर दिया। लक्ष्मी के स्थान इस बालक का नाम 'धनकीर्ति' रक्खा।

इसके पश्चात् क्रम से बाल्यावस्था को छोडकर श्रीपति सरीखे इसने ऐसी युवावस्था प्राप्त की, जिसमे युवक-जन के मन के ग्रहण करने मे बेचने-योग्य (अर्घप्राय) यौवन से प्रमुदित हुई गोपियो की नेत्ररूपी भ्रमर-श्रेणी द्वारा आस्वादन करने योग्य लावण्यरूपी पुष्परस पाया जाता है। जो प्रचुर सुख का कामद (मन्दिर) है, अथवा पाठान्तर मे पञ्जिकाकार के अभिप्राय से जिसमे प्रचुर सुख व कामदेव वर्तमान है और जो बेमर्याद खुबसूरती का स्थान है।

एक दिन प्रचुर घी के व्यापार द्वारा धनोपार्जन की इच्छा से यहाँ आये हुए श्रीदत्त ने इसे देखकर गोविन्द से इसकी प्राप्ति के विषय मे विस्तार से पूँछा और उससे कहा—'गोविन्द! मुझे अपने गृह पर अपने

---

१ आशु गतवान् श्वल्ल आशुगमने लुडि । २ धात्रीभि । ३ शिशु । ४ गोरुत । ५ तृणादनार्थ । ६ गोकुल । ७ समीप । ८ उपदान्तर समीप । * 'भागि' ग० । ९ सध्यासमये । १० रवौ । ११ वल्लवा गोकुलिका । १२ पुत्रस्य । १३ लक्ष्मीगृहस्य । १४ हरिरिव । १५ मनोग्रहणे यत्पण्य विक्रयमाण अर्घप्राय तारुण्य । १६ गोपी । १७ आस्वाद्य । * 'कामद (मन्दिर)' ख० । १८ कामन्द काम इति पञ्जिकाया । १९ श्रीदत्त प्राह । २० मम पुत्रस्य महावलस्य ।

[1]प्रज्ञुरिम लेख ग्राहयित्वा सत्वर प्रहेतव्य[2] ।' गोबिन्द —'श्रेष्ठित्, एवमस्तु ।' लेख चैवमलिखत्—'अहो विदित-समस्तपौत[3]वकल महाबल, एष खल्वस्मद्वशविनाशवैश्वानरोऽवश्य विष्यो[4] मुशल्यो[5] वा विधातव्य' इति । धन-कीर्तिस्तथा [6]तातवणिक्पतिभ्यामादिष्ट सावष्टम्भ[7] गलालकारसख लेख कृत्वा गत्वा च जन्मान्तरोपकाराधीन-[8]मीनावतारसरसीमेकानसी[9] तत्प्रवेशपदिर[10]पर्यन्तवर्तिनि वने वर्त्मश्रमापनयनाय [11]पिकप्रियालवालपरिसरे [12]नि सज्ञमस्वाप्सीत् ।

अत्रावसरे विहितपुष्पावचयविनोदा सपरिच्छदा निखिलविद्याविदग्धा[13] पूर्वभवोपकारस्निग्धा सजीवनौषधि-समानानङ्गसेनानामिका गणिका तस्यैव सहकारतरोस्तलमुपढौक्य विलोक्य च नि स्पन्दलोचना चिराय तमनङ्गमिव [14]मुक्तकुसुमास्त्रतन्त्र [15]लोकान्तरमित्रमशेषलक्षणोपलक्षितमूर्ति धनकीर्ति पुनरायु श्रीसरस्वतीसमागमादेशरेखात्रयेणेव प्रकटवितर्कितकर्कोटत्रयेण[16] बन्धुरमध्यप्रदेशात्कण्ठदेशादादायापायप्रतिपादनाक्षरालेख लेखमवाचयत् ।

लिलेख[17] च त वाणिजकापमद[18] हृदयेन धिक्कुर्वती[19] लोचनाञ्जनकरण्डादुपात्तेन वनवल्लिपल्लवनिर्या-

---

पुत्र से कुछ जरूरी बात निवेदनीय है। अत प्रकृष्ट घुटनो वाले इस युवक को यह पत्र देकर शीघ्र भेज दो।'

गोविन्द ने कहा—'श्रेष्ठिन् ऐसा हो।'

उसने पत्र मे यह लिखा था—'माप तोल की कला के ज्ञाता महावल! यह युवक हमारे वश को ध्वस करने के लिए अग्नि-सरीखा है, अत या तो यह विष देकर घात करने लायक है या मूसलो द्वारा वध करने योग्य है।'

पिता (गोविन्द) और वैश्यपति (श्रीदत्त) द्वारा आज्ञापित हुआ धनकीर्ति उस मुद्राङ्कित पत्र को अपने गले का आभूषणरूप मित्र बना कर उस उज्जयिनी नगरी की ओर चल दिया, जो कि पूर्वजन्म मे किये हुए उपकार के अधीन हुई मछली के जन्म के लिए बडे तडाग-सरीखी है और नगरी के निकट पहुँचकर वह नगरी के प्रवेश-मार्ग के निकटवर्ती वन मे मार्ग की थकावट दूर करने के लिए आम्रवृक्ष की क्यारी के समीप देश में निश्चेतनता पूर्वक सो गया।

इसी अवसर पर पुष्प-चयन की क्रीडा करनेवाली, अपने सेवक जनो से सहित, समस्त विद्याओ मे निपुण, पूर्वभव (मछली की पर्याय) मे किये हुए उपकार से उससे स्नेह करनेवाली एव सजीवन बूटी-सरीखी जीवनदात्री अनङ्गसेना नाम की वेश्या, उसी आम्रवृक्ष के नीचे गई और ऐसे धनश्री को देखकर निश्चल नेत्रो वाली हुई, अर्थात्—टकटकी लगाकर देखने लगी। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—पुष्परूपी बाणो की पराधीनता से रहित हुआ (वाणो के बिना) कामदेव ही है—जो पूर्वजन्म का मित्र है, एव जिसका शरीर समस्त शुभ लक्षणो से सुभोभित है। इसके बाद उसने स्पष्ट जानी हुई कण्ठ की तीन रेखाओ से मुनोज्ञ मध्य-भाग वाले उसके कठदेश से, जो ऐसी मालूम पडती थी—मानो—उसकी चिरायु, लक्ष्मी व सरस्वती के समागम को सूचित करनेवाली तीन रेखाएँ थी, पत्र ग्रहण करके पढा, जिसमे धनकीर्ति के वध करने की सूचक अक्षर-पङ्क्ति चारो ओर लिखी हुई थी।

इसके बाद उस निकृष्ट वणिक् को हृदय से धिक्कार देती हुई उसने अपने नेत्ररूपी अञ्जन की

---

१ प्रकृष्टजानु । २ प्रेषणीय । ३ पौतव तुला मान च । ४ विषेण वध्य । ५ मुशलेन वध्य । ६ गोविन्द । ७ मुद्रासहित । ८ पूर्वजन्मनि यो मत्स्य स तत्र वेश्या जाता वर्तते । ९ उज्जयिनीम् । १० पदिर मार्ग । ११ पिकप्रियश्चूत । १२ निश्चेतन । १३ चतुरा । १४ वाणान् विना कन्दर्प । १५ पूर्वजन्मोपकारिण । १६ कण्ठरेखा । १७ ज्ञात्वा । १८ निन्द्य पङ्क्तिरहित । १९ निन्दती ।

सरसद्रुतेन[1]कज्जलेना[2]र्जुनशलाकया तत्रैव [3]परिम्लिष्टपुरातनसूत्रे पत्त्रे लेखान्तरम्। तथाहि—'यदि श्रेष्ठिनी मामवधेयवचन[4] श्रेष्ठिन मन्यते, महाबलश्च यदि मामनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसर पितर गणयति, तदास्मै निकाम सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसपत्तये धनकीतये [5]कूपदप्रक्रमेण द्विजवेदमु[6]खसमक्षमविचारापेक्ष श्रीमती दातव्या' इति।

ततो यथाम्नातविशिखमिम[7] लेखमामुच्य[8] समाचरितगमनायामनङ्गसेनाया धनकीर्तिश्चिरेण [9]विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेक [10]सोत्सेकमुत्थाय प्रयाय[11] च श्रीदत्तनिकेतन जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेख. श्रीमती[12]सखोऽभवत्।

श्रीदत्तो वार्तामिमामाकर्ण्य प्रतूर्ण प्रत्यावर्त्य[13] निधाय[14] च तद्वधाय राजधानीबाहिरिकाया चण्डिकायतने कृतसकेत सनद्धवपुष पुरुष [15]कच्चराचरणपिशाची देवद्रीची[16]च परिप्राप्तोदवसितो[17] रहसि धनकीर्ति मुहुराहूय बहुकूटकपटमतिरेवमाबभाषे—'वत्स, मदीये कुले किलैवमाचारो यदुत यामिनीमुखे कात्यायिनीप्रमुखे[18] प्रदेशे प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन स्तनधयागोवेन [19]महारजनरसरक्ताशुक[20]समाश्रय स्वयमेव [21]माषमयमो[22]रमौकुलि[23]र्बलिरुप-

---

डिबिया से ग्रहण किये हुए और उपवन की लताओ की नई कोपलो के रस मे घोले हुए कज्जल से चाँदी की अथवा तृणो की सलाई (लेखनी) द्वारा उसी पत्र पर पहले के अक्षर मिटाकर दूसरा लेख लिखा। लेख इस प्रकार था—'यदि सेठानी मुझे आदरणीय वचनो वाला मानती है और यदि महावल मुझे ऐसा पिता मानता है, जिसके वचन-समूह उल्लङ्घनीय नही है, तो सात पीढी तक विशेष परीक्षित वश लक्ष्मी वाले इस धनकीर्त्ति के लिये बिना विचार की अपेक्षा किये ब्राह्मण व अग्नि की साक्षीपूर्वक दहेज के साथ मेरी पुत्री श्रीमती देनी चाहिए।'

यथोक्त मार्ग वाले इस लेख को उसके गले मे बाँधकर अनङ्ग सेना चली गई।

जब चिरकाल के बाद धनकीर्ति की गाढ निद्रा का वेग दूर हुआ तो वह उत्कण्ठापूर्वक उठा और श्रीदत्त के घर पहुँचा और उसने माता-सहित महावल के लिये पत्र दिखाया, जिससे वह श्रीमति का पति हो गया।

श्रीदत्त इस समाचार को सुनकर शीघ्र ही लौट आया और उसने धनकीर्ति का वध करने के लिए राजधानी के बाह्य प्रदेशवर्ती चण्डिका देवी के मन्दिर मे सशस्त्र व वध-करने का सकेत किए हुए पुरुष को एव निन्द्य कर्म का आचरण करनेवाली पिशाची-सरीखी देवपूजिका स्त्री को नियुक्त करके अपने गृह को चला गया और अत्यन्त कूटकपट की बुद्धिवाले उसने एकान्त मे धनकीर्ति को बुलाकर फिर से कहा—'पुत्र! निश्चय से मेरे गृह को ऐसी रीति है कि नवीन कङ्कण-वधन को स्वीकार करने वाले नवीन विवाहित कन्या के पति को रात्रि के अगले भाग मे कात्यायनी देवी के प्राङ्गण प्रदेश मे जाकर कुसुभी रग से रगे हुए वस्त्र के

---

१ घोलितेन। २ 'हेमतृण वा' टि० ख०, 'अर्जुन तृण' इति पञ्जिकाया। ३ पूर्वाक्षराणि परिमृज्य नूतनाक्षराणि लिखितानि। ४ आदरणीय। ५ 'जामातृदेय वस्तु हिरण्यकन्यादाय कूपद कथ्यते' टि० ख०, पञ्जिकाकारोऽप्याह—'सहिरण्यकन्यादाय जामातृदेय वस्तु कूपद'। ६ वेदमुखो वह्नि। ७ मार्ग विशिखा। ८ कण्ठे वद्ध्वा। ९ उद्गत उपशान्त। १० सगर्व। ११ गत्वा। १२ भर्ता। १३ गोविन्दगृहात् स्वगृहमागत्य। १४ पुरुष स्थापयित्वा। १५ 'मलिनाचरित' टि० ख०, 'कच्चर कुत्सित' पञ्जिकाया। १६ चण्डिका। १७ गृह। १८ प्राङ्गणे। १९ कुसुभ। २० रक्तवस्त्रेण झपित। २१ माष—'धान्येन घटित' टि० ख०, 'धान्यपिष्टेन' टि० च०। २२ मयूर। २३ काक।

हर्तव्य[1]।' धनकीर्ति — 'तात, यथा तातादेश' इति निगीर्य गृहीतकुलदेवतादेय[2]हन्तकारोपकरणस्तेन श्यालेन महाबलेन पुरप्रतोलिप्रदेशान्नि सरन्नवलोकित । समालापितश्च—'हहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायामस्या वेलायामवगण[3] क्वोच्चलितोऽसि ।' 'महाबल, मातुलनिदेशान्नमसित[4] निवेदनाय दुर्गालये ।' 'यद्येव नगरजनासस्तुत-*त्वात्त्व निवास प्रति निवर्तस्व । अहमेतदुपयाचित[5] मैशान्या स्पर्शयितु[6] प्रगच्छामि । यद्यत्र तातो रोषिष्यति तदा तद्रोषमहमपनेष्यामि ।' ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम्[7] । श्रीदत्त सुतमरणशोकातङ्को-पान्त[8] प्रकाशिताशेषवृत्तान्त 'सकलनिकाय्य[9]कार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि श्रेष्ठिनि मन्मनोह्लाद[10]चन्द्रलेखे विशाखे, कथमय वैधेयो[11] ममान्वया[12]पायहेतु [13]प्रयुक्तोपायविलोपनकेतु[14] प्रवासयितव्य[15]।' विशाखा—'श्रेष्ठिन्, [16]भेलभावात्सर्वमनुपपन्न[17] त्वया चेष्टितम् । अत कुरुण्डतो[18] भीतः कुक्कुटपोत इव तूष्णीमास्स्व । भविष्यति भवतोऽशेष मनीषितम्' इत्याभाष्य अपरेद्युर्दयितजीवितव्यतोदकेषु[19] मोदकेषु विष सचाय 'सुते श्रीमते, य एते कुन्दकुमुद-

---

आश्रयवाली [अर्थात्—कुसुभी वस्त्र पहिन कर] एव पीसे हुए उडद से बने हुए मौर व कौए की वलि देनी चाहिए ।'

इसे सुनकर धनकीर्ति बोला—'पिताजी ! जैसी आपकी आज्ञा ।'

धनकीर्ति कुलदेवता के लिए अर्पित करने योग्य सामग्री लेकर नगर की बीच की गली से निकला तो उसको उसके साले महावल ने देखकर कहा—'धनकीर्ति ! इस निविड अँधेरी रात्रि की वेला मे अकेले कहाँ जा रहे हो ?'

'महावल ! मामा की आज्ञा से बलि देने के लिए दुर्गादेवी के मन्दिर को जा रहा हूँ ।'

'यदि ऐसा है तो तुम नागरिको से अपरिचित हो, अत गृह को लौट जाओ । दुर्गादेवी को यह भेट देने के लिए मै जाता हूँ । यदि पिताजी कुपित होगे तो मै उनका कोप दूर कर दूँगा ।'

धनकीर्ति अपने गृह पर गया और महावल यमराज की उदररूपी गुफा मे समा गया ।

पुत्र-मरण के शोक से समीप दु खित हुए श्रीदत्त ने अपनी प्रिया 'विशाखा' से समस्त वृत्तान्त निवेदित करके कहा—'समस्त गृहकर्मो के नियमपूर्वक करने मे विष्णु-सरीखी समर्थ और मेरे मन मे सुख उत्पन्न करने के लिए चन्द्रपङ्क्ति-सरीखी 'विशाखा' सेठानी ! इस अभागे बालक को, जो कि मेरा वश नष्ट करने मे कारण है और मेरे द्वारा किये हुए अनेक कपट-पूर्ण घातक उपायो के विनाश करने मे केतु-जैसा समर्थ है, कैसे मारना चाहिए ?

'सेठजी ! [पञ्जिकाकार के अभिप्राय से अविचारक होने के कारण अथवा टिप्पणीकार के अभि-प्राय से] वृद्ध होने के कारण तुमने सब कार्य अयोग्य किया । अत विलाव से डरे हुए मुर्गे के बच्चे की तरह तुम चुप बैठो । आपके मब मनोरथ पूर्ण होगे ।'

दूसरे दिन सेठानी ने अपने पति का जीवन व्यथित करनेवाले लड्डुओ मे जहर मिलाकर श्रीमति

---

१ दातव्य । २ दान । ३ एकाकी । ४ 'देयवस्तु' टि० ख०, 'नैवेद्य' टि० च० । * असस्तुत अपरिचित । ५ हन्तकार—दान । ६ दातु । ७ अगात्—मृत इत्यर्थ । ८ समीपदु ख । ९ निकाय्य गृह । १० सौख्य, हे भार्ये ! । ११ निर्भाग्यो वालिश । १२ वश । १३ मम कृतानेककपटविनाशसमर्थ । १४ नवमो ग्रह । १५ मारणीय । १६ 'वृद्ध' टि० ख०, 'भेल अविचारक' इति पञ्जिकाया । १७ अघटमान अयुक्त त्वया कृत । १८ 'मार्जारात्' टि० ख०, 'कुरुण्डो मार्जार' प० । १९ पीडकेषु—व्यथकेषु ।

कान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देया, [1]श्यावश्यामाकश्यामलरुचयश्च जनकाय' इति [2]समर्पितसमया समासन्न-मरणसमया सरिति [3]सवनायानुससार।

श्रीमति—[4]'यच्चोत्तमभक्ष्य तत्प्रतीक्ष्याय[5] ताताय वितरीतव्यम[6]' इत्यवगत्याविज्ञातसवित्रीचित्तकौटिल्या नि शल्यहृदया तानेतयोर्विपर्ययेणावीवृधत्[7]। विशाखा पतिशून्यमरण्यसामान्यमगारमाप्य[8] परिदेव्य[9] च सुचिर पुन 'पुत्रि, किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम्। केवल तव वापेन[10] मया च स्थैर्यात्मीयान्वयविलोपाय [11]कृत्योत्थापनमाचरितम्। तदलमत्र बहुप्रलापेन कल्पद्रुमेण कल्पलतेव त्वमनेन दैवदेयदेहरक्षाविधानेन धवेन[12] सार्धमाकल्पमिन्द्रियैश्वर्य-सुखमनुभव' इति सभावितशीर्वादा तमेक मोदकमास्वाद्य पत्यु पथि[13] प्रतस्थे। एव स्वय विहितदुरीहितवशादुपात्ता-मिततोकनाशशोकावस्थे[14] दशमीस्थे[15]'तस्मिञ्श्वशुरे श्वश्रूजने च सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्याद्दुल्लङ्घितघोरप्रतिघ[16]-पञ्चकापत्प्रतिदिनमुदीयमानसपदेकदा तेन विश्वभरेण क्षितीश्वरेण निरीक्षित। तद्रूपसपत्तौ जातबहुविस्मयेन तनूजया

पुत्री से कहा—'पुत्री श्रीमति! इन लड्डुओ मे से कुन्द व कुमुद-पुष्प-सरीखी कान्ति वाले श्वेत लड्डू तो अपने पति को देना और धूसरित श्याम धान्य सरीखे श्याम लड्डू अपने पिता को देना' इतना सकेत करके निकट-वर्ती मरणवाली सेठानी नदी मे स्नान करने के लिए चली गई। इसके पश्चात् श्रीमती पुत्री ने ऐसा निश्चय किया कि 'श्वेत वर्णवाले खाने-योग्य उत्तम लड्डू तो पूज्य पिताजी के लिए देना चाहिए।'

श्रीमति को माता के चित्त की कुटिलता का पता नही था और वह निष्कपट मन वाली थी, इसलिए उसने उन दोनो के लिए प्रस्तुत लड्डू उलट कर दे दिये। अर्थात्—विषैले लड्डू अपने पिता के लिए और निर्विष लड्डू अपने पति के लिए खिला दिये। जिससे उसका पिता श्रीदत्त काल-कवलित हो गया।

जब विशाखा स्नान करके आई तो उसका पति मर चुका था, इसलिए वह जगल-सरीखे पति-शून्य गृह मे आकर बडी देर तक रोई और बोली—'पुत्रि! क्या महामुनि की वाणी मिथ्या होती है?' केवल तुम्हारे पिता और मुझ वृद्धा ने अपने स्थिर वश को नष्ट करने के लिए इस कृत्या* का उत्थापन किया है। इस लिए अब शोक करना व्यर्थ है। अत अब कल्पवृक्ष के साथ कल्पलता-सरीखी तू दैव के द्वारा रक्षा किये हुए इस पति के साथ, कल्पकाल तक इन्द्रिय-सुख व ऐश्वर्य सुखो को भोगो।' ऐसा आशीर्वाद देकर उसने भी एक जहरीला लड्डू खा लिया और पति की अनुगामिनी हो गई—मर गई।

जब धनकीर्ति के सास ससुर स्वय किये हुए दुरभिप्राय से पुत्र-मरण से विशेष शोकाकुल होकर काल-कवलित हुए तब धनकीर्ति पूर्वजन्म सबधी पुण्य के माहात्म्य से भयानक विघ्नो वाली पाँच विपत्तियो को उल्ल-ङ्घन करके दिनोदिन उदित होनेवाली सपत्ति से सुशोभित हुआ। एक दिन 'विश्वभर' राजा ने उसे देखा,

---

१ 'श्याव स्यात् कपिश धूसरारुणा' टि० ख०, 'श्याव कर्दम' इति पञ्जिकाया। २. मता—अभिप्राया। ३ स्नानाय। ४ 'यच्चोक्ष भक्ष्य' इति क० ख० च० प्रतिषु, टिप्पण्या तु 'चोक्ष सुन्दरगीतयो शुचौ।' ५ पूज्याय। ६ देय। ७ परिवेषयामास—दत्ते स्म। ८ आगत्य। ९ रोदन कृत्वा। १० पित्रा। ११ अथर्वणयज्ञे कृते सति यथाऽत्मवधाय कृत्या उत्पद्यते। १२ कान्तेन। १३ मृता इत्यर्थ। १४ उपात्ता बहुला पुत्रमरणशोकस्य अवस्था येन। १५ मृते सति। १६ विघ्न।

कृत्या—अपने नाश के लिए की हुई मन्त्र-सिद्धि।

साराश यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य शत्रु का वध करने के उद्देश्य से मन्त्र विशेष सिद्ध करता है, जिससे शत्रु का वध करने के लिए एक पिशाच प्रकट होता है, परन्तु यदि शत्रु जप, होम या दानादि करने से विशेष वलिष्ठ होता है, तब वह पिशाच शत्रु को न मारकर उल्टा मन्त्र-सिद्धि करने वाले को मार डालता है।

सह उभयेन[1] विशामाधिपत्यपदेन योजितश्च। गुणपाल किवदन्तीपरम्परया अस्य[2] कल्याणपरम्परामुपश्रुत्य-कौशाम्बीदेशात्पद्मावती[3]पुरमागत्य अनेनाश्चर्यैश्वर्यभाजा तुजा[4] सह सजग्मे[5]।

अथान्यदा सकलत्रपुत्रमित्रतन्त्रेण **धनकीर्तिना** दर्शनायागतयानङ्गसेनया चानुगतिनिष्ठो **गुणपालश्रेष्ठी** मतिश्रुतावधिमन पर्ययविषयसम्राजमखिलमुनिमण्डलीराज श्री **यशोध्वजनामभाज** भगवन्तमभिवन्द्य सबहुप्रश्रयमेवम-पृच्छत्—'भगवन्, कि नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना **धनकीर्तिना** सुकृतमुपार्जितम्, येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवैक-शरणप्रतीकाराणि व्यसनानि व्यतिक्रान्त, येनास्मि[6]ल्लोकव्यतिरि[7]क्त[8]रमा[9]रूपसपन्नोऽभूत्। येनाद[10]भ्राभ्रिय[11]-विभावसुप्रभासभार इव देवानामप्यप्रतिहतमहा[12] समजनि, येन चापरेषामपि तेषा तेषा [13]महापुरुषकक्षावग्रहाणा[14] गुणाना समवायोऽभवत्। तथाहि—स्थान [15]विदान्यताया, समाश्रयो वदान्यभावस्य[16], निकेतनमवदानकर्मण[17], क्षेत्र मैत्रेयिकाया,[18] स्वप्नेऽपि न स्वजनस्याजनि मनो मन्तु[19] कन्तुरिव च[20] कामिनीलोकस्य। तदस्य भदन्त,

---

उसकी लावण्य सम्पत्ति देखकर राजा को विशेष आश्चर्य हुआ। उसने उसके साथ अपनी राजकुमारी का विवाह कर दिया और उसे राजसेठ पद पर भी अधिष्ठित कर दिया। अर्थात्—इस प्रकार धनकीर्ति विवाहोत्सव व श्रेष्ठिपदोत्सव इन दोनो उत्सवो से सुशोभित हुआ।

जब धनकीर्ति के पिता गुणपाल ने किवदन्ती परम्परा (जन-साधारण की खबर) से अपने पुत्र धनकीर्ति की कल्याण परम्परा सुनी तो वह कोशाम्बी से उज्जयिनी नगरी मे आकर आश्चर्यजनक ऐश्वयशाली अपने पुत्र के साथ सम्मिलित हुआ।

एक बार स्त्री, पुत्र व मित्रादि से युक्त धनकीर्ति पुत्र के साथ और दर्शन के लिए आई हुई अनङ्ग-सेना के साथ अनुगमन करने वाले गुणपाल सेठ ने मति, श्रुत, अवधि व मन पर्ययज्ञान के धारी एव समस्त मुनियो की मडली मे श्रेष्ठ श्री यशोध्वज आचार्य के लिए नमस्कार करके विशेष विनय पूर्वक पूँछा—'भगवन्! इस धर्ममूर्ति धनकीर्ति ने पूर्वजन्म मे ऐसा कौन-सा पुण्य सचय किया था? जिसके कारण इसने बचपन मे भी ऐसे भीषण दु ख नष्ट किये, जो कि इसके केवल भाग्य की शरण द्वारा दूर किये जा सकते थे। एव जिससे यह इस जन्म मे भी लोक से प्रचुर लक्ष्मी व लावण्य सम्पत्ति से सम्पन्न हुआ। जिसके प्रभाव से यह वैसा देवो द्वारा भी नष्ट न किये जाने वाला तेजस्वी हुआ जैसे बहुल मेघपटल सम्बन्धी वज्राग्नि का तेज-पुञ्ज किसी के द्वारा नष्ट न किये जानेवाले तेजवाला होता है। जिसके प्रभाव से यह पुराण-पुरुषो—तीर्थङ्करादि—के पक्ष के उन-उन गुणो के साथ नित्य सबध करने वाला हुआ।

जैसे यह विद्वत्ता का आश्रय है, उदारता गुण का स्थान है। यह अवदान (शत्रुओ का खडन, सर्व-पालन, सर्वप्रदान अथवा शुद्ध कर्म) का स्थान है। यह समस्त प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव की उर्वरा भूमि है। इससे स्वप्न मे भी कुटुम्बीजनो के मन मे खेद या अपराध उत्पन्न नही हुआ एव यह स्त्री-समूह के लिए

---

१ एको विवाहोत्सव द्वितीय श्रेष्ठिपद। २ धनकीर्ते। ३ उज्जयिनी। ४ पुत्रेण। ५ सम्मिलित। ६ जन्मनि। ७ अधिक। ८ 'साररूप' इति ग०। ९ श्री। १० बहुल। ११ 'अभ्रपटलसबधी अग्नितेज समूहवत्' टि० ख०, 'अभ्रियो वज्राग्नि' इति पञ्जिकाया। १२ तेज। १३ पुराणपुरुष। १४ पक्षवशाना। १५-१६ 'विदान्यो विदग्ध' 'वदान्यस्त्यागी' इति पञ्जिकाया, 'विदग्धताया' टि० च०, 'स्थान वदान्यताया' इति ख० प्रतौ। 'वक्तृत्वस्य, वदान्यो वल्गुवागपि प्रियवादी। स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे। वदति दीयतामिति वदान्य वदेरान्य। वदान्यो वल्गुवागपि' इति टि० ख०। १७ अवदान शत्रुखडन, सर्वपालन सर्वप्रदान वा शुद्धकर्म, टि० ख०। 'अवदान साहस' इति प०। १८ 'मित्रत्वस्य' टि० ख०। 'मित्रयु व्यवहारवेदी तस्य भावो मैत्रेयिका' इति प० व टि० च०। १९ 'विप्रिय अपराध' टि० ख०। 'खेद' इति टि० च एव पञ्जिकायामपि। २० काम.।

आपणिक[1]परिषत्प्रवणस्य नि शेषशास्त्रप्रवीणान्त करणस्य निसर्गादेव निखिलपरिजनालापनसक्तस्य[2] *सदाचारशुक्लस्य विनेयजनमन कुवलयानन्दिकथावतारामृतमूर्ते[3] सुकीर्तेर्धनकीर्ते पुरोपार्जित सुकृत कथयितुमर्हसि।' भगवान्—'श्रेष्ठिन्, श्रूयताम्।' तत्सबन्धसक्त पूर्वोक्त वृत्तान्तमचकथत्—'या चास्य पूर्वभवनिकटा घण्टा वधूटी सा कृतनिदाना दमूनसि[4] प्रवेशादिय सप्रति श्रीमति सजाता। यश्च स मीन स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य पूर्व पर्यायपर्वेय[5] मनङ्गसेनाभूत्। अतोऽस्य महाभागस्यैकदिवसाऽहिसाफलमेतद्विजृम्भते। धनकीर्तिरेतद्वचत्र[6]पवित्रश्रोत्रवर्त्मा। तथा श्रीमतिरनङ्गसेना च पुराभव भव सभाल्यो॰मूल्य च तम सतानतरुनिवेशमिव केशपाश तस्यैव [7]दोषज्ञस्यान्तिके यथायोग्यताविकल्प तप कल्पमादाय जिनमार्गोचितेनाचरितेन चिरायाराध्य रत्नत्रय विधाय च विधिवन्निरजन्य[8]मनोवर्तन प्रायोपवेशनम्[9]। तदनु धनकीर्ति सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्बभूव। श्रीमतिरनङ्गसेना च [10]कल्पान्तरसयोज्य देवसायुज्य[11]मभजत्।

भवति चात्र श्लोक सर्वार्थ —

पञ्चकृत्व[12] किलैकस्य मत्स्यस्याहिसनात्पुरा। अभूत्पञ्चापदोऽतीत्य धनकीर्ति पति श्रिय ॥ ९४ ॥

कामदेव-सरीखा विशेष प्यारा है। इसलिए पूज्यवर! आप ऐसे धनकीर्ति की पूर्वजन्म मे सञ्चय किये हुए पुण्य की कथा कहिए, जो कि वणिक्-परिषत् मे नम्र या अनुरक्त है। जिसका मन समस्त शास्त्रो मे निपुण है। जो समस्त आश्रित जनो के साथ वार्तालाप करने मे मधुर है। जो सदाचार से शुभ्र है। एव जिसका कथावताररूपी चन्द्रमा शिष्यजनो के मनरूपी कुवलय (चन्द्रविकासी कमल) को प्रमुदित—विकसित करने वाला है और जो प्रशस्त कीर्तिमान है।

मुनिराज ने इसके पूर्वजन्म की कथा कह सुनाई।

जो पूर्वजन्म मे समीप रहने वाली इसकी घण्टा नामकी स्त्री थी, वह निदान बध करके अग्नि मे जल मरी थी, वह इस जन्म मे इसकी प्रिया श्रीमती हुई है और जो मछली थी, जिसे मृगसेन ने जल मे जीवित छोड दिया था, वह कालक्रम से पूर्वपर्याय छोडकर दूसरी पर्याय धारण कर अनङ्गसेना हुई है। अत एक दिन हिसा न करने का फल इस भाग्यशाली को प्राप्त हुआ है।

धनकीर्ति ने उक्त आचार्य के वचनो से अपना श्रोत्रमार्ग पवित्र किया। इसकी प्रिया श्रीमती ने और अनङ्गसेना नामकी वेश्या ने अपना पूर्वभव सुनकर अन्धकार-समूहरूप वृक्ष के प्रवेश-सरीखे केश पाशो का लुञ्चन करके उसी विद्वान् आचार्य के समीप अपनी योग्यतानुसार दीक्षा ग्रहण की और जैन मार्ग के अनुसार चिरकाल तक रत्नत्रय का आराधन किया। और मनोवृत्ति की निर्विघ्नतापूर्वक समाधिमरण किया। धनकीर्ति सर्वार्थ सिद्धि विमान को प्राप्त करने मे कीर्तिमान हुआ और श्रीमती और अनङ्गसेना भी स्वर्गलोक मे देव हुए।

इस कथा के विषय मे समस्त विषय को बतलाने वाला एक श्लोक है, जिसका भाव यह है—निस्सन्देह धनकीर्ति, जिसने पूर्वजन्म मे एक मछली की पाँच बार रक्षा की थी, जिससे वह पाँच भयानक आपत्तियाँ पार करके लक्ष्मी का स्वामी हुआ ॥ ९४ ॥

---

१ वणिक। २. मधुरस्य। * इद पद मु॰ प्रतौ नास्ति, किन्तु ह॰ लि॰ क॰ प्रतित सकलित—सम्पादक। ३ चन्द्र स्य। ४ अग्नौ, 'दमूनाश्चित्रभानुस्तनूनपात्। ५ पर्वप्रस्तावे। ६ वचत्र वचन। ७ 'विदुष' इति टि॰ ख॰, 'दोषज्ञ अतीन्द्रियज्ञ' इति पञ्जिकाया तथा टि॰ च॰। ८ निर्विघ्न। ९ पादोपयानमरण—सन्यासविधि। १० स्वर्गलोक। ११ 'देवत्व' टि॰ ख॰, 'सायुज्य साम्य' इति प॰। १२ पचवारान्।

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंश कल्प ।

अदत्तस्य परस्वस्य[1] ग्रहण स्तेयमुच्यते । सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादित ॥ ९५ ॥
ज्ञातीनामत्यये[2] वित्तमदत्तमपि समतम् । जीवता तु निदेशेन[3] व्रतक्षति[4] रतोऽन्यथा ॥ ९६ ॥
सक्लेशाभिनिवेशेन[5] प्रवृत्तिर्यत्र जायते । तत्सर्व रायि[6] विज्ञेय स्तेय स्वान्यजनाश्रये ॥ ९७ ॥
[7]रिक्थ [8]निधिनिधानोत्थ[9] न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते । यत्स्वस्या[10]स्वाभिकस्येह दायादो मेदिनीपति ॥ ९८ ॥
आत्मार्जितमपि द्रव्य [11]द्वापरायान्यथा भवेत् । निजान्वयादतोऽन्यस्य[12] व्रती स्व परिवर्जयेत ॥ ९९ ॥
मन्दिरे पदिरे[13]नीरे कान्तारे धरणीधरे । तत्रान्यदीयमादेय स्वापतेय व्रताश्रयै ॥ १०० ॥
[14]यौतवन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म[15]ततो* ग्रह[16] । विग्रहे[17] सग्रहोऽथस्या[18]स्तेयस्यैते निवर्तका[19] ॥१०१॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे अहिंसा का फल बतलानेवाला यह छब्बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।
अब चोरी न करने का उपदेश करते है—

अचौर्याणुव्रत

सर्वसाधारण के भोगने योग्य जल व तृण-आदि पदार्थो को छोडकर क्रोधादि कषाय से, विना दिया हुआ दूसरे का धन ग्रहण करना चोरी कही जाती है ॥ ९५ ॥ कुटुम्बियो की मृत्यु हो जाने पर, उनका धन विना दिया हुआ भी ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु जीवित कुटुम्बियो का धन उनकी आज्ञा लेकर ही ग्रहण किया जा सकता है। अन्यथा (उनकी जीवित अवस्था मे उनकी आज्ञा के विना उनका धन ग्रहण कर लेने पर) अचौर्याणुव्रत की क्षति होती है ॥ ९६ ॥ अपने या दूसरो के धन मे जब आर्त व रौद्र अभिप्राय से (चोरी के अभिप्राय से) प्रवृत्ति की जाती है, तो वह सब चोरी ही समझनी चाहिए ॥ ९७ ॥ निधि (भूमि-आदि मे गडा हुआ जो खजाना व्यय करने पर भी नष्ट नही होता) और निधान (जो व्यय करने पर नष्ट हो जाता है—अल्प खजाना) से उत्पन्न हुआ बिना स्वामी का धन राजा को छोडकर दूसरे का नही है, क्योकि लोक मे जिस धन का कोई स्वामी नही है, उसका स्वामी राजा होता है। अभिप्राय यह है कि नदी, गुफा व खानि-आदि मे पडा हुआ धन राजा के विना दूसरे का नही है, क्योकि स्वामी से हीन हुए धन का राजा स्वामी होता है ॥ ९८ ॥ अपने द्वारा उद्यम-आदि से उपार्जन किया हुआ धन भी यदि सदिग्ध है अर्थात् (यह मेरा है ? या दूसरे का ?) तो उसका ग्रहण करना भी चोरी है, अत व्रती पुरुष को अपने कुटुम्ब के सिवाय दूसरो का धन ग्रहण नही करना चाहिए॥ ९९॥ अचौर्याणुव्रती पुरुष को मन्दिर, मार्ग, जल, वन व पर्वत-आदि मे पडा हुआ दूसरो का धन नही ग्रहण करना चाहिए ॥ १०० ॥

नापने-तोलने के बॉट तराजू-आदि को कमती-बढती रखना, चोरी करने का उपाय बतलाना, चोर से लाई हुई वस्तु को खरीदना, राज्य-विरुद्ध कार्य करना व पदार्थो को सग्रह करना ये अचौर्याणुव्रत के

१ धनस्य। २ विनाशे मरणे सति। ३ आदेशेन ग्राह्य। ४ विनाश। ५ आर्तरौद्राभिप्रायेण प्रवर्तन। ६ धने। ७ धन। ८ यो व्ययीकृत क्षय न याति स निधि.। ९ यद् व्ययीकृत सत् क्षय याति तन्निधानमल्पमित्यर्थ। १० द्रव्यस्य। ११ सशयाय—सन्देहाय। १२ स्ववशादन्यस्य धन वर्जयेत्। १३ मार्गे। १४ तुलाहीनाधिक्ये। १५ चौर्य्यानुमोदन। * तत स्तेनात्। १६ 'चौरार्थादान' टि० ख०, 'चौरादानीतद्रव्यग्रहण' टि० च०। १७ राज्यविरुद्धे। १८ वस्तुन पदार्थस्य। १९ अतीचारा। 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारा' मोक्षशास्त्र अ० ७ सूत्र २७।

रत्नरत्ना[१]ङ्गरत्न[२]स्त्रीरत्नाम्ब[३]रविभूतय । भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेय येषु निर्मलम ॥ १०२ ॥

[४]परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधिया नृणाम् । अत्रैव दोषसभूति परत्रैव च दुर्गति ॥ १०३ ॥

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेन पराक्रमेण सिह इव सिहसेनो नाम नृपति । तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता नामाग्रमहिषी । सुतौ चानयोराश्चर्यसौन्दर्यौदार्यपरितोषितानिमि[५]षेन्द्रौ सिहचन्द्रपूर्णचन्द्रौ नाम । नि शेषशास्त्रविशारदमति श्रीभूतिरस्य पुरोहित [६]सूनृता धिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेय । धर्मपत्नी चास्य पतिहितैकचित्ता श्रीदत्ता नामाभूत् ।

स किल श्रीभूतिर्विश्वासरसनिर्विघ्नतया परोपकारनिघ्नतया[७] च विभक्तानेकापवरक[८]रचनाशालिनीभिर्महाभाण्ड[९]वाहिनीभिर्गोशालोपशल्याभि[१०] कुल्याभि[११] समन्वित[१२]मतिसुलभजलयवसे[१३]न्धनप्रचार [१४]भण्डनारम्भोद्भट[१५]भटी[१६]रपेटकपक्षरक्षासार [१७]गोरुतप्रमाण वप्रप्राकार[१८]प्रतोलिपरिखासूत्रितत्राण प्रपासत्[१९]त्रसभासनाथ[२०]वीथि[२१]-

---

अतीचार है ॥ १०१ ॥ जिन महापुरुषो मे विशुद्ध—निरतिचार-अचौर्याणुव्रत प्रतिष्ठित होता है, उन्हे माणिक्य-आदि रत्न, सुवर्ण आदि, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र-आदि विभूतियाँ विना चिन्तवन की हुई स्वय प्राप्त हो जाती है ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य दूसरो की धनादि वस्तु चुराकर हर्षित होते है, तृष्णा से मलिन बुद्धि वाले उन्हे ऐहिक दु ख (जेलखाने-आदि का कष्ट) और पारलौकिक दुर्गति के कष्ट भोगने पडते है ॥ १०३ ॥

१४. चोरी मे आसक्त श्रीभूति पुरोहित की कथा

चोरी के फल के सबध मे एक कथा है, उसे सुनिए—प्रयाग देश के सिहपुर नामक नगर मे, जहाँ पर वेश्याओ के नूपुर, गृहो मे क्रीडा करती हुईं हसिनियो के मधुर स्वरो के साथ मुखरित हो रहे थे—झुनझुन ध्वनि कर रहे थे, 'सिहसेन' नामक राजा था, जिसकी सेना समस्त समुद्रो से चिह्नित पृथ्वी को वश करने वाली थी ओर जो सिह-सरीखा पराक्रमी था। उसकी समस्त लोक के मनुष्यो द्वारा प्रशसनीय चरित्रशालिनी 'रामदत्ता' नामकी पट्टरानी थी। उनके आश्चर्यजनक लावण्य सम्पत्ति एव उदारता द्वारा देवो के इन्द्रो को प्रमुदित करने वाले 'सिहचन्द्र' व 'पूर्णचन्द्र' नामके दो पुत्र थे। समस्त शास्त्रो मे निपुण बुद्धिशाली 'श्रीभूति' राज-पुरोहित था। अपनी बुद्धि को सत्य वचन की ओर विशेष प्रेरित करने से उसका दूसरा नाम 'सत्यघोष' भी था। पति का हित करने मे लीन चित्तवाली उसकी 'श्रीदत्ता' नामकी धर्मपत्नी थी।

श्रीभूति पुरोहित विना विघ्न वाधाओ के अपना विश्वास व प्रेम उत्पन्न करने मे समर्थ था और परोपकार करने के अधीन था। अत उसने एक ऐसा क्रयाण नगर बनवाया, जो कि ऐसी पटशालाओ (वस्त्रगृहो—तम्बुओ) से युक्त था, जो कि जुदे-जुदे अनेक अन्तर्गृहो की रचना से सुशोभित थी। जहाँ पर बडे-बडे वर्तन स्थापित थे और जो गोशाला के नजदीक थी। जहाँ पर जल, घास व इंधन का मिलना सुलभ था। जो युद्ध के आरम्भ करने मे उत्कट योद्धाओ के समूह के निवास से विशेष सुरक्षित होने के कारण उत्तम था। जो एक कोस के विस्तार मे बना था। जो खेत, कोट, मुख्य मार्ग और खाईं होने से सुरक्षित था और

---

१ सुवर्णादि। २ उत्तमस्त्री। ३ उत्तमवस्त्र। ४ परवस्तुचौर्यहर्षेण। ५ देवा। ६ सत्यवचन। ७ परवशतया। ८ त्ररडा वोवरा ?। ९ 'कुण्डकुण्डीप्रमुख' टि० च०, 'वाखरभाजन ? टि० ख०। १० गोमहिषीबन्धनस्थानसमीपाभि। ११–१२ वस्त्रशाल, पटशालाभि क्रयाणपत्तन पीठस्थान विनिर्माप्य। १३ तृण। १४ सग्राम। १५ उत्कट। १६ सुभट। १७ क्रोश। १८ अधोलोढभित्त्याधार। १९ सत्रमाच्छादने यज्ञे सदात्ाने वनेऽपि च इत्यमर,। सकलित—सम्पादक २०, सहित। २१ मार्ग।

निवेशन पण्यपुटभेदन[1] विदूरितकितवविटविदूषक[2]पीठ[3]मर्दावस्थान [4]पेण्ठास्थान विनिर्माप्य नानादिग्देशोपसर्पण-युजा वणिजा प्रशान्त[5]शुल्क[6]भाटक[7]भाग[8]हारव्यवहारमचीकरत् ।

अत्रान्तरे पद्मिनीखेटपट्टनविनिविष्टा[9]वासतन्त्रस्य **सुदत्ता**कलत्रचरित्रपवित्रितगोत्रस्य वणिक्पते **सुमित्रस्य** [10]निजसनाभिजनाम्भोजभानु सूनुर्**भद्रमित्रो** नाम समानधनचारित्रैर्वणिक्पुत्रैः सत्त्र [11]वहित्रयात्राया यियासु ।

'पादमाया[12]न्निधि[13] कुर्यात्पाद वित्ताय कल्पयेत् । धर्मोपभोगयो पाद पाद भर्तव्यपोषणे[14] ॥१०४॥' इति ।

*पुण्यश्लोकार्थमवधार्य विचार्य चातिचिरमुप[15]निधिन्यासयोग्यमावासम् उदिताचारसेव्योऽवधारितेतिकर्तव्य-स्तस्याखिललोकश्लाघ्यविश्वासप्रसूते **श्रीभूते**र्हस्ते तत्पत्नीसमक्षमनघ[16]कक्षमनुगताप्तक[17] रत्नसप्तक निधाय विधाय च जलयात्रासमर्थमर्थमेकवर्णप्रजाप्रलापसुवर्णद्वीपमनुससार ।

जहाँ पर प्याऊ, सदावर्त और व्यवहार-निर्णय करने वाली सभा से युक्त हुई गृह पक्तियो की रचना पाई जाती थी ।

और उसमे ऐसा पीठस्थान (बाजार) बनवाया, जो कि जुआडियो, विटो, विदूषको व मशखरो की स्थिति से रहित था । वहाँ वह नाना दिशा सबधी देशो से आने वाले वणिको के साथ स्वल्पव्याज व स्वल्प-भाडा और थोडे दान-ग्रहण वाला व्यापार करने लगा ।

इसी बीच मे पद्मिनीखेट नगर मे स्थित हुए गृह मे निवास करने वाले और सुदत्ता नामकी स्त्री के सदाचार से पवित्र वशवाले, वणिक् स्वामी 'सुमित्र' नामके सेठ का अपने कुटुम्बी जनरूपी कमलो को विक-सित करने के लिए सूर्य-सरीखा 'भद्रमित्र' नाम का पुत्र था ।

एक समय वह धन व चरित्र मे अपने सरीखे अन्य वणिक् पुत्रो के साथ यानपात्र (जहाज) द्वारा समुद्र यात्रा करने का इच्छुक हुआ ।

नीति मे कहा है—'अपनी आमदनी का एक चौथाई तो पूजी-निमित्त निर्धारित करके रखना चाहिए । एक चौथाई व्यापार के लिए निर्धारित करना चाहिए । एक चौथाई धार्मिक कार्यो व उपभोग मे खर्च करना चाहिए और एक चौथाई से अपने आश्रितो का पालन करना चाहिए' ॥ १०४ ॥

इस सत्य वाणी को निश्चय कर भद्रमित्र ने अपनी स्थापनीय रत्नादि निधि को किसी सुरक्षित योग्य स्थान मे रखने का चिरकाल तक विचार करके शास्त्रोक्त सदाचार पालनेवाले व निश्चित कर्तव्यशील उसने अन्त मे समस्त लोक मे प्रशसनीय विश्वास के जनक उसी श्रीभूति के हाथ मे उसकी स्त्री के समक्ष अत्यन्त मूल्यवान पक्षवाले व पूर्व पुरुषो द्वारा सचय किये हुए अपने सात रत्न धरोहररूप मे स्थापित करके जल-यात्रा मे समर्थ धन को अपने पास रखकर एक जहाज द्वारा ऐसे सुवर्ण द्वीप को प्रस्थान किया, जहाँ पर एक वर्ण वाली प्रजा के रहने की किंवदन्ती है ।

---

१ क्रयाणपत्तन । २ वैहासिक । ३ 'कामाचार्य वेश्याचार्य' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'पीठमर्द नाटकाचार्य' इत्याह । ४ पीठस्थान । ५ स्वल्प । ६ व्याज । ७ भाडा । ८ दाण । ९ स्थितम् । १० 'गोत्रजन' टि० ख०, 'सनाभिबन्धु' इति पञ्जिकाया । ११ यानपात्र । १२ उपार्जन-लाभमध्यात् । १३ पुजीनिमित्त । १४ निर्धारित कार्यं । * पुण्यश्लोक सत्यवाक् । १५ स्थापनीय द्रव्य । १६ बहुमूल्यपक्ष । १७ पूर्वपुरुषसचित ।

पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमचिन्त्यमात्माभिमत [१]वस्तुस्कन्धमादाय [२]प्रत्यावर्तमानस्यादूरसागराव-सानस्याकाण्डप्रचण्डबलादनिलात्परिवर्तित[३]पोतपात्रस्य [४]यद्भविष्यत्तया आयुष शेषत्वात्तस्यैकस्य प्रमादफलका[५]-वलम्बनोद्यतस्य कण्ठप्रदेशप्राप्तजीवितस्य कथकथमपि क्षणदाया [६] क्षयिणि चरमयामक्षणेऽब्धिरो[७]धोपलब्धिरभवत् ।

ततोऽसौ [८]सुखैधितशरीरत्वादपाराकूपारक्षारवारिवशवशि[९]काशयश्चिरायापचित[१०]मूर्छोदय करप्रचार-चूर्णितचक्रवाकचिन्तामणौ[११] प्रागचलचूलिकाचक्रवालचूडामणौ कमलिनीकुलविकासाहितहसवा[१२]सिताशमणि विश्व-कर्मणि[१३] [१४]दलन्नलिनान्तरालरुचिरे लोचनगोचरे सजाते सति बान्धवजनमरणाद्द्रविणसद्रवणा[१५]च्चातीवान्तर्मनस्तया[१६] [१७]छातच्छायकाय [१८]पटच्चरचैलचीरीनिचिताङ्ग[१९]शकटि कर्पटि * परपस्त्यो[२०]पास्तिनिरस्ताभिमानावनिरवतनि [२१] सन् क्रमेण सिंहपुर नगरमागत्य गीर्मात्रावसेय[२२]पूर्वपर्यायस्त महामोहरसो[२३]त्सारितप्रीति श्रीभूतिमभिज्ञानाधिकवाक्यो माणिकसप्तकमयाचत । परप्रतारणाभ्यस्तश्रुतिगीति [२४] श्रीभूति ।

वहाँ अनगिनती विक्रेय वस्तुएँ•बेचकर तथा उनके बदले मे चिन्तवन के लिए अशक्य व मनचाही वस्तु-समूह खरीदकर वापिस लौट रहे उसको जब समुद्र का किनारा समीप आया तब असमय मे आये हुए प्रचण्ड शक्तिशाली वायु के झकोरो से (बडे जोर का तूफान आने से) इसका जहाज उच्छलित हो गया—उलट गया। दैव (भाग्य) की अवलम्बन-परता से व आयु बाकी रहने से वह टूटी हुई जहाज के टूटे हुए काष्ठ खण्ड को ग्रहण करने उद्यत हुआ। कण्ठदेश मे प्राप्त हुए प्राणवाले उसे रात्रि के अन्तिम पहर बीतने पर किसी प्रकार से समुद्र-तट की प्राप्ति हुई।

यह सुख से वृद्धिगत शरीर वाला था, परन्तु उक्त घटना से और अपार समुद्र के खारे जल से इसका चित्त शून्य हो गया और चिरकाल मे इसकी उत्पन्न हुई मूर्च्छा दूर हुई। जब ऐसा सूर्य दृष्टिगोचर हुआ—उदित हुआ, जिसने अपनी किरणो के प्रसार से चकवी-चकवो का चिन्तारूपी मणि चूर-चूर किया है। जो उदयाचल की शिखर-मण्डल का चूडामणि (मुकुटमणि) है। जिसने कमलिनी के समूह को विकसित करने से हसिनी मे सुख स्थापित किया है और जो विकसित कमलो के मध्य प्रविष्ट होने से मनोज्ञ है। तब बन्धुजनो के मरण से और धन के विनाश हो जाने से उसे विशेष मानसिक दु ख हुआ। उसकी शारीरिक कान्ति म्लान हो गई थी। उसकी शरीररूपी छोटी गाडी जीर्ण वस्त्र के चीथडो से आच्छादित थी। वह निर्धन था। परगृहो की सेवा से उसकी अभिमानरूपी पृथिवी नष्ट हो चुकी थी। अन्त मे आजीविका-शून्य हुआ वह घूमता-घूमता क्रम से सिंहपुर मे आया। उसकी पूर्वदशा केवल वचन द्वारा ही निश्चय करने योग्य थी। वह श्रीभूति का स्मरण करके जोर-जोर से चिल्लाता था। उसने तीव्र लोभ के कारण प्रीति का त्याग करनेवाले श्रीभूति से अपने सात रत्न माँगे।

दूसरो को ठगने के लिए वेद व स्मृति शास्त्र का अभ्यास किये हुए श्रीभूति ने सोचा—

---

१ वस्तुसमूह। २ व्याघुटितस्य। ३ उच्छलित। ४ दैवावलम्बनपरतया। ५ त्रुटितभग्नप्रवहणिकाष्ठ। ६ रात्रे। ७ समुद्रतट। ८ वर्द्धित। ९ शून्यचित्त। १० स्फेटित। ११ चिन्ता एव मणि। १२ स्त्री। १३ आदित्ये—सूर्ये। १४ विकसत्कमल। १५ धनविनाशात्। १६ मानसदु खेन। १७ कृश। १८ जीर्णवस्त्र। १९ अङ्गमेव शकटि। * 'कटिमात्रवस्त्र कापडीसदृशो वा' इति टि० ख०। पञ्जिकाया तु 'कर्पटि निस्व।' 'दरिद्री' इति टि० च०। २० परगृहसेवा। २१. 'वर्तनि. आजीविका' टि० ख०। प० तु 'अवर्ता-निर्जीविका'। २२ ज्ञातानुक्रम। २३ त्यक्तस्नेह। २४ शास्त्र, वेद स्मृतिश्च।

'सुप्रयुक्तेन दम्भेन [1]स्वयभूरपि वञ्च्यते । का नामालोचना[2]न्यत्र[3] सवृत्ति[4] परमा यदि ॥ १०५ ॥'

इति परामृश्य [5]महाघङ्घ्राघ्रातचेतास्तमायातशु[6]चमेवमवोचत्—'अहो, दुर्दुरूट[7] किराट, किमिह खलु त्व केनचित्पिशाचेन छलित, किमु मनोमहामोहावहानुरोधेन मोहनौषधेनातिलङ्घित, 'कि वा कितवव्यवहारेषु हारितसमस्तचित्तवृत्ति, उत अहो परचित्तवञ्चनपिशाचिकया कयाचिल्लञ्जिकया[8] जनितदुष्प्रवृत्ति, आहोस्वित्फलवत[9] पादपस्येव श्रीमत क्रियमाणोऽभियोगो[10] न खलु किमपि फलमसपाद्य विश्राम्यतीति चेतसा केनचिद्दुर्मेधसा विप्रलब्धबुद्धिर्येनैवमतिविरुद्धमभिधत्से[11] । क्वाहम्, क्व भवान्, क्व मणय, कश्चावयो सबन्ध । तत्कूटकपटचेष्टिताकर, पट्टनपाटच्चर[12], अणकपणिक[13], सकलमण्डल*प्रतीतप्रत्य[14]यिकशीलमति[15]वेलमेव मामकाण्डे चण्डकर्मन्पर्यनुयुञ्जान[16] कथ न लज्जसे ।'

पुनश्चैनमर्थप्रार्थनपथमनोरथविशाल शब्दाल[17] बलात्पालिन्द[18]मन्दिरमनुचरैरानाय्यानार्यमति[19], 'देव, अय वणिग्निष्कारणमस्माक दुरपवादमृदङ्गवन्मुखरमुख सुखेनानस्तितस्तानक[20] इवासितु न ददाति' इत्यादिभिरुदितैरवाप्तप्रसरतयोत्तेजित[21]राजहृदयस्तथैव पृथिवीनाथेनापि [22]निराकारयत् ।

'अच्छी तरह से प्रयोग किये हुए छल से ब्रह्मा भी ठगाया जाता है और यदि [ठगने-योग्य] दूसरे मनुष्य मे पूर्व अवस्था का लोप हो गया है, अर्थात्—विशेष परिवर्तन हो गया है, तब तो विचार करने की बात ही क्या है ? अर्थात्—उसे ठगना सुलभ है' ॥ १०५ ॥

विशेष तृष्णा से व्याप्त चित्त वाले श्रीभूति ने शोकाकुल वणिक्-पुत्र से कहा—'अरे दुराग्रही भील ! क्या तू यहाँ पर किसी पिशाच द्वारा निस्सन्देह छला गया है ? या मानसिक तृष्णा को उत्पन्न करने वाले आग्रह वाली किसी मोहन औषधि द्वारा तू आक्रान्त हुआ है ? अथवा जुआ खेलने मे तेरी समस्त चित्तवृत्ति हराई गई है ? अथवा आश्चर्य है कि क्या दूसरो के चित्त को धोखा देने मे पिशाचिनी-सरीखी किसी दासी द्वारा तेरे मे खोटी प्रवृत्ति उत्पन्न की गई है ? अथवा—जिस प्रकार फलशाली वृक्ष पर किया हुआ लकडी का प्रहार, विना फल गिराये विश्राम नही लेता उसी प्रकार धनाढ्य के ऊपर किसी दुष्ट पुरुष के द्वारा किया हुआ प्रहार भी विना धन-आदि प्राप्त किए विश्राम नही लेता, ऐसा सोचकर किसी दुर्बुद्धि ने तेरी बुद्धि ठगी है ? जिससे तू उल्टे वचन बकता है, क्योकि कहाँ मै, कहाँ तू, कहाँ रत्न और कहाँ मेरा व आपका सबध ? अत कूट कपट-पूर्ण चेष्टाओ की खानि, नगरचोर, निन्द्य व उग्र कर्म वाले वणिक् ! समस्त देश मे विश्वसनीय प्रकृति वाले मुझसे असमय मे विशेषरूप से पूँछता हुआ तू लज्जित क्यो नही होता ?

इसके उपरान्त दुर्बुद्धि श्रीभूति धन की प्रार्थना के मार्ग-युक्त महान मनोरथ वाले और वाचाल इस भद्रमित्र वणिक्-पुत्र को जबर्दस्ती सेवको द्वारा राजमहल मे ले गया और राजा से बोला—'देव ! यह वणिक्, जिसका मुख अकारण मेरी अपकीर्ति करने के लिए मृदङ्ग-जैसा वाचाल हो रहा है और जो विना नाथ के बैल-जैसा मुझे सुख से बैठने नही देता ।' इत्यादि बातो द्वारा नम्रता प्राप्त करने से श्रीभूति ने राजा का हृदय

---

१ ब्रह्मा । २ विचार । ३ परनरे । ४ ज्ञपन लोप । ५ तृष्णा । ६ प्राप्तशोच । ७ 'दुराग्राहिन्' टि० ख० । प० तु 'दुर्दुरूट दुराग्रही' । ८ दास्या । ९ वृक्षस्य चालन खखेरण । १० उद्यम झकटकलक्षण । ११ वदसि । १२ रे पत्तनचौर ! । १३ निन्द्यवणिक् ! । * देश । १४ 'विश्वासस्वभाव' टि० ख०, पञ्जिकाया तु 'प्रत्ययिको विश्वास्य' । १५ गाढ अतीव । १६ पृच्छन् । १७ वाचाल । १८ राजमन्दिर । १९ असभ्य । २० नाथरहितवृषभवत् । २१ कोपित । २२ निर्द्धाटन कारयामास टि० ख०, निर्घाटयामास टि० च० ।

भद्रमित्र' 'चित्रमेतन्ननु यन्मामपि [1]परविप्रलम्भाय कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयमनन्यसामान्यसाहसालयमेष, [2]मोषधिषणानिधिरपर[3] इवापायजलधि र्नगरमध्येऽपि मोषितुमभिलषति' इति जाता[4]मर्षोत्कर्षस्त[5]न्यासार्पणेऽतिचिक्कणचित्त[6] निश्चित्य स्वाध्यायिपरिषदि[7] महापरिषदि[8] च तदन्यायोपन्यासविन्यासेन साध्यसिद्धिमनववुद्धचानधीनधी[9] [10]अशङ्कुशुकमतिर्महादेवीधामनेम[11]निवेशमम्लि[12]कानोकहशिखादेशमारुह्यापद्गृह्य [13]कुररीविरहावसर कुरर इव [14]तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये '[15]सुहृच्चराहूति श्रीभूतिरेवविधकरण्डविन्यस्तम्, इयत्सस्थानसमम्, एतद्वर्णम्, अदः सख्याभ्यर्णं च मदीय मणिगणमुपनिधि[16]निधेय न प्रतिददातीत्यत्रास्यैव धर्मरमणी साक्षिणी च। यदि च [17]यद्वदतयैतदन्यथा मनागपि भवति तदा मे चित्रवधो विधातव्य।'

इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्ध्वमध्यमूर्ध्वबाहु सर्वर्तुपरिवर्तार्द्धं[18] पूतकुर्वन्नेकदा नगराङ्गनाजनस्य [19]*चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रय कौमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया तमङ्गोत्सङ्गसमासीनया[20] निपुणिकाभिधानो-

कुपित कर दिया, जिससे राजा ने भी उसे निकलवा दिया।

तब भद्रमित्र ने विचार किया—'निस्सन्देह यह आश्चर्य की बात है कि चोरी करने की बुद्धि का निधि यह श्रीभूति, जो ऐसा मालूम पडता है—मानो—मेरा धन नष्ट करनेवाला दूसरा समुद्र ही है—दूसरो को ठगने के निमित्त से वशपरम्परा से प्राप्त हुई समस्त लक्ष्मी के स्थानीभूत और असाधारण साहस के गृह मुझे भी नगर के मध्य मे ठगने की इच्छा करता है'। अत उसे उत्कट क्रोध उत्पन्न हुआ। पश्चात् उसने श्रीभूति को स्थापित धन के वापिस देने मे विशेष लुब्धचित्तवाला अथवा पञ्जिकाकार के अभिप्राय से विचारशून्य निश्चय किया और जब उसने मठाधीश विद्वानो की सभा मे और न्याय के चिन्तन मे नियुक्त हुए धर्माधिकारियो की सभा (न्यायालय) मे श्रीभूति के अन्याय (धरोहर सम्पत्ति का अपहरण) के स्थापन करने से अपनी प्रयोजन-सिद्धि (सात रत्नो की प्राप्ति) नही समझी तब परवश बुद्धिवाला और स्थिर-अस्थिर बुद्धि-युक्त हुआ वह महारानी के महल के समीप स्थित हुए इमली के वृक्ष की शिखर पर आरूढ होकर वैसा सकट-ग्रस्त हुआ जैसे पक्षिणी के वियोग के अवसर वाला पक्षी सकट-ग्रस्त होता है।

इसके उपरान्त वह रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर की वेला मे अपनी भुजाओ को ऊपर उठाकर अपना मध्यभाग ऊपर करने पूर्वक ऊँचे स्वर से कम्पन-पूर्वक जोर से चिल्लाता रहा—'मेरा पूर्व का मित्र किन्तु अब शत्रु नाम वाला श्रीभूति, अमुक प्रकार के पिटारे मे रक्खे हुए, अमुक आकारवाले, अमुक वर्णवाले, अमुक सख्यावाले मेरे रत्न-समूह (सात रत्न) नही देता, जिन्हे मैने उसके पास स्थापनीय (धरोहर के रूप मे) रूप से स्थापित किये थे। इस विषय मे इसकी धर्मपत्नी ही साक्षी है। यदि मेरा यह कथन असम्बद्ध प्रलाप से जरा भी झूँठ हो तो मेरा गूढ वध कर देना चाहिए।' इस प्रकार वह छह माह तक चिल्लाता रहा।

इसके पश्चात् एक समय ऐसी रामदत्ता रानी ने इसका चिल्लाना सुनकर करुण अभिप्राय से इसे

१ परवचननिमित्त मामपि मोषितुमभिलषति। २ चौर्य। ३ द्वितीय। ४ क्रोध। ५ स्थापितधनदाने। ६ लोभिष्ठ। 'चिक्कण अपरिच्छेदक' इति प०। ७ स्वाध्यायिमठिकाप्रतिवद्धसमूहे। ८ न्यायचिन्तनाधिकारसमूहे—धर्माधिकारे। ९ परवशबुद्धि। १० अशङ्कुशुका स्थिरास्थिरा। ११ नेम समीप। १२. चिचिणीवृक्ष। १३ पक्षिणी। १४ रात्रि। १५. पूव सुहृदिदानी शत्रुरिति नाम। १६ स्थापनीय धन स्थाप्य। १७ असम्बद्धप्रलापतया। १८ षण्मासान् यावत्। १९ चन्द्र एव अमृतपात्र तदेव यन्त्रधारागृह। * "शिशिरकरकिरणामृतासारावगाहगौरितजगत्त्रयम्" इति क०। २० उपरितनभूमिस्थितया रामदत्तया।

[1]पसवित्रीसमेतया अनाथलोकलोचनचकोर[2]कौमुदीकल्पवृत्तया **रामदत्तया** करुणारसप्रचारपदव्या[3] महादेव्याकर्णितानु-[4]क्रोशाभिनिवेशान्निर्वर्णितश्च ।

तदनु 'अस्मन्मन सधात्रि धात्रि,[5] न खल्वेष मनुष्य पिशाचपरिप्लुतो[6] नाप्युन्मत्ताचरितो यतस्त दिवस-माद्य कृत्वा सकलमपि [7]परिवत्सरदलमेकवाक्यव्याहा[8]राकुण्ठ[9]पाठकठोरकण्ठनाल । तद्विचारयेय तावदचिरकाल [10]शारविशारदहृदयाम्बुजस्य एतत्क्रीडाव्याजेन [11]मन्त्रेरन्त करणम् । अम्बिके[12], त्वयापि [13]द्यूतदेवनावसरे यद्यहमेन-मनेककुच्च[14]राचारनिचितचित्तमतिबहुकुक्कु[15]'टिचेष्टित बकोटवृत्तमुदन्तजात पृच्छामि, यद्यच्चास्य [16]कटकोर्मिकाशुका-दिक जयामि, तत्तदेवाभिज्ञानीकृत्य मृगीमुख्यव्याघ्रीसमाचारकट्टनी[17] **श्रीदत्ता** भट्टिनी [18]तिन्तिणीकातरुभाजोऽस्य वणिजो [19]विषमरुचिमरीचिसख्यासपन्नानि रत्नानि याचयितव्या ।'

इति **निपुणिकाया** कृतसगीति[20] श्वस्त्येऽहनि[21] 'सदैव मदीयहृदयानन्ददुन्दुभे दुन्दुभे[22], त्वयापि भगवत्या साधु विजृम्भितव्यम्, यद्यस्य चिञ्चापुरुषस्यास्ति सत्यता' इत्यध्यैष्य[23] तथैवाचरिताचरणा शतशास्तत्तदभिज्ञानज्ञापनानु-

---

देखा, जो कि राजमहल की उपरितन भूमि पर बैठकर नागरिक कामिनी जनो की कौमुदी महोत्सव-वेला को, जिसने चन्द्ररूपी अमृतपात्र के फुव्वारा-गृह मे प्रवेश करने से तीन लोक शुभ्र किये है, देख रही थी, जो निपुणिका नाम की धाय सहित थी। जिसका चरित्र अनाथलोक के नेत्ररूपी चकोर पक्षियो को सन्तुष्ट करने के लिए चाँदनी की सृष्टि करनेवाला है और जो करुणा रस के प्रचार की मार्गरूप है।

पश्चात् उसने अपनी निपुणिका धाय से कहा—'मेरे मन मे मैत्री स्थापित करनेवाली धाय ! निस्सन्देह यह मनुष्य पिशाच के द्वारा गृहीत नही है, और न इसका आचरण पागलो-सरीखा है, क्योकि इसकी कण्ठनाल उसी दिन से लेकर लगातार छह माह तक उक्त प्रकार एक वाक्य सबधी उच्चारण के अमन्द पाठ से कठोर हो गई है। अत मुझे द्यूतक्रीडा के बहाने से द्यूत-क्रीडा मे प्रवीण हृदय कमलवाले श्रीभूति मन्त्री के हृदय की परीक्षा शीघ्र करनी चाहिए।

माता ! जुआ खेलते समय मै अनेक कुत्सित (निन्द्य) आचरण से व्याप्त चित्तवाले, अत्यधिक मायाचार की चेष्टा-युक्त व बगुला भगत से जो जो वृत्तान्त-समूह पूँछू और जो उसके कङ्कण, अँगूठी व वस्त्रादि जीतूँ उनकी स्मृति या पहिचान कराकर—उन सब को प्रमाण रूप से उपस्थित करके—तुम्हे उस मृगी के समान मुखवाली किन्तु सिंहनी के समान आचरणवाली कुट्टनी श्रीदत्ता से इमली के वृक्ष पर आरूढ हुए इस वणिक् के सप्तार्चि (अग्नि) की सख्यावाले (सात) रत्न माँग लाने चाहिए।'

रानी ने इसप्रकार 'निपुणिका' धाय को सकेत कर दिया और आगामी दिन मे प्रार्थना की—'हे मेरे हृदय को सदा आनन्द देनेवाले दुन्दुभि-सरीखे पाशदेवता ! यदि इस इमली के वृक्षवाला पुरुष सच्चा है तो भगवती तुझे भी इसमे अच्छी तरह सहायता करनी चाहिए।' पश्चात् उसने वैसा ही किया, अर्थात्—श्रीभूति के साथ शतरञ्ज खेलकर उसके कडे, अँगूठी और वस्त्रादि जीत लिये और श्रीभूति की पत्नी से,

---

१ धात्री। २ 'चन्द्रिकाचारुवृत्तया' इति क०। ३ मार्गरूपया। ४ 'करुणाभिप्रायात्' टि० ख०। प० तु अनुक्रोश अनुग्रह। 'अनुग्रह' टि० च०। ५ हे मात !। ६ गृहीत। ७ सवत्सरार्द्धं। ८ आलाप। ९ अमन्द। १० द्यूतक्रीडा। ११ सचिवस्य। १२ हे धात्रि !। १३ क्रीडन। १४ कुत्सित। १५ माया। १६ ककण, मुद्रिका, वस्त्र। १७ 'कुट्टिनी' इति क०। १८ चिञ्चा। १९ सप्तार्चिसख्यानि। २० सकेत.। २१ आगामिदिने। २२ हे धात्रि !। २३ प्रार्थ्य।

बन्ध[1]तन्त्रात्तत्कलत्रान्मणीनुपप्रणीय[2] राज्ञ समर्पयामास। स राजाऽद्भुताशौ[3] स्वकीयरत्नराशौ तानि सकीर्य[4] आकार्य चैनमासन्नलक्ष्मीकल्पलताविलासनन्दन[5] वैदेहिकनन्दनम्[6], 'अहो वणिक्तनय, यान्यत्र रत्ननिचये[7] तव रत्नानि सन्ति तानि त्व विचिन्त्य गृहाण' इत्यभाणीत्। भद्रमित्र. 'चिरत्राय[8] ननु दिष्टचा[9] वर्धेऽहम्' इति मनस्यभिनिविश्य[10] 'यथादिशति विशा पति' इत्युपदिश्य विमृश्य च तस्या माणिक्यपुञ्जौ[11] निजान्येव मनाग्विलम्बितपरिचयचिरत्नानि[12] रत्नानि समग्रहीत्।

तत स नरवर सपरिवार प्रकाम विस्मितमति 'वणिक्पते, त्वमेवात्रान्वर्थत सत्यघोष, त्वमेव च परमनि स्पृहमनीष, यत्तव चेतसि वचसि च न मनागप्यन्यथाभाव समस्ति' इति प्रतीतिभि पारितोषिकप्रदानपुरसरप्रकृतिभिस्तत्तदौ[13]पयिकोपचितिवसतिभिश्च भणितिभिस्तमखिलब्रह्म[14]स्तम्बस्ति[15]भीविजृम्भमाणगुणगणस्तोत्र भद्रमित्र कथकारं न श्लाघयामास। पुनरदूराशिवतातिं[16] श्रीभूतिं निखिललोक[17]लपनालवालमूलकौलीनता[18]लताश्रयशाखिन न्युब्जानन[19] निसर्गेण [20]हरिणीसमच्छायमपि महासाहसानुष्ठानात्सू[21]र्मीसमानकायमनल्पवैलक्ष्य[22]स्फुटदास्वनित[23]-

---

जो कि सैकडो उन उन चिह्नो—कङ्कण-आदि—के ज्ञापन की निरन्तर प्रवृत्ति से परवश हुई है, उक्त वणिक् के सात रत्न मँगवाकर राजा के लिए समर्पण कर दिये।

राजा ने अद्भुत किरणो वाली अपनी रत्न-राशि मे उन्हे मिलाकर समीपवर्ती लक्ष्मीरूपी कल्पलता की क्रीडा के लिये नन्दनवन-सरीखे उस वैश्यपुत्र को बुलाकर कहा—'वणिक्पुत्र! इस रत्नसमूह के मध्य मे जो रत्न तुम्हारे हो, उन्हे जानकर ले लो।'

'चिरकाल के पश्चात् उत्पन्न हुए पुण्य से मै बढ रहा हूँ' ऐसा मन मे अभिप्राय करके 'भद्रमित्र' ने कहा—'राजा सा० जैसी आज्ञा देते है।'

पश्चात् उसने उस रत्न-समूह के मध्य मे से अपने ऐसे सात रत्न विचार कर ग्रहण कर लिए, जिनमे अल्प विलम्ब वाली जानकारी के कारण काल-क्षेप (कुछ समय का यापन) वर्तमान था।

यह देखकर राजा सकुटम्ब विशेष आश्चर्यान्वित बुद्धि वाला होकर बोला—'हे वणिक्-पति! तुम ही लोक मे यथार्थ सत्यघोष हो, तुम ही विशेष वाञ्छा-रहित बुद्धिमान हो क्योकि तुम्हारे मन व वचन मे जरा-सी भी धनलम्पटता या छलछिद्रता नही है।' राजा ने इस प्रकार के पारितोषिक-पूर्वक धन-प्रदान स्वभाव वाले विश्वासो द्वारा और तत्काल मे उचित सम्मान के स्थानीभूत वचनो द्वारा भद्रमित्र की अत्यधिक प्रशसा की, जिसके गुण-समूह की स्तुति समस्त ब्रह्माण्ड के हृदय मे विस्तृत हो रही है,

जब राजा ने श्रीभूति को ऐसा देखा, जो कि समीपवर्ती अमङ्गल वाला है, जो कि समस्त लोक की मुखरूपी क्यारो मे स्थित हुई जडवाली लोक-निन्दारूपी लता के आश्रय के लिए वृक्ष-सरीखा है, जो नीचा मुख

---

१ सतत्या प्रवर्तमानपरवशात्। २ आनीय। ३ किरणे। ४ मिश्रीकृते। ५. 'क्रीडावन' टि० ख०, 'देवोद्यान' टि० च०। पञ्जिकाया तु नन्दन देवोद्यान। ६. वैश्यपुत्र। ७ रत्न-समूहमध्ये। ८ चिराय। ९ समुपजातेन पुण्येन। १० अभिप्राय कृत्वा। ११ पुञ्जि समूह। १२ मनाग्विलम्बितपरिचयेन चिरत्न कालक्षेपो येषु रत्नेषु तानि चिरत्नानि। १३ तत्तस्मात्तदाकाले उचितजाताभि टि० ख०, प० तु उपयिकमुचितम्। १४ ब्रह्माण्ड। १५ हृदय। १६ समीपाऽमगल। १७ मुख। १८ जनापवाद टि० ख०, प० तु दुरपवाद। १९ अधोमुख। २० स्वर्णप्रतिमा। २१ लोहप्रतिमा। २२ उन्मार्ग। २३ हृदय।

मतीव भयाविर्भूतोत्पथ[1]वेपथुस्ति[2]मितमवेक्ष्य बह्वाक्षेपम्, 'आ[3] [4]सोमपायिनामपाङ्क्तेय[5] वैधेय[6], विश्वास-घातक, पातकप्रसव, श्रोत्रियकितव, दुराचार, प्रवर्तितनूत्नरत्नापहार, कुशिककुलपासन[7], बकानुष्ठानसदन, साधुजन-मनःशकुनि[8]बन्धनायातनुतन्त्री[9]जालमिव खलु तवेद यज्ञोपवीतम् । असदाचारावधिक[10], वेदवैवधिक[11], सद्धर्मधाम-ध्या[12]मलताविधानाय [13]विश्वभोजसमिन्धन[14], अकृत्यचैत्य[15], व्रात्या[16]मात्य, जरायमदूतिकोपपत्तिक'[17] दुर्गतिक[18], किमात्मनो न पश्यसि [19]चर्मतरुत्वचमिवातिप्रवृद्धविश्रोवात्यो[20]न्माथशिथिलता प्रभातप्रदीपिकामिवास्तासन्नजीवित-रविमङ्गच्छवि[21] येनाद्यापि वयोधसि[22] वयसि वर्तमान इव चेष्टसे । तदिदानी यदि घनाभि[23]घारघोरतेजसि विश्व-वेदसि[24] निक्षिप्यसे, तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य तवाचिरदु खदायिपरिग्रहोऽनुग्रह इव ।

ततो द्विजापसद, [25]कदाचित्त्वयेदमतिदुर्गन्धगोर्वरोद्गर्वि[26]तमध्याशय [27]शालाजिरत्रयमशितव्यम्, नो चेदशरा-ल[28]बलोत्फुल्लगल्लाना मल्लाना त्रयस्त्रिंशदपहस्त[29]प्रहृतानि सहितव्यानि । ध्रुवमन्यथा तव सर्वस्वापहार ।' प्रणाशाव-

---

किये हुए है, जो पूर्व मे स्वभावत सुवर्ण की मूर्ति-सरीखा कान्ति-युक्त था, परन्तु महान् दुस्साहस-युक्त कर्म करने से वह लोहे की मूर्ति-सरीखे शरीर-युक्त मालूम पडता है, जिसका मन प्रचुर उन्मार्ग (कुपथ) मे गमन करने से भग्न हो रहा था—चूर-चूर-हो रहा था और जो विशेष भय से उत्पन्न हुए बेमर्याद कम्पन से प्रस्वे-दित (अत्यधिक पसीना-युक्त) था, तब उसने विशेष तिरस्कार पूर्वक कहा—'बडा खेद है, हे ब्राह्मणो के मध्य पङ्क्ति-रहित ! अर्थात्—हे ब्राह्मण-श्रेणी मे रखने के अयोग्य (जाति से वहिष्कृत) ! निर्भाग्य ! हे विश्वास-घातक व पातको की उत्पत्ति स्थान ! हे ब्राह्मण-धूर्त ! दुराचारी ! नवीन रत्नो का अपहरण करनेवाले ! हे ब्राह्मण-वश-दूषण ! हे बगुला सरीखी कुटिलता के स्थान ! निस्सन्देह तेरा यह यज्ञोपवीत शिष्ट पुरुषो के मन-रूपी पक्षियो के बन्धन के लिए वृहत् तातो का जाल-सरीखा है । हे पापाचार की चरम सीमावाले ! वेदरूपी कावडी के धारक (वेदो के भारवाहक) ! प्रशस्त धर्मस्थान मे मलिनता उत्पन्न करने के लिये अग्नि के इंधन ! हे कुकर्म के गृह ! हे निकृष्ट (अधम) मत्री ! हे वृद्धावस्था रूपी यमदूती के आदर करने मे तत्पर ! और हे जार !

क्या तुम विशेष बढी हुई वृद्धावस्थारूपी प्रचण्ड वायु द्वारा उत्पन्न हुई घातक शिथिलतावाली, भोजपत्र-सरीखी शारीरिक शिथिलतावाली और तेज हवा के चलने से बुझने के उन्मुख हुए प्रभातकालीन दीपक-सरीखी व जिसमे जीवनरूपी सूर्य का अस्त होना निकटवर्ती है, ऐसी शरीर की खाल को नही देखते हो ? जिससे अब भी ऐसी चेष्टाएँ करते हो—मानो—तुम युवा हो । अत इस समय यदि तू प्रचुर घृत डालने से भयानक तेजवाली—धँधकती हुई अग्नि मे फैंक दिया जाय तो चिरकाल से सचित किये हुए पाप को स्वीकार करनेवाले तेरा अनुग्रह जैसा होगा, क्योकि तुझे अग्नि मे फैकना तत्काल दु ख देने वाला है । इसलिए हे निकृष्ट ब्राह्मण ! या तो तुझे विशेष दुर्गन्धित गोबर से भरे हुए मध्यदेश वाले तीन सकोरो परिमाण गोबर खाना चाहिए । यदि ऐसा नही कर सकता तो प्रचुर बल से फूले हुए गालो वाले पहलवानो के तेतीस कोहनियो के प्रहार

१-२ कम्पेनार्द्रं प्रस्वेदित । ३ खेदे । ४ सोमपायिनो ब्राह्मणाः । ५ पङ्क्तिरहित । ६ निर्भाग्य । ७ ब्राह्मणकुलदूषण । ८ पक्षिबन्धनार्थं । ९ दवरकस्य तातणनुजाल । १० मर्यादक । ११ वेदानुष्ठानरत । १२ कृष्णत्व । १३ अग्ने । १४ इन्धन । १५ गृह । १६ निकृष्ट मन्त्रिन् ! । १७ जरैव यमदूती, उपपत्तिक आदरपर । १८ जार । १९ भूर्जतरुपत्रवत् शिथिलशरीरखल्ला । २०. जरा एव वात्या । २१ कायखल्ला । २२ यौवने इव । २३ घृत । २४ अग्नौ । २५ अथवा । २६ भृतमध्यप्रदेश । २७ भाजन—भाणा टि० ख०, प०·तु॰'शालाजिर शराव' शराव टि० च० । २८ बहुलवल । २९ अवहस्थ—कोहणी ।

काशविभूति श्रीभूतिराद्यतय दण्डद्वय क्रमेणातितिक्षमाण[1] [2]पर्याप्तसमस्तद्रविण क्रिमिकिर्मी[3]रपरिषत्परिकलिपित[4]-प्रमार्ष्टि कृतकलशकपाल[5]मालावासिक[6]सृष्टिरुत्सृष्ट[7]सरावस्रक्[8]रिष्कृति[9] [10]पुरादवालवालेय[11]कमारोह्य सनिकार निष्कासित पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्ठ[12]कुष्ठो दुष्परिणामकनिष्ठ[13] शुभाशयारण्यविनाशमहसि हिरण्य-रेतसि[14] तनुविसर्गादतिरौद्रसर्गादाहेये[15]ऽन्ववाये प्रादुर्भूय[16] चिरायापराध्य[17] च प्राणिषु जातजीवितावधि[18]रघ-प्रधाननिधिर्बभूव ।

भवति चात्र श्लोक —

श्रीभूति स्तेयदोषेण पत्यु प्राप्य पराभवम् । रोहिद[19]श्वप्रवेशेन दशेर[20] सन्नधोगत ॥१०६॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितम कल्प ।

अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्ति[21]च वर्जयेत् । भाषेत वचन नित्यमभिजात[22] हित मितम् ॥१०७॥

तत्सत्यमपि नो वाच्य यत्स्यात्परविपत्तये । जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदा ॥१०८॥

(मुक्के) सहन करना चाहिए । नही तो निस्सन्देह तेरा समस्त धन अपहरण किया जायगा ।'

मृत्यु से अपनी रक्षा की विभूति माननेवाला श्रीभूति जब शूरू के दो राज-दण्ड क्रमश सहन न कर सका तब राजा द्वारा उसका समस्त धन ग्रहण कर लिया गया और उसके शरीर पर कीडो से कर्बुरित कीचड से विलेपन करके घडो की खप्पर श्रेणी की माला पहिना कर उसे जूठे सकोरो की माला से अलङ्कृत किया गया। वाद मे बडे गधे पर चढा कर उसे तिरस्कार पूर्वक नगर से निकाल दिया । पापकर्म के उदय से उसे चारो ओर अशोभमान कोढ हो गया । खोटे परिणामो से वह जघन्य कोटि का था । इसलिए उसने उसके शुभ परिणामरूप वन को भस्म करनेवाली अग्नि मे जलकर शरीर त्याग किया—मर गया और उत्पन्न हुए रौद्र ध्यान के कारण साँपो के वश मे उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने अनेक प्राणियो को डँसा और आयु पूरी करके नरकवासी हुआ—

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—श्रीभूति नाम का पुरोहित चोरी करने के अपराध से राजा द्वारा तिरस्कृत हुआ और अग्नि मे जलकर मर गया। पश्चात् सर्पयोनि मे उत्पन्न होकर नरकगामी हुआ ॥ १०६ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे चोरी का फल बतलानेवाला सत्ताईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब सत्यव्रत का निरूपण करते है—

सत्याणुव्रत

सत्यवादी को किसी बात को बढाकर नही कहते हुए दूसरो के दोष नही कहना चाहिए और असभ्य वचन बोलने का त्याग करना चाहिए। उसे सदा कुलीनता प्रकट करनेवाले, हितकारक व परिमित वचन बोलना चाहिए ॥१०७ सत्यवक्ता को ऐसा सत्य भी नही बोलना चाहिए, जिससे दूसरे प्राणियो पर विपत्ति (पीडा या मरण)

---

१ असहमान । २ गृहीत—उद्दालित । ३ कृमिभि विचित्रकर्दम टि० ख०, प० तु किर्मीर कर्बुर, परिषत् कर्दम । ४ परिविरचितविलेपन टि० ख०, प० तु प्रमार्ष्टि विलेपन । ५ कुम्भस्य खर्परश्रेणी । ६ बद्धरचना । ७ उच्छिष्ट । ८ माला । ९ परिष्कृत अलङ्कृत । १० नगरात् । ११ बृहत्रासभ । १२ अशोभमान । १३ जघन्य । १४ अग्नौ । १५ सर्पवशे । १६ उत्पद्य । १७ प्राणिषु अपराध कृत्वा । १८ सर्पोऽपि । १९ अग्नि । २० सर्प । २१ 'असत्योक्ति च' इति क० । २२ 'अभिजातस्तु कुलजे बुधे सुकुमारे न्याय्ये चोपचारात्' टि० ख०, 'अभिजात शुभकुलोद्भव वचन' टि० च० ।

प्रियशील प्रियाचार प्रियकारी प्रियवद । स्यादानृ*श[1]सधीर्नित्य नित्य परहिते रत ॥१०९॥
केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपस्सु च । [2]अवर्णवादवाञ्जन्तुर्भवेद्दृशनमोहवान्[3] ॥११०॥
मोक्षमार्गं स्वय जानन्नर्थिने यो न भाषते । मदापह्नवमात्सर्यै स स्यादावरणद्वयी ॥१११॥
मन्त्रभेद परीवाद[4] पैशून्य कूटलेखनम । मृषासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातका ॥११२॥
परस्त्रीराज[5]विद्विष्टलोक[6]विद्विष्टसश्रयाम् । [7]अनायकसमारम्भा न कथा कथयेद्बुध ॥११३॥
असत्य सत्यग किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् । सत्यसत्य पुन किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥११४॥

[8]अस्येदमैदपर्यम[9]सत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धासि[10] रन्धयति वयति वासासीति[11] । सत्यमप्यसत्य किंचिद्यथार्धमासतमे दिवसे तवेद देयमित्यास्थाय[12] मासतमे सवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति । सत्यसत्य किंचिद्यद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाण प्रतिपन्न तत्र तथैवाविसवाद[13] । असत्यासत्य किंचित्स्वस्यासत्सगिरते[14] कल्ये दास्यामीति ।

आती हो या अपने ऊपर भयानक दुर्निवार आपत्तियाँ आती हो ॥१०८॥ सत्यवादी मानव को सदा प्यारी प्रकृति वाला, प्रिय आचरण वाला, प्रिय करने वाला, प्रिय भाषण करने वाला एव सदा परोपकार करने मे तत्पर होकर सदा दूसरो से द्रोह न करने वाली बुद्धिवाला (दयालु) होना चाहिए ॥१०९॥ जो प्राणी केवली, द्वादशाङ्ग-शास्त्र, मुनिसघ, देव, धर्म (अहिसा लक्षण) व तप मे गैरमौजूद दोषो का आरोपण करता है, या इनकी निन्दा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अर्थात्—उसे दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है ॥ ११० ॥ जो विद्वान् पुरुष मोक्ष के मार्ग को स्वय जानता हुआ भी अपने ज्ञान का घमण्ड करने से, ज्ञान को छिपाने से, मात्सर्यभाव से—ईर्ष्या से (मेरे सिवाय दूसरा कोई न जानने पावे ऐसी ईर्ष्या के कारण) मोक्ष मार्ग के इच्छुक दूसरे मानव को नही बताता, वह ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध करता है ॥ १११ ॥ दूसरे के मन की बात जानकर उसे दूसरो पर प्रकट कर देना, असम्बद्ध भाषण करना अथवा झूँठा उपदेश देना, चुगली करना, झूँठे दस्तावेज-आदि लिखाना और झूँठी गवाही देना ये पाँच दुर्गुण सत्यव्रत के घातक है, अर्थात्—ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार है ॥११२॥ विद्वान् पुरुष को परस्त्री-कथा, राज-विरुद्ध कथा व लोक विरुद्ध कथा का त्याग करते हुए निरर्थक, नायक-रहित व कपोल-कल्पित कथा नही कहनी चाहिए ॥ ११३ ॥ वचन चार प्रकार का होता है—१ असत्य-सत्य, २ सत्यासत्य, ३ सत्यसत्य व ४ असत्यासत्य ॥ ११४ ॥

इस श्लोक का यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है। जैसे 'यह भात पकाता है' या 'वस्त्र बुनता है।' यहाँ पर पकाने योग्य चॉवलो मे भात शब्द का प्रयोग किया गया है एव वस्त्र-निर्माण-योग्य तन्तुओ मे वस्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए उक्त वाक्यो मे असत्यता होते हुए भी सत्यता है। अत असत्य सत्य वचन [लोक व्यवहार के अनुकूल] है।

इसी तरह कुछ सत्यवचन ऐसे होते है, जिनमे काल का व्यवधान हो जाने से असत्यता का मिश्रण होता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी से कहता है, कि 'मै आपको अमुक वस्तु पन्द्रह दिन मे दूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह एक महीना व एक वर्ष मे उसे प्रतिज्ञात वस्तु देता है, इसे सत्यासत्य वचन जानना चाहिए। क्योकि

---

* 'स्यादानृशस्यधीर्नित्य' इति क० च०। १ पराऽद्रोहबुद्धि दयासहित । २ निन्दापर । ३ मिथ्यादृष्टि । ४ असम्बद्धालाप । ५ राजविरुद्धा । ६ लोकविरुद्धा । ७ फल्गुकथा नायकरहिता कपोलकल्पिताम् । ८ श्लोकस्य । ९ रहस्य-अयमर्थ । १० 'ओदन' टि० ख०, प० तु अन्धासि अन्नानि । ११ वस्त्राणि । १२ प्रतिज्ञाय । १३ अमिथ्यावाद । १४ कथयति, सम् प्रतिज्ञाया' टि० ख०, 'प्रतिज्ञायति' इति टि० च० ।

तुरीय[1] वर्जयेन्नित्य [2]लोकयात्रात्रये स्थिता । सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥११५॥
न स्तुयादात्मनात्मान न पर परिवादयेत्[3] । न [4]सतोऽन्यगुणान्हिस्यान्नासत स्वस्य वर्णयेत् ॥११६॥
तथा [5]कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचित पुमान् । उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृते[6] कृती ॥११७॥
यत्परस्य प्रिय कुर्यादात्मनस्तत्प्रिय हि तत् । अत किमिति लोकोऽय पराप्रिय[7]परायण ॥११८॥
यथा यथा परेष्वेतच्चेतो[8] वितनुते तम । तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निषिञ्चति ॥११९॥
दोषतोयै[9]र्गुणग्रीष्मै सगन्तूणि[10] शरीरिणाम् । भवन्ति चित्तवासासि गुरूणि च लघूनि च ॥१२०॥
सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वच सिद्धि समश्नुते । वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥१२१॥
तर्षेर्ष्यामर्षह[11]र्षाद्यैमृ षाभाषामनीषित. । जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम्[12] ॥१२२॥

यहाँ पर वस्तु के देने मे विरोध न होने के कारण सत्यता है और प्रतिज्ञा किये हुए काल के उल्लङ्घन हो जाने से असत्यता है। जो वस्तु जिस देश मे, जिस काल मे, जिस आकार मे और जिस प्रमाण मे जानी है, उसको उसी रूप से सत्य कहना सत्य-सत्य है जो वस्तु अपने पास नही है, उसके लिए ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मै तुम्हे सबेरे दूँगा परन्तु देता नही है। इसे असत्य-असत्य समझना चाहिए।

इनमे से चौथे असत्य-असत्य वचन को कभी नही बोलना चाहिए। क्योकि लोक व्यवहार शेष तीन प्रकार के वचनो पर ही स्थित है। इसी प्रकार जो वाणी गुरु-आदि हितैषियो को प्रमुदित करनेवाली है, वह मिथ्या होने पर भी मिथ्या नही समझी जाती ॥ ११५ ॥ सत्यवादी को अपनी प्रशसा न करते हुए दूसरो की निन्दा नही करनी चाहिए। उसे दूसरो मे विद्यमान गुणो का घात (लोप) नही करना चाहिए। और अपने अविद्यमान गुणो को नही कहना चाहिए कि मेरे मे ये गुण है ॥ ११६ ॥ परनिन्दा, आत्मप्रशसा व दूसरो के प्रशस्त गुणो का लोप करनेवाला मानव नीच गोत्र का बध करता है और जब धार्मिक पुरुष उससे विपरीत करता है। अर्थात्—अपनी निन्दा और दूसरो की प्रशसा करता है तथा दूसरो मे गुण न होने पर भी उनका वर्णन करता है तथा अपने मे गुण होते हुए भी उनका कथन नही करता तब उच्चगोत्र का बध करता है ॥ ११७ ॥ जो व्यक्ति दूसरो का हित करने मे तत्पर रहता है, वह अपना ही हित करता है, फिर भी न जाने क्यो यह लोक-ससार-दूसरो का अहित करने मे तत्पर रहता है ? ॥ ११८ ॥ जिस जिस प्रकार से यह विकृत मनोवृत्ति दूसरे प्राणियो मे अज्ञानरूप अन्धकार का प्रसार करती है, उस उस प्रकार से वह अपनी धमनियो—नाडियो—मे अज्ञानरूप अन्धकार की धारा को प्रवाहित करता है। अभिप्राय यह है कि दूसरो का अहित करने से अपना ही अहित होता है ॥११९॥ [लोक मे] प्राणियो के चित्तरूपी वस्त्र जब दोषरूपी जल मे डाले जाते है तो आर्द्र होने से गुरु (वजनदार व पक्षान्तर मे पापी) हो जाते है और जब वे गुणरूपी गर्मी मे फैलाये जाते है तो सूख जाने के कारण लघु (हल्के व पक्षान्तर मे पुण्यशाली) हो हो जाते है।

निष्कर्ष—अत नैतिक पुरुष को अपना मनरूपी वस्त्र सदा सम्यग्ज्ञानादि प्रशस्त गुणरूप गर्मी द्वारा लघु (हल्का-पुण्यशाली) करते रहना चाहिए ॥ १२० ॥

सत्यवादी पुरुष सत्य के प्रभाव से वचन-सिद्धि प्राप्त करता है। उसकी वाणी जिस-जिस विषय मे

१ असत्यासत्य। २ व्यवहार। ३ निन्दयेत्। ४ विद्यमानान्। ५ परात्मनिन्दाप्रशसा कुर्वाण। ६ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्ति। ७ अहिततत्पर। ८ मन। ९ जलैर्मनोवस्त्राणि आर्द्रीभवन्ति। १० सबधीनि। ११ तृष्णामोह। १२ सुगतिविनाश।

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्—जाङ्गलदेशेषु [1]हस्तिनागनामावनीश्वरकुञ्जरजनितावतारे हस्तिनागपुरे प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाग्र*खण्डितभण्डनकण्डू[2]लारा[3]तिकीर्तिलतानिबन्धनोऽभूदयोधनो नाम नृपतिः। [4]अनवरतवसुविश्राणनप्रीणितातिथिरतिथिर्नामा चास्य महादेवी। सुता चानयोः सकलकलावलोकानलसा सुलसा नाम। सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि [5]ज्ञातेयेनैकोदरशायिनो[6] रम्यकदेशनिवे[7]शोपेतपौदनपुरनिवेशिनो [8]निर्विपक्षलक्ष्मीलक्षिताक्षूणमङ्गलस्य[9] पिङ्गलस्य [10]गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुर्वारवैरिवक्षःस्थलोद्दलना[11]-वदानोद्योगलाङ्गलाय मधुपिङ्गलाय परिपणिता [12]बभूव।

भूभुजा च महोदयेन तेन विदितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यैर्भोग्यतया योग्यमिदं स्त्रैणं द्रविणं तस्यैतद्भूयात्। अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतामचिन्तितसुखदुःखागमानुमेयप्रभावं दैवमेव शरणम्' इति विगणय्य[13] स्वयंवरार्थं भीम-भीष्म-भरत-भाग-सङ्ग-सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनामुपदानुकूलं[14] मूलं[15] प्रस्था-पयाबभूवे[16]।

प्रवृत्त होती है, उस उस विषय मे मान्य होती है ॥ १२१ ॥ इसके विपरीत जो मानव तृष्णा, ईर्षा, क्रोध व हर्ष-आदि के कारण झूँठ बोलने की बुद्धि वाला होता हे, उसे इस लोक मे जिह्वाच्छेदन-आदि कष्ट होते है और परलोक मे उसकी सुगति नष्ट होती है, अर्थात्—दुर्गति होती है ॥ १२२ ॥

१५ असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारद की कथा

अब झूँठ बोलने का कटुकफल बतलाने वाली कथा सुनिए—

जाङ्गलदेश के 'हस्तिनाग' नामक श्रेष्ठ राजा का जन्म होने के कारण सार्थक नाम वाले 'हस्ति-नागपुर' नाम के नगर मे, अपनी प्रचण्ड बाहुदण्डमण्डली के अलङ्काररूप खड्ग द्वारा युद्ध करने की खुजली वाले शत्रुओ की कीर्तिरूपी लता को खण्डित करने मे कारणीभूत 'अयोधन' नामका राजा था। इसकी निरन्तर धन के दान द्वारा अतिथियो को सन्तुष्ट करनेवाली 'अतिथि' नामकी पट्टरानी थी। इनके समस्त कलाओ के अभ्यास मे प्रयत्नशील 'सुलसा' नामकी पुत्री थी। जब राजकुमारी सुलसा महारानी के गर्भ मे थी, तभी से महारानी ने निस्सन्देह रम्यक देशवर्ती पोदनपुर नगर के निवासी, जिसका परिपूर्ण मङ्गल (राज्यसुख) शत्रु-रहित राज्य लक्ष्मी द्वारा जाना गया था व जो महारानी का सहोदर था, ऐसे अपने भाई पिङ्गल के पुत्र ऐसे मधुपिङ्गल के लिये वाग्दान (देनी) कर रक्खी थी, जो गुण (वीरता-आदि) रूपी सुमेरु पर्वत का रत्नमयी शिखर था और जिसका उद्योगरूपी लाङ्गल (हल) दुःख से भी निवारण करने के लिए अशक्य (दुर्जेय) शत्रुओ के वक्षःस्थलो (उरोभूमि) के विदारणरूपी प्रशस्त कर्म वाला था।

[जब सुलसा विवाह-योग्य हुई] तब विशेष उन्नतिशील राजा-अयोधन को यद्यपि अपनी महारानी के हृदय की बात ज्ञात थी तो भी उसने सोचा कि—'यह स्त्री धन जिस किसी महाभाग्यशाली के भाग्य मे भोगने के योग्य है, उसी का यह होना चाहिए। इस विषय मे सब शरीरधारियो का दैव ही शरण है और दैव का

---

१ 'हस्तिनाग' नामा कश्चिद्राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तन्नगरं हस्तिनागपुरमित्यभवत्। *. असि। २-३ खर्जितकर। ४ द्रव्य। ५ ज्ञातेर्भावः ज्ञातेयं तेन बन्धुत्वेनेत्यर्थः। ६ अतिथिपिङ्गलावेकोदरोत्पन्नौ। ७ स्थान। ८ शत्रुरहित। ९ परिपूर्णमङ्गलस्य। १० गुणा एव गीर्वाणाचलः 'मेरुस्तत्र रत्नशिखराय टि० ख०, गुणा एव गीर्वाणा देवा तेभ्य अचल मेरु तत्र रत्नसानु टि० च०। ११ उद्दलनायावदानं अद्भुतकर्म शुद्धकर्म वा तत्र उद्योग एव लाङ्गलं यस्य स। १२ दत्ता। १३ ज्ञात्वा। १४. प्राभृतपूर्वं। १५ लेख। १६ तेन भूभुजा।

अत्रान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धचाराध्यायामयोध्याया नरवर सगरो नाम। स किल लास्यादिविला[1]सकौशलसरसाया सुलसाया कर्णपरम्परया श्रुतसौरूप्यातिशयो [2]मनागुपरमत्तारुण्यलावण्योदय प्रयोगेण[3] तामात्मसाच्चिकीर्षुस्तौर्यत्रिकसूत्रे [4]प्रतिकर्मविकल्पेषु सभोगसिद्धान्ते [5]विप्रश्नविद्याया स्त्रीपुरुषलक्षणेषु [6]कथाख्यायिकाख्यानप्रवाह्लीकास्वपरासु च तासु तासु कलासु [7]परमसवीणतालतावरित्री मन्दोदरी नाम धात्री ज्योतिषादिशास्त्रनिशितमतिप्रसूर्ति विश्वभूर्ति च बहुमानसभावितमनस पुरोधस तत्र पुरि प्राहिणोत्।

[8]विशिकाशयशार्दूलदरी[9] मन्दोदरी ता पुरमुपगम्य परप्रतारणप्रगल्भमनीषा [10]कृतकात्यायिनीवेषा तत्तत्कलावलोकनकुतूहलमयोधनधरापाल निजनाथार्थसिद्धिपरवती[11] रञ्जितवती सती [12]शुद्धान्तोपाध्यायी भूत्वा सुलसां सगरे सगर[13] ग्राहयामास। तथा बकोटवृत्तिवेधा स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैस्तस्य नृपस्य महादेव्याश्चा वशीकृतचित्तवृत्ति.।

प्रभाव अचानक सुख-दु ख के आगमन से अनुमेय है।' ऐसा जानकर उसने स्वयवर के लिये भीम, भीष्म, भरत, भाग, सङ्ग, सगर, सुबन्धु, और मधुपिङ्गल आदि राजाओ के पास भेट पूर्वक पत्र भिजवा दिये।

[इसी बीच एक दूसरी घटना घटी]

मगध देश के मध्य मे ख्याति प्राप्त करने से आराधना के योग्य अयोध्यानगरी मे 'सगर' नामका राजा था। निस्सन्देह उसने कर्णपरम्परा से नृत्यादि कलाओ की निपुणता से व विलास (हावभाव) की चतुरता से रसीली सुलसा राजकुमारी की सर्वोत्कृष्ट अनोखी सुन्दरता की चर्चा सुनी। इस राजा की जवानी की सौन्दर्य-वृद्धि कुछ अल्प हो रही थी। अत वह किसी भी उपाय से उसे अपने अधीन करने का इच्छुक हुआ। अत उसने 'मन्दोदरी' नामकी धाय को, जो कि भरत मुनि के गीत, नृत्य व वादित्ररूप सगीतकला मे, मण्डन-आभरण-आदि मे, कामशास्त्र मे, होराक्षरादि द्वारा दूसरे की मनोवृत्ति के ज्ञान मे, स्त्री-पुरुषो के लक्षण-ज्ञान मे, कथा (चित्र अर्थ बतानेवाली), आख्यायिका (प्रसिद्ध अर्थवाली कथा) आख्यान (दृष्टान्त-कथन) व पहेली और दूसरी ललित कलाओ मे विशेष पटुतारूपी लता को पल्लवित करने के लिए पृथिवी-सरीखी थी। तथा ऐसे विश्वभूति नामक पुरोहित को, जिसकी बुद्धि का प्रसार ज्योतिष-आदि शास्त्रो मे तीक्ष्ण था एव जिसका मन विशेष सन्मान से आह्लादित था, हस्तिनागपुर भेजा।

मन्दोदरी धाय ने, जो कि दूसरो को धोखा देने के उपाय सबधी अभिप्राय के लिए व्याघ्र की गुफा-जैसी थी और जिसकी बुद्धि दूसरो को ठगने मे प्रवीण थी, उस नगर मे पहुँच कर कात्यायनी (समस्त लोक द्वारा नमस्कार करने के योग्य वेषवाली, समस्त कलाओ में प्रवीण, प्रौढ अर्द्धवृद्धा नारी) का वेष बनाया और अपने स्वामी की प्रयोजन-सिद्धि करने मे तत्पर हुई। इसने उन उन कलाओ के देखने का कौतूहल वाले अयोधन राजा को अपने ऊपर विशेष प्रसन्न कर लिया और अन्त पुर की अध्यापिका होकर सुलसा से सगर राजा को

---

१ नृत्यविशेष। २ विरमत्। ३ 'प्रयोगस्तु निदर्शने कार्मणे च प्रयुक्तौ च केनाप्युपायेनेत्यर्थ' टि० ख०, 'प्रसाधनेन' टि० च०। ४ 'मण्डनाभरणादिषु' टि० ख०, 'नेपथ्य' टि० च०। 'प्रतिकर्म नैपुण्य' इति पञ्जिकाया।

५ होराक्षरादिभि परचित्तज्ञाने अथवा अहोरात्र्यादिभि परचित्तज्ञाने।

६ कथा चित्रार्थगा ज्ञेया ख्यातार्थाऽख्यायिका मता। दृष्टान्तस्योक्तिराख्यान प्रवाह्लीका प्रहेलिका ॥ १ ॥

७ पटुता। ८. विशिका परवचनोपाय। ९ व्याघ्रगुहापि प्राणात्यये वर्तते। १० 'अर्द्धवृद्धा' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु कात्यायनी लक्षण प्राह—

'सर्वलोकनमस्कार्यवेषाऽशेषकलाश्रया। कात्यायनी भवेन्नारी प्रगल्भातीतयौवना' ॥ १ ॥

११ तत्परा। १२ अन्त पुर। १३. सगर प्रतिज्ञा।

कुण्ठे (ब्जे) षष्टिरशीति स्यादेकाक्षे बधिरे शतम् । वामने च शतं विंशं दोषा पिङ्गे त्वसख्यका ॥१२३॥
मुखस्यार्द्धं[1] शरीरं स्याद्घ्राणार्धं[2] मुखमुच्यते । नेत्रार्धं[3] घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु[4] नयने परे ॥१२४॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास ।

[5]ततश्चाम्पेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनधयेषु पुष्पधयेष्विव मिलितेषु स्वयंवराह्वानशृङ्गारिताहङ्कारेषु महीश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत[6]निम्नधरोपगापगेव[7] सागरम् ।

भवति चात्र श्लोकः —

अल्पैरपि समर्थः स्यात्सहायैर्विजयी नृपः । कार्यायान्तो[8] हि कुन्तस्य दण्डस्तस्य[9] परिच्छदः ॥१२५॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसाया सगरसगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ।

ही वरण करने की प्रतिज्ञा करा ली। बगुला-जैसी कुटिल वृत्ति मे वृहस्पति-सरीखे राजपुरोहित ने भी अनेक उपदेशो से उस राजा का और महारानी का मन अपने वश मे कर लिया ।

इसके उपरान्त उसने उन्हे स्वय रचे हुए श्लोको द्वारा मधुपिङ्गल के विषय मे विरक्तता उत्पन्न कराई ।

उन श्लोको का भाव यह था—

टुण्टे मे ६० दोष होते है, काने मे ८० और बहरे मे सौ दोष होते है। बौने मे एक सौ बीस दोष होते हैं, किन्तु पीत नेत्रवाले मे तो अगणित दोष होते है ॥ १२३ ॥

समस्त शरीर, मुख के मूल्य को प्राप्त करता है, अर्थात्—शरीर मे मुख कीमती होता है। मुख नासिका का मूल्य प्राप्त करता है (मुख मे नासिका श्रेष्ठ होती है)। एव नासिका नेत्रो का मूल्य प्राप्त करती है (नासिका की अपेक्षा नेत्र श्रेष्ठ है)। तथा नेत्र शरीर, मुख व नासिका-आदि के मध्य सर्वोत्कृष्ट माने गये है ॥ १२४ ॥

इसके बाद स्वयवर हुआ—

स्वयवर मे बुलाने से वस्त्राभूषणो से मण्डित होने के कारण अहङ्कारी राजा लोग, जिनके ज्ञानरूपी शिशु, चम्पक-वल्लरियो की सुगन्धिरूपी दुग्धपान मे विशेष लुब्ध है, भौरो की तरह जब स्वयवर मडप मे एकत्रित हुए तब उनमे से मन्दोदरी धाय के अधीन हुई मनोवृत्ति वाली सुलसा ने कर्णो के लिए मनोज्ञ सगर राजकुमार को वैसा वरण किया जैसे नीची पृथिवी पर गमन करनेवाली नदी समुद्र का वरण करती है—उसमे प्रविष्ट होती है ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

राजा शक्तिशाली थोडे से भी सैनिक सहायको से विजयश्री प्राप्त करता है, जैसे भाले की नौक ही अपना कार्य (प्रहार) करती है, उसमे लगा हुआ दण्ड तो केवल सहायक मात्र है ॥ १२५ ॥

---

१ सर्वं शरीर मुखस्यार्द्ध तुल्य मूल्य । २ सर्वं मुख नासिकाया अर्द्ध तुल्य मूल्य वा लभते । ३ एकनेत्रस्य मूल्य नासिका लभते । ४ पूर्वोक्तेषु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे । ५ चम्पकवल्लरीसु लसत्सुगन्धता एव दुग्धपान तत्र लोभिष्ठज्ञानबालकेषु । ६ निम्नभूगामिनी । ७ नदी । ८ अग्रभाग । ९ कुन्तस्य ।

प्ररूढनिर्वेदकन्दलो* **मधुपिङ्गल** 'धिगिदमभोगायतन[1] भोगायतन[2] यदेकदेशदोषादिमामुचितसमागमामपि [3]मामतनूद्भवामह नालप्सि[4]' इति मत्वा विमुक्तससारपक्ष परिगृहीतदीक्ष क्रमेण तास्तान्ग्रामारामनिवेशान्निरनुको[5] जङ्घाकरिक[6] इव लोचनोत्सवता नयन्नशनाया[7] बुद्धयायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तीव्रतपोऽतिश्रान्तदेहो वाप्पीह[8] इव [9]क्लमथुव्यपोहाय **सगरागारद्वार*मन्दिरे**[10] मनागव्यलम्बत। तत्र च पुराप्रयुक्तपरिणयापायनीतिर्**विश्वभूति** प्रगल्भमतये **शिवभूतये** रुचिष्याय[11] शिष्याय रहितरहस्य[12]मुद्रक सामुद्रकमशेषविद्[13]षविचक्षणो व्याचक्षाणो बभूव। परामर्शवशाशीति[14] **शिवभूतिस्त** न्यक्षलक्षणपेशल **मधुपिङ्गल**मवलोक्य 'उपाध्याय,[15] घनघृताहुतिवृद्धिमद्धामशालिनि [17]ज्वालामालिनि 'दह्यतामेतदैतिह्यस्वाध्यायो यदेवविधमूर्तिरप्ययमीदृगवस्थाकीर्ति' सदाचारनिगृहीतिर्**विश्वभूति** —अपर्याप्तपूर्वापरसगीते[18] **शिवभूते**, मा गा खेदम्, यदेष नृपवरस्य **सगरस्य** निर्देशादस्मदुपदेशादनन्यसामान्यलावण्यविनिवासा **सुलसामलभमानस्तपस्वी**[19]तपस्वी समभूत्। एतच्चासन्नारिष्ट[20]तातेर्**विश्वभूतेर्**वचनमेकायनमना[21] स यतिर्निशम्य

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे सुलसा का सगर के साथ सगम नाम का अट्ठाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस घटना से मधुपिङ्गल के हृदय मे वैराग्य रूप कन्द ऊँग गया और ऐसा सोचकर उसने ससार से मोह छोडकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। 'भोग शून्य स्थान वाले इस शरीर को धिक्कार है, जिसके एकदेश (नेत्र) मे दोष होने के कारण मै समागम के योग्य (अनोखी सुन्दरी) मामा की पुत्री को नही प्राप्त कर सका।' इसके उपरान्त एकाकी पादचारी की तरह घूमते हुए उसने क्रम से अनेक ग्रामो व बगीचो के स्थान नेत्रो की उत्सवता मे प्राप्त किये। एक दिन वह भोजन की इच्छा की बुद्धि से आहार के लिए अयोध्या नगरी मे आया। अनेक उपवास करने के कारण उसके हृदय का उत्साह पराधीन (बेकाबू) हो गया और तीव्र धूप से उसका शरीर विशेष थक गया था, अत चातक पक्षी की तरह थकावट दूर करने के लिए सगर राजा के महल के द्वार-मण्डप पर थोडी देर के लिए ठहर गया।

वहाँ पर समस्त विद्वानो मे प्रवीण विश्वभूति, जिसने पूर्व मे इसका सुलसा राजकुमारी के साथ होनेवाले विवाह-सबध को छुडाने की कूटनीति का प्रयोग किया था, प्रतिभाशाली, बुद्धिमान एव शास्त्रोपदेश के योग्य (अथवा टि० के अभिप्राय से प्रेमपात्र) शिवभूति नामक शिष्य के लिए गोप्य-रहित मुद्रापूर्वक (खुले तौर पर) सामुद्रिक विद्या का व्याख्यान दे रहा था, उस समय विचार के अधीन चित्तवाले शिवभूति शिष्य ने समस्त लक्षणो से मनोज्ञ मधुपिङ्गल को देखकर अपने गुरु से कहा—उपाध्याय! 'प्रचुर घी की आहुति से वृद्धिगत तेजवाली—धँधकती हुए अग्नि मे इस सामुद्रिक विद्या को जला देनी चाहिए, क्योकि इस प्रकार के लक्षणो से युक्त होने पर भी इस मानव की ऐसी शोचनीय अवस्था है।'

इसे सुनकर सदाचार के शत्रु विश्वभूति ने कहा—'पूर्वापर सबध को न जाननेवाले शिवभूति! खेद मत करो, क्योकि सगर राजा की आज्ञा से और हमारे कहने से अनोखे सौन्दर्य की आश्रय सुलसा को प्राप्त न

---

* कन्द। १ भोगरहित गृह। २ शरीर। ३. मातुलपुत्री। ४ न प्राप्तवान्। ५ असहाय एकाकी। ६ चरणचर पादचारी। ७ 'आहारार्थं' टि० ख०, 'बुभुक्षाया' टि० च०, प० तु अशना क्षुधा। ८ चातक। ९ श्रमस्फेटनाय। * 'द्वारपदिरे' इति ख०,। १० 'पदिरे—प्राङ्गणे मण्डपे' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'मन्दिर मण्डप' इत्याह। ११ 'वल्लभाय' टि० ख०, प० तु 'रुचिष्य शास्त्रोपदेशयोग्य'। १२ गोप्यरहित। १३ विदुष पण्डित। १४ 'चित्त' टि० ख०, प० तु 'आशीति आशय'। १५ न्यक्ष सर्व। १६ हे उपाध्याय!—हे प्रगल्भ! टि० ख०। १७ अग्नौ। १८ सबध। १९ दीन, प० तु तपस्वी वर्पुट। २० अमङ्गल। २१ एकाग्रचित्त।

प्रवृद्धक्रोधानल कालेन [1]विपद्योत्पद्य चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यादुपजातावधिसन्निधिस्तपस्याप्रपञ्च[2]-मसुरान्वयोदञ्च[3] चात्मनो विनिश्चित्य यदीदानीमेव महापराधनगर सगरमकारणप्रकाशितदोषजाति विश्वभूति च चूर्णपेष पिनष्मि, तदानयो[4] सुकृतभूयिष्ठत्वात् प्रेत्यापि[5] सुरश्रेष्ठत्वावाप्तिरिति न साध्वपराध स्यात्। ततो यथेहानयोर्बहुविडम्बनावरोधो वध , परत्र च दु खपरम्परानुरोधो भवति, तथा विधेयम्। न चैकस्य बृहस्पतेरपि कार्यसिद्धिरस्ति' इत्यभिप्रायेणात्मवैकारिक[6]र्द्धिप्रदर्शनातिथि[7] वैरनिर्यातन[8]मनोरथरथसारथिमन्वेषमाणमतिरासीत।

अथ कामकोदण्डकारणकान्तारैरिवेक्षुवणावतारैर्विराजितमण्डलाया[9] [10]डहालायामस्ति स्वस्तिमती नाम पुरी। तस्यामभिचन्द्रापरनामवसु[11]र्विश्वावसुर्नाम नृपति। तस्य निखिलगुणमणिप्रसूति[12]र्वसुमती वसुमती नामाग्रमहिषी। सूनुरनयो[13]समस्तसपत्नभूरुहविभावसु[14]र्वसु। पुरोहितश्च निश्चिताशेषशास्त्ररहस्यनिकुरम्ब क्षीरकदम्ब। कुटुम्बिनी पुनरस्य सतीव्रतोपास्तिमती स्वस्तिमती नाम। [15]जन्युरनयोरनेकनमसित[16]पर्वतप्राप्त पर्वतो नाम। स

करने के कारण यह बेचारा तपस्वी हो गया है।'

उस तपस्वी ने एकाग्रचित्त होते हुए निकटवर्ती अमङ्गल-समूहवाले विश्वभूति के वचन सुनकर उसकी क्रोधाग्नि भडक उठी। वह आयु के अन्त मे मर कर असुरकुमार जाति के देवो मे कलासुर नामका देव हो गया। वहाँ पर देव पर्याय के माहात्म्य से उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान की समीपता उत्पन्न हुई। उसके द्वारा उसने अपनी तपश्चर्या का विस्तार व उससे असुर कुमार जाति के देवो मे अपनी उत्पत्ति का निश्चय किया।

इसके उपरान्त उसने सोचा-कि 'यदि मै इसी समय महान् अपराध के स्थान सगर को व निष्कारण मेरे गैरमौजूद दोष-समूह को प्रकाशित करने वाले दुष्ट विश्वभूति को चूर्ण की तरह पीसता हूँ तब पुण्य अधिक होने से इन दोनो को देवो की श्रेष्ठ पर्याय ही मिलेगी, जिससे इनका विशेष अपकार नही होगा।' इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनका वध महान् कष्टो के सबध वाला हो और परलोक मे भी इन्हे दु ख-परम्परा का सबध हो। परन्तु अकेला बृहस्पति भी सहायको के विना कार्य-सिद्धि मे सफलता प्राप्त नही कर सकता। ऐसा सोचकर उसकी बुद्धि ऐसे कुशल पुरुष की खोज करने मे तत्पर हुई, जो इसकी वैक्रियक ऋद्धि के चमत्कार दिखलाने का अतिथि हो एव जो वैर-शुद्धि के मनोरथ रूप रथ का सारथि हो। अर्थात्—वैर शोधने मे सहायक हो।

इक्षु-वनो की उत्पत्ति द्वारा, जो मानो—कामदेव के धनुष उत्पन्न करनेवाले वन ही है, सुशोभित विस्तार वाले डहाला देश मे स्वस्तिमती नामकी नगरी है। उसमे विश्वावसु नामका राजा राज्य करता था, उसका दूसरा नाम अभिचन्द्र भी था। उसकी समस्त गुणरूप मणियो को उत्पत्ति के लिए वसुमति (पृथ्वी) सरीखी 'वसुमति' नामकी पट्टरानी थी। इनके समस्त शत्रुरूपी वृक्षो को भस्म करने के लिए अग्नि-जैसा वसु नामक पुत्र था। समस्त शास्त्र के रहस्य-समूह को निश्चय करने वाला 'क्षीरकदम्ब' राज-पुरोहित था। इसकी पातिव्रत्य धर्म की उपासना करनेवाली स्वस्तिमती नामकी प्रिया थी। इनके पर्वत नामक पुत्र था, जो कि बहुल नैवेद्य चढाकर की हुई देवताओ की आराधनाओ से प्राप्त हुआ था।

---

१ मृत्वा। २. विस्तार। ३ उद्भव—उत्पत्ति। ४ नृपमन्त्रिणो। ५ मृत्वापि। ६ विकारे भवा विक्रियर्द्धि। ७ प्राघूर्णिक, मम विक्रिया तस्य दर्शयामीनि भाव। ८ वैरशुद्धिकरणसहाय। ९ चक्रवालाया विस्ताराया। १० नाम देशे। ११ अभिचन्द्र विश्वावसु इति तस्य नृपस्य नामद्वय। १२ उत्पत्तौ भूमि। १३-१४ शत्रुवृक्षदहनाग्नि। १५ पुत्र। १६ हन्तकारा एव पर्वता तै प्राप्त बहुलनैवेद्येन देवाराधनै प्राप्त इत्यर्थ।

किल सदाचरणभूरि क्षीरकदम्बकसूरि शिष्यशेमुष्यामिव स्वाध्यायसंपादनविशालायां सुवर्णगिरिगुहाङ्गणशिलाया[१]-मेकदा तस्मै मुदा गतस्मयाय[२] यथाविधि [३]समधिजिगांसवे वसवे प्रगलितपितृपाण्डित्यगर्वपर्वताय तस्मै पर्वताय गिरि-कूटपत्तनवसतेर्विश्वनाम्नो विश्वंभरापते पुरोहितस्य [४]विहितानवद्यविद्याचार्यचरणसेवस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय नारदाभिधानाय च [५]निखिलभुवनव्यवहारतन्त्रमागमसूत्रमतिमधुरस्वरापदेश[६]मुपदिशन्नम्बरादवतरद्भ्यां सूर्यचन्द्र-समाभ्याममितगत्यनन्तगतिभ्यामृषिभ्यामीक्षाचक्रे ।

तत्र समासन्नसुगतिरनन्तगतिर्भगवान्किलैवमभाषत—'भगवन्, एत[७] एव खलु विदुष्या[८] शिष्या, यदे-वमनवद्यं ब्रह्मोद्यविद्य[९]मेत[१०]स्माद्ग्रन्थार्थप्रयोगभङ्गीषु[११]यथार्थप्रदर्शनतया [१२]विधूतोपाध्यायादुपाध्यायादेक[१३]सर्गधि-योऽधीयते ।'

प्रयुक्तावधिबोधस्थितिरमितगतिर्भगवान्—'मुनिवृषन्[१४], सत्यमेवैतत् । किंत्वेतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्याम-म्भसि[१५] गौरवोपेतपदार्थवदध प्रबोधो[१६]चितमतिभ्यामिदमतिपवित्रमपि सूत्रं विपर्यासयितव्यम् ।'

एतच्च प्रवचनलोचनालोकितब्रह्मस्तम्ब[१७] क्षीरकदम्ब सश्रुत्य 'नूनमस्मिन्महामुनिवाक्येऽर्थात्सप्तरुचि[१८]-

एक समय निस्सन्देह विशेष सदाचारी क्षीरकदम्ब नामक विद्वान् सुवर्ण गिरि की गुफा के आँगन की शिला पर, जो कि उस प्रकार स्वाध्याय के सम्पादन के लिए विशाल (विस्तृत) थी जिस प्रकार शिष्य की बुद्धि स्वाध्याय के सम्पादन मे विशाल (प्रखर) होती है, गर्व-रहित (विनीत) व यथाविधि अध्ययन के इच्छुक वसु राजकुमार के लिए और अपने पुत्र पर्वत के लिए, जिसका पिता की विद्वत्ता का गर्वरूपी पर्वत नष्ट हो चुका था, एव नारद नामक शिष्य के लिए, जो कि गिरिकूट नगर के स्वामी राजा विश्व के पुरोहित व निर्दोष विद्या के आचार्यों का चरण सेवक विश्वदेव का पुत्र था, त्रैलोक्य के वर्णन के सम्प्रदाय वाले सिद्धान्त-सूत्र का अत्यन्त मधुर स्वर-सहित उपदेश देता था। इसी अवसर पर आकाश से उतरते हुए व सूर्य-चन्द्रमा-सरीखे अमितगति व अनन्तमति नामके चारणऋद्धिधारी ऋषियो ने उसे देखा।

उनमे से समीपवर्ती प्रशस्त गतिवाले अनन्तगति मुनि निस्सन्देह बोले—'भगवन्! निस्सन्देह ये ही शिष्य विद्वान् है, क्योकि ये लोग एक अभिप्रायवाली बुद्धि से युक्त हुए ग्रन्थ के अर्थ की प्रयोग-रचनाओ को यथार्थ दिखलाने के कारण दुराचार की उत्पत्ति को नष्ट करनेवाले (सदाचारी) इस उपाध्याय (शिक्षक) से, तीर्थङ्करो द्वारा कहा हुआ निर्दोष शास्त्र पढ रहे है।'

उपयोग की शक्ति से अवधिज्ञान की स्थिति लानेवाले भगवान् अमितगति ने उत्तर दिया—'मुनि-श्रेष्ठ! आपका कहना सत्य है, परन्तु इन चारो के मध्य दो शिष्य उस प्रकार अध (नरक) के अनुभवन के योग्य बुद्धिवाले होगे जिस प्रकार जल मे फेकी हुई वजनदार वस्तु (पाषाण-आदि) अध अनुभवन के योग्य (नीचे जानेवाली) होती है। क्योकि उनके द्वारा अत्यन्त पवित्र भी शास्त्र का अर्थ विपरीत—उल्टा किया जायगा।'

१ पट्टशालाया। २ रहितगर्वाय। ३ अध्येतुमिच्छवे। ४ कृत। ५ त्रैलोक्यवर्णनसंप्रदाय सिद्धान्त। ६. स्वर सहित। ७ चत्वार। ८ विचक्षणा। ९ शास्त्र। १० उपाध्यायात्। ११ रचनासु। १२ विधूत स्फेटित उपार्धेर्विकारस्य आय आगमन येन स तथोक्तस्तस्मात् टि० ख०, पञ्जिकाकारोऽप्याह—विधूत स्फेटित उपाधेर-सदाचारस्य आय उत्पादो येन स तस्मात्। १३ एकाभिप्राया, सग स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु। १४ श्रेष्ठ। १५ जले यथा गुरु वस्तु निमज्जति। १६ अनुभवन। १७ ब्रह्माण्ड। १८ सप्तरुचिरग्निः।

मरीचिवदद्वाभ्यामूर्ध्वगाम्या भवितव्यमिति प्रतीयते। तत्राह तावदेकदेशयतिपूतात्मानमात्मानम्[1]धरधामसंनिधानं न संभावयेयम्। नरकान्तं राज्यम्, बधनान्तो नियोगः, मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः, विपदन्ता खलेषु मैत्री, इति वचनादिन्दिरामदिरामदमलिनमनःप्रचारे राज्यभारे [2]प्रसरदसुं वसुं च नोर्ध्वं यियासुम्[3]। तन्नारदपर्वतौ परीक्षाधिकृतौ' इति निश्चित्य [4]समिथमयमूर्णायुद्वयं[5] निर्माय प्रदाय च ताभ्याम् 'अहो, द्वाभ्यामपि भवद्भ्यामिदमूर्णायुयुगलं यत्र न कोऽप्यालोकते तत्र विनाश्य प्राशितव्यम्' इत्यादिदेश। तावपि तदादेशेन *हव्यवाहवाहनद्वितयं प्रत्येकमादाय यथायथमयासिष्टाम्। तत्र[6] सख्यातिखर्वः[7] पर्वतः [8]पस्त्य[9]पाश्चात्यकुम्बा[10]मुपस[11]द्यापाद्य च भटित्रमुरभ्रपुत्रमुदरानलपात्रमकार्षीत्। शुभाशयविशारदो नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इत्युपाध्यायोक्तं ध्यायन् 'को नामात्र पुरे कान्तारे वा [12]सद्रुघणो योऽधिकरण[13] नात्मेक्षणस्य व्यन्तरगणस्य महामुनिजनान्तःकरणस्य च' इति विचिन्त्य तथैव तं [14]वृष्णिमुपाध्यायाय समर्पयामास।

उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमवबुद्ध्य संसारतरुस्तम्बमिव[15] कचनिकुरुम्बमुत्पाट्य स्वर्गलक्ष्मीसपक्षां दीक्षामादाय निखिलागमसमीक्षां शिक्षामनुष्ठित्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसङ्घसंतोषणं गणपोषणमात्मसात्कृत्य [16]एकत्वाविभावना-

---

शास्त्ररूपी नेत्र द्वारा ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले क्षीरकदम्बक ने जब मुनियो की बात सुनी तब उसने निश्चय किया—कि 'वास्तव मे इस महामुनि के वाक्य के अभिप्राय से यह प्रतीत होता है कि हममे से दो निश्चय से अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगामी है। उनमे से मैने तो अपनी आत्मा को श्रावको के चरित्र पालन से पवित्र किया है, अत मै अपने को नरक स्थान के समीप होने की सम्भावना नही कर सकता और वसु को, जिसके प्राण लक्ष्मीरूपी मदिरा के मद से मनोवृत्ति को कलुषित करनेवाले राज्य-भार मे विस्तृत हो रहे है, ऊर्ध्वगामी होने की सभावना नही करता, क्योकि नीतिकारो ने कहा है—'राज्य का फल अन्त मे नरक है। शासन का फल बन्धन है। स्त्रियो मे विश्वास करने से अन्त मे मृत्यु होती है। दुष्टो की सगति अन्त मे दुःख देनेवाली है।' अत अब नारद और पर्वत परीक्षणीय है। ऐसा निश्चय कर उसने गेहूँ के आटे के दो मेढे बनाकर उन दोनो के लिए एक एक मेढा देकर आज्ञा दी—'शिष्ययुगल! तुम दोनो इस मेढे के जोडे को जहाँ कोई न देख सके, ऐसे एकान्त स्थान पर मारकर खा जाओ।'

गुरु की आज्ञा से वे दोनो एक-एक मेढा लेकर यथायोग्य स्थान पर चले गए। उन दोनो छात्रो मे से सज्जनो के साथ मित्रता करने मे लघु पर्वत नामके छात्र ने अपने गृह की पिछवाडे भाग की बाडी के समीप जाकर कुल्हाडी वगैरह हथियार लेकर मेढे को अपनी जठराग्नि का स्थान बना लिया। किन्तु शुभ-अभिप्राय मे प्रवीण नारद ने तो 'जिस स्थान पर कोई नही देख सके' इस गुरु की कही हुई बात पर चिंतवन करके विचारा—'इस नगर व वन मे ऐसा कौन सा प्रदेश है, जो अतीद्रिय दर्शी व्यन्तर देव-समूह के ज्ञान का स्थान नही है? या महामुनि जनो के ज्ञान का विषय नही है? ऐसा विचार कर वह मेढा जैसे का तैसा—उपाध्याय के लिए समर्पण कर दिया।

शिक्षक ने जान लिया कि नारद भी स्वर्गगामी है। अत उसने ससाररूप वृक्ष की जड सरीखे केश-

---

१ नीचस्थान-नरक। २ विस्तरत्प्राण। ३ नाह सभावयेयम्। ४ गोधूमचूर्ण। ५ मेषयुगल। * मेषयुगल टि० ख०, प० तु हव्यवाहवाहन उरभ्र वृष्णिश्च मेष। ६ तयोर्द्वयोमध्ये। ७ लघु.। ८-११ गृहपश्चाद्भागमहावृत्तिकान्तरे नीत्वा कुम्बा तु गहनावृत्तिरित्यमर। १२ प्रदेश। १३ स्थान। १४ मेष। १५ अथ काडे स्तम्बगुल्मौ जवक विटपश्च स। १६ भावना पञ्च—एकत्वभावना, तपोभावना, श्रुतभावना, शीलभावना, धृतिभावनाश्चेति भावना पञ्च।

पुरस्कारमात्मसस्कार विधाय कायकषायकर्शना सल्लेखनामनुष्ठाय नि शेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थमुत्तमार्थं[1] च प्रतिपद्य सुरसुखमुकृतार्था बभूव पूर्वमेव । तदादेशादात्मदेशोपदेशद[2] सकलसिद्धान्तकोविदो नारद सदगुणभूरे क्षीर-कदम्बसूरे प्रव्रज्याचरण स्वर्गावरोहण चावगत्य 'गुरुवदगुरुपुत्र गुरुकलत्र च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरण [3]पर्यात्त-तदाराधनोपकरणस्तद्विरहदु खदुर्मनसमुपाध्यायानी जननी सह पासुक्रीडित पर्वतं च द्रष्टुमागत ।

अपरेद्युस्त पर्वतम् 'अजैयष्टव्यम्' इति वाक्यम् 'अजैरजात्मजै[4]र्यष्टव्य हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्य ' इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो [5]व्याहरन्तमुपश्रुत्य 'बृहस्पतिप्रज्ञ पर्वत, मैवं व्याख्य । किं तु 'न जायन्त इत्यजा वर्षत्रयप्रवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्य शान्तिकपौष्टिकार्था क्रिया कार्या' इति [7]परार्येवाचार्यादिद वाक्यमेवमश्रौष्व[8] [9]परुत्सजू-[10]स्तथैवाचिन्तयाव । तत्कथमैषम[11] एव तव मतिर्द्वापरवसति [12] समजनीति बहुविस्मय मे मन ।' आचार्यनिकेत पर्वत, यद्यवमद्यश्वीने[13]ऽप्यर्थाभिधाने[14] भवानपरवानपि[15] विपर्यस्यति[16], तदा पराधीने 'मादृग्विधीने[17] को नाम सप्रत्यय ।'

समूह का लुञ्चन करके स्वर्ग लक्ष्मी की सखी जिनदीक्षा धारण करके समस्त जिन-सिद्धान्तो की समीक्षावाली शिक्षा प्राप्त कर चारो प्रकार के मुनि सघ को सन्तुष्ट करने वाला आचार्य-पद प्राप्त किया, जो कि मुनि सघ का सरक्षण रूप है, एव एकत्वादि पाँच भावनाओ के साथ रहने वाला आत्म-सस्कार करके ओर आयु के अन्त मे काय व कषाय को कृश करने वाला समाधिमरण धारण किया और ऐसा सन्यासमरण प्राप्त क्रिया, जो कि समस्त दोषो को आलोचना-पूर्वक शरीर-त्याग मे समर्थ है, जिससे वह पूर्व मे ही देव लोक का सुख प्राप्त करके कृतार्थ हो गया।

समस्त शास्त्रो का वेत्ता व मोक्षमार्गी नारद पूर्व मे ही गुरु की आज्ञा लेकर अपने देश की ओर चला गया था। उसने जब प्रशस्त गुणो से महान् आचार्य क्षीर कदम्बक के दीक्षा-ग्रहण व स्वर्गारोहण के समाचार सुने तो उसे 'गुरु के समान ही गुरु-पुत्र व गुरुपत्नी को मानना चाहिए।' इस नीति वाक्य का स्मरण हो गया। इसलिए वह *उसकी सेवा की सामग्री (वस्त्रादि) भेट लेकर पति-वियोग के दु ख से दु खित चित्त वाली माता-सरीखी गुरुपत्नी और एक साथ धूलि मे क्रीडा किये हुए मित्र पर्वत को देखने के लिये आया।

दूसरे दिन नारद ने पर्वत को, जो कि गुरु-वचनो की प्रतीति से चमत्कारी छात्रो के लिये 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का 'बकरो के बच्चो की वलि द्वारा देवकार्य व पितृकार्य (श्राद्ध) करना चाहिए।' इस प्रकार का विपरीत अर्थ कहते हुए सुना तो उसे रोककर कहा—'बृहस्पति-सरीखे विद्वान् पर्वत ! ऐसी विपरीत व्याख्या मत करो। किन्तु 'अज' अर्थात्—'जो न ऊँग सके ऐसे तीन वर्ष के पुराने धान्य से शान्ति व पुष्टिक्रिया करनी चाहिए।' ऐसा अर्थ करो। क्योकि हे मित्र ! गत तृतोय वर्ष मे (तीन वर्ष पूर्व) ही आचार्य से हम दोनो ने उक्त वाक्य का ऐसा ही अर्थ सुना था। एव गतवर्ष हम दोनो ने साथ-साथ उसी प्रकार चिन्तवन भी किया था। तब इसी वर्ष मे ही तुम्हारी बुद्धि सदिग्ध कैसे हो गई ? यह जानकर मेरा मन विशेष आश्चर्यान्वित हुआ है। पर्वत ! तुम आचार्य की गद्दी पर हो। जब आप पुराने अर्थ-कथन मे स्वतन्त्र होकर भी इस प्रकार उल्टा अर्थ करते हो। तब पराधीन हम-सरीखो के अर्थ-कथन के स्वामित्व मे किस प्रकार विश्वास हो सकता है ?'

---

१ सन्यास। २ नारदो गत अर्थात्—मोक्षमार्गे वर्तमान इत्यर्थ, टि० ख०, 'आत्मदेशोपदे शद ' इति च० 'आत्मदेशोपशद ' इति क०, पञ्जिकाकारस्तु 'अपसद गत, उपसदो वा गत ' इति प्राह, अर्थात्—तन्मते 'आत्मदेशोऽ-पसद ' इति पाठ साधु । ३ गृहीत। ४ छागपुत्रै । ५ गुरुवचनप्रतीतिचमत्कारिम्य । ६ कथयन्त । ७ गत-तृतीयवर्षे एव हे मित्र ! । ८ आवा श्रुनवन्तौ। ९ गतवर्षे। १० सह। ११ इदानीमस्मिन् वर्षे । १२ सशय । १३ पुराणे। १४ अर्थकथने। १५ स्वतत्र । १६ विपरीत करोति। १७ मादृशा विधिस्तस्य इने ईश्वरे।

पर्वत—'नारद, नेदमस्तुङ्कार[१] यदस्य पदस्य मन्निरुक्त एवातिसूक्तोऽर्थ । यदि चायमन्यथा स्यात्तदा [२]रसवाहिनीखण्डनमेव मे दण्ड ।' **नारद**—'पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोरावयोर्निकषभूमि [३] ।' **पर्वत**—'नारद, वसु । कर्हि तर्हि त [४]समयानुसर्तव्यम् । इदानीमेव [५]नात्रोद्धार' इत्यभिधाय द्वावपि तौ वसुं निकषा प्रास्थिषाताम[६], ऐक्षिषाता च । तथोपस्थितौ तेन **वसुना** गुरुनिर्विशेषमाचरितसमानौ यथावत्कृतकशिपुविधानौ[७] विहितोचितोचितकाञ्चनदानौ समागमनकारणमापृष्टौ स्वाभिप्रायमभाषिषाताम् ।

वसु—'यथाहतुस्तत्रभवन्तौ[८] तथा प्रातरेवानुतिष्ठेयम्[९] ।

अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपाया सा किलोपाध्यायी **नारद**पक्षानुमत **क्षीरकदम्बा**चार्यकृत तद्वाक्य-व्याख्यान स्मरन्ती **स्वस्तिमती** पर्वतपरिभवापायबुद्ध्या **वसु**मनुसृत्य 'वत्स **वसो**, य पूर्वमुपाध्यायादन्तर्धा[१०]नापराध-लक्षणावसरो वरस्त्वयादायि, स मे सप्रति समर्पयितव्य ' इत्युवाच । सत्यप्रतिपालनासुर्वसु—किमम्ब, सदेहस्तत्र ।

यद्येव यथा सहाध्यायी **पर्वतो** वदति, तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम् ।' **वसु**स्तथा स्वयमाचार्याण्याभिहत [११]—

पर्वत—मेरा यह अर्थ-कथन असङ्गत नही है, क्योकि इस पद का मेरा कहा हुआ अर्थ ही ठीक है। यदि यह ठीक नही है तो जिह्वा-खडन ही मेरे लिये दण्ड है।'

नारद—'पर्वत ! इस विषय मे निश्चितरूप से विवाद करनेवाले हम दोनो का परीक्षा-स्थान (परीक्षक—फैसला करनेवाला) कौन है ?'

पर्वत—'नारद ! राजा वसु ।'

नारद—'तो उसके पास कब चलना चाहिए ?'

पर्वत—'इसी समय ही, इसमे विलम्ब नही करना चाहिए ।'

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनो ने वसु के समीप प्रस्थान किया और वहाँ उपस्थित होकर वसु के दर्शन किये। वसु ने उनका गुरु-जैसा आदर-सत्कार किया और यथायोग्य अन्न व वस्त्र प्रदान किये एव यथायोग्य सुवर्ण का दान दिया और उनसे आने का कारण पूँछा। तब दोनो ने अपना-अपना अभिप्राय कह दिया।

वसु—'पूज्य आप दोनो ने जिस प्रकार कहा है, उसका फैसला कल प्रात काल कराऊँगा ।'

इसी प्रसङ्ग मे निस्सन्देह वसु राजा की लक्ष्मी के विनाश के लिए प्रलय रात्रि-जैसी स्वस्तिमती नाम-की क्षीर-कदम्बक नामके उपाध्याय की पत्नी ने, अपने पति क्षीर-कदम्बक के द्वारा किया हुआ उस वाक्य का व्याख्यान स्मरण किया, जो कि नारद के पक्ष का समर्थक था, अत अपने पुत्र पर्वत के पराजय को नष्ट करने की बुद्धि से वह रात्रि मे ही वसु के समीप गई और बोली—'पुत्र वसु ! पहिले गुरु से छिपने का अपराध करने के समय वाला जो वर तुमने मुझे दिया था, वह मुझे अब दो ।'

सत्य-रक्षण को प्राण समझनेवाले वसु ने कहा—'माता ! उसमे सन्देह मत करो ।'

स्वस्तिमती—'यदि ऐसा है तो तुम्हारा सहपाठी पर्वत जैसा कहता है उसी प्रकार तुम्हे साक्षी होना चाहिए ।'

---

१ असङ्गत। २ जिह्वा-खडन। ३ परीक्षास्थान। ४ समीपे। ५ न विलम्ब। ६ प्रस्थितौ। ७ भोजना-च्छादनौ। ८ पूज्यौ। ९ अह कारयेय। १० तिरोधान। ११ प्रार्थित।

'यदि साक्षी भवामि तदावश्य निरये पतामि। अथ न भवामि तदा सत्यात्प्रचलामि' इत्युभयाशयशार्दूलविद्रुतमनोमृगश्चिर विचिन्त्य।

न व्रतमस्थिग्रहण[1] शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा। व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥१२६॥'

इति च विमृश्य निरयनिदानदक्ष चरमपक्षमेव[2] पक्षमाक्षैप्सीत्[3]।

तदनु[4] मुमुदिषमाणारविन्दहृदयविनिद्रेन्दिन्दिरचरणप्रचारोदञ्चन्मकरन्दसिन्दूरितनीरदेवतासीमन्तान्तराले प्रभातकाले, सेवासमागतसमस्तसामन्तोपास्तिपर्यस्तोत्तसकुसुमसपादितोपहारमहीयसि च सति सदसि मृगयाव्यसनव्याजशरव्यीकृते[5] कुरङ्गपोते, *अपराद्धेषुः[6] प्रत्यासादितस्पर्शमात्रावसेयाकाशस्फटिकघटितविलसन सिंहासनमुपगत्य 'सत्यशौचादिमाहात्म्यादह विहायसि गतो जगद्व्यवहार[7] निहालयामि' इत्यात्मनात्मानमुत्कुर्वाणो[8] विवादसमये तेन [9]विनतवरदेन नारदेन 'अहो, मृषोद्योद्भिदविभावसो[10] वसो, अद्यापि न किंचिन्नङ्क्ष्यति[11]। तत्सत्य ब्रूहि सत्य ब्रूहि' इत्यनेकश

गुरु-पत्नी द्वारा स्वय उस प्रकार प्रार्थना किये हुए वसु ने विचार किया—'यदि पर्वत का साक्षी होता हूँ तब तो मेरा नरक मे पतन अवश्य होगा और यदि साक्षी नही होता हूँ तो सत्य से (वर देने की प्रतिज्ञा से) विचलित होता हूँ।' इस प्रकार उसका मनरूपी मृग दोनो अभिप्रायरूपी व्याघ्र द्वारा विचलित हुआ तब उसने इस प्रकार चिरकाल तक निश्चय किया—

'हड्डी (कपाल) का धारण करना, शाक, जल, व कन्दमूल का लेना अथवा भिक्षा-भोजन करना ये सब व्रत नही है, किन्तु स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा का पूर्ण करना ही विशिष्ट बुद्धिशाली मानवो का व्रत है ॥१२६॥

उसने ऐसा विचार करके नरक ले जाने मे समर्थ कारण पर्वत का पक्ष ही स्वीकार किया। दूसरे दिन जब ऐसा प्रात काल हो रहा था, जिसमे जल देवता के केशपाश का मध्यभाग, विकसित हो रहे कमलो के मध्य मे जाग्रत हुए—उत्साही भवरो के चरण-सचार से उछलते हुए पुष्प-रस रूपी सिन्दूर से युक्त किया गया था। जब राज-सभा ऐसी हो रही थी, जो कि सेवा के लिए आये हुए सभी सामन्तो द्वारा की जानेवाली उपासना के समय गिरे हुए मुकुटो के पुष्प-समूह रूपी दी हुई भेट से महान् प्रतीत हो रही थी। जब मृग-शावक ऐसे हो रहे थे, जो कि शिकारियो द्वारा शिकार खेलने के व्यसन के बहाने से वाणो के लक्ष्य (बीधने-योग्य) किये गए है। [इसी अवसर पर] राजा वसु लक्ष्य से च्युतबाणवाला (निशाना-चूकने वाला) होकर उसका वाण किसी वस्तु से टकराकर वापिस लौट आया तब वह ऐसे राज-सिंहासन पर आकर बैठ गया, जो कि स्पर्श मात्र से निश्चय करने योग्य व प्राप्त हुए आकाश-स्फटिक से घटित होने के कारण सुशोभित हो रहा था। उस समय वह स्वय अपनी आत्मा को इस प्रकार उत्कर्षता मे प्राप्त करा रहा था (अपने मुख से अपनी प्रशसा कर रहा था) कि 'मै सत्य व शौच (लोभ-निग्रह) आदि धर्म के प्रताप से आकाश मे बैठ कर जगत का न्याय देखता हूँ।'

विवाद के अवसर पर नम्र शिष्यो के लिए इच्छित वस्तु देनेवाले नारद ने कहा—'मिथ्या भाषण-

१ 'कीकस' टि० ख०, 'कापालिकव्रत' टि० च०। २ 'साक्षिवचन' टि० ख०, पर्वतवचन टि० च०। ३ अङ्गीचकार। ४ विकसमानपद्ममध्यउच्छीयमानभ्रमरचरण। ५ 'वेधी' टि० ख०, 'लक्ष्यीकृते' टि० च० एव यश० पञ्जिकायामपि।

* 'अपराद्धेषुरिषुप्रत्यावृत्यासादितस्पर्श' च० ख०। 'अपराद्धेषुरिषुप्रत्यासादितस्पर्श' क०।

६ लक्ष्यच्युतबाण। ७ न्याय पश्यामि। ८ उत्कर्षता प्रापयन् टि० ख०, प० तु प्रकाशयन्। ९ विनताना। विनेयाना। १० 'वृक्षदहनाग्ने' टि० ख०, 'उद्भिदस्तरुगुल्माद्या इत्यमर' टि० च०, प० तु 'उद्भिद तरु'। ११ विनाश यास्यति।

कृतोपदेश काश्यपीतल यियासुर्वसु —'नारद, यथैवाह पर्वतस्तथैव सत्यम्' इत्यसमीक्ष्य[1] साक्ष्य वदन् 'देव, अद्यापि यथायथ वद यथायथ वद' इत्यालापबहुले [2]समन्युमानसविलासिनीस्ख[3]लितोक्तिलोहले[4] विषादासादिहृदयप्रजाप्रजल्पकाहले स्फुटद्ब्रह्माण्डखण्डध्वनिकुतूहले समुच्छलति परिच्छदकोलाहले सत्यधर्मकर्मप्रवर्तनकुपितपुरदेवतावशदुर्विलसन ससिंहासन क्षणमात्रमप्यनासादित[7]सुखकाल पातालमूल[8] जगाहे। अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिवेलाया प्रजा[9] जल्पन्ति—'उत्तिष्ठ वसो, स्वर्ग गच्छ' इति।

भवति चात्र श्लोक —

अस्थाने बद्धकक्षाणा नराणा सुलभ द्वयम्। परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥१२७॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंशः कल्प।

नारदस्तमेव निर्वेदमुररीकृत्य नतभ्रू[10]विभ्रमभ्रमरकुलनिलयनीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तलकलापमुन्मूल्य परमनिष्किचनतानिरूप[11] जातरूपमास्थाय सकलसत्त्वाभयप्रदानामृतवर्षाधिकरण सयमोपकरण[12]माकलय्य[13] मुक्तिलक्ष्मीसमागमसचारिका[14]मिवोदकपरिचारि[15]कामादृत्य शिवश्रीवशीकरणाध्यायमिव[16] स्वाध्यायमनुबद्धय[17] मनोमर्कट-

रूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखे वसु! अब भी कुछ नष्ट नही होगा, अत सच बोल सच बोल।'

परन्तु बार-बार उपदेश दिए हुए नरक जाने के इच्छुक वसु ने यही कहा—'नारद! जो पर्वत कहता है वही सत्य है।' इस प्रकार जब अपरीक्षणीय झूँठी गवाही बोल रहा था तब ऐसा कुटुम्बीजनो का कोलाहल उत्थित हुआ, जो कि महाराज! 'अब भी सच बोलिये, अब भी सच बोलिए' इस प्रकार के शब्दो से प्रचुर था। जो कोपसहित मनवाली राज-स्त्रियो के अव्यक्त वचनो से अस्फुट था। जो खेद से व्यथित हृदयवाली प्रजाओ के जोर-शोर से चिल्लाने रूपी काहल (वाद्य विशेष) वाला था एव जिसमे ब्रह्माण्ड (मध्य लोक) के फटने का कुतूहल वर्तमान था। तब अधर्म कर्म (मिथ्याभाषण) मे प्रवृत्ति करने से कुपित हुए नगर देवता द्वारा विशेष कष्ट दिया गया वसु सिंहासन-समेत ऐसे सप्तम नरक मे प्रविष्ट हुआ, जिसमे क्षणमात्र भी सुख प्राप्ति का अवसर नही है, इसीलिए आज भी यज्ञ मे पहली आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते हैं—'वसु उठ, स्वर्ग जा।'

प्रस्तुत विषय-समर्थक नैतिक श्लोक का अर्थ यह है—

नीति से विरुद्ध खोटे मार्ग मे दुराग्रह से प्रवृत्त होनेवाले मानवो के लिए दो वस्तुएँ सुलभ होती हैं—परलोक मे दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोक मे अमिट अपकीर्ति ॥ १२७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे वसु की रसातल मे प्राप्ति करानेवाला उनतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस घटना से नारद ने उसी वैराग्य को स्वीकार करके ऐसा केश-समूह उत्पाटित (लुञ्चित) करके जो ऐसे मालूम पडते थे—मानो—कमनीय कामिनियो के विलासरूपी भ्रमर-समूह के आवास स्थान वाली नीलकमलो की राशि ही है, और उत्कृष्ट परिग्रह के त्याग को बतलानेवाली दिगम्बर मुद्रा धारण करके ऐसा प्राणियो की रक्षा का उपकरण मयूरपिच्छ ग्रहण किया, जो कि समस्त प्राणियो के लिये अभय-

१ अपरीक्षणीय। २ 'कोपसहितचित्त' टि० ख०, प० तु 'मन्यु दु ख'। ३ अव्यक्तवचन। ४ अस्फुटे—अव्यक्ते। ५ चन्द्रे। ६ मर्त्यलोक। ७ अप्राप्त। ८ सप्तमनरक। ९ विप्रा। १० स्त्री। ११ कथक। १२ मयूरपिच्छ। १३ गृहीत्वा। १४ दूती। १५ कुण्डिका—कमण्डलु। १६ परिच्छेद। १७ कृत्वा।

क्रीडाप्रकाम[1]मिन्द्रियाराममुपरम्य[2] अन्तरात्महेमाश्म[3]समस्तमलदहन ध्यानदहनमुद्दीप्य सजातकेवलस्तत्प[4]दाप्ति-पेशलो बभूव ।

पर्वतस्तु तथा सर्वसभासमाजोदीरितोद्दीर्घदुरपवादरजसि मिथ्यासाक्षिपक्षविचक्षणवचसि दुराचारेण क्षुभित-सहस्राक्षानुचरी[5]क्षितजीवितमहसि कथाशेषतेजसि वसौ सति [6]अह्लस्वह्लीणतया पौरापचिकीर्षया[7] च निरन्तरोदञ्च-रोमाञ्चनिकाय [8]शललशलाकानिकीर्णकाय इव निजागणे[9]यदुरीहिताघमातो[10]दरचर्मपुट स्फुटन्निव च तैर्नृपतिविनाशव-शामर्षिभि सभूयोपदिष्टलोष्टवर्षिभिरतु[11]च्छपिञ्छो[12]लदलास्फालनप्रकर्षिभि प्रतिघातोच्छलच्छकल[13] कशा[14]प्रहारतर्षि-भिर्नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकार सरासभारोहणावतार कण्ठप्रदेशे प्राप्तप्राण [15]पुरुपूतकृतोल्वणक्वाण[16] सकल-पुरवीथिषु [17]विश्वग्घुष्टानुयातो* निष्काशित [18]श्वपचस्मशानाशुकपिहितमेहनो विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डन[19]

दानरूपी अमृत की वृष्टि का आश्रय है। बाद मे उसने मुक्ति लक्ष्मी के समागम के लिए दूती-सरीखी कुण्डिका (कमण्डलु) धारण करके और मुक्तिश्री के वशीकरण का परिच्छेद-जैसा शास्त्र-स्वाध्याय करके एव मनरूपी बन्दर की बहुल क्रीडावाले इन्द्रियरूपी बगीचे से दूर होकर ऐसी धर्मध्यानरूपी अग्नि उद्दीपित करके, जो कि अन्तरात्मारूपी सुवर्ण-पाषाण की समस्त पापरूपी किट्टकालिमा को दग्ध करनेवाली है। अर्थात्—उसने धर्मध्यान व शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्म करके केवलज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह मोक्षपद प्राप्त करने से मनोज्ञ हो गया।

जब ऐसा वसु, जिसका तेज केवल कथामात्र मे ही शेष था, अर्थात्—जो मर चुका था। जिसके प्रति समस्त सभासदो व सामाजिक जनो द्वारा महान् धिक्काररूपी धूलि उच्चारण की गई थी, (पक्षान्तर मे फैंकी गई थी) जिसके वचन झूँठी गवाही देने के पक्ष के समर्थन मे प्रवीण थे। जिसका जीवनरूपी तेज दुराचार (मिथ्या-पक्ष का समर्थन) के कारण कुपित हुई इन्द्र की किङ्करियो द्वारा विशेष रूप से नष्ट किया गया था। तब कालासुर (जो कि पूर्वजन्म मे मधुपिङ्गल था) ने ऐसे पर्वत को देखा, दीर्घलज्जा से व नागरिको की द्रोह करनेवाली इच्छा के कारण जिसे अविच्छिन्न व उच्चतर रोमाञ्च श्रेणी उत्पन्न हुई थी। जिसकी कुक्षि का चर्मपुट अपने असख्य पापो से फट गया था—मानो—उसका शरीर सेही के काटो से बोधा गया-जैसा मालूम पडता था। जो ऐसा मालूम पडता था—मानो—फट ही रहा है। जो ऐसे नगर मे निवास करने से हर्षित हुए नागरिक जनो द्वारा अगणित अपकार पूर्वक गधे पर चढाकर समस्त नगर की गलियो मे दुरपवाद की घोषणा को प्राप्त हुआ नगर से बाहर निकाल दिया गया था। जो कि (नागरिक जन) वसु राजा के मर जाने के वश से इससे कुपित थे। जो एकत्रित हाकर इसके ऊपर पत्थरो की वर्षा करने का उपदेश देते थे। जो कि बहुल बाँस के खण्डो द्वारा इसे विशेष रूप से ताडित करते थे और जो ताडन करने से ऊपर उछलते हुए खण्डो वाले कोडो से प्रहार करने की अधिक तृष्णा करते थे। कष्ट से उसके प्राण कण्ठ देश मे आ गये थे। जो विशेष चिल्लाने का उत्कट शब्द करता था।

१ यथेष्ट-अधिक। २ परितो भूत्वा। ३ सुवर्णपाषाण। ४ मोक्ष। ५ किङ्करीभि क्षित विध्वस्त जीवितमेव महस्तेजो यस्य। ६ दीर्घलज्जया। ७ द्रोहकरवाञ्छया टि० ख०, अपकर्तुमिच्छया टि० च०। ८ सेहीशूल-विद्धशरीर। ९ बहुल, असख्य। १० आफटितकुक्षि'। ११. बहुल। १२ वश। १३ खण्ड। १४ 'तर्जनक' टि० ख०, 'हयहननोपकरण टि० च०, यश० पञ्जिकायामपि। १५ महान्। १६ शब्द। १७ विश्वग्घुष्ट दुरपवादघोषणा यश० प०। * 'विश्वरपुष्टानुजातो' इति ख०, टिप्पण्या तु 'सारमेया पृष्टतो भवन्ति'। १८ चाण्डालचितास्थानवस्त्रेण कृतकौपीन। १९ विपरीत पीछणौ मध्ये मध्ये पाटापाडित।

प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो[1] गलनालावलम्बितशरावमाल प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्ट तुच्छोदकद्वी[2]पिनीतटिनी-तटनिकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्ट [3]प्रत्यवमृष्टहृच्चेष्टेन चाह [4]तावद्वैकारिकर्द्धिप्रचिकाशयिषुशक्ति 'एषोऽपि स्वमतप्रतिष्ठापयिषुमतिप्रशक्तिरतो निष्प्रतिघ[5] खलु मे कार्योल्लाघ[6] इति निभृत वितर्क्य[7] पर्याप्तपरिव्रा[8]जकवेषेण मायामयमनीषेण भाषितश्च ।

तथाहि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीना[9]शकेलिनर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्व[10]रापकार ' पर्वत — 'तात, को भवान्' । 'पर्वत, भवत्पितु खलु प्रियसुहृदह सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी । यदा हि वत्स, भवान् [11]षोडन् समभवत्तदाह तीर्थयात्रायामगाम । इदानी [12]चागाम् । अतो न भवान्मा सम्यगवधारयति । तत्कथय हन्त[13] कारणमस्य व्यतिकरस्य' ।

पर्वत —'मत्प्राणितपरित्रा[14]णकारिन भगवन्, समाकर्णय । समस्तागमरत्नसनिधातरि[15] सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकन्लोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्तनिकामकामोद्गम [16]संपन्नपण्याङ्गनाजन-समागम [17]कृतपिशितकापिशा[18]यिनस्वाद पापकर्मप्रासाद [19]चेतन्नप्यार्यो[20]पदिष्ट विशिष्ट व्याख्यानमह[21]दुरात्माख्यान

चाण्डाल की चिताभूमि के वस्त्र (मुर्दे का कफन) से जिसने लँगोटी की थी। मार्ग मे उल्टे उस्तरे से उसका सिर मूँडा गया था। जिसकी चोटी मे विल्व फल-समूह प्रकट रूप से बाँधे गए थे। जिसकी कण्ठनाल मे सकोरो की श्रेणी आश्रित थी। वह विशाल वन के गहन एकान्त प्रदेश मे प्रविष्ट हुआ और थोडे जलवाली द्वीपिनी नाम की नदी के तट के निकट बैठ गया।

वहाँ उसे कालासुर व्यन्तर ने देखा, उसकी मन की दशा जानते हुए कालासुर ने निश्चल विचार किया—'मै अपनी विक्रिया ऋद्धि को प्रकट करने की शक्तिवाला हूँ और इस पर्वत को बुद्धि की प्रकृष्ट शक्ति अपने मत को स्थापन करने की इच्छुक है, अत निश्चय से मेरी कार्य-घटना निर्विघ्न है।

ऐसा विचार कर उसने सन्यासी का वेष प्राप्त (धारण) किया और अपनी बुद्धि को छल-कपट-पूर्ण करते हुए कहा—'पर्वत ! निश्चय से यमराज की क्रीडा के निकटवर्ती परिहास (मजाक) करनेवाले किस दुष्ट के द्वारा तुम्हारे साथ यह निष्ठुर अपकार कराया गया ? अर्थात्—तुम्हारे अपकार करनेवाले की मृत्यु निश्चित है।

पर्वत—'पिता ! आप कौन है ?'

कालासुर—'पर्वत ! निस्सन्देह मै आपके पिता का सहपाठी प्रिय मित्र हूँ। मेरा नाम शाण्डिल्य है। जब तुम छह दाँतो वाले शिशु थे तब मै तीर्थयात्रा के लिए चला गया था और अब वापिस आया हूँ, इसी लिये आप मुझे अच्छी तरह नही जानते। अतः अहो पुत्र ! तुम अपनी इस दशा का कारण कहो।'

पर्वत—'मेरे प्राणो की जीवन-रक्षा करनेवाले भगवन् ! सुनिए—समस्त शास्त्र रूपी रत्नो को भलीभाँति धारण करनेवाले और पुण्य रूप मणि को एकत्रित करने वाले मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गारोहण कर चुके तब मै स्वच्छन्द होने से एक समय मेरे मे कामोत्पत्ति अतिशय रूप से प्रज्वलित हुई,

---

१ श्रीफल विल्व। २ नाम्नी। ३ परामृष्टहृदयचेष्टेन। ४ विक्रिया ऋद्धि प्रकटयितु शक्ति। ५ निर्विघ्न। ६ घटना। ७ निश्चल विचार्य। ८ तपस्वी। ९ यम। १० 'निष्ठुर' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु निर्वरो निर्वैर' इत्याह। ११ यदा तव षट्दन्ता षोडन्, साधनिका पचन्तवत्, टि० ख०, 'षड्दन्त' टि० च०, प० तु 'षोडन् षट्दशन'। १२ आगत। १३ अहो !। १४ जीवितरक्षणे। १५ सन्धारके। १६ कृत। १७ मास। १८ मद्य। १९, जानन्नपि। २० पितृ। २१ दुरात्म-दुष्टस्वभाव आख्यान चरित यस्य मम सोऽह।

स्वव्यसनविवृद्धयेऽधर्मबुद्धचा साधुमध्ये अजैर्यष्टव्यमितीद वाक्यमशेषकल्मषनिषेव्यो[1]ऽन्यथोपन्यस्यमानो[2] नारदेनापादितवचनस्खलन सन् एतावद्विपत्तिस्थामवस्थामवापम्' ।

कालासुर —'पर्वत, मा शोच । मुञ्च त्वमशेष धिषणाकलुषम् । अङ्ग, साधु सबोधयात्मानम् । न खलु निरीहस्य[3] नरस्यास्ति काचिन्मनीषितावाप्ति । तदल हन्त[4] हृदयदाहानुगेनावेगेन[5] । हहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीयसंकेताङ्क ब्राह्मगोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीना सप्ततन्तूना[6] प्रतिपादकानि वाक्यानि विरचय्य अन्तरान्तरा[7] वेदवचनेषु निवेशय । वत्स, मयि भूर्भुव स्वस्त्रयीविपर्यासनसमर्थमन्त्रमाहात्म्ये, त्वयि च तरसासवसवित्रीप्रवृत्तिहेतुश्रुतिगीति[8]समभ्यस्तसात्म्ये[9] कि नु[10] नाम*हासाध्यम्' इत्युत्साह्य स्वय विद्यावष्टम्भसृष्टाभिरष्टा[11]भिरपीतिभि[12]रुपद्रूयमाणजनपदहृदयमयोध्याविषयमागत्य नगरबाहिरिकाया स देवश्चतुराननोऽभूत् । [13]अध्वर्यु पर्वत समासीत । मायामयसृष्टय पिङ्गल-मनु-मतङ्ग-मरीचि-गौतमादयश्च [14]ऋत्विजोऽजनिषत । तत्र [15]श्रुतिधृतिश्चतुर्भिर्वदनैरुपदिशति ।

जिससे मैने वेश्याजनो के साथ रति विलास किया और मास-भक्षण किया और मदिरा पी, इस प्रकार मै पातको का गृह बन गया । 'अजैर्यष्टव्य' इस वाक्य का पिताजी ने जो विशिष्ट अर्थ किया था, उसे जानते हुए भी दुष्ट स्वभाववाले चरित-युक्त मैने पापबुद्धि से अपने व्यसनो की वृद्धि के लिए उसे बदलकर समस्त पापो से आश्रयणीय मैने सज्जन पुरुषो के बीच विपरीत अर्थ को उपस्थापक रूप से निरूपण कर रहा था तब नारद ने मेरे अन्यथा निरूपण को सज्जनो के समक्ष प्रदर्शित कर दिया । अर्थात्—मेरी गल्ती पकड ली । इससे मै इस प्रकार की विपत्ति के आश्रय वाली इस दयनीय दशा को प्राप्त हुआ हूँ ।'

कालासुर—पर्वत ! शोक मत कर और समस्त बुद्धि की मलिनता को छोड । हे पुत्र ! अपनी आत्मा को सम्बोध । जो मानव शत्रु-लोक के ऊपर नि स्पृह होता है या निरुद्यमी होता है उसे कोई अभिलषित वस्तु प्राप्त नही होती । अत हृदय के दाह को अनुसरण करनेवाले शोक को छोड । अहो पुत्र-पर्वत ! ब्राह्ममेध, गोमेध, अश्वमेध, सौत्रामणि, वाजपेय, राजसूय व पुण्डरीक-आदि यज्ञो के निरूपण करनेवाले वाक्यो को अपने सकेत के अनुसार (अपने अभिप्राय के सूचक) रचना करके उन्हे वैदिक वाक्यो के बीच बीच मे प्रविष्ट कर दो । पुत्र ! जब मेरे मे पृथिवीलोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक इन तीनो लोको को विपरीत करने मे समर्थ हुए मन्त्रो की सामर्थ्य होते हुए और मॉस-मदिरा और माता मे प्रवृत्ति करने मे कारण वैदिक मन्त्रो के पाठ मे अभ्यस्त हितवाले तुम्हारे होते हुए मै पूँछता हूँ कि तब लोक मे ऐसी कौन वस्तु है, जिसे हम प्राप्त नही कर सकते ?'

इस प्रकार पर्वत को उत्साहित करके वह कालासुर ऐसे अयोध्या नाम के देश मे आया, जिस देश

---

१ आश्रयणीय । २ उपसर्गादात्मनेपद 'उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा' इत्यनेन । ३ 'शत्रुलोकोपरि नि स्पृहस्य' टि० ख०, 'निरुद्यमस्य' टि० च० । ४ हन्त हर्षेऽनुकम्पाया वाक्यारभविषादयो । ५ शोकेन । ६ यज्ञाना । ७ मध्ये मध्ये । ८ पाठ । ९ हिते । १० नु पृच्छाया विकल्पे च वितर्के च । * नाम-प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने । ११-१२ अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभा शुका । स्वचक्र परचक्र च सप्तैता ईतय स्मृता ॥ १ ॥

अष्टमी नाम सा हिम-आतपवर्षादिका ।

१३ 'यजुर्वेदज्ञाता' अध्वयु अध्वर्यू होतृहोतारो यजु समा ' टि० ख०, 'यज्वा' टि० घ० च० । १४ सजाता माया तु कालासुरस्यैव । १५ ब्रह्मा ।

पर्वतस्तु—यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा । यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषा तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ॥ १२८ ॥

* ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत[1], इन्द्राय क्षत्रिय, मरुद्भ्य वैश्य, तमसे शूद्रम्, उत्तमसे तस्कर, आत्मने [2]क्लीव, कामाय पुश्चल, अतिक्रुष्टाय मागध, [3]गीताय सुत, आदित्याय स्त्रिय गर्भिणी, सौत्रामणौ य एवविधा सुरा पिबति, न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च[4] तिस्र एव श्रुतौ समता —पैष्टी, गौडी,[5] मागधी चेति । गोसवे ब्राह्मणो [6]गोसवे-नेष्ट्वा सवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति । उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

[7]षट्शतानि *नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाद्रूनानि पशुभिस्त्रिभि ॥ १२९ ॥
[8]महोक्षो वा [9]महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते[10] । निवेद्यते तु दिव्याय स्त्रक्सुगन्धिनिधिर्विधि ॥ १३० ॥

का मध्यभाग अपनी विद्या के बल से रची हुई आठ ईतियो (सर्प व कण्टकादि अथवा टिप्पणीकार* के अभि-प्राय से अतिवृष्टि व अनावृष्टि-आदि) द्वारा पीडित किया जा रहा था और ब्रह्मा का रूप धारण करके नगर केबाह्य प्रदेश पर बैठ गया । एव उसी के निकट यजुर्वेद का ज्ञाता पर्वत पुरोहित होकर बैठा था । मायामयी सृष्टिवाले पिङ्गल, मनु, मतङ्ग, मरीचि और गौतम वगैरह होता हो गए, यह सब कालासुर की माया थी। ब्रह्माजी चारो मुखो से उपदेश देते थे और पर्वत आदेश देता था ।

ब्रह्मा ने स्वय यज्ञ के लिए ही पशुओ की सृष्टि की है । यज्ञ सबकी समृद्धि के लिये हे । इसलिए यज्ञ मे किया जानेवाला पशु-वध वध नही है ॥ १२८ ॥

ब्रह्मा के लिये ब्राह्मण का होम करना चाहिए । इन्द्र को सन्तुष्ट करने के लिये क्षत्रिय का होम करना चाहिये । वायु के लिए वैश्य को होम देना चाहिए । तम के लिए शूद्र को होम देना चाहिए । उत्तमस—राहु की शान्ति के लिए चोर को होम देना चाहिए । आत्मा के लिए नपुसक का होम करना चाहिए । कामदेव के लिए व्यभिचारी का होम करना चाहिए । अतिक्रुष्ट के लिए मागध का होम करना चाहिए । गीत के लिए पुत्र का होम करना चाहिए । और सूर्य देवता के लिए गर्गिणी स्त्री का होम करना चाहिए । जो मानव सौत्रामणि यज्ञ मे वैदिक मन्त्रो द्वारा सुसस्कृत सुरा पीता है, उसे शराबखोर नही समझा जाता । वेद मे तीन प्रकार की सुरा मानी गई है । १. पेष्टी—जौ वगैरह के आटे से बनी हुई, गौडी—गुड से बनाई हुई और माधवी—जो महुए से बनती है । गोसव यज्ञ मे ब्राह्मण तत्काल जन्मे हुए गाय के बछडे से यज्ञ करके वर्ष के अन्त मे माता की भी इच्छा करता है । माता के पास जाओ । बहिन के पास जाओ ।

अश्वमेध यज्ञ मे मध्याह्न-वेला मे तीन कम छह सौ अर्थात्—पाँचसौ सत्तानवे- ५९७ पशु मारे जाते

---

* 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते । क्षत्राय राजन्य । मरुद्भ्यो वैश्य । तपसे शूद्र । तमसे तस्कर । नारकाय वीरहणम् । पाप्मने क्लीव । आक्रयाया योगूम् । कामाय पुँश्चलम् । अतिक्रुष्टाय मागधम् । गीताय सूत । नृत्ताय शैलूषम् ।'—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ४ । वाजसनेयी सहिता ३०, ५ मे तथा शतपथ ब्राह्मण १३, ६, २ मे भी पाठ भेद के साथ उक्त उद्धरण मिलता हें । १ होमयेत् । २ नपुसकम् । ३ भाट-स्युर्मागधास्तु मगधा बन्दिन स्तुतिपाठका । ४ 'गौडी पेष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।'—मनुस्मृति ११-९४ । ५ गुडविकार । ६. धेन्वा—सद्य प्रसूतगवा । ७ वाजसनेयी सहिता २४, ४० की उव्वट और महीध्र की टीका मे यह श्लोक पाया जाता है, उसमे उत्तरार्ध इस प्रकार है—'अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च । * अभिक्रियन्ते । ८ 'महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् । सत्क्रियान्वासन स्वादु भोजन सूनृत वच ॥ १०९ ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, पृ० ३४ । उक्षो वृषभ । ९ छाग । १० हिंस्यते ।

गोसवे सुरभिं हन्याद्राजसूये तु भूभुजम् । अश्वमेधे हयं हन्यात्पौण्डरीके तु दन्तिनम् ॥ १३१ ॥
*औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नराः । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रिता गतिम् ॥१३२॥
मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् । अप्रमाणं तु यो ब्रूयात्स भवेद्ब्रह्मघातकः ॥ १३३ ॥
[1]पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १३४ ॥

इत्याद्यादिशति । **मनु-मरीचि-मतङ्ग**प्रभृतयश्च [2]सवषट्कारमजद्विजगजवाजिप्रभृतीन्देहिनो जुह्वति । तदेव [3]श्रुतिशस्त्रवाणिज्यजित्यो*पजीविनामीतीः [5] **पर्वतो** व्यपोहति । **कालासुरः** [6]पुनरालभ्यमानान्प्राणिनः साक्षाद्विमाना-रूढान्स्वर्गं [7]सावर्या पर्यटतो दर्शयति । **मनुप्रमुखाश्च** मुनयः प्रभावयन्ति[8] । ततो मायाप्रदर्शितत्रिदशवेश्मप्रदेशादिलोभे संजाते सकलजनक्षोभे स [9]प्रत्यासन्ननरकनगरः **सगरः** स च श्वभ्रविभ्रमोचितस्थितिर्**विश्वभूतिस्त**[10]दुपदेशात्तांस्तान्[11] सत्वान् हत्वा [12]प्सात्वा च दुरन्तदुरितोचितचेतसौ मखमिषात्**कालासुरेण** स्मारितपूर्वभवागसौ[13] [14]वीतिहोत्राहुति-

---

है, ऐसी आज्ञा है ॥ १२९ ॥ श्रोत्रिय (यज्ञ करनेवाले वेदपाठी विद्वान्) के लिए बडा बैल अथवा बडा बकरा मारा जाता है । पुष्प-माला व सुगन्धि-युक्त उक्त विधि स्वर्ग-सुख के लिए निरूपण की गई है ॥ १३० ॥ गोसव यज्ञ मे तत्काल प्रसव करनेवाली गाय का वध करना चाहिए । रायसूय यज्ञ मे राजा का वध करना चाहिए । अश्वमेध मे घोडे का वध करना चाहिए और पौण्डरीक यज्ञ मे हाथी का वध करना चाहिए ॥ १३१ ॥

औषधियाँ, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च, पक्षी और मनुष्य यज्ञ मे मारे जाने से उच्चगति प्राप्त करते है ॥ १३२ ॥ मनु का धर्म शास्त्र (मनुस्मृति-आदि) और व्यास व वशिष्ट का शास्त्र (महाभारत-आदि) एव वैदिक वचनो को जो अप्रमाण बतलाता है, वह ब्रह्मघाती है ॥ १३३ ॥ पुराण, मानवधर्म, छह अङ्गो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष) समेत चारो वेद और आयुर्वेद ये चारो स्वय प्रमाण है, इन्हे युक्तियो से खण्डित नही करना चाहिए ॥ १३४ ॥

पर्वत इस तरह की आज्ञा देता था और मनु, मरीचि और मतङ्ग-आदि ऋषि स्वाहा शब्द के साथ बकरा, द्विज, हाथी और घोडा वगैरह प्राणियो का होम करते थे । इस प्रकार वेद से जीविका करनेवाले ब्राह्मणो मे, शस्त्रजीवी क्षत्रियो मे, व्यापार से जीविका करनेवाले वैश्यो मे, कृषि से जीविका करनेवाले कृषको मे कालासुर ने जो ईतियाँ (सर्प-कण्टक-आदि के दु ख) फैलाई थी, उन्हे पर्वत दूर करता था और कालासुर मारे गए प्राणियो को अपनी माया के द्वारा विमान मे सवार कराकर स्वर्ग को जाते हुए प्रत्यक्ष दिखाता था । मनु-वगैरह ऋषि इससे दूसरो को प्रभावित करते थे । इस प्रकार जब समस्त नागरिक जनो मे ऐसा क्षोभ हो गया, जिसमे माया द्वारा दिखलाये गये स्वर्ग-प्रदेश के गमन-आदि का लोभ था । तब समीपवर्ती नरक आवास वाले सगर राजा ने और उस नरक के विलास के योग्य स्थितिबध करने वाले विश्वभूति ने कालासुर के उपदेश से बहुत से प्राणियो का घात करके भक्षण किया, जिससे उन दोनो के चित्त महाभयानक पाप का सचय करने वाले हुए फिर कालासुर ने उन दोनो को पूर्वजन्म सबधी सुलसा राजकुमारी के अपहरण का दोष

---

* 'ओषध्य पक्षिणस्तथा । प्राप्नुवन्त्युत्सृती पुन ॥४०॥'—मनुस्मृति अ० ५ ।

१ मनुस्मृति १२, ११० । २ स्वाहासहित । ३-५ श्रुतिजीविना ब्राह्मणाना, शस्त्रजीविना क्षत्रियाणा या ईतय कालासुरेण मायया कृता ता पवत कालासुरमायया स्फेटयति । * कृषि । ६ हिंस्यमानान् । ७, मायया । ८ प्रभावना कुर्वन्ति । ९ समीपनरकावास । १० कालासुरोपदेशात् । ११ प्राणिन । १२ खादित्वा । १३ सुलसापहारदोषौ । १४ अग्नि ।

विहितविचित्रवधरहसौ[1] विचित्राया[2] धरित्र्या [3]द्राघीयो दु खदवथुमन्थर[4] तलमगाताम्[5]। पर्वतोऽ[6]प्यग्नायी-पतिविजये [7]जठरधनजये च [8]हव्य[9]कव्यकर्मभि समाचरितसमस्तसत्त्वसहार कालासुरतिरोधान[10]विधुरविधि-सारस्तद्विरहानङ्कशो[11]कशोचिषकेशकृश्यच्छरीर[12] कालेन [13]जीनजीवितप्रचार [14]सप्तमरसावसर समपादि[15]। भवति चात्र श्लोक —

मृषोद्यादीन[16]वोद्योगात्पर्वतेन सम वसु । जगाम जगतीमूल ज्वलदातङ्कपावकम् ॥ १३५ ॥

इत्युपासकाध्ययने असत्यफलसूचनो नाम त्रिशत्तम कल्प ।

[17]वधूवित्तस्त्रियौ हित्वा[18] सर्वत्रान्यत्र तज्जने[19] । माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म* गृहाश्रमे ॥ १३६ ॥

[20]धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मर[21] । यज्जात्यैव[22] [23]पराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत् ॥ १३७ ॥

स्मरण कराकर यज्ञ के बहाने से उन दोनो को यज्ञ की अग्नि मे होम दिया, जिससे वे विचित्रवध-लक्षणवाले हुए। इसके उपरान्त वे दोनो बालुकाप्रभा नामकी तीसरी नरक-भूमि के विस्तृत तल मे चले गये, जो कि दु ख-दायक परिताप से मन्दगमन वाला था।

पर्वत ने भी अग्नि को तिरस्कार करने वाली अपनी जठराग्नि मे देवताओ और पितरो की तृप्ति के बहाने से समस्त प्राणियो का सहार कर डाला। कालासुर के तिरोधान हो जाने से उसकी यज्ञ विधि असमर्थ (फीकी) हो गई। उसका शरीर कालासुर के वियोग-दु ख रूपी शोकाग्नि से कृश हो गया। आयु के अन्त मे उसका जीवन-प्रचार क्षीण हुआ और मरकर सप्तम नरक-भूमि मे गया।

इस विषय मे एक श्लोक है, उसका भाव यह है—

झूँठ बोलने के दोष मे प्रवृत्ति करने के कारण पर्वत के साथ वसु भी सप्तम नरक मे गया, जहाँपर सतापरूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है॥ १३५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे असत्य का कटुक फल सूचित करनेवाला तीसवॉ कल्प समाप्त हुआ।

अब ब्रह्मचर्याणुव्रत का निरूपण करते है—

अपनी विवाहिता स्त्री और रखैली स्त्री के सिवाय दूसरी समस्त स्त्रीजनो मे अपनी माता, बहिन व पुत्री की बुद्धि रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत है॥ १३६॥ धर्म-भूमि आर्यखण्ड मे मनुष्य स्वभाव से ही अल्पकामी होता है, अत उसे अपनी जाति की विवाहिता स्त्री से ही सभोग करना चाहिए और दूसरी कुजातियो की तथा

---

१ तत्वौ वधलक्षणपदार्थौ। २ वालुकाप्रभाया। ३ दीर्घतर। ४ परितापेन मन्दगमनसहित। ५ गतौ। ६ अग्नितिरस्कारके। ७ निजोदराग्नौ। ८ देवदेय। ९ पितृदेय। १० असमर्थ। ११ शोकाग्नि। १२ तनूप्रभवत। १३ जीर्ण अथवा क्षीण। १४ सप्तमभूमि। १५ सजात। १६ 'आदीनव दोष' टि० च०, यश० प०, 'आस्रवदोष' टि० घ०। १७. परिणीता अवधृता च। १८ मुक्त्वा। १९ स्त्रीजने।

* 'न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्ति स्वदारसन्तोषनामाऽपि' ॥५९॥— रत्नकरण्ड श्रा०। 'उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनाया सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्।'—सर्वार्थसिद्धि ७, २०। २० आर्यखण्डे। २१ अल्पकन्दर्प तस्य वेगा दश, तथाहि—

चिन्तादिदृक्षानिश्वासज्वरतापारुचिरपि। मूर्च्छोन्मत्तत्वसदिग्धप्राणमृत्यून् भजेद्विट ॥ १ ॥

२२ स्वजात्या परिणीतया सह सभोग कार्य अथवा सन्तोष कार्य। २३ परा चासौ अजातिश्च पराजाति परकीय-जातिस्त्री, बन्धुस्त्रीलिङ्गिनीस्त्री त्यजेत् यस्मात्।

रक्ष्यमाणे हि बृहन्ति यत्राहिंसादयो गुणा । उदाहरन्ति तद्ब्रह्म[1] ब्रह्मविद्याविशारदा ॥ १३८ ॥
मदनोद्दीपनैर्वृत्तै[2]र्मदनोद्दीपनै रसै । मदनोद्दीपनै शास्त्रैर्मदमात्मनि नाचरेत् ॥ १३९ ॥
[3]हव्यैरिव हुतप्रीति [4]पाथोभिरिव[5] नीरधि । तोषमेति पुमानेष न भोगैर्भवसम्भवै ॥ १४० ॥
*वि[6]षवद्विषया पुसामापाते[7] [8]मधुरागमा । अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रह ॥ १४१ ॥
बहिस्तास्ता क्रिया कुर्वन्नर सकल्पजन्मवान् । [9]भावाप्तावेव निर्वाति [10]क्लेशस्तत्राधिक परम् ॥१४२॥
[11]निकाम [12]कामकामात्मा [13]तृतीया प्रकृतिर्भवेत् । अनन्तवीर्यपर्यायस्तस्यानारतसेवने ॥१४३॥
सर्वा क्रियानुलोमा [14]स्यात्फलाय[15] हितकामिनाम्[16] । [17]अपरत्रार्थकामाभ्या [18]यत्तौ [19]न स्ता तदर्थिषु[20] ॥१४४॥

बन्धुजनो की स्त्रियो से एव तपस्विनी स्त्रियो से सबध नही करना चाहिए ॥ १३७ ॥ निस्सन्देह जिसकी रक्षा की जाने पर अहिसा-आदि गुण वृद्धिगत होते है उसे अध्यात्म-विद्या मे प्रवीण आचार्य ब्रह्म कहते है ॥ १३८ ॥ अत काम की वृद्धि करनेवाले सरागी कार्यो से और कामोद्दीपन करनेवाले रसो के सेवन से एव काम वर्धक शास्त्रो (कामसूत्र-आदि ग्रन्थो) के श्रवण-पठन से अपनी आत्मा मे काम का मद नही लाना चाहिए ॥ १३९ ॥ जैसे देवताओ के लिए समर्पण करने योग्य द्रव्यो (घृत-आदि हवन सामग्री) से अग्नि सन्तुष्ट नही होती एव जैसे प्रचुरजल से समुद्र तृप्त नही होता वैसे ही यह मानव भी सासारिक भोगो से कभी तृप्त नही होता ॥१४०॥ स्त्री-आदि पचेन्द्रियो के विषय वैसे आरम्भ (तत्काल) मे पुरुषो को मधुर (प्रिय) मालूम पडते ह और अन्त मे विपत्ति (दु ख) रूप फल देनेवाले होते है जैसे वत्सनाग विप आस्वादन-काल मे मधुर (स्वादिष्ट—मीठा) होता है और अन्त मे विपत्ति (मरण) रूप कुफल देनेवाला होता है, इसलिए सज्जनो का विषयो मे आग्रह कैसे हो सकता है ? ॥ १४१ ॥ अनेक प्रकार की वाह्य क्रियाओ को करता हुआ कामी पुरुष रति-रस की प्राप्ति मे ही सुखी होता है, परन्तु उसमे उसे केवल क्लेश ही अधिक मिलता है और सुख तो बहुत थोडा नाम मात्र होता है ॥ १४२ ॥ जो मानव विशेष रूप से काम सेवन की इच्छा के स्वभाव वाला है वह निरन्तर काम का सेवन करने से असमय मे नपुसक हो जाता है, इसके विपरीत ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वह अनन्न वीर्य के धारण करने के अवसर वाला होता है ।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्य श्री ने नीतिवाक्यामृत के व्यसन-समुद्देश मे लिखा है कि 'स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्य तृतीया प्रकृति· ॥ १ ॥ सौम्यधातुक्षयेण सर्ववातुक्षय ॥ २ ॥ अर्थात्—अपनी स्त्री को अधिक मात्रा मे सेवन करनेवाला मानव अधिक वीर्य धातु के क्षय हो जाने से असमय मे वृद्ध या नपुसक हो जाता है ॥ १ ॥ क्योकि स्त्री सेवन से पुरुष को शुक्र (वीर्य) धातु क्षय होती है, इससे शरीर मे वर्तमान बाकी की समस्त छह धातुएँ (रस, रुधिर, मास, मेद व अस्थि-आदि) नष्ट हो जाती है । निष्कर्ष यह है कि नैतिक पुरुष को वीर्य रक्षार्थ ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए अथवा अपनी स्त्री को अधिक मात्रा मे सेवन का त्याग करना चाहिए ॥ १४३ ॥

---

१ 'अहिसादयो धर्मा यस्मिन् परिपात्यमाने बृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म ।' —सर्वार्थसिद्धि ७-१६ । २ सरागानुष्ठानै । ३ देवदेयद्रव्यै । ४ अग्निन तोषमेति । ५ जलै । * किंपाकफलसम्भोगसन्निभ तद्धि मैथुनम् । आपातमात्ररम्य स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥ १० ॥ —ज्ञानार्णव पृ० १३४ । ६ वत्सनागोऽपि आस्वादने सति मृष्ट (स्वादिष्ट) स्यात् । ७ आरम्भे । ८ स्वादु प्रियौ तु मधुरौ । ९-१० रतिरसप्राप्तावेव सुखी भवति किंतु तत्र सुख स्तोकम् । ११ अतीव । १२ कामवाञ्छास्वभाव । १३ नपुसक । १४ हिता । १५ हिताय । १६ हिताभिलाषिणा । १७ परन्तु अर्थकामलक्षणा क्रिया फलाय न स्यादित्यथ । १८ यस्मात् कारणात् । १९-२० तावर्थकामौ न स्ता न भवेता, केषु तदर्थिषु अथकामवाञ्छकेषु, कोऽर्थस्तेपु तृप्तिनभवतीति भावार्थ ।

[1]क्षयामयसम काम सर्वदोषोदयद्युति । [2]उत्सूत्रे तत्र मर्त्यानां कुत श्रेय समागम ॥१४५॥
[3]देहद्रविणसस्कारसमुपार्जनवृत्तय । जितकामे वृथा सर्वास्तत्काम [4]सर्वदोषभाक् ॥१४६॥
स्वाध्यायध्यानधर्माद्या क्रियास्तावन्नरे कुत । [5]इन्धे चित्तेन्धने यावदेष कामाशुशुक्षणि[6] ॥१४७॥
[7]ऐदपर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत् । देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यान[8]विहानये ॥१४८॥
[9]परस्त्रीसगमानङ्गक्रीडान्योपयमक्रिया[10] । [11]तीव्रता रतिकैतव्ये[12] हन्युरेतानि तद्व्रतम्[13]★ ॥१४९॥
मद्य द्यूतमुपद्रव्य[14] तौर्यत्रिकमलक्रिया । मदो विटा वृथाटचेति[15] दशधानङ्गजो गण ★ ॥१५०॥
हिंसन साहस[16] द्रोह [17]पौरोभाग्यार्थदूषणे[18] ।
ईर्षावा[19]ग्दण्डपारु[20]ष्ये कोपज[21] स्याद्गणोऽष्टधा ॥१५१॥

सुखाभिलाषी मानवो की सुख-प्राप्ति के लिए की जाने वाली समस्त अनुलोम (हित) क्रियाएँ फलदायक होती है, किन्तु अर्थ व काम को छोडकर। अर्थात्—धन व काम की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्तव्य फलप्रद नही होते। क्योकि धन चाहने वालो को धन प्राप्त नही होता और काम चाहनेवालो को काम-सुख प्राप्त नही होता। अभिप्राय यह है कि धन चाहने वालो को प्रचुर धन मिल जाने पर भी तृप्ति नही होती और कामियो को काम-सुख प्राप्त हो जाने पर भी तृप्ति नही होती ॥ १४४ ॥

काम, क्षयरोग-सरीखा है। यह वैसा समस्त दोषो (पापो) का जनक है जैसे क्षयरोग समस्त दोषो (वात, पित्त व कफ की विकृतियो) का जनक होता है, इसलिए उसकी अधिकता मे प्रवृत्त हुए मानवो के लिए कल्याण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥१४५॥ काम पर विजयश्री प्राप्त करनेवाले जितेन्द्रिय मानव के, शरीर का सस्कार करना और धन कमाना-आदि सभी व्यापार व्यर्थ है, क्योकि काम ही समस्त दोषो का जनक है ॥ १४६ ॥ जब तक कामी पुरुष के चित्त रूपी ईंधन मे यह कामरूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है तब तक उसमे स्वाध्याय, धर्मध्यान व धर्माचरण-आदि क्रियाएँ किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? ॥ १४७ ॥ अत काम (रतिविलास) की अधिकता छोडकर शारीरिक सन्ताप की शान्ति के लिए व आर्तध्यान को नष्ट करने के लिए आहार को तरह भोगो का सेवन करना चाहिए ॥ १४८ ॥ व्यभिचारिणी स्त्री के यहाँ आना जाना, काम-सेवन

---

१ क्षयरोग। २ आधिक्ये। ३ देहस्य सस्कारवृत्ति द्रविणस्योपार्जनवृत्ति। ४ कन्दर्पो दोषवान्। ५ ज्वलति। ६ कामाग्नि। ७ आधिक्य। ८ आर्तध्यान। ९ इत्वरिका। १० परविवाहकरण। ११ विपुलतृषा। १२ विटत्व। १३ ब्रह्मचर्यं।

★ 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा ॥२८॥ —मोक्षशास्त्र अ० ७। 'अन्य-विवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषा । इत्वरिकागमन चास्मरस्य पञ्च व्यतीचारा ॥६०॥ —रत्नकरण्डश्रा०। १४. यन्त्रलिङ्गलेपादिप्रयोग। १५ एवमेव विहरण। ★ 'मृगयाऽक्षो दिवास्वप्न परिवाद स्त्रियो मद । तौर्यत्रिक वृथाटचा च कामजो दशको गण ॥ ४७ ॥'—मनुस्मृति अ० ७। १६ परपरिग्रहाभिगम कन्यादूषण वा साहसम्। १७ 'पौरे भाग्यार्थदूषणे' इति ख०। तत्र टिप्पणी—'नगरसबधिनी द्वे, परनिन्दा भाग्यदूषण।' पञ्जिकाकारस्तु पौरोभाग्य-मसूयकत्वमित्याह। टि० ग, टि० च इत्यत्रापि असूयकत्वमित्युल्लेख।

१८ अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थदूषणम्। १९ जातिवयोवृत्तविद्यादोषाणामनुचित वचो वाक्पारुष्यम्।

२० वध परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपारुष्यम्।

हमारे द्वारा अनूदित 'नीतिवाक्यामृत' व्यसनसमुद्देश पृ० २४३-२४४ से सकलित—सम्पादक।

२१ 'पैशुन्य साहस द्रोह ईर्ष्यासूयाऽर्थदूषणम्।

वाग्दण्डज च पारुष्य क्रोधजोऽपि गणोऽष्टक ॥ ४८ ॥—मनुस्मृति अ० ७।

ऐश्वर्यौदार्यशौण्डी[1]र्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यता । लभेताद्भुतसचाराश्चतुर्थव्रतपूतधी ॥१५२॥
अनङ्गानलसलीढे परस्त्रीरतिचेतसि । सद्यस्का विपदो ह्यत्र परत्र च दुरास्पदा ॥१५३॥

श्रूयतामत्राब्रह्मफलस्योपाख्यानम्—काशिदेशेषु सुरसुन्दरीसपत्नपौराङ्गनाजन[2]विनोदारविन्दसरस्या **वाराणस्या** सपादितसमस्तारातिसतानप्रकर्षकर्षणो **दुर्मर्षणो** नाम नृपति । अस्यातिचिरप्ररूढप्रौढप्रणयसहकारमञ्जरी **सुमञ्जरी** नामाग्रमहादेवी । [3]पञ्चतन्त्रादिशास्त्रविस्तृतवचन **उग्रसेनो** नाम सचिव । पतिहितैकमनोमुद्रा **सुभद्रा** नामास्य पत्नी । दुर्विलासरसरङ्ग **कडारपिङ्गो** नामानयो सूनु । अनवद्यविद्योपदेशप्रकाशिताशेषशिष्य **पुष्यो** नाम पुरोहित । सौरूप्यातिशयापहसितपद्मा[4] **पद्मा** नामास्य धर्मपत्नी । समस्ताभिजात[5]जनवाह्यव्यवहारानुराग स

के अङ्गो से भिन्न अङ्गो मे कामक्रीडा करना, दूसरो का विवाह करना, काम-भोग की तीव्र लालसा रखना और विटत्व ये कार्य ब्रह्मचर्यव्रत के घातक है। अर्थात्—ब्रह्मचर्याणुव्रत के उक्त पाँच अतिचार है॥ १४९ ॥

मद्य-पान, जुआ खेलना, उपद्रव्य (टि० के अभिप्राय से मास-भक्षण व मधु-सेवन और पञ्जिकाकार के अभिप्राय से जननेन्द्रिय पर लेप-आदि का प्रयोग), गीत-सुनने मे आसक्ति, नृत्य देखने मे आसक्ति, वाजो के सुनने मे आसक्ति, भडकीली वेष-भूषा, मद, विटत्व (लुच्चापन) एव व्यर्थ भ्रमण ये दश काम के गण (अनुचर) है॥ १५० ॥ दूसरो की हिंसा करना, साहस (परस्त्री-सेवन व कन्याओ को दूषित करना), मित्रादि के साथ द्रोह करना, पौरोभाग्य (दूसरो की चुगली करना), अर्थ-दूषण (आमदनी से अधिक धन खर्च करना और अपात्रो के लिए धन देना), ईर्षा, वाक् पारुष्य (कठोर वचन बोलना, अर्थात्—कुलीन को नीच कुल का कहना, वयोवृद्ध को वालक, सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख कहना और निर्दोषी को सदोषी कहना-आदि कठोर वचन) और दण्डपारुष्य (अन्याय से किसी का वध करना, जेल खाने की सजा देना और उसका समस्त धन अपहरण कर लेना या उसकी जीविका नष्ट करना) ये आठ क्रोध के अनुचर है॥१५१॥ ब्रह्मचर्य से पवित्र बुद्धिवाला मानव आश्चर्य-जनक वैभव, उदारता, दानवीरता व विशेष पराक्रम, धीरता, मनोज्ञता, विशिष्ट शक्ति और आश्चर्यजनक सचार (आकाश मे गमन करना-आदि) इन प्रशस्त गुणो को प्राप्त करता है॥ १५२ ॥ जो मानव कामरूपी अग्नि से सस्पृष्ट है और जिसका चित्त परस्त्री के साथ रतिविलास करने मे सलग्न है, उसे इस लोक मे तत्काल विपत्तियाँ (लिङ्ग-च्छेद-आदि) उठानी पडती है और परलोक मे भी नरक-आदि दुष्ट स्थान वाली भयानक विपत्तियाँ भोगनी पडती है॥ १५३ ॥

अब दुराचार के कटु फल की समर्थक कथा सुनिए—

१६ दुराचारी कडारपिङ्ग की कथा

काशी देश की वाराणसी नगरी मे, जो कि देव-सुन्दरियो से स्पर्धा करने वाली नागरिक कामिनीजनो की क्रीडा रूपी कमलो के लिए सरसी (तडाग) है, समस्त शत्रु-समूह की उन्नति को क्षीण करने वाला दुर्मर्षण नामका राजा था। इसको चिरकाल से उत्पन्न हुए गाढ प्रेम रूपी आम्रवृक्ष की मञ्जरी-जैसी सुमञ्जरी नामकी पट्टरानी थी और *दर्शनशास्त्र व व्याकरण-आदि शास्त्रो के अध्ययन से विस्तृत वचन वाला उग्रसेन नामका मन्त्री था। उसकी पति के कल्याण मे अनोखे मनो व्यापार वाली सुभद्रा नामकी प्रिया थी। इनके निन्द्य काम क्रीडारूपी रस के अभिनय करने के लिए रङ्गमञ्च-सरीखा कडारपिङ्ग नामका पुत्र था। उक्त

---

१ त्यागविक्रमाभ्या शौण्डीर । २ विनोद एव कमल । ३ तर्कव्याकरणादि । ४ तिरस्कृतलक्ष्मी ।
५ अभिजातस्तु कुलजे बुधे सुकुमारे न्याय्ये च । *.

कडारपिङ्ग स्वापतेयतारुण्यमदमन्दमान[1]बलाच्चापलाद्दुरालापनभण्डेन षिङ्गषडेन[2] सह नतभ्रूविभ्रमाभ्यर्थ्यमानभुजङ्गातिथिषु[3] पुरवीथिषु सचरमाण[4]स्तामेकदा प्रासादतलोपसदामरा[5]लपक्ष्मेक्षणाक्षिप्तपद्मा[6] पद्मामवलोक्य

[7]एषेन्द्रियद्रुमसमुल्लसनाम्बुवृष्टिरेषा मनोमृगविनोदविहारभूमि ।
एषा स्मरद्विरदबन्धनवारिवृत्ति कि खेचरी किममरी किमिय रतिर्वा ॥१५४॥'

इति च विचिन्त्य मकरकेतुवशव्यापारनिधि प्रवृत्तदुरभिसधि [8]पुरुषप्रयोगेणाभिमतकार्यघटनासिद्धिमनवबुध्यमान पराशय*शैलविदारणतडिल्लतामिव[9] **तडिल्लता** नाम धात्री अषडक्षीणे[10] शरणे[11] सुनयायतनपतनादिभि[12] पादपतनादिभि प्रश्रयै[13]रसदाशयाश्रयैरव[14]न्ध्यसाध्यमुपरुध्य स्वकीया[15]कूतकान्तारप्रवर्धनधरित्रीमकरोत् ।

[16]तदुपरोधात्तथाविधविधिविधात्री[17] धात्री—(स्वगतम् ।) 'परपरिग्रहो[18]ऽन्यतरानुरागग्रहश्चेति दुर्घटप्रतिभास[19] खलु कार्योपन्यास[20] । अथवा सुघट एवाय कार्यघट*। यतस्तप्तातप्तवयसोरयसोरिव चेतसो सागत्याय खलु

राजा का निर्दोष विद्याओ के उपदेश से समस्त शिष्यो को प्रकाशित करने वाला पुष्य नामका पुरोहित था। इसकी अपने रूप लावण्य की विशेषता से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली पद्मा नाम की प्रिया थी।

एक समय समस्त कुलीन जनो से विपरीत आचार मे अनुरक्त हुआ कडारपिङ्ग धन व जवानी के मद से प्रचुर शक्तिशाली चपलता के कारण अश्लील वचन बोलने वाले विट्-समूह के साथ ऐसी नगर की गलियो मे घूम रहा था, जहाँपर कमनीय कामिनीजनो के विलास से आमन्त्रित होकर कामीजन आतिथ्य ग्रहण करते थे, एक समय वह महल के तल पर बैठी हुई एव अपने सुन्दर पलको वाले नेत्रो से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली पद्मा को देखकर सोचने लगा—

इन्द्रियरूपी वृक्ष को विकसित करने के लिए जलवृष्टि-सरीखी, मनरूपी मृग की क्रीडा के लिए विहार-भूमि-सी एव कामरूपी हाथी को बाँधने के लिए बधनरज्जु-सी यह कौन है ? क्या विद्याधरी है ? क्या देवी है ? अथवा क्या रति है ? ॥ १५४ ॥*

इसके पश्चात् काम के अधीन कर्तव्य-निधिवाले उसने दुष्ट अभिप्राय उत्पन्न किया। बलात्कार से अपनी मनोरथ-सिद्धि न जानकर उसने दूसरो के अभिप्रायरूपी पर्वत के विदारण के लिए बिजली-सरीखी तडिल्लता नाम की धाय को उसके पास भेजने का विचार किया। उसने उस धाय को तीसरे मनुष्य-आदि के लिये अगोचर (एकान्त) गृह मे ऐसे विनयो द्वारा सफलता पूर्वक रोककर, जो कि नैतिक स्थान की प्राप्ति को नष्ट करनेवाले थे, और जिनमे पैरो पर गिरना-आदि वर्तमान थे एव जो दुर्जनो द्वारा आश्रय किए जानेवाले थे, उसे अपने अभिप्राय की वृद्धिगत वन-भूमिप्राय कर दी।

उसके आग्रह से उसी प्रकार के कर्तव्य को करनेवाली धाय ने अपने मन मे विचार किया—निस्सन्देह परस्त्री व उसके प्रति प्रेमी का प्रेम-कथन इस कार्य की वार्ता का प्रारम्भ दु ख से भी करने के लिए

---

१ प्रचुरीभवत् । २ विटसमूहेन ।।३ कामिजन । ४ उद सकर्मकश्चर इत्यधिकारे 'समस्तृतीयायुक्ते' इत्यात्मने पद । ५ 'वक्र अराल कुटिल जिह्म' इति टि० ख० । पञ्जिकाकारस्तु 'अराल चारु' इत्यचीकथत् । ६ श्रिय । ७ पद्मा । * रूपकपरिपुष्ट सन्देहालकार । ८ बलात्कारेण । * चित्त । ९ विद्युत । १० 'अषडक्षीणो यस्तृतीयाद्यगोचर' टि० ख०, 'चतुर्लोचने' टि० घ० च० तथा यश० प० । ११ गृहे । १२ सुनयायतनस्य पतन गमन अदन्ति विनाशयन्ति इत्येव शीलानि तै । १३ विनयै । १४ 'सफल' टि० ख०, प० तु क्रियाविशेषणमिद । १५ अभिप्रायवनभूमिप्राया । १६ तस्याग्रहात् । १७ कर्त्री । १८, कलत्र । १९ प्रत्यय विश्वास । २० उपन्यासस्तु वाङ् मुख ।

पण्डितैर्दौत्य[1] [2]दौत्यमन्यथा सरसतरसो[3]रम्भसोरिव[4] द्वयोरपि द्रवस्वभावयोरेकीकरणे कि नु नाम [5]प्रतिभा-विजृम्भितम् । कि च ।

सा दूतिकाभिमतकार्यविधौ बुधाना चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्ति ।
या चुम्बकोपलकलेव★ हि शल्यमन्त★श्चेतोनिरूढमपरस्य बहिष्करोति ।।१५५।।

तदल विलम्बेन । परिपक्वफलमिव न खलु व्यतिक्रान्तकालमद[6] [7]सरसताधिष्ठानमनुष्ठानम् । कित्वस्य साहसावलम्बनधर्मण कर्मण सिद्धावसिद्धौ वा दैवात्परेङ्गिताकारसर्वज्ञे प्राज्ञै कथमपि बहुजनावकाशे प्रकाशे कृते[8] सति [9]पुरश्चारी हि शरीरी भवति दुरपवादपरागावसरो व्यसनगोचरश्च[10] । तद्ब्रूत[11] [11]धेयमिदमवसेयम[12] [12]द्वितीया पत्यप्रसवाय सचिवाय, [13]तदुदाहरन्ति न चानिवेद्य भर्तु किंचिदारम्भ कुर्यादन्यत्रा[14]पत्प्रतीकारेभ्य ।' इति । (प्रकाशम् ।)

'प्राणप्रियैकापत्य अमात्य[15], [16]ईदृश इव ननु भवादृशोऽपि जनो [17]जातजीवितामृतनिषेकाय [18]अचिरत्न यत्न कर्तुमर्हति ।'

अशक्य विश्वास वाला है । अर्थात्—बडा कठिन है । अथवा यह कार्य-रचना सुलभता-पूर्वक प्रयत्न करने के लिए शक्य है । अर्थात्—सरल है, क्योकि तपे हुए और विना तपे हुए लोहो के समान परस्पर विरुद्ध दो चित्तो के अनुकूलीकरण के लिए निस्सन्देह विद्वानो के द्वारा जो प्रकाश के योग्य प्रयत्न किया जाता है वही तो वास्तव मे दूतत्व है । अन्यथा द्रवीभूत वेगवाले दो जलो की तरह दो तरल हृदयो को मिलाने मे दूती का बुद्धि-विस्तार क्या कहा जायगा ?

विद्वानो ने ऐसी दूती इष्ट कार्य करने मे समर्थ मानी है, जिसकी मनोवृत्ति बुद्धि की चतुराई से श्रेष्ठ वचनो के योग्य है । जो चुम्बक पत्थर की तरह दूसरे के मन के भीतर की शल्य को (पक्षान्तर मे लोहादि को) खीचकर बाहर फैंक देती है ।। १५५ ।।

अतः इस कार्य मे विलम्ब करने से कोई लाभ नही । जैसे समय के बीत जाने पर पका फल भी सरस नही रहता वैसे ही समय बीत जाने पर कार्य भी सरस (सिद्ध) नही होता, किन्तु यह कार्य साहस के आश्रय से साध्य है । यदि भाग्योदय से सिद्ध हो गया तो दूसरो का मानसिक अभिप्राय और शारीरिक आकृति के जानने मे सर्वज्ञ विद्वान् लोग बडे कष्ट से बहुत लोगो के मन मे प्रत्यक्ष रूप से स्थान (सन्मान) प्राप्त कर लेते है, जिससे साहस कर्म करने वाला मनुष्य अग्रेसर (श्रेष्ठ) हो जाता है । परन्तु भाग्य-चक्र के पलट जाने से जब कार्य सिद्ध नही होता तो दूत ही अपकीर्ति रूपी धूलि पडने का अवसर प्राप्त करता है और विपत्ति मे फँस जाता है । अतः मै यह कार्य, इकलौते पुत्र को उत्पन्न करने वाले मन्त्री से कहती हूँ । क्योकि नीतिकार आचार्यों ने कहा है कि 'असह्य सकट दूर करने के सिवा दूसरा कोई भी कार्य सेवक को स्वामी से निवेदन किये विना नही करना चाहिए । अर्थात्—केवल आपत्ति का प्रतीकार स्वामी को विना निवेदन किये भी करना चाहिए ।

ऐसा मन मे सोचकर धाय मन्त्री से स्पष्ट बोली—'प्राणो से प्यारे इकलौते पुत्र वाले हे मन्त्री ! निश्चय

१-२ प्रकाश्य यत्क्रियते तदेव दूतत्वम् । ३ द्रवीभूतवेगयो । ४ जलयोरिव । ५ मति । ★ पक्षे लोहादिक । ★ चित्तमध्ये । ६ काय । ७ यथा पक्व फल अतीतकाल सरस न भवति । ८ कार्ये । ९ दूत । १० दूतो भवति । ११ कथयामि । १२. कार्य । १३ आचार्या कथयन्ति । १४ किन्तु आपत्प्रतीकार स्वामिन अनिवेद्यापि करणीय , अन्यत्कार्य कथनीयमित्यर्थ । १५ हे मन्त्रिन् ! । १६ पूर्व त्वमपि ईदृशो बभूवेति भाव । १७ पुत्रजीवितमेवामृत तत्सेचनाय । १८. शीघ्र ।

अमात्य—'समस्तमनोरथसमर्थनकथास्मार्ये आर्ये, तज्जीवितामृतनिषेकाय मज्जीवितोचितविवेकाय च तत्रभवत्येव[1] प्रभवति[2] ।'

धात्री—'[3]अथ किम् । तथाप्यबलाजनमनोतिरिक्तप्रतिभावता[4] तत्रभवतापि प्रतियतितव्यम ।' इत्यभिधाय धृतकात्यायिनीप्रतिकर्मा करतलामलकमिवाकलितसकलस्त्रैणधर्मा तैस्तै परचित्ताकर्षणमन्त्रैर्वचत्रै[5]श्चक्षुश्चेतोह्लाद-वास्तुभि[7]र्वस्तुभिश्च अतिचिरायाचरितोपचारा परिप्राप्तप्रणयप्रसरावतारा च एकदा मुदा रहसीम प्रस्तुतकार्यघटना-समसीम ता पुष्यकान्तामुद्दिश्य श्लोकमुदाहार्षीत् ।

स्त्रीषु धन्यात्र गङ्गैव परभोगोपगापि या । मणिमालेव सोल्लास ध्रियते मूर्ध्नि शभुना ॥१५६॥'

भट्टिनी—(स्वगतम् ।) [8]इत्वरीजनाचरणहर्म्यनिर्माणाय प्रथमसूत्रपात इवाय वाक्योपोद्घात[9] । तथा चाह ज्ञेय तावदेतदाकूतपरिपाकम्[10] । (प्रकाशम् ।) आर्ये, किमस्य सुभाषितस्य [11]ऐदपर्यम् ।

धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, जानासि एवास्य सुभाषितस्य कैपर्यम्[12], यदि न वज्रघटितहृदयासि ।

से आप भी पहिले ऐसे ही थे, इसलिए आपको पुत्र के जीवनरूपी अमृत के सिञ्चन के लिए शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए ।'

मन्त्री—'देवी ! आप समस्त मनोरथो को सफल करने की कथा मे स्मरण के योग्य हे, अत उसके जीवनरूपी अमृत के सिचन के लिए और मेरी जीवन-रक्षा के योग्य ज्ञान के लिए आप ही समर्थ है ।'

धाय—'यह तो ठीक है, परन्तु आप स्त्रीजनो के मानसिक ज्ञान की अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली है अत आपको भी प्रस्तुत कार्य मे प्रयत्न करना चाहिए ।'

इतना कहकर धाय ने अर्ध वृद्धा स्त्री का वेष धारण किया और उसने समस्त स्त्रीजनो के उचित कर्तव्य हस्त पर रक्खे हुए आवले को तरह स्पष्ट निश्चय किए । उसने दूसरो के चित्त को आकर्षण करने के लिए मन्त्र-सरीखे वचनो द्वारा और नेत्र सुख व मानसिक सुख को स्थानीभूत वस्तुओ की भेटो द्वारा पद्मा की चिरकाल तक सेवा की । जिससे उसने अपने ऊपर पद्मा की विस्तृत प्रेम की उत्पत्ति प्राप्त की ।

एक समय उसने एकान्त मे पद्मा को लक्ष्य करके हषपूर्वक ऐसा श्लोक पढा, जो कि प्रसङ्ग मे प्राप्त हुई कार्य-रचना की अनुकूल मर्यादा से युक्त था ।

इस लोक की स्त्रियो मे गङ्गा ही धन्य है, जो दूसरो के समीप भोग-दान के लिए जाती है, फिर भी वह शङ्करजी द्वारा मणियो की माला की तरह उल्लास-सहित मस्तक पर धारण की जाती है ॥ १५६ ॥

इसे सुनकर पद्मा ने अपने मन मे विचार किया—'यह वाक्य के अवतारणो का क्रम कुलटा स्त्रीजन-के आचरणरूपी महल के निर्माण करने के लिए प्रथम सूत्रपात-सरीखा है । फिर भी इसने जो कुछ कहा है, उसके अभिप्राय का सार जान लेना चाहिए ।'

पश्चात् पद्मा ने स्पष्ट कहा—'माता ! आपके इस सुभाषित का क्या रहस्य है ?'

---

१ त्वमेव । २ समर्था । ३ एवमेतत् । ४ अधिकवुद्ध्या । ५ अधजरती । ६ वचनै । ७ वास्तु गृहम् । ८ कुलटा । ९ 'सग्रहवाक्य अवतारणक्रम, उपन्यासस्तु वाड्मुख, उपोद्घात उदाहार' टि० ख०, 'अवतारणक्रम' इति टि० च० तथा यश० प० अपि । १० अभिप्रायोदय सूत्रपातसदृशम् । ११ रहस्य । १२ रहस्य ।

भट्टिनी—(स्वगतम् ।) सत्य वज्रघटितहृदयाहम्, यदि भवत्प्रयुक्तोपघातघणजर्जरितकाया न भविष्यामि । (प्रकाशम् ।) आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टमर्थं श्रोतुमिच्छामि ।

धात्री—वत्से, कथयामि । किं तु ।

चित्त द्वयो पुरत एव निवेदनीय, ज्ञानाभिमानधनधन्यधिया नरेण ।
य प्रार्थित न[1] रहयत्यभियुज्यमानो[2], यो वा भवेन्ननु जनो मनसोऽनुकूल[3] ॥१५७॥'

भट्टिनी—(स्वगतम् ।) अहो [4]नभ प्रकृतिमपीय पङ्कैरुपलेप्तुमिच्छति । (प्रकाशम् ।) आर्ये, [5]उभयत्रापि समर्थाहं न चैतन्मदुपज्ञ[6] भवदुपक्रम वा[7] ।

धात्री—(स्वगतम् ।) [8]अनुगुणेयं खलु कार्यपरिणति, यदि निकटतटतन्त्रस्य [9]वहित्रपात्रस्येव दुर्वाताली[10] सनिपातो न भवेत् । (प्रकाशम ।) अत एव भद्रे, वदन्ति पुराणविद —

'विधुर्गुरो कलत्रेण गोतमस्यामरेश्वर । [11]सतनोश्चापि [12]दुश्चर्मा समगस्त[13] पुरा किल ॥१५८॥'

धाय—'परम सौभाग्य शालिनी देवी ! यदि तुम्हारा हृदय वज्रघटित नही है तो इस सुभाषित का रहस्य (अभिप्राय) तुम जानती ही हो ।'

पद्मा—(मन मे) 'यदि आपके द्वारा फैके जाने वाले प्रहार रूपी घनो द्वारा जर्जरित शरीर वाली नही होऊँगी तो वास्तव मे मै वज्रघटित हृदय वाली हूँ ।' (प्रकाश मे) 'माता ! मै आपके मन मे स्थित हुआ अभिप्राय सुनने की इच्छा करती हूँ ।'

धाय—'पुत्री ! कहती हूँ, किन्तु

ज्ञान और स्वाभिमान रूपी धन से धन्य बुद्धिवाले मनुष्य को दो व्यक्तियो के सामने ही अपने मन की बात कहनी चाहिए । १ प्रार्थना किया हुआ जो व्यक्ति प्रार्थना की हुई वस्तु छुडाता नही है, अर्थात्—प्रार्थना की हुई वस्तु दे देता है । २ निस्सन्देह जो मानव प्रार्थना करने वाले के मन के अनुकूल है ॥ १५७ ॥

पद्मा—(मन मे) 'अहो ! आश्चर्य है, कि यह आकाश के स्वभाव-सरीखी निर्लिप्त वस्तु को भी कीचड से लीपने की इच्छा करती है । अर्थात्—आकाश-सी निर्मल प्रकृतिवाली पतिव्रता मुझको यह धाय कुलटा स्त्रीजनो के दोषरूपी कीचड से लीपना चाहती है ।' (प्रकाश मे) 'पूज्य देवी ! मै आपको दोनो बातो मे (प्रार्थना की हुई वस्तु के देने मे और आपके मन की अनुकूलता मे) समर्थ हूँ । यह मेरी उपाधि नही है और न इसमे आपका उद्यम ही है, क्योकि मेरी पहले से ही ऐसी प्रवृत्ति है ।'

धाय—(मन मे) यह कार्य का परिणमन मेरे अभिप्राय के अनुकूल है, परन्तु यदि तट के समीप प्राप्त हुई नौका के लिए प्रतिकूल चलनेवाली प्रचण्ड वायु के झकोरो का वेग से आगमन न हो । अर्थात्—मेरा कार्य इस समय सिद्ध प्राय है, यदि इसमे विघ्न न हो ।

(प्रकाश मे) 'पुत्री ! इसीलिए पुराणकारो ने कहा है कि—निस्सन्देह प्राचीनकाल मे चन्द्रमा ने वृहस्पति की पत्नी के साथ रति विलास किया व इन्द्र ने गौतम की प्रिया (अहिल्या) के साथ एव रुद्र (श्रीशिव) ने शान्तनु राजा की रानी के साथ रतिविलास किया ॥ १५८ ॥'

---

१ न त्याजयति । २ प्रार्थित, प्राथ्यमान । ३ हित । ४ आकाशस्वभाव । ५ प्रार्थितदाने मनोऽनुकूलतायाञ्च । ६-७ न हि मदीय उपाधिन च भवदीय उद्यम किन्तु पुरैव ईदृशी गतिरस्ति । ८ अनुकूला इय । ९ पोतस्य । १० वात्या । ११ शान्तनुराज्ञ । १२ हर । १३ एकत्र बभूव ।

भट्टिनी—'आर्ये, एवमेव। यत।

स्त्रीणा वपुर्बन्धुभिरग्निसाक्षिक परत्र विक्रीतमिद न मानसम।
स एव तस्याधिपतिर्मत कृती विस्रम्भगर्भा[1] ननु यत्र निर्वृति[2] ॥१५९॥

धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम्। त्व किलैकदा कस्यचि[3]त्कुसुमकिसारुनिर्विशेषवपुष पुराङ्गनाजनलोचनोत्पलोत्सवामृतरोचिष प्रासादपरि[4]सरविहारिणी वीक्षणपथानुसारिणी सती कौमुदीव हृदयचन्द्रकान्तानन्दस्यन्दसपादिनी अभू। तत्प्रभृति ननु तस्य मदनसुन्दरस्य यून [5]प्रत्यवसितवसन्तश्रीसमागमसमयस्य [6]पुष्पधयस्येव [7]रसालमञ्जर्यामिव भवत्या महान्ति खलु मन्दमक[8]रन्दास्वादने दोहदानि नितान्त चिन्ताचक्रपरिक्रान्त स्वान्तम्, प्रसभ गुणस्मरणपरिणामाधिकरणमन्त करणम्, अनवरत रामणीयकानुकीर्तनसकेत चेत, प्रविकसत्कुसुमविलासोचितसनिहितेऽप्यन्यस्मिँल्ल[9]ताकान्ताजने महानुद्वेग, पिशाचछलितस्येव वाऽस्थानानुबध[10] प्रलपितप्रवध, सजातोन्मादस्येव विचित्रोपलम्भक्रियाप्रारम्भ, [11]स्कन्दगदगृहीतस्येव प्रतिवासर कार्श्यावतार, स्मराराधनप्रणीतप्रणिधानस्येवेन्द्रियेषु [12]सन्नता जडता, प्राणेषु [13]चाद्यश्वीनपथा कथा। अपि च।

पद्मा—'पूज्य देवी! आपका कहना ठीक है, क्योकि

बन्धुजनो द्वारा कामिनियो का केवल शरीर मात्र ही अग्नि की साक्षीपूर्वक दूसरो के लिए बेचा गया है, न कि मन। इसलिए वही भाग्यशाली या कुशल पुरुष उनके मन का स्वामी माना गया है, जिसके द्वारा उन्हे विश्वास-सहित रति-विलास-आदि का सुख प्राप्त हो ॥ १५९ ॥'

धाय—पुत्री! तो सुनिए—एक समय तुम महल के उपरितन प्राङ्गण पर घूम रही थी, तब निस्सन्देह किसी ऐसे प्रेमी नवयुवक के नेत्रो की दृष्टि के मार्ग को अनुसरण करनेवाली हुई। जिसका शरीर कामदेव-जैसा विशेष मनोज्ञ है और जो नागरिक कामिनी जनो के नेत्ररूपी कुमुदो को विकसित करने के लिए चन्द्र-सरीखा है। उस समय तुम कौमुदी-(चन्द्र-किरण) सरीखी उसके हृदयरूपी चन्द्रकान्तमणि मे आनन्द रूपी जल-निर्गम को उत्पन्न करनेवाली हुई। तभी से लेकर निस्सन्देह कामदेव-सरीखे अत्यन्त सुन्दर उस नवयुवक को उस प्रकार आपके मुख की सुगन्धि रूपी मकरन्द (पुष्परस) के आस्वादन करने के महान् मनोरथ हुए जिस प्रकार वसन्तलक्ष्मी के समागम के समय को प्राप्त करनेवाले भौरे के लिए आम्रमञ्जरी के रसास्वाद करने का तीव्र दोहला (मनोरथ) होता है। उसी दिन से उसका मन सदा आपकी चिन्ता के चक्र से व्याकुलित रहता है। एव उसका अन्त करण अत्यन्त आपके गुणो के स्मरण की परिणति का आधार है। उसका चित्त निरन्तर आपके देह-सौन्दर्य के पुन पुन स्मरण करने मे सकेत-युक्त है। आपको छोडकर विकसित पुष्पो-सरीखो विलास के योग्य दूसरी लता-सी कामिनी जनो के समीप आनेपर भी उसके हृदय मे महान् घबडाहट उत्पन्न हो जाती है। भूताविष्ट की तरह उसका एक स्थान मे सन्ततिरूप से प्रवर्तन नही है और उसमे प्रलाप-(बकवाद) समूह वर्तमान है। पागलो की तरह उसके कार्य का प्रारम्भ विचित्र विभ्रम वाला है, क्षयरोग से पीडित रोगी को तरह उसका शरीर प्रतिदिन क्षीणता प्राप्त कर रहा है। कामदेव की आराधना

---

१ विश्वाससहिता। २ सुख। ३ 'किसारु सस्यसूक स्यात्, सूकोऽस्त्रीश्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रे पुष्पकेसरसम कनकवर्ण' इति० टि० ख०, 'पुष्पकेसरसदृश कनकवर्ण इवेत्यर्थ' टि० च०, यश० पञ्जिकाकारस्तु 'कुसुमकिसारु' काम' इत्याह। ४ उपरितनप्राङ्गण। ५ सजात। ६ भ्रमरस्येव। ७ रसालश्चूत। ८ 'अत्र मुखपरिमल मकरन्द' टि० ख०, 'अत्र मुखकमलमेव मकरन्द' टि० च०। ९ वत्। १० सतत्या प्रवर्तनम्। ११ क्षयरोग। १२ 'चेष्टाभावक्षीणता टि० च० 'जडता' टि० ख०। १३ अद्य कल्ये वा प्राणा यास्यन्ति।

अनवरत[1]जलार्द्रान्दोलनस्यन्दमन्दै[2] रतिसरसमृणालीकन्दलैश्चन्दनार्द्रै[3] ।
अमृतरुचिमरीचिप्रौढितायां निशायां प्रियसखि सुहृदस्ते[4] किंचिदात्मप्रबोध[5] ॥१६०॥

भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपाय्यते ।

धात्री—([6]कर्णजाहमनुसृत्य ।) [7]एवमेवम ।

भट्टिनी—को दोष ।

धात्री—कदा ।

भट्टिनी—यदा तुभ्य रोचते ।

इतश्चानन्तरायतया [8]तनयानुमताहितमतिपाटव सचिवोऽपि नृपतिनिवासोचितप्रचारेषु [9]वासुरेषु गुणव्यावर्णनावसरायातमेतस्य महीपते पुरस्ताच्छ्लोकमिममुपन्यास्थत्[10]—

'राज्य प्रवर्धते तस्य किञ्जल्पो यस्य वेश्मनि । शत्रवश्च क्षय यान्ति सिद्धाच्चिन्तामणेरिव ॥१६१॥'

राजा—'अमात्य, क्व तस्य प्रादुर्भूति , कीदृशी च तस्याकृति ।

मे एकाग्रता प्राप्त करने वाले पुरुष की तरह उसकी इन्द्रियो मे चेष्टाभाव-क्षीणता है और जडता है। आज व कल मे उसके प्राण निकल जायँगे।

'प्यारी सखी ! निरन्तर जल से भीगे हुए वस्त्र के पखो के हिलाने के कारण वेग मे मन्द हुए पखो के द्वारा और अतिस्निग्ध कमल-नाल के चन्दन-सहित कन्दो द्वारा शीतोपचार किये हुए तेरे मित्र को चन्द्र-किरणो से वृद्धिगत (चाँदनी) रात मे कुछ चेतना होती है ॥ १६० ॥

पद्मा—'देवी ! क्या अब भी मुझ से छिपाती हो ?'

धाय—पद्मा के कानो के समीप धीरे से बोली—'ऐसा ही है, अर्थात्—कडारपिङ्ग आपको चाहता है।'

पद्मा—'इसमे क्या बुराई है ?'

धाय—'तो कब ?'

पद्मा—'जब तुम चाहो।'

[यहाँ धाय प्रयत्नशील थी, वहाँ मन्त्री भी प्रयत्नशील था।]

उधर पुत्र के प्रिय कार्य मे बुद्धि की पटुता स्थापित करने वाले उग्रसेन मन्त्री ने भी राजा के समक्ष ऐसा श्लोक बे रोक टोक पढा, जो कि राजमहल के योग्य प्रचारवाले पक्षियो के गुणो के कथन के अवसर पर प्राप्त हुआ था।

'जिस राजा के महल मे किञ्जल्प नामक पक्षी रहता है, उसकी राज्य-वृद्धि होती है और सिद्ध किये हुए चिन्तामणि की तरह उससे शत्रु नष्ट होते है' ॥ १६१ ॥

राजा—'मन्त्री ! यह पक्षी किस स्थान पर उत्पन्न होता है ? और उसकी आकृति कैसी होती है ?'

---

१ 'जलार्द्रं वस्त्रव्यजन' इति पञ्जिकाकार । २ व्यजन । ३ कन्दैश्चन्दनसहितै । ४ मनाक् । ५ भवति, ईदृशो वर्तते । ६ कर्णसमीप शनै कथितवती । ७ कडारपिङ्ग एव त्वा वाञ्छति । ८ पुत्र । ९ पक्षिषु । १० पठतिस्म ।

अमात्य —देव, भगवत पार्वतीपते [1]श्वशुरस्य मन्दाकिनीस्पन्दनिदानकन्दरनीहारस्य[2] [3]रमणसहचरखेचरीसुरतपरिमलमत्तम[4]तालिमण्डलीविलिख्यमान[5]मरकतमणिमेखलस्य प्रालेयाचलस्य [6]वृक्षोत्पलखण्डमण्डितशिखण्डस्य रत्नशिखण्डनाम्न शिखरस्याभ्यासे[7] नि शेषशकुन्तसभवावहा गुहा समस्ति । यस्या [8]जटायु-वैनतेय-वैशम्पायन-प्रभृतय शकुन्तय प्रादुरासन् । [9]तस्यामेव [10]तस्योत्पत्ति । ता च गुहामह पुष्यश्चानेकशो नन्दाभगवतीयात्रानुसारित्वात्साधु जानीव । प्रतिकृतिश्चास्या[11] [1]नेकवर्णा मनुष्यसवर्णा[12] च ।

भूपाल —(सजातकुतूहल ।) अमात्य, कथ तद्दर्शनोत्कण्ठा ममाकुण्ठा[13] स्यात ।

अमात्य —देव, मयि, पुष्ये वा गते सति ।

राजा—अमात्य, भवानतीव प्रवया[14] । तत्पुष्य प्रयातु ।

अमात्य —देव, तर्हि दीयतामस्मै सरत्नालकारप्रवेक[15] पारितोषिकम्, [16]अगणेय पाथेय च ।

राजा—वाढम् ।

स्वामिचिन्ताचारचक्षुष्य[17] पुष्यस्तदादिष्टो[18] गेहमागत्य 'आदेश न विकल्पयेत्' इति मतानुसारी प्रयाणसामग्री कुर्वाणस्तया सतीव्रतपवित्रितसद्मया पद्मया पृष्ट —'भट्ट, किमकाण्डे प्रयाणाडम्बर ।

मन्त्री—'देव ! भगवान् शङ्कर के श्वसुर हिमालय पर्वत की, जिसकी गुफाओ का हिम गङ्गा के प्रवाह का कारण है, और जिसकी मरकत मणियो की मेखला (मध्यभाग या करधनी) भर्ताओ के साथ गमन करने वाली विद्याधरी कामिनियो के रतिविलास की सुगन्धि मे मत्त (लम्पट) हुई भ्रमर-श्रेणी द्वारा विलक्ष्मी (शोभा-हीन) की जा रही है, कर्णिकार वृक्षो के समूह से अलङ्कृत चोटीवाले रत्नशिखण्ड नामकी शिखर के समीप समस्त पक्षियो को उत्पन्न करनेवाली गुफा है, जिसमे जटायु, गरुड व वैशम्पायन-आदि पक्षी उत्पन्न हुए थे। उसी मे ही किञ्जल्क नाम के पक्षी की उत्पत्ति है। उस गुफा को हम दोनो (मै और पुष्य) भलीभाँति जानते है, क्योकि हम दोनो ने अनेक वार पार्वती परमेश्वरी के दर्शन के लिए वहाँ की यात्रा का अनुसरण किया था। इसकी आकृति अनेक वर्ण (श्वेत व पीतादि) वाली व मनुष्य-सी है।'

उत्पन्न हुए कौतुक वाला राजा—'मन्त्री ! उसके दर्शन की मेरी तीव्र अभिलाषा किस प्रकार पूर्ण होगी ?'

मन्त्री—'देव ! मेरे और पुष्य के वहाँ जाने पर ही आपकी तीव्र अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।'

राजा—'मन्त्री ! आप विशेष वृद्ध हो, अत पुष्य जाय।'

मन्त्री—'देव ! तो पुष्य के लिए रत्न-जडित कङ्कण वाला पारितोषिक दीजिए और मार्ग मे हित कारक प्रचुर सामग्री भी।'

राजा—'बहुत अच्छा।'

स्वामी की चिन्ता के अनुकूल प्रवृत्ति करने से मनोज्ञ और राजा द्वारा आज्ञा दिया हुआ पुष्य घर

---

१ हिमाचलस्य । २ हिम गलित्वा, जल भूत्वा गङ्गा वहति । ३ भर्तृसहगमन । ४ भ्रमरश्रेणी । ५ विलक्ष्मीक्रियमाण । ६ कर्णिकार । ७ समीपे । ८ पक्षिविशेष । ९ गुहाया । १० किंजल्पपक्षिण । ११ पक्षिण । १२ समाना । १३ अमन्दा । १४ वृद्ध । १५ कङ्कण । १६ प्रचुर । १७ प्रवृत्तिसुभग । १८ राज्ञा आदिष्ट पुष्य ।

पुष्य —प्रस्तुतमाचष्टे ।

भट्टिनी—भट्ट, सर्वमेतत्सचिवस्य कूटकपटचेष्टितम् ।

भट्ट —'भट्टिनी, किं नु खल्वेतच्चेष्टितस्यायतनम्[1] ।

भट्टिनी—[2]प्रक्रान्तमभाषिष्ट ।

भट्ट —किमत्र कार्यम् ।

भट्टिनी—कार्यमेतदेव । दिवा[3] प्रकाशमेतस्मात्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृत च प्रत्यावृत्य अत्रैव महावकाशे निजनिवासनिवेशे[4] सुखेन वस्तव्यम् । [5]उत्तरत्राह जानामि ।

भट्ट—तथास्तु[6] ।

ततोऽन्यदा तया [7]परनिकृतिपात्र्या धात्र्या स [8]दुराचाराभिषङ्ग कडारपिङ्ग [9]सुप्तजनसमये समानीत 'समभ्यसतु तावदिहैवेयमय च[10] महीमूलं यियासु पातालावासदु खम्' इत्यनुध्याय तया पद्मया [11]महावर्तस्य गर्तस्योपरि कल्पितायामवाना[12]या*खट्वाया क्रमेणोपवेशितवपुषौ तौ द्वावपि[13] दुरातङ्काबध्ये श्वभ्रमध्ये विनिपेततु । अनुब-

---

आया । वह 'आज्ञा मे सकल्प-विकल्प नही करना चाहिए' इस नैतिक सिद्धान्त को मानने वाला था । अत वह प्रस्थान की सामग्री का सचय करने लगा ।

उसी समय पातिव्रत्य धर्म से गृह को पवित्र करने वाली उसकी पत्नी पद्मा ने उससे पूँछा—'स्वामी ! आप असमय मे यह देशान्तर मे गमन करने का प्रपञ्च क्यो कर रहे हैं ?'

पुष्य ने उससे प्रस्तुत बात कह दी ।

पद्मा—'स्वामी ! यह सब मन्त्री के कूटकपट की चेष्टा (व्यवहार) है ।'

पुष्य—'प्रिये ! निस्सन्देह इस कूटकपट-पूर्ण व्यवहार का क्या कारण है ?'

पद्मा ने प्रस्तुत पूर्व वृत्तान्त कह दिया ।

पुष्य—'इस अवसर पर मुझे क्या करना चाहिए ?'

पद्मा—'कर्तव्य इतना ही है, कि आप दिन मे समस्त जनो के सामने इस नगर से प्रस्थान कर दो और रात्रि मे चुपचाप लौटकर बडो जगह वाले अपने निवास स्थान (गृह) मे सुखपूर्वक निवास करो । पूर्वोक्त वृत्तान्त के विषय का कर्तव्य मै जानती हूँ ।'

पुष्य ने वैसा ही किया ।

इसके उपरान्त एक दिन रात्रि की मध्यवेला मे दूसरो को धोखा देने की पात्र-भूत यह धाय, दुराचार से सबध रखने वाले (परस्त्री-लम्पट) कडारपिङ्ग को लाई । उधर पद्मा ने यह सोचकर कि 'ये दोनो इसी जन्म मे नरक मे गमन करने के इच्छुक होकर नरक-निवास का दु ख भोगे' ऐसा सोचकर उसने खूब गहरे गड्ढे के ऊपर विना बुनी खाट बिछा दी, जो कि कपडे को चादर मात्र से सजी हुई थी, उसपर उन दोनो को बैठाया, जिससे वे दोनो (धाय और कडारपिङ्ग) महाव्यथा वाले उस नरक कुण्ड-सरीखे गड्ढे मे

---

१ कारण । २ प्रस्तुत पूर्वं वृत्तान्त । ३ दिवसे । ४ स्थाने । ५ पूर्वोक्तवृत्तान्ते । ६ तथैव कृतवान् । ७ माया । ८ दुराचारेण सह सबधो यस्य । ९. सुप्तजन रात्रिमध्य । १० धात्रीकडारपिङ्गौ । ११ विस्तारेण गम्भीरस्य । १२ अणवुणीखट्वाया । * 'अवानाया प्रच्छदमात्रप्रसाधनाया खट्वाया' इति क०, ख०, घ० च० । विमर्श — 'अय पाठ साधुरिति ममाभिप्राय '—सम्पादक । १३ धात्रीकडारपिङ्गौ ।

भूवतुश्च निखिलपरिजनोच्छिष्टसिक्थजीवनौ कुम्भीपाकोपक्रम[1] षट[2]समाशाखान्दु खक्रमम्[3] ।

पुनरेकदा 'स्वाम्यादेशविशेषविदुष्य पुष्य तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहित[4] कृतपञ्जरपरिकल्पं किंजल्पमादाय आगच्छस्त्रिचतुरेषु वासरेष्वस्या पुरि प्रविशति' *इति प्रसिद्धम्। तत्प्रवर्तिनी भट्टिनी विविधवर्णविडम्बित-कायेन चटकचकोरचाषचातकादिछदच्छादित[5]प्रतीकनिकायेन पञ्जरालयेन तदद्वयेन सह[6] चिरप्रवासोचितवेषजोष्य[7] पुष्य पुरोपवने विनिवेश्य भट्टोद्भूतारम्भसभाषणसनाथसखीजनसकल्पा धृतप्रोषितभर्तृकाकल्पा[8]भिमुखमयासीत्[9] ।

अपरेद्यु स निखिलगुणविशेष्य पुष्य पृथिवीपतिभवनमनुगम्य 'देव, अय स किंजल्प पक्षी, इय च तत्प्रसवित्री[10] पतत्रिणी च' इत्याचरत् ।

राजा—(चिर निर्वर्ण्य निर्णीय च स्वरेण ।) पुरोहित, नैष खलु किंजल्प पक्षी, किंतु कडारपिङ्गोऽयम् । एषापि विहङ्गी न भवति, किं तु तडिल्लतेय कुट्टिनी ।

पुष्य.—देव, एतत्परिज्ञाने प्रगल्भमतिप्रसव सचिव ।

राज्ञा सचिवस्तथा पृष्ट क्ष्मातल प्रविविक्षुरिव क्षोणीतलमवालोकत ।

जा गिरे और समस्त कुटुम्बी जनो के जूँठे भात को खाकर जीवित रहने वाले उन दोनो ने छह माह तक नरक के आरम्भ-सरीखा भयानक दु ख भोगा ।

इसके पश्चात् पद्मा ने एक समय राज्य मे ऐसी प्रसिद्धि की, कि 'स्वामी की आज्ञा-पालन मे विशेष निपुण पुष्य एक पिञ्जरे मे बन्द किंजल्प पक्षी को और इस प्रकार के पक्षी को जन्म देने मे समर्थ पक्षिणी को लेकर आ रहा है और वह तीन चार दिन मे इस नगरी मे प्रविष्ट हो रहा है ।' इसके उपरान्त उसने चिरकालीन प्रयाण के योग्य वेष धारण करने वाले अपने पति पुष्य को ऐसे उन दोनो (कडारपिङ्ग व धाय) के साथ पहले हो नगर के बगीचे मे ठहराया, जिनका शरीर नाना प्रकार के वर्णो (पीत व रक्तादि) द्वारा विचित्र किया गया था और जिनके शारीरिक अवयव-(हस्त व पाद-आदि) समूह चिडिया, चकोर, नीलकण्ठ व चातक-आदि पक्षियो के पखो द्वारा आच्छादित किये गए थे और जो पिंजरारूपी गृहवाले थे । और वह (पद्मा), जो ऐसे सखीजनो से भूषित थी, जो कि पुष्य के कारण से उत्पन्न हुए आरम्भवाले सभाषण से युक्त था, जिसने प्रवास मे गये हुए पतिवाली स्त्री का वेष धारण किया था, पति के सन्मुख गई ।

दूसरे दिन समस्त गुणो मे उत्कृष्ट पुष्य राज-भवन मे जाकर बोला—'देव ! यह वही किंजल्प पक्षी है और यह उसकी माता पक्षिणी है ।'

राजा—(बहुत देर तक देखकर व शब्द सुनने से पहचान कर) 'पुरोहित ! यह किंजल्प पक्षी नही है, यह तो कडारपिङ्ग है । यह भी पक्षिणी नही है, किन्तु तडिल्लता नामकी कुट्टिनी है' ।

पुष्य—'किंजल्प पक्षी के ज्ञान मे प्रौढ बुद्धि उत्पन्न करने वाले उग्रसेन मन्त्री है ।'

राजा ने मन्त्री से उन्हे पहचानने के लिए पूँछा, तो मन्त्री पृथिवी-तल की ओर देखता रह गया, मानो—पृथिवी-तल मे प्रवेश करने का इच्छुक ही है ।

---

१ उपज्ञा ज्ञानमाद्य स्यात् ज्ञात्वारभ उपक्रम । २ षण्मासान् । ३ अनुबभूवतु । ४ धात्रीसहित । * 'इति प्रसिद्धिर्वर्तिनी भट्टिनी' क० । ५ प्रतीका अवयवा । ६ सह पुष्य निवेश्य । ७ सेवनीय । ८ वेषा । ९ सन्मुख गता । १० माता ।

राजा—पुष्य, समास्ताम् । अथ भवानेतद्व्यतिकरं कथयितुमर्हति ।

पुष्य—स्वामिन्, [1]कुलपालिकात्र प्रगल्भते[2] ।

भूपतिः भट्टिनीमाहूय 'अम्ब, कोऽयं व्यतिकरः' इत्यपृच्छत् । भट्टिनी गतमुदन्तमाख्यत्—काश्यपीश्वरः शैलूष[3] इव हर्षामर्षोत्कर्षस्थामवस्थामनुभवन्निखिलान्तःपुरपुरन्ध्रीजनवन्द्यमानपादपद्मां पद्मां तैस्तैः सतीजनप्रह्लादनवचनैः समानसनिधानैरलंकारदानैश्चोपचर्य, प्रवेश्य च वेदविद्द्विजोह्यमान[4]कर्णीरथारूढां वेश्म[5], पुनः 'अरे निहीन, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगाः सुभगाः सीमन्तिन्यः, येनैवमाचरः । कथं न दुराचार, एवमाचरन्नात्र विलाय[6] विलीनोऽसि । तदिदानीमेव यदि भवन्तं तृणाङ्कुरमिव तृणेह्मि[7] तदा न बहुकृतमपकृतं स्यात्' इति निर्भरं[8] निर्भर्त्स्य दुर्नयगरलभुजङ्गं कडारपिङ्गं कुट्टिनीमनोरथातिथिसत्रिणं[9] मुग्रसेनमन्त्रिणं च निखिलजनसमक्षमा[10]क्षारणापूर्वकं [11]प्रावासयत् । दु[12]ष्प्रवृत्तानङ्गमातङ्गः कडारपिङ्गस्तथा प्रजाप्रत्यक्षमाक्षारितः सुचिरमेतदेनःफलमनुभूय दशमीस्थः[13] सन् श्वभ्रप्रभवभाजनं[14] जनमभजत ।

भवति चात्र श्लोकः—

राजा—'पुष्य ! मन्त्री को रहने दो, तुम सब समाचार कहने के योग्य हो ।'

पुष्य—'स्वामी ! मेरी पत्नी ही प्रस्तुत घटना के कथन करने मे समर्थ है ।'

राजा ने पद्मा को बुलाकर कहा—'माता ! यह क्या घटना है ?'

पद्मा ने सब बीता हुआ वृत्तान्त कह दिया ।

वृत्तान्त सुनकर राजा नट-सरीखा उत्कट हर्ष की और विशेष क्रोध की दशा का अनुभव कर रहा था । उसने समस्त अन्तःपुर की सौभाग्यवती स्त्रीजनो द्वारा नमस्कार किये गए चरण-कमल वाली पद्मा की पतिव्रता स्त्री जनो के हृदयो मे आनन्द उत्पन्न करने वाले वचनो द्वारा और सन्मान के समीपवर्ती वस्त्र व आभूषणो के प्रदान द्वारा सन्मानित करके उसे वेदार्थ जानने वाले ब्राह्मणो द्वारा स्कन्ध से वहन किये जाने वाले रथ मे बैठाकर उसके गृह मे प्रविष्ट कराया । पश्चात् कुट्टिनी धाय का और कडारपिङ्ग का अत्यन्त तिरस्कार करते हुए बोला—'अरे नीच ! क्या इस नगर मे समस्त जनो द्वारा सार्वजनिक रूप से सम्भोगवाली सुन्दर वेश्याएँ नही है ? जिसके कारण तूने ऐसा अनैतिक आचरण किया । अरे दुराचारी ! ऐसा आचरण करता हुआ तू यहाँ मरण प्राप्त कर क्यो नही मरता ? अतः यदि इस समय मै तुझे तृणाङ्कुर-सरीखा नष्ट करता हूँ, तो यह तेरा विशेष अपकार नही होगा ।'

इस प्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण तिरस्कार करके अनीति रूपी जहरीले साँप-सरीखे कडारपिङ्ग को और कुट्टिनी धाय के मनोरथरूपी अतिथि के यजमान उग्रसेन मन्त्री को समस्त लोक के समक्ष विशेष आक्रोश-पूर्वक देश से निर्वासित कर दिया—निकाल दिया । इस प्रकार कडारपिङ्ग, जिसका कामदेवरूप चाण्डाल निन्द्य कार्य मे सलग्न है, व्यभिचार के कारण प्रजाजनो के समक्ष तिरस्कृत होकर चिरकाल तक इस पाप का फल भोगता रहा फिर मरकर नरक लोक मे गया ।

इस विषय मे एक श्लोक है, उसका अर्थ यह है—

---

१ भट्टिनी । २ समर्था भवति । ३ नटाचार्यवत् । ४ स्कन्धेनोह्यमानो रथः विमानाख्यः । उक्तं च—कर्णीरथः प्रवहणं डयनं च समं त्रयम् । ५ गृहं प्रवेश्य । ६ विनाशं गत्वा किं न विनष्टोऽसि ? । ७ हिनस्मि । ८ अतिखरं । ९ सत्री यजमानः, यजमानः । १० 'आक्रोशः' टि० ख०, यश० प० तु आक्षारणा परिभवः । ११ निर्घाटितः । १२ दुष्टप्रवृत्तः अनङ्ग एव मातङ्गो यस्य । १३ मृतः सन् । १४ स्थानं नरकलोकं श्रितः इत्यर्थः ।

मन्मथोन्माथितस्वान्त परस्त्रीरतिजातधी । कडारपिङ्ग सकल्पान्निपपात रसातले ॥१६२॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफलस्फारणो नामैकत्रिंशत्तम कल्प ।

ममेदमिति सकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु । *परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनिकुञ्चनम्[1] ॥१६३॥
*क्षेत्र धान्य धन वास्तु [2]कुप्य शयनमासनम् । द्विपदा पशवो [3]भाण्ड बाह्या दश परिग्रहा ॥१६४॥
समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा[4] हास्यप्रभृतयो[5]ऽपि षट् । चत्वारश्च कषाया स्युरन्तर्ग्रन्थाश्चतुर्दश ॥१६५॥
अथवा चेतनाचेतनासङ्गाद्द्विधा बाह्यपरिग्रह । अन्त स एक एव स्याद्भवहेत्वाशयाश्रय[6] ॥१६६॥
[7]धनायाविद्धबुद्धीनामधना[8] स्युर्मनोरथा । न ह्यनर्थक्रियारम्भा[9] धीस्तदर्थिषु कामधुक्[10] ॥१६७॥
सहसभूतिरप्येष देहो यत्र न शाश्वत । द्रव्यदारकदारेषु तत्र कास्था[11] महात्मनाम् ॥१६८॥
स श्रीमानपि नि श्रीक स नरश्च नराधम । यो न धर्माय भोगाय विनयेत[12] धनागमम् ॥१६९॥

काम से पीडित चित्तवाला और परस्त्री के साथ रति-विलास करने के लिए उत्पन्न हुई बुद्धिवाला कडारपिङ्ग परस्त्री-गमन के सकल्पमात्र से नरक भूमि मे गिरा ॥१६२॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे कुशील के कटुक फल की प्रचुरतावाला यह इकतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का निरूपण करते है]

वाह्य (धन व धान्य-आदि) और आभ्यन्तर (मिथ्यात्व-आदि) पदार्थो मे 'यह मेरा है' इस प्रकार के सकल्प को परिग्रह कहते है, उसके विषय मे मनोवृत्ति को सकुचित करनी चाहिए ॥१६३॥ खेत, धान्य, धन, गृह, कुप्य (वस्त्र व कम्बल-आदि), शय्या, आसन, द्विपद (दासी-दास), पशु, और भाजन ये दश वाह्य परिग्रह है ॥१६४॥ मिथ्यात्व, पुँवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया व लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह है ॥१६५॥ अथवा—चेतन व अचेतन के भेद से वाह्य परिग्रह दो प्रकार का है और ससार के कारणो के आश्रयवाला परिणाम अन्तरङ्ग परिग्रह है, जो कि एक ही प्रकार का है। अर्थात्—ससार के कारण मिथ्यात्वादि चैतन्यरूप परिणाम ही है आधार जिसके वह अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकार का है ॥१६६॥ धन की तृष्णा से व्याकुलित बुद्धिवालो के मनोरथ निष्फल (धन-हीन) होते है, क्योकि धन चाहनेवालो की निरर्थक वाञ्छावाली बुद्धि वाञ्छित (अभिलषित—मनचाही) वस्तु देनेवाली नही होती। अर्थात्–इच्छामात्र से धन प्राप्त नही होता, क्योकि आचार्यो ने धन-प्राप्ति का कारण लाभान्तराय का क्षयोपशम बतलाया है, अत धन-प्राप्ति के विषय मे आर्तध्यान नही करना चाहिए ॥१६७॥ जिस ससार मे साथ उत्पन्न हुआ यह शरीर भी स्थायी (नित्य रहनेवाला) नही है वहाँपर शरीर से भिन्न धन, पुत्र व स्त्रियो मे महात्माओ की आस्था (श्रद्धा) कैसे हो सकती है ? ॥१६८॥

जो मानव दान व पुण्य-आदि धर्म की प्राप्ति के लिए और न्याय-प्राप्त भोगो के भोगने के लिए सचित

---

* 'मूर्च्छा परिग्रह'—मोक्षशास्त्र अ० ७-१७ । १ सकोच । * 'वास्तु क्षेत्र धन धान्य दासी दास चतुष्पद भाण्डम् । परिमेय कर्तव्य सव सतोषकुशलेन ॥ ७३ ॥ —अमि० श्रा० ६ । २ 'वस्त्रादि' टि० ख०, 'वस्त्रकम्बलादि' टि० च० एव यश० प० । ३ लोहकपूरतैलादि । ४ स्त्रीपुनपुसकभावा । ५ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा । ६ ससाराश्रयपरिणाम । ७ 'धनगर्द्धवाञ्छा' टि० ख०, यश० प० तु 'धनायाविद्ध गर्द्ध' । ८ निष्फला । ९ वाञ्छामात्रा । १० वाञ्छितप्रदा मतिर्न स्यात् । ११ वाञ्छा । १२ न उपयोगी कुर्यात् ।

प्राप्तेऽर्थे ये न माद्यन्ति नाऽप्राप्ते स्पृहयालव । लोकद्वयाश्रिता श्रीणा त एव परमेश्वरा ॥१७०॥

*चित्तस्य [1]वित्तचिन्ताया न फल परमेनस [2]। अस्थाने क्लिश्यमानस्य न हि क्लेशात्पर फलम् ॥१७१॥

अन्तर्बहिर्गते सङ्गे नि सङ्ग यस्य मानसम् । सोऽगण्यपुण्यसपन्न सर्वत्र सुखमश्नुते ॥१७२॥

बाह्यसङ्गरते पुसि कुतश्चित्तविशुद्धता । सतुषे हि बहिर्धान्ये दुर्लभान्तर्विशुद्धता ॥१७३॥

सत्पात्रविनियोगेन[3] योऽर्थसग्रहतत्पर । लुब्धेषु स पर लुब्ध सहामुत्र धन नयन[4] ॥१७४॥

कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसग्रह । पञ्चमाणुव्रतज्यानि[5] करोति गृहमेधिनाम् ॥१७५॥

यस्य [6]द्वन्द्वद्वयेऽप्यस्मिन्निस्पृह देहिनो मन । स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणा क्षणात्पक्षे स दक्षते[7] ॥१७६॥

अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायामवश्य जायते नृणाम । अघसघचित चेत ससारावर्तगर्तगम् ॥१७७॥

श्रूयतामत्र परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—

धन का उपयोग नही करता, वह धनाढ्य होकर के भी दरिद्र है और मनुष्य होकर के भी मनुष्यो मे नीच है ॥ १६९ ॥ प्राप्त हुए धन मे अभिमान न करने वाले व अप्राप्त धन की वाञ्छा न करने वाले मानव ही दोनो लोको मे प्राप्त होने वाली लक्ष्मियो के उत्कृष्ट स्वामी होते है ॥ १७० ॥ जब मानव का चित्त धन-प्राप्ति के लिए चिन्तित होता है तब उसे पापबन्ध के सिवाय दूसरा फल प्राप्त नही होता, क्योकि निस्सन्देह अयोग्य स्थान मे क्लेशित होने वाले व्यक्ति को कष्ट के सिवा दूसरा फल प्राप्त नही होता ॥ १७१ ॥ जिसका विशुद्ध मन वाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह मे अनासक्त या मूर्च्छा-रहित है, वह अगण्य (अनगिनती) पुण्य-राशि से युक्त हुआ सर्वत्र (इस लोक व परलोक मे) सुख प्राप्त करता है ॥ १७२ ॥ जिस प्रकार निस्सन्देह छिलका-सहित वाहिरी धान्य मे भीतरी निर्मलता दुर्लभ होती है उसी प्रकार वाह्य परिग्रह मे आसक्त हुए मानव मे चित्त की विशुद्धि किस प्रकार हो सकती है ? ॥ १७३ ॥ जो सत्पात्रो के लिए दान देकर धन के सचय करने मे तत्पर है, वह उस धन को अपने साथ परलोक मे ले जाता है अत वह लोभियो मे महा लोभी है।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्यश्री ने अपने 'नीतिवाक्यामृत' के धर्म समुद्देश मे भी लिखा है—'स खलु लुब्धो य सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम्' ॥ १८ ॥ अर्थात्—जो मनुष्य सज्जनो के लिए दान देकर अपने साथ परलोक मे धन ले जाता है, वही निश्चय से सच्चा लोभी हे, अभिप्राय यह है, कि धन का लोभी लौभी नही है, किन्तु जो उदार है, उसे सच्चा लोभी कहा गया है, क्योकि पात्रदान के प्रभाव से उसकी सम्पत्ति अक्षय होकर उसे जन्मान्तर मे मिल जाती है ॥१७४॥

लोभ मे आकर परिमाण किये हुए धन से अधिक धन का सचय करने वाला मानव श्रावको के परिग्रह परिमाण नाम के अणुव्रत की हानि करता है ॥ १७५ ॥ जिस मानव का चित्त अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग परिग्रहो मे निस्पृह (लालसा-शून्य) है, वह क्षणभर मे स्वर्गश्री व मुक्तिश्री के पक्ष (स्वीकार करने) मे दक्ष (चतुर) होता है ॥ १७६ ॥ धन की अत्यधिक तृष्णा होने पर मनुष्यो का मन अवश्य ही पाप-समूह का सचय करता हुआ उन्हे ससाररूपी भँवर के गड्ढे मे गिरा देता है ॥ १७७ ॥

अब परिग्रह की तृष्णा वाली कथा श्रवण कीजिए—

* वित्तार्थचित्तचिन्ताया न फल परमेनस । अतीवोद्योगिनोऽस्थाने न हि क्लेशात् पर फलम् ॥ ६३ ॥ —धर्मरत्ना० पृ० ९६ । १ धन । २ पापात् भिन्न फल न, किन्तु पापमेव भवति । ३ दानयोगेन । ४ 'स खलु लुब्धो य सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥ १८ ॥—नीतिवाक्यामृत, धम, सूत्र १८ पृ० २६ । ५ हानि । ६ परिग्रहद्वये । ७ दक्ष स्यात् ।

पञ्चालदेशेषु त्रिदशनिवेशानुकूलोपशल्ये[1] काम्पिल्ये निजमतिमाहात्म्योपहसितामराचार्यप्रतिभो[2] **रत्नप्रभो** नाम नृपति । आत्मीयकपोलकान्तिविजितामृतमरीचिमण्डला **मणिकुण्डला** नामास्य महादेवी । कुलक्रमागतात्मोपार्जिताऽमितवित्तः **सागरदत्तो** नाम श्रेष्ठी । गृहस्य श्रीरिव **धनश्री**र्नामास्य भार्या । सूनुरनयोर्न्याय्यार्थोपार्जनैकचित्तः **सुदत्तो** नाम । स महालोभविभावसुज्वलच्चित्तभित्त **सागरदत्त** पुरुषपरम्परायाताया काञ्चनकोटेरेकस्या * स्वयमुपार्जितार्धकोटे पतिर्भवन्नपि शालीयादिभक्तभोजने[3] द्वितयतुषापनीति[4]र्धावना[5]स्रावणकृतिश्च, शाकपाकविधाने सभारादिक्षति[6] [7]प्रसभाभ्यवहृतिश्च, [8]घार्तपूरपू[9]रिमावेष्टिमादिभक्ष्योपक्षेपे महती स्नेहापहृतिरिन्धनविरतिश्च, दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे, न विक्रयाय घृत न च तक्र [10]कडङ्गरायेति च मन्यमान स्वयमेव प्रतिदिवसवृद्धि[11]ग्रहणाय [12]ध्वजलोकपाटके विहरमाण [13]प्रतिपितृप्रिय[14]यन्त्रमुपसृत्य 'आ [15], सुरभि खल्वेष खल सजात' इति सस्मेर व्याहरन्, गृहीतपिण्डिखण्डः[16] [17]प्रत्यवसानसमये तद्गन्धमाजिघ्रन्सन्, सर्वलोकपरिहृत[18]मनवधिकालोषित[19]मतिसमर्घता गतमकण्डितमेव[20] च स्थालोविलीय भवति[21] तत्केवला[22]वन्तिसोमसहायमाहरति । अत एवास्य[23] महामोहानुबन्धस्य[24] **पिण्याकगन्ध** इति

१७ लोभी पिण्याकगन्ध की कथा

पञ्चालदेश के स्वर्ग की अनुकूलता के निकटवर्ती काम्पिल्य नगर मे अपनी बुद्धि के माहात्म्य से वृहस्पति की प्रतिभा को तिरस्कृत करने वाला 'रत्नप्रभ' नामका राजा था। अपने गालो की मनोज्ञ कान्ति द्वारा चन्द्रमण्डल को जीतने वाली 'मणिकुण्डला' नाम की उसकी पट्टरानी थी। वहाँ पर वशपरम्परा से प्राप्त हुई व स्वय कमाई हुई अपरिमित लक्ष्मी का स्वामी 'सागरदत्त' नामका नगरसेठ था। उसकी गृहलक्ष्मी-सी 'धनश्री' नामकी पत्नी थी। इनके न्यायपूर्वक धन कमाने मे एकाग्रचित्त वाला 'सुदत्त' नामक पुत्र था।

महालोभरूपी अग्नि मे अपनी चित्तरूपी भित्ति को प्रज्वलित करनेवाला सागरदत्त सेठ यद्यपि वश परम्परा से प्राप्त हुई एक करोड सुवर्णमुद्राओ का और स्वय कमाई हुई अर्धकरोड सुवर्णमुद्राओ का स्वामी था, तथापि वह सोचता था, कि धान्य-आदि का भात खाने मे उसके छिलके दूर करने होगे और प्रक्षालन और पसावण करना पडता है। यदि शाक पकाया जाय तो तैल व मिर्च-मसाला-आदि मे खर्च होता है और उसके साथ अधिक अन्न भी खाया जायगा और घेवर, पुडी व जलेबी-आदि भक्षण-योग्य वस्तुओ के आक्षेप मे प्रचुर घी नष्ट होता है और ईंधन का व्यय होता है। इसी प्रकार दूध, दही, तक्र (मट्ठा) के उपयोग (भक्षण) करने से न तो बैचने के लिए घी रहेगा और न धान्य की भूसी के लिए छॉछ ही रहेगी।

अत जब वह स्वय प्रतिदिन व्याज वसूल करने के लिए तेलियो के समूह के मुहुल्ले मे पर्यटन करता था तो उनके कोल्हू के समीप जाकर जरा हँसकर कहता 'वाह निस्सन्देह यह खली तो सुगन्धित निकली है' ऐसा कहकर वह तिल की खली का एक टुकडा उठा लेता था और भोजन-वेला मे उसकी गध सूँघता हुआ और ऐसी धान कॉजी के साथ खाता था, जो कि समस्त लोगो द्वारा छोडी हुई, अतिजीर्ण, स्वल्प मूल्य वाली

१ समीपे। २ बृहस्पतिबुद्धि। * 'स्वयमुपार्जितस्य च तदर्धस्य च पतिर्भवन्नपि' क०। ३ सति वह्नौ हानिर्भवतीति मन्यमान। ४ प्रक्षालन। ५ पसावण। ६ तैलमरीचादीना व्यय स्यात्। ७ 'प्रचुरान्नस्य भुक्ति' टि० ख०, यश० पं० तु 'गृद्धिभोजन'। ८ घेवर। ९ पूडी। १० धान्यत्वग्निमित्त। ११ व्याज। १२ तिलतुद, तैलिका। १३ पितृप्रिया तिला। १४ यन्त्र तिलपीलनयन्त्र भाण्ड (घाणी)। १५ अत्र आ इति कोपेऽर्थे व्याजग्रहणार्थौ। १६ खल। १७. भोजनवेलाया। १८ अतिजीर्ण। १९ स्वल्पमूल्य। २० खडनरहित। २१ स्थालीविलीय अर्हति। २२. काञ्जिकेन सहितं। २३ सागरदत्तस्य। २४ आसक्ते।

जगति नाम पप्रथे। 'मुखामोदमात्रेण च प्रयोजनम्। तदल ताम्बूलार्थमर्थव्ययेन' इति विचिन्त्य [1]विष्णुतरुत्वच [2]कालवल्लीदलोत्तरास्वादरुच कवलयति। [3]'अर्धप्राणोदर परिवार कदाचिदपि देहे हृदये वा न मनागपि विकुरुते' इति मत्वा न कमप्यूधपूर पूरयति। [4]'प्रतिचारकाश्चैव शिक्षयति—'न तैलार्थं लवणार्थं वित्त व्ययितव्यम्[5], किं तु [6]कार्षापण माप चादाय [7]आपणमुपढौक्य तदुभय गृहीत्वा पुनरिद [8]साधु न भवतीति प्रतिसमर्पयस्तत्र मापे किंचिल्लग्नमायाति तेन शारीरो विधिर्विधातव्य।' परिजनार्भकान् स्वकीयाश्चैवमुपजपति[9]—'न भवद्भिरङ्गाभ्यङ्गार्थं भवनमुपद्रोतव्यम्, किं तु सस्नेहदेहे [10]प्रातिवेशिकशिशुसदोहै सहातिसबाध योद्धव्यम। अतो भवतामनुपायसनिधि स्नानविधि। क्षपायां च [11]प्रतिवेशवेश्मप्रदीपप्रभाप्रज्वलितेन [12]वलीकान्तावलम्बितेन [13]काचमुकुरेण गृहाङ्गणे *प्रदीपकार्यं [14]निकाय्यमध्ये च सणसरण्ड[15]प्रोतै[16]विषमरुचिदीप्तै[17]रुरुबूकबीजै करोति। सकलजनसाधारणाश्च [18]नवीनसङ्गा एव [19]युगा सपरिच्छद परिदधाति। मनाग्मलीमसरागाश्च विक्रीणीते। ततोऽस्य [20]वसनधावनार्थमपि न [21]कपर्दकोपक्षय

और बिना कूटी काटी व थाली मे स्थापित करते ही विखरने वाली थी, अतएव तीव्र लोभ मे आसक्त हुए इसका 'पिण्याकगन्ध' (खल सूँघने वाला) यह नाम लोक मे प्रसिद्ध हुआ।

'मुख को सुगन्धित करने मात्र से ही तो प्रयोजन है, अत ताम्बूल के लिए धन खर्च करना निरर्थक है' ऐसा सोचकर वह पीपल की छालो को भक्षण करता था, जिनकी रुचि बौर के या बावची के पत्तो के पश्चात् खाने से होती है।

'आधे पेट खाने वाला कुटुम्ब कभी भी [गृह-स्वामी से] शरीर व मन द्वारा जरा भी विकृत (वैर विरोध करने वाला) नही होता' ऐसा मानकर वह किसी कुटुम्बी को भरपेट भोजन नही देता था। वह अपने सेवको के लिए इस प्रकार की शिक्षा देता था कि 'तैल व नमक-आदि साधारण वस्तुओ के लिए धन नष्ट नही करना चाहिए, पैसा व वर्तन लेकर बाजार मे जाना चाहिए और तैल व नमक लेकर बाद मे यह अच्छा नही है, यह कहकर वापिस लौटा देना चाहिएं जिससे वर्तन मे कुछ तैल व नमक लगा रह जाता है, उससे मालिश वगैरह शारीरिक कार्य करना चाहिए।' वह अपने और कुटुम्ब के बच्चो से यह कहता था कि 'आप लोगो के लिए शरीर मे मालिश करने के लिए मेरे गृह पर नही आना चाहिए किन्तु तैल की मालिश किये हुए पडोसियो के बालक-समूह के साथ आपस को विशेष रगडपूर्वक कुश्ती लडनी चाहिए, जिससे आपकी तैल-स्नान-विधि विना यत्न किए हो जायगी।

वह रात्रि मे पडोसी के गृह के दीपको की कान्ति से प्रकाशित हुए व गृह के उपरितन भाग पर लटके हुए कॉच के दर्पण द्वारा अपने घर के आगन मे दीपक का कार्य करता था और पोचीलकडी-सन-शलाका-मे पिरोये हुए व अग्नि द्वारा प्रदीप्त किये हुए एरण्ड के बीजो से घर के अन्दर प्रकाश करता था। वह सर्वसाधारण के उपयोग मे आनेवाला नया (कोरा) वस्त्र-जोडा (टि० के अभिप्राय से सेला-जोडा)

---

१ पिप्पलछली। २ 'बावचीपत्र, पत्राणां पश्चाद्भोजनेन रुक् रुचिर्यासा ता विष्णुतरुत्वच' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'कालवल्ली वदरी' इत्याह। ३ अर्द्धाहारेण। ४ उत्तरसाधकान्। ५ तैललवणादि सामान्यवस्तु-निमित्त समीचीन धन कथ विनाश्यते ?। ६ मान। ७ हट्ट गत्वा। ८ समीचीन। ९ शिक्षयति। १० पडोसी। ११ पडोसी-गृह। १२ गृहस्योपरितनभागे। १३ काच-दर्पणेन। * प्रदीपकार्यं सागरदत्त श्रेष्ठी करोति। १४ गृहमध्ये। १५ भीडीदड—पोचीलाकडी। १६ अग्नि। १७ एरण्डवीजै। १८-१९ कोरावस्त्र-सेलाद्वय। २० वस्त्रप्रक्षालनार्थ। २१. कौडी।

[1]पर्वाणि च [2]पुराणपल्लवकचवरापनयनकणोत्करेणातपतप्त[3]सघाटस्नेहद्रवेण [4]गुडगोणीक्षालनकषायेण च निवर्तयति[5]। प्रत्यामन्त्रणेन द्रविणव्ययात्प[6]रागारभोजनावलोकनेनाश्रितजनमनोविनाशभयाच्चामन्त्रितो न कस्यापि निकेतने [7]ऽश्नाति।

एवमतीवतर्षोत्कर्षरसहार्ये सकलकदर्याचार्ये[8] तस्मिञ्जीवत्यपि मृतकल्पमनसि वसति सति एकदा स लक्ष्मीकमलिनीपरिमलनकलभो रत्नप्रभो राजसिन्धुरप्रधावसदर्शनप्रासादसपादनाय [9]श्रवणाश्रयवृत्तस्य ब्रह्मदत्तस्य महीपतेः कालेन स्थण्डिलतालुप्तावकाशे भवनप्रदेशे भूशोधन विधापयन्नेतदास्थानमण्डपाभोगबन्धजुष[10] प्रकामोषरदोषकलुषवपुष सपूर्णविस्तारपुष[11] प्रथिमगुणविशिष्टका[12] सुवर्णेष्टका समालोक्य बहिर्निकाम कलङ्कमलिनत्वादितरेष्टकाविशिष्टत्वमाकलयन् 'एना खलु चैत्यालयनिर्माणाय योग्या' इति[13] चेतसैकत्र स्तूपतामानाययामास।

अत्रान्तरे समस्त[14]मितपचपुरोगमसगन्ध[15] पिण्याकगन्ध सरभसमापततामिष्टकावहता[16]वैवधिकनिवहाना सायसमये[17] मार्गविषये पतितामेकामिष्टकामवाप्य चलनक्षालनदेशे[18] न्यधात्। तत्र च[19] प्रतिघस्रमङ्घ्रिसघर्षाद-

---

परिवार सहित पहनता था और जैसे ही वे थोडे मलिन होते थे, उन्है बैच देता था, जिससे कपडे धोने मे उसकी कोडी भी खर्च नही होती थी। वह दीपोत्सव-आदि पर्व, पुराने पत्तो को कूट कर और उनके रेशे निकालने से उत्पन्न हुई चूर्ण-राशि से और सूर्य की गर्मी से तप्त हुए सघाट—गुडाश—के तरल तैल द्वारा एव गुड की फट्टी धोने से उत्पन्न हुए मधुर रस द्वारा व्यतीत करता था। बदले मे दूसरो का निमन्त्रण करने से धन खर्च होगा एव दूसरो के गृह का भोजन देखने से मेरे सेवकजनो के मन मुझ से टूट जॉयगे, इस भय से निमन्त्रण आने पर भी वह किसी के घर पर नही जीमता था। इस प्रकार अत्यन्त बढी हुई तृष्णा से प्रेम करने वाला और सब कजूसो का आचार्य वह पिण्याकगन्ध जीवित रहने पर भी मरे हुए-सरीखे मनवाला होकर निवास कर रहा था।

एक समय लक्ष्मीरूपी कमलिनी के मर्दन करने के लिए हाथी के बच्चा-सरीखे रत्नप्रभ राजा ने श्रेष्ठ हाथियो की दौड देखने के लिए एक राज-महल के निर्माण के लिए विचार किया और उसके लिए स्वर्गीय ब्रह्मदत्त राजा के महल-प्रदेश मे, जिसकी जगह समय पाकर ढेर हो जाने से लुप्तप्राय हो गई थी, भूमि-शोधन कराई तब उसने ऐसी सुवर्ण की ईंटे देखी, जो कि इसके विस्तृत सभागृह मे लगी हुईं थी। जो अत्यन्त जमीन के ऊषर दोष से काली हो गई थी। जो समस्त विस्तार को पुष्ट करने वाली थी और जो पृथु गुण से विशिष्ट थी (चौडी थी), परन्तु वे बाहर से अत्यन्त मैल से मलिन थी, इसलिए उसने दूसरी ईंटो की विशेषता निश्चय करते हुए 'निस्सन्देह ये ईंटें मन्दिर के निर्माण के लिए योग्य है' इस प्रकार मन मे विचार कर एक स्थान पर उनका ढेर लगवा दिया।

इसी बीच मे समस्त लोभियो मे अग्रेसर-सरीखा पिण्याकगन्ध वेगपूर्वक आने वाले, ईंटो का भार-वहन करने वाले वँहगी उठाने वालो (कावडिक) के समूहो की सध्या की वेला मे मार्ग-प्रदेश पर गिरी हुई एक ईंट उठा लाया और उसे पैर-धौने के स्थान पर रख दी। वहाँ पर प्रत्येक दिन पैरो की रगड से जब उस

---

१ दीपोत्सवादीनि करोति। २ कडवक्कलकणगणि ?। ३ सीधडा। ४ कोथली। ५ पर्वाणि करोति। ६. अन्यलोकगृहे भोजन यद्येभिर्दृष्ट तदा मद्गृहे एते न स्थास्यन्ति इति भयात्। ७ न भुङ्क्ते। ८ लुब्धे। ९ मृतस्य। १० ईदृशा ।इष्टका। ११ विस्तार पुष्णन्ति या। १२ पृथु। १३ मनसि कृत्वा। १४ लुब्ध। १५ सदृश। १६ 'भारवाहाना' टि० च०, 'वार्तावहो वैवधिक, विविध भार पर्याहारो वा त वहतीति वैवधिक' टि० ख०, पञ्जिकाया तु 'वैवधिका परिस्कन्दा कचवहाश्च एकार्था।' इति प्रोक्त। १७ सध्याया। १८. पादप्रक्षालनदेशे। १९ प्रतिदिन।

शेषकालुष्यमोषे[१]भर्मनिर्मितत्वमवेत्य तैस्तैः प्रलोभनवस्तुभिः [२]कावहाना विहितोपचारस्ताः[३] सगृह्णन् [४]श्रुतस्वस्त्रीयापायोदन्तः [५]स्फायमानमनोमन्युकृतान्तः[६] पिण्याकगन्धः 'पुत्र, निखिलकलावदातचित्त सुदत्त, भवत्पितृस्वसु सुतशोकशङ्कुशमनाय मयावश्यं तत्र गन्तव्यमपस्नातव्यं[७] च। ततस्त्वयाप्येताः [८]परिस्कन्दलोकप्रलोभनेन साधु सगृहीतव्याः' इत्युपह्वरे[९] व्याहृत्य सकलजगद्व्यवहारावतारत्रिवेद्यां काकन्द्यां तोकशोकभूयिष्ठायास्तूर्णं कनिष्ठाया दर्शनार्थमगच्छत्। [१०]असद्व्यवहारव्यावृत्तः सुदत्तः तातोपदेशमनिःश्रेय[११]समवस्यन्[१२] यतो* राजपरिगृहीतं तृणमपि गृहीतं काञ्चनीभवति सपद्यते च पूर्वोपार्जितस्याप्यर्थस्यापहाराय प्राणसहाराय चेति जातमतिर्नैकामपीष्टकां समग्रहीत्।

महालोभलोलतान्धः पिण्याकगन्धस्तस्याः पुरोऽपस्नायाऽऽगतः सुतमप्राक्षीत्—'वत्स, कियती खलु त्वमिष्टकाततीः पर्यग्रहीः।'

स्तेययोगविनिवृत्तः सुदत्तः—'तात, नैकामपि।'

प्रादुर्भवद्दीर्घदुर्गतिदुरितबन्धः पिण्याकगन्धः समर्थे सदाचारकृतार्थे पुण्यभाजि तुजि परमुत्तरमपश्यन्, 'यदीमौ क्रमौ परिक्रमणक्षमौ मम नाभविष्यतां तदा [१३]कथंकारमहं मन्मनोरथवन्ध्या[१४] काकन्द्यामगमिष्यम्। अत [१५]एतावे-

---

ईंट की समस्त मलिनता नष्ट हुई तब उसने उसे सुवर्ण की ईंट निश्चय की। फिर तो यह उन उन प्रलोभन वस्तुओं के प्रदान द्वारा उन वँहगी उठानेवालो की सेवा करके उनसे ईंटो का सग्रह करने लगा।

एक दिन पिण्याकगन्ध ने अपने भानेज की मृत्यु का समाचार सुना और इससे उसका मानसिक शोकरूपी यमराज बढा, अतः उसने अपने पुत्र को एकान्त मे बुलाकर कहा—

'समस्त कलाओ के अभ्यास से विशुद्ध चित्तवाले पुत्र सुदत्त! आपकी बुआ का पुत्र-वियोग सबधी शोकरूपी कीला उखाडने के लिए मुझे वहाँ अवश्य जाना चाहिए और मृत-स्नान भी करना चाहिए। अतः तुम्हे इस कावडिक-(वँहगी उठानेवाले) समूह के लिए प्रलोभन वस्तु के प्रदान द्वारा सोने की ईंटे, अच्छी तरह सग्रह करनी चाहिए।' इस तरह एकान्त मे कहकर पिण्याकगन्ध पुत्र के वियोग का प्रचुर शोक करनेवाली सबसे छोटी बहिन के दर्शनार्थ शीघ्र काकन्दी नगरी मे गया, जो कि समस्त लोक-व्यवहार की उत्पत्ति मे त्रिवेदी (प्रवीण) है।

यहाँ पर सुदत्त अन्याय से पराङ्मुख-दूरवर्ती-रहता था, अतः उसने अपने पिता का उपदेश ससार का कारण निश्चय करते हुए एक भी ईट ग्रहण नही की, क्योकि उसे ऐसी नैतिक बुद्धि उत्पन्न हो गई थी—'जो मानव राजा का तृण भी चुरा लेता है, उसे उसके बदले मे सुवर्ण देना पडता है, क्योकि राजकीय साधारण वस्तु की चोरी तीक्ष्ण राज-दण्डवाली होने से पूर्व-सचित समस्त धन नष्ट कराने मे व प्राणघात कराने मे कारण होती है।'

महालोभ की तृष्णा से अन्धे पिण्याकगन्ध ने मृत-स्नान करके उस नगरी से आकर पुत्र से पूँछा—'पुत्र! निस्सन्देह तुमने कितनी ईंटो का समूह सग्रह किया?'

चोरी के सबध से पराङ्मुख हुए सुदत्त ने उत्तर दिया—'पिताजी! एक भी नही।'

घोर दुर्गति के कारण पाप का बध करनेवाले पिण्याकगन्ध ने, कुटुम्ब-पालन मे समर्थ, सदाचार से

---

१ विनाशे सति। २ भारवाहाना। ३. इष्टका। ४ भागिनेयमरण। ५ वृद्धि जायमान। ६ शोकयम। ७. मृतस्नान कर्तव्य। ८ कावडिक। ९ एकान्ते। १० अन्यायपराङ्मुख। ११ ससारकारण। १२ जानन्। * देखिए—'नीतिवाक्यामृत' व्यसन समुद्देश सूत्र २८ पृ० २४४। (हमारी भाषाटीका)—सम्पादक। १३ केन कारणेन। १४ काराया। १५ पादौ।

वात्र श्रीविरामावहौ द्रौहौ' इति विचिन्त्योद्वर्तनं वर्तयन्त्या स्ववासिन्या. करादाक्षिप्तशरीरेण[1] शिलापुत्रकेण[2] तौ जर्जरितावजीजनत् ।

एतच्च [3]वैदेहिकव्यञ्जनपरिजनात्प्रा[4]चीनर्बाहिनिभ क्षितिरमणीकरिणीभ रत्नप्रभ. श्रुत्वा [5]वासीवक्त्रेण शिल्पिभिर्वि[6]धापितेष्टकातक्षण [7] सुवर्णत्व निर्णीय विहित[8]सर्वस्वापहार सनिकार[9] नगरजनोच्चार्यमाणदुरपवादप्रबन्ध पिण्याकगन्ध [10]निरवासयत् । 'इन्द्रयमस्थान हि गुणदोषयोर्महीपतय ' इति नीतिवाक्यमनुस्मृत्य मूलधनप्रदानेनान्वयागत[11]निवासनिवेदनेन च परद्रव्यादाननिवृत्त सुदत्त साधु समाश्वासयत । स तथा निर्वासित सजातनरकनिषेक[12]निबन्ध कृतप्रकामलोभसबन्धश्चिरायोपार्जितदुरन्तदुष्कर्मस्कन्ध पिण्याकगन्ध प्रेत्य[13] पातालमगात् ।

भवति चात्र श्लोक —

षष्ठ्या क्षितेस्तृतीये[14]ऽस्मिल्लल्लके दु खमल्लके । पेते पिण्याकगन्धेन धनायाविद्धचेतसा ॥१७८॥

इत्युपासकाध्ययने परिग्रहाग्रहफलफुल्लनो नाम द्वात्रिंश कल्प ।

सफल जन्मवाले एव पुण्यवान् पुत्र के कहने पर जब कोई सन्तोषजनक उत्तर नही जाना तब 'यदि ये मेरे दोनो पैर चलने मे समर्थ न होते, तो मै मेरे मनोरथ को बन्दीगृह (जेलखाना) काकन्दी नगरी मे किस प्रकार से जाता ? इसलिए ये दोनो पैर ही लक्ष्मी रोकनेवाले व पापी है' ऐसा सोचकर उसने उवटन पीसनेवाली अपनी पत्नी के हाथ से ग्रहण की हुई पीसने की सिल द्वारा अपने दोनो पैर तोड डाले ।

इन्द्र-सरीखे व पृथिवीरूपी स्त्री को प्रमुदित करने के लिए हथिनी को हाथी-जैसे रत्नप्रभ राजा ने वणिक् वेषी गुप्तचर के मुख से उक्त घटना सुनकर टॉकी के अग्रभाग से शिल्पियो द्वारा उन ईटो को कटवाया तो उसने उन्हे सोने की निश्चय की । तब उसने पिण्याकगन्ध का समस्त धन जब्त कर लिया और उसे नागरिकजनो द्वारा कथन किये गए निन्द्य अपकीर्ति के प्रबन्ध वाला करके बेइज्जतपूर्वक देश से निकाल दिया ।

राजालोग गुणवान् के लिए इन्द्र है और दुष्ट के लिए यमराज है ।' इस नीति-वाक्य का स्मरण करके राजा रत्नप्रभ ने चोरी से पराङ्मुख हुए उसके सुदत्त पुत्र के लिए मूलधन के प्रदान द्वारा और वश परम्परा से चले आनेवाले आवास की अनुमति द्वारा अच्छी तरह आश्वासन दिया ।

देश से निकाला जाकर पिण्याकगन्ध अत्यन्त लोभ का सबध करने के कारण नरक-पतन का बध करके और चिरकाल तक दारुण दु खदायक पाप-समूह का सचय करके मरकर नरक गया ।

प्रस्तुत विषय के समर्थक श्लोक का अर्थ यह है—

धन के लिए भ्रान्त चित्तवाला पिण्याकगन्ध षष्ठम नरक के तीसरे लल्लक नामके पाथडे मे, जो कि भयानक और दुःख का पात्र है, गिरा ॥ १७८ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे परिग्रह मे आसक्ति का फल विस्तृत करनेवाला यह बत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१ गृहीत । २ 'नीसात्रेण' टि० ख० 'पेषणपाषाणेन' इति प० । ३ 'वणिक्प्रौढमुखात्' टि० ख०, 'वैदेहिकव्यञ्जन वणिक्वेप राजप्रणिधि ' इति यश० प० । ४ इन्द्रसमान । ५ टॉकी । ६ कारित । ७ तनूकरणं । ८ धन । ९ निकारो विप्रकार स्यात् विरूपकविधिनेत्यर्थ । १० निर्द्धाटितवान् । ११ आवासानुमतेन । १२ पतन । १३ मृत्वा । १४ षष्ठमनरकस्य तृतीये प्रस्तारे ।

*दिग्देशानर्थदण्डाना विरतिस्त्रितयाश्रयम् । गुणव्रतत्रय सद्भि सागारयतिषु स्मृतम् ॥१७९॥
[1]दिक्षु सर्वास्वध प्रोर्ध्वदेशेषु निखिलेषु च । एतस्या दिशि देशेऽस्मिन्नियत्येव[2] गतिर्मम ॥१८०॥
[3]दिग्देशनियमादेव ततो बाह्येषु वस्तुषु । हिसालोभोपभोगादिनिवृत्तेश्चित्तयन्त्रणा ॥१८१॥
रक्षन्निद प्रयत्नेन गुणव्रतत्रय गृही । आज्ञैश्वर्यं लभेतैष यत्र यत्रोपजायते ॥१८२॥
[4]आशादेशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यतिक्रमात्[5] । देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाश्रय ॥१८३॥
[6]शिखण्डिकुक्कुटश्येनबिडालव्यालबभ्रव[7] । विषकण्टकशस्त्राग्निकशापाशकरज्जव ॥१८४॥
[8]पापाख्यानाशुभाध्यान[9]हिंसाक्रीडावृथाक्रिया.[10] । परोपतापपैशून्यशोकाक्र[11]न्दनकारिता ॥१८५॥
वधबन्धनसरोधहेतवोऽन्येऽपि चेदृशा । भवन्त्यनर्थदण्डाख्या साप[12]रायप्रवर्धनात् ॥१८६॥

[अब गुणव्रतो का वर्णन करते है]

सज्जन आचार्यो ने दिग्व्रत, देशव्रत व अनर्थदण्डव्रत के भेद से गृहस्थ व्रतियो के तीन गुणव्रत निरूपण किये है ॥ १७९ ॥

दिग्व्रत व देशव्रत का लक्षण—

पूर्व व पश्चिम-आदि समस्त दशो दिशाओ मे से अमुक दिशा मे नियमित गमन करना, अर्थात्—अमुक दिशा मे जन्मपर्यन्त इतने योजन या इतने कोश तक ही जाऊँगा, उससे बाहर न जाना दिग्व्रत है और (दिग्विरति के भीतर कुछ समय के लिए) अधः व ऊर्ध्व-आदि समस्त देशो मे से अमुक देश मे ही मेरा नियमित गमन होगा, इससे बाहर नही जाऊँगा, यह देशव्रत है ॥ १८० ॥

इन व्रतो से लाभ—

इस प्रकार दिशा और देश का नियम करने के कारण अवधि से बाहर की भोगोपभोग वस्तुओ मे हिंसा, लोभ व उपभोग-आदि का त्याग हो जाने से चित्त काबू मे होता है या मनोनिग्रह होता है ॥ १८१ ॥ तीनो गुणव्रतो की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ यह व्रती श्रावक जहाँ जहाँ जन्म लेता है वहाँ वहाँ आज्ञा व ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ १८२ ॥ दिशा और देश के किये हुए प्रमाण का उल्लघन करने से (उससे बाहर चले जाने से) दिग्व्रती व देशव्रती को प्रायश्चित्त लेना पडता है ॥ १८३ ॥

अब अनर्थदण्ड व्रत का निरूपण करते है—मयूर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सर्प और नेवला-आदि हिंसक जन्तुओ का पालना, विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, चाबुक, जाल व रस्सी-आदि हिंसा के साधनो को दूसरो को देना, पाप का उपदेश देना, आर्त व रौद्रध्यान करना, हिंसा-प्रधान क्रीडा करना, निष्प्रयोजन पृथिवी-खोदना-आदि, दूसरो को कष्ट देना, चुगली करना, शोक करना व दूसरो को रुलाना एव इसी प्रकार के दूसरे कार्य करना, जो कि प्राणियो का बध, वधन करनेवाले है और दूसरे के रोक रखने मे कारण है, उन्हे अनर्थ दण्ड कहते है, क्योकि

---

*, 'दिग्देशानर्थदण्डविरति—' । मोक्षशास्त्र ७–२१ । १ 'दिग्वलय परिगणित कृत्वातोऽह बहिर्न यास्यामि । इति सकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥'—रत्नकरण्ड श्रा० । २ इयती—नियमिता । ३ 'अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् । पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥'—रत्न० । ४ दिशा । ५ लघनात् । ६ 'मण्डलविडालकुक्कुट—इत्यादि ॥ ८१ ॥ अमितगति० ६-८१ । 'विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादि हिंसोपकरणप्रदान हिंसाप्रदानम् ।—सर्वार्थसिद्धि ७-२२ । ७ नकुल । ८ पापोपदेश । ९ आखेटकादि । १० वृथाक्रिया निष्प्रयोजन भूखनन, जलस्फालन, अनलसमेन्धन, पवनकरणमेकेन्द्रियहिंसन च । ११ क्रन्दित रुदित—क्रुष्ट । १२, ससार ।

पोषण क्रूरसत्त्वाना हिंसोपकरणक्रियाम् । देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुधी ॥१८७॥
अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्य देशतो यति । [1]सुहृत्ता सर्वभूतेषु स्वामित्व च प्रपद्यते ॥१८८॥
वञ्चनारम्भहिंसानामुपदेशात्प्रवर्तनम् । भाराधिक्याधिकक्लेशौ तृतीयगुणहानये ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिशत्तम कल्प ।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणे श्रीमन्नेमिदेवभगवत शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्ड-मण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्च-रित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वास ।

उनसे ससार की वृद्धि होती है ।। १८४-१८६ ।। अपना आचार उत्तम बनाने की बुद्धि-युक्त हुए देशव्रती श्रावक को हिसक जीवो का पोषण नही करना चाहिए एव हिसा के उपकरणो को किसी के लिए नही देना चाहिए ।। १८७ ।।

अणुव्रती श्रावक अनर्थ दण्डो का त्याग करने से अवश्य ही समस्त प्राणियो की मित्रता व उनका स्वामित्व प्राप्त करता है ।। १८८ ।। खोटा उपदेश देकर दूसरो को धोखा देना, आरम्भ और हिसा का प्रवर्तन करना, शक्ति से अधिक बोझा लादना और अधिक कष्ट देना ये पाँच कर्म अनर्थदड व्रत को हानि पहुँचाते है, अर्थात्—इनसे अनर्थ दण्डव्रत सदोष हो जाता है, अत अणुव्रती श्रावक को इन कामो से दूर रहना चाहिए ।। १८९ ।।

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे तीन गुणव्रतो का निरूपण करनेवाला यह तेतीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार समस्त तार्किक-चक्रवर्तियो मे चूडामणि (शिरोरत्न या सर्वश्रेष्ठ) श्रीमदाचार्य 'नेमिदेव' के शिष्य 'श्रीमत्सोमदेवसूरि' द्वारा, जिसके चरणकमल तत्काल निर्दोष गद्य-पद्यविद्याधर-समूह के चक्रवर्तियो के मस्तको के आभूषण हुए हे, रचे हुए 'यशोधर महाराज-चरित' मे, जिसका दूसरा नाम 'यशस्तिलकचम्पू महा-काव्य' है, 'सच्चरित्र चिन्तामणि' नामका सप्तम आश्वास पूर्ण हुआ ।



---

१ सुहृत्ता मैत्री ।

अष्टम आश्वासः

आदौ सामायिक कर्म प्रोषधोपासनक्रिया । [1]सेव्यार्थनियमो दान शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ।। १ ।।
आप्तसेवोपदेश स्यात्समय समयार्थिनाम् । नियुक्त तत्र यत्कर्म त[2]त्सामायिकमूचिरे ।। २ ।।
[3]आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् । [4]तार्क्ष्यमुद्रा न कि कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम्[5] ।। ३ ।।
अन्त शुद्धि बहि शुद्धि विदध्याद्देवतार्चनम् । [6]आद्या [7]दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या[8] स्नानाद्यथाविधि ।। ४ ।।
सभोगाय विशुद्धचर्थ स्नान धर्माय च स्मृतम् । धर्माय तद्भवेत्स्नान यत्रामुत्रोचितो विधि ।। ५ ।।
नित्यस्नान गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे । यतेस्तु [9]दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ।। ६ ।।

इस प्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री, श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य एव वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व साहित्य विभाग के अध्यक्ष 'न्यायाचार्य' 'साहित्याचार्य व कवि चक्रवर्ती श्रीमत्मुकुन्द शास्त्री खिस्ते के प्रधान शिष्य, नीतिवाक्यामृत के भाषाटीकाकार, सम्पादक व प्रकाशक, 'जैन न्यायतीर्थ, प्राचीन न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद विशारद एव महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि विभूषित, सागर-निवासी व परवार जैनजातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य की 'यशस्तिलक दीपिका' नाम की भाषाटीका मे 'सच्चरित्र चिन्तामणि' नामका सप्तम आश्वास पूर्ण हुआ।

[अब शिक्षाव्रतो को कहते है—]

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और पात्रदान ये चार शिक्षाव्रत है ।। १ ।। सामायिक का स्वरूप अर्हत्परमेष्ठी की पूजा करने का जो उपदेश है, उसे 'समय' कहते है एव उसमे निर्धारित क्रियाकाण्डो (जिन-स्नपन, पूजा, स्तुति व जप-आदि) को शास्त्रकारो ने उसके इच्छुक श्रावको का सामायिक व्रत कहा है ।। २ ।।

मूर्तिपूजा का विधान—जिनेन्द्र भगवान् के न होने पर भी उनकी मूर्ति की पूजा पुण्यवध के लिए होती है। गरुड के न होने पर भी क्या उसकी मुद्रा विष की शक्ति को नष्ट नही करती ? ।। ३ ।। विवेकी पुरुष को अन्तरङ्ग शुद्धि व वहिरङ्ग शुद्धि करके देवपूजा करनो चाहिए। चित्त से दुष्परिणामो के त्याग करने से अन्तरङ्ग शुद्धि होती है और विधिपूर्वक स्नान करने से वहिरङ्ग शुद्धि होती है ।। ४ ।। स्नान-विधि का निरूपण—भोजन के लिए, विशुद्धि के लिए और धर्म के लिए आचार्यो ने स्नान करना कहा है। जिसमे परलोक (स्वर्गादि) के योग्य कर्तव्य (दान, व्रत, पूजा व अभिषेक- आदि) किये जाते है, वह स्नान धर्म के लिए कहा गया है ।। ५ ।। देव-पूजा को स्वीकार करने के लिए गृहस्थ को सदा स्नान करना चाहिए और मुनि को

---

१ भोगोपभोगसख्या। २ 'आसमयमुक्तिमुक्त'—इत्यादि ।। ९७ ।। रत्नकरण्ड श्रा०। 'रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य। तत्त्वोपलब्धिमूल बहुश सामायिक कार्यम् ।।१४८।।'—पुरुषार्थ०। ३ तीर्थेशासन्निधानेऽपि प्रतिमा धर्महेतवे। वैनतेयस्य मुद्राऽपि विष हन्ति न सशय ।।२२२।।—प्रबोधसार। ४ गरुड। ५ अपनोदनम्। ६ अन्त शुद्धि। 'मध्यशुद्धि बहि शुद्धि विदध्यात्तदुपासने। पूर्वा स्यात् स्वान्तनैर्मल्यात् परा स्नानाद्यथाविधि ।।२२३।।' —प्रबोध०७ 'दुष्परिणामपरिहारात्' टि० ख०, घ०, च०। पञ्जिकाकारस्तु 'दौश्चित्यमार्तरौद्रध्याने' इत्याह। ८ वहि शुद्धि। ९ दुर्जनश्चाण्डालरज स्वलादि ।

वातातपादि*ससृष्टे भूरितोये जलाशये[1] । अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालित भजेत् ॥ ७ ॥
पादजानुकटिग्रीवाशिर पर्यन्तसश्रयम् । स्नान पञ्चविध ज्ञेय यथादोष शरीरिणाम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मण । यद्वा तद्वा भवेत्स्नानम[2]न्त्यमन्यस्य तद्द्वयम्[3] ॥ ९ ॥
*सर्वारम्भविजृम्भस्य[4] ब्रह्मजिह्मस्य[5] देहिन । अविधाय बहि शुद्धि नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥ १० ॥
अद्भि शुद्धि निराकुर्वन्मन्त्रमात्रपरायण । स मन्त्रै शुद्धिभाग्नून भुक्त्वा [6]हत्वा *विहृत्य च ॥ ११ ॥
[7]मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च । शौच तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता[8] भवेत् ॥ १२ ॥
[9]बहिर्विहृत्य सप्राप्तो नानाचाम्य गृह विशेत् । स्थानान्तरात्समायात [10]सर्व [11]प्रोक्षितमाचरेत् ॥ १३ ॥
[12]आप्लुत [13]सप्लुतस्वान्त शुचिवासोविभूषित । [14]मौनसयमसपन्न कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥ १४ ॥

दुर्जन (कापालिक, रजस्वला व चाण्डालादि) से छू जाने पर ही स्नान करना चाहिए। यदि मुनि को दुर्जन का स्पर्श नही हुआ है, तो उसका स्नान निन्द्य है ॥ ६ ॥ प्रचुर जलराशिवाले व वहती हुई वायु से स्पर्श किये हुए और सूर्य की किरणो से सर्वरूप से स्पर्श किये हुए तालाव-आदि जलाशय मे अवगाहन करके स्नान करना उचित है, किन्तु जिस जलाशय व कुआ-आदि का पानी धूप व वायु से स्पर्श किया हुआ नही है, उसे छानकर ही स्नान मे प्रयोग करना चाहिए ॥ ७ ॥ स्नान पाँच प्रकार का जानना चाहिए। पैरो तक, घुटनो तक, कमर पर्यन्त, गर्दन तक और सिर तक। इनमे से मनुष्यो को उनके दोष के अनुसार स्नान करना चाहिए ॥ ८ ॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकार के आरम्भो (कृषि व व्यापारादि) का त्यागी है, उसे इनमे से कोई भी स्नान कर लेना चाहिए, किन्तु दूसरे गृहस्थो को तो कण्ठ पर्यन्त या मस्तक पर्यन्त स्नान करना चाहिए। अर्थात्—आरम्भ करने पर कण्ठ-स्नान और ब्रह्मचर्य के भङ्ग होने पर मस्तक-पर्यन्त स्नान करना चाहिए ॥९॥ जो समस्त प्रकार के आरम्भो (कृषि व व्यापार-आदि) मे प्रवृत्त है और ब्रह्मचर्य के पालन मे कुटिल है, उसे कण्ठ पर्यन्त व मस्तक पर्यन्त स्नान द्वारा वाह्यशुद्धि किये विना देवोपासना का अधिकार नही है ॥ १० ॥

स्नान-हीन साधु की शुद्धि—

जल-स्नान से शुद्धि को निराकरण करता हुआ (जल-स्नान न करनेवाला) साधु केवल मन्त्र-मात्र के जप मे तत्पर होता है, क्योकि वह आहार, विहार व मल-मूत्रादि क्षेपण व दहन करके उनसे उत्पन्न हुए दोषो के निवारण करने के लिए निस्सन्देह मन्त्रो द्वारा शुद्ध हो जाता है, उसे जल-स्नान द्वारा वाह्य शुद्धि की आवश्यक्ता नही रहती ॥ ११ ॥ अत प्रासुक व प्रशस्त मिट्टी से अथवा ईट के चूर्ण से अथवा राख या गोवर से तब तक हस्तादि की शुद्धि करनी चाहिए, जब तक उनमे निर्मलता (शुद्धि) न आजाय ॥ १२ ॥ वाहर से घूम करके गृह पर आए हुए मानव को आचमन (कुल्ला) किये विना गृह मे प्रवेश नही करना चाहिए। एव अन्य स्थान से आई हुई समस्त वस्तुओ को जल-सिञ्चन से पवित्र करके व्यवहार मे लानी चाहिए ॥ १३ ॥ गृही श्रावक को

* 'सस्पृष्टे' इति मु० व क०। १ तडागादौ। २-३ क्रमेण ग्रीवा शिर, कण्ठ शिरो वा स्नान गृहस्थस्य, आरभे सति कण्ठस्नान, ब्रह्मभङ्गे सति मस्तकस्नान। * 'सर्वारम्भप्रवृत्तस्य' इति क०। ४ आरभे प्रवृत्तस्य। ५ 'वक्रस्य' टि० ख०, पञ्जिकाया तु 'ब्रह्मचर्य-मन्दस्य' इति प्रोक्त। ६ दहन कृत्वा। * 'विशुद्धय च' इति क०। ७ 'मृत्स्ना अजन्तुका भूमि' प०, 'प्रशस्तमृत्तिकया' टि० व० च०। ८ गन्धलेपहानि। ९ आचमेद्धौतहस्ताङ्घ्रि पीते वारिणि सर्वदा। चतुराहारभुक्तौ च कृतायामुदक पिवेत् ॥ १ ॥ १० सव वस्तु। ११ अभ्युक्षित्वा। १२ स्नात। १३ सस्कृतचित्त अथवा अव्यग्रचित्त। १४ मौनसयमसम्पन्नैर्देवोपास्तिर्विधीयताम्। दन्तधावनशुद्धास्यैर्धौतवस्त्रपवित्रितै ॥२६॥—प्रबोधसार।

दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः । असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥ १५ ॥

[1]होमभूत[2]बली पूर्वरुक्तौ *भक्तविशुद्धये । भुक्त्यादौ सलिलं [3]सर्पिरौधस्य[4] च [5]रसायनम् ॥१६॥

एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया । दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत्[6] ॥ १७ ॥

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः । लोकाश्रयो भवेदाद्यः [7]परः स्यादागमाश्रयः ॥ १८ ॥

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा । श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ १९ ॥

स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् । तत्क्रियाविनियोगाय [8]जैनागमविधिः परम् ॥ २० ॥

[9]यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र[10] दुर्लभा । संसारव्यवहारे तु स्वतः सिद्धे वृथागमः ॥ २१ ॥

शुद्ध जल से स्नान किया हुआ, अव्यग्रचित्त-युक्त होकर, पवित्र वस्त्रों से सुशोभित एवं मौन व संयम से युक्त होकर देवपूजा की विधि करनी चाहिए ॥ १४ ॥ विवेकी पुरुष को दातोन से मुख शुद्ध करके अपना मुख, मुख-पर वस्त्र लगाकार आच्छादित करके तथा विना स्नान किये हुए दूसरे ममुष्यों का स्पर्श न करके जिन-पूजा करनी चाहिए ॥ १५ ॥

पूर्वाचार्यों ने भोजन की शुद्धि के लिए भोजन करने से पहले होम (अग्नि में भोज्यांश का हवन करना) और भूतवलि (पक्षी-आदि जीवों के लिए प्राङ्गण में कुछ अन्न का प्रक्षेपण करना) का विधान कहा है। अर्थात्—शिष्ट पुरुषों को भोजन के अवसर पर कुछ अन्न अग्नि में होम करना चाहिए और कुछ अन्न आँगन में प्रक्षेपण करना चाहिए, जिससे उनका भोज्य पदार्थ विशुद्ध हो जाता है। एवं भोजन में जल, घी, दूध व तक्र का सेवन रसायन-सरीखा बल व वीर्यवर्धक कहा है ॥ १६ ॥ उक्त विधि (भोजन के शुरु में होम-आदि) करना पुण्य-निमित्त नहीं है और उसका न करना अधर्म-निमित्त भी नहीं है। उक्त विधि-विधान तो केवल उस प्रकार माङ्गलिक (शकुन-निमित्त) है जिस प्रकार विवाह-आदि लौकिक शुभ कार्यों के प्रारम्भ में डाभ का स्थापन, पुष्प व अक्षतों का प्रक्षेपण एवं शास्त्र-स्थापन और वन्दनवार बाँधना-आदि विधि-विधान माङ्गलिक (शकुन-निमित्त) होता है ॥ १७ ॥

निश्चय से गृहस्थों का धर्म दो प्रकार का है। एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। इनमें से लौकिक धर्म लोक के आधार वाला है। अर्थात्—लोक की रीति के अनुसार होता है और दूसरा पारलौकिक धर्म आगमाश्रय है। अर्थात्—पूर्वापर के विरोध से रहित प्रामाणिक द्वादशाङ्ग शास्त्रों का आधार लेकर होता है—उनके अनुसार होता है ॥ १८ ॥ ब्राह्मण-आदि वर्णों की समस्त जातियाँ अनादि (बीज-वृक्ष की तरह प्रवाह रूप से चली आनेवाली) हैं और उनकी क्रियाएँ भी अनादि हैं, उसमें वेद व स्मृति ग्रन्थ प्रमाण हों इसमें हमारी (आर्हतों—जैनों की) कोई हानि नहीं है ॥ १९ ॥

जिसप्रकार रत्नों की, खानि से निकले हुए रत्नों के लिए संस्कार-विधि (शाणोल्लेखन-आदि) महत्त्वपूर्ण होती है उसीप्रकार जाति (मातृ-पक्ष) से विशुद्ध ब्राह्मण-आदि वर्णवाले मानवों की क्रियाओं

१-२ भोजनावसरे किंचिदग्नौ किंचित्प्राङ्गणेऽन्नं क्षिप्यते। 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्' ॥७०॥ —मनुस्मृति ३ अ०। * 'भुक्तिविशुद्धये' इति क०। ३ 'सर्पिरूधस्य' इति क०। 'घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते' ॥३४॥ —नीतिवाक्यामृत हमारी भाषा टीका पृ० ३२८, अर्थात्—घृत-पानपूर्वक भोजन करनेवाले मनुष्य की जठराग्नि प्रदीप्त होती है और नेत्रों की रोशनी भी बढ़ जाती है ॥३४॥ ४ दुग्ध। ५ मथित। ६ शकुनार्थं वद्यते। ७ पारलौकिकः। ८ निश्चयाय। ९ संसारभ्रमणमोचनमति-र्दुर्लभा। १० लौकिकव्यवहारे।

तथा च । सर्व एव हि जैनाना प्रमाण [1]लौकिको विधि । यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।। २२ ।।

इत्युपासकाध्ययने स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिशत्तम कल्प ।

[2]द्वये देवसेवाधिकृता [3]सकल्पिताप्तपूज्यपरिग्रहा कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च, *सकल्पोऽपि [4]दलफलोपलादिष्विव न समयान्तरप्रतिमासु विधेय । यत —

[5]शुद्धे वस्तुनि सकल्प कन्याजन इवोचित । [6]नाकारान्तरसक्रान्ते यथा [7]परपरिग्रहे ।।२३।।

तत्र[8] प्रथमान्प्रति [9]समयसमाचारविधिमभिधास्याम । तथा हि ।

(गर्भान्वय, दीक्षान्वय व कर्त्रन्वय क्रियाओ) के निश्चय करने के लिए जैनशास्त्रो का विधि-विधान ही उत्कृष्ट है ।। २० ।। क्योकि शास्त्रान्तरो मे ससार के भ्रमण से छुडानेवाला सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है और लौकिक व्यवहार तो स्वत सिद्ध है, उसमे आगम की अपेक्षा करना निरर्थक है ।। २१ ।। निस्सन्देह जैनधर्मानुयायिओ को वे समस्त लौकिक विधि-विधान (विवाह-आदि) प्रमाण है, जिनमे उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता और चारित्र (अहिंसा-आदि) दूषित नही होता । अर्थात्—ऊपर कहे हुए होम, भूतवलि व अतिथि-सत्कार-आदि लौकिक विधि विधान मे सम्यक्त्व नष्ट नही होता और अहिंसादि व्रत की क्षति नही होती, अत प्रमाण है, परन्तु वेद और स्मृति ग्रन्थो मे यज्ञ मे किये हुए प्राणिवध को अहिंसा माना है, उसका आचरण अहिंसाव्रत का घातक है और सम्यक्त्व को नष्ट करता है अत जैनो को प्रमाण नही है ।। २२ ।।

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे 'स्नान-विधि' नाम का चौतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

देवपूजा की विधि

देवपूजा के अधिकारी मानव दो प्रकार के हैं—

१ जिन्होने पत्र व पुष्प-वगैरह शुद्ध पदार्थों मे जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके, उन्हें पूज्य स्वीकार किया है और २ जिन्होने जिन-बिम्बो मे जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके उन्हे पूज्य स्वीकार किया है, परन्तु विवेकी पुरुष जिसप्रकार पत्र, फल व पाषाण-आदि शुद्ध वस्तुओ मे जिनेन्द्र भगवान्-आदि की स्थापना करता है उस प्रकार उसे दूसरे मतो की ब्रह्मा व विष्णु-आदि की मूर्तियो मे ऋषभदेव-आदि तीर्थङ्करो का सकल्प कदापि नही करना चाहिए ।

क्योकि अविरुद्ध या शुद्ध पदार्थ मे जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना उसप्रकार उचित है जिस प्रकार शुद्ध कन्या मे पत्नी का सकल्प करना उचित होता है । जिस प्रकार दूसरे से विवाहित कन्या मे पत्नी का सकल्प उचित नही है । उसी प्रकार अन्य देवाकार को प्राप्त हुए विष्णु-आदि की प्रतिमाओ मे जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना अयोग्य (आगम से विरुद्ध) है ।। २३ ।।

अब हम पत्र व पुष्प-आदि मे जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना करके देव-पूजा करनेवाले श्रावको के प्रति पूजा-विधि के विषय मे धर्मोपदेश देंगे—

---

१ लौकिको विधि विवाह । २ द्विप्रकारा पुरुषा । ३ 'सकल्पिताप्तपूजिता' इति क० । * 'सकल्पितोऽपि' इति क० । ४ 'यथा दलफलादिषु सकल्पो जिनस्य क्रियते तथा अन्यदेवप्रतिमाया जिनसकल्पो न क्रियते इत्यर्थ' टि० घ०, 'न कर्तव्य क्व समयान्तरप्रतिमासु केष्विव दलादिषु इव । अन्यदेवहरहिरण्यगर्भप्रतिमाविषये जिनसकल्पो न क्रियते' इति टि० ख० । ५ अविरुद्धे । ६ न अन्यदेवाकारसक्रान्ते उपलादौ । ७ यथा परपरिग्रहे परिणीतकन्याया सकल्पोऽनुचित्त अयोग्य । ८-९ सकल्पितासपूज्यपरिग्रहान् प्रति धर्मोपदेश दास्याम ।

अर्हन्न[1]तनुमध्ये दक्षिणतो [2]गणधरस्तथा पश्चात् । [3]श्रुतगी साधवस्तदनु च पुरोऽपि [4]दगवगमवृत्तानि ॥२४॥
भूर्जे फलके [5]सिचये शिलातले [6]सैकते क्षितौ व्योम्नि ।
हृदये चैते स्थाप्या समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥२५॥
रत्नत्रयपुरस्कारा पञ्चापि परमेष्ठिन । भव्यरत्नाकरानन्द कुर्वन्तु भुवनेन्दव ॥२६॥

ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्यापरम्परस्य [7]परानपेक्षापर्ययप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञानसाम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिशदतिशयविशेषविराजितस्य षोडशार्धलक्षणसहस्राङ्कितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य द्वादशगणप्रमुखमहामुनिमन प्रणिधान[8]सनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य विरहिता-रिरजोरह कुहकभावस्य[9] समवमरणसरोवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य दुष्पारा[10]जवञ्जवीभावजलनिधिनि-मज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणिप्रभा[11]भोगनभोविजृम्भमाणचरणनखनक्षत्र-निकुरुम्बस्य सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेत[12]कल्पानोकुहस्य कीर्ति[13]पोतिकाप्रवर्धनकामधेनो, [14]अवीचि-परिचयखलीकारकारणाभिधानपात्रमन्त्रप्रभावस्य सौभाग्यसौरभसपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य सौरूप्योत्पत्तिमणि[15]मकरि-

---

पूजा-विधि के वेत्ताओ को सदा अर्हन्त और सिद्ध को पत्र व पुष्पादि के मध्य मे, आचार्य को दक्षिण मे, उपाध्याय को पश्चिम मे, साधु को उत्तर मे और पूर्व मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को क्रम से भोजपत्र पर, लकडी के पटिये पर, वस्त्र पर, शिलातल पर, बालुकामय प्रदेश पर, पृथ्वी पर, आकाश मे और हृदय मे स्थापित करना चाहिए ॥२४-२५॥ सम्यग्दर्शन-आदि रत्नत्रय से पूजनीय और तीन लोक के लिए चन्द्रमा-सरीखे पाँचो परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्र को प्रमुदित करे ॥ २६ ॥

अर्हन्त पूजा

मै ऐसे भगवान् अर्हन्त परमेष्ठी की आठ द्रव्यो से पूजा करता हूँ, जिनकी विशेष माहात्म्यवाली पूजा परम्परा समस्त लोक के स्वामियो (इन्द्र-आदि) द्वारा की गई है। जो दूसरे (चक्षुरादि इन्द्रिय) की अपेक्षा से रहित परमात्मपर्याय से उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों के अवलाकनरूप केवलदर्शन व केवलज्ञानरूप साम्राज्य के चिह्नरूप पचकल्याणको, आठ प्रातिहार्यो एव चौतोस अतिशयो से विशेषरूप से सुशोभित हैं। जिनके दिव्य परमौदारिक शरीर का प्रभाव एक हजार आठ शुभ लक्षणो से युक्त है। जिनके परमेश्वर व परमसर्वज्ञ-आदि एकहजार नाम बारह गण (शिक्षक, वादी व विक्रियर्द्धि-आदि) के मुनियो मे प्रमुख महा-मुनियो (गणधरो) के मन मे चित्त की एकाग्रता द्वारा आरोपण किये जा रहे है। जो मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शना-वरण एव अन्तराय इन घातिया कर्मरूप इन्द्रजाल से रहित है। जो समवसरणरूपी सरोवर मे आये हुए तीनलोक के प्राणीरूप कमल-समूह को विकसित करने के लिए सूर्य-मण्डल-सरीखे है। जिनका उत्कृष्ट द्वादशाङ्ग शास्त्र दु ख से भी पार करने के लिए अशक्य ससाररूप समुद्र मे डूबे हुए प्राणी-समूह के लिए हस्तावलम्बन-सरीखा है। जिनके चरणो के नखरूपी नक्षत्र-समूह, भक्ति के भार से नम्रीभूत हुए तीनलोक के स्वामियो (इन्द्र-आदि) के मुकुटो मे जडे हुए मणियो की कान्ति के विस्तार-रूप आकाश मे विस्तृत हो रहा है। जो सरस्वती को वर का प्रसाद देने के लिए चिन्तामणि हैं। जो लक्ष्मीरूपी लता के आश्रय के लिए कल्पवृक्ष-से है। जो कीर्तिरूपी

---

१ सिद्ध । २ आचार्य । ३ उपाध्याय । ४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । ५ वस्त्रे । ६ पुलिने । ७ परस्य अनपेक्षा या पर्ययसगति, अनुक्रमो वा। ८ आरोप्यमाण । ९ अरिर्मोह, रजो ज्ञानदर्शनावरणद्वय, रह अन्तराय, कुहकमिन्द्रजाल । १० आजवजवीभाव ससार । ११ विस्तार एव नभ । १२ स्थान । १३ बालिका । १४ अवीचिर्नरकविशेषस्तस्य परिचय सगति । १५ 'मकरी' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'मणिमकरिका पुत्तलिका' इत्याह ।

काघटनविकटाकारस्य[1]रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा । अपि च ।

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम्[2] । आरोग्याय जिनाधीशं करोम्यर्चनगोचरम् ।। २७ ।।

ॐ [3]सहचरसमीचीनचा[4]र्वीत्रयविचारगोचरोचितहिताहितप्रविभागस्य अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मुक्ताफलमिव उपलादिव काञ्चनम[5]स्मादेवात्मनः [6]कारणविशेषोप[7]सर्पणवशादाविर्भूतमखिलमलविलयलब्धात्मस्वभावमसममसहायमक्रममवधीरितान्य[8]सनिधिव्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपैकनिबन्धनम[9]न्तःप्रकाशम[10]ध्यासितवन्तमनन्तदर्शनवैशद्य[11]विशेषसाक्षात्कृतसकलवस्तुसर्वस्वमन[12]वसानसुख[13]स्रोतसमपर्यन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावभासमसदृशा[14]भिनिवेशावगाहमलघुगुरुव्यपदेशमपगतबाधापराकारसक्रममतिविशुद्धस्वभावतया निवृत्ताशेषशारीर-

---

बछिया की वृद्धि के लिए कामधेनु है। जिनके नामरूपी मन्त्र का प्रभाव नरक विशेष की सगति को नष्ट करने मे कारण है। जो सौभाग्यरूपी सुगन्धि की प्राप्ति मे कल्पवृक्ष के पुष्पो का गुच्छा-सरीखे हे। जो अनोखे सौन्दर्य की उत्पत्तिरूपी मणि-जडित पुतली की रचना के लिए स्वर्णकार-जैसे है एव जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय से अलकृत है।

मै जन्म-जरा-मरणरूपी रोग की निवृत्ति के लिए मनुष्य, नागासुर व देवरूपी कमलो के विकसित करने के लिए सूर्य की कान्ति को धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेव की पूजा करता हूँ ।। २७ ।।

सिद्ध-पूजा

मै ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की आठ द्रव्यो से पूजा करता हूँ। जिनका हिताहित का प्रकृष्ट ज्ञान पूर्वजन्म से आये हुए मति, श्रुत व अवधिज्ञान के विचार के विषय के योग्य है, इसीलिए गुरु-आदि दूसरे की अपेक्षा न करने के कारण जो स्वयभू है। जिसने ऐसे केवलज्ञान से अधिष्ठित ऐसे परमात्मा का प्राप्त किया है, जो कि (केवलज्ञान) इसी पूर्व ससारी आत्मा से ही घातिया कर्मो को क्षय करनेवाली कारण सामग्री (द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव-आदि एव सम्यग्दर्शन आदि) के सन्निधान से उस प्रकार उत्पन्न हुआ है, जिसप्रकार कारण-सामग्री (स्वाति नक्षत्र का उदय-आदि) के सन्निधान से जल से [सीप मे] मोती उत्पन्न होता है और जिसप्रकार कारणसामग्री (अग्निपुट-पाक व छेदन, भेदन-आदि) के सन्निधान से सुवर्णपाषाण से सुवर्ण उत्पन्न होता है। जिसकी उत्पत्ति समस्त मलो (घातिया कर्म व उनके उदय से होनेवाले अज्ञानादि दोषो) के क्षय से हुई है, जो अनोखा और चक्षुरादि इन्द्रियो की सहायता से शून्य है। जो क्रम-रहित है, अर्थात्—समस्त पदार्थो को युगपत् जानने वाला है। जिसने दूसरे पदार्थो की निकटता व दूरी तिरस्कृत की है। जो सीमा को उल्लघन करने वाला व इन्द्रियो के व्यापार-आदि प्रयत्नो के विना उत्पन्न होनेवाला एव जो अतिशय की सीमा का अन्त करने वाला है और जिसकी उत्पत्ति मे केवल विशुद्ध आत्मस्वरूप ही कारण है। जिसमे (परमात्मा मे) अनन्त दर्शन की विशेष निर्मलता के कारण समस्त पदार्थो का सार प्रत्यक्ष किया गया है। जो अनन्त सुख का झरना है। जो अनन्तवीर्य-शाली है। जिसमे चक्षुरिन्द्रिय से अगोचर सूक्ष्मत्व प्रति जीवी गुण की प्रतीति है। जिसमे अनोखे परमावगाढ सम्यक्त्व के साथ अवगाह गुण वर्तमान है। जो अगुरु लघु गुण

---

१ 'जडिया—स्वर्णकार' टि० ख०, पञ्जिकायां तु 'विकटाकार टक.' इति प्रोक्तम्। २ विरोचनो रवि। ३ पूर्वजन्मागत। ४ चार्वीत्रय मति श्रुतमवधिश्च। ५ पूर्वससारिण एव। ६ द्रव्यक्षेत्रकालभावादि, खय उवसमो विसोही देसण पाउग्गकरणलद्धीए चत्तारि विसामण्णा करणे पुण होई सम्मत्त ।। १ ।। ७ आगमन। ८ सामीप्य। ९ केवलज्ञान। १०. प्राप्तवन्त। ११ निर्मलता। १२-१३ ईदृश परमात्मान। १४ अभिनिवेश सम्यक्त्व।

द्वारतया च मनाङ्मुक्तपूर्वावस्थान्तरमरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवनशिर शेखरायमाणप[1]दविश्वंभरमुपशान्तसकलससार-दोषप्रसर परमात्मानमुपेयुषो [2]गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुर सरस्य भगवत सिद्धपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा । अपि च ।

[3]प्रत्नकर्मविनिर्मुक्तान्[4]नूत्नकर्मविवर्जितान् । यत्नत सस्तुवे सिद्धान्रत्नत्रयमहीयस ॥ २८ ॥

ॐ पूज्यतमस्य [5]उदितोदितकुलशीलगुरुपरम्परोपात्तसमस्तैतिह्यरहस्यसारस्य [6]अध्ययना[7]ध्यापन[8]वि[9]नि-योगविनयनियमोप[9]नयनादिक्रियाकाण्डनि[10]स्नातचित्तस्य चातुर्वर्ण्यसघप्रवर्धनधुरधरस्य द्विविधात्मकधर्मावबोधनविधूतैहिकव्यपेक्षासबन्धस्य सकलवर्णाश्रमसमयसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविदलितनिखिलजनतारविन्दिनीमिथ्यात्व-महामोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतप प्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यप्रशिष्यसपदाशेषमिव भुवनमुद्धर्तुमुद्यतस्य भगवतो रत्नत्रयपुर सरस्याचार्यपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च । विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यकमुपेयुष । आचार्यवर्यानर्चामि सचार्य हृदयाम्बुजे ॥ २९ ॥

से युक्त है। जो बाधा और पर के आकाररूप सक्रमण से रहित है। विशेष विशुद्ध स्वभाव के कारण और समस्त शारीरिक द्वारो के हट जाने से जो पूर्व अवस्था से कुछ छुटकारा पा चुका है, अर्थात्—जो पूर्व-अवस्था से कुछ ऊँन है। जिसमे रूप, रस, गन्ध शब्द व स्पर्श नही है व जो समस्त लोक के शिर पर मुकुट के समान आचरण करनेवाले स्थान से जगत् का पालन करनेवाला है एव जिसमे समस्त सासारिक अज्ञानादि दोषो का विस्तार नष्ट हो चुका है। जो (सिद्ध परमेष्ठी) तीर्थङ्कर परमदेव द्वारा भी गुरु माने गये है और जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से अलकृत हैं।

पुराने कर्मो के बन्धन से छुटे हुए और नवीन कर्मा से रहित तथा रत्नत्रय से महान् उन सिद्धो का मै यत्नपूर्वक स्तवन करता हू ॥ २८ ॥

आचार्य-पूजा

मै विशेष पूज्य ऐसे भगवान् आचार्य परमेष्ठी की आठ द्रव्यो से पूजा करता हूँ, जिन्होने जाति व आचरण से शुद्ध कुल व सदाचार से विभूषित हुई गुरु परम्परा द्वारा समस्त आगम के गोप्यतत्त्व का सार ग्रहण किया है। जिनका चित्त स्वय शास्त्रो का पठन-पाठन, अधिकार, विनय, नियम (व्रत व तप का पालन) व दीक्षा व व्रतारोपण विधि-आदि क्रिया-काण्डो से पवित्र है। जो चार वर्ण (ऋषि, यति, मुनि व अनगार) के साधु-सघ की वृद्धि का भार वहन करनेवाले हैं। जिन्होने मुनि व श्रावक धर्म के ज्ञापन मे इस लोक सबधी सुख को अपेक्षा का सबध त्याग दिया है। जिन्होने समस्त वर्णो व आश्रमो की आगमानुकूल क्रिया-पद्धति के विचार के योग्य वचन-समूहरूपी किरणो द्वारा समस्त जनतारूपी कमलिनी का मिथ्यात्व व विशिष्ट अज्ञानरूप अन्धकार-पटल नष्ट कर दिया है। जिन्होने ज्ञान व तप के प्रभाव से जिन-शासन को उद्दीपित किया है और जो अपनी शिष्य-प्रशिष्य सम्पत्ति द्वारा समस्त लोक के उद्धार करने मे प्रयत्नशील-से रहते हैं एव जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से अलकृत है।

मै समस्त आगम को विचार करके आचार्यपद प्राप्त करनेवाले पूज्य आचार्यो को अपने हृदयकमल मे स्थापित करके उनकी पूजा करता हूँ ॥ २९ ॥

---

१ स्थान। २ तीर्थङ्करपरमदेवेन 'नम सिद्धेभ्य' इति वचनात्। ३ पुराण। ४ नव। ५ जात्याचरणशुद्ध। ६ स्वय पठन। ७ पाठन। ८ अधिकार। ९ दीक्षाव्रतारोपणादिविधि। १० पवित्र।

ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावारपारगमस्य अपार[1]सपरायारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गमार्गण[2]निरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तैकान्तवादमदमषीमलिनपरवादिकरिकण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठार[3]वायमाण[4]प्रमाणनय निक्षेपा[5]नुयोग[7]वाग्व्यतिकरस्य श्रवणग्रहणावगाहना[8]वधारण[9]प्रयोग[10]वाग्मित्वकवित्वगमक[11]-शक्तिविस्मापितविनतनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीमन्तप्रान्त[12]पर्यस्तोत्तसस्त्रक्सौरभाधिवासितपादपीठोपकण्ठस्य व्रतविद्यानवद्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुर सरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च । अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपारागमपारगान् । उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय[13] श्रुताप्तये ॥३०॥

ॐ [14]विदितवेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरण[15]करणत्रयविशुद्धित्रिपथगा[16]पगाप्रवाहनिर्मूलितमनोजकुज-

---

उपाध्याय-पूजा

मै ऐसे भगवान् उपाध्याय परमेष्ठी की आठ द्रव्यो से पूजा करता हूँ, जो श्रीमान् भगवान् अर्हन्त देव के मुखकमल से निकले हुए बारह अङ्गो (आचार-आदि), चौदह पूर्वो (उत्पादपूर्व-आदि) तथा चौदह प्रकीर्णको (सामायिक-आदि) के रूप मे विस्तीर्ण श्रुतरूपी समुद्र के पारगामी है। जो अपार ससाररूपी अटवी से निकलने के लिए वाधा-रहित मार्ग के अन्वेषण करने मे तत्पर हुए शिष्यजनो के लिए शरणभूत है। दुरन्त एकान्तवाद के मदरूपी कालिमा से मलिन हुए अन्यमतावलम्बीरूपी हाथियो के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप व अनुयोग से युक्त जिनका वचन-समूह सिंह के दहाडने के समान आचरण करता है। श्रवण, ग्रहण, अवगाहन (विचार करना), अवधारण, प्रयोग (शास्त्र के अर्थ को ज्ञापन करनेवाला वचन), वक्तृत्व-कला (शास्त्र के अर्थ को मुख द्वारा सूचित करना), कवित्व व तार्किक शक्ति द्वारा आश्चर्य-युक्त किये गए नम्रीभूत हुए मनुष्यो, देवो व विद्याधरो के स्वामियो के केशप्रान्त से नीचे गिरी हुई मुकुट माला के पुष्पो की सुगन्धि से, जिनके चरणो के आसन का निकट भाग सुगन्धित किया गया है और जिनका हृदय चारित्र व श्रुतज्ञान से पवित्र है एव जो पूज्य है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से अलकृत है।

मै पुण्य व श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ एकान्तवादियो को परास्त करनेवाले और अपार द्वादशाङ्ग आगम के पारगामी उपाध्याय परमेष्ठियो की पूजा करता हूँ ॥ ३० ॥

साधु-पूजा

मै विशेष पूज्य और ऐसे सर्वसाधु परमेष्ठी की आठ द्रव्यो से पूजा करता हूँ, जो मोक्षोपयोगी जीवादि तत्त्वो के ज्ञाता है। जिन्होने बाह्य और आभ्यन्तर चारित्र-पालनरूपी एव मन, वचन व काय की विशुद्धिरूपी गङ्गानदी के प्रवाह द्वारा कामदेवरूपी वृक्ष के कुटुम्ब का विस्तार जडमूल से उखाडकर फैक दिया है। जिन्होने

---

१ ससाराटवी। २ अवलोकन। ३ शब्दायमान। ४ वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतु प्रमाण। ५ प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेश-निरूपणप्रवणो नय। ६ शब्दसकल्पयोग्यतास्वरूपैर्वस्तुव्यवस्थापनहेतुर्निक्षेप। ७ सामान्यविशेषाभ्यामवशेषपदार्थावगमप्रश्न अनुयोग। ८ अवगाहन विमशनम्। ९ प्रयोग शास्त्राथज्ञापन वचन। १० 'वाचोयुक्ति पटुर्वाग्मी' इति टि० ख०, यश० पञ्जिकाकारस्तु 'शास्त्रपरिज्ञानस्य मुखसूचितत्व वाग्मित्व। तदुक्त—पुरत प्रशमितमिवालिखितमिव मनोनिषिक्तमिव हृदये गृष्ट ? (प्रविष्ट) यस्य शास्त्र स भवेत् ज्ञाता तदर्थस्य पातु वो निकषग्रावो' इत्यचीकथत्। ११ तार्किक सिद्धान्तज्ञाता। १२ अध पतित। १३ उप समीपे अय शुभावहो विधिर्यस्य स उपाय पुण्यमित्यर्थ पुण्यार्थं श्रुताथ च। १४ ज्ञाततत्त्वस्य। १५ मनोवाक्काय। १६ गगा।



कुटुम्बाडम्बरस्य अमराम्बरचरनरनितम्बिनी[1]कदम्बनदप्रादुर्भूतमदन[2]मदमकरन्ददुर्दिन*विनोदारबिन्द[3]चन्द्रायमाणोदितो-दितव्रतव्राता[4]पहसिता[5]र्वाचीनचरित्रच्युतविरञ्च[6]विरो[7]चनादि[8]वैखानसरसस्य[9] अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्ध्यान-धैर्यावधूतविश्वकप्रत्यू[10]हव्यूहैरनन्यजनसामान्यवृत्तिभिर्मनोगोचराति[11]चरैराश्चर्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैस्तैर्मूलो-त्तरगुणग्रामणीभिस्तप प्रारम्भै सकलैहिकसुखसाम्राज्यदरप्रदानावहिता[12]यातावधीरित*विस्मितोपनतवनदेवतालकालि कुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरागस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयपुर सरस्य भगवत सर्वसाधुपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टि करोमीति स्वाहा ।

अपि च । बोधापगाप्रवाहेण विध्यातानङ्गवह्नय । *विध्याराध्याङ्घ्रय सन्तु साध्यबोध्याय[13]साधव ॥३१॥

ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादितत्त्वा[14]वधारणद्वयविजृम्भित[15]निरतिशयाभिनिवेशाधिष्ठानासु[16]-प्रकाशितशङ्का[17]प्राकाम्या[18]वह्लादन[19]कु[20]मतार्तिशल्योद्धारासु[21] प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्यस्तम्भसभूतासु

ऐसे विशुद्ध चारित्र-समूह द्वारा नवीन चारित्र से च्युत हुए ब्रह्मा व विरोचन (तपस्वी विशेष) आदि तपस्वियो का ध्यान तिरस्कृत किया है, जो कि (चारित्र-समूह) देवाङ्गना, विद्याधरी व मानवो की कमनीय कामिनी-समूहरूपी तडाग मे उत्पन्न हुए काममदरूपी मकरन्दवाले दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) की क्रीडारूपी कमलो को चन्द्र-सा आचरण करनेवाला है, अर्थात्—सकुचित करनेवाला है। अनेक बार तीनो लोको को क्षोभित कर देनेवाले, धर्मध्यान की निश्चलता से समस्त विघ्नो के समूह को नष्ट करनेवाले, सर्व साधारण मानवो द्वारा अशक्य प्रवृत्तिवाले, मन से चिन्तवन के लिए अशक्य, आश्चर्य व प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पृथिवी-सरीखे, मूलगुण व उत्तरगुणो की प्रमुखतावाले नानाप्रकार के तपो के अभ्यासो से (क्षुभित—सन्तुष्ट होकर) समस्त इस लोक सबधी सुख-साम्राज्यरूप वर देने के लिए सावधान होकर आये हुए, परन्तु तिरस्कृत होनेपर आश्चर्या-न्वित व नम्रीभूत हुए वन-देवताओ के केश-समूह-रूपी भ्रमर-समूह द्वारा, जिनके चरणकमलो का पराग विलुप्त कर दिया गया है और जिनकी आत्मा मोक्ष-मार्ग मे श्रद्धालु है और जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से विभूषित है।

जिन्होने सम्यग्ज्ञानरूपी नदी के प्रवाह द्वारा कामरूपी अग्नि बुझा दी है, और जिनके चरण पूजा विधि से पूजनीय है, वे साधु केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए होवे ॥ ३१ ॥

सम्यग्दर्शन-पूजा

मै ससाररूपी वृक्ष को काटने मे प्रथम कारण, समस्त कल्याणो के कर्ता व पचपरमेष्ठी को अग्रेसर करनेवाले भगवान् सम्यग्दर्शनरूपीरत्न की अष्ट द्रव्यो से पूजा करता हूँ। जिसने (सम्यग्दर्शन ने) पुण्यशाली

---

१ स्त्रीसमूहह्रद तत्रोत्पन्न। २ काम। * आच्छादित, क्रीडा एव कमल। ३ कमलसकोचकारक कामविध्वसक इति भाव। ४ व्रात समूह। ५ तिरस्कृतब्रह्मादय। * अर्वाग्भव। ६ ब्रह्मा। ७ ऋषिनाम। ८ तापस। ९ ध्यानान्यस्य। १० प्रत्यूहो विघ्न। ११ अगम्यै। १२ सावधान। * 'अवधारित' ग०। विमर्श—मु० प्रति का 'अवधीरित' पाठ सही प्रतीत होता है—सम्पादक। * पूजाविधिना आराध्या अङ्घ्रयश्चरणा येषा। १३ साध्यो बोध्य आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्य केवलज्ञान तस्मै। १४ अवधारणद्वयमयोगव्यवच्छेदान्ययो-गव्यवच्छेद, जिनो देव एव, जिन एव देव इत्यादि। १५ सर्वेषा सम्यग्दृष्टीनामभिप्राया परिणामा समाना सदृशा एव भवन्ति न तु न्यूनाधिका। १६-१७ प्रकटित-निष्कासितशल्यासु, प्रासादभूमिशोधनेऽपि अस्थ्यादि निष्काश्यते, नि शङ्कितगुण। १८ प्राकाम्यमाकाङ्क्षा। १९ अवह्लादन विचिकित्सा। २० मूढदृष्टि एतानि शल्यानि। २१ प्राय भूमिशोधने अस्थ्यादिक निष्काश्यते।

स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपरचितोत्सवसपर्यासु[1] [2]अनेकत्रिदशविशेषनिर्मापितभूमिकासु सुकृतिचेत प्रासादपरम्परासु कृतक्रीडाविहारमपि च यन्निसर्गान्महामुनिमन पयोधिपरिचिन[3]अशेषभरतैरावतविदेहवर्ष[4]धरचक्रवर्तिचूडामणि[5]कुलदैवत अमरेश्वरमतिदेवतावत[6]सकलपवल्लीपल्लव अम्बरचरलोकहृदयैकमण्डन अपवर्गपुरप्रवेशागण्यपुण्यपण्यात्मसात्करणसत्यकार[7] अनुल्लङ्घ्यदुरघघनघटादुर्दिनेष्वपि जन्तुषु ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनतमस्काण्डभेदनमामनन्ति मनीषिण, तस्य ससारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमङ्गलविधायिन पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवत सम्यग्दर्शनरत्नस्याष्टतयीमिष्टि करोमीति स्वाहा ।

अपि च । मुक्तिलक्ष्मीलतामूल युक्तिश्रीवल्लरीवनम्[8] । भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्व [9]भुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥३२॥

मानवो की ऐसी चित्तरूपी महलो की पङ्क्तियो मे क्रीडा के लिए विहार किया है, जो कि जिन, जिनागम, जिनधर्म और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए जीवादि सात तत्वो के अयोग व्यवच्छेद व अन्ययोग व्यवच्छेद (जिनेन्द्र देव ही है व जिनेन्द्र ही देव है, इत्यादि क्रमश अन्य विशेषणो की व्यावृत्ति व अन्य विशेष्यो की व्यावृत्ति) की आस्था से वृद्धिगत हुई सदृश परिणाम-स्थानरूपी आधार (भूमि या नीव) वाली है। जिनमे से शङ्का, आकाक्षा, विचिकित्सा (ग्लानि) व मूढ दृष्टिरूपी शल्ये (कीलें) निकाल कर फैंक दी गई है। अर्थात्—जिसप्रकार महल की भूमि-शोधन मे हड्डी-आदि निकालकर फैंक दी जाती है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टियो द्वारा भी चित्त के शोधन मे उक्त शल्ये निकाल कर फैंक दी जाती है। जो प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, व आस्तिक्य रूपी स्तम्भो द्वारा धारण की गई है। स्थितिकरण, उपगूहन, वात्सल्य व प्रभावना द्वारा जिनमे उत्सवो की पूजा की गई है। अर्थात्—जिसप्रकार महल रचना मे मध्य मध्यमे पूजा की जाती है उसीप्रकार सम्यक्त्व की भी उक्त अङ्गो द्वारा पूजा की जाती है और जिनकी भूमिकाएँ (अवस्थाएँ व पक्षान्तर मे तल) दो प्रकार (निसर्गज व अधिगमज), तीन प्रकार (औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक) व दश-प्रकार (आज्ञा व मार्ग-आदि) से निर्माण कराई गई है, ऐसा होकर के भी जो स्वभावत महामुनियो के मनरूपी समुद्र मे प्रसिद्ध है। जो समस्त भरत, ऐरावत व विदेहक्षेत्रो व कुलाचलो के चक्रवर्तियो का चूडामणि (शिरोरत्न) और कुल देवता है। जो देवेन्द्रो की बुद्धिरूपी देवी के कर्ण-आभूषण के लिए कल्पलता का पल्लव है। जो विद्याधर-समूह के हृदय का अद्वितीय आभूषण है। मोक्षनगर मे प्रवेश करने के लिए असख्यात पुण्यरूपी पण्य (खरीदने लायक वस्तु) को अधीन करने के लिए जो सत्यकार (व्यवस्था का अनुल्लङ्घन-बयाने का धन) है। अर्थात्—जिस प्रकार पेशगी दिये हुए धन से खरीदने लायक वस्तु खरीदी जाती है उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी बयाने के धन से भी मोक्षनगर मे प्रवेश करानेवाला असख्यात पुण्य खरीदा जा सकता है। जिसे शास्त्रवेत्ता विद्वान् अटल (अवश्य भोगने योग्य) महापाप रूपी मेघो की घटा से दुर्दिन-सरीखे (ग्रस्त हुए) जीवो के भी ज्योतिर्लोक-आदि गतिरूपी गड्ढो मे गिरानेवाले मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के पटल का भेदन करनेवाला मानते है, अर्थात्—पापी से पापी जीव को भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर प्रथम नरक के सिवाय शेष नरको मे और भवनत्रिक व व्यन्तर-आदि मे जन्म लेना नही पडता।

मै ऐसे सम्यग्दर्शन की भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ, जो मुक्तिलक्ष्मी रूपी लता की जड है और जो

---

१ प्रासादे क्रियमाणे मध्ये मध्ये पूजा क्रियते। २ अनेको विशेषो द्विविधतया, त्रयोविशेषा त्रिविधतया, दश विशेषा दशविधतया भूमिका अवस्था तल च। ३. प्रसिद्ध। ४ कुलपर्वत। ५ शिरोरत्नानामुपरि स्थित। ६ कर्णावतस (कर्णपूर)। ७ सत्यकार व्यवस्थानुल्लङ्घनम्, धनसार्थ इति लोकभाषा। ८ जल। ९ भुक्तिरेव चिन्तामणि।

ॐ यन्निखिलभुवन[1]तार्तीयलोचनम्, आत्महिताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादितसमीचीनभावम्, अधिगमजसम्यक्त्वरत्नोत्पत्तिस्थानम्, [2]अखिलास्वपि दशासु क्षेत्रज्ञस्वभावसाम्राज्यपरमलाञ्छनम, अपि च [3]यस्मिन्निदानीमपि[4] [5]नदीस्नातचेतोभि [6]सम्यगुपाहितोपयोगसमार्जने [7]द्युमणिमणिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति [8]ते ते [9]भावैकसप्रत्यया [10]स्वभावक्षेत्रसमयविप्रकर्षिणोऽपि भावास्तस्यात्मलाभनिबन्धनो [11]भयहेतुविहितविचित्रपरिणतिभिर्मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलै पञ्चतयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिन पञ्चपरमेष्ठिपुर सरस्य भगवत सम्यग्ज्ञानरत्नस्याष्टतयीमिष्टि करोमीति स्वाहा ।

अपि च । नेत्र हिताहितालोके सूत्र धीसौधसाधने । पात्र पूजाविधे कुर्वे क्षेत्र लक्ष्म्या समागमे ॥३३॥

युक्ति (दर्शनशास्त्र) लक्ष्मीरूपी लता को वृद्धिगत करने के लिए जल है एव जो सासारिक भोगरूपी चिन्तामणि को देनेवाला है ॥ ३२ ॥

सम्यग्ज्ञान-पूजा

जो समस्त लोक को जानने के लिए तीसरा नेत्र है । आत्मा के हिताहित के विवेक के यथार्थ जानने से ही जिसे समीचीनता प्राप्त हुई है, जो अधिगमज सम्यग्दर्शनरूप रत्न की उत्पत्ति का स्थान है, क्योकि अधिगमज सम्यक्त्व मे परोपदेश की अपेक्षा होती है । जो आत्मा की समस्त पर्यायो (नरक व एकेन्द्रियादि) मे भी आत्मा के स्वभाव रूप साम्राज्य का प्रदर्शन चिह्न है, अर्थात्—अनेक नर व नरक-आदि पर्यायो को धारण करता हुआ यह आत्मा जिस प्रधान चिह्न के कारण अपने ज्ञान स्वभावरूप साम्राज्य वाला कहा जाता है । इसकी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि केवल केवलियो के तीर्थ मे हो नही, अपितु इस समय मे भी सरस्वतीरूपी नदी मे स्नान करने से जिनके चित्त निर्मल हो गए है ऐसे विद्वानो द्वारा आरोपित अभ्यास से अपने उपयोग को विशुद्ध कर लेने पर उनके केवलज्ञान मे सूर्यकान्तमणि के दर्पण की तरह स्वभाव से सूक्ष्म परमाणु-आदि व क्षेत्र से दूरवर्ती-सुमेरु-आदि और काल से दूरवर्ती राम-रावण-आदि स्वात्मा द्वारा अनुभव करने-योग्य पदार्थ प्रत्यक्षगोचर प्रतीत होते है । वह ज्ञान यद्यपि एक है, किन्तु अपनी उत्पत्ति के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग-कारणो से होनेवाली विचित्र परिणति के द्वारा मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय व केवलज्ञान के भेद से उसकी पाँच अवस्थाएँ (भेद) हो गई है, उस समस्त कल्याणो का कर्ता और पच परमेष्ठी को अग्रेसर करनेवाले (क्योकि पचपरमेष्ठी का स्वरूप जाने बिना सम्यग्ज्ञान उदित नही होता) भगवान् (पूज्य) सम्यग्ज्ञान की आठ द्रव्यो से पूजा करता हूँ ।

मै ऐसे सम्यग्ज्ञान को पूजाविधि का पात्र करता हूँ, अर्थात्—उसकी पूजा करता हूँ, जो कि आत्मिक हित और अहित को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है और जो बुद्धिरूपी महल के निर्माण करने के लिए वढई है एव जो लक्ष्मी के समागम कराने का स्थान है ॥ ३३ ॥

---

१. तृतीय । २ नरक, एकेन्द्रियादिषु । ३ ज्ञाने । ४ न केवल केवलिना तीर्थे । ५ सरस्वत्या स्नातचित्तैर्विद्वद्भि । ६ आरोपिताभ्यासेन कृतोज्वले कैर्नदीस्नातचित्तैर्नरै । ७ सूर्यकान्तमुकुरे । ८ जीवादिपदार्था । ९ स्वात्मानुभवनीया । १०. केचन भावा स्वभावेन दूरा , केचन क्षेत्रापेक्षया दूरा , केचन कालापेक्षया दूरतरा तस्य सम्यग्ज्ञानस्य । ११ 'मतेरन्तरङ्गो हेतु क्षयोपशम , वाह्य तदिन्द्रियानिन्द्रिय । श्रुतस्यान्तरङ्ग क्षयोपशम वाह्यमनिन्द्रिय । अवधेर्वाह्य भवप्रत्यय , मन पर्ययस्य वाह्य क्षेत्रादिक, अन्तरङ्ग क्षयोपशम , अवधेश्चापि क्षयोपशममन्तरङ्ग । केवलज्ञानस्य वाह्य मानुष्य, अन्तरङ्ग कर्मणा क्षय ' । इति टि० ख० च० ।

ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिबन्धकान्धकारविध्वसनम्, [1]अनवद्यविद्यामन्दाकिनीनिदान[2]मेदिनीधरम्[3], अशेषसत्त्वोत्सवानन्दचन्द्रोदयम, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयम्[4], अनल्पफलप्रदायितप कल्पद्रुमप्रसवभूमिम[5]स्मयोपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्यप्रधानैरनुष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीधना परमपदप्राप्ते प्रथममिव सोपानम्, तस्य [6]पञ्चतयात्मन [7]सर्वक्रियोपशमातिशयावसानस्य सकलमङ्गलविधायिन पञ्चपरमेष्ठिपुर सरस्य भगवत सम्यक्चारित्ररत्नस्याष्टतयीमिष्टि करोमीति स्वाहा ।

अपि च । *धर्म [8]योगिनरेन्द्रस्य कर्मवैरिजयार्जने । शर्मकृत्सर्वसत्त्वाना धर्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥ ३४ ॥
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधवृत्तानाम् । कृत्वाष्टतयीमिष्टि विदधामि तत स्तव युक्त्या ॥ ३५ ॥
तत्त्वेषु प्रणय परोऽस्य मनस श्रद्धानमुक्त जिनै[9]रेतद्द्वित्रिदशप्रभेदविषय व्यक्त [10]चतुर्भिर्गुणै ।
अष्टाङ्ग भुवनत्रयार्चितमिद मूढैरपोढ त्रिभिश्चित्ते देव दधामि ससृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥ ३६ ॥

सम्यक्चारित्र-पूजा

जो समस्त लोक और अलोक के देखने व जानने मे रुकावट डालनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकार को विध्वस करनेवाला है, जो केवलज्ञानरूपी गङ्गा का उत्पादक कारण हिमाचल है। अर्थात्—जैसे हिमाचल से गङ्गा निकलती है वैसे ही चारित्र की आराधना से केवलज्ञान प्रकट होता है। जो समस्त प्राणियो के उत्सवो (आनन्दो) की वृद्धि के लिए चन्द्र के उदय-सा है। अर्थात्—जिस प्रकार चन्द्र के उदय से समुद्र वृद्धिगत होता है उसी प्रकार चारित्र की आराधना से समस्त प्राणियो के आनन्द की वृद्धि होती है। जो समस्त व्रत, गुप्ति व समितिरूपी लताओ के बगीचे के लिए वसन्त ऋतु के समान है। जो प्रचुर फलदायक तपरूपी कल्पवृक्ष की उत्पत्ति भूमि है। जो गर्व का अभाव, कषायो का क्षय, विशुद्ध चित्तवृत्ति व धीरता की प्रमुखतावाले महात्माओ द्वारा धारण किया जाता है। प्रशस्त बुद्धिरूपी धनवाले महात्मा ऐसे चारित्र को मोक्षपद की प्राप्ति का प्रथम सोपान-(सीढी) सरीखा कहते हैं। जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यात चारित्र के भेद से अथवा ज्ञान, दर्शन चारित्र, तप व वीर्याचार के भेद से पाँच प्रकार का है। और जिसके अन्त मे मन, वचन व काय के व्यापार का क्षय वर्तमान है, उस समस्त कल्याणो के कर्ता और पचपरमेष्ठी की प्रमुखतावाले भगवान् सम्यक्चारित्र की आठ द्रव्यो से पूजा करता हूँ।

धर्म मे बुद्धि रखनेवाला मै ऐसे सम्यक्चारित्र का आश्रय ग्रहण करता हूँ, जो कि कर्मरूपी शत्रुओ पर विजयश्री प्राप्त करने मे महामुनिरूपी राजा का धनुष है एव जो समस्त प्राणियो के लिए सुखदायक है ॥ ३४ ॥

इसप्रकार अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी अष्ट द्रव्य से पूजन करके मै इनका युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥ ३५ ॥

सम्यग्दर्शन की भक्ति

हे जिनेन्द्र! मै ससाररूपी लता की वृद्धि को समाप्त करने का उत्सववाले व तीन लोक द्वारा पूजित

---

१ केवलज्ञान। २ कारण। ३ हिमाचल धीधना उशन्ति कथयन्ति। ४ वसन्त। ५ अगर्व। ६ पचतयाऽत्मन सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातचारित्रभेदेन। ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारभेदेन। ७ मनोवच कायव्यापारक्षयपर्यन्तस्य। * 'वर्म' इति घ०। ८ महामुनि। ९ निसर्गाधिगम, उपशम-क्षायिक-मिश्र, आज्ञामार्गादि। १० उपशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य।

ते कुर्वन्तु तपासि दुर्धरधियो ज्ञानानि सचिन्वता। वित्त वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिद।
एषा येषु न विद्यते तव वच श्रद्धावधानोद्धुरा दुष्कर्माङ्कुरकुञ्ज[1]वज्रदहनद्योतावदाता रुचि ॥ ३७ ॥
ससाराम्बुधिसेतुबन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीवन प्रोल्लासामृतवारिवाहमखिलत्रैलोक्यचिन्तामणिम्।
कल्याणाम्बुजखण्डसभवसर सम्यक्त्वरत्न कृती यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभा स्वर्गापवर्गश्रिय ॥ ३८ ॥
(इति दर्शनभक्ति)

[2]अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरिय बोधोऽवधि सावधि[3] साश्चर्य क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मन पर्यय।
दुष्प्राप पुनरद्य केवलमिद ज्योति कथागोचर माहात्म्य निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयाम श्रुते ॥ ३९ ॥
यद्देवै शिरसा धृत गणधरै कर्णावतमीकृत न्यस्त चेतसि योगिभिर्नृपवरैराघ्रातसार पुन।
हस्ते दृष्टिपथे मुखे च निहित विद्याधराधीश्वरैस्तत्स्याद्वादसरोरुह मम मनोहसस्य भूयान्मुदे ॥ ४० ॥

सम्यग्दर्शन को चित्त मे धारण करता हूँ। जिनेन्द्रो ने जीवादि सात तत्वो मे इस विशुद्ध मन की उत्कृष्ट रुचि को सम्यग्दर्शन कहा है, जिसके निसर्गज व अधिगमज दो भेद है एव औपशमिक क्षायिक व क्षायोपशमिक ये तीन भेद है तथा आज्ञा व मार्ग-आदि दशभेद है। जो प्रशम, सवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य इन चारो गुणो से पहचाना जाता है। जो नि शङ्कित-आदि आठ अङ्गोवाला है और जो तीन प्रकार की मूढता से रहित है ॥३६॥ हे जिनेन्द्र! जिनकी आपके वचनो मे गाढ मनोयोग से उत्कट श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नही है, जो कि (रुचि) पाप कर्मरूपी अङ्कुरो के लतागृहो को भस्म करने के लिएं वज्राग्नि की कान्तिसरीखी शुभ्र है, वे चञ्चल बुद्धिवाले चाहे कितना ही तप करे और चाहे कितना ही प्रचुर ज्ञान सचय करे अथवा धन वितरण करे, फिर भी प्राय जन्म-परम्परा का छेदन करनेवाले नही हो सकते ॥ ३७ ॥

हे प्रभो! जो पुण्यवान् पुरुष ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को अपने हृदय मे धारण कर ता है, उसे स्वर्ग और मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति सुलभ है, जो कि ससाररूपी समुद्र को पार करने के लिए पुल के बन्धन-सरीखा है। जो क्रम से उत्पन्न होनेवाले लक्ष्मी के उपवन को विकसित करने के लिए अमृत भरे मेघो-सरीखा है और जो समस्त तीन लोक के प्राणियो को चिन्तामणि-सा है एव जो कल्याणरूपी कमल-समूह की उत्पत्ति के लिए तडाग-सरीखा है ॥ ३८ ॥

सम्यग्ज्ञान की भक्ति

इन्द्रियो से उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान स्वल्प व्यापारवाला है, अर्थात्—बहुत थोडे पदार्थो को विषय करता है। अवधिज्ञान भी मर्यादा-सहित है, अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर केवल रूपी पदार्थो को ही विषय करने के कारण सीमित है। मन पर्यय का भी विषय थोडा है और वह भी किसी विशिष्ट योगी मे ही उत्पन्न होता है, अत आश्चर्यजनक है। केवलज्ञान महान् है, किन्तु उसकी प्राप्ति इस पचमकाल मे दुर्लभ है। वह तो पूज्य महापुरुषो के कथानको का विषय रह गया है। एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है, जो समस्त पदार्थो को विषय करता है और सुलभ भी है, उसकी हम क्या प्रशसा करे ॥ ३९ ॥ ऐसा स्याद्वाद (अनेकान्त) श्रुतरूपी कमल मेरे मनरूपी हस की प्रसन्नता के लिए हो, जिसे जिनेन्द्रदेव ने शिर पर धारण किया था, गणधरो द्वारा जो कर्णाभूषण किया गया, जो महामुनियो द्वारा अपने चित्त मे स्थापित किया गया और राजाओ मे श्रेष्ठो के द्वारा जिसका सार सूँघा गया है एव विद्याधरो के स्वामियो ने जिसे अपने हाथो पर स्थापित किया एव नेत्र गोचर किया तथा मुख मे स्थापित किया ॥ ४० ॥

१ वज्राग्नि। २ 'अल्पदैर्घ्या' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'अत्यल्पायति स्वल्पव्यापारा' इत्याह। ३ समर्याद।

मिथ्यातम प[१]टलभेदनकारणाय स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमना प्रणमामि नित्य त्रैलोक्यमङ्गलकराय जिनागमाय ।। ४१ ।। (इति ज्ञानभक्ति)

ज्ञान दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात्स्वस्य खेदावह धत्ते साधु न त[२]त्फलश्रियमय सम्यक्त्वरत्नाङ्कुर ।
काम देव [३]यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमयस्तस्मै त्वच्चरिताय सयमदमध्यानादिधाम्ने नम ।। ४२ ।।
यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसति सौरूप्यसौभाग्ययो श्रीपाणिग्रहकौतुक[४] कुलबलारोग्यागमे सगम ।
यत्पूर्वैश्चरित समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मक तच्चारित्रमह नमामि विविध स्वर्गापवर्गाप्तये ।। ४३ ।।
हस्ते स्वर्गसुखान्यतर्कितभवास्ताश्चक्रवर्तिश्रियो देवा पादतले लुठन्ति फलति द्यौ कामित सर्वत ।
कल्याणोत्सवसपद पुनरिमास्तस्यावतारालये प्रागेवावतरन्ति यस्य चरितैर्जैने पवित्र मन ।। ४४ ।।
(इति चारित्रभक्ति)

बोधोऽवधि[५] श्रुतमशेषनिरूपितार्थमन्तर्बहि करणजा सहजा मतिस्ते ।
इत्थ स्वत सकलवस्तुविवेकबुद्धे का स्याज्जिनेन्द्र भवत परतो[६] व्यपेक्षा[७] ।। ४५ ।।

आगम मे कहे हुए तत्वो की भावना से युक्त चित्तवाला मै ऐसे जिनागम के लिए सदा नमस्कार करता हूँ, जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार समूह को नष्ट करने मे कारण है, जो स्वर्ग व मोक्षरूपी नगर के मार्ग का ज्ञान करानेवाला है एव जो तीन लाक का कल्याण करनेवाला है ।। ४१ ।।

चारित्र-भक्ति

जिस चारित्र के बिना विद्वान् का ज्ञान उस प्रकार उसके लिए खेदजनक होता है जिस प्रकार भाग्य-हीन मानव का शरीर पर आभूषण धारण करना खेदजनक होता है और जिसके विना यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्नाङ्कुर सम्यग्ज्ञानरूपी फल सम्पत्ति को भली प्रकार धारण नही करता एव जिसके विना समस्त तपो-भूमियाँ अत्यन्त निष्फल हुईं, हे भगवन् ! आपके उस सम्यक्चारित्र के लिए नमस्कार हो, जो कि सयम, इन्द्रिय-दमन व धर्मध्यान और शुक्लध्यान-आदि का स्थान है ।। ४२ ।। ऐसे उस अनेक प्रकार के सम्यक्चारित्र के लिए मै स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ, जो अभिलषित वस्तुओ के प्रदान करने के लिए चिन्तामणि है। जो सौन्दर्य व उत्तम भाग्य का निवास है, जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ पाणि-ग्रहण करने मे कङ्कण-बन्धन है। जो उत्तमकुल, शक्ति व निरोगता का सगमस्थान है। जिसे धर्मध्यान की निधिवाले पूर्वचार्यों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए धारण किया था और जो सामायिक व छेदोपस्थापना-आदि के भेद से पाँच प्रकार का है ।। ४३ ।।

जिनेन्द्र के चारित्र-धारण से पवित्र मनवाले मानव के लिए स्वर्ग-सुख हस्त-गत हो जाते है। चक्रवर्ती की विभूतियाँ विना विचारे प्राप्त होनेवाली होती है, । देवतालोग उसके चरणतल पर लोटते है, समस्त दिशाएँ उसके मनोरथ को पूर्ण करती है और उस चरित्रवान् की जन्मभूमि मे जन्म से पूर्व ही ये गर्भकल्याणक-आदि उत्सव सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती है ।। ४४ ।।

अर्हन्त-भक्ति

हे जिनेन्द्र ! आपको जन्म से ही अन्तरङ्ग (मन) व बहिरङ्ग (स्पर्शनादि) इन्द्रियो से होनेवाला मतिज्ञान, समस्त जीवादि तत्त्वो को जाननेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है। इस प्रकार स्वत ही

---

१. छर्दिनेत्ररुजो क्लीवे समूहे पटल न ना। २ ज्ञान। ३ चारित्रेण विना। ४ कड्कण। ५ हे जिन तव वर्तते। ६ अन्यत । ७ वाञ्छा।

ध्यानावलोकविगलत्तिमिरप्रताने ता देव केवलमयीं श्रियमादधाने ।
आसीत्त्वयि त्रिभुवन मुहुरुत्सवाय व्यापारमन्थर[1]मिवैकपुर महाय[2] ॥ ४६ ॥
छत्र दधामि किमु चामरमुत्क्षिपामि हेमाम्बुजान्यथ जिनस्य पदेऽर्पयामि ।
इत्थ मुदामरपति. स्वयमेव यत्र सेवापर परमह किमु वच्मि तत्र ॥ ४७ ॥
त्व सर्वदोषरहित सुनय वचस्ते सत्वानुकम्पनपर सकलो विधिश्च ।
लोकस्तथापि यदि तुष्यति न त्वयीश कर्मास्य तन्ननु रवाविव कौशिकस्य ॥ ४८ ॥
पुष्प त्वदीयचरणार्चन[3]पीठसङ्गाच्चूडामणी भवति देव जगत्त्रयस्य ।
अस्पृश्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुशास्तु[4] रवीश्वराद्यै[5] ॥ ४९ ॥
मिथ्यामहान्धतमसावृतमप्रबोधमेतत्पुरा जगदभूद्भवगर्तपाति ।
तद्देव[6] दृष्टिहृदयाब्जविकासकान्तै स्याद्वादरश्मि[7]भिरथोद्धृतवास्त्वमेव ॥ ५० ॥
पादाम्बुजद्वयमिद तव देव यस्य स्वच्छे मन सरसि सनिहित समास्ते ।
त श्री स्वय भजति त नियत वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥ ५१ ॥ (इत्यर्हद्भक्ति)

समस्त पदार्थों की विवेक बुद्धिवाले आपको पर की (गुरु-आदि की) सहायता की वाञ्छा ही क्या है ? अर्थात्—आपको ज्ञानोत्पत्ति मे गुरु-आदि सहायको की अपेक्षा नही होती ॥ ४५ ॥ हे प्रभो ! जब आप शुक्लध्यानरूपी प्रकाश द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को नष्ट करनेवाले होने से उत्पन्न हुई उस केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करनेवाले हुए तब तीन लोक ने आपकी बार-बार पूजा के लिए अपने व्यापार मे मन्द होकर (अपना कार्य रोककर) एकनगर-सरीखे होकर महान् उत्सव किया । अर्थात्—भगवान् को केवलज्ञान होनेपर उनके समवसरण मे नर, सुर व पशु-आदि धर्म-श्रवण के लिए आते है ॥ ४६ ॥

'मै प्रभु के मस्तक पर छत्र धारण करूँ या चमर ढोरूँ अथवा जिनेन्द्र के चरणो मे स्वर्ण-कमल अर्पित करूँ' इस प्रकार जहाँ सौधर्मेन्द्र स्वय ही प्रमुदित होकर प्रभु की आराधना मे तत्पर है, वहाँ मै क्या कहूँ ॥ ४७ ॥ हे स्वामिन् ! तुम समस्त दोषो (क्षुधा-तृषा-आदि अठारह दोषो) से रहित हो । तुम्हारे वचन स्याद्वाद (अपेक्षावाद) रूप है (विविध दृष्टिकोणो से वस्तु का निश्चय करनेवाले है) । तथा तुम्हारे द्वारा कही हुई समस्त विधि सभी प्राणियो की रक्षा मे तत्पर है, तथापि लोक आपसे सन्तुष्ट नही होते, इसका कारण उनका मिथ्यात्व कर्म ही है न कि आप । जिस प्रकार सूर्य के उदित होनेपर उसे उल्लू नही देखता, इसमे उल्लू का दृष्टि-दोष ही कारण है, न कि सूर्य ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! तुम्हारे चरणो की पूजा का पुष्प-प्रक्षेप के आधारभूत आसन (पीडा) के ससर्गमात्र से पुष्प, तीनो लोको के मस्तक का आभूषण हो जाता है, अर्थात्—उस पुष्प को सब अपने शिर पर धारण करते है । परन्तु दूसरो के शिर पर स्थित हुआ भी पुष्प अस्पृश्य माना जाता है । अत. दूसरे सूर्य व रुद्र-आदि देवताओ से तुम्हारी तुलना को कौन कहे ? ॥ ४९ ॥ हे देव ! पहले मिथ्यात्वरूपी निविड अन्धकार से आच्छादित होने के कारण प्रकृष्ट कर्त्तव्य-ज्ञान से विमुख हुआ यह जगत् ससाररूपी गड्ढे मे पडा हुआ था, उसका तुमने ही नेत्र-कमल व हृदय-कमल को विकसित करने के कारण मनोज्ञ स्याद्वाद (अनेकान्त) रूपी रश्मियो (किरणो अथवा आकर्षण की अपेक्षा से रज्जुओ) से उद्धार किया ॥५०॥ हे देव ! जिसके विशुद्ध मनरूपी स्वच्छ तडाग मे तुम्हारे दोनो चरणकमल समीप मे विराजमान है, उसकी

---

१ मन्द । २ पूजायै । ३ चरणाग्रत यदर्चनपीठ पुष्पप्रक्षेपस्याधारभूतमन्यत् पीठ च वर्तते तस्य ससर्गात् । ४ कथयतु । ५ सूर्यरुद्राद्यै । ६ नेत्रकमल हृत्कमल च । ७ किरणै आकर्षणापेक्षया रज्जुभि ।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण[1] प्रविदितनिखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चा प्रोदधूय ध्यानवातै सकलमघरज प्राप्तकैवल्यरूपा ।
कृत्वा सत्त्वोपकार त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये ते सिद्धा सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिन सिद्धये व ॥५२॥
दानज्ञानचरित्रसयमनयप्रारम्भगर्भ मन कृत्वान्तर्बहिरिन्द्रियाणि मरुत[2] सयम्य पञ्चापि च ।
पश्चाद्वीतविकल्पजालमखिल भ्रस्यत्तम सतति ध्यान तत्प्रविधाय ये च मुमुक्षुस्तेभ्योऽपि बद्धोऽञ्जलि ॥ ५३ ॥
इत्थ येऽत्र समुद्रकन्दरसर स्रोतस्विनीभूनभोद्वीपाद्रिद्रुमकाननादिषु धृतध्यानावधानर्द्धय[3] ।
कालेषु त्रिषु मुक्तिसगमजुषस्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपैस्ते रत्नत्रयमङ्गलानि दधता भव्येषु रत्नाकरा ॥ ५४ ॥
(इति सिद्धभक्ति)

[4]भौमव्यन्तरमर्त्यभास्करसुरश्रेणीविमानाश्रिता स्वर्ज्योति कुलपर्वतान्तरधरार[5]न्ध्रप्रबन्धस्थिती ।
वन्दे तत्पुरपालमौलिविलसद्रत्नप्रदीपार्चिता साम्राज्याय जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्स्वा[6]ध्यायिसाध्वाकृती ॥ ५५ ॥
(इति चैत्यभक्ति)

लक्ष्मी स्वय सेवा करती है और स्वर्ग-मोक्ष उत्पन्न करनेवाली यह सरस्वती निश्चित रूप से उसे वरण करती है ॥ ५१ ॥

सिद्ध-भक्ति

ऐसे वे सिद्ध परमेष्ठी तुम्हारी सिद्धि (मुक्ति) के लिए हो, जिन्होने छद्मस्थ अवस्था मे मति, श्रुत व अवधिज्ञान द्वारा समस्त जानने योग्य तत्त्वो को विस्तारपूर्वक जाना। पुन शुक्लध्यान रूपी वायु के द्वारा समस्त पापरूपी धूलि को उडाकर केवलज्ञान प्राप्त किया। पश्चात् जिन्होने प्राणियो का उपकार किया। पुनः तीन लोक के स्वामियो (इन्द्र-आदि) द्वारा जिनका निर्वाण-कल्याणक उत्सव किया गया और जो तीन लोक के अग्रभागरूपी सिद्धपुरी मे निवास करनेवाले है। अभिप्राय यह है कि इस पद्य मे जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए है, उन्हे नमस्कार किया गया है ॥ ५२ ॥ ऐसे उन सिद्ध परमेष्ठियो के लिए भी मै अञ्जलि (हस्त-सपुट) जोडता हूँ, जिन्होने अपना मन, दान, ज्ञान, चारित्र, सयम व नयो के प्रारम्भ मे स्थापित करके मन व स्पर्शनादि बाह्य इन्द्रियो का तथा पाँच वायुओ (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) का निरोध किया। फिर ऐसा शुक्लध्यान प्राप्त करके मुक्त हुए, जिसमे राग, द्वेष व मोहादि समस्त विकल्प समूह नष्ट हो चुके है और जो अज्ञानरूपी अन्धकार-परम्परा का विध्वस करनेवाला है। भावार्थ—प्रस्तुत पद्य मे जो सामान्य जन सिद्ध हुए है, उन्हे नमस्कार किया गया है ॥ ५३ ॥

इसप्रकार समुद्र, गुफा, तडाग, नदी, पृथिवी, आकाश, द्वीप, पर्वत वृक्ष व वन-आदि मे लगाये हुए ध्यान की सलग्नतारूपी ऋद्धिवाले होकर जिन्होने तीनो कालो (भूत भविष्यत व वर्तमान) मे मुक्तिश्री के साथ प्रीतिपूर्वक सगम सेवन किया है, जो तीनो लोको द्वारा स्तुति करने योग्य है और जो सम्यग्दर्शन-आदि रत्नो की खानि है, वे सिद्ध परमेष्ठी भव्य प्राणियो के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी मङ्गल समर्पण करे ॥ ५४ ॥

चैत्यभक्ति

मै ऐसी अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व सर्वसाधुओ की प्रतिमाओ को स्वर्ग-आदि के साम्राज्य की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ, जो कि भवनवासी व व्यन्तरो के भवनो मे, मानवो के भवनो मे, सूर्य-

१ छद्मस्थावस्थाया। २ वातात्—प्राणापानव्यानोदानसमानान्। ३ ध्यानावधानमेव ऋद्धिर्येषा। ४ भौमा भवनवासिन। ५ गिरणारादिषु पर्वततलेषु नयनेषु ?। ६ उपाध्याय।

[1]समवसरणवासान्मुक्तिलक्ष्मीविलासा[2]न्स[3]कलसमयनाथा[4]न्वाक्यविद्यासनाथान्[5] ।
भवनिगल[6]विनाशोद्योगयोगप्रकाशा[7]न्निरुपमगुणभावान्सस्तुवेऽह क्रियावान्[8] ॥ ५६ ॥
भवदु खानलशान्ति[9]र्धर्मामृतवषजनितजनशान्ति[10] ।
शिवशर्मास्रवशान्तिः[11] शान्तिकर[12] स्ताज्जिन शान्ति ॥ ५७ ॥ (इति शान्तिभक्ति)
मनोमात्रोचितायापि य पुण्याय न चेष्टते । हताशस्य कथ तस्य कृतार्था स्युर्मनोरथा ॥ ५८ ॥
येषा तृष्णातिमिरभिदुरस्त[13]त्त्वलोकावलोकात्पारेऽवारे[14]प्रशमजलधे सङ्गवार्धे परेऽस्मिन् ।
बाह्यव्याप्तिप्रसरविधु[15]रश्चित्तवृत्तिप्रचार[16] स्तेषामर्चाविधिषु भवताद्वारिपूर[17] श्रिये व ॥ ५९ ॥
[18]दूरारूढे[19]प्रणिधितरणावन्तरात्माम्बरेऽस्मिन्नास्ते येषा हृदयकमल मोदनिस्पन्दवृत्ति ।
तत्त्वालोकावगमगलित[20]ध्वान्तबन्धस्थितीना[21]मिष्टि तेषामहमुपनये[22] पादयोश्चन्दनेन ॥ ६० ॥

और देवो के श्रेणी विमानो मे स्थित है, जिनका निवास स्वर्ग, ज्योतिषी देव, कुलाचल, पाताललोक, गुफाएँ व गिरनार-आदि पर्वत-तलो मे है और जो उन नगर-स्वामियो के मुकुटो पर जडे हुए रत्नरूपी दीपको से पूजी गई है ॥ ५५ ॥

पञ्चगुरु-भक्ति

क्रिया मे उद्यत हुआ मै, समवसरण मे स्थित हुए अर्हन्तो की, मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ क्रीडा करनेवाले सिद्धो की, समस्त आगम के स्वामी आचार्यो को व व्याकरण-आदि विद्याओ से सहित उपाध्यायो की तथा ऐसे सर्वसाधुओ की स्तुति करता हूँ, जिनका ध्यानरूप प्रकाश ससाररूपी श्रृङ्खला को छिन्न-भिन्न करने के उद्योगवाला है एव जिनमे अनोखे सम्यग्दर्शन-आदि गुण वर्तमान है ॥ ५६ ॥

शान्ति-भक्ति

ऐसे श्रीशान्तिनाथ भगवान् शान्ति (विघ्न-हरण) करनेवाले हो, जो सासारिक दु खरूपी अग्नि को शान्त करनेवाले (बुझाने वाले) है, जिन्होने धर्मरूपी अमृत की वृष्टि द्वारा जनता मे शान्ति (शैत्य) उत्पन्न की है व जो मोक्ष-सुख मे बाधक कर्मो (ज्ञानावरण-आदि) के आस्रव की शान्ति (क्षय) करनेवाले है ॥ ५७ ॥ जो ऐसे पुण्य-सचय के लिए प्रयत्न नही करता, जिसकी प्राप्ति मे केवल मन की विशुद्धि मात्र ही योग्य है, उस हताश (दीन) मानव के मनोरथ कैसे सफल हो सकते है ? ॥ ५८ ॥

आचार्य-भक्ति

उन आचार्यो की पूजाविधि मे अर्पित किया गया जल-समूह तुम लोगो को लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए होवे, जिनका चित्तवृत्ति-प्रचार (आत्मा, इन्द्रिय और मन को केन्द्रित करने मे कारणीभूत व्यापार—ध्यानादि) तत्व-समूह के यथार्थ प्रकाश से तृष्णारूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाला है और प्रशमरूपी समुद्र के उस पार (तट) व इस पार मे वर्तमान है, अर्थात्—प्रशमरूपी समुद्र के मध्य मे ही वर्तमान है एव जो परिग्रह रूपी समुद्र से उत्तीर्ण (पार) हो चुका है तथा जो वाह्य पदार्थो मे प्रवृत्ति के प्रसार से रहित है ॥ ५९ ॥

---

१ अर्हत । २ सिद्धान् । ३ परिपूर्ण । ४ सूरीन् । ५ उपाध्यायान् । ६ श्रृङ्खला । ७ साधून् । ८ क्रियासूद्यत । ९ विध्यापन विध्याति—विदधातीत्यर्थ । १० शैत्य । ११ क्षय । १२ विघ्नहर । १३-१४ येषा चित्तवृत्तिप्रचार प्रशमजलधे पारे परकूले, अवारे अवाक्कूले च वर्तते, प्रशमसमुद्रमध्ये एव वतते इत्यथ । सङ्गवार्धे परिग्रहसमुद्रस्य परे पारे वर्तते तस्मादुत्तीर्ण इत्यथ । १५ प्रविश्लेषे च विकले विधुर सुधियो विदु । १६ आत्मेन्द्रियमनसा व्यासङ्गहेतुर्व्यापार । १७ समूह । १८ प्रकर्षे प्राप्ते सति । १९ ध्यानसूर्ये, प्रणिधि प्रार्थने चरे अवधानेऽपि । २० ध्वान्तस्याज्ञानस्य प्रबध समूह तस्य स्थिति । २१ पूजा । २२ परिकल्पयामि ।

येषामन्तस्तदमृतरसास्वादमन्दप्रचारे[1] क्षेत्राधीशे विगतनिखिलारम्भसंभोगभाव ।
ग्रामोऽक्षाणामुदुषित[2] इवाभाति योगीश्वराणां कुर्मस्तेषां कलमसदकैं[3] पूजनं निर्ममाणाम्[4] ।। ६१ ।।
[5]देहारा*मेऽप्युपरतधिय सर्वसकल्पशान्तेर्येषा[6]मूर्मिस्म[7]यविरहिता ब्रह्मधामामृताप्ते. ।
आत्मात्मीयानुगमविगमाद्वृत्तय शुद्धबोधास्तेषा पुष्पैश्चरणकमलान्यर्चयेय शिवाय ।। ६२ ।।
येषामङ्गे मलयजरसै सगम कर्दमैर्वा स्त्रीबिब्बोकै[8] पितृवनचिताभस्मभिर्वा समान ।
मित्रे शत्रावपि च विषये[9] निस्तरङ्गो[10]ऽनुषङ्ग[11]स्तेषा पूजाव्यतिकरविधावस्तु भूत्यै हविव[12] ।।६३।।
योगाभोगाचरणचतुरे [13]दीर्णकन्दर्पदर्पे स्वान्ते ध्वान्तोद्धरणसवि[14]धे ज्योतिरुन्मेष[15]भाजि ।
[16]समोदेतामृतभृत इव क्षेत्रनाथोऽन्तरुच्चैर्येषा तेषु क्रमपरिचयात्स्याच्छ्रिये व प्रदीप. ।।६४।।

विशुद्ध आत्मारूपी आकाश मे धर्मध्यानरूपी सूर्य प्रकर्ष को प्राप्त हो जाने पर जिनका हृदय कमल हर्ष से निश्चलता प्राप्त करता है, अर्थात्—आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता है और तत्वदर्शन व तत्वज्ञान से जिनके अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को स्थिति नष्ट हो चुकी है, उनके चरणो की चन्दन से पूजा करता हूँ ।। ६० ।।

हम ममत्व-रहित ऐसे आचार्यो की अक्षतो (धान्य तण्डुलो) से पूजा करते है, जिनकी आत्माज, अध्यात्मरूपी अमृतरस के पान करने से वाह्य अनात्मीय पदार्थो मे मन्द गतिवाली हो जाने पर जिनका इन्द्रिय-समूह, जिससे समस्त आरम्भ व काम-क्रीडा नष्ट हो चुकी है, ऊजड हुआ-सरीखा शोभायमान हो रहा है ।। ६१ ।। मै ऐसे आचार्यो के चरणकमलो की मोक्ष प्राप्ति के लिए पुष्पो से पूजा करता हूँ, समस्त सकल्पो (कामनाओ) के शान्त हो जाने से जो शरीररूपी परिग्रह मे भी विरक्त बुद्धिवाले है, मोक्षस्थानरूपी अमृत की प्राप्ति हो जाने से जिनकी क्षुधा व तृषा-आदि की पीडा का सहन गर्व-रहित है और आत्मा मे भी अपनेपन की भावना की उत्पत्ति के नष्ट हो जाने से जिनकी वृत्तियाँ शुद्ध बुद्धि वाली हो गई है ।। ६२ ।। ऐसे उन आचार्यो की पूजा की उत्सव विधि मे अर्पण किया हुआ नैवेद्य तुम्हारी विभूति के लिए हो, जिन्हे अपने शरीर पर लगाया गया मलयागिर चन्दन का लेप अथवा कीचडो का लेप एक सरीखा है, अर्थात्—क्रम से हष व विषाद के लिए नही है व जिन्हे स्त्रियो के विलास या श्मशान भूमि की चिता की राख समान है एव मित्र व शत्रु के दृष्टिगोचर होने पर जिनका आशय कल्लोल-रहित (राग-द्वेष-शून्य) है, अर्थात्—जा मित्र से अनुराग व शत्रु से द्वेष नही करते ।। ६३ ।।

जिनका मन जब ऐसा विशुद्ध हो जाता है, जो कि विस्तृत योगो (ध्यानो) के पालन करने मे प्रवीण है और कामदेव का गर्व विदीर्ण करनेवाला है एव अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने मे तत्पर है, क्योकि उसमे ज्ञानरूपी ज्योति उत्पन्न हो चुकी है, तब जिनकी अन्तरात्मा अमृतरस से भरी हुई-सी या चन्द्र-सी विशेष आनन्दित होती है, उनके चरणो की पूजा के लिए अर्पित किया गया दीप तुम्हारी श्री-वृद्धि के लिए हो ।। ६४ ।।

---

१ क्षेत्राधीशे। २ उद्वस इव । ३ 'अक्षतै' टि० ख० 'सदकास्तण्डुला' इति प० । ४ मम वरहिताना । ५ आराम परिग्रह । * 'देहारम्भे' इति ग० । ६ 'ऊर्मि पीडाजवोत्कण्ठा भङ्गप्रकाशवीचिपु क्षुत्पिपासादिपीडा' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'ऊर्म्मय क्षुत्पिपासादय' इत्याह । ७ गव । ८ विलासै । ९ इन्द्रियगोचरे। १० निष्कल्लोल । ११ 'सगति' इति टि० ख०, पञ्जिकाया तु 'अनुषङ्ग आशय' इति प्रोक्त । १२ नैवेद्य । १३ विदारित । १४ समीपे । १५ प्रादुर्भाव । १६ हर्षेत ।

येषां [1]ध्येयाशयकुवलयानन्दचन्द्रोदयानां बोधाम्भोधिः [2]प्रमदसलिलैर्माति नात्मावकाशे।
लब्ध्वाप्येतामखिलभुवनैश्वर्यलक्ष्मीं निरीहं चेतस्तेषामयमपचितौ[3] श्रेयसे वोऽस्तु धूपः ॥६५॥
[4]चित्ते चित्ते विशति करणेष्वन्तरात्मस्थितेषु [5]स्रोतःस्यूते[6] बहिरखिलतो व्याप्तिशून्ये[7] च पुंसि।
येषां ज्योतिः किमपि परमानन्दसंदर्भ[8]गर्भं जन्मच्छेदि प्रभवति[9] फलैस्तेषु कुर्मः सपर्याम् ॥६६॥
वाग्देवतावर इवायमुपासकानामागामि[10]तत्फलविधाविव पुण्यपुञ्जः।
लक्ष्मीकटाक्ष[11]मधुपागमनैकहेतुः पुष्पाञ्जलिर्भवतु तच्चरणार्चनेन ॥६७॥ (इत्याचार्यभक्तिः)

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः।

इदानीं ये [12]कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नापनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् षट् प्रोदाहरिष्यामः। तथाहि—

श्रीकेतनं वाग्वनितानिवासं पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम्। स्वर्गापवर्गागमनैकहेतुं जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥६८॥
भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः [13]पुण्यामृतेन च तनौ नितरां पवित्रः।
श्रीमण्डपे विविधवस्तुविभूषितायां वेद्यां जिनस्य [14]सवनं विधिवत्तनोमि ॥६९॥

ऐसे उन आचार्यों का पूजा मे अर्पण किया हुआ धूप आप लोगो के कल्याण के लिए हो, जो भव्यजनरूपी कुवलय (नीलकमल व पक्षान्तर मे पृथिवी-मण्डल) को आनन्दित या विकसित करने के लिए चन्द्रमा के उदय सरीखे है, जिनका ज्ञानरूपी समुद्र हर्षरूपी जल राशि से आत्मारूपी स्थान मे नही समाता एवं समस्त लोक की ऐश्वर्य लक्ष्मी प्राप्त करके भी जिनका चित्त निस्पृह (लालसा-शून्य) है ॥६५॥ हम ऐसे उन आचार्यो की फलो से पूजा करते है, जिनकी चित्तवृत्ति, जब चैतन्यस्वरूप आत्मा मे लीन हो जाती है और जिनकी समस्त इन्द्रियाँ जब अन्तरात्मा मे लीन हो जाती है एवं इन्द्रियो के प्रवाह वाली आत्मा जब अविच्छिन्नता से समस्त बाह्य प्रपचो से रहित हो जाती है तब जिन्हे ऐसी कोई अनिर्वचनीय ज्ञानज्योति उत्पन्न होती है, जिसके मध्य मे उत्कृष्ट आनन्द की सृष्टि है, और जो जन्म-परम्परा के छेदन करने मे समर्थ होती है ॥ ६६ ॥ ऐसी यह पुष्पाञ्जलि उस आचार्य के चरणो की पूजा करने से ऐसी मालूम पडती है—मानो—यह सरस्वती देवी का वरदान ही है और मानो—यह भविष्य मे प्राप्त होनेवाले पूजा के फल के लिए पुण्य-समूह ही है, श्रावको की लक्ष्मी के कटाक्षरूपी भ्रमरो के आगमन का कारण हो ॥ ६७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे पूजा विधि का बतलानेवाला पैतीसवाँ कल्प पूर्ण हुआ।

अब हम जिनबिम्ब की पूजा की प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावको को उद्देश्य करके अभिषेक, पूजन, स्तुति, जप, ध्यान व श्रुतदेवता की आराधना इन छह विधियो को कहेगे—

अभिषेक विधि

मै ऐसे जिनेन्द्रदेव के अभिषेक के गृह (जिनमन्दिर) मे प्रविष्ट होता हूँ, जो लक्ष्मी देवी का गृह है, श्रुतदेवता का निवास-स्थान है व देवपूजादि करनेवाले श्रावको के पुण्यार्जन का खेत है तथा स्वर्ग व मोक्षप्राप्ति का मुख्य कारण है ॥ ६८ ॥ मै विशुद्ध परिणामरूपी जल से अपनी मानसिक शुद्धि प्राप्त करके और पवित्र जल

---

१ ध्येयाशय भव्यजन। २ हर्ष। ३ पूजायां। ४ आत्मनि चैतन्यरूपे। ५-७ स्रोत प्रवाहेन्द्रिययो अविच्छिन्नतया बाह्यप्रपञ्चरहिते पुंसि। ८ रचना। ९ उत्पद्यते ज्योति। १०. पूजा। ११ कटाक्षा एव भ्रमरा। १२ जिनबिम्ब। १३ पवित्रजलेन। १४ 'सव अभिषेक' इति पञ्जिकाकार।

[1]उदङमुख स्वय तिष्ठेत्प्राङमुख स्थापयेज्जिनम् । पूजाक्षण भवन्नित्य यमी वाचयमक्रिय ॥७०॥
[2]प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सनिधापनम् । पूजा पूजाफल चेति षडविध देवसेवनम् ॥७१॥
य श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति य योगिनो येनेद भुवन सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते ।
यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुति सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना यस्मिन्नैष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनम् ॥७२॥
[3]वीतोपलेपवपुषो न मलानुषङ्गस्त्रैलोक्यपूज्यचरणस्य कुत [4]परोऽर्घ्य [5] ।
मोक्षामृते धृतधियस्तव नैव[6] काम स्नान तत [7]कमुपकारमिद तनोतु ॥७३॥
तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुवेऽभिषव तव । को नाम सूपकारार्थं फलार्थी विहतोद्यम ॥७४॥

(इति प्रस्तावना)

[8]रत्नाम्बुभि [9]कुशकृशानुभिरात्त[10]शुद्धौ भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य[11] ।
कुर्मं [12]प्रजापतिनिकेतनदिङ्मुखानि दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि[13] ॥७५॥

द्वारा शरीर मे अत्यन्त पवित्र होकर अर्थात्—सकलीकरण व अङ्गन्यास करके श्रीमण्डप मे अष्ट मङ्गल द्रव्यो (छत्र व चमर-आदि) से अलकृत हुई वेदी पर श्री जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक यथाविधि विस्तारित करता हूँ ॥ ६९ ॥ ऐसी प्रतिज्ञा करके पूजा करनेवाला श्रावक स्वय उत्तर दिशा की ओर मुँह करके खडा हो और जिनबिम्ब का मुख पूर्व दिशा की ओर करके स्थापित करे एव पूजा के समय सदा सयमी (प्राणि-रक्षा करने वाला और इन्द्रियो को काबू मे करनेवाला) और मौन रखनेवाला, अर्थात्—पूजा-मन्त्रो के उच्चारण के सिवा दूसरो से भाषण न करनेवाला होवे ॥ ७० ॥

देवपूजा के छह विधि-विधान है—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाफल ॥७१॥

प्रस्तावना

मै उस जिनेन्द्रदेव का अभिषेक प्रारम्भ करता हूँ, जो लक्ष्मी के जन्म के लिए समुद्र-सरीखे है, जिसे योगीजन अपने मन मे चिन्तवन करते है, जिसके द्वारा यह समस्त लोक स्वामी-युक्त है, जिसके लिए समस्त देव-समूह नमस्कार करते है, जिससे द्वादशाङ्ग श्रुत का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी प्रसन्नता से मानव पुण्यशाली होते है और जिसमे ससार का कारण कर्म-सबध (राग, द्वेष व मोहादि) नही है ॥७२॥ हे प्रभो ! आपके शरीर से आगन्तुक मल के नष्ट हो जाने से आपका मैल से कोई सबध नही है, तीन लोक द्वारा पूजनीय चरण-कमल-वाले आपके दधि व दुग्ध-आदि प्रमुख पदार्थ पूज्यता के पात्र पवित्र किस प्रकार हो सकते है। इसी प्रकार मोक्षरूपी अमृत मे स्थापित की हुई बुद्धिवाले आपमे जब किसी प्रकार की वाञ्छा नही है तब यह अभिषेक आपका क्या उपकार कर सकता है ? ॥ ७३ ॥ तथापि मै अपने पुण्य-सचय के लिए आपका अभिषेक आरम्भ करता हूँ, क्योकि कौन धान्य-आदि फल का इच्छुक मानव धान्य-आदि व्यञ्जनो के लिए अपना प्रयत्न नष्ट करनेवाला होगा ? ॥ ७४ ॥

[इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ । आगे पुराकर्म कहते है]

१ उत्तरदिक । २ 'स्नापनकरणे योग्यतास्थापन प्रस्तावना प्रस्ताव' टि० ख०, 'स्नापनकरणे योग्यताख्यापन प्रस्तावना टि० च०, घ० । ३ विगतागन्तुकमलस्य तव । ४ दुग्धदधिप्रमुखपदार्थ । ५ पूज्यतापात्र पवित्र कथ ? ।' ६ वाञ्छा न । ७ अपि तु न कमपि । ८ रत्नसहितजलै कुम्भमध्ये भृङ्गारे वा पञ्चरत्न क्षिप्यते, मुद्रापण । ९ दर्भाग्निप्रज्वालन । १० गृहीत । ११ सिक्त्वा । १२ 'ब्रह्मस्थान—पीठस्थानप्रमुखानि' टि० ख०, 'ब्रह्मस्थान-प्रमुखानि' टि० घ०, 'प्रजापतिनिकेतन ब्रह्मस्थान' इति पञ्जिकाया । १३ गुम्फितानि ।

[1]पाथ पूर्णान्कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् । दुग्धाब्धीनिव निदधे प्रवालमुक्तोल्वणाश्चतुर ॥७६॥

[इति पुराकम]

यस्य स्थान त्रिभुवनशिर शेखराग्रे निसर्गात्तस्यामर्त्यक्षितिभृति[2] भवेन्नाद्भुत स्नानपीठ[3] ।
लोकानन्दामृतजलनिधेर्वारि चैतत्सुधात्व धत्ते यत्ते सवनसमये तत्र चित्रीयते क ॥७७॥
तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतै पीठे[4]पवित्रवपुषि प्रतिकल्पितार्घे[5] ।
[6]लक्ष्मी[7]श्रुतागमन[8]बीजविदर्भगर्भे[9]सस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥७८॥ (इति स्थापना)
सोऽय जिन सुरगिरिर्ननु [10]पीठमेतदेतानि दुग्धजलधे सलिलानि साक्षात् ।
इन्द्रस्त्वह तव [11]सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा तत कथमिय न महोत्सवश्री ॥७९॥ (इति सन्निधापनम्)

पुराकर्म

रत्न-सहित जलो (जल से भरे हुए कलश-आदि मे पचरत्न क्षेपण किये जाते है—मुद्रार्पण) से व दर्भाग्नि के प्रज्वालन से गृहीत शुद्धिवाली जिनेन्द्र को अभिषेक-भूमि मे दुग्ध से धरणेन्द्रो को सन्तृप्त करके ब्रह्म-स्थान (सिहासन) की पूर्व-आदि दश दिशाओ को दूर्वा, अक्षत, पुष्प व डाभो से गुम्फित करते है ॥ ७५ ॥ मै वेदी के चारो कोनो मे आम्रादि के पल्लवो से और पुष्पो से पूजित व जल से भरे हुए चार घटो को स्थापित करता हूँ, जो कि मूँगो और मोतियो की मालाओ से युक्त होने के कारण क्षीर समुद्र-सरीखे है ॥ ७६ ॥

[इस प्रकार पुराकर्म विधि समाप्त हुई]

स्थापना

जिस जिनेन्द्र का निवासस्थान स्वभाव से ही तीन लोक के मस्तक (सर्वार्थसिद्धि विमान) के ऊपर मुकुट-सरीखी सिद्ध शिला के ऊपर है, उसके अभिषेक का सिहासन सुमेरुपर्वत पर है, इसमे आश्चर्य नही है। इसीतरह हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे अभिषेक के समय लोक के आनन्दरूपी क्षीरसमुद्र का यह जल यदि अमृत-पना प्राप्त करता है तो इसमे कौन आश्चर्य करता है ? ॥ ७७ ॥

मै ऐसे सिहासन पर तीन लोक के स्वामी जिनेन्द्रदेव को स्थापित करता हूँ, जो कि मणि-जडित सुवर्ण कलशो से लाये हुए पवित्र जलो से प्रक्षालित किया गया है व जिसके लिए पूर्व मे अर्घ-प्रदान किया गया है एव जिसका मध्यभाग लक्ष्मी व सरस्वती के बीजो द्वारा श्री ह्री का गुम्फन किया गया है, अर्थात्—जिसके मध्य मे अक्षतो से श्री ह्री लिखे गये है ॥ ७८ ॥

[इस प्रकार स्थापना-विधि समाप्त हुई]

सनिधापन

यह जिनविम्ब ही निस्सन्देह वही समवसरण मे विराजमान साक्षात् जिनेन्द्रदेव है व यह सिहासन ही सुमेरु है एव कलशो मे भरा हुआ यह पवित्र जलपूर ही साक्षात् क्षीर सागर का जलपूर है तथा तुम्हारे अभिषेकरूपी अलङ्कार की शोभा के सबध से इन्द्र का रूप धारक मै ही साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक

१ जल । २. 'मेरौ' ख०, 'सुरशैले' प० । ३ सिहासन । ४ जलै प्रक्षालिते । ५ पीठस्यापि पूर्व अर्घ प्रदीयते । ६ 'श्री । ७ ह्री । ८ अक्षतै श्रीकारो लिख्यते न तु गन्धेन । ९ 'गुम्फित, मिश्रित ।' इति टि० ख०, 'लक्ष्मीश्रुतागमनबीजै श्रीसरस्वतीबीजै 'श्री, ह्री' इति प० । १० पीठमेव मेरु । ११ 'सव अभिषेक' इति प० ।

[1]यागेऽस्मिन्नाकनाथ ज्वलन [2]पितृपते [3]नैगमेय [4]प्रचेतो
वायो [5]रैदेशशेषोडु[6]पसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्रा ॥
मन्त्रैर्भू स्व स्वधाद्यैरधिगतवलय[7] स्वासु दिक्षूपविष्टा ।
[8]क्षेपीय क्षेमदक्षा कुरुत जिनसवोत्साहिना विघ्नशान्तिम् ॥८०॥
[9]देहेऽस्मिन्विहितार्चने निनदति[10]प्रारब्धगीतध्वनावातोद्यै स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चानन्दिनि प्राङ्गणे ।
मृत्स्नागोमय[11]भूतिपिण्ड[12]हरितादर्भप्रसूनाक्षतैरम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजना प्रस्तुवे ॥८१॥
[13]पुण्यद्रुमश्चिरमय नवपल्लवश्रीश्चेत सर[14] [15]प्रमदमन्दसरोजगर्भम् ।
वागापगा च मम दुस्तरतीरमार्गा स्नानामृतैर्जिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदै ॥८२॥
द्राक्षाखर्जूर[16]चोचेक्षु[17]प्राचीनामलकोद्भवै । राजादनाम्रपूगोत्थै[18] स्नापयामि जिन रसै ॥८३॥

महोत्सव की शोभा पूर्ण क्यो नही होगी ? ॥ ७९ ॥

[इस प्रकार सन्निधापन विधि पूर्ण हुई]

पूजा

इस अभिषेक महोत्सव मे, हे रक्षण-चतुर इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋति, वरुण, वायु, कुवेर, ईश, धरणेन्द्र तथा चन्द्र ! तुम लोग, जो कि ग्रहो (सोम, मगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनैश्चर, रवि, राहु व केतु) की प्रमुखता वाले हो, अपने परिवार के साथ आकर और 'भू स्व स्वधा-आदि मन्त्रो के द्वारा वलि (नैवेद्य) प्राप्त किये हुए होकर अपनी-अपनी दिशाओ (पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण-आदि) मे स्थित होकर शीघ्र ही जिनेन्द्र की अभिषेक-विधि मे उत्साहित हुए पुरुषो की विघ्न-शान्ति करो ।

भावार्थ—जिनेन्द्र की अभिषेक-विधि की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आचार्यश्री ने उक्त दिक्पालो व ग्रहो का स्मरण मात्र किया है न कि उनकी पूजा की है ॥ ८० ॥

जिनेन्द्र-शरीर के पूजित हो जाने पर, भव्यो को प्रमुदित करनेवाले जिनमन्दिर के आँगन मे, जो कि बाजो व स्तुतिपाठको के मागलिक शब्दो से गूँज रहा है एव जिसमे गीतो की ध्वनि आरम्भ हो चुकी है, मै प्रशस्त मिट्टी, जमीन पर न पडा हुआ गोबर-पिण्ड, भस्म-समूह, दूर्वा, दर्भ (कुश), पुष्प, अक्षत, जल तथा चन्दन से जिनेन्द्र भगवान् की नीराजना (आरती) करता हूँ ॥ ८१ ॥

जिनेन्द्रप्रभु के तीन लोक को प्रमुदित करनेवाले अभिषेक जलो से मेरा यह पुण्यरूपी वृक्ष चिरकाल तक नवीन पल्लवो की शोभा-युक्त हो और मेरे चित्तरूपी तडाग के मध्य मे हर्षरूपी यथेच्छ कमल विकसित हो एव मेरी वाणीरूपी नदी के तट का मार्ग दुस्तर हो, अर्थात्—उसे कोई पार न कर सके ॥ ८२ ॥

मै मुनक्कादाख, खजूर, नारियल, ईख, पका आँवला, राजादन (चिरोजी या खिरनी) आम्र व सुपारी के रसो से जिनेन्द्र का अभिषेक करता हू ॥ ८३ ॥

१ स्नापनविधौ । २ हे यम ! । ३ हे नैऋते ! । ४ हे वरुण ! । ५ हे धनद ! । ६ हे सोम ! (चन्द्र !) । ७ अधिगता प्राप्ता वलिर्यैस्ते । ८ शीघ्र । ९ जिनदेहे नीराजना प्रारेभे । १० सति । ११ भस्म । १२ दूर्वा । १३ भवतु इत्यध्याहाय । १४ चित्तमेव तडाग । १५ हृष । १६ नालिकेर । १७ 'पक्व' टि० ख०, 'प्राचीनामलक पक्वफलविशेष ' इति प० । १८ पूग क्रमुक ।

आयु प्रजासु परम भवतात्सदैव धर्मावबोध [1]सुरभिश्चिरमस्तु भूप ।
पुष्टि विनेयजनता वितनोतु काम [2]हैयगवीनसवनेन जिनेश्वरस्य ॥८४॥
येषा कर्मभुजङ्गनिर्विषविधौ बुद्धिप्रबन्धो नृणा येषा जातिजरामृतिव्युपरमध्यानप्रपञ्चाग्रह ।
येषामात्मविशुद्धबोधविभवालोके सतृष्ण मनस्ते धारोष्णपय प्रवाहधवलं ध्यायन्तु जैन वपु ॥८५॥
जन्मस्नेहच्छिदपि जगत [3]स्नेहहेतुर्निसर्गा [4]त्पुण्योपाये [5]मृदुगुणमपि [6]स्तब्धलब्धात्मवृत्ति ।
चेतोजाड्य हरदपि दधि प्राप्तजाड्यस्वभाव[7] जैनस्नानानुभवनविधौ मङ्गल वस्तनोतु ॥८६॥
एलालवङ्गकङ्कोल[8]मलयागरुमिश्रितै । पिष्टै [9]कल्कै [10]कषायैश्च जिनदेहमुपास्महे ॥८७॥
[11]नन्द्यावर्तस्वस्तिकफलप्रसूनाक्षताम्बुकुशपूलै । अवतारयामि देव जिनेश्वर [12]वर्धमानैश्च ॥८८॥

जिनेन्द्र के घृताभिषेक से प्रजाजनो की आयु सदैव चिरकालीन हो, राजा चिरकाल तक धार्मिक ज्ञान की सुगन्धि-युक्त (गुणवान्) हो एव शिष्यजन समूह (भव्य-समूह) यथेष्ट समृद्धि विस्तारित करे ॥ ८४ ॥

जिन मानवो की बुद्धि की अविच्छिन्नता (सातत्य), कर्मरूपी सर्पों को निर्विष करने मे प्रवृत्त है और जिनका जन्म, जरा व मरण के दु खो को नष्ट करनेवाले धर्मध्यान के विस्तार मे प्रगाढ अनुराग है एव जिनका मन आत्मिक विशुद्ध केवलज्ञानरूपी ऐश्वर्य के दर्शन के लिए उत्कण्ठित है, वे धारोष्ण दूध के प्रवाह से शुभ्र हुए जिनेन्द्र प्रभु के शरीर का ध्यान करे ॥ ८५ ॥

दही ससार के जन्म सबधी स्नेह (प्रेम—अनुराग) को नष्ट करनेवाला होकर के भी स्वभाव से स्नेह (प्रेम) का कारण है। यहाँ पर विरोध प्रतीत होता है, क्योकि जो स्नेह को नष्ट करनेवाला है, वह स्नेह का कारण कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि दही जिनेन्द्रप्रभु के अभिषेक के माहात्म्य से जगत की जन्मपरम्परा के स्नेह (अनुराग) को नष्ट करनेवाला है और अपि (निश्चय से) वह स्वभाव से स्नेह (घी) का कारण है। इसी प्रकार दही दान के अवसर पर मृदुगुणमपि (कोमल होकर के भी) स्तब्धलब्धात्मवृत्ति (गर्व-युक्त—सदर्प नही है) किन्तु कठिन है। यहाँ पर भी विरोध मालूम पडता है, क्योकि जो कोमल प्रकृति है वह कठिन कैसे हो सकता है, ? अत इसका परिहार यह है कि जो मृदुगुणमपि (कोमल स्वभाववाला है) और अपि (निश्चय से) स्तब्धलब्धात्मवृत्ति है (कठिन—स्थिर-होकर ही जन्म प्राप्त करता है—जमता है) इसी प्रकार जो चेतोजाड्य हरदपि (चित्त की जडता—मूर्खता नष्ट करनेवाला) होकर के भी प्राप्तजाड्यस्वभाव (मूर्खता-प्राप्त करनेवाला) है। यहाँ पर भी विरोध प्रतीत होता है, क्योकि मूर्खता-शून्य मे मूर्खता किस प्रकार हो सकती है ? अत इसका समाधान यह है कि जो चेतोजाड्य हरत् (चित्त की जडता—आलस्य) नष्ट करनेवाला है और आपे (निश्चय से) प्राप्तजाड्यस्वभाव (सघनता प्राप्त करनेवाला या जलस्वभाव) है, ऐसा दही जिनेन्द्र-प्रभु के अभिषेक के माहात्म्य से तुम्हारा कल्याण विस्तारित करे ॥ ८६ ॥

हम इलायची, लौग, कङ्कोल (सुगन्धि जडी बूटी), चन्दन व अगुरु इनके चूर्णो के कल्को (सुगन्धि जलो) से और पकाकर तैयार किये हुए इनके काढो से जिनेन्द्रदेव के शरीर की उपासना करते है ॥ ८७ ॥

---

१ सुगन्ध गुणवानित्यर्थ । २ घृत । ३ पक्षे घृत । ४ दाने । ५ कोमल सूहालू ? । ६ सदर्प न किन्तु कठिन वर्तते । ७ मूर्खत्व न किन्तु सघन । ८ मलय चन्दन । ९ त्वक्चूर्णैं । १० पचप्रकारत्वक्क्वाथै ।

११ आश्रुत्य स्नपन विशोध्य तदिला पीठ्या चतुष्कुम्भयुक् कोणायो सकुशश्रिया जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् । नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभि सिक्त्वा कृतोद्वर्तनम् ।* सिक्त कुम्भजलैश्च गन्धसलिलै सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥
—सागारधर्मा० अ० ६ ।

* एलादिचूर्णकल्ककषायैरुद्वर्त्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतारण । —सस्कृत टी० सागार० धर्मा० अ० ६ । १२ शरावपुटै ।

ॐ भक्तिभरविनतोरगनरसुरासुरेश्वरशिर किरीटकोटिकल्पतरुपल्लवायमानचरणयुगलम्, अमृताशनाङ्गनाकर-विकीर्यमाणमन्दारनमेरुपारिजातसंतानकवनप्रसूनस्पन्दमानमकरन्दस्वादोन्मदमिलन्मत्तालिकुलप्रलापोत्तालित[1] निलिम्पाल-प्ति[2]व्यापारिगलम्, अम्बरचरकुमारहेलास्फालितवेणुवल्लकीपणवानकमृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरी[3]भम्भाप्रभृत्य नवधि[4]घन[5]शुषिर[6]तताव[7]नद्धवाद्यनादनिवेदितनिखिलविष्टपाधिपोपासनावसरम्, अनेकामर[8]विकिरकुलकीर्णकिशलयाशोकानोकुहोल्लसत्प्रसवपरागपुनरुक्तसकल[9]दिक्पाल*हृदयरागप्रसरम्, अखिलभुवनैश्वर्यलाञ्छनातपत्रत्रय[10]शिखण्ड-मण्डनमणिमयूखरेखालिख्यमान[11]मखमुखरखेचरी[12]भालतलतिलकपत्रम, अनवरतयक्षविक्षिप्यमाणोभयपक्षचामरपरम्परा-शुजालधवलितविनेयजनमन प्रासादचरित्रम्, अशेषप्रकाशितपदार्थातिशायिशारीरप्रभापरिवेषमुषित[13]परिषत्सभास्तार[14]-मतितिमिरनिकरम्, अनवधिवस्तुविस्तारात्मसाक्षात्कारासारविस्फारितसरस्वतीतरङ्गसङ्गसर्तर्पितसमस्तसत्त्वसरोजाकरम्,

---

नन्द्यावर्तक, स्वस्तिक, फल, पुष्प, अक्षत, जल और कुश-समूह से तथा सराव पुटो (सकोरो) से जिनेन्द्रप्रभु को अवतारित करता हूँ ।। ८८ ।।

जिनके चरणयुगल भक्ति के भार से नम्रीभूत हुए धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, इन्द्र व असुरेन्द्रो के मस्तको पर धारण किये हुए मुकुटो के अग्रभाग पर कल्पवृक्ष के पल्लव-सरीखे आचरण करते है। जिन्होने ऐसे मतवाले भ्रमर-समूह की गुञ्जायमान ध्वनि से उत्कण्ठित किये गए देवो के गले सगीत करने के व्यापार-युक्त किये है, जो कि देवियो के हस्तो द्वारा क्षेपण किये जा रहे मन्दार, नमेरु, पारिजात व सन्तानक कल्पवृक्षो के वनो के पुष्पो से प्रवाहित हो रहे पुष्परस का पान करने से मतवाले होकर एकत्रित हो रहे थे। जिन्होने विद्याधर-कुमारो द्वारा क्रीडापूर्वक बजाये जानेवाले बाँसुरी, वीणा, पणव (ढोल या तबला), भेरी, नगाडा, मृदङ्ग, शङ्ख, बडा ढोल, त्रिविल (वाद्यविशेष), ताल (मँजीरा), झाँझ, भेरी व भम्भा (हुडुक्का), आदि एव वेमर्याद घन (तालादि), शुषिर (वश-आदि), तत (वीणादि), अवनद्ध (मुरजादि) की ध्वनि द्वारा समस्त विश्व के स्वामियो (इन्द्र-आदि) के लिए उपासना करने का अवसर सूचित किया है। जिन्होने अनेक देवो व पक्षि-समूह द्वारा क्षेपण की हुई कोपलोवाले अशोकवृक्षो की शोभायमान पुष्पधूलि से समस्त दिक्पालो के हृदयो का प्रेम-विस्तार द्वि-गुणित किया है। जिनके द्वारा स्तुति करने मे वाचाल हुई विद्याधरियो के ललाट-तल की तिलकरचना, समस्त लोको के ऐश्वर्य के चिह्नरूप तीन छत्रो के मस्तक पर अलकृत हुई मणियो की किरण-पङ्क्ति द्वारा चित्रित की जा रही है। जिन्होने शिष्यजनो के मनरूपी महल का चरित्र (आचरण व पक्षान्तर मे मार्ग) निरन्तर यक्षजाति के देवो द्वारा दोनो बाजू ढोरी जानेवाली चामरो की श्रेणी के किरण-समूह से शुभ्र किया है। जिन्होने समस्त प्रकाशशील पदार्थो को अतिक्रमण करनेवाले अपने शारीरिक कान्ति के परिवेश (घेरा) द्वारा समवसरणसभा के सभासदो की बुद्धि का अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह नष्ट किया है।

अनन्त पदार्थो के विस्तार को प्रत्यक्ष करनेवाले केवलज्ञानरूपी आसार (जलवृष्टि) से बढी हुई सरस्वतीरूपी नदी की तरङ्गो के ससर्ग से जिन्होने समस्त प्राणीरूपी कमल-समूह को अत्यन्त सन्तुष्ट किया है।

---

१ उत्सुकीकृत। २ गीत। ३ 'हुडुक्का' प०, 'नफेरी' टि० ख०। ४ तालादिक। ५ वशादि। ६. वीणादि। ७ मुरजादि। ८ पक्षी। ९ नृप। * 'हृदयपरागप्रसर' क०। १० मस्तक। ११ स्तुति। १२ ललाट। १३ 'समज्यापरिषद्गोष्ठी सभा समितिससद । आस्थानी क्लीवमास्थान स्त्रीनपुसकयो सद'।। टि० ख०, 'परिषत् समवसरणसभा' इति प०। १४ 'सभासद सभास्तार सभ्या सामानिकाश्च ते।' टि० ख०, 'बुधा' इति प०।

[1]इभारातिपरिवृढोपवाह्यमानासनावसानलग्नरत्नकरप्रसरपल्लवितवियत्पादपाभोगम्, अनन्यसामान्यसमवसरणसभासीन-मनुजदिविजभुजङ्गेन्द्रवृन्दवन्द्यमानपादारविन्दयुगलम्,

[2]मद्भाविलक्ष्मीलतिकावनस्य प्रवर्धनावर्जित[3]वारिपूरैः । जिनं चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भैर्नभःसदो[4] धेनुपयोधराभैः ॥८९॥

लक्ष्मीकल्पलते[5] समुल्लस जनानन्दैः परं पल्लवैर्[6]धर्माराम फलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो भव ।
[7]बोधाधीश विमुञ्च सम्प्रति मुहुर्दुष्कर्मधर्मक्लमं त्रैलोक्यप्रमदावहैर्जिनपतेर्गन्धोदकैः स्नापनात् ॥९०॥

शुद्धैर्विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकैः[8] । करोम्य[9]वभृथस्नानमुत्तरोत्तरसम्पदे ॥९१॥

[10]अमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाङ्कबीजे[11]कलादले[12]कमले । संस्थाप्य पूजयेयं त्रिभुवनवरदं जिनं विधिना ॥९२॥

जिन्होने सिंह-स्वामी द्वारा धार्यमाण आसन (सिंहासन) के अन्त मे जडे हुए रत्नो की किरणो के प्रसार से आकाश रूपी विस्तृत वृक्ष को पल्लवित किया है एवं अनोखी समवसरणसभा मे स्थित हुए चक्रवर्ती, इन्द्र व धरणेन्द्रो के समूह द्वारा जिनके दोनो चरणकमल वदनीय किये जा रहे है।

जिनमे मेरी भविष्य मे होनेवाली लक्ष्मीरूपी लता के वन को वृद्धिगत करनेवाला जलपूर ग्रहण किया गया है (भरा गया है) व जिनकी कान्ति देवो की कामधेनु के स्तनो-सरीखी शुभ्र है, ऐसे चार कलशो से पूर्वोक्त जिनेन्द्रप्रभु का अभिषेक करता हूँ★ ॥ ८९ ॥

जिनेन्द्रप्रभु के तीन लोक को आनन्ददायक गन्धोदको के अभिषेचन से हे लक्ष्मीरूपी कल्पलता ! तुम मनुष्यो के आनन्दरूपी पल्लवो से उल्लास को प्राप्त हो जाओ । हे धर्मरूपी उद्यान ! तुम फलो से अत्यन्त मनोज्ञ होकर भव्य प्राणियो द्वारा सेवनीय हो जाओ और हे ज्ञानवान् आत्मा ! तुम अब दुष्कर्मरूपी सन्ताप की ग्लानि को बार बार छोडो ॥ ९० ॥

मै केवलज्ञानी जिनेन्द्रप्रभु का शुद्ध व श्रेष्ठ जलो से अभिषेक करके सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए यज्ञान्तस्नान (अभिषेक करने के पश्चात् स्नान करके अष्टप्रकारी पूजा की जाती है, यह क्रम है) करता हूँ ॥ ९१ ॥

मै, सोलह पाखुडीवाले, जिन (पाखुडियो) मे अकार-आदि सोलह स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) लिखकर चिन्तवन किये गए है, कमल पर, जिसकी कर्णिका पकार (प व्यञ्जन) से निर्मित हुई है, अर्थात्—जिसकी कर्णिका मे पकार लिखकर चिन्तवन किया गया है, जिसके (कर्णिका के) मध्य अपना नाम स्थापित किया गया है, अर्थात्—जिसमे विशुद्ध आत्मद्रव्य या अर्हन्तप्रभु या ह्रूँ को स्थापित करके चिन्तवन किया गया है, तीन लोक को अभिलषित वस्तु देनेवाले जिनेन्द्र-प्रभु को विधि पूर्वक स्थापित करके उनकी पूजा करता हूँ।

भावार्थ—शास्त्रकारो ने धर्मध्यान के चार भेद निर्दिष्ट किये है। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

---

१ सिंह । २ मम । ३ उपात्त । ४ कामधेनु । ५ हे त्वमुल्लास प्राप । ६ सह । ७ हे आत्मन् ! । ८ 'मेघजलैः तडागादानीतैः' टि० ख०, 'उत्तरोदकैः मेघोदकैः हसोदकैर्वा' इति प० । ९ यज्ञान्तस्नान, अभिषेके कृते सति पुनः स्नात्वा पश्चादष्टप्रकारी पूजा क्रियते इति क्रमः । १०-११-१२ 'पकारेण (पवर्ण) कर्णिका क्रियते, तन्मध्ये स्वकीयं नाम निक्षिप्यते, षोडशदलेषु अकारादयः स्वराः लिख्यन्ते' टि० ख० घ० च० । 'अमृत पवर्ण , कला अकारादयः षोडश' इति प० । ★ रूपक व उपमालंकार ।

पिंडस्थ ध्यान मे विवेकी व सयमी धार्मिक पुरुष को पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती इन पाँच धारणाओ—ध्येयतत्त्वो—का ध्यान, दु खो को निवृत्ति के लिए करना चाहिए।

पार्थिवी धारणा मे मध्यलोकगत स्वयभूरमण समुद्र पर्यन्त तिर्यग्लोक के बराबर, नि शब्द, तरङ्गो से रहित और बर्फ-सरीखा शुभ्र ऐसे क्षीर समुद्र का ध्यान करे। उसके मध्य मे सुन्दर रचना-युक्त, अमित दीप्ति से सुशोभित, पिघले हुए सुवर्ण के समान प्रभा-युक्त, हजार पत्तोवाला, जम्बूद्वीप के बराबर और मनरूपी भ्रमर को प्रमुदित करनेवाला ऐसे कमल का चिंतवन करे। तत्पश्चात् उस कमल के मध्य मे सुमेरुपर्वत के समान पीतरग की कान्ति से व्याप्त ऐसी कर्णिका का ध्यान करे। पुन उसमे शरत्कालीन चन्द्र-सरीखा शुभ्र और ऊँचे सिंहासन का चिन्तवन करके उसमे आत्मद्रव्य को सुखपूर्वक विराजमान, शान्त और क्षोभ-रहित, राग, द्वेष व मोह-आदि समस्त पाप कलङ्क को क्षय करने मे समर्थ और ससार-जनित ज्ञानावरण-आदि कर्म-समूह को नष्ट करने मे प्रयत्नशील चिन्तवन करे। इति पार्थिवी धारणा।

आग्नेयी धारणा मे निश्चल अभ्यास से नाभिमडल मे सोलह उन्नत पत्तोवाले एक मनोहर कमल का और उसकी कर्णिका मे महामन्त्र (र्हं) का, तथा उक्त सोलह पत्तो पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अ और अ इन सोलह अक्षरो का ध्यान करे।

पश्चात् हृदय मे आठ पाखुडीवाले एक ऐसे कमल का ध्यान करे, जो अधोमुख (ओधा) हो और जिसपर ज्ञानावरण-आदि आठ कर्म स्थित हो।

पश्चात्-पूर्वचिन्तित नाभिस्थ कमल की कर्णिका के महामन्त्र की रेफ से मन्द-मन्द निकलती हुई धूम की शिखा का, और उससे निकलती हुई प्रवाहरूप स्फुलिङ्गो की पक्ति का, पश्चात् उससे निकलती हुई ज्वाला की लपटो का चिन्तवन करे। इसके बाद उस ज्वाला (अग्नि) के समूह से अपने हृदयस्थ कमल और उसमे स्थित कर्म-समूह को जलाता हुआ चिन्तवन करे। इस प्रकार आठो कर्म जल जाते है, यह ध्यान की ही सामर्थ्य है।

पश्चात् शरीर के वाह्य ऐसी त्रिकोण वह्नि (अग्नि) का चिन्तवन करे, जो कि ज्वालाओ के समूह से प्रज्वलित वडवानल के समान, अग्नि-वीजाक्षर 'र' से व्याप्त व अन्त मे साथिया के चिन्ह से चिन्हित, ऊर्ध्व-मण्डल से उत्पन्न, धूम-रहित और सुवर्ण-सरीखी कान्ति-युक्त हो। इस प्रकार धगधगायमान फैलती हुई लपटो के समूह से देदीप्यमान बाहर का अग्निपुर, अन्तरङ्ग की मन्त्राग्नि को दग्ध करता है।

तत्पश्चात् यह अग्निमडल उस नाभिस्थ कमल-आदि को भस्मीभूत करके दाह्य—जलाने-योग्य-पदार्थ का अभाव होने के कारण स्वय शान्त हो जाता है। इति आग्नेयी धारणा—

मारुती धारणा मे ध्यानी सयमी मनुष्य को, आकाश मे पूर्ण होकर सचार करनेवाले, महावेगशाली, महाशक्तिशाली, देवो की सेना को चलायमान करनेवाला और सुमेरुपर्वत को कम्पित करनेवाला, मेघो के समूह को बखेरनेवाला, समुद्र को क्षुब्ध करनेवाला, दशो दिशाओं मे सचार करनेवाला, लोक के मध्य मे सचार करता हुआ और ससार मे व्याप्त ऐसे वायु मडल का चिन्तवन करे। तत्पश्चात् उस वायुमडल द्वारा कर्मो के दग्ध होने से उत्पन्न हुई भस्म को उडाता हुआ ध्यान करे। पुन उस वायु मडल को स्थिर चिन्तवन कर उसे शान्त करे। इति मारुती धारणा।

वारुणी धारणा मे ध्यानी मानव, ऐसे आकाशतत्त्व का चिन्तवन करे, जो कि इन्द्रधनुष और विजली

पुण्योपार्जनशरण[1]पुराणपुरुष स्तवोचिताचरणम् । [2]पुरुहूतविहितसेवं [3]पुरुदेव पूजयामि तोयेन ॥९३॥
[4]मन्दमदमदनदमन मन्दरगिरिशिखरमज्जनावसर । कन्द[5]सुमालतिकायाश्चन्दनचर्चाचित जिन कुर्वे ॥९४॥

[6]अवमतरुगहनदहन निकामसुख[7]सभवामृतस्थानम ।
आगमदीपालोक कलमभवैस्तन्दुलैर्भजामि जिनम् ॥९५॥

[8]स्मरसविमुक्तसूक्ति विज्ञानसमुद्र[9]मुद्रिताशेषम । श्रीमानसकलहस कुसुमशरैरर्चयामि जिननाथम् ॥९६॥

की गर्जना-आदि चमत्कारवाले मेघो के समूह से व्याप्त हो। इसके बाद अर्धचन्द्राकार, मनोज्ञ और अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश को बहाते हुए वरुणमडल (जलतत्त्व) का ध्यान करके उसके द्वारा उक्त कर्मो के क्षय से उत्पन्न होनेवाली भस्म को प्रक्षालन करता हुआ चिन्तवन करे। इति वारुणो धारणा।

तत्त्वरूपवती धारणा मे सयमी व ध्यानी पुरुष सप्तधातु-रहित, पूर्णचन्द्र के सदृश कान्ति-युक्त और सर्वज्ञ के समान अपनी विशुद्ध आत्मा का ध्यान करे। इति तत्त्वरूपवती धारणा।

इस प्रकार अभी तक पिडस्थ ध्यान का सक्षिप्त विवेचन किया गया है, अन्य पदस्थ-आदि का स्वरूप ज्ञानार्णव शास्त्र से जान लेना चाहिए।

विस्तार के भय से हम यहाँ उसका सकलन नही करते। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत पद्य मे आचार्यश्री ने आग्नेयी व तत्त्वरूपवती धारणा का विवेचन करते हुए यथार्थ पूजा का निरूपण किया है * ॥९२॥

मै ऐसे प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ भगवान् की जल से पूजा करता हूँ, जो कि पुण्योपार्जन के गृह है, जो पुराण पुरुष हे, जिनका चारित्र स्तुति के योग्य है और जिनकी पूजा इन्द्रो द्वारा की गई है ॥ ९३ ॥ जो प्रचुर दर्पवाले काम का दमन करनेवाले है, जिनको सुमेरुपर्वत की शिखर पर अभिषेक का अवसर प्राप्त हुआ है और जो कीर्तिरूपी लता की जड है, उन जिनेन्द्रदेव को हम चन्दन के लेप से पूजित करते है ॥ ९४ ॥ मै ऐसे जिनेन्द्र की धान्य-तण्डुलो (अक्षतो) से पूजा करता हूँ, जो दोष (राग-आदि) रूपी वृक्षो के वन को भस्म करने के लिए अग्नि-सरीखे है, जो अनतसुख की उत्पत्ति के लिए मोक्ष-सदृश है और जिनमे आगम (द्वादशाङ्ग श्रुत) रूपी दीपक का प्रकाश वर्तमान है ॥ ९५ ॥

जिनकी सूक्तियाँ (वचन) राग से रहित है, जिन्होने (केवलज्ञान) रूपी समुद्र द्वारा समस्त लोक को वेष्टित किया है और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवर के राजहस है, उन जिनेन्द्र प्रभु की पुष्पो से पूजा करता हूँ ॥ ९६ ॥ मै ऐसे अर्हन्त भगवान् की नैवेद्य से पूजा करता हूँ, जिनकी नीतियाँ—नय-अनन्त है, अर्थात्—जो

---

१ गृहम् । २ पुरुहूत शक्र । ३ आदिदेव ।
४ प्रचुरदर्पसहितकाम । ५ कीर्ति । ६ दोष । ७ सभवाथ मोक्षसदृश । ८ रागाद्विमुक्ता सूक्तिर्वचन यस्य स र्त ।
९ वेष्टित ।

* प्रस्तुत लेखमाला 'नीतिवाक्यामृत' (हमारी भाषा-टीका) आन्वीक्षिकीसमुद्देश पृ० १०१, १०२ से सकलन की गई है—सम्पादक

अर्हन्तममितनीतिं निरञ्जन मि[1]हिरमाधिदावाग्ने । आराधयामि हविषा मुक्तिश्रीरमितमानसमङ्गनम् ॥९७॥
भक्त्या नतामराशयकमलवना[2]रालतिमिरमार्तण्डम् ।
जिनमुपचरामि दीपैः सकलसुखाराम[3]कामदमकामम् ॥९८॥
अनुपमकेवलवपुषं[4]सकलकलाविलयवर्तिरूपस्थम् । योगावगम्यनिलयं यजामहे [5]निखिलगं जिनं धूपैः ॥९९॥
स्वर्गापवर्गसगतिविधायिनं व्यस्तजातिमृतिदोषम् । व्योमचरामरपतिभिः स्मृतं फलैर्जिनपतिमुपासे ॥१००॥
अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्ग[6]महविर्दीपैः सधूपैः फलैरर्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम् ।
तं स्तौमि प्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनं [7]त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये[8] श्रद्दधे ॥१०१॥
[9]यज्ञैर्मुदावभृ[10]थभाग्भिरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥१०२॥ (इति पूजा)

अनन्त नयो के स्वरूप के प्रतिपादक है, जो निरञ्जन (राग, द्वेष व मोहरूपी अञ्जन से रहित—वीतराग-विशुद्ध) है, जो मानसिक व्याधिरूपी दावानल अग्नि को बुझाने के लिए मेघ-सरीखे है, जिनका मन मुक्तिरूपी लक्ष्मी के साथ अनुरक्त है और जो कामदेव-सरीखे मनोज्ञ है ॥ ९७ ॥

मै ऐसे जिनेन्द्रदेव की दीपो से पूजा करता हूँ, जो कि भक्ति से नम्रीभूत हुए देवो के चित्तरूपी कमल-वन का विषमान्धकार (निविड अज्ञानान्धकार व पक्षान्तर मे विकसित न होना) नष्ट करने के लिए सूर्य-सरीखे है, जो समस्त सुखो के लिए उद्यान रूप हुए अभिलषित वस्तु देनेवाले है एव जो काम-वासना से रहित है ॥ ९८ ॥ हम ऐसे जिनेन्द्रदेव की धूप से पूजा करते है, जिनका अनोखा केवलज्ञान और अनोखा परमौदारिक शरीर है, समस्त भावकर्मो (रागादि) के नष्ट हो जाने पर जो रूप रहता है, उसी रूप (केवलज्ञान स्वरूप) मे जो स्थित है और जिनका स्थान (मोक्ष) ध्यान के द्वारा जानने योग्य है एव जो केवलज्ञान की अपेक्षा समस्त पदार्थो मे व्यापक है ॥ ९९ ॥

मै ऐसे जिनेन्द्र की फलो से उपासना (पूजा) करता हूँ, जो कि स्वर्गश्री व मुक्तिश्री के साथ सगम करानेवाले है, जिन्होने जन्म व मरणरूपी दोष नष्ट कर दिये है और जो विद्याधरो के स्वामियो व देवेन्द्रो द्वारा स्मरण किये गये है ॥१००॥ अभिषेक—समारोह के पश्चात् तीन लोक के गुरु श्रीजिनेन्द्र की जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप व फलो से पूजा करके मै उनकी स्तुति करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हे अपने चित मे स्थापित करता हूँ एव द्वादशाङ्ग श्रुत की आराधना करता हूँ तथा तीन लोक मे उत्पन्न होने वाले उस यज्ञोत्सव की तीनो कालो मे अनुमोदना करता हूँ, अर्थात्—जहाँ कही यज्ञ (पूजा) होता है, उसकी मै अनुमोदना करता हूँ ॥ १०१ ॥ यज्ञान्त स्नान किया हुआ मै जिनका पादपीठ (चरणो के पास का स्थान), पुष्पाञ्जलि-समूह से भरा हुआ है, उन जिनेन्द्रदेव की पूजा द्वारा हर्षपूर्वक उपासना करके पुन मै उनकी श्वेत छत्र, चमर व दर्पण-आदि माङ्गलिक द्रव्यो से आराधना करता हूँ ॥ १०२ ॥

[इस प्रकार पूजा समाप्त हुई, आगे पूजा का फल बतलाते है—]

---

१ मेघ । २ विषमान्धकार । ३ वाञ्छितप्रद । ४ कला भावकर्माणि तासा विलये विनाशे सति, सकलकलाविलये वर्तते यद् रूप तत्सकलकलाविलयवर्तिरूप तत्र तिष्ठतीति तत्स्थ केवलज्ञानसरूपमित्यर्थ । ५ सवज्ञ केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापक । ६ पुष्प । ७ त्रैलोक्ये प्रभव उत्पत्तिर्यस्य महस्य स त । ८ यत्र कुत्रापि यज्ञो वतते तमनुमोदयामि । ९ पूजाभि । १० यज्ञान्तस्नान ।

भक्तिर्नित्य जिनचरणयो सर्वसत्त्वेषु मैत्री सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे ।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्ति परार्थे भूयादेतद् भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ॥१०३॥
प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसनिधिरिय मुनिमाननेन ।
सायतनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्य त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥१०४॥
धर्मेषु [1]धर्मनिरतात्मसु [2]धर्महेतौ धर्मादवाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूल ।
नित्य जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्या काम प्रजाश्च परमा श्रियमाप्नुवन्तु ॥१०५॥ (इति पूजाफलम्)
आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणैर्व्याक्षेपतो वात्मनश्चापल्यान्मनसो मतेर्जडतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे ।
य कश्चित्तव सस्तवेषु समभूदेष प्रमाद स मे मिथ्या, स्तान्ननु देवता प्रणयिना तुष्यन्ति भक्त्या यत ॥१०६॥
देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च । यो भुञ्जीत गृहस्थ सन्स भुञ्जीत पर तम [3] ॥१०७॥
इत्युपासकाध्ययने स्नपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंश कल्प ।
नमदमरमौलिमण्डलविलग्नरत्नांशुनिकरगगनेऽस्मिन् । [4]अरुणायतेऽङ्घ्रियुगल यस्य स जीयाज्जिनो देव ॥१०८॥

पूजा-फल

हे भगवन् ! जब तक आपका केवलज्ञानरूप प्रकाश मेरी आत्मा मे प्रकट हो तब तक जिन भगवान् के चरणो मे मेरी भक्ति हो, समस्त प्राणियो मे मेरा मैत्रीभाव (दु ख उत्पन्न न होने की अभिलाषा) हो। मेरी धन-वितरण की बुद्धि समस्त अतिथियो के सत्कार मे सलग्न होवे, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्व मे लीन रहे, मेरी विद्वानो के प्रति प्रेम-तत्परता हो तथा मेरी चित्तवृत्ति परोपकार करने मे प्रवृत्त हो ॥ १०३ ॥ हे देव ! मेरी प्रात कालीन विधि आपके चरणकमलो की पूजा से सम्पन्न हो, मध्याह्न-वेला का समागम साधुओ के सन्मान मे व्यतीत हो एव मेरी सायकालीन वेला भी सदा आपके चारित्र-कथन की कामना मे व्यतीत हो ॥१०४॥

धर्म के आचरण से प्रभावशाली हुआ राजा धर्म (उत्तम क्षमा-आदि), धार्मिक जन (मुनि-आदि) व धर्म साधनो (चैत्यालय, मुनि, शास्त्र व सघ) के विषय मे सदा अनुकूल रहे और सदा जिनेन्द्र के चरण-कमलो की पूजा से प्राप्त हुए पुण्य द्वारा पुण्यशालिनी हुई जनता यथेष्ट उत्कृष्ट लक्ष्मी प्राप्त करे ॥ १०५ ॥ हे देव ! शरीर के आलस्य से या इन्द्रियो का दूसरी जगह उपयोग के चले जाने से, आत्मा की दूसरे कार्य मे व्याकुलता के कारण, मानसिक चञ्चलता से, बुद्धि की जडता से और वचनो के स्पष्ट उच्चारण की मन्दता के कारण तुम्हारी स्तुतियो मे मुझ से जो कुछ प्रमाद हुआ है, वह मिथ्या हो। क्योकि निस्सन्देह देवता तो अनुरक्तो की भक्ति से सन्तुष्ट होते है ॥ १०६ ॥

जो मानव गृहस्थ होकर के भी देवपूजा किये विना और साधुओ की सेवा किये विना भोजन करता है, वह महापाप खाता है ॥ १०७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे अभिषेक व पूजन-विधि नामका छत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

ऐसे वे जिनेन्द्र देव जयवन्त हो, जिनके चरण-युगल नमस्कार करते हुए देवो के मुकुटो के समूह मे खचित रत्न-किरणो के समूहरूपी आकाश मे सूर्य-सरीखे आचरण करते हैं ॥ १०८ ॥ जिनके चरणो के नखो का किरण-समूह, इन्द्राणी के श्रोत्रो पर स्थित हुई कल्पवृक्ष की ईषद्विकसित मञ्जरी जैसा मनोज्ञ है, वे जिनेन्द्र

१ धार्मिकेषु । २ चैत्यालयमुनिशास्त्रसघेषु । ३ पाप । ४ सूर्यवदाचरति ।

सुरपतियुवतिश्व[1]वसाममरतरु[2]स्मेरमञ्जरीरुचिरम् । चरणनखकिरणजाल यस्य स जयताज्जिनो जगति ॥१०९॥

वर्ण — [3]दिविजकुञ्जरमौलिमन्दारमकरन्द*स्य[4]न्दनि, करविसरसारधूसरपदाम्बुज,
वैदग्धीपरमप[5]दप्राप्तवादजयविजितमनसिज ॥११०॥

मात्रा—यस्त्वाममितगुण जिन कश्चित्सावधिबोध स्तौति विपश्चित् ।
नूनमसौ ननु काञ्चनशैल तुलयति हस्तेनाचिरकालम्[6] ॥१११॥
स्तोत्रे यत्र महामुनिपक्षा [7]सकलैतिह्याम्बुधिविधिदक्षा ।
मुमुचुश्चिन्तामनवधिबोधास्तत्र कथ ननु मादृग्बोधा[8] ॥११२॥
तदपि वदेय किमपि जिन त्वयि यद्यपि शक्तिर्नास्ति तथा मयि ।
यदिय भक्तिर्वा मौनस्थ*देव न काम कुरुते स्वस्थम् ॥११३॥

चतुष्पदी—सुरपतिविरचितसस्तव दलिताखिलभव परमधामलब्धोदय ।
कस्तव जन्तुर्गुणगणमघहरचरण[9] प्रवितनुता हतनतभय ॥११४॥
जय निखिलनिलिम्पा[10]लापकल्प[11] जगतीस्तुतकीर्तिकलत्रतल्प[12] ।
जय [13]परमधर्महर्म्यावतार लोकत्रितयोद्धरणैकसार[14]॥११५॥

प्रभु जगत मे जयवन्त हो ॥ १०९ ॥ जिनके चरणकमल देवेन्द्रो के मुकुटो पर स्थित हुए मन्दारजाति के कल्पवृक्षो के पुष्पो के मकरन्द (पुष्प-रस) के स्यन्दकारी (बहनेवाले) प्रसार (फैलाव) के सार से ईषत्पाण्डु (कुछ शुभ्र) किये गए है, विद्वत्ता मे सर्वोत्कृष्ट होने से जिन्होने वाद (शास्त्रार्थ) मे विजय श्री (अथवा टिप्पणीकार के अभिप्राय से कीर्ति लक्ष्मी) प्राप्त की है और जो कामदेव को जीतनेवाले हैं, ऐसे हे जिनेन्द्रदेव ! ॥ ११० ॥ सीमितज्ञानी जो कोई विद्वान् अपरिमित गुणवान् आपकी स्तुति करता है, वह शीघ्र हाथ से सुमेरु-पर्वत को तोलता है ॥ १११ ॥ समस्त आगमरूपी समुद्र के अवगाहन करने मे निपुण, असीम ज्ञानधारी महा-मुनि-समूह भी जब जिस प्रभु की स्तुति करने का विचार छोड चुके तब निश्चय से मुझ-सरीखा अल्पज्ञानी आपकी स्तुति करने का विचार किस प्रकार कर सकता है ? ॥ ११२ ॥ हे जिनेन्द्र ! यद्यपि मेरे मे आपकी स्तुति करने की शक्ति नही है तथापि कुछ कहता हूँ, क्योकि आपकी यह भक्ति मौन धारण करनेवाले मुझे यथेष्ट सुखी नही करती ॥ ११३ ॥

जिनकी इन्द्रो ने स्तुति की, जो समस्त ससार परिभ्रमण को नष्ट करनेवाले है, जिन्होने सर्वोत्तम मोक्षस्थान के कारण प्रातिहार्य-आदि वैभव प्राप्त किया, जिनके चरण पाप-नाशक है एव जो भक्त प्राणियो का भय नष्ट करनेवाले है, ऐसे हे प्रभो ! कौन मानव आपके गुण-समूह का विस्तार से कथन कर सकता है ॥ ११४ ॥ जो समस्त देवो की स्तुति के ग्रन्थरूप है और जो समस्त पृथिवी के द्वारा स्तुति की गई कीर्ति-रूपी कामिनी के लिए शय्यारूप है, ऐसे हे प्रभो ! आपकी जय हो । जो उत्कृष्ट धर्म के अवतार मे प्रासादप्राय हैं और जिनकी अद्वितीय शक्ति तीन लोक के उद्धार करने मे समर्थ है, ऐसे हे जिन ! आपकी जय हो ॥ ११५ ॥

---

१ कर्णाना । २ ईषद्विकसित । ३ देवप्रधान । * 'स्यदकर' ख०, । ४ स्यन्दकारी विसर प्रसार, मन्दारपुष्पाणा मकरन्दसमूहप्रसारसारेण धूसर ईषत्पाण्डुकृत । ५ पदे प्राप्तो वादे यश येन । ६ शीघ्र । ७ 'समूहा महामुनय एव' ख०, 'पक्षा समूह ' टि० च० । ८ कर्ता । * 'देव निकाम कुरुते स्वस्थ' क० । ९ अपि तु न कश्चित् तव गुणसमूह प्रवितनुता । १० स्तुति । ११ ग्रन्थ । १२ शय्या । १३ धर्मस्य प्रासादप्राय । १४ 'सारो मज्जास्थि-राशयो वले श्रेष्ठे च' टि० ख० । 'सार स्यान्मज्जनि वले स्थिराशेऽपि पुमानयम् । सार न्याय्ये जले वित्ते सार स्याद्वाच्यवद्वरे' इति विश्व ' इति सकलन सम्पादकस्य ।

जय लक्ष्मीकरकमलार्चिताङ्ग सारस्वतरसनटनाटचरङ्ग ।
जय[1]बोधमध्यसिद्धाखिलार्थ मुक्तिश्रीरमणीरतिकृतार्थ ॥११६॥
नमदमरमौलि★मन्दिरतटान्तराजत्पदनखनक्षत्रकान्त[2] ।
विबुधस्त्रीनेत्राम्बुजविबोध[3]मकरध्वजधनु[4]रुद्धवनिरोध ॥११७॥
बोधत्रयविदितविधेयतन्त्र[5] का नामापेक्षा तव परत्र[6] ।
दधत[7] प्रबोधमसुभृज्जनस्य गुरुरस्ति कोऽपि किमिहारुणस्य[8] ॥११८॥
[9]निजबीजबलान्मलिना[10]पि महति[11]धी शुद्धि परमामभव भजति ।
युक्ते कनकाश्मा भवति हेम[12] किं कोऽपि तत्र विवदेत नाम ॥११९॥

हे लक्ष्मी के करकमलो द्वारा पूजित शरीरवाले, हे सारस्वत रसरूपी नट के अभिनय के लिए रङ्गमञ्च-सरीखे प्रभो! आपकी जय हो। हे केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थो के ज्ञाता और हे मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के साथ रतिविलास करने से कृतार्थ हुए प्रभो! आपकी जय हो ॥ ११६ ॥ नमस्कार करते हुए देवो के मुकुटरूपी सुमेरु-तट के प्रान्तभाग मे जिनके चरण-नखरूपी चन्द्र सुशोभित हो रहे है, जो देवियो के नेत्ररूपी कमलो को विकसित करते है, जो कामदेव के धनुष का गर्व रोकने वाले है, ऐसे हे प्रभो! आप जयवन्त हो ॥ ११७ ॥ जैसे इस लोक मे प्राणि-जनो का जागरण करनेवाले सूर्य का क्या कोई गुरु है? वैसे ही मति, श्रुत व अवधिज्ञान के द्वारा जानने योग्य वस्तु-समूह को जाननेवाले हे प्रभो! तुम्हे भी किसी गुरु की अपेक्षा नही हुई ॥ ११८ ॥

जैमिनीय मत-समीक्षा

हे ससार- रहित प्रभो! अज्ञान-आदि दोषो से मलिन बुद्धि भी आपमे ज्ञान-ध्यानादि उपादान कारणो की सामर्थ्य से उस प्रकार अत्यन्त शुद्धि (केवलज्ञान) प्राप्त करती है जिस प्रकार मलिन सुवर्णपाषाण उपाय (अग्निपुट-पाकादि) से शुद्ध सुवर्ण हो जाता है, इसमे क्या कोई भी (जैमिनीय-आदि दार्शनिक) विवाद कर सकता है? ॥ ११९ ॥

भावार्थ—जैनदर्शनकार स्वामी समन्तभद्राचार्य★ ने भी कहा है, कि किसी पुरुष-विशेष (तीर्थङ्कर-आदि) मे अज्ञान-आदि दोषो व उनके कारणभूत ज्ञानावरण-आदि कर्मो की समूलतल (जड से) हानि उसको नष्ट करनेवाले आत्मिक कारणो (ज्ञान-ध्यानादि उपायो) द्वारा उस प्रकार होती है जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण का वाह्य व आभ्यन्तर मल उसको नष्ट करनेवाली कारणसामग्री (अग्नि-पुटपाकादि उपाय) द्वारा नष्ट हो जाता है।

हे प्रभो! जैसे परिमाण (आकार) आकाश मे अपनी वृद्धि की चरमसीमा (महापरिमाणपन) प्राप्त करता है वैसे ही बुद्धि भी किसी महापुरुष (तीर्थङ्कर आदि) मे अपने विकास की चरमसीमा (केवल-

---

१ केवलज्ञान। ★ 'मन्दरतटान्त' क०। २ चन्द्र शोभमान एव चन्द्र। ३ विकासकर्ता। ४ गर्व। ५ 'परिच्छेद्यवस्तु-तन्त्र शास्त्र कुल तन्त्र तन्त्र सिद्धौषधिक्रिया। तन्त्र मुख वल तन्त्र तन्त्र पवनसाधन' टि० ख० 'तन्त्र सप्रदाय' इति टि० च०। ६ गुरौ। ७ जागरण। ८ सूर्यस्य। ९ ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात्। १० धी। ११ त्वयि विषये। १२ जैमिनीयो निरस्त।

★ तथा च स्वामी समन्तभद्राचार्य —
दोषावरणयोर्हानि नि शेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्योर्वहिरन्तर्मलक्षय ॥ १ ॥
देवागमस्तोत्र से सकलित—सम्पादक

परिमाणमिवातिशयेन वियति मतिरुच्चैर्नरि गुरुतामुपैति ।
[1]तद्विश्ववेदिनिन्दा द्विजस्य विश्राम्यति चित्ते देव कस्य ॥१२०॥
[2]कपिलो यदि वाञ्छति[3] वित्तिमचिति[4] [5]सुरगुरुगोर्गुम्फेष्वेव पतति ।
[6]चैतन्य बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि[7] कस्य वद[8] [9]तत्र विदित[10] ॥१२१॥
भूपवन[11]वनानलतत्वकेषु [12]धिषणो [13]निगृणाति [14]विभागमेषु ।
न पुनर्विदि[15] तद्विपरीतधर्मधाम्नि[16]ब्रवीति तत्तस्य [17]कर्म ॥१२२॥

ज्ञान) प्राप्त करती है, इसलिए मीमासक ने जो सर्वज्ञ की आलोचना की है, वह किसी के भी चित्त मे नही उतरती ॥ १२० ॥

सांख्यदर्शन-मीमांसा

हे विख्यात प्रभो ! जब साख्य बुद्धि को जडरूप प्रकृति का धर्म (गुण) मानता है तब यह चतुर्भूत (पृथिवी, जल, अग्नि व वायु) के स्थापक चार्वाक के वचनो (सिद्धान्तो) मे आ गिरता है। अर्थात्—जिस प्रकार चार्वाक (नास्तिक) बुद्धि को पृथिवी, जल, अग्नि व वायु इन चार भूतो से उत्पन्न हुई (देहात्मिका, देह-कार्य व देह-गुण) मानता है उसी प्रकार साख्य भी बुद्धि को जडरूप प्रकृति से उत्पन्न हुई मानना है, इसलिए उसे चार्वाक-मत की आपत्ति होती है। उक्त दोष के निवारण के लिए यदि साख्य यह कहता है कि हम तो स्वतन्त्र पुरुषतत्त्व (आत्मपदार्थ) मानते है, जो कि चैतन्यस्वरूप को लिए हुए है, तब उक्त दोष कैसे आ सकता है? उसका उक्त कथन भी विरुद्ध है, क्योकि जब साख्य का चैतन्य बाह्य घट-पटादि पदार्थो के ज्ञान से शून्य है, तब हे प्रभो ! आप उसे उस चैतन्य के विषय मे कहिए कि उसका वह अर्थक्रिया-हीन चैतन्य किसके उपयोगी होगा? अर्थात्—जब वह बाह्य पदार्थो के जाननेरूप अर्थ-क्रिया नही करता तब अर्थक्रिया-शून्य होने से वह खर-विषाण (गधे के सीग) की तरह असत् सिद्ध होता है ॥ १२१ ॥

भावार्थ—साख्यदर्शनकार★ ने निम्नप्रकार पच्चीस तत्त्व माने है। १. प्रकृति, २ महान् (बुद्धि), ३ अहकार (अभिमानवृत्ति युक्त अन्त करण), अहकारसे उत्पन्न होनेवाले १६ गण (पॉच तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध व ग्यारह इन्द्रियॉ (पॉच ज्ञानेन्द्रिय-चक्षुरादि-पॉच कर्मेन्द्रिय-वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) व मन एव पॉच तन्मात्राओ से उत्पन्न होनेवाले पॉचभूत (पृथिवी-आदि) अर्थात्—शब्द से आकाश, रूप से तेज, गन्ध से पृथिवी, रस से जल व स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है। इस प्रकार चौबीस पदार्थ हुए और पच्चीसवॉ पुरुषतत्त्व (जीवात्मा), जो कि अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत (व्यापक), निर्गुण, कूटस्थ-नित्य, दृष्टा, भोक्ता व क्षेत्रवित् है। विशेष यह कि साख्यदर्शन की मीमासा पूर्व मे (आ० ५ पृ० १५२-१५३ श्लोक ६२ व उसके बाद का गद्य तथा पृ० १५७-१५८ श्लोक न० ८५-८९) कर चुके है, वहॉ से जान लेनी चाहिये।

१ जिन-निन्दा। २ साख्य। ३ ज्ञान, बुद्धि। ४ अचेतने प्रधान इति यावत्। ५ चार्वाकवचनेषु चतुर्भूतस्थापकेषु पतति। ६ वर्तते चैतन्य तदपि विरुद्ध तदपि साख्यमतखडन। ७ कार्यकारक। ८ कथय। ९ चैतन्यविषये। १० हे विख्यात। ११ जल। १२ बृहस्पति। १३ कथयति। १४ विभेदन ज्ञान। १५ आत्मनि ज्ञान न कथयति। १६ तस्मादचेतने जीवस्थापनाद्विपरीतधर्म। १७ इद धिषणस्य पाप वर्तते।

★ तथा चोक्तम्—'प्रकृतेर्महास्ततोऽहकारस्तस्माद्गणश्च षोडशक। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चम्य पञ्चभूतानि' ॥ (सा० का० २२) सर्वदर्शन सग्रह पृ० ३१९ से सकलित—सम्पादक

विज्ञानप्रमुखा सन्ति [1]विमुचि न गुणा किल [2]यस्य नयोऽत्र वाचि ।
तस्यैष [3]पुमानपि नैव तत्र दाहाद्दहन क इहापरोऽत्र ॥१२३॥
[4]धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ननु निपगृहादि [5]गिरिश करोति ।
चित्र तथापि यत्तद्वचासि[6] लोकेषु भवन्ति महायशासि ॥१२४॥

चार्वाक दर्शन-मीमांसा

चार्वाक-गुरु वृहस्पति ज्ञान को पृथिवी, वायु, जल व अग्नि इन चार अचेतन (जड) भूतो का धर्म (गुण) कहता है, किन्तु उनसे विरुद्ध धर्मवाले, अर्थात्—अचेतन (जड) पृथिवी-आदि भूतो से विपरीत धर्म (चैतन्यगुण) के स्थानवाले आत्मा का धर्म (गुण) नही मानता यह उसी वृहस्पति का ही पाप है।

भावार्थ—चार्वाकदर्शन* की मान्यता है कि 'जब तक जियो तब तक सुखपूर्वक जीवन यापन करो, क्योकि ससार मे कोई भी मृत्यु का अविषय नही है। अभिप्राय यह है जब मृत्यु अवश्यम्भावी है तब तपश्चर्या-आदि का क्लेश-सहन व्यर्थ है। शरीर ही आत्मा है, क्योकि उससे भिन्न आत्मद्रव्य की प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रतीति नही होती। इसलिये जब मरणकाल मे शरीर ही भस्मीभूत हो गया, अतः इसका परलोक-गमन (मरण) व जन्मान्तर प्राप्ति (अन्य जन्म) नही है। यह पृथिवी, जल, तेज व वायु इन चार भूतो को चार पदार्थ मानता है और जिस प्रकार महुआ, गुड, व जल-आदि पदार्थों से उत्पन्न हुई सुरा मे मदशक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार शरीराकार परिणत हुए पृथिवी-आदि चार भूतो से चैतन्य (ज्ञान) शक्ति उत्पन्न होती है एव शरीर के नष्ट हो जाने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। विशेष यह कि हम नास्तिक दर्शन की विस्तृत मीमासा पूर्व मे (आश्वास ४ पृ० ५१–५२ श्लोक ४५–४७ एव आश्वास ५ पृ० १६३–१६५, श्लोक ११३–१२६ तक) कर चुके है ॥ १२२ ॥

वैशेषिक दर्शन की मुक्ति-मीमांसा

जिस कणाद ऋषि (वैशेषिक दर्शनकार) के सिद्धान्त मे यह न्याय है कि "निश्चय से मुक्तजीव मे विज्ञान (बुद्धि) व सुख-आदि गुण नही है, उसके यहाँ मुक्ति अवस्था मे जीवतत्त्व सिद्ध नही होता, क्योकि जिस प्रकार लोक मे उष्णता के विना अग्नि सिद्ध नही होती उसी प्रकार विज्ञान-आदि गुणो के विना मुक्त अवस्था मे जीव भी सिद्ध नही होता, । क्योकि गुणो के विना गुणवान् द्रव्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?

भावार्थ—वैशेषिक दर्शनकार† मुक्ति अवस्था मे मुक्त जीव मे बुद्धि व सुख-आदि विशेष गुणो का अत्यन्त अभाव मानते है। यह युक्ति सगत नही, क्योकि ऐसा मानने से मुक्ति मे जीव द्रव्य शून्य सिद्ध हो जाता है॥ १२३ ॥

सृष्टिकर्तृत्व-मीमांसा

जब महेश्वर पर्वत व पृथिवी-आदि पदार्थो की सृष्टि करता है तब निश्चय से उसी शिव को घट व

---

१ मुक्तजोवे विज्ञानादयो गुणा न वर्तन्ते। २ यस्य शैवस्य कणादस्य वाचि—सिद्धान्ते—नयो न्यायोऽस्ति। ३ जीवोऽपि नास्ति तस्मिन् मते, दाहादुष्णत्व विना यथाऽग्निर्नास्ति तथा ज्ञानादिगुणान् विना आत्मापि नास्ति। ४ गिरिप्रभृति यदि वस्तु सृजति तर्हि घटादीनपि सृजति। ५ रुद्र। ६ शैववचासि—शैववचनानि।

*. तथा चोक्तम्—यावज्जीव सुख जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥ १ ॥
सर्वदर्शन सग्रह पृ० २ से सकलित—सम्पादक

† तथा चोक्तम्—अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिका सर्वदर्शनसग्रह (उपोद्घात) पृ० ७८ से सकलित—

पुरुषत्रयमबलासक्तमूर्त्ति तस्मात्परस्तु[1] गतकायकीर्ति[2] ।
एव सति नाथ कथ हि सूत्रमाभाति हिताहितविषयमत्र ।।१२५।।
[3]सोऽह योऽभूव बालवयसि निश्चिन्वन्क्षणिकमत जहासि ।
[4]सतानोऽप्यत्र न *वासनापि [5]यद्यन्वयभावस्तेन नापि ।।१२६।।
[6]चित्त न विचार*कमक्षजनितमखिल [7]सविकल्प [8]स्वाशपतित-
[9]मुदितानि [10]वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्या कथमात्महितान्युशन्ति[11] ।।१२७।।

व गृह-आदि की सृष्टि करनी चाहिए, आश्चर्य है फिर भी उसके वचन (वेदादि) मनुष्य-समूह द्वारा विशेष कीर्तिशाली (प्रामाणिक) माने जाते है।

भावार्थ—जब सदाशिव पृथिवी-आदि की सृष्टि करता है तब वही घट व गृहादि की सृष्टि क्यो नही करता ? और ऐसा होने से कुँभार व बढई-आदि से क्या प्रयोजन रहेगा ? इसकी मीमासा पूर्व मे (आ० ५ पृ० १६१) की जा चुकी है ।। १२४ ।।

वेद की ईश्वर कर्तृत्व-मान्यता की समीक्षा

हे स्वामिन् ! श्री ब्रह्मा, विष्णु व महेश तो तिलोत्तमा, लक्ष्मी व गौरी मे आसक्त है, (जिससे रागादि दोषो से दूषित होने के कारण अप्रमाण हे) और उनसे भिन्न परमशिव शरीर-रहित है। ऐसी स्थिति मे उस परमशिव से हिताहित के प्रदर्शक वेद की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है ?।। १२५ ।।

बौद्धदर्शन-समीक्षा

'जो मै बाल्यावस्था मे था, वही मै युवावस्था मे हूँ' यदि इस प्रकार एकत्व मानते हो तो हे बौद्ध ! तुम अपने क्षणिक सिद्धान्त का त्याग करते हो। उक्त दोषके निवारण के लिए वादी (बौद्ध) यह कहता है, कि यद्यपि क्षणिक आत्मादि वस्तु नष्ट हो जाती है, परन्तु उसकी सन्तान या वासना बनी रहती है, जिससे उक्त बात सघटित हो जायगी। उक्त विषय पर विचार करते है, कि आपके यहाँ सन्तान या वासना भी घटित नही होती। अर्थात्—जो जीवक्षण प्रथम समयमे ही समूल नष्ट हो चुका, उससे अन्य जीवक्षण उत्पन्न नही हो सकता। जिस प्रकार आपके क्षणिकवाद मे सन्तान नही है उसी प्रकार वासना (सस्कार) भी नही है, क्योकि विद्यमान पदार्थ मे सन्तान या वासना सघटित होती है, न कि सर्वथा समूलतल नष्ट हुए पदार्थो मे। अत आपका कथन विरुद्ध पडता है। क्योकि अनुक्रम से उत्पन्न होनेवाली पूर्वापर पर्यायोमे व्यापक रूप से रहनेवाले आत्म द्रव्य सबधी अन्वय के विना सन्तान या वासना नही बन सकती ।। १२६ ।।

बौद्ध के प्रमाणतत्त्व की मीमांसा

आपका समस्त पाँच प्रकार का इन्द्रिय-जनित निर्विकल्पक ज्ञान विचारक नही है और इससे दूसरा

---

१ पर परम एव शिव । २ कायरहित । ३ सोऽह इति मन्यसे चेत्तर्हि क्षणिकमत जहासि रे बौद्ध ! । ४ यो जीव प्रथमसमये विध्वस प्राप्त तस्माज्जीवादन्यो जीवो नोत्पद्यते । एवविध सन्ताननिषेधोऽस्ति भवन्मते । *. भवन्मते यथा सन्तानो नास्ति तथा वासनापि नास्ति तर्हि कथमुच्यते वासनया ज्ञानमुत्पद्यते तद् भवत सर्वमसम्बद्ध । ५ अनुक्रमेणोत्पन्नेषु । चेज्जीवाज्जीव उत्पद्यते तर्हि तेन कारणेनास्मन्मतेऽपि आत्मा विवर्तते । ६ अविकल्प ज्ञान । 'तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पमपि न विचारकम्, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभिलापससर्ग-रहितत्वात्' ।—अष्टसहस्री पृ० ७४ से सकलित—सम्पादक । * निर्विकल्प । ७ ससन्देह पचप्रकार । ८ आत्मस्वरूपाद्भिन्न वर्तते । ९ बौद्धोक्तानि । १० जीवादि । ११ वदन्ति ।

[1]अद्वैत तत्त्व वदति[2] कोऽपि सुधिया[3] धियमातनुते न सोऽपि* ।
[4]यत्पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसस्था कुतोऽत्र शिवशर्मसदन ॥१२८॥
[5]हेतावनेकधर्मप्रवृद्धि[6]राख्याति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धि–[7] ।
[8]मन्यत्पुन[9]रखिलमतिव्यतीतमुद्भाति सर्वमुरुनयनिकेत[10] ॥१२९॥

पाँच प्रकार का सविकल्पक ज्ञान अपने प्रमाण स्वरूप से भिन्न (सदिग्ध) है। इसलिए हे भगवन् ! जब बौद्धो द्वारा कहे हुए प्रमाणतत्त्व या वचन जीवादि वस्तु का स्पर्श नही करते तब बौद्धानुयायी आत्महित किस प्रकार कहते है ?

भावार्थ—बौद्धो* ने कहा है, कि इन्द्रिय-जनित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्य (प्रमाण) है, क्योकि वह ब्राह्मण-आदि की कल्पना से शून्य है और सविकल्पक ज्ञान भ्रम रूप है, क्योकि उसमे कल्पितरूप से वस्तु प्रतीत होती है, जिससे सभी को ऐकमत्य नही होता। इस प्रकार बौद्ध दर्शन मे जब प्रमाणतत्व वस्तु निश्चायक नही है तब वहाँ आत्म-हित कैसे सभव हो सकता है ? ॥ १२७ ॥

ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार (बौद्ध विशेष) मत-समीक्षा

हे मोक्ष-सुख के गृह प्रभो ! जो कोई (ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार) भी अद्वैत तत्व (क्षणिक ज्ञानमात्र) को कहता है। अर्थात्—जो समस्त चराचर जगत को भ्रमरूप मानकर केवल क्षणिक ज्ञान परमाणु-पुञ्जरूप तत्व मानता है, वह भी विद्वानो की बुद्धि को प्रभावित नही कर सकता, क्योकि इस अद्वैत तत्व मे प्रतिज्ञा, हेतु व उदाहरण की स्थिति किस प्रकार सघटित हो सकती है ?

भावार्थ—'रागादि से भिन्न शुद्ध जीवतत्व नही है, जिस प्रकार अङ्गार से कृष्णता पृथक् नही है'। प्रस्तुत वादी की यह मान्यता अयुक्त है, क्योकि प्रतिवादी (जैन) द्वारा स्वीकार किये हुए निम्नप्रकार पक्ष, हेतु व उदाहरण वर्तमान है। 'रागादि से भिन्न शुद्ध जीवतत्व है' यह पक्ष या प्रतिज्ञा हुई, क्योकि परम-समाधिस्थ महापुरुषो द्वारा शरीर-परिमाण, रागादि से भिन्न, चिदानन्दैक स्वभाव वाले शुद्ध जीवतत्व की उपलब्धि देखी जाती है' यह हेतु (युक्ति) हुआ। 'कालिकास्वरूपस्वर्णवत्' अर्थात्—जिस प्रकार किट्ट कालिका से पृथक् शुद्ध सुवर्ण उपलब्ध है, यह दृष्टान्त-वचन (उदाहरण) हुआ। इस प्रकार प्रतिपक्ष-हेतु-उदाहरण समझना चाहिए ॥ १२८ ॥

अद्वैत की सिद्धि के लिए हेतु को मान लेने से उसके साथ मे हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व-आदि

१ ज्ञानमात्रमेकमेव । २ बौद्धविशेष । ३ चमत्कार ।

* 'हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैत स्याद्धेतुसाध्ययो । हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥—आप्तमीमासा ।

४. 'अङ्गारात् कार्ष्ण्यवत् रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्ति' इति यद् भणित तदयुक्त कथमिति चेत्—'रागादिभ्यो भिन्न शुद्धजीवोऽस्ति इति पक्ष आस्था सन्धा-प्रतिज्ञा इत्यनर्थान्तर, परमसमाधिस्थपुरुषै शरीरप्रमाणरागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुत , कालिकास्वरूपात्सुवर्णवदिति दृष्टान्त , इति प्रतिपक्षहेतुदृष्टान्त-वचनानि ज्ञातव्यानि । ५ कारणे कथिते सति । ६ पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्वादिका । ७ अनेकपदार्थस्वभावसिद्धि कथयति । ८ दृष्टान्त वच । ९ सर्वमतरहित कस्यापि मतस्याधीन न दृष्टान्त 'दृष्टान्ता सन्त्यसख्येया इत्यादि पूर्वोक्त । १० हे अनेकान्तनयनिकेत ।

* तदुक्त—कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्ष निर्विकल्पकम् । विकल्पो वस्तुनिर्भासादसवादादुपप्लव ॥ १ ॥
सर्वदशन सग्रह पृ० ४४ से सकलित—सम्पादक

[1]मनुजत्वपूर्वनयनायकस्य [2]भवतो [3]भवतोऽपि गुणोत्तमस्य ।
ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते जडज मौक्तिकमपि ★हरन्ति ॥१३०॥
नाप्तेषु [4]बहुत्व य सहेत [5]पर्यायविभूतिष्वपि [6]महेत ।
नून द्रुहिणादिषु दैवतेषु [7]क तस्य स्फुटति तथाविधेषु[8] ॥१३१॥
[9]दीक्षासु तपसि वचसि [10]त्वयि नु यदिहैक्य[11] सकलगुणैरहीन[12] ।
तस्मादवैमि[13] जगता त्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ॥१३२॥
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुखचित्तो यदि [14]विदलितमदनविशिख ।
निन्द्य स एव घूके दिवापि [15]विदृशीनमुपालभते न कोऽपि ॥१३३॥

अनेक धर्म मानने पडते है और उनके मानने से जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए द्वैततत्व की ही सिद्धि होती है—अद्वैत की नही। अत हे स्याद्वाद के आधार प्रभो। सर्वमत से रहित हुए केवल एकमत के समर्थक दृष्टान्त नही होते ॥ १२९ ॥

हे प्रभो ! द्वेष से कलुषित बुद्धिवाले लोग, जो पूर्व मे मनुष्य होकर स्याद्वाददर्शन के नेता हुए है और जो श्रीशिव (रुद्र) से भी गुणोत्तम (वीतरागता व सर्वज्ञता-आदि गुणो से सर्वश्रेष्ठ और पक्षान्तर मे प्रशस्त तन्तुओ द्वारा गूँथी जाने से श्रेष्ठ) है आपके ऐसे मौक्तिक (मुक्तिश्री की प्राप्ति के सिद्धान्त व पक्षान्तर मे मोती-समूह) को छोड देते है, जो कि जडज (जडाय-जात, अर्थात्—अज्ञानियो के उद्धार के लिए उत्पन्न हुआ और पक्षान्तर मे डलयोरभेद , अर्थात्—श्लेषालङ्कार मे ड और ल एक समझे जाते है, अत जलज—जल से उत्पन्न हुआ) है।

भावार्थ—जिस प्रकार मलिन बुद्धिवाले अज्ञानी पुरुष जल से उत्पन्न हुए बहुमूल्य मोती-समूहको, जो कि गुणोत्तम (प्रशस्त तन्तुओ द्वारा गुम्फित होने से उत्तम) है व श्रेष्ठनायक मणिवाला है, छोड देते है उसी प्रकार द्वेष से कलुषित बुद्धिवाले पुरुष भी आपके मौक्तिक (मुक्ति-सबधी सिद्धान्त), जो कि जडज है, अर्थात्—सासारिक ताप नष्ट करने से शीतल हैं, अथवा अज्ञानियो के उद्धार के लिए उत्पन्न हुए है, छोड देते हैं❀ ॥ १३० ॥

हे पूज्य ! जिसे अनुक्रम से होनेवाले बहुत आप्तो की मान्यता सह्य नही है, निश्चय ही अवताररूप ब्रह्मा-आदि देवताओ के सामने वह अपना सिर फोडता है। अर्थात्—उसे अनुक्रम से उत्पन्न हुए बहु सख्या-वाले ब्रह्मा-आदि देवताओ के लिए भी अपना मस्तक नही झुकाना चाहिए ॥ १३१ ॥ हे समस्त गुणो से परि-पूर्ण व विद्वानो की योग्य चरण सेवावाले प्रभो ! निश्चय से आपके चारित्र, तपश्चर्या व वचनो मे जो एक-वाक्यता (पूर्वापर विरोध-शून्यता) पाई जाती है, अत मै जानता हूँ, कि तुम्ही तीनलोक के स्वामी हो ॥ १३२ ॥ हे काम के बाणो को चूर-चूर करनेवाले प्रभो ! तथापि यदि कोई तुमसे विमुख चित्तवाला है तो

---

१ अय जिन पूर्व नर । २. तव । ३ रुद्रादपि । ★ 'रहन्ति' इति मु० व ख० । टिप्पण्या रह त्यागे त्यजन्ति । ४ २४ चौबीस तीर्थङ्कर । ५ अनुक्रमेणोत्पन्नेषु । ६ हे पूजागत । ७ मस्तक । ८ बहुषु हरिहरादिषु । ९ चारित्रेषु । १०-११ त्वयि विषये निश्चयेन चारित्रादीनामैक्य वर्तते । १२ परिपूर्ण । १३ जानामि । १४ हे चूर्णीकृतमदनवाण ! । १५ घूके अन्धे सति इन सूर्यं न कोऽपि निन्दति ।

❀ व्यङ्ग्यार्थ—मोतीमाला नायकमणि (मध्यमणि) से युक्त होती है व सूत्रो—तन्तुओ-से गुम्फित होती है, यह बात भी यहाँ झलकती है—सम्पादक

निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन [1]दिशसि निकाम कामितानि ।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टि किमु खादिह नो[2] चकास्ति ॥१३४॥

पद्धतिका— इति [3]तदमृतनाथ स्मरशरमाथ[4] त्रिभुवनपतिमतिकेतन[5] ।
मम दिश जगदीश [6]प्रशमनिवेश त्वत्पदनुतिहृदय[7] जिन ॥१३५॥

घत्ता— अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्सवचन्द्रमा । [8]स्मरमदमयध्वान्तध्वसे मत[9] परमोऽर्यमा[10] ।
अदयहृदय कर्मारातौ नते[11] च कृपात्मवानिति[12] विसदृशव्यापारस्त्व तथापि भवान् महान् ॥१३६॥
[13]अनन्तगुणसन्निधौ [14]नियतबोधसपन्निधौ श्रुताब्धिबुधसस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते[15] ।
जिनेश्वर सतीदृशे त्वयि मयि स्फुट तादृशे कथ सदृशनिश्चय तदिदमस्तु [16]वस्तुद्वयम् ॥१३७॥
[17]तदलमतुलत्वा[18]दृग्वाणीपथस्तवनोचिते *त्वयि गुणगणापात्रै स्तोत्रैर्जडस्य हि मादृश ।
प्रणतिविषये व्यापारेऽस्मिन्पुन सुलभे जन [19]कथमयमवागास्ता स्वामिन्नतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥१३८॥

वही निन्दा के योग्य है, क्योकि उल्लू के दिन मे भी अन्धे हो जाने पर कोई भी सूर्य की निन्दा नही करता ॥ १३३ ॥ हे जिन ! आपके पास कुछ भी नही है, अर्थात्—आप धन-धान्यादि परिग्रह से रहित है तो भी तुम जगत के लिए कौन कौन सी यथेष्ट इच्छित वस्तुएँ प्रदान नही करते ? किन्तु इसमे आश्चर्य नही है, क्योकि आकाश के पास कुछ भी नही है फिर भी क्या उससे जलवृष्टि होती हुई नही देखी जाती ? ॥ १३४ ॥ इसलिए हे मोक्षके स्वामी ! हे काम बाणो के विध्वस करनेवाले ! हे तीनलोक के स्वामियो की सेवा के मन्दिर ! हे कर्मो के क्षय के स्थान ! और हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! मुझे आपके चरणोमे नमस्कार करनेवाली बुद्धि प्रदान कीजिए ॥ १३५ ॥

हे जिनेन्द्र ! देवाङ्गनाओ के नेत्ररूपी कुवलयो (चन्द्र-विकासी कमलो) के विकसित करने के लिए आप आनन्दप्रद चन्द्रमा हैं और काम के मदरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए आप सूर्य कहे गये है एव कर्मरूप शत्रुओ को नष्ट करने के लिए आप कठोर हृदय है, किन्तु नम्रीभूत मानव के विषय मे आप दयालु है। इस प्रकार विपरीत व्यापार वाले (चन्द्र, सूर्य, निष्ठुरता व दयालुता-आदि विजातीय व्यापार-युक्त) हो करके भी आप महान् हैं ॥ १३६ ॥ आप अनन्त गुणो की निधि (खजाना) है और मै, परिमित बुद्धिरूपी (मतिज्ञान व श्रुतज्ञान) सम्पत्ति का खजाना हूँ । आप द्वादशाङ्ग श्रुतरूपी समुद्र के पारदर्शी विद्वानो (गणधरादि) द्वारा स्तुति किये गए है और मै परिमित शब्दो वाला और सीमित छन्दो या सीमित आचरण से युक्त हूँ । हे जिनेश ! आप मे और मुझमे इतना स्पष्ट अन्तर होते हुए हम दोनो एक सरीखे कैसे हो सकते है ? इसलिए मै और आप दोनो दो वस्तु है ॥ १३७ ॥

हे अनुपम ! जब तुम आप सरीखी वाणी के मार्ग (गणधरादि) द्वारा स्तवन करने के योग्य हो तो मुझ अज्ञानी के आपके गुण-समूह के स्थान न होनेवाले स्तवनो से आपकी स्तुति करना व्यर्थ है, परन्तु जब

---

१ अपि तु सर्वाणि वाञ्छितवस्तूनि त्व ददासि । २ किं न भवति ? । ३ मोक्ष । ४ विध्वसक । ५ सेवा-हृदयमन्दिर ! । ६ कर्मक्षयस्थान ! । ७ बुद्धि दिश । ८ काममदमयो योऽसौ अन्धकार । ९ कथित । १० रवि । ११ नम्रे नरे । १२ विपरीत । १३ त्वयि । १४ मयि । १५ आचरण मयि । १६ त्व, अह च । १७ स्तोत्रैर्मादृशो जडस्य । १८ भवत्सदृशवाणीमार्गयोग्ये । * 'त्वयि मयि गुणापात्रै' क० । १९ मौनवान् कथ तिष्ठतु अय मल्लक्षण तेन किंचिज्जल्पित, परन्तु मया स्तोत्र कर्तुं न पार्यते ।

जगन्नेत्र पात्र निखिलविषयज्ञानमहसा[1] महान्त त्वा सन्त सकलनयनीतिस्मृतगुणम्[2] ।
महोदार सार विनतहृदयानन्दविषये ततो याचे नो चेद्भवसि भगवन्नर्थिविमुख ॥१३९॥
मनुजदिविजलक्ष्मीलोचनालोकलीला[3]श्चिरमिह [4]चरितार्थास्त्वत्प्रसादात्प्रजाता ।
हृदयमिदमिदानी स्वामिसेवोत्सुकत्वा[5]त्सहवसतिसनाथ छात्रमित्रे❀ विधेहि ॥१४०॥

इत्युपासकाध्ययने स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिशत्तम कल्प ।

[6]सर्वाक्षर[7]नामाक्षर[8]मुख्याक्षराद्येक[9]वर्णविन्यासात् । [10]निगिरन्ति जप केचिदह तु [11]सिद्धक्रमैरेव ॥१४१॥
पातालमर्त्यखेचरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य । [12]अधिगानात्ससिद्धे [13]समवाये [14]देवयात्रायाम् ॥१४२॥
पुष्पै पर्वभिर[15]म्बुजवीजस्वर्णा[16]र्ककान्तरत्नैर्वा । निष्कम्पिताक्षवलय [17] पर्यङ्कस्थो जप कुर्यात् ॥१४३॥

नमस्कार सबधी व्यापार सुलभ है तब मुझ सरीखा विद्वान् मूक कैसे रहे ? इसलिए मैने कुछ कहा है। परन्तु मेरे द्वारा स्तवन करना शक्य नही है, अत हे स्वामिन् ! मै आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १३८ ॥

हे भगवन् ! आप जगत् के नेत्र है, समस्त पदार्थो के ज्ञानरूपी तेज के स्थान है, महान् हैं, समस्त सिद्धान्तो मे आपके गुण स्मरण किये गए है, विनयशील मानवो के हृदय प्रमुदित करने के लिए महान् उदार है, अत मै आपसे याचना करता हूँ, यदि आप याचको से विमुख नही है ॥ १३९ ॥ भगवन् ! आपके प्रसाद से हम इस लोक मे चिरकाल तक मानवीय लक्ष्मी व स्वर्गलक्ष्मी के नेत्रो के दर्शन की शोभा प्राप्त करनेवाले होकर कृतार्थ हो चुके। अब तो 'छात्रमित्र' इस दूसरे नामवाले सोमदेवसूरि का यह हृदय प्रभु की सेवा के लिए उत्सुक है, इसलिए अब मेरे हृदय को अपने साथ निवास से सहित कीजिए—मेरे हृदय मे निवास कीजिए ॥ १४० ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे स्तवन विधि नामक सैतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब जप करने की विधि निरूपण कहते है—]

जप-विधि

कोई आचार्य 'णमो अरहताण' आदि पूरे नमस्कार मन्त्र से जप करना कहते है। कोई अरहत व सिद्ध-आदि पच परमेष्ठी के वाचक नामाक्षरो से जप करना कहते है। कोई पचपरमेष्ठी के वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरो से जप करना कहते है। कोई 'ओ' अथवा 'अ' आदि एक अक्षर से जप करना कहते है, किन्तु मै (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पैतीस अक्षरो वाले पञ्च नमस्कार मन्त्र से ही जप करना कहता हूँ ॥१४१॥ अधोलोक मे (भवनवासी व व्यन्तर देवो मे), मनुष्यो मे, विद्याधरो मे, वैमानिक देवो मे, जन-समाज मे और तीर्थङ्कर-पूजा मे सिद्धि-दायक होने के कारण पचनमस्कार मन्त्र का सर्वत्र विशेष आदर है, इसमे किसी प्रकार

---

१ तेजसा पात्र स्थान। २ समयसिद्धान्तचिन्तितगुण। ३ शोभा। ४ सत्यार्था ।
५ 'सहनिवाससहित मदीय हृदय कुरु' टि० ख०, ।
'वसन वसति सह वसत्या सनाथ सहित सहवसतिसनाथ' टि० च० ।
❀ 'छात्रा एव मित्राणि यस्य' टि० ख०, 'मयि सोमदेवे' टि० च० ।
'छात्रमित्रेति कवेरवेदनक नाम ' इति पञ्जिकाया।
६ णमो अरहताणमित्यादि पचत्रिंशत्। ७ अरहत, सिद्ध इत्यादि। ८ असि आ उसा। ९ ॐ अथवा अ।
१० कथयन्ति। ११ अनादिससिद्धपचत्रिंशदक्षरै। १२ अविप्रतिपत्ते आदरात्। ★ 'अविगानात् ससिद्धि ' च०।
१३ समाजे सघमेलापके। १४ तीर्थङ्करपूजाया। १५ कमल, काकडी। १६ सूर्यकान्त। १७ इन्द्रियसमूह ।

अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी [१]तर्जन्या साधु बहिरिद नयतु । इतरास्वङ्गुलिषु पुनर्बहिरन्तश्चैहिकापेक्षी ॥१४४॥
वचसा वा मनसा वा कार्यो [२]जाप समीहितस्वान्तै । शतगुणमाद्ये पुण्य सहस्रसख्य द्वितीये तु ॥१४५॥
नियमितकरणग्राम स्थानासनमानसप्रचारज्ञ । पवनप्रयोगनिपुण सम्यक्सिद्धो भवेदशेषज्ञ ॥१४६॥
इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थम् । मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ॥१४७॥
मन्त्राणामखिलानामयमेक कार्यकृद् भवेत्सिद्ध । [३]अस्यैकदेशकार्यं[४] परे[५] तु कुर्युर्न ते सर्वे ॥१४८॥
कुर्यात्करयोर्न्यास कनिष्ठिकान्त [६]प्रकारयुगलेन । तदनु [७]हृदाननमस्तककवचास्त्रविधिर्विधातव्य ॥१४९॥

का विवाद नही है ॥ १४२ ॥ पद्मासन से बैठकर इन्द्रिय-समूह को चञ्चल न करके (निश्चल करते हुए) जपकर्ता को पुष्पो से या अङ्गुलियो के पर्वो से अथवा कमलगट्टो से या सुवर्ण के दानो से अथवा सूर्यकान्त-मणि के दानो से पञ्च नमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए ॥ १४३ ॥

मुक्तिश्री के इच्छुक जपकर्ता को माला के लिए अँगूठा और उसके पास की तर्जनी अँगुली पर रख-कर तर्जनी अँगुली से भलीभाँति बाहर की ओर जप करना चाहिए और ऐहिक सुख की अपेक्षा करनेवाले जप-कर्ता को शेष अँगुलियो (मध्यमा व अनामिका) द्वारा बाहर व अन्दर की ओर जप करना चाहिए ॥ १४४ ॥ ध्येय वस्तु मे निश्चलीकृत मनवाले जपकर्ता द्वारा वचन से या केवल मन से पञ्चनमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए। क्योकि वाचनिक जप मे सौगुना और मानसिक जप मे तो हजार गुना पुण्य होता है ॥ १४५ ॥ ऐसा विवेकी जपकर्ता सर्वज्ञ होकर सिद्धपद प्राप्त करता है, जिसने समस्त इन्द्रिय-समूह को वश मे किया है, जो एकान्तस्थान, आसन (पद्मासन व खड्गासन), और मानस प्रचार (मन को नाभि, नेत्र व ललाट-आदि मे सचारित करना) का ज्ञाता है, अर्थात्—जो अपनी मनोवृत्ति समस्त बाह्य विषयो से खीचकर आत्मस्वरूप मे ही प्रवृत्त करता है, जो प्राणायाम-विधि द्वारा वायु-तत्व के प्रयोग करने मे निपुण है।

भावार्थ—जपकर्ता को सबसे पहले जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक व अनिवार्य है, अन्यथा उसका जप हस्ति-स्नान की तरह निष्फल है। इसी प्रकार उसे एकान्त स्थान मे पद्मासन व खड्गासन लगा कर एकाग्र चित्तपूर्वक जप करते हुए प्राणायाम विधि द्वारा कुम्भक व पूरक-आदि वायुतत्व का यथाविधि उपयोग करने मे चतुर होना चाहिए, क्योकि विधि पूर्वक पचनमस्कार मन्त्र का जपकर्ता सर्वज्ञ होकर सिद्धपद प्राप्त करता है ॥ १४६ ॥

क्योकि मुनिराज मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए अन्त मे इसी पैंतीस अक्षरोवाले पञ्च-नमस्कार मन्त्र को सदा विधि पूर्वक जपते है ॥ १४७ ॥ यह अकेला ही सिद्ध किया हुआ होनेपर सब मन्त्रो का कार्य करता है किन्तु दूसरे सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी कार्य नही करते ॥ १४८ ॥

[जप-प्रारम्भ करने से पूर्व सकलीकरण-विधान—]

दोनों हस्तो की अँगुलियो पर अँगूठे से लेकर कनिष्ठिका अँगुलि तक दो प्रकारसे मन्त्र का न्यास करना चाहिए। तदनन्तर हृदय, मुख व मस्तक-आदि का अङ्गन्यास करके जपकर्ता को निर्विघ्न इष्ट-सिद्धि के लिए सकलीकरण विधिरूपी कवच (बख्तर) व अस्त्र-धारण की विधि करनी चाहिए।

भावार्थ—जप करने से पूर्व अङ्ग-शुद्धि, न्यास व सकलीकरण विधि करनो चाहिए। अर्थात्—प्रतिष्ठा-

---

१ जाप्ये कृते सति इद बहिर्वस्तु उच्चाटनीय जप प्रापयतु। २. सर्वैनसामपध्वसि जप्य त्रिष्वघमर्षणे। ३ मन्त्रस्य। ४ णमो अरहताणमेतावन्मात्रेणापि। ५ मन्त्रा। ६ विधिपूर्वक अगुलिरेखा। ७ एष विस्तार, सकलीकरणविधौ ज्ञातव्य।

सपूर्णमतिस्पष्ट [1]सनादमानन्दसुन्दर जपत । सर्वसमीहितसिद्धिर्नि सशयमस्य जायेत ॥१५०॥
मन्त्रोऽयमेव सेव्य परत्र मन्त्रे फलोपलम्भेऽपि । यद्यप्यग्रे विटपी फलति तथाप्यस्य सिच्यते मूलम् ॥१५१॥
अत्रामुत्र च नियत कामितफलसिद्धये परो मन्त्र । नाभूदस्ति भविष्यति गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् ॥१५२॥
अभिलषितकामधेनौ दुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन । दृष्टादृष्टफले सति परत्र मन्त्रे कथ सजतु ॥१५३॥
इत्थ मनो मनसि वाह्यमवाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकनगर मरुतो[2] नियम्य ।
सम्यग्जप विदधत सुधिय प्रयत्नाल्लोकत्रयेऽस्य कृतिन किमसाध्यमस्ति ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने जपविधिर्नामाष्टत्रिंशत्तम कल्प ।

[3]आदिध्यासु पर ज्योतिरीप्सुस्तद्धाम शाश्वतम् । इम ध्यानविधि यत्नादभ्यस्यस्तु समाहित ॥१५५॥

सार सग्रह पृ० १८ मे लिखे हुए मन्त्र (ॐ ह्रा णमो अरहताण ह्रा अगुष्ठाभ्या नम -आदि) पढकर सकलीकरण विधि करनी चाहिए। पश्चात् जप-विधि आरम्भ करनी चाहिए। विद्वद्वर्य्य० प० ❀ आशाधरजी ने प्रतिष्ठा-सारोद्धार मे लिखा है, कि 'इस सकलीकरणरूपी बख्तर को धारण किये हुए जो मन्त्रवाला इष्ट कर्म (पूजा व जप-आदि) करता है, उसके कोई विघ्न नही आता।' ॥ १४९ ॥

[पञ्च नमस्कार मन्त्र के जप का फल व माहात्म्य—]

ऐसे जपकर्ता के निस्सन्देह समस्त मनोरथ सिद्ध होते है, जो कि आनन्द-पद होने से मनोज्ञ विन्दु-सहित णमोकार मन्त्र को शुद्ध व स्पष्ट उच्चारणपूर्वक जपता है ॥ १५० ॥ दूसरे मन्त्रो से फल-सिद्धि होने पर भी इसी पञ्चनमस्कार मन्त्र का जप करना चाहिए। क्योकि वृक्ष यद्यपि अग्रभाग पर फलता है तथा इसकी जड सीची जाती है, अर्थात्—यह मन्त्र सब मन्त्रो का मूल है, अत इसी का जप करना चाहिए ॥ १५१ ॥ पञ्च परमेष्ठी के वाचक इस णमोकार मन्त्र के सिवा दूसरा मन्त्र इसलोक व परलोक मे निश्चित रूप से अभिलषित फलसिद्धि करनेवाला न हुआ है, न है और न होगा ॥ १५२ ॥

जब यह णमोकार मन्त्र निस्सन्देह अभिलषित वस्तु के देने मे कामधेनु-सरीखा है और पापरूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए अग्नि-जैसा है एव ऐहिक व पारलौकिक सुख देने मे समर्थ है, तब कौन जपकर्ता मानव दूसरे मन्त्र की जपविधि मे तत्पर होगा ? ॥ १५३ ॥ इस प्रकार मन को नियन्त्रित करके और इन्द्रिय-रूपी नगर को वाह्य विषयो से हटाकर आभ्यन्तर की ओर करके तथा श्वासोच्छ्वास को प्राणायाम विधि द्वारा नियन्त्रित करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सम्यग् जप करता है, उस पुण्यशाली जपकर्ता के लिए तीनो लोको मे कुछ भी असाध्य नही है ॥ १५४ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे जपविधि नाम का यह अडतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब ध्यान-विधि का निरूपण करते है—]

---

१ विन्दुसहित णकारस्यानुस्वारो दीर्घं पद्यते। २ नियन्त्र्य। ३ आध्यातुमिच्छु ।

❀ तथा च विद्वान् आशाधर —

'वर्मितोऽनेन सकलीकरणेन महामना । कुर्वन्निष्टानि कर्माणि केनापि न विहन्यते' ॥ ७० ॥

—प्रतिष्ठासारोद्धार अ० २ पृ० ३६ से सकलित—सम्पादक

तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ दृढमग्नतया मन । बहिर्व्याप्तौ जड कृत्वा [1]द्वयमासनमाचरेत् ॥१५६॥
[2]सूक्ष्मप्राणयमायाम * [3]सन्नसर्वाङ्गसचर । [4]ग्रावोत्कीर्ण इवासीत ध्यानानन्दसुधा लिहन ॥१५७॥
यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते । तदा ज्योति स्फुरत्य[5]न्तश्चित्ते[6] चित्त निमज्जति ॥१५८॥
चित्तस्यैकाग्रता[7] ध्यान ध्यातात्मा तत्फलप्रभु । ध्येय*मात्मागमज्योतिस्तद्विधि र्देहयातना[8] ॥१५९॥
तैरश्चमामर मार्त्य नाभस भौममङ्गजम् । सहेत समधी सर्वमन्तराय [9]द्वयातिग ॥१६०॥
[10]नाक्षमित्वमविघ्नाय न [11]क्लीबत्वममृत्यवे । तस्मादक्लिश्यमानात्मा पर ब्रह्मैव चिन्तयेत् ॥१६१॥

ध्यान-विधि

जो अर्हन्त भगवान् का ध्यान करने का अभिलाषी है और जो उस स्थायी मोक्षपद की प्राप्ति का इच्छुक है, उसे सावधान होकर आगे कही जानेवाली इस ध्यानविधि का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिए ॥ १५५ ॥ तत्त्वो (अर्हन्तभगवान् या जीवादि) के चिन्तवनरूपी अमृत के समुद्र मे अपना मन दृढतापूर्वक मग्न करके और उसे बाह्य विषयो की व्याप्ति से इकदम जड करके पद्मासन या खड्गासन से ध्यान करना चाहिए ॥ १५६ ॥ धर्मध्यानी को ध्यानरूपी सुखामृत का आस्वादन करते हुए उच्छ्वास-नि श्वासरूप प्राणवायु के प्रवेश व निर्गम को सूक्ष्म करनेवाला निश्चल और समस्त अङ्गो का हलन-चलन न करनेवाला होकर पाषाण-घटित-सा होते हुए ध्यानस्थ होना चाहिए ॥ १५७ ॥ जब धर्मध्यानी की पाँचो ही इन्द्रियाँ (स्पर्शनादि) वाह्य विषयो से पराङ्मुख होकर आत्मस्वरूप मे लीन हो जाती है और जब उसका मन आत्मस्वरूप के चिन्तन मे डूब जाता है तब उसकी अन्तरात्मा मे सम्यग्ज्ञान रूप प्रकाश प्रकट होता है ॥ १५८ ॥

ध्यान-आदि का स्वरूप

चित्त की एकाग्रता (चित्त को ध्येय वस्तु से दूसरी जगह व्यापारित न करना) ध्यान है। ध्यान का फल (स्वर्ग-आदि) भोगने मे समर्थ आत्मा ध्याता (ध्यान करनेवाला) है। आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय (ध्यान करने योग्य) है तथा देहयातना (करणग्राम-नियन्त्रणा—समस्त इन्द्रिय-समूह को नियन्त्रित करना) ध्यान की विधि जाननी चाहिए ॥ १५९ ॥

धर्मध्यानी का परीषह सहन

धर्मध्यानी को शत्रु-मित्र मे समान बुद्धि-युक्त और तोष-रोष (राग-द्वेष) से रहित होना चाहिए। अन्यथा—राग द्वेष होनेपर उसका आर्त व रौद्र ध्यान हो जायगा और धर्म-ध्यान करते समय उन समस्त अन्तरायो (विघ्नबाधाओ—उपसर्ग व परीषहो) को सहन करना चाहिए, जो पशु-कृत है [उदाहरण मे जैसे सुकुमाल मुनि पर शृगाली ने उपसर्ग किया था], जो देव-कृत है, [उदाहरण मे जैसे पार्श्वनाथ भगवान् पर कमठ के जीव व्यन्तर ने उपसर्ग किया था], जो मनुष्यो से उत्पन्न हुए हो, [जैसे पाडवो पर कौरवो ने उपसर्ग किये थे], जो आकाश से उत्पन्न (वज्रपात-आदि) हुए है व जो भूमि से उत्पन्न (भूकम्प-आदि) हुए है और जो शरीर-कृत (रोगादि) है ॥ १६० ॥ क्योकि उपसर्ग-आदि के समय असमर्थता दिखाने से धर्मध्यान सबधी

---

१ ऊर्ध्वमुपविष्ट च । २ सूक्ष्म उच्छ्वासनि श्वास तस्य यम प्रवेश आयामो निर्गम । * 'शान्त सर्वाङ्गसुन्दर' क० । 'शान्त निश्चल' प० । ३ निश्चल । ४ पाषाणघटित । ५ मध्ये अन्तरात्मनि । ६ मनसि सति । ७ ध्येयादन्यत्र व्यापाराभाव: । * 'मात्मगम ज्योति' क० । ८. करणग्रामनियन्त्रणा । ९ तोषरोषाभ्या विनिर्मुक्त । १० असमर्थत्व । ११ कातरत्व दीनता ।

*यत्रायमिन्द्रियग्रामो [1]व्यासङ्गस्तेनविप्लवम् । नाश्नुवीत तमुद्देश[2] भजेताध्यात्मसिद्धये ॥१६२॥
फल्गुजन्माप्यय देहो यदलाबुफलायते । ससारसागरोत्तारे रक्ष्यस्तस्मात्प्रयत्नत ॥१६३॥
नरेऽधीरे वृथा [3]वर्म क्षेत्रेऽसस्ये[4] वृतिवृथा । यथा तथा वृथा सर्वो ध्यानशून्यस्य तद्विधि ॥१६४॥
बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्द[5] दीपवन्मन । यत्तत्वालोकनोल्लासि तत्स्याद्ध्यान सबीजकम् ॥१६५॥
निर्विचारावतारासु चेत [6]स्रोत प्रवृत्तिषु । आत्मन्येव [7]स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानमबीजकम्[8] ॥१६६॥

विघ्न दूर नही हो सकते और न दीनता दिखाने से जीवन की रक्षा ही हो सकती है, अत उपसर्ग सहन मे सक्लेश परिणाम से रहित होकर परमात्मा का ही ध्यान करना चाहिए ॥ १६१ ॥

धर्मध्यानी के स्थान का निर्देश

धर्मध्यानी को आत्मतत्व की सिद्धि के लिए ऐसा एकान्त स्थान सेवन करना चाहिए, जहाँ पर उसका यह इन्द्रिय-समूह व्याकुलतारूपी चोर की विघ्न-बाधा प्राप्त न कर सके ॥ १६२ ॥ शरीररक्षा—यद्यपि इस मानव-शरीर का जन्म निरर्थक है तथापि यह तपश्चर्या-आदि के द्वारा ससार-समुद्र से पार उतरने के लिए तुम्बी-सरीखा सहायक है अत प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ १६३ ॥

ध्यानविधि की निरर्थकता

जिसप्रकार शत्रु से भयभीत हुए कायर पुरुष के लिए कवच का धारण व्यर्थ है एव जिसप्रकार धान्य से शून्य खेत पर काँटो की बाडी लगाना निरर्थक है उसीप्रकार ध्यान न करने वाले पुरुष के लिए ध्यान की सब विधि (आसन-आदि) व्यर्थ है ॥ १६४ ॥

[शुद्धध्यान—दो प्रकार का है, एक सबीजध्यान और दूसरा अबीज ध्यान दोनो का स्वरूप निरूपण करते है—]

सबीजध्यान (पृथक्त्ववितर्क सवीचार शुक्लध्यान) जैसे वायु-रहित स्थान मे दीपक की लौ निश्चल होकर बाह्य प्रकाश से सुशोभित होती है वैसे ही जिस ध्यान मे जब योगी का मन आत्मा मे स्थित हुई अज्ञान-रूपी वायुओ से होनेवाली चञ्चलता छोडकर (निश्चल होकर) जीवादि सप्त तत्वो के दर्शन से सुशोभित होता है उसे सबीजक (पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामक शुक्लध्यान) कहते है ॥ १६५ ॥

अब अबीजध्यान (एकत्ववितर्क अवीचारनामक शुक्लध्यान) को बतलाते है—

जब योगी के चित्तरूपी झरने की प्रवृत्तियाँ (प्रवाह या व्यापार) निर्विचार (सक्रमण-रहित—अर्थात्—द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य-आदि के ध्यानरूप सक्रमण से रहित) के अवतार वाली होती है, जिससे उसकी आत्मा विशुद्ध आत्मस्वरूप मे ही चमत्कार करनेवाली (लीन होनेवाली) होती है तब उसका वह ध्यान (अबीजक एकत्ववितर्कावीचार नामक शुक्लध्यान) है।

भावार्थ—यहाँपर दूसरे शुक्लध्यान (एकत्ववितर्क) का निरूपण किया गया है, इसमे चित्तरूपी झरने का प्रवाह अर्थ (द्रव्य) व व्यञ्जन-आदि के सक्रमण से हीन होता है, जिससे आत्मा आत्मा मे ही लीन

* स्थाने। १ व्यासङ्ग (व्याकुलता) एव स्तेनश्चौरस्तस्य विघ्न न प्राप्नोति। २ स्थान। ३ कवच। ४ धान्यरहिते। ५ निश्चल। ६ प्रवाह। ७ चमत्कुर्वन्। ८ एकत्ववितर्काऽवीचाराख्य शुक्लध्यानमित्यर्थ।

चित्तोऽनन्तप्रभावेऽस्मिन्प्रकृत्या [1]रसवच्चले । [2]तत्तेजसि स्थिरे सिद्धे न कि सिद्ध जगत्त्रये ॥१६७॥
[3]निर्मनस्के मनोहसे पुहसे सर्वत स्थिरे । बोधहसोऽखिला★लोक्य सरोहस प्रजायते ॥१६८॥
यद्यप्यस्मिन्मन क्षेत्रे क्रिया ता ता समादधत्[4] । कश्चिद्वेदयते[5] भाव तथाप्यत्र न विभ्रमेत[6] ॥१६९॥
[7]विपक्षे क्लेशराशीना यस्मान्नैष विधिर्मत । तस्मान्न विस्मयेतास्मिन्पर ब्रह्मसमाश्रित ॥१७०॥
प्रभावैश्वर्यविज्ञानदेवतासगमादय । योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदा मुदे ॥१७१॥
भूमौ जन्मेति रत्नाना यथा सर्वत्र नोद्भव । तथात्मजमिति ध्यान सर्वत्राङ्गिनि नोद्भवेत् ॥१७२॥
तस्य काल वदन्त्यन्तर्मुहूर्त मुनय परम् । अपरिस्पन्दमान हि [8]तत्पर दुर्धर मन ॥१७३॥

होती है। यह तेरहवे गुणस्थान मे केवलीभगवान् के प्रकट होता है। इस एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्नि द्वारा घातियाकर्मरूपी ईधन भस्मसात् होकर केवलज्ञान प्रकट होता है॥ १६६ ॥ अनन्त-सामर्थ्यशाली यह मन, जो कि पारद-सरीखा स्वभाव से चञ्चल है, जब उस तेज (अध्यात्मज्ञान व पक्षान्तर मे अग्नि) मे स्थिर निश्चल व सिद्ध (ध्यान-मग्न व पक्षान्तर मे शुद्ध, मारित, मूर्च्छित व बद्ध-आदि) हो जाता है तब तीन लोक मे उस योगी को क्या सिद्ध (प्राप्त) नही होता ? अपि तु समस्त स्वर्गश्री व मुक्तिश्री प्राप्त हा जाती है॥ १६७ ॥ यदि यह मनरूपी हस अपने मनोव्यापार से रहित हो जाय, अर्थात्—अपनी चञ्चलता छोड देवे और आत्मारूपी हस परमात्मा मे लीन होकर सर्वथा स्थिर (आत्मस्थ) हो जाय तो ज्ञान-रूपी हस समस्त ज्ञेयरूपी मानसरोवर का हस हो जाता है। अर्थात्—मन निश्चल होने के साथ यदि आत्मा आत्मामे स्थिर हो जाय तो समस्त विश्व को प्रत्यक्ष जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट होता है॥ १६८ ॥ इस मनरूपी स्थान मे जीवादि ध्येय वस्तु मे चित्त की एकाग्रतारूप प्रवृत्ति को करता हुआ मुनि हेय (त्याज्य) व उपादेय (ग्राह्य) वस्तु को यथावत् जान लेता है तथापि उसे इसमे विभ्रम (तत्व और अतत्व मे समान बुद्धि या अज्ञान) नही करना चाहिए। अर्थात्—हेय वस्तु को उपादेय व उपादेय को हेय नही समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि विभ्रम (अज्ञान) होने से धर्मध्यान नष्ट होकर आर्त-रौद्रध्यान हो जाता है॥ १६९ ॥

क्योकि हमने दु ख-समूह को देनेवाले शत्रुभूत ध्यान (आर्त व रौद्र ध्यान) मे ऊपर कही हुई विभ्रम लक्षणवाली विधि नही कही है। अतः परब्रह्म परमात्माका आश्रय लेनेवाले धर्मध्यानी को इस विषय मे (ध्यान से उत्पन्न होनेवाली ऋद्धि-आदि मे) आश्चर्य नही करना चाहिए॥ १७० ॥ ध्यान के प्रकट होने से प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्टज्ञान और देवो का समागम-आदि प्राप्त हो जाने पर भी तत्वज्ञानी इनसे प्रमुदित (हर्षित) नही होते, क्योकि उनका लक्ष्य ध्यानरूपी अग्नि द्वारा कर्मरूपी ईंधन को भस्म करके केवलज्ञान प्राप्ति का होता है॥ १७१ ॥

ध्यान की दुर्लभता व माहात्म्य-आदि

जिसप्रकार पृथिवी से रत्नो की उत्पत्ति होती है तथापि सर्वत्र रत्न उत्पन्न नही होते उसीप्रकार ध्यान भी आत्मा से उत्पन्न होता है तथापि वह समस्त प्राणियो की आत्माओ से उत्पन्न नही होता॥ १७२ ॥ ऋषि धर्मध्यान व शुक्लध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त तक कहते है, क्योकि निश्चय से इससे अधिक

१ पारदवच्चले। २ अग्नौ ज्ञाने च। ३ मनोव्यापाररहिते। 'निर्व्यापारे मनोहसे पुहसे सर्वथा स्थिरे। बोधहस प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे' ॥ १ ॥ —प्रबोधसार। ★ 'लोके' च०। ४ मुनि। ५ जानाति—हेयमुपादेय वस्तु यथावत् पश्येदित्यर्थ। ६ हेयमुपादेयतया उपादेय हेयतया न पश्येत्। ७ शत्रुभूते ध्याने एष विभ्रमलक्षणो विधिर्न कथित। ८ अन्तर्मुहूर्तकालात्पर।

तत्कालमपि तद्धयान स्फुरदेकाग्रमात्मनि । उच्चै कर्मोच्चय भिन्द्याद्वज्र शैलमिव क्षणात् ॥१७४॥
[1]कल्पैरप्यम्बुधि शक्यश्चुलुकै र्नोच्चुलुम्पितुम् । [2]कल्पान्तभू पुनर्वातिस्त[3] मुहु शोषमानयेत् ॥१७५॥
[4]रूपे मरुति[5] चित्तोऽपि [6]तथान्यत्र यथा विशन् । लभेत कामित तद्वदात्मना परमात्मनि ॥१७६॥
[7]वैराग्य [8]ज्ञानसपत्तिरसङ्ग [9]स्थिरचित्तता[10] । [11]ऊर्मिस्मयसहत्व★ च पञ्च [12]योगस्य हेतव ★ ॥१७७॥
[13]आधि[14]व्याधिविपर्यास[15]प्रमादा[16]लस्य[17]विभ्रमा[18] ।
[19]अलाभ [20]सङ्गितास्थैर्य[21]मेते [22]तस्यान्तरायका ★ ॥१७८॥

काल तक मन का स्थिर होना अत्यन्त कठिन है ॥ १७३ ॥ जिसप्रकार वज्र क्षणभर मे महान् पर्वत को चूर-चूर कर डालता है उसीप्रकार आत्मा मे प्रकट हुआ अन्तर्मुहूर्त कालवाला निश्चल शुक्लध्यान भी महान् घातिया कर्मसमूह को विदीर्ण (नष्ट) कर देता है ॥ १७४ ॥ जिस प्रकार सैकडो कल्पकालो (युगान्तरो) तक हस्त की चुल्लुओ से समुद्र के जल को उलीचने पर भी समुद्र खाली नही होता, परन्तु प्रलयकालीन प्रचण्ड वायु उसे बार-बार शोषण मे ला देती है—सुखा देती है उसी प्रकार आत्मा मे प्रकट हुआ शुक्लध्यान भी अन्तर्मुहूर्त मे घातिया कर्म-समूह को नष्ट कर देता है ॥ १७५ ॥ जैसे कामतत्व (कमनीय कामिनी) आदि मे व दूसरे के शरीर मे प्रवेश-करना-आदि मे एव वाह्य वस्तुओ मे मन को स्थिर करने से अभिलषित वस्तु (कामतत्व-आदि) प्राप्त होती है वैसे ही आत्मा के द्वारा परमात्मा मे मन स्थिर करने से परमात्मपद की प्राप्ति होती है ॥ १७६ ॥

निम्नप्रकार पाँच प्रशस्त गुण धर्मध्यान की उत्पत्ति मे कारण है। वैराग्य (देखे हुए व आगामी काल मे आनेवाले इन्द्रियो के विषयो मे तृष्णा का अभाव), ज्ञानसम्पत्ति (बध व मोक्ष की प्राप्ति के उपाय का ज्ञान), असङ्ग (वाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहो का त्याग), स्थिरचित्तता (तप, स्वाध्याय व ध्यान कर्म मे चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न) व उर्मिस्मयसहत्व (शारीरिक—क्षुधा-तृषा-आदि, मानसिक—शोक-आदि व आगन्तुक परीषहो-दु खो) के उद्रेक (वृद्धि) पर विजय प्राप्त करना ॥ १७७ ॥

निम्नप्रकार ९ दुर्गुण धर्मध्यान के अन्तराय (विघ्नबाधा उपस्थित करने वाले) है। आधि (दौर्मनस्य—मानसिक पीडा या कुत्सित मनोवृत्ति), व्याधि (दोष वैषम्य—शारीरिक रोग), विपर्यास (अतत्व मे तत्व का आग्रह), प्रमाद (तत्वज्ञान की प्राप्ति मे अनादर), आलस्य (प्राप्त हुए तत्व का अनुष्ठान न

१ युगान्तरै । २ प्रलयकालोत्पन्न । ३ अम्बुधि । ४ कामतत्वादौ । ५ परकायप्रवेशादौ । ६ अन्यत्र वाह्ये वस्तुनि यथा वाञ्छित भवति । ७ दृष्टागामिविषयेषु वैतृष्ण्य । ८ बन्धमोक्षोपायविवेक । ९ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह-त्याग । १० तप स्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽविचलितप्रयत्न । ११ शारीरमानसागन्तुकपरीषहोद्रेकविजयित्व ।
★ 'प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे, मनस शोकमोहने, जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहित शिव ' । तथा च श्रीभागवतटीकाया—'शोकमोहौ जरामृत्यू, क्षुत्पिपासे षडूर्मय ' ।
१२ योगतत्वमात्ममन सावधानचित्तवृत्तिनिरोध , न चित्तवृत्तिनिरोधमात्रमन्यथा सुप्तमूर्च्छितादीनामपि योगतापत्ते ।
★. तथा चोक्त प्रबोधसारे—'निर्वेदोदयसम्पत्ति स्वान्तस्थैर्यं रह स्थिति । विविधोर्मिसहत्व तु साधूना ध्यानहेतव ॥ १ ॥
तथा चोक्त तत्वानुशासने—'सङ्गत्याग कषायाणा निग्रहो व्रतधारण । मनोऽक्षाणा जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ १ ॥
१३ आधिर्दौमनस्य । १४ दोषवैषम्य व्याधि । १५ 'परमतभ्रान्ति ' टि० ख०, 'अतत्वे तत्वाभिनिवेशो विपर्यास ' टि० घ० च० पञ्जिकाया च । १६ तत्वाधिगमानादर प्रमाद । १७ लब्धस्यापि तत्वस्याननुष्ठानमालस्य । १८ तत्वातत्वयो समा बुद्धिर्विभ्रम । १९ स्वपरयोरज्ञानादभ्यस्ततत्वाप्राप्तिरलाभ । २०. सत्यपि तत्वज्ञाने सुखदु ख-साधनोत्कर्षामर्षाभिनिवेश सगिता । २१ योगहेतुषु मनसोऽक्षान्तिरस्थैर्य । २२ ध्यानस्य ।
★ तथा चोक्त प्रबोधसारे—'स्वान्तास्थैर्यं विपर्यास प्रमादालस्यविभ्रमा । रौद्रार्ताधिर्यथास्थानमेते प्रत्यूहदायिन ॥१॥

य कण्टकैस्तुदत्यङ्ग यश्च लिम्पति चन्दनै । रोषतोषाविषिक्तात्मा[1]तयोरासीत लोष्ठवत् ॥१७९॥
[2]ज्योतिर्बिन्दु कला नाद कुण्डलीवायुसचर । मुद्रा[3]मण्डलचोद्यानि[4]निर्बीजीकरणादिकम्[5] ॥१८०॥

करना), विभ्रम (तत्व व अतत्व मे सदृश बुद्धि), अलाभ (आत्मा व अनात्मा का ज्ञान न होने से अभ्यास किये हुए तत्व की प्राप्ति न होना), सङ्गिता (तत्वज्ञान होने पर भी सुख-साधनो मे हर्ष व दु ख-साधनो मे द्वेष का आग्रह करना) व अस्थैर्य (ध्यान के कारणो मे मन की अशान्ति अर्थात् मन को न लगाना) ॥ १७८॥

धर्मध्यानी का कर्त्तव्य

जो कॉटो से ध्यानी का शरीर व्यथित करता है और जो उसके शरीर पर चन्दनो का लेप करता है ऐसे शत्रु-मित्रो पर जिसका अभिप्राय क्रम से द्वेष व राग से असम्पृक्त (नही छुआ हुआ) है, ऐसे धर्मध्यानी को पाषाण-घटित-सरीखा होकर ध्यान मे स्थित होना चाहिए ॥ १७९ ॥

[अब अन्य मत सबधी ध्यान कहकर उसकी समीक्षा करते है]

तान्त्रिको की मान्यता है कि योगी पुरुष ज्योति (ओकार की आकृति का ध्यान, अर्थात्—यथा-विधि प्रणवमन्त्र (ओकार) का जप करना), विन्दु—पीत व शुभ्र-आदि विन्दुका दर्शन (प्राणायाम विधि के अवसर पर मुख के दक्षिण भाग पर व वाम भागपर क्रम से दाहिनी व बाईं हस्ताङ्गुलियो का तत्तत्स्थानो पर स्थापन करने के बाद जैसे कानो मे अङ्गुष्ठ को, नेत्र-प्रान्त मे तर्जनी को, नासापुट मे मध्यमा अङ्गुली को, ऊर्ध ओष्ठ के प्रान्त भाग मे अनामिका और अधरोष्ठ के प्रान्त भागमे कनिष्ठिका अङ्गुली को स्थापित करना चाहिए इसके बाद अन्तर्दृष्टि द्वारा अवलोकन करने पर बिन्दु का दर्शन होता है जैसे पीतविन्दु के दर्शन से पृथिवी तत्व का, श्वेत बिन्दु के दर्शन से जलतत्व का, अरुणबिन्दु के दर्शन से तेजतत्व का, श्याम-बिन्दु के दर्शन से वायु-तत्व का और पीतादिवर्ण-रहित परिवेषमात्र के दर्शन से आकाश तत्व का ज्ञान होता है), कला (अर्धचन्द्र), नाद (अनुस्वार के ऊपर रेखा -), कुण्डली (प्राणियो की पिङ्गला नाम की दक्षिण नाडी व इडा नाम की वामनाडी एव मध्यवर्ती सुषुम्ना नाडी, अर्थात्—प्राणायाम-विधि मे वायु का सचार ढाई घडी पर्यन्त पिङ्गला व इडा नाडी द्वारा होता है-इत्यादि) व वायु-सचार (कुम्भक—नासापुट द्वारा शरीर के मध्य प्रविष्ट की जाने-वाली घटाकार वायु, पूरक—वाह्य वायु को पूर्ण शरीर मे प्रविष्ट करना व रेचक—कोष्ठय वायु का वाहिर निका-लना-इत्यादि, श्वास (वाह्य वायु को नासापुट द्वारा शरीर के मध्य स्थापित करना) व प्रश्वास (कोष्ठय

१ अविषिक्तात्मा असपृक्ताशय । २ ॐकारस्याकारेण बिन्दुकलादीनामाकारेण च निर्बीजीकरण कर्म करोति, तदवसाने मरणस्य जयो भवतीति मिथ्यादृष्टय कथयन्ति तदसत्य । बिन्दु (तथा चोक्त—'पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुभि-र्निरुपाधि खम्' स० टीका—पीतवर्णे बिन्दौ दृष्टे पृथिवीतत्त्व वहतीतिज्ञेय, श्वेतबिन्दुदर्शने जलतत्व, अरुणविन्दुदर्शने तेजस्तत्वम्, श्यामबिन्दुदर्शने वायुतत्व, पीतादिवर्णरहितपरिवेषमात्रदर्शने आकाशतत्वमिति । उपाधि शब्देन पीतादयो वर्णा गृह्यन्ते । खमाकाशम् यथावद्वायुतत्वमवगम्य तन्नियमने विधीयमाने विवेकज्ञानावरणकर्मक्षयो भवति, तपो न पर प्राणायामात् । स० टीका—उक्तरीत्या श्वासोच्छ्वासतत्व विज्ञाय प्राणायामेन वायोर्निरोधे कृते विवेकज्ञानाच्छादक कर्म क्षीयते' । सर्वदर्शनसग्रह पातञ्जलदर्शनप्रकरण पृ० ३८० से सकलित—सम्पादक) अर्धचन्द्र कला, अनुस्वारस्योपरि रेखा स नाद कथ्यते । कुण्डली तदाकारेण बीजीकरणम् । ३ त्रिकोण चतुष्कोणादि बहुप्रकार तेन बहुवचन । ४ प्रेर्याणि । ५ यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्वीजीकरण क्रियते ।

[1]नाभौ नेत्रे[2] ललाटे च[3]ब्रह्मग्रन्थौ च तालुनि ।
[4]अग्निमध्ये रवौ[5]चन्द्रे[6] लूतातन्तौ[7] हृदङ्कुरे[8] ॥१८१॥
मृत्युंजय यदन्तेषु[9]तत्तत्व[10] किल मुक्तये । अहो मूढधियामेष नय स्वपरवञ्चन ॥१८२॥

वायु को शरीर से बाहर निकालना) की गतिविच्छेद लक्षणवाला प्राणायाम) मुद्रा (आसन, अर्थात्—हस्त व पादादि का अवस्थान विशेषरूप पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार का आसन) व मण्डल (त्रिकोण व चतुष्कोण व वृत्ताकार-आदि आकार) इन सबकी प्रेरणा से की जानेवाली क्रियाएँ (कर्म) बीजीकरणकर्म (सप्रज्ञात समाधि—वाह्य पदार्थो को विषय करनेवाली अविद्या-आदि वृत्तियो का निरोध) मे और निर्वीजीकरण (असप्रज्ञातसमाधि) मे कारण है । अभिप्राय यह है, कि आसन की स्थिरता-आदि मे प्रतिष्ठित हुआ प्राणायाम उत्कृष्ट तपरूप होकर सप्रज्ञात समाधि-आदि मे कारण होता है । इसी प्रकार वह प्राणायाम-विधि से निम्न प्रकार बीजीकरण कर्म (सप्रज्ञातसमाधि) को नाभि, नेत्र, ललाट (मस्तक), ब्रह्मग्रन्थि (समस्त आतडियो का समूह) व तालु, अग्नितत्ववाली नासिका, रवि (दक्षिणनाडी), चन्द्र (वामनाडी), जननेन्द्रिय व हृदङ्कुर (हृदयछिद्र के विना भी उस काल मे मेद-सरीखी गाँठ हो जाती है) इनके प्रमुख मार्ग द्वारा करता है और जब मरणवेला होती है तब मुक्ति की प्राप्ति के लिए निर्वीजीकरण कर्म (असप्रज्ञात समाधि) करता है जिससे वह मृत्यु से वञ्चित होता है, अर्थात्—उसका पश्चात् मरण नही होता, क्योकि प्रस्तुत तत्व (निर्वीजीकरण) निश्चय से मुक्ति का कारण है । अहो—आश्चर्य की बात है, क्योकि यह अपने व दूसरो को ठगनेवाली नीति मूढ बुद्धिवालो की समझनी चाहिए ।

भावार्थ—पातञ्जल दर्शन मे योग (ध्यान) के आठ अङ्ग कहे है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि* । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पॉच यम है ।[11] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम है ।[12] पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार के आसन है । क्योकि आसन की स्थिरता होनेपर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है । श्वास (नासापुट द्वारा वाह्य वायु का भीतर प्रवेश, जिसे पूरक कहते है) और प्रश्वास-(नासापुट द्वारा कोष्ठ्य वायु का बाहर निकालना, जिसे रेचक कहा है) काल मे वायु की स्वाभाविक गति का निरोध (रोकना) प्राणायाम है[13] । उसके तीन भेद है—पूरक, कुम्भक व रेचक ।

१-२ 'नेत्रनाभिप्रमुखमार्गेण शुक्रनिष्कासन कम मृत्युञ्जय भवति साधनाभ्यासेन' । विमर्श—अय विषय टिप्पणीकारेण कुत शास्त्रात् सकलित ? इति न जानीमो वय यत पातञ्जलयोगदशने नास्ति । —सम्पादक
३ निखिलान्त्रजाल ब्रह्मग्रन्थिरुच्यते तत्रापि निर्वीजीकरण भवति । ४ नासिकाया अग्नितत्व वर्तते । ५ दक्षिणनाड्या । ६ चन्द्रे वामनाड्या । ७ लूतातन्तौ लिङ्गविषये । ८ हृदयछिद्र विनापि तदाकाले मेद-सदृशग्रन्थि स्यात् । ९-१० यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्वीजीकरण क्रियते तेन कर्मणा मृत्यौ वचिते सति पश्चात् कदाऽपि मरण न स्यादित्यर्थ ।

* तथा चोक्त पतञ्जलिना—'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्येति (पात० यो० सू० २।२९)

११ तथा चाह पतञ्जलि —अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा । (पात० यो० सू० २।३०)
१२ ,, ,, शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा । (पात० यो० सू० २।३२)
१३ ,, ,, ,, तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम (पात० यो० सू० २।४९)
श्वासो नाम वाह्यस्य वायोरन्तरानयनम् । प्रश्वास पुन कोष्ठ्यस्य बहिर्नि.सारणम् ॥

नासापुट से वाह्य वायु को शरीर के मध्य प्रविष्ट करके शरीर मे पूरने को पूरक कहा है। उस पूरक वायु को स्थिर करके नाभिकमल मे घट की तरह भरकर रोके रखने को कुम्भक कहा है। पश्चात् उस वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक कहते है। प्राणायाम से स्थिर हुआ चित्त, इन्द्रियो के विषयो से सयुक्त नही होता और ऐसा होने से इन्द्रियाँ भी विषयो से सयुक्त नही होती, वे इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप को अनुकरण करनेवाली हो जाती है। इसी को प्रत्याहार कहते है[1]।

जिस देश मे (नाभिचक्र, हृदयकमल, नासाग्र, भ्रुकुटि का मध्यभाग व मस्तक-आदि देश मे) ध्येय (प्रणव—ओकार-मन्त्र-आदि) चिन्तनीय है, उस देश मे चित्त के स्थिरीकरण को धारणा कहते है[2]।

पौराणिको ने कहा है कि 'प्राणायाम से वायु को वश मे करके और प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियो को वश करके पश्चात् नाभिचक्र-आदि देशरूप शुभाश्रय मे चित्त को अवस्थिति (एकाग्रता) करे।[3] प्रसन्नवदन (विष्णु-आदि) ध्येयरूप के ज्ञान के ऐसे प्रवाह को ध्यान कहते है, जो कि एकाग्ररूप और दूसरे विषयो के व्यवधान से शून्य है।[4] ★ पौराणिको ने भी यही कहा है। 'वही ध्यान ध्येय के आवेश के वश से जब ध्यान व ध्याता की दृष्टि से शून्य होकर ध्येयरूप अर्थमात्र को ग्रहण करनेवाला होता है उस काल मे ध्यान विद्यमान होकर के भी ध्याता, ध्यान व ध्येय-आदि विभागको ग्रहण न करने के कारण स्वरूप-शून्य की तरह हो जाता है, उसे समाधि कहते है।[5] समाधि के दो भेद है—सप्रज्ञात व असप्रज्ञात समाधि। उक्त आठ योग (ध्यान) के साधनो मे से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच योग के वहिरङ्ग साधन है, क्योकि ये चित्त की स्थिरता द्वारा परम्परा से ध्यान के उपकारक है। धारणा, ध्यान व समाधि ये तीन योग के अन्तरङ्ग कारण है, क्योकि समाधि के स्वरूप को निष्पादन करते है। इसप्रकार यह ध्यानरूपी वृक्ष चित्तरूपी क्षेत्र मे यम व नियम से बीज प्राप्त करता हुआ आसन व प्राणायाम से अङ्कुरित होकर प्रत्याहार से कुसुमित होता है एव धारणा, ध्यान व समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनो से फलशाली होता है।

प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि योगी (ध्यानी) को पूर्वोक्त यम (अहिंसा-आदि) व नियम (शौच व सन्तोष-आदि) को धारण करते हुए आसन (पद्मासन-आदि) की स्थिरता से प्राणायाम को प्रतिष्ठित करना चाहिए और प्राणायाम की वेला मे सबसे प्रथम प्रणवमन्त्र (ओकार) रूप ध्येय तत्व का चिन्तन करना चाहिए। पश्चात् पीत व शुभ्र-आदि बिन्दु का दर्शन करना चाहिए, जो कि पृथिवीतत्त्व, जलतत्त्व व तेजतत्त्व आदि के ज्ञान मे साधन है। अर्थात्—प्राणायाम के समय योगी को मुख के दक्षिण भाग पर व वामभाग पर क्रम से दाहिनी व वाईं हस्ताङ्गुलियो को तत्तत्स्थानो पर स्थापन करने के बाद, जैसे कानो मे अङ्गुष्ठ को, नेत्रप्रान्त मे तर्जनी को, नासापुट मे मध्यमा अङ्गुलि को, ऊर्ध्व ओष्ठ के प्रान्तभाग मे अनामिका को और

---

१ तथा चाह पतञ्जलि —स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार (पात० यो० सू० २।५४)

२ ,, ,, ,, देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (पात० यो० सू० ३।१)

३ तथा चोक्त विष्णुपुराणे—
प्राणायामेन पवन प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । वशीकृत्य तत कुर्याच्चित्तस्थान शुभाश्रये ॥ १ ॥ (वि० पु० ६।७।४५)

४ तथा चाह पतञ्जलि —तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (पा० यो० सू० ३।२)

★ तथा चोक्त विष्णुपुराणे—
तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या सततिश्चान्यनि स्पृहा । तद्ध्यान प्रथमैरङ्गै षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥ १ ॥ (वि० पु० ६।७।८९)

५ तथा चाह पतञ्जलि —तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि । (पात० यो० सू० ३।३)

कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्येवविधैर्नयैः । अल तपोजपाप्तेष्टि[1]दानाध्ययनकर्मभि ॥१८३॥
योऽविचारितरम्येषु क्षण देहार्तिहारिषु । इन्द्रियार्थेषु वश्यात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते ॥१८४॥
यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरीकुरुते मन । [2]तन्निरोधभुवो धाम्न [3] स[4] ईप्सति कथ नर ॥१८५॥
आत्मज्ञ सचित दोष [5]यातनायोग[6]कर्मभि । कालेन [7]क्षपयन्नेति योगी रोगीव [8]कल्पताम् ॥१८६॥

अधरोष्ठ के प्रान्तभाग मे कनिष्ठिका अङ्गुली को स्थापित करना चाहिए। इसके पश्चात् अन्तर्दृष्टि द्वारा अवलोकन करने पर बिन्दु का दर्शन होता है। जैसे पीतविन्दु के दर्शन से पृथिवीतत्त्व का, श्वेतविन्दु के दर्शन से जलतत्त्व का, अरुणविन्दु के दर्शन से तेजतत्व का, श्यामविन्दु के दर्शन से वायुतत्त्व का और पीतादिवर्ण-रहित परिवेष मात्र के दर्शन से आकाश तत्त्व का ज्ञान होता है।

प्राणायाम की वेला मे अर्द्धचन्द्ररूप कला का चिन्तवन करते हुए नाद (ध्वनिविशेष—अजा शब्दानुकरण) करना चाहिए।

इसके बाद वायु के वहन व स्थान का ज्ञान करने के लिए कहा गया है—प्राणियो की पिङ्गला नामकी दक्षिणनाडी, इडा नामकी वामनाडी एव सुषुम्ना नामकी मध्यवर्ती नाडी है। वायु का सचार ढाई घडी पर्यन्त पिङ्गला से होता है, बाद मे ढाई घडी तक इडा से होता है। पुन उतने काल तक पिङ्गला से पश्चात् उतने काल तक इडा से होता है। इस प्रकार दिन रात रिहिट की घरियो के घूमने की तरह दोनो नाडियो से वायु वहती है। एक एक घडी मे ६० साठ पल होते है और एक एक पल मे श्वास-प्रश्वास छह होते है, इस प्रकार एक घडी मे ६०×६=३६० श्वास-प्रश्वास होते है और ढाई घडी मे ९०० श्वास-प्रश्वास होते है। अर्थात्—एक घटे मे ९०० श्वास-प्रश्वास होते है। इस प्रकार सूर्योदय से लेकर पुन सूर्योदय पर्यन्त (२४ घटे मे) २१६०० श्वास-प्रश्वास होते है। इस प्रकार नाडी-सचरण की दशा मे वायु का सचार होने पर पृथिवी-आदि तत्वो का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार योगी प्राणायाम विधि से निम्नप्रकार सप्रज्ञातसमाधि को नाभि, नेत्र, ललाट, समस्त आतडियो का समूह, तालु, अग्नितत्ववाली नासिका, दक्षिणनाडी, वामनाडी, जननेन्द्रिय व हृदङ्कुर इनके प्रमुख मार्ग द्वारा करता है (जिसे हम धारणा के विवेचन मे स्पष्ट कर चुके है) और जब मरणवेला होती है तब मुक्ति की प्राप्ति के लिए असप्रज्ञात समाधि करता है, जिससे वह मृत्यु से वञ्चित होता है* ॥ १८०–१८२॥

यदि इस प्रकार के प्राणायाम-आदि उपायो से इस कर्मो का क्षय हो सकता है तो उनके क्षय के लिए तप, जप, जिनपूजा, दान व स्वाध्याय-आदि क्रियाकाण्ड व्यर्थ हो जायेगे॥ १८३ ॥ आश्चर्य है कि वह मानव भी, जिसकी आत्मा विना विचारे मनोज्ञ प्रतीत होनेवाले व क्षणभर के लिए शारीरिक पीडा दूर करनेवाले इन्द्रियो के विषयो मे वशीभूत है, निस्सन्देह योगी (ध्यानी) कहा जाता है ?॥ १८४॥ इन्द्रियो के विषयो की तृष्णा जिसके मन को पीडित करती है, वह मानव इन्द्रियो के रोकने से उत्पन्न होनेवाले मोक्षरूपी तेज की प्राप्ति की इच्छा कैसे कर सकता है ?॥ १८५ ॥ आपके यहाँ आत्मज्ञानी मुनि उस प्रकार सचित (पूर्व मे बाँधे हुए) दोषो (राग, द्वेष व मोहादि) को यातना (शारीरिक तीव्रवेदना) व योगकर्मो (प्राणायाम-आदि-

---

१ जिनपूजा। २ इन्द्रिय। ३ तेजस। ४ कथ प्राप्तुमिच्छति ?। ५ लङ्घनादि तीव्रवेदना। ६ योग औषधादि-प्रयोग ध्यान च। ७ क्षय कुर्वन्। ८ नीरोगता।

* प्रस्तुत लेखमाला 'पातञ्जलयोगदर्शन' के आधार से गुम्फित की गई है—सम्पादक

लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये । सुखे दु खे समानात्मा भवेत्तद्धचानधी सदा ॥१८७॥
परे[1] ब्रह्मण्यनूचानो[2] [3]धृतिमैत्री[4]दया[5]न्वित ।
[6]अन्यत्र सूनृताद्वाक्यान्नित्य [7]वाचयमी भवेत् ॥१८८॥
[8]सयोगे [9]विप्रलम्भे च [10]निदाने [11]परिदेवने । [12]हिसायामनृते स्तेये भोगरक्षासु तत्परे[13] ॥१८९॥

ध्यान के अङ्गो) से चिरकाल मे क्षय करता हुआ कल्पता (मुक्ति) प्राप्त करता है, जिस प्रकार रोगी शरीर मे सचित किये हुए दोषो (वात, पित्त व कफ की विषमता से उत्पन्न हुए रोगो) को यातना (लङ्घन-आदि) व योगकर्म (औषधि के प्रयोग) द्वारा चिरकाल से क्षय करता हुआ कल्पता (निरोगता) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—यदि आपके यहाँ आत्मज्ञानी योगी पुरुष प्राणायाम की विधि से उत्पन्न हुई शारीरिक तीव्रवेदना व योगकर्मो (ध्यानादि क्रियाकाण्डो) से पूर्व मे बाँधे हुए अज्ञानादि पाप कर्मो को क्षय करता हुआ चिरकाल मे मुक्ति-लाभ करता है तो वह रोगी-सरीखा ही है, क्योकि रोगी भी प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार द्वारा सचित हुए वात, पित्त व कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाले रोगो को लङ्घन व औषधि के प्रयोग से समय पाकर क्षीण करता हुआ निरोगता प्राप्त करता है ॥ १८६ ॥

धर्मध्यान मे बुद्धि रखनेवाले को सदा लाभ व हानि मे, वन और गृह मे, मित्र व शत्रु मे, मनोज्ञ व अमनोज्ञ मे एव सुख व दु ख मे समभाव रखनेवाला होना चाहिए ॥ १८७ ॥ धर्मध्यानी को परमात्मा मे लवलीन होते हुए द्वादशाङ्ग श्रुत का अभ्यासी एव धृति (प्रिय-अप्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर चित्त को विकृत न करना), मैत्री (समस्त प्राणियो से द्रोह न करने की बुद्धि) और दया (अपने समान दूसरे प्राणियो के हित करने की बुद्धि) से युक्त होते हुए सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए अथवा मौन पूर्वक रहना चाहिए ॥ १८८ ॥

आर्त व रौद्रध्यान का स्वरूप और उनके त्यागने का उपदेश

विवेकी को आर्त व रौद्रध्यान त्याग देना चाहिए, जो कि सयोग, वियोग, निदान, वेदना, हिसा, झूठ, चोरी व भोगो की रक्षा मे तत्परता से उत्पन्न होते है और जीव को अनन्त ससार मे भ्रमण लक्षणवाले पापरूपी रथ के मार्ग है और परिणाम मे विशेष दु ख देनेवाले है ।

भावार्थ—इनमे पहला आर्तध्यान चार प्रकार का है । अनिष्ट सयोगज, इष्टवियोगज, निदान व परिदेवनरूप । अनिष्ट वस्तुका सयोग हो जाने पर उससे छुटकारा पाने के लिए जो सदा अनेक प्रकार के उपायो

---

१ आत्मनि । २ प्रवचने साङ्गे अधीती । ३ प्रियाप्रियवस्तूपनिपाते चित्तस्याविकृतिर्धृति । ४ सर्वसत्वानभिद्रोह-बुद्धिर्मैत्री । ५ आत्मवत् परस्यापि हितोपादानवृत्तिर्दया । ६ विना । ७ सत्य वदेत् अथवा मौनी स्यात् । ८ सयोगे इत्यादिना चतुर्विधमार्तध्यानमुपदिशति—तत्र पचानामिन्द्रियाणा मनसाऽधिष्ठितानामुपभोक्तृत्वेन स्वेषु विषयेषु प्रवृत्ति सयोग । ९ 'वियोगे' टि० ख०, 'प्रीतिविषयस्य वस्तुनो देशकालाभ्या विप्रकर्षात्मनो दौर्मनस्य विप्रलम्भ । १० निजानुष्ठानमूल्येनानिमिष मनुष्येष्वभिलषितवस्तुपरिपणन निदान । ११ आगतयोरिष्टानिष्टयोरवि-योगवियोगप्रार्थनमनागतयोरुत्पत्यनुत्पत्तिप्रार्थन वा परिदेवन ।
तथा चार्या—प्राप्तेऽप्राप्ते च हिते वियोगसयोगबुद्धिरर्ति स्यात् । विगमानामागमचिन्तनमहिते च तदुद्भव वार्त्त ॥ १ ॥
१२ हिसायामित्यादिना चतुर्विध रौद्र समुपदिशति—हिसादय कविना स्वयमेव व्याख्याता ।
तथा चोक्त—स्वपरापायगो भावो रुद्र इत्युच्यते बुधै । तत्र यात तु य कर्म रौद्र सन्तस्तदूचिरे ॥ १ ॥
१३ पूर्वोक्ते पदार्थे तत्परे तन्मये द्वे आर्तरौद्रध्याने ।

जन्तोरनन्तससारभ्रमैनो[1]रथवर्त्मनी । [2]आर्तरौद्रे त्यजेद्ध्याने दुरन्तफलदायिनी ॥१९०॥
बोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गार्गले परे । सोपाने श्वभ्रलोकस्य तत्त्वेक्षावृत्तिपक्ष्मणी[3] ॥१९१॥
लेशतोऽपि मनो यावदेते समधितिष्ठत । एष जन्मतरुस्तावदुच्चै समधिरोहति ॥१९२॥
ज्वलन्नञ्जनमाधत्ते प्रदीपो न रवि पुन । तथाशयविशेषेण ध्यानमारभते फलम् ॥१९३॥
प्रमाणनयनिक्षेपै सानुयोगैर्विशुद्धधी.। मति तनोति[4] तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायण ॥१९४॥
[5]अरहस्ये यथा लोके सती[6] काञ्चनकमणी[7] । [8]अरहस्य तथेच्छन्ति सुधिय परमागमम् ॥१९५॥

का चिन्तवन करना है, वह अनिष्ट सयोगज नामका पहला आर्तध्यान है। इष्ट वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए हमेशा चिन्तवन करते रहना वह इष्टवियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान है। आगामी भोगो की प्राप्ति के लिए सतत चिन्तवन करना तीसरा निदान नामका आर्तध्यान है। शारीरिक पीडा हो जाने पर उसे दूर करने के लिए निरन्तर चिन्तवन करना वह वेदना नामका चौथा आर्तध्यान है। इसीप्रकार रौद्रध्यान भी हिंसानदी, मृषानदी, चौर्यानदी, व परिग्रहानदी के भेद से चार प्रकार का है। दूसरो को सताने मे आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है। झूठ बोलने मे आनन्द मानना मृषानन्दी, चोरी करने मे आनन्द मानना चौर्यानन्दी और विषय-भोग की सामग्री के सचय करने मे आनन्द मानना विषयानन्दी नामका चौथा-रौद्रध्यान है। उक्त दोनो आर्त व रौद्रध्यान त्याग देने चाहिए ॥१८९-१९०॥ ये दोनो अशुभ ध्यान जाननेयोग्य आगम के ज्ञान को रोकने के लिए किवाड-सरीखे है और मोक्षमार्ग के रोकने के लिए बडे अर्गल-(वेडा) जैसे है एव नरकलोक मे उतरने के लिए सीढी-जैसे है और तत्त्वदृष्टि को ढाँकने के लिए पलको के समान है ॥ १९१ ॥ जब तक मन मे ये दोनो ध्यान लेशमात्र भी अविष्ठित रहते है तबतक यह ससाररूपी वृक्ष विशेष ऊँचा होकर बढता चला जाता है ॥ १९२ ॥ जिसप्रकार जलता हुआ दीपक कज्जल धारण करता है कि जलता हुआ सूर्य, उसीप्रकार ध्यान भी ध्यान करनेवाले के अच्छे या बुरे भावो के अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है ॥ १९३ ॥

धर्मध्यान

[दोष व दोष-फल प्रदर्शित करने पर मनुष्य-लोक का गुण व गुण-फल के श्रवण मे आग्रह होता है, ऐसा निश्चय करके शास्त्रकार आर्त व रौद्र ध्यान के बाद धर्मध्यान का निरूपण करते है]

जो निर्मल बुद्धिशाली मानव धर्मध्यान मे तत्पर होता है, वह प्रमाण (सम्यग्ज्ञान), नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारो के साथ तत्त्वो के ज्ञान मे अपनी बुद्धि प्रेरित करता है, वह उसका आज्ञाविचय धर्मध्यान है ॥ १९४ ॥ जिसप्रकार लोक मे सुवर्ण की दो क्रियाएँ (कसौटी पर कसना और छेदन करना) प्रकटरूप से होती है उसीप्रकार विद्वान् पुरुष परमागम को भी गूढता-रहित (प्रकट अर्थवाला) चाहते है। अभिप्राय यह है कि सुवर्ण की तरह परमागम भी ऐसा होना चाहिए, जिसे मत्य की कसौटी पर कसा जा सके, ऐसा आगम ही श्रेष्ठ है, उसमे कही हुई बाते यथार्थ होती है, परन्तु जो आगम हमारे-सरीखे अल्प बुद्धि वाले

---

१ एनोरथ—पापरथमार्गभूते द्वे ध्याने। २ तथा चोक्त तत्वार्थसूत्रे—(अ० ९) 'आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार ॥ ३० ॥ विपरीत मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ निदान च ॥ ३३ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो ॥३५॥ ३ नेत्रनिमीलने नेत्रझपनोपकरणविस्फारणि ?
४. करोति। ५ प्रकटे। ६ विद्यमाने भवत । ७. सुवर्णस्य द्वे कर्मणी कषच्छेदलक्षणे। ८ प्रकटार्थं।

[1]य स्खलत्यल्पबोधाना विचारेष्वपि मादृशा । स ससारार्णवे मज्जज्जन्त्वालम्ब कथ भवेत ॥१९६॥ (इत्याज्ञा)
अहो मिथ्यातम पुसा युक्तिद्योते स्फुरत्यपि । यदन्धयति चेतासि रत्नत्रयपरिग्रहे ॥१९७॥
[2]आशास्महे तदेतेषा दिन[3] यत्रास्तकल्मषा । इदमेते प्रपश्यन्ति तत्त्व दु खनिबर्हणम ॥१९८॥ (इत्यपाय)
अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान् । मरुत्त्रयीवृतो लोक प्रान्ते [4]तद्धामनिष्ठितः ॥१९९॥ (इति लोक *)
[5]रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च । अनारत भ्रमन्त्येते निजकर्मानिलेरिता ॥२००॥ (इति विपाक)

मानवो की परीक्षा मे स्खलित (असफल) होता है, वह ससार समुद्र मे डूब रहे प्राणियो को अवलम्बन (सहारा) देनेवाला किसप्रकार हो सकता है ?

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान से सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित परमागम से परमात्मा के स्वरूप का निश्चय करके परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, इसी से परमात्म पद की प्राप्ति होती है। जिस ध्यान मे जैन सिद्धान्त मे कहे हुए वस्तुस्वरूप का चिन्तन सर्वज्ञ भगवान् को प्रमाण मानकर—उनकी आज्ञा को ही प्रधान करके किया जाता है उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते है ॥ १९५-१९६ ॥

अपायविचय का स्वरूप

आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाश के विस्तृत होने पर भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को ग्रहण करने मे (मोक्षमार्ग को स्वीकार करने मे) मनुष्यो के चित्तो को अन्धा बनाता है। अर्थात्—हिताहित के विवेक से शून्य करता है, इसलिए हम इन भव्यजनो के उस दिन की आशा करते है, जिस दिन ये मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वरूपी पाप को नष्ट करने वाले होकर समस्त दु खो से छुडानेवाली तत्वो की श्रद्धा करेंगे, अर्थात्—सन्मार्ग से भ्रष्ट हुए मानवो के उद्धार करने के विषय मे जो चिन्तवन किया जाता है, उसे अपायविचय धर्मध्यान कहते है॥ १९७-१९८ ॥

सस्थानविचय का स्वरूप

यह लोक किसी ईश्वर-आदि द्वारा रचा हुआ नही है, और इसका स्वरूप भी विचित्र है, इसके बीच मे एक राजू चौडी व चौदह राजू लम्बी त्रसनाली है एव जो तीन वातवलयो (घनोदधिवातवलय, घनवातवलय व तनुवातवलय) से वेष्टित (घिरा हुआ) है तथा लोक के ऊपर उसके प्रान्तभाग मे सिद्धस्थान है, अभिप्राय यह है उक्त प्रकार लोक के स्वरूप के चिन्तवन करने को सस्थानविचय धर्मध्यान कहते है ॥१९९॥

---

१ परकीय आगम । २ वय वाञ्छाम । ३ यत्र यस्मिन् दिने एते मिथ्यादृष्टय अस्तकल्मषा सन्त तत्व पश्यन्ति तद्दिन वाञ्छाम ।

तथा चाह पूज्यपाद —

'जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टय सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद् विमुखा मोक्षार्थिन सम्यङ् मार्गापरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचय । अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्य कथ नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचय'। —सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सू० ३६ । ४ मोक्ष । * सस्थानविचयधर्मध्यान ।

तथा चाह टिप्पणीकार —'श्रुतिमतिबलवीर्यप्रेमरूपायुरग, स्वजनतनककान्ताभ्रातृपित्रादिसर्वं ।
तितउगतजल वा न स्थिर वीक्षतेगी तदपि वत विमूढो नात्मकार्यं करोति ॥ १ ॥ इति सस्थानविचय ' टि० ख० ।

तथा चाह पूज्यपाद —लोकसस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहार सस्थानविचय ।—सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ३६ ।

५ तथा चाह पूज्यपाद –'कर्मणा ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवन प्रति प्रणिधान विपाकविचय ।
—सर्वार्थसिद्धि अ० ९ सूत्र ३६,

इति चिन्तयतो धर्म्यं यतात्मेन्द्रियचेतस । तमासि [1]द्रवमायान्ति [2]द्वादशात्मोदयादिव ।।२०१।।
[3]भेद [4]विर्वाजिताभेदमभेद[5] भेदवर्जितम्[6] । ध्याय[7]न्सूक्ष्मक्रियाशुद्धो [8]निष्क्रिय [9]योगमाचरेत्* ।।२०२।।

विपाकविचय का स्वरूप

ये प्राणी धूलि सरीखे अपनी कर्मरूपी वायु द्वारा प्रेरित हुए निरन्तर इस लोक के मध्य, ऊर्ध्व व अधो लोक मे भ्रमण करते है, उक्त प्रकार ज्ञानावरण-आदि कर्मोके फल के चिन्तवन करने को विपाकविचय कहते है।

भावार्थ—पञ्जिकाकार* ने कहा है कि 'आ कष्ट है कि निश्चय से विचित्र फल (सुख दु ख) देनेवाले ज्ञानावरण-आदि कर्मो द्वारा ससार के प्राणी चारो गतियो मे दु खित किये जाते है, इसलिए कब मै इस कर्म-फल की निर्जरा करके आगामी कर्म-फल को तिरस्कृत करता हुआ मोक्ष प्राप्त करनेवाला होऊँ, इसप्रकार चिन्तवन करना विपाकविचय है ।। २०० ।।

धर्मध्यान का फल

जैसे सूर्य के उदय से तम (अन्धकार) नष्ट हो जाते हैं वैसे ही अपनी इन्द्रिय व मन को वश करके धर्मध्यान का चिन्तवन करनेवाले मानव के तम (अज्ञान या पाप) नष्ट हो जाते है ।। २०१ ।।

शुक्लध्यान का स्वरूप

[उक्त चारो प्रकार की धर्मध्यान-विधि मे प्रवीण हुआ योगी मोक्षोपयोगी शुक्लध्यान प्राप्त कर

---

१ विनाश । २ सूर्य । ३ भेद पृथक्त्व । ४ विर्वाजिताभेदमेकत्वरहितमर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु सक्रमात् । अनेन पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्य शुक्लध्यानमुक्त । ५-६ अभेदमेकत्व भेदवर्जित पृथक्त्वरहितमर्थव्यञ्जन-योगान्तरेष्वसक्रमात् । अनेन एकत्ववितर्कावीचाराख्य शुक्लध्यानमुक्त । ७ सूक्ष्मक्रियाशुद्ध सूक्ष्मैकक्रियावलम्बन, अनेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति शुक्लध्यानमुक्त । ८-९ निष्क्रिय सकलयोगरहित योग ध्यान, अनेन समुच्छिन्नक्रियानिर्वति शुक्लध्यानमुक्तम् ।

भवन्ति चात्र सुभाषितानि--

वितर्क श्रुतमित्याहुर्विचार सक्रमो मत । अर्थव्यञ्जनयोगेषु स च सक्रम इष्यते ।। १ ।।
द्रव्यपर्यायरूप स्यादर्थस्तत्वार्थवेदिना । यद्वाचकवचस्तस्य तद्वघञ्जनमुदाहृतम् ।। २ ।।
श्रेणिद्वयसमालब्ध हेतु स्वर्गापवर्गयो । शुक्लमाद्य भवेद्धचान श्रुतकेवलिनो मुने ।। ३ ।।
योग य वाच वा, सक्रम्योक्त्वाणुपर्यये वितर्कयत । श्रुतिविषयं भवति यतः केवलज्ञान क्षपकश्रेणिमारूढो ।।४।।

* तथा चाह सूत्रकार --'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद ।। ३७ ।। परे केवलिन ।। ३८ ।। पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ।। ३९ ।। —तत्वार्थसूत्र अ० ९ ।

* तथा च पञ्जिकाकार —आ 'कष्ट खलु चित्र फलमनुभावयद्भिरमीभि कर्मभिश्चतसृषु गतिषु प्राणिन क्लिश्यन्ते तत्कदाऽहमेतत्फल निर्जीर्यावधीरितागामिकर्मफलसबध शिवी स्यामिति भावन विपाक ।

ह० लि० पञ्जिका से सकलित—सम्पादक

विलीनाशयसबन्ध शान्तमारुतसञ्चय । देहातीत पर धाम कैवल्य प्रतिपद्यते ॥२०३॥
प्रक्षीणोभयकर्माण[1] जन्मदोषैर्विवर्जितम । लब्धात्मगुणमात्मान मोक्षमाहुर्मनीषिण ॥२०४॥
[2]मार्गं सूत्रमनुप्रेक्षा सप्ततत्त्व जिनेश्वरम् । ध्यायेदागमचक्षुष्मान्प्रसख्यानपरायण [3] ॥२०५॥
[4]जाने तत्त्व यथैतिह्य [5]श्रद्दधे तदनन्यधी [6] । मुञ्चेऽह सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमादधे ॥२०६॥
[7]आत्माय बोधिसपत्तेरात्मन्यात्मानमात्मना । यदा [8]सूते तदात्मान लभते परमात्मना ॥२०७॥

सकता है ऐसा चित्त मे निश्चय करके ग्रन्थकार धर्मध्यान के बाद शुक्लध्यान का निरूपण करते है*]

शुक्लध्यान के चार भेद है—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कावीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और समुच्छिन्नक्रियानिर्वति । उनमे से पहला पृथक्त्ववितर्कवीचार विवर्जिताभेद है, अर्थात्—एकत्व-रहित है—अर्थ (द्रव्य व पर्याय) व्यञ्जन (द्रव्य-पर्याय को कथन करनेवाला वचन) व योगान्तरो (मनोयोग-आदि) मे सक्रमण करता है । दूसरा एकत्ववितर्कावीचार भेद-विवर्जित है, अर्थात्—पृथक्त्व से रहित है, क्योकि यह अर्थ व व्यञ्जन-आदि मे सक्रमण नही करता । तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, जो कि सूक्ष्म क्रिया का अवलम्बन करनेवाला है और चौथा समुच्छिन्नक्रियानिर्वति, जिसका लक्षण निष्क्रिय है, अर्थात्—समस्त योग-रहित है । अर्थात्—योगी उक्त तीन प्रकार के शुक्लध्यान को ध्याता हुआ निष्क्रिय ध्यान को ध्याता है । ऐसे अयोग केवली भगवान् इस चौथे शुक्लध्यान से समस्त कर्मो का सबध नष्ट करनेवाले होकर जिनका प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) वायु का प्रचार रुक गया है और जो वर्तमान शरीर छोडकर सर्वोत्कृष्ट मुक्तिपद प्राप्त करते है ॥ २०२–२०३ ॥

मोक्ष का स्वरूप

विद्वानो ने एसी विशुद्ध आत्मा को मोक्ष कहा है, जिसने दोनो प्रकार के कर्म (घातिया व अघातिया) नष्ट किये है व जो जन्म, जरा व मृत्यु-आदि दोषो से रहित है एव जिसने आत्मिक गुण (अनन्तज्ञान-आदि) प्राप्त किये है ॥ २०४ ॥

ध्यान करने योग्य वस्तु

धर्म-ध्यान मे तत्पर हुए मानव को शास्त्ररूप चक्षु से युक्त होकर मोक्षमार्ग के सूत्र (सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग) का और बारह भावनाओ का तथा मोक्षोपयोगी सात तत्वो का एव वीतराग सर्वज्ञ-जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करना चाहिए ॥ २०५ ॥

धर्मध्यानी को क्या विचार करना चाहिए ?

मै आगमानुसार तत्वो को जानता हूँ और एकाग्रचित्त होकर उनका श्रद्धान करता हूँ एव समस्त आरम्भो को छोडता हूँ तथा आत्मा मे आत्मा को स्थिर करता हूँ ॥ २०६ ॥ ससारी यह आत्मा जब सम्यग्ज्ञान-

---

१ घाति-अघाति । २ रत्नत्रयलक्षण । ३ ध्यानतत्पर । ४ अह । ५. रोचे । ६ एकाग्रचित्त ।

* तथा च पञ्जिकाकार —

धर्मध्यानविधौ सिद्ध शुक्लध्यानविधानभाक् । अतएवास्य भाषन्ते निर्देश तदनन्तरम् ॥ १ ॥

इति चेतेसि निधाय धमघ्यानानन्तर चतुर्भेद शुक्लध्यान भेदमित्यादिनोदाहरति । यश० पञ्जिका से सकलित —सम्पादक

७ ससारी सन्नपि । ८ जनयति ध्यायति वा ।

ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फल तथा । आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथा युक्तिपरिग्रह ॥२०८॥
सुखामृतसुधासूतिस्तद्र[1]वेरुदयाचल । पर ब्रह्माहम[2]त्रासे तम पाशवशीकृत ॥२०९॥
यदा चकास्ति मे चेतस्तद्ध्यानोदयगोचरम् । तदाह जगता चक्षु स्यामादित्य इवातमा ॥२१०॥
आदौ मध्वमधुप्रान्ते सर्वमिन्द्रियज सुखम् । प्रात स्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्घ्रिषु ॥२११॥
यो दुरामयदुर्दर्शे बद्धग्रासो यमोऽङ्गिनि । स्वभावसुभगे तस्य[3] स्पृहा केन निवार्यते ॥२१२॥
जन्मयौवनसयोगसुखानि यदि देहिनाम् । [4]निर्विपक्षाणि को नाम सुधी ससारमुत्सृजेत् ॥२१३॥
अनुयाचेत नायू षि नापि मृत्युमुपाहरेत् । [5]भृतो भृत्य इवासीत [6]कालावधिमविस्मरन् ॥२१४॥
महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्वरुचितेजसा । सुविशुद्धान्तरात्मासे तम पारे प्रतिष्ठित ॥२१५॥

रूपीलक्ष्मी से आत्मा के द्वारा आत्मा मे आत्मा का ध्यान करता है तब आत्मा को परमात्मरूप से प्राप्त करता है—परमात्मा बन जाता है ॥ २०७ ॥ आत्मा ही ध्याता (ध्यान करनेवाला) है, आत्मा ही ध्येय (ध्यान करने योग्य) है एव आत्मा ही ध्यान है तथा रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही ध्यान का फल है । अर्थात्—ध्याता, ध्यान, ध्येय और उसका फल ये सब आत्मस्वरूप ही पडते है, युक्ति के अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥ २०८ ॥ मै सुखरूपी अमृत की उत्पत्ति के लिए चन्द्रमा हूँ तथा सुखरूपी सूर्य को उदित करने के लिए उदयाचल हूँ । एव मै परब्रह्म स्वरूप हूँ, परन्तु अज्ञानान्धकाररूपी जाल से पराधीन होकर इस शरीर मे ठहरा हुआ हूँ ॥ २०९ ॥ जब मेरा मन उस शुक्लध्यान के उदय को विषय करनेवाला होकर प्रकाशित होगा तब मै उस प्रकार अतम (अज्ञान नष्ट करनेवाला) होकर तीन लोक के पदार्थो का दृष्टा (केवली) हो जाऊँगा जिस प्रकार अतम (अन्धकार नष्ट करनेवाला) सूर्य जगत की चक्षु (लोक के पदार्थो को प्रकाशित करनेवाला) होता है ॥ २१० ॥ समस्त इन्द्रिय-जन्य सुख शुरु मे मधु-जैसा मीठा प्रतीत होता है परन्तु अखीर मे कटुक मालूम पडता है जैसे शीत ऋतु मे सवेरे स्नान करनेवाले प्राणियो को उष्ण जल प्रिय मालूम पडता है न कि ग्रीष्म ऋतु मे प्रात स्नान करने वालो को ॥ २११ ॥ जो यमराज दुष्ट व्याधियो से पीडित होने के कारण दु ख से भी देखने के लिए अशक्य (कुरूप) प्राणी को अपने मुख का ग्रास बनाता है, तो स्वभाव से सुन्दर प्राणी को अपने मुख के ग्रास बनाने की उसकी इच्छा को कौन रोक सकता है ? अर्थात्—वह सुन्दर मनुष्य को भी खा लेता है ॥ २१२ ॥ यदि प्राणियो के जन्म, यौवन व इष्ट-सयोग से होनेवाले सुख विपक्षो (जन्म का विपक्षी मरण और जवानी का विपक्षी बुढापा एव इष्ट सयोग-सुख का विपक्षी इष्टवियोग) से रहित होते तो ऐसी सभावना है कि कौन बुद्धिमान मनुष्य ससार को छोडता ? ॥ २१३ ॥

योगी पुरुष को काल की अवधि को न भूलते हुए (इस प्रकार निश्चय करते हुए कि स्वादिष्ट अन्न-आदि से पुष्ट किया हुआ भी यह शरीर यमराज की वञ्चना का उल्लघन नही करता) न तो जीवन की याचना करनी चाहिए कि मै अधिक काल तक जीवित रहूँ और न मृत्यु की अनिच्छा करनी चाहिए कि मै कभी न मरूँ । उसे उसप्रकार अपने कर्तव्य (ध्यानादि) मे स्थित होना चाहिए जिसप्रकार स्वामी द्वारा भरण-पोषण किया हुआ (वेतन पानेवाला) नौकर उसके कर्तव्य मे सावधान रहता है ॥ २१४ ॥ मै आज विशेष भाग्यशाली हूँ, क्योकि तत्वश्रद्धानरूपी प्रकाश से मेरी अन्तरात्मा विशुद्ध हो गई है और मै मिथ्यात्व-रूपी गाढ अन्धकार को पार करके प्रतिष्ठित हूँ ॥ २१५ ॥ ससार मे ऐसा कोई भी सुख-दु ख नही है, जिसे

१ सुखसूर्यस्य । २ देहे तिष्ठामि । ३ यमस्य । ४ शाश्वतानि । ५ पुष्टो मृष्टान्नादिभि काय । ६ भृत्य काय यमवचना न लङ्घयतीत्यर्थ , तेन कारणेन योगिना जीवितमरणयोर्वाञ्छा अवाञ्छा न कर्तव्या ।

तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं च नाप्तवान् । स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥२१६॥
सम्यगेतत्सुधाम्भोधे*बिन्दुमप्यालिहन्मुहुः । जन्तुर्न जातु जायेत जन्मज्वलनभाजनः ॥२१७॥
[1]देवं देवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् । [2]चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥२१८॥
निरञ्जनं जनाधीशं परमं रमयाश्रितम् । अच्युतं च्युतदोषौघमभवं भवभृद्गुरुम् ॥२१९॥
सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्य[3]सर्वेश्वरमनीश्वरम्[4] । सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वाश्रयमनाश्रयम् ॥२२०॥
प्रभवं सर्वविद्यानां सर्वलोकपितामहम् । सर्वसत्त्वहितारम्भं [5]गतसर्वमसर्वगम्[6] ॥२२१॥
नम्रामरकिरीटांशुपरिवेषनभस्तले । भवत्पादद्वयद्योतिनखनक्षत्रमण्डलम् ॥२२२॥
स्तूयमानमनूचानै[7]र्ब्रह्मोद्यैर्ब्रह्मकामिभिः । [8]अध्यात्मागमवेधोभिर्योगिमुख्यैर्महर्द्धिभिः ॥२२३॥
नीरूपं[9]रूपिताशेषमशब्दं [10]शब्दनिष्ठितम् । अस्पर्शं [11]योगसंस्पर्शमरसं [12]सरसागमम् ॥२२४॥

मैने प्राप्त न किया हो किन्तु जैनागमरूपी अमृत का पान मैने स्वप्न मे भी नही किया ॥ २१६ ॥ जो प्राणी इस आगमरूपी क्षीरसागर की एक विन्दु का भी आस्वादन कर लेता है, वह फिर कभी भी जन्मरूपी अग्नि का पात्र नही होता। अर्थात्—उस शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है, जिससे उसे ससार मे भ्रमण नही करना पडता ॥ २१७ ॥

[अब अर्हन्त भगवान् के ध्यान करने की प्रेरणा करते है—]

धर्मध्यानी को ऐसे अर्हन्त भगवान् का ध्यान करना चाहिए, जो कि समवसरण मे विराजमान, पच कल्याणको के स्वामी, चौतीस अतिशयो से युक्त और आठ प्रतिहार्यो से विभूषित है, जो निरञ्जन (घातिया-कर्मरूपी मल से रहित), मनुष्यो के स्वामी, व सर्वोत्कृष्ट है, जो अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग लक्ष्मी से आश्रय किये हुए, आत्मस्वरूप से च्युत न होनेवाले, दोष-समूह से रहित और ससार-रहित होकर ससारी प्राणियों के गुरु है, जो समस्त प्राणियो द्वारा स्तुति-योग्य है किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य नही है, जो समस्त प्राणियो के स्वामी है किन्तु जिनका कोई स्वामी नही है, जो सबके आराध्य है परन्तु जिनका कोई आराध्य नही है, जो सबके आश्रय है परन्तु जिनका कोई आश्रय नही है, जो समस्त विद्याओ के उत्पत्तिस्थान और समस्त लोक के पितामह है, जिनके कार्य का प्रारम्भ समस्त प्राणियो के हित के लिए है जो समस्त विश्व के ज्ञाता और स्वशरीर के परिमाण है ॥ २१८-२२१ ॥ जिनके चरण-युगल का प्रकाशमान नखरूपी नक्षत्र समूह, नमस्कार करने वाले देवो के मुकुटो के किरण-मण्डलरूपी आकाश मे शोभायमान हो रहा है ॥ २२२ ॥ द्वादशाङ्ग श्रुत के पारगामी, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्म की कामना करनेवाले अध्यात्मशास्त्र के कर्ता तथा महान् ऋद्धिधारी गणधर जिनकी स्तुति करते है ॥ २२३ ॥ जो रूप-रहित है और समस्त वस्तु-समूह के ज्ञाता है, जो स्वय शब्दरूप नही है किन्तु आगम से निर्णीत है, जो स्पर्श-रहित है किन्तु ध्यान से स्पृष्ट है, जो रस गुण से रहित है, किन्तु जिनका आगम सरस (सुखरस का उत्पादक) है, जो गन्धगुण से रहित है किन्तु अनन्त ज्ञानादि गुणो से अपनी आत्माको सुगन्धित करनेवाले है, जो चक्षुरादि इन्द्रियो के सबध से रहित है अर्थात्—जब भगवान् केवलज्ञानी हुए तभी से इनका भावेन्द्रियो से सबध छूट गया, किन्तु इन्द्रियो-के विषयो के प्रकाशक

* क्षीरसमुद्रस्य । १ अर्हन्तं ध्यायेत् । २ चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं—निःस्वेदत्वादयो दश सहजाः, गव्यूतिशतचतुष्टय सुभिक्षितादयो घातिक्षयजा दश, सर्वार्धमागधीभाषादयो देवोपनीताश्चतुर्दश । ३ न विद्यते स्तुत्यो यस्य । ४ न विद्यते ईश्वरः स्वामी यस्य स अर्हन् ।
५ ज्ञातं सर्वं येन । ६ न सर्वं गच्छतीति शरीरप्रमाणमित्यर्थः । ७ ब्रह्मविद्भिः । ८ आगमकर्तृभिः । ९ ज्ञातं । १० आगमेन निष्ठा यस्य । ११ ध्यानं । १२ सुखरसागमं ।

गुणं सुरभितात्मानमगन्धगुणसगमम् । व्यतीतेन्द्रियसबन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥२२५॥
भुवमानन्दसस्यानामम्भस्तृष्णानलार्चिषाम । पवन दोषरेणूनामग्निमेनोवनीरुहाम् ॥२२६॥
[1]यजमान सदर्थाना व्योमालेपादिसपदाम्[2] । भानु भव्यारविन्दाना चन्द्र मोक्षामृतश्रियाम् ॥२२७॥
[3]अतावकगुण सर्व त्व सर्वगुणभाजन । त्व सृष्टि [4]सर्वकामाना कामसृष्टिनिमीलन[5] ॥२२८॥
खसुप्तदीपनिर्वाणे *प्राकृते वा त्वयि स्फुटम् । [6]खसुप्तदीपनिर्वाण [7]प्राकृत स्याज्जगत्त्रयम् ॥२२९॥
[8]त्रयीमार्ग [9]त्रयीरूप त्रयीमुक्त[10] [11]त्रयीपतिम् ।
[12]त्रयीव्याप्त [13]त्रयीतत्त्व त्रयीचूडामणिस्थितम्[14] ॥२३०॥

है, जो शाश्वत सुखरूपी धान्य की उत्पत्ति के लिए पृथिवी, तृष्णारूपी अग्नि-ज्वालाओ के बुझाने के लिए जल, दोष (क्षुधा-तृषा-आदि) रूपी धूलि को उडाने के लिए वायु और पापरूपी वृक्षो को भस्म करने के लिए अग्नि है, जो प्रशस्त पदार्थों के दाता और समवसरण-आदि विभूतियो की प्राप्ति होने पर भी उनमे अनुरक्त न होने के कारण जो निर्लिप्त रहना-आदिरूपी सम्पत्तियो के लिए आकाश-सरीखे हे, जो भव्यरूपी कमलो को विकसित करने के लिए सूर्य एव मोक्षरूपी अमृत-लक्ष्मी के लिए चन्द्र है, समस्त वस्तु-समूह मे तुम्हारे गुण (अनन्त ज्ञानादि) नही है, और तुम समस्त गुणो के पात्रभूत हो, एव तुम समस्त मनोरथो को पूर्ण करनेवाले तथा काम की सृष्टि का सकोचन करनेवाले हो अर्थात्—काम-विकारो को दूर करनेवाले हो ॥ २२४-२२८ ॥ वैशेषिक दर्शन मे निर्वाण (मुक्ति) का स्वरूप आकाश-सरीखा शून्य माना है, क्योकि उनके मत मे मुक्त अवस्था मे आत्मा के बुद्धि व सुख-आदि नो विशेष गुणो का अत्यन्त उच्छेद (नाश) हो जाता है। साख्यदर्शन मे निर्वाण का स्वरूप सोये हुए मनुष्य की तरह अर्थ-क्रिया-शून्य माना गया है, क्योकि उन्होने पुरुष के ऐसे चैतन्यस्वरूप की उपलब्धि (प्राप्ति) को मुक्ति मानी है, जो कि पदार्थो के ज्ञानरूपी अर्थक्रिया से शून्य है और बौद्धमत मे दीपक के बुझने सरीखी आत्मा की निरन्वय हानि (नाश) को मुक्ति माना है, किन्तु अलौकिक अर्हन्त भगवान् मे उक्त तीन दर्शनकारो के निर्वाण अनेकान्त शैली के अनुसार प्रकटरूप से विद्यमान हे। अर्थात्—जैनदर्शन मे मोक्ष मे राग, द्वेष व मोह से रहित होने के कारण आत्मा की विशुद्ध अवस्था को आकाश-सरीखो मानी है और ध्यान मे लीन होने के कारण सुप्त मानी है और दीपक की तरह केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थो को प्रकाशित करनेवाली दीप-सरीखी मानी है, अत हे जिन ! उक्त तीनो दर्शनकारो की मुक्ति का स्वरूप हीन (युक्तिविरुद्ध) है ॥ २२९ ॥ जिनका मोक्षमार्ग रत्नत्रय (सम्यग्दशन-

१ दातार उत्तमार्थाना । २ आदिशब्दान्महत्वादि । ३ यद्वस्तु तत्सव अतावकगुण त्वत्स्वरूप न भवति । ४ वाञ्छितवस्तूना । ५, सकोचन । ६ 'खनिर्वाण नैयायिकानाम्, सुप्तनिर्वाण साख्याना, दीपनिर्वाण बौद्धानाम्, पक्षे रागद्वेषमोहरहितत्वादाकाशवत् शून्य, योगनिद्राया सुप्त, दीपवत् केवलज्ञानेन द्योतकम्' । टि० ख० । 'खनिर्वाण नैयायिकानामित्यादि टि० ख० वत्, 'खादिवन्निर्वाण वैशेषिकसाख्यबौद्धाना ज्ञानाद्यभावचैतन्यमात्रान्वयविशेषविनाशाभ्युपगमात् । * अलौकिके निश्चित त्वयि विषये भवति' इति टि० घ० च० । 'खवत् निर्वाण वैशेषिकाणा ज्ञानाद्यभावाभ्युपगमात्, सुप्तवन्निर्वाण साख्याना चैतन्यमात्राभ्युपगमात्, प्रदीपवन्निर्वाण बौद्धाना निरन्वयविनाशाभ्युपगमात्' । इति पञ्जिकाकार प्राह । ७ हीन । ८ रत्नत्रयमार्ग (रत्नत्रय मार्गो यस्य) । ९ 'रत्नत्रय, सत्तासुखचैतन्यरूप वा' । टि० ख० । 'रत्नत्रयरूप' टि० घ० च० प० च । १० 'जातिजरामरणमुक्त' टि० घ० प० च । 'रागद्वेषमोह' टि० ख० । ११ 'जगत्त्रयपति' इति प०, 'मतिश्रुतावधित्रय गृहस्थापेक्षया' टि० ख० । १२ कालत्रयव्याप्त (अतीतानागतवर्तमानत्रयी) । १३ राग, द्वेष, मोह, स्वर्गमर्त्यपाताल, गृहस्थापेक्षया मतिश्रुतावधित्रय । १४ त्रैलोक्यशिखाया मणिवत् स्थितम् ।

जगता कौमुदीचन्द्र कामकल्पावनीरुहम् । गुणचिन्तामणिक्षेत्र कल्याणागमनाकरम् ॥२३१॥
[1]प्रणिधानप्रदीपेषु साक्षादिव चकासतम् । ध्यायेज्जगत्त्रयार्चार्हमर्हन्त सर्वतोमुखम् ॥२३२॥
[2]आहुस्तस्मात्पर ब्रह्म तस्मादैन्द्र पद करे । इमास्तस्मादयत्नाप्या[3]श्चक्राङ्का क्षितिपश्रिय ॥२३३॥
य यमध्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सरा । तत्पदाय दधत्यन्त स स तत्रैव लीयते ॥२३४॥
अनुपायानिलोद्भ्रान्त पुस्तरूणा मनोदलम्[4] । तद्भूमावेव[5] भज्येत लीयमान चिरादपि ॥२३५॥
[6]ज्योतिरेक पर वेष [7]करीषाश्मसमित्सम । [8]तत्प्राप्त्युपायदिङ्मूढा भ्रमन्ति भवकानने ॥२३६॥

आदि) है, जो रत्नत्रयरूप है अथवा सत्ता, सुख और चैतन्य से विशिष्ट होने के कारण जो त्रयीरूप है, जो राग, द्वेष और मोह से मुक्त है अथवा जन्म, जरा व मरण से मुक्त है, जो तीन जगत के स्वामी है अथवा गृहस्थ की अपेक्षा से मति, श्रुत व अवधिज्ञान से युक्त है, जो कालत्रय मे व्याप्त है, जिनका तत्व उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यात्मक है और जो तीनो लोको के शिखर पर मणि सरीखे विराजमान है ॥ २३० ॥ जो जगत के लिए पूर्णिमासी के चन्द्र है, जो अभिलषित वस्तु देने के लिए कल्पवृक्ष है, जो गुणरूपी चिन्तामणि के स्थान है एव जो कल्याण-प्राप्ति के लिए खानि है ॥२३१॥ जो ध्यानरूपी दीपको के प्रकाश मे साक्षात् चमकनेवाले और तीन लोको से पूजनीय है एव जिनका मुख समस्त दिशाओ मे है ॥२३२॥ आचार्यो ने कहा है, कि उन अर्हन्त का ध्यान करने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है और उनके ध्यान से इन्द्रपद हस्त-गत होता है एव चक्रवर्ती की विभूतियाँ विना यत्न के प्राप्त हो जाती है ॥२३३॥ मान व ईर्षा से रहित पुरुष अध्यात्म-मार्ग मे अपने अन्त करण मे मोक्षपद की प्राप्ति के लिए जो-जो भाव स्थापित करते है वह-वह भाव उसी पद मे ही लीन होता जाता है अर्थात्—प्रकर्ष को प्राप्त हुआ वह भाव अर्हन्त पद की प्राप्ति का कारण होता है ॥२३४॥ पुरुषरूपी वृक्षो का मनरूपी पत्ता मोक्ष प्राप्ति मे जो कारण नही है, ऐसे मिथ्यादर्शन-आदि रूपी वायु से सदा उद्भ्रान्त (चञ्चल व पक्षान्तर मे भ्रान्ति-युक्त) बना रहता है किन्तु अर्हन्तरूपी भूमि मे पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसी मे चिरकाल के लिए लीन हो जाता है ।

भावार्थ—नाना प्रकार के सासारिक प्रपञ्चो मे फँसे रहने के कारण मानव का मन सदा चञ्चल व भ्रान्तियुक्त बना रहता है, किन्तु जब मनुष्य मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त होकर अपने मन को स्थिर करने मे प्रयत्नशील होता है और अर्हन्तदेव का ध्यान करता है तो उसका मन उसी मे लीन होकर उसे अर्हन्त बना देता है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिर पडता है, क्योकि अर्हन्त अवस्था मे भावमन नही रहता ॥२३५॥ ध्यान करने योग्य आत्मतत्त्वरूपी ज्योति (अग्नि) एक ही है परन्तु उसका आकार उस प्रकार पृथक् है जिस प्रकार अग्नि एक होकर भी आकार से पृथक्-पृथक् होती है । अर्थात्—जिस प्रकार अग्नि एक होकर शुष्क गोबर (कण्डा), पाषाण व लकडी के कारण कण्डे की अग्नि, पाषाण-अग्नि व लकडी की अग्नि-आदि भिन्न-भिन्न आकार धारण करती है उसी प्रकार ध्यान करने-योग्य आत्मा भी एक ही है, परन्तु स्त्री, पुरुष व नपुसक के वेष मे वह तीनरूप प्रतीत होती है, परन्तु ये अज्ञानी मानव उस आत्मा व अग्नि की प्राप्ति के उपाय की दिशा मे मूढ हुए (दिग्भ्रान्त हुए) ससाररूपी वन मे भ्रमण करते है । अभिप्राय यह है कि जैसे कण्डे से अग्नि का प्रकट होना कठिन है वैसे ही स्त्री-शरीर मे आत्मा का विकास होना कठिन है और जैसे पाषाण से अग्नि शीघ्र प्रकट होती है वैसे ही पुरुष शरीर मे आत्मा का विकास शीघ्र होता है एव जैसे लकडी से अग्नि का प्रकट

१ ध्यान । २ अर्हंत । ३ प्राप्य । ४ पर्णं । ५ मोक्षे एव । ६ आत्मा अग्निश्च । आत्मा एक एव आकारस्तु पृथक् स्त्री-पुन्नपुसकभेदात् । ७ गोमयेऽग्नि शीघ्र प्रकटो न स्यात्तथा स्त्रीषु आत्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति । पाषाणेऽग्नि शीघ्र प्रकट स्यात्तद्वत् पुस्यात्मा । समिधिविषये शीघ्र प्रकटो न स्यात्तद्वन्नपुसके, आत्मनोऽग्नेश्च । ८ मोक्षोपाय ।

[1]परापरपर देवमेव चिन्तयतो यते । भवन्त्यतीन्द्रियास्ते ते भावा लोकोत्तरश्रिय ॥२३७॥
[2]व्योम, [3]च्छायानरोत्सङ्गि यथामूर्तमपि स्वयम् । योगयोगात्तथात्माय भवेत्प्रत्यक्षवीक्षण ॥२३८॥
न ते गुणा न तज्ज्ञान न सा दृष्टिर्न तत्सुखम् । यद्योगद्योतने न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥२३९॥
देव जगत्त्रयीनेत्र व्यन्तराद्याश्च देवता । सम पूजाविधानेषु पश्यन्दूर[4]व्रजेदध ॥२४०॥
ता शासनाधिरक्षार्थं कल्पिता परमागमे । अतो [5]यज्ञांशदानेन माननीया सुदृष्टिभि ॥२४१॥
तच्छासनैकभक्तीना सुदृशा सुव्रतात्मनाम । स्वयमेव प्रसीदन्ति ता पु सा सपुरदरा ॥२४२॥
[6]तद्धामबद्धकक्षाणा रत्नत्रयमहीयसाम् । उभे कामदुघे स्याता द्यावाभूमी मनोरथै ॥२४३॥

होना विशेष कठिन है वैसे ही नपुसक-शरीर मे आत्मा का विकास विशेष कठिन है ॥ २३६ ॥ इसप्रकार पर (मुनि) और अपर (गणधर) से भी श्रेष्ठ अर्हन्त देव का ध्यान करनेवाले योगी पुरुष मे इन्द्रियो के अगोचर भाव (अवधिज्ञान-आदि) अलौकिक लक्ष्मी (मुक्तिश्री) को देनेवाले प्रकट होते है ॥ २३७ ॥ जिसप्रकार आकाश स्वय अमूर्तिक होकर के भी छाया पुरुष को मध्य मे धारण करने से छाया पुरुष हो जाता है। अभिप्राय यह है कि निस्सन्देह कोई निमित्तज्ञानी छाया-दर्शन के अभ्यास से अपने शरीर की छाया का दर्शन करता है और जब छाया विघटित हो जाती है तब आकाश शून्य होने पर भी उसके द्वारा उसमे छाया-हीन पुरुष देखा जाता है उसीप्रकार ध्यान के अभ्यास से ध्यानी को अमूर्तिक आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ २३८ ॥ ऐसे वे गुण नही, वह सम्यग्ज्ञान नही और वह सम्यक्त्व नही एव वह यथार्थ सुख भी नही, जो ध्यान के प्रकाशवाली व अज्ञानरूपी अन्धकार-समूह को नष्ट करनेवाली विशुद्ध आत्मा मे प्रकट नही होते। अर्थात्—धर्म व शुक्लध्यान के प्रभाव से आत्मा मे समस्त प्रशस्त गुण, केवलज्ञान, परमावगाढ सम्यक्त्व व मुक्तिश्री का यथार्थ सुख प्रकट होता है ॥ २३९ ॥

शासन-देवता की कल्पना

जो श्रावक तीनो लोको के दृष्टा जिनेन्द्र भगवान् को और व्यन्तर-आदि देवताओ की पूजाविधि मे समान रूप से मानता है। अर्थात्—दोनो की एक सरीखो पूजा करता है, वह विशेष रूप से नरकगामी होता है। अभिप्राय यह है कि विवेकी पुरुष को पूजाविधि मे दूसरे देव जिनेन्द्र-सरीखे पूज्य व सर्वोत्कृष्ट नही मानने चाहिए किन्तु उन्हे हीन समझना चाहिए। जिनागम मे जिन शासन की रक्षा के लिए उन शासन देवताओ की कल्पना की गई है, अत पूजा का एक अश देकर सम्यग्दृष्टियो को उनका सन्मान करना चाहिए ॥ २४०–२४१ ॥ व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र, जिनशासन के अनन्य भक्त, सम्यग्दृष्टि व व्रती पुरुषो पर स्वय प्रसन्न होते है ॥ २४२ ॥ स्वर्ग व पृथिवी दोनो ही उनके मनोरथो की पूर्ति द्वारा इच्छित वस्तु देनेवाले होते है, जिन्होने मोक्ष को अपनी कॉख मे बॉधा है और जो रत्नत्रय से महान् है ॥ २४३ ॥

१ पर अनगार केवल, तस्मात् पर उत्कृष्ट गणधरस्तस्मात् परो जिन । २ आकाश । ३ छायानरोत्सङ्गि छायापुरुषो भवतीति शेष । किल कश्चिन्निमित्तीपुरुष स्वशरीरच्छायाऽवलोकन करोति, छायावलोकनाभ्यासवशात् छाया विघटति, आकाशे शू येऽपि नरो दृश्यते, तद्वत् ध्यानाभ्यासात् आत्मा दृश्यते इत्यर्थ । ४ अतिशयेन अधोगामी स्यात्, तेन कारणेन अन्यदेवा जिनसदृशा न माननीया, किन्तु जिनात् हीना ज्ञातव्या इत्यथ । ५ न तु जिनवत् स्नपनादिना । ६ मोक्ष ।

कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान्नमस्येद्वापि देवता । सस्पृह यदि तच्चेतो रिक्त सोऽमुत्र चेह च ॥२४४॥
ध्यायेद्वा [1]वाङमय ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाचकम् । एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥२४५॥
ध्यायन्विन्यस्य [2]देहेऽस्मिन्निद[3] मन्दरमुद्रया[4] । [5]सर्वनामादिवर्णार्ह [6]वर्णाद्यन्त [7]सबीजकम् ॥२४६॥
तप श्रुतविहीनोऽपि तद्धचाना[8]विद्धमानस । न जातु तमसा सृष्टा तत्तत्त्वरुचिदीप्रधी ॥२४७॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तप परम् । इम मन्त्र स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्यचेतस ॥२४८॥
मन्त्रोऽय स्मृतिधाराभिश्चित्त यस्याभिवर्षति । तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपासव ॥२४९॥
अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दु स्थितोऽपि वा । भवत्येतत्स्मृतिजन्तुरास्पद सर्वसपदाम् ॥२५०॥
उक्त लोकोत्तर ध्यान किंचिल्लौकिकमुच्यते । [9]प्रकीर्णकप्रपञ्चेन दृष्टादृष्टफलाश्रयम् ॥२५१॥

निष्काम होकर धर्माचरण की प्रेरणा

धार्मिक पुरुष तप करे, मन्त्रो का जाप करे अथवा देवो को नमस्कार करे किन्तु यदि उसका चित्त लौकिक वस्तुओ की लालसा-युक्त है तो वह इस लोक व परलोक मे रिक्त (फल-शून्य) रहता है ॥२४४॥ धर्मध्यानी को अर्हन्त व सिद्ध-आदि पञ्चपरमेष्ठी की वाचक पञ्चनमस्कार मन्त्ररूपी ज्योति का एकाग्रचित्त होकर ध्यान करना चाहिए, क्योकि यह पञ्चनमस्कार मन्त्ररूपी ज्योति निस्सन्देह समस्त विद्याओ की अविनाशी आधार है ॥ २४५ ॥ जिसमे पञ्चनमस्कार मन्त्र के पाँचो पदो के प्रथमाक्षर सन्निविष्ट है, और जो 'अर्हं' रूप है तथा बीजाक्षरवाला है, ऐसे 'अर्हं' इस मन्त्र को अपने मस्तक के ऊपर स्थापित करके मन्दर मुद्रा (मस्तक के ऊपर दोनो हाथो से शिखराकार कुड्मल करना अथवा पचमेरुमुद्रा) द्वारा ध्यान करना चाहिए, क्योकि उस तत्व के ध्यान से व्याप्त चित्तवाला मनुष्य तप और श्रुत से रहित होने पर भी कभी अज्ञानो का सृष्टा—उत्पादक—नही होता, क्योकि उसकी बुद्धि उस तत्व की श्रद्धा से सदा प्रकाशित रहती है ॥ २४६–२४७ ॥ योगी पुरुष समस्त शास्त्रो का अध्ययन करके व उत्कृष्ट तप करके समाधिमरण की वेला मे एकाग्रचित्त होकर इसी मन्त्र का ध्यान करते है ॥ २४८ ॥ यह पञ्चनमस्कार मन्त्र जिस ध्यानी के चित्त को पचपरमेष्ठी के गुण-स्मरणरूपी जलधाराओ से अभिषिक्त करता है, उसकी समस्त क्षुद्र उपद्रवरूपी धूलियाँ शान्त हो जाती है ॥ २४९ ॥ अपवित्र या पवित्र, निरोगी या रोगी जो प्राणी इस मन्त्र का स्मरण करता है, वह समस्त विभूतियो का स्थान हो जाता है ॥ २५० ॥ अलौकिक ध्यान के निरूपण के पश्चात् अब-उसकी चूलिका-व्याख्याके कारण प्रत्यक्ष व परोक्षफल का आधारभूत लौकिक ध्यान सक्षेप रूप से कहा जाता है ॥ २५१ ॥

१ पचनमस्कारमन्त्र । २ ललाटे । ३ अर्हं । ४ 'मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकार कुड्मल क्रियते स एव मन्दर' इति टि० ख०, 'मन्दरमुद्रा पचमेरुमुद्रा' इति प० । ५ 'पचपदप्रथमाक्षरेण योग्य' इति टि० ख०, 'सर्वनामादिवर्णार्ह—सर्ववर्णा, नामवर्णा, नामादिवर्णा —अर्हन्त । अ सि आ । आदि अकार तदन्ते बीज ह्रँ इत्यादिक' इति पञ्जिकाकार । ६ अर्हं । तथा च—व्युत्पत्ति 'अह' इति पदस्य 'अर्हन्' शब्दस्य 'अर्ह' इति गृह्यते । अशरीर अर, अर्य अर, अध्यापक अ, मुनि म् । पश्चाद्रूपे रूप प्रविष्टमिति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तर अर्ह इत्यत्र उच्चारणाथ अकार क्षिप्यते । मोऽनुस्वार व्यञ्जने 'अर्हं' इति तत्त्व निष्पन्नम् ।
तथा चाह शुभचन्द्राचार्य —

अकारादि हकारान्त रेफमध्य सबिन्दुकम् । तदेव परम तत्त्व यो जानाति स तत्ववित् ॥'

ज्ञानार्णव पृ० २९१ से सकलित—सम्पादक

७ साक्षर ध्यानमिद । ८ सहित । ९ चूलिकाव्याख्यया ।

पञ्चमूर्तिमय बीज[1] नासिकाग्रे विचिन्तयन् । निधाय[2]सगमे चेतो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ॥२५२॥
यत्र यत्र [3]हृषीकेऽस्मिन्नि[4]दधीताचल मन । तत्र तत्र लभेताय बाह्यग्राह्याश्रय सुखम् ॥२५३॥
स्थूल सूक्ष्म द्विधा ध्यान तत्त्वबीजसमाश्रयम् । आद्येन लभते काम द्वितीयेन पर पदम् ॥२५४॥
[5]पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडी सचालयेत्तत । मरुच्चतुष्टय पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ॥२५५॥

नासिका के अग्रभाग मे दृष्टि स्थिर करके और मन को भ्रकुटियो के मध्य मे स्थापित करके पच-परमेष्ठी-वाचक और बीजाक्षर वाले 'ओ' मन्त्र का ध्यान करनेवाला मानव दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है ॥ २५२ ॥ जिस जिस इन्द्रिय (स्पर्शन-आदि) मे यह अपना मन निश्चल करके आरोपित करता है, इसे उस उस इन्द्रिय मे वाह्य पदार्थो के आश्रय से होनेवाला सुख प्राप्त होता है ॥ २५३ ॥

ध्यान के दो भेद है। स्थूलध्यान व सूक्ष्मध्यान। स्थूलध्यान तत्व के आश्रय से प्रकट होता है और सूक्ष्मध्यान बीजाक्षर मन्त्र के आश्रय से होता है। स्थूलध्यान से अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है और सूक्ष्म ध्यान से उत्तमपद (माक्ष) प्राप्त होता है ॥ २५४ ॥

लौकिक ध्यान की विधि—ध्यानी लौकिक ध्यान की सिद्धि के लिए नाभि मे स्थित कमल को सचालित करे। पश्चात् नाडी (कमल नाल) को सचालित करे। पुन कमल-नाल के सचालन द्वारा कुम्भक, पूरक व रेचक वायुओ को हृदय के प्रति प्राप्त करावे। पश्चात् नासिका के मध्य मे सूक्ष्म रूप से स्थित हुए पृथिवी, जल, तेज व वायुमण्डल को आत्मा मे प्रचारित—योजित करे।

भावार्थ—पातञ्जल दर्शन मे योग (ध्यान) के आठ अङ्ग कहे है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि।

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पाँच यम है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच न्यिम है। पद्मासन, भद्रासन, वीरासन व स्वस्तिकासन-आदि दश प्रकार के आसन है। क्योकि आसन की स्थिरता होने पर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है।

श्वास (नासापुट द्वारा बाह्य वायु का भीतर प्रवेश, जिसे पूरक कहते है) और प्रश्वास-(नासा-पुट द्वारा कोष्ठय वायु का बाहर निकालना, जिसे रेचक कहा है) काल मे वायु की स्वाभाविक गति का निरोध (रोकना) प्राणायाम है, उसके तीन भेद है—पूरक, कुम्भक व रेचक।

नासापुट द्वारा वाह्य वायु को शरीर के मध्य प्रविष्ट करके शरीर मे पूरने को पूरक कहा है। उस पूरक वायु को स्थिर करके नाभिकमल मे घट की तरह भरकर रोके रखने को कुम्भक कहा है। पश्चात् उस वायु को धीरे-धीरे बाहिर निकालने को रेचक कहते है। प्राणायाम से स्थिर हुआ चित्त, इन्द्रियो के विषयो से सयुक्त नही होता और ऐसा होने से इन्द्रियाँ भी विषयो से सयुक्त नही होती। वे इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप को अनुकरण करनेवाली हो जाती है, इसी को प्रत्याहार कहते है। उक्त आठ योग (ध्यान) के साधनो मे से यम,

---

१ ॐकार। २ भ्रूमध्ये। ३ स्पर्शनादौ। ४ आरोपयेत्। ५ नाभौ स्वभावेन स्थित कमल चालयेत्, पश्चान्नालाकारेण नाडी—नालिका (कमलनाल) सचालयेत्, नाड्या कृत्वा मरुत हृदय प्रति प्रापयेत्, पश्चान्मरुच्चतुष्टय—पृथ्वी अप्तेजोवायुमडलानि नासिकामध्ये सूक्ष्माणि स्थितानि सन्ति तानि चेतसि आत्मविषये प्रचारयतु योजयतु।

दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य त त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तद् ज्ञानमुत्सृजेत् ॥२५६॥
सर्वपापास्रवे क्षीण ध्याने भवति भावना । पापोपहतबुद्धीना ध्यानवार्ताऽपि दुर्लभा ॥२५७॥
दधिभावगत क्षीर न पुन क्षीरता व्रजेत । तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा पुन पापैर्न लिप्यते ॥२५८॥
मन्द मन्द[1] क्षिपेद्वायु मन्द मन्द विनिक्षिपेत् । न क्वचिद्धार्यते वायुर्न च शीघ्र प्रमुच्यते ॥२५९॥
*रूप स्पर्श रस गन्ध शब्द चैव विदूरत । आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिना गति ॥२६०॥
दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नाङ्कुर । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुर ॥२६१॥

नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योग (ध्यान) के वहिरङ्ग साधन है, क्योकि ये चित्त की स्थिरता द्वारा परम्परा से ध्यान के उपकारक है। धारणा, ध्यान व समाधि ये तीन योग के अन्तरङ्ग कारण है, क्योकि ये समाधि के स्वरूप को निष्पादन करते है। 'तत्त्रयमेकत्र सयम (पात० योगसूत्र ३।४) अर्थात्—धारणा, ध्यान व समाधि इन तीनो की सयम यह पारिभाषिकी सज्ञा है।

इसप्रकार यह ध्यानरूपी वृक्ष चित्तरूपी क्षेत्र मे यम व नियम से बीज प्राप्त करता हुआ आसन व प्राणायाम से अङ्कुरित होकर प्रत्याहार से कुसुमित होता है एव धारणा, ध्यान व समाधिरूप अन्तरङ्ग साधनो से फलशाली होता है। प्रकरण मे लौकिक ध्यान का निरूपण करते हुए आचार्य श्री ने प्राणायाम द्वारा नाभिस्थ कमल-आदि को सचालित करने एव पार्थिवी, आग्नेयी-आदि धारणाओ का भी निर्देश किया है, जिनका हम पूर्व मे (श्लोक न० ९२ के भावार्थ मे) विस्तृत विवेचन कर चुके है* ॥ २५५ ॥

जैसे दीपक को हस्तगत करनेवाला कोई मानव उसके द्वारा कोई वाह्य वस्तु को देखकर उस दीपक को त्याग देता है वैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ जानकर पश्चात् उस ज्ञान को त्याग देना चाहिए ॥२५६॥ समस्त पाप कर्मो का आस्रव क्षीण हो जानेपर ही मानव मे ध्यान करने की भावना प्रकट होती है, क्योकि पाप-सचय से नष्ट बुद्धिवाले मानवो के लिए तो ध्यान की चर्चा भी दुर्लभ है। अर्थात्—कषायो के उदय होनेपर ध्यान प्रकट नही होता ॥२५७॥ जो दूध दही हो चुका है, वह पुन दूध नही होता वैसे हो जैसे तत्वज्ञान द्वारा विशुद्ध हुई आत्मावाला योगी भी पुन पापो से लिप्त नही होता ॥२५८॥ प्राणायाम की विधि मे ध्यानी को रेचकवायु (प्राणायाम द्वारा शरीर से बाहर की जानेवाली वायु) को धीरे-धीरे छोडनी चाहिए एव कुम्भकवायु (प्राणायाम से शरीर के मध्य मे प्रविष्ट की जानेवाली घटाकर वायु) और पूरकवायु (प्राणायाम से पूर्ण शरीर मे प्रविष्ट की जानेवाली वायु) को धीरे-धीरे शरीर मे स्थापित करनी चाहिए—अर्थात् खीचनी चाहिए। क्योकि ध्यानी द्वारा प्राणायाम मे न तो हठपूर्वक कुम्भक व पूरक वायु इकट्ठी धारण की जाती है और न हठपूवक रेचक वायु शीघ्र छोडी जाती है ॥ २५९ ॥ योगियो का ज्ञान विचित्र होता है, क्योकि वे लोग दूरवर्ती रूप, स्पर्श, रस, गन्ध व शब्दो को अपनी इन्द्रियो के समीपवर्ती-सरीखे प्रत्यक्ष जान लेते है ॥ २६० ॥ जिसप्रकार बोज के अत्यन्त जल जाने पर उससे अकुर उत्पन्न नही होता उसीप्रकार कर्मरूपी बीज के भी अत्यन्त जल जाने पर उससे ससाररूपी अकुर उत्पन्न नही होता ॥ २६१ ॥

---

१ मुञ्चेत् । * तथा चोक्त—
सस्पर्शन सश्रवण च दूरादास्वादनघ्राणविलोकनानि । दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् वहन्त स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ' ॥१॥
सस्कृत देवशास्त्रगुरुपूजा ।

* प्रस्तुत लेखमाला पातञ्जल योगदर्शन के आधार से गुम्फित की गई है—सम्पादक

[1]नाभौ चेतसि नासाग्रे दृष्टौ भाले च मूर्धनि । विहारयेन्मनोहस सदा कायसरोवरे ॥२६२॥
[2]यायाद्व्योम्नि जले तिष्ठेन्निषीदेदनलार्चिषि । [3]मनोमरुत्प्रयोगेण शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥२६३॥
जीव शिव शिवो जीव [4]कि भेदोऽस्त्यत्र कश्चन । पाशबद्धो भवेज्जीव पाशमुक्त शिव पुन ॥२६४॥
साकार [5]नश्वर सर्वमनाकार न दृश्यते । [6]पक्षद्वयविनिर्मुक्त कथ ध्यायन्ति योगिन ॥२६५॥
अत्यन्त मलिनो देह पुमानत्यन्तनिर्मल । देहादेन पृथक्कृत्वा तस्मान्नित्य विचिन्तयेत ॥२६६॥
तोयमध्ये यथा तैल पृथग्भावेन तिष्ठति । तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुमानास्ते पृथक्तया ॥२६७॥
दध्न सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरत । पृथक्क्रियेत तत्त्वज्ञैश्चिर ससर्गवानपि ॥२६८॥

ध्यानी को नाभि मे, हृदय मे, नासिका के अग्र भाग मे, नेत्रो मे, ललाट मे, व शिर मे और शरीररूपी सरोवर मे अपने मनरूपी हस का सदा विहार कराना चाहिए। अर्थात्—ये सब ध्यान लगाने के स्थान है इनमे से किसी भी एक स्थान पर मन को स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥ २६२ ॥ मन की स्थिरता से और प्राणायाम के अभ्यास से ध्यानी आकाश मे विहार कर सकता है, जल मे स्थिर रहता है और अग्नि की ज्वालाओ के मध्य स्थित हो सकता है, अधिक क्या शस्त्रो द्वारा भी वह पीडित नही किया जा सकता ॥ २६३ ॥ शङ्काकार—ससारी जीव शिव (मुक्त) है और शिव ससारी जीव है, इन दोनो मे क्या कुछ भेद है ? क्योकि जीवत्व की अपेक्षा एक है।

उत्तर—जो कर्म कर्मसमूहरूपी बन्धन से बँधा हुआ है, वह ससारी जीव है और जो उससे छूट चुका है, वह शिव (मुक्त) है। अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा मे शुद्धता और अशुद्धता का ही भेद है, अन्य कुछ भी भेद नही है, शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहते है ॥ २६४ ॥

आत्मध्यान के विषय में प्रश्न व उत्तर

यदि समस्त वस्तु-समूह साकार है ? तो वह सब विनाश-शील है और यदि निराकार है ? तो वह दिखाई नही देती किन्तु आत्मा तो न साकार है और न निराकार है तो योगी पुरुष उसका ध्यान कैसे करते हैं ? अभिप्राय यह है कि ध्यान करने योग्य दोनो वस्तुए (अरहत व सिद्ध) पहले साकार शरीर-प्रमाण या (पर्याय-सहित) होती है बाद मे निराकार (पर्याय-रहित) होती है, क्योकि जिनागम मे 'सायारमणायारा' ऐसा कथन है। अर्थात्—अर्हन्त अवस्था मे साकार (पर्याय-सहित) है और पश्चात्—सिद्ध अवस्था मे निराकार—पर्याय-रहित है ॥ २६५ ॥ शरीर अत्यन्त मलिन है, क्योकि सप्त धातुओ से निर्मित हुआ है और आत्मा अत्यन्त विशुद्ध है, क्योकि सप्तधातु-रहित है, अत. ध्यानी को इसे शरीर से पृथक् करके नित्यरूप से चिन्तवन करना चाहिए ॥ २६६ ॥

शरीर और आत्मा की भिन्नता मे उदाहरणमाला—जैसे तैल, जल के मध्य रहकर भी जल से पृथक् रहता है वैसे ही यह आत्मा भी शरीर मे रहकर उससे पृथक् रहता है ॥ २६७ ॥ यह आत्मा, जो कि चिरकाल से शरोर के साथ ससर्ग (सयोग-सम्बन्ध) रखने वाली भी है, तत्वज्ञानियो द्वारा ध्यान-आदि

---

१ तथा चाह शुभचन्द्राचाय —

'नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे, वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभि कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन् विगतविषय चित्तमालम्बनीयम् ॥१३॥

ज्ञानार्णव पृ० ३०६ ।

२ गच्छेन्मुनि । ३ प्राणायाम । ४ प्रश्ने । ५ विनाशि । ६ तेन कारणेन उभयमपि ध्येय, पूव साकार पर्यायसहित पश्चान्निराकार, 'सायारमणायारा' इतिवचनात् ।

[1]पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले । तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद्वा [2]लपनबिम्बवत् ॥२६९॥
एकस्तम्भं नवद्वारं [4]पञ्च [5]पञ्चजनाश्रितम् । [6]अनेककक्षमेवेदं शरीरं योगिनां गृहम् ॥२७०॥

उपायो से वैसी शरीर से पृथक् की जाती है जैसे घृत, जो कि दही के साथ चिरकालीन ससर्ग रखनेवाला है, मन्थन-आदि उपाय द्वारा दही से पृथक् कर दिया जाता है ॥ २६८ ॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है, किन्तु उमकी गन्ध निराकार है या वृक्ष साकार है और उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है और दर्पण-गत सम्पूर्ण व असम्पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब निराकार है वैसे ही शरीर साकार है और उसमे स्थित हुई आत्मा निराकार है ॥ २६९ ॥

भावार्थ—यहाँपर किसी ने शङ्का (प्रश्न) उपस्थित की—'जो वस्तु साकार (अवयव-विशिष्ट) है, वह विनाशशील होती है, जैसे घट व पट-आदि, और जो वस्तु निराकार (निरवयव—अवयव-रहित) है, वह दृष्टिगोचर नही होती, जैसे आकाश। परन्तु ध्यान करने योग्य आत्मद्रव्य जब साकार (सावयव) नही है, क्योकि वह नित्य (सकलकाल-कलाव्यापी—शाश्वत रहनेवाला) व अनाद्यनन्त है। इसी तरह वह न निराकार है, क्योकि स्वसवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होती है, तब योगी पुरुष उसका ध्यान कैसे कर सकते हैं ?' इस शङ्का का समाधान करते हुए टिप्पणीकार ने कहा है—'ध्यान करने योग्य दोनो पदार्थ (अर्हन्त व सिद्ध) पूर्व मे (जीवन्मुक्त अवस्था—अर्हन्त अवस्था मे) साकार (पर्याय-सहित—शरीरपरिमाण) होते है और पश्चात् सिद्ध अवस्था मे निराकार (पर्याय-रहित) होते है ।

ग्रन्थकार आचार्यश्री ने उक्त शङ्का के समाधान करने के लिए दृष्टान्तमाला उपस्थित की है। इसके पूर्व उन्होने सप्तधातुमय शरीर की मलिनता और आत्मा की अत्यन्त विशुद्धता निर्देश करके आत्मद्रव्य को शरीर से पृथक् और नित्य (शाश्वत रहनेवाला अनाद्यनन्त) चिन्तवन करने के लिए कहा, इसके बाद कहा है, कि ससार अवस्था मे आत्मा, शरीर मे रहकर भी उससे वैसा पृथक् (भिन्न) है जैसे जल मे स्थित हुआ तैल, जल से पृथक् होता है। पुन घृत का दृष्टान्त देकर समझाया कि जिसप्रकार दही के साथ चिरकालीन ससर्ग रखनेवाला घी, मन्थन क्रिया द्वारा दही से पृथक् (जुदा) कर लिया जाता है उसीप्रकार चिरकाल से शरीर के साथ संयोगसबध रखनेवाली आत्मा भी तत्ववेत्ताओ द्वारा ध्यान-आदि उपायो से शरीर से पृथक् की जाती है। इमके बाद शङ्काकार की शङ्का के समाधान करने के लिए आचार्यश्री ने शरीर को साकार और आत्मा को निराकार सिद्ध करने के लिए तीन मनोज्ञ दृष्टान्त दिये है—१ पुष्प और उसकी सुगन्धि, २ वृक्ष और उसकी छाया एव ३ मुख और दर्पण-गत सम्पूर्ण व असम्पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब। अर्थात्—जैसे पुष्प, वृक्ष व मुख, साकार हैं वैसे ही शरीर भी साकार (अवयव-विशिष्ट) है और जैसे पुष्प की सुगन्धि, वृक्ष की छाया और दर्पण-गत मुख का प्रतिबिम्ब निराकार है वैसे ही आत्मा भी निराकार—निरवयव—है।

निष्कर्ष—आत्मा मे शरीर की तरह अवयव नही है और न वह कारणसामग्री से घट-पटादि की तरह उत्पन्न होता है, अत निराकार है और इसीलिए वह नष्ट भी नही होता, और शरीर-परिमाण होने से सर्वथा निराकार न होने के कारण स्वसवेदन प्रत्यक्ष से दृष्टिगोचर भी होता है।

यह शरीर ही योगियो का गृह है, जो कि एक आयुरूपी खम्भे पर ठहरा हुआ है, और जिसमे नौ

१ पुष्प साकार, परिमल निराकार । २ आदर्शे सकलनिष्कलमुखवत् । ३ 'आयुषा धृतम्' टि० ख० । 'एकस्तम्भ आयुर्भृत्' इति पञ्जिकाया । ४ पचेन्द्रियाणि । ५ 'मनुष्य' टि० ख०, 'पचजना मनुष्यास्तैराश्रित' प० । ६ 'नाभिकमलादि' टि० ख०, अनेककक्ष हृन्नाभिब्रह्मरन्ध्रादिभेदेन ।

ध्यानामृतान्नतृप्तस्य क्षान्तियोषिद्रतस्य च । अत्रैव रमते चित्त योगिनो योगबान्धवे ॥२७१॥
रज्जुभि कृष्यमाण स्याद्यथा [1]पारिप्लवो हय । कृष्टस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लीयेत न क्षणम् ॥२७२॥
[2]रक्षा [3]सहरण [4]सृष्टि [5]गोमुद्रामृतवषणम । विधाय चिन्तयेदाप्तमाप्तरूपधर स्वयम् ॥२७३॥
★धूमवन्निर्वर्तेत्पाप [6]गुरुबीजेन तादृशा । गृह्णीयादमृत [7]तेन [8]तद्वर्णेन मुहुर्मुहु ॥२७४॥
[9]सन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तित । भवेच्च [10]समगुल्फाभ्या पद्मवीरसुखासनम ॥२७५॥

द्वार (दोनो नेत्रो के दो छिद्र-आदि) है एव जिसमे पाँच इन्द्रियरूपी मनुष्य निवास करते है तथा जो हृदय, नाभि व ब्रह्म रन्ध्र-आदि रूपी अनेक कोठरियो वाला है ॥ २७० ॥ धमध्यानरूपी अमृतान्न से सन्तुष्ट हुए और क्षमारूपी स्त्री मे अनुराग करनेवाले योगी का चित्त इसी ध्यानरूपी बन्धुजनो मे ही क्रीडा करता है ॥ २७१ ॥ जैसे लगाम से खीचा जानेवाला घोडा चञ्चल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियो से प्रेरित आत्मा भी क्षण भर ध्यान मे स्थिर नही होता, अत ध्यानी को इन्द्रियो को वश मे रखना चाहिए ॥ २७२ ॥ स्वय आप्त (अर्हन्त) के स्वरूप का धारक 'मै अर्हन्त भगवान् की तरह परमौदारिक शरीर मे स्थित हूँ' ऐसी भावना करके धर्मध्यानी को रक्षा, सहार, सृष्टि, गोमुद्रा (आसन विशेष) और अमृत वृष्टि को करके आप्त के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए । अर्थात्—जिसप्रकार सकलीकरणविधान मे पहले शरीर-रक्षा की जाती है और बाद मे अग्नि तत्व द्वारा दहन-लक्षणवाला सहरण किया जाता है एव पश्चात् चन्द्र (वरुणमण्डल) से अमृत-वृष्टि की सृष्टि की जाती है उसीप्रकार योगी को पिण्डस्थ नामक धर्मध्यान मे पूर्व मे शरीर-रक्षा करके और बाद मे अग्नितत्व के चिन्तन द्वारा कर्म-दहन लक्षण वाला सहरण करके पश्चात् चन्द्र (वरुणमण्डल) से अमृतवृष्टि को सृष्टि करके सुरभिमुद्रा नामका आसन लगाकर आप्तस्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए ।

भावार्थ—यहाँपर ग्रन्थकार ने पिण्डस्थ नामक धर्मध्यान मे पार्थिवी व आग्नेयी-आदि धारणाओ के चिन्तवन के विषय मे लिखा है, उन धारणाओ का विस्तृत स्वरूप हम इसी '३९ वे कल्प के श्लोक न० ९२ के भावार्थ मे उल्लेख कर चुके है ॥ २७३ ॥ ध्यानी को उस प्रकार के पचपरमेष्ठी-वाचक बीजाक्षर 'ह्रीं' से धूम की तरह पाप को नष्ट करना चाहिए । अर्थात्—आग्नेयी धारणा मे 'ह्रीं' की रेफ से निकलती हुई धूम-शिखा के चिन्तन करने से धूम की तरह पाप का क्षय होता है तथा उस अमृतवर्ण पकार के ध्यान से बारम्बार अमृत (मोक्षपद) को ग्रहण करना चाहिए, क्योकि श्रुत के अक्षर का ध्यान मोक्ष मे कारण है ॥ २७४ ॥

ध्यान के आसनो का स्वरूप

जिसमे दोनो पैर दोनो घुटनो से नीचे दोनो पिण्डलियो पर रखकर यथाविधि बैठा जाता है, उसे

१ यो दुष्टाश्व स्यात्स प्रेरितस्तिष्ठति, खचितश्चलति, तथेन्द्रियै खचितो न तिष्ठति किन्तु आत्मना ग्राह्य इति भाव, पारिप्लव चचल । २-४ सकलीकरणे यथा पूव शरीररक्षा क्रियते, पश्चादग्नितत्वेन दहनलक्षण सहरण, चन्द्रादमृतमडलादमृतवर्षेण सृष्टि । ५ सुरभिमुद्रा । ★ 'धूमवन्निवर्तेत्' ग० । ६ 'ॐकारेण कारणेन' । टि० ख०, 'गुरुबीजेन ह्रँकारेण' इति प० । ७-८ अमृतवर्णेन पकारेण । ९-१० सक्थ्यौरध पादौ तदा पद्मासन, सक्थ्योरुपरि तदा वीरासन, घूँटी उपरि घूँटी तदा सुखासन ।

तथा चोक्तममितगत्याचार्येण—

जङ्घाया जङ्घया श्लेषो समभागे प्रकीर्तितम् । पद्मासन सुखाधायि सुसाध्य सकलैर्जनै ॥ १ ॥
बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि । समस्तयो कृते ज्ञेय पर्यङ्कासनमासनम् ॥ २ ॥
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति । वीरासन चिर कतु शक्य वीरैर्न कातरै ॥ ३ ॥

तत्र सुखासनस्येद लक्षणम्—

गुल्फोत्तान[1]कराङ्गुष्ठरेखारोमालिनासिका । समदृष्टि समा कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः ॥२७६॥

[2]तालत्रिभागमध्याङ्घ्रि स्थिरशीर्षशिरोऽवर[3] । समनिष्पन्दपार्ष्ण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचन ॥२७७॥

न खात्कृतिर्न [4]कण्डूतिर्नौष्ठभक्तिर्न[5] कम्पिति[6] । न पर्वगणिति कार्या नोक्तिरन्दोलिति स्मिति ॥२७८॥

न कुर्याद्दूरदृक्पात नैव [7]केकरवीक्षणम् । न स्पन्द पक्ष्ममालाना तिष्ठेन्नासाग्रदर्शन ॥२७९॥

[8]विक्षेपाक्षेपसमोहदुरीहरहिते हृदि । लब्धतत्त्वे करस्थोऽयमशेषो ध्यानजो विधि ॥२८०॥

इत्युपासकाध्ययने ध्यानविधिर्नामैकोनचत्वारिंश कल्प ।

यस्या [9]पदद्वयमलकृतियुग्मयोग्य लोकत्रयाम्बुजसर प्रविहारहारि ।

ता वाग्विलासवसति सलिलेन देवी सेवे [10]कविद्युतरुमण्डनकल्पवल्लीम् ॥२८१॥ (इति तोय)

यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि [11]बोधोऽवकेशितरुवन्न [12]फलार्थिसेव्य ।

सोऽत्यल्पवेद्यपि[13] [14]ययानुगतस्त्रिलोक्या सेव्य [15] सुरद्रुरिव ता प्रयजेय गन्धै ॥२८२॥ (इति गन्धम ।)

पद्मासन कहते है। जिसमे दोनो पैर दोनो घुटनो के ऊपर के हिस्से पर रखकर बैठा जाता है, उसे वीरासन कहते है और जिसमे पैरो की गाँठे बराबर मे रहती है, उसे सुखासन कहते है ॥ २७५ ॥

गृहस्थो के ध्यानोपयोगी सुखासन का स्वरूप बताते है—पैरो की गाठो पर बायी हथेली के ऊपर दाहनी हथेली को सीधा रक्खे। अगूठो की रेखा, नाभि से निकल कर ऊपर को जानेवाली रोमावली और नासिका एक सीध मे हो। दृष्टि सम हो। शरीर न एकदम तना हुआ हो और न एकदम झुका हुआ हो। खड्गासन अवस्था मे दोनो चरणो के बीच मे चार अगुल का अन्तर होना चाहिए। मस्तक और ग्रीवा स्थिर हो। एडी, घुटने, भ्रुकुटि, हाथ और नेत्र समानरूप से निश्चल हो। न खाँसे, न खुजाए। न ओष्ठ सचालित करे, न काँपे, न हस्त के पर्वो पर गिने, न बोले, न हिले-डुले, न मुस्कराए, न दृष्टि को दूर तक ले जाये और न कटाक्षो से देखे। नेत्रो की पलक-श्रेणी चचल न करे। एव नासिका के अग्रभाग मे अपनी दृष्टि स्थिर रखे।

जब योगी का मन ऐसा होता है, जो अस्थिरचित्तपना, आक्षेप (तप, स्वाध्याय व ध्यान मे चित्त को कुछ विचलित करना), समोह (अज्ञान—अतत्व मे तत्व का आग्रह या परमत-भ्रान्ति) व दुरीहित दुरभिलाषा) से रहित होता है तब उसके विशुद्ध मन मे यह समस्त ध्यान-विधि हस्त-गत—सुलभ होती है ॥ २७६–२८० ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन मे ध्यानविधि नामक उनतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

जिसके स्यादस्ति व स्यान्नास्ति-आदि अनेकान्त-वाचक शब्द व धातुरूप दोनो पद (चरण) शब्दालकार व अर्थालङ्कार के योग्य है और जो तीनो लोकरूपी कमल सरोवर मे क्रीडा करने से मनोज्ञ है एव जो कविरूपी कल्पवृक्षो को विभूषित करने के लिए कल्पलता-सरीखी है ऐसी स्याद्वादवाणी की लीलावाली सरस्वती देवी को मै जल से पूजता हूँ* ॥ २८१ ॥ मै ऐसी स्याद्वाद वाणी को गन्ध से पूजता हूँ, जिसके विना समस्त पदार्थों को प्रतिपादन करनेवाला भी ज्ञान उसप्रकार फलार्थी (स्वर्ग व मोक्षफल के इच्छुक) पुरुषो द्वारा

---

१ चतु कर पार्श्वनाथवत् । २ वितस्तेस्तृतीयभागश्चतुरङ्गुल । ३ ग्रीवा । ४ खर्जनम् । ५ पृथक्करण । ६ कम्पनम् । ७ कटाक्ष । ८ आ—ईषत् । ९ शब्दालकार अर्थालङ्कारश्च । १० कविरेव कल्पतरुस्तस्यालकरणे । ११ परिज्ञान । १२ 'वघ्यवृक्षवत्' टि० ख०, 'अवकेशी वन्ध्य' इति प० । १३ नर । १४ वाण्या । १५ 'सुरद्रु सुरद्रुम' यश० प० । * रूपकालकार ।

या[1]स्वल्पवस्तुरचनापि [2]मितप्रवृत्ति [3]सत्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मी [4]।
स्ववंल्लरीवनलतेव सुधानुबन्धात्तामद्भुतस्थितिमह सदकै श्रयामि ।।२८३।। (इत्यक्षतम्)
[5]यद्बीजमल्पमपि* सज्जनधीधराया लब्धप्रवृद्धिविविधानवधिप्रबन्धं ।
[6]सस्यैरपूर्वरसवृत्तिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरविधि[7] प्रसवैभजे ताम् ।।२८४।। (इति पुष्पम्)
या[8] स्पष्टताधिकविधि [9]परतन्त्रनीति प्राय [10]कलापरिगतापि मन प्रसूते ।
स्पष्ट स्वतन्त्रमुपशान्तकल नृणा च चित्रा हि वस्तुगतिरन्नविधैर्यजेत ।।२८५।। (इति चरुम्)
[11]एक पद [12]बहुपदापि ददासि तुष्टा [13]वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम् ।
सेवे *तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोष न पश्यति तदस्तु तवैष दीप ।।२८६।। (इति दीपम्)

सेवनीय नही होता जिसप्रकार न फलनेवाला वृक्ष फलार्थी पुरुषो द्वारा सेवनीय नही होता और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्ष की तरह तीनो लोको से पूजनीय होता है[14] ।।२८२।। मै उस आश्चर्यजनक स्थितिवाली ऐसी सरस्वती देवी को अक्षतो से पूजता हूँ, जिसके अभ्यास से अल्प अर्थ वाली व अल्प शब्दवाली रचना भी उस प्रकार अपरिमित अर्थवाली व अपरिमित शब्दवाली होकर सुशोभित होती है जिसप्रकार अमृत के सिञ्चन से वनलता भी कल्पलता होकर सुशोभित होती है[15] ।।२८३।। जिसकी विधि आश्चर्य का विषय है, उस जिनवाणी को मै पुष्पो से पूजता हूँ, जिसका छोटा-सा भी बीज सज्जनो की बुद्धिरूपी भूमि मे वृद्धिगत, नानाप्रकार के व असीम प्रबन्धो (गद्य व पद्यरूप काव्य-रचनाओ) द्वारा अपूर्वरस (शृङ्गार-आदि व पक्षान्तर मे मिष्टरस) वाले फलो के साथ ऊँगता है[16] ।।२८४।। ऐसी वाणी को नानाप्रकार के नैवेद्यो से पूजना चाहिए, जो शब्दरूप होने के कारण नेत्रो से अगम्य है, अतएव अति अस्पष्ट है तथापि वह मानवो की आत्मा को स्पष्ट प्रकट करती है, जो कण्ठ व तालु-आदि आठ स्थानो से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र है तो भी वह आत्मा को स्वाधीन करती है, जो मूर्ति-सहित है तो भी वह मानवो की आत्मा को शरीर-रहित कर देती है, सच है कि तत्वज्ञान बडा विचित्र है। आशय यह है, कि जिनवाणी श्रुत-ज्ञानरूप होने पर भी केवलज्ञान को प्रकट करती है, जिससे वह केवलज्ञान मानवो की आत्मा को स्पष्ट जानता है और स्वाधीन बनाता है व शरीर-रहित कर देता है, अत तत्वज्ञान विचित्र है ।।२८५।।

हे देवी ! तुम बहुत पदोवाली होकर के भी सन्तुष्ट होने पर आराधक जन के लिए एक पद प्रदान करती हो, यहाँ विरोध प्रतीत होता है, उसका परिहार यह है कि द्वादशाङ्ग के पदो की सख्या एक सौ बारह करोड तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है, अत जिनवाणी बहुपदा (बहुत पदोवाली व पक्षान्तर मे अमृत स्वरूप) है और उसके द्वारा एक पद (मोक्ष) प्राप्त होता है। और वर्णात्मक होकर के भी आराधक जन को ब्राह्मणादि वर्णो का धारक नही करती, यहाँ पर भी विरोध मालूम पडता है, उसका परिहार यह है कि जिन-वाणी वर्णात्मक (अक्षरात्मक) है, परन्तु सन्तुष्ट हुई आराधक जन को ब्राह्मणादि वर्णो से मुक्त करती है, तथापि

१ 'अल्पशब्दसहिताऽपि' टि० ख०, 'स्तोकार्थाऽपि' टि० च० घ०। २ 'अल्पार्थाऽपि' टि० ख०, 'स्वल्पशब्दापि' टि० च०। ३ भगवत्या अभ्यासवशात्। ४ अमितावहा। ५ यस्या बीज। * अल्पार्थाऽपि। ६ फलै कृत्वा। ७ आश्चर्येण गोचरो गम्यश्चासौ विधिर्यस्या सा ताम्। ८ शब्दरूपत्वान्नेत्राणामगम्या तथापि मन आत्मान स्पष्ट स्वाधीन प्रसूते प्रकटीकरोति। ९ अष्टस्थानापेक्षया तथापि मन स्वाधीन सूते। १० मूर्तिसहिताऽपि मन' आत्मान उपशान्तकल शरीररहित सूते। ११ अद्वितीय मोक्ष। १२ कोटिशतमित्यादि पक्षे अमृतस्वरूपा। १३ अक्षरस्वरूपा पक्षे विप्रादि। * यद्यप्येकपदत्वात् कृपणापि। १४ उपमालकार। १५ उपमालकार। १६ श्लिष्टोपमालकार।

[1]चक्षु पर [2]करणकन्दरदूरितेऽर्थे मोहान्धकारविधुतौ[3] परम प्रकाश ।
तद्धामगामिपथवीक्षणरत्नदीपस्त्व सेव्यसे तदिह देवि जनेन धूपै ॥२८७॥ (इति धूपम्)
चिन्तामणित्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्या पुसा मनोरथपथप्रथितप्रभावा ।
भावा भवन्ति नियत तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्तदिदमस्तु मुदे फल ते ॥२८८॥ (इति फलम्)
[4]कलधौतकमलमौक्तिकदुकूलमणिजालचामरप्रायै । आराधयामि देवी सरस्वती सकलमङ्गलैर्भावै ॥२८९॥
स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणै समुपासनीया ।
स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥२९०॥
[5]मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामर्च्योऽर्चनात्सस्तवनात्स्तवार्ह ।
[6]जपी जपाद्ध्यानविधेरवाध्य[7] श्रुताश्रितश्री श्रुतसेवनाच्च ॥२९१॥
दृष्टस्त्व जिन सेवितोऽसि नितरा [8]भावैरनन्याश्रयै । स्निग्धस्त्व न तथापि यत्समविधि[9]र्भक्ते विरक्तेऽपि च ॥
मच्चेत पुनरेतदीश भवति प्रेमप्रकृष्ट तत । कि भाषे परमत्र यामि भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम ॥२९२॥

मै आपकी पूजा करता हूँ, क्योकि प्रयोजनार्थी प्रयोजन सिद्ध करनेवाले का दोष नही देखता, अत मै तुम्हे दीप अर्पित करता हूँ[10] ॥२८६॥ हे देवि ! तुम इन्द्रियरूपी गुफाओ से दूरवर्ती पदार्थों को देखने के लिए उत्कृष्ट नेत्र हो, अर्थात्—आपके प्रसाद से इन्द्रियो के अगोचर पदार्थ जाने जा सकते है, और प्राणियो के अज्ञानरूपी अन्धकार के स्फेटन—विध्वस करने के लिए तुम उत्कृष्ट प्रकाश हो तथा मोक्षस्थान मे जानेवाले मार्ग के दर्शन मे रत्नमयी दीपक हो, इसलिए लोग धूप से तुम्हारी पूजा करते हैं[11] ॥२८७॥ हे देवि ! आपकी विधिपूर्वक सेवा करने से चिन्तामणि, कामधेनु व कल्पवृक्ष-आदि पदार्थ, जिनका प्रभाव प्राणियो की इच्छा-पूर्ति के विषय मे प्रसिद्ध है, नियम से प्राप्त होते है, इसलिए यह फल तेरी प्रसन्नता के लिए हो ॥२८८॥ मै सुवर्ण-कमल, मोती-समूह, रेशमीवस्त्र, मणि-समूह और चमरो की बहुलतावाली समस्त माङ्गलिक वस्तुओ से सरस्वती देवी की आराधना (पूजा) करता हूँ ॥२८९॥

ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथी का प्रवेश करानेवाली हो, जो कि स्याद्वादरूपी पर्वत से उत्पन्न हुई है, जो मुनियो द्वारा सन्माननोय है, जो अन्य की शरण मे न जानेवाले देवो द्वारा सम्यक्रूप से उपासनीय है, एव जिसका प्रवाह प्राणियो के मन मे स्थित हुए समस्त कर्मरूपी कलङ्क को नष्टकरनेवाला है[12] ॥२९०॥ जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करने से भक्त पुरुष मस्तक पर अभिषेक किया हुआ (राजा) होता है, पूजा करने से पूजनीय होता है, स्तुति करने से स्तुति के योग्य होता है एव जप करने से जप-योग्य होता है एव ध्यान-विधि से बाधाओ से रहित होता है तथा श्रुत की आराधना से बहुश्रुत विद्वत्तारूपी लक्ष्मीवाला होता है॥२९१॥ हे जिनेन्द्र ! मैने तुम्हारा दर्शन किया और जिनका अन्य आश्रय नही है, ऐसे भावो (आठ द्रव्यो) से तुम्हारी विशेष पूजा की। तो भी राग, द्वेष से रहित होने के कारण तुम मुझ से स्नेह-रहित हो, क्योकि तुम भक्त व विरक्त पुरुष मे समता युक्त (मध्यस्थ—राग-द्वेष रहित) हो, अर्थात्—तुम भक्त से राग और विरक्त से द्वेष नही करते। फिर भी मेरा यह चित्त आपके प्रति प्रेम से भरा है। अधिक क्या कहूँ अब मै जाता हूँ। मुझे आपका पुन दर्शन प्राप्त हो ॥२९२॥

१-२ करणान्येव कन्दराणि गुफास्तेषा कन्दराणा दूरे पदार्थे त्व सरस्वती चक्षु । ३ स्फेटने। ४ सुवण। ५ राजा भवति। ६ जप्य। ७ बाधारहितो भवति। ८ पदार्थे अष्टप्रकारपूजनै। ९ समतायुक्त मध्यस्थ। १० विरोधाभासालकार। ११ रूपकालकार। १२ रूपकालकार।

इत्युपासकाध्ययने श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तम कल्प ।

पर्वाणि *प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च । पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्मात्र बृहयेत् ॥२९३॥
रसत्यागैकभक्तैकस्थानोपवसनक्रिया । यथाशक्तिविधेया स्यु [1]पवसन्धौ च पर्वणि ॥२९४॥
तन्नैरन्तर्यसान्तर्यतिथितीर्थर्क्षपूर्वक [2] । उपवासविधिश्चित्र [3]श्चिन्त्य श्रुतसमाश्रय ॥२९५॥
[4]स्नानगन्धाङ्गसस्कारभूषायोषाऽविषक्तधी । निरस्तसर्वसावद्यक्रिय सयमतत्पर ॥२९६॥
देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा । उपोषितो भवेन्नित्य धर्मध्यानपरायण ॥२९७॥
पुस कृतोपवासस्य बह्वारम्भरतात्मन । कायक्लेश प्रजायेत गजस्नानसमक्रिय ॥२९८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन मे श्रुताराधनविधि नामक चालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

प्रोषधोपवास का स्वरूप

प्रत्येक मास मे वर्तमान दो अष्टमी व दो चतुर्दशी इन चार पर्वो को 'प्रोषध' कहते हैं, इन पर्वोंमे व्रती श्रावक को विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतो का पालन करके धर्म-कर्म की वृद्धि करनी चाहिए ॥२९३॥ पर्वसन्धि (अष्टमी) व पर्व के दिनो मे रसो का त्याग, एकाशन, एकान्त स्थान मे निवास व उपवास-आदि क्रियाएँ यथाशक्ति करनी चाहिए ॥२९४॥ लगातार या बीच मे अन्तराल देकर के तिथि, तीर्थङ्करो के कल्याणक तथा नक्षत्र को आधार बनाकर आगमानुसार अनेक प्रकार की उपवास-विधि विचार लेनी चाहिए। अर्थात्—कोई तो रसत्याग-आदि सदा करते है, कोई अमुक तिथि मे करते है, कोई तीर्थङ्करो के कल्याणको के दिन करते है, इस प्रकार अनेक प्रकार की उपवासविधि आगम मे निर्दिष्ट है, उसे विचार लेनी चाहिए ॥२९५॥

उपवास करनेवाले गृहस्थ को स्नान, इत्र-फुलेल, शरीर-सस्कार, आभूषण और स्त्री मे अनासक्त बुद्धि रखकर अर्थात् इन्हे त्यागकर, और समस्त पाप क्रियाओ का त्याग करने वाला होकर चरित्र-पालन मे तत्पर होना चाहिए और जिनमन्दिर मे या पर्वत पर, गृह मे या वन मे जाकर सदा धर्मध्यान मे तत्पर होना चाहिए ॥२९६-२९७॥

जो मानव उपवास करके भी अनेक प्रकार के आरम्भो मे अनुरक्त चित्तवाला है, उसका उपवास केवल काय-क्लेश ही है और उसकी क्रिया हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है। अर्थात्—जिस प्रकार हाथी स्नान करके पुन अपने शरीर पर धूलि डाल लेता है, अत उसका स्नान व्यर्थ है उसी प्रकार उपवास करके गृहस्थ सबधी प्रपञ्चो मे फँसे हुए का उपवास निरर्थक है, क्योकि उससे आत्मा का हित नही होता ॥२९८॥

---

* तथा चोक्त समन्तभद्राचार्यै —'चतुराहारविसर्जनमुपवास प्रोषध सकृद् भुक्ति । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०९॥ रत्न श्रा० । तथा च पूज्यपाद —'प्रोषधशब्द पवपर्यायवाची प्रोषधे उपवास प्रोषधोपवास'।— सर्वार्थसिद्धि । १ अष्टम्या । २ नक्षत्र । ३ नानाप्रकारा । ४ तथा चाह समन्तभद्राचाय —
'पञ्चाना पापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणा । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१०७॥
धर्मामृत सतृष्ण श्रवणाभ्या पिवतु पाययेद्वाऽन्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालु ॥१०८॥'—रत्नकरण्ड श्रा० ।

*अनवेक्षाप्रतिलेखनदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्कारा । [1]आवश्यकविरतियुताश्च[2]तुर्थमेते विनिघ्नन्ति ॥२९९॥
विशुध्येन्नान्तरात्माय कायक्लेशविधि विना । किमग्नेरन्यदस्तीह काञ्चनाश्मविशुद्धये ॥३००॥
हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दु खद्रुमदवानल । पवित्र यस्य चारित्रैश्चित्त सुकृतिजन्मन[3] ॥३०१॥

इत्युपासकाध्ययने प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तम कल्प ।

य [4]सकृत्सेव्यते भाव स भोगो भोजनादिक । भूषादिपरिभोग स्यात्पौन पुन्येन सेवनात्* ॥३०२॥
परिमाण तयो कुर्याच्चित्तव्याप्तिनिवृत्तये । प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियम भजेत् ॥३०३॥
[5]यमश्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ । यावज्जीव यमो ज्ञेय सावधिर्नियम स्मृत ॥३०४॥

विना देखी व विना शोधी भूमि पर मल-मूत्रादि का क्षेपण करना, मृदु उपकरण (मयूर पिच्छ) से विना शुद्ध किये हुए पूजा के उपकरण व शास्त्र-आदि का ग्रहण करना, पाप कार्य का आरम्भ करना, अशुभ मन से विचार करना और सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण-आदि छह आवश्यक क्रियाओ को न करना ये कार्य प्रोषधोपवासव्रत के घातक है, अत प्रोषधोपवास के दिन इन अतीचारो का त्याग करना चाहिए ॥२९९॥ उपवास-आदि द्वारा कायक्लेश किये विना आत्म-शुद्धि नही होती । क्या इस लोक मे सुवर्ण-पाषाण की शुद्धि के लिए अग्नि को छोडकर दूसरा कोई साधन है ? अर्थात्—जैसे अग्नि मे तपाने से ही सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही शरीर को कष्ट देने से आत्मा विशुद्ध होती है ॥३००॥ पुण्य से जन्मवाले जिसका चित्त चारित्र से पवित्र है, उसे ऐसा चिन्तामणि रत्न हस्तगत (प्राप्त) होता है, जो कि दु खरूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए दावानल अग्नि-सरीखा है ॥३०१॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन मे प्रोषधोपवासविधि नामक इकतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

भोगपरिभोग परिमाणव्रत

जो पदार्थ एकवार ही भोगा जाता है उसे 'भोग' कहते है जैसे भोजन-वगैरह और जो वार-वार भोगा जाता है, उसे 'परिभोग या उपभोग' कहते है । जैसे आभूषण वगैरह ॥ ३०२ ॥ धार्मिक पुरुष को अपने चित्त की अधिकाधिक सग्रह करने की तृष्णा की निवृत्ति के लिए भोगोपभोग वस्तुओ का परिमाण कर लेना चाहिए और जो कुछ प्राप्त है और जो सेवन-योग्य है, उन समस्त वस्तुओ का भी अपनी इच्छानुसार नियम कर लेना चाहिए, कि आज मै इतनी भोगोपयोग वस्तुएँ भोगूँगा ॥ ३०३ ॥ त्याज्य पदार्थो के त्याग के विषय

* तथा चाह उमास्वामी-आचार्य —'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥'—मोक्षशास्त्र ७–३४ ।
तथा चाह समन्तभद्राचार्य —'ग्रहणविसर्गास्तिरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे । यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चक तदिदम् ॥११०॥' रत्न० श्रा० । १ षडावश्यकरहिता । २ उपवास । ३ सुकृत्या पुण्येन जन्म यस्य । ४ एकवार ।
* तथा चाह समन्तभद्राचार्य —'भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपञ्चेन्द्रियो विषय ॥ ८३ ॥' रत्न० श्रा० ।
तथा चाह पूज्यपाद —'उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादि , परिभोग आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानबाहनादि तयो परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् ।'—सर्वार्थसि० ७–२१ ।
५ तथा चाह समन्तभद्राचार्य —'नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसहारे ।
नियम परिमितकालो यावज्जीव यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥'—रत्नकरण्ड श्रा० ।

[1]पलाण्डुकेतकीनिम्बसुमन सूरणादिकम । त्यजेदाजन्म तद्रूपबहुप्राणिसमाश्रयम् ॥३०५॥
[2]दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसबन्धमिश्रयो । अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्सख्याक्षतिकारणम् ॥३०६॥
इत्थ नियतवृत्ति स्यादनिच्छोऽप्याश्रय श्रिया । नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीसविधागम ॥३०७॥
इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तम कल्प ।
*यथाविधि यथादेश यथाद्रव्य यथागमम् । यथापात्र यथाकाल दान देय गृहाश्रमै ॥३०८॥
आत्मन श्रेयसेऽन्येषा[3] रत्नत्रयसमृद्धये । [4]स्वपरानुग्रहायेत्थ यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥३०९॥

मे यम और नियम दो विधि कही गई है। अर्थात्—भोगोपभोग वस्तुओ का परिमाण दो प्रकार से किया जाता है। एक यमरूप से और दूसरे नियमरूप से। जीवनपर्यन्त त्याग करने को यम समझना चाहिए और कुछ समय के लिए त्याग करने को नियम समझना चाहिए। अर्थात्—परिमितकाल पर्यन्त त्याग को नियम जानना चाहिए॥ ३०४॥

व्रती को प्याज-आदि जमीकन्द, केतकी के पुष्प व नीम के पुष्प तथा सूरण-वगैरह जमीकन्द जन्म पर्यन्त के लिए छोड देने चाहिए, क्योकि ये पदार्थ उसी प्रकार के बहुत से जीवो के निवासवाले है॥ ३०५॥ ऐसे भोजन का भक्षण भोगपरिभोगपरिमाणव्रत की क्षति का कारण है, जो कच्चा या जला हुआ है, जो व्रती-द्वारा त्याग किया हुआ है, जो जन्तुओ से छू गया है, या जिसमे जन्तु गिरकर मर गए हो और जो दृष्टि-गोचर नही हुआ॥ ३०६॥ उक्त प्रकार से भोगोपभोग वस्तुओ का परिमाण करनेवाला श्रावक मनुष्य इच्छुक न होता हुआ भी मनुष्यो की लक्ष्मी (चक्रवर्ती-विभूति) व देवो की लक्ष्मी (इन्द्र-विभूति) का आश्रय होकर मुक्तिश्री को निकट मे प्राप्त करनेवाला हो जाता है॥ ३०७॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन मे भोगोपभोगपरिमाण नामक वयालीसवॉ कल्प समाप्त हुआ।

दान का स्वरूप

गृहस्थाश्रमी को विधि (पडगाहना-आदि), देश, द्रव्य, आगम, पात्र एव काल के अनुसार दान देना चाहिए॥ ३०८॥ जो अपने कल्याण के लिए है और मुनि-आदि सत्पात्रो की रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) की वृद्धि के लिए होता है, इसप्रकार जो दाता और पात्र के उपकार के लिये

१ तथा चाह पूज्यपाद —'मधु मास मद्यञ्च सदा परिहर्तव्य त्रसघातान्निवृत्तचेतसा। केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्ग-वेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्। यानवाहनाभरणा-दिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तन कर्त्तव्य कालनियमेन यावज्जीव वा यथाशक्ति।'—सर्वार्थ० ७-२१।

२ तथा चाह सूत्रकार —'सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदु पक्वाहारा'।—मोक्षशास्त्र ७-३५।

*. तथा चोक्त—'यथाद्रव्य यथादेश यथापात्र यथापथम्। यथाविधानसम्पत्या दाने देय तदर्थिनाम् ॥१३॥ प्रबोधसार पृ १८७।

३ महामुनीना। ४ तथा चाह सूत्रकार —'अनुग्रहाथ स्वस्यातिसर्गो दान।' —मोक्षशास्त्र ७-३८। 'स्वपरोपकारोऽनुग्रह। 'स्वोपकार पुण्यसचय, परोपकार सम्यग्ज्ञानादिवृद्धि।'—सर्वार्थसिद्धि भाष्यकार पूज्यपाद पृ० २१९। तथा चोक्त श्रीमद् विद्यानन्दिस्वामिना—

'अनुग्रहाथमित्येतद्विशेषणमुदीरित। तेन स्वमासदानादि निषिद्ध परमापकृत् ॥२॥'

'तेन च विशेषणेन स्वमासादिदान स्वापायकारण परस्यावद्यनिवधन च प्रतिक्षिप्तमालक्ष्यते, तस्य स्वपरयो परमाप-कारहेतुत्वात्।'—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४७२।

[1]दातृपात्रविधिद्रव्यविशेषात्तद्विशिष्यते । यथा [2]घनाघनोद्गीर्णं तोय भूमिसमाश्रयम् ।।३१०।।
दातानुरागसपन्न पात्र रत्नत्रयोचितम् । सत्कार स्याद्विधिर्द्रव्य[3] तप स्वाध्यायसाधकम् ।।३११।।
परलोकधिया कश्चित्कश्चिदैहिकचेतसा । औचित्यमनसा कश्चित्सता वित्तव्ययस्त्रिधा ।।३१२।।
परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषा न धी समा । धर्म कार्यं यशश्चेति तेषामेतत्त्रय कुत ।।३१३।।
[4]अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम । दान मनीषिभि प्रोक्त भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ।।३१४।।

दिया जाता है, उसे ही दान कहा जाता है ।। ३०९ ।। जैसे मेघो से बरसा हुआ जल भूमि का आश्रय प्राप्त करके विशिष्ट फलदायक होता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्य की विशेषता से दान मे भी विशेषता होती है, अर्थात्--ऐसा दान विशेष फलदायक होता है ।। ३१० ।।

दाता–आदि का स्वरूप

जो पात्र के गुणो (सम्यग्दर्शन-आदि) मे अनुरक्त होकर देवे, वह दाता है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से विभूषित है वह पात्र है। नवधा भक्ति को विधि कहते है और मुनियो के तप व स्वाध्याय मे सहायक अन्न व शास्त्र-आदि को द्रव्य कहते है ।। ३११ ।। सज्जन दाताओ का धन-वितरण तीन प्रकार से होता है। कोई सज्जन परलोक की बुद्धि के उद्देश्य से कि परलोक मे हमे स्वर्गश्री की प्राप्ति होगी, धन-वितरण करते है। कोई सज्जन ऐहिक सुख की वाञ्छा से कि इस लोक मे मेरी कीर्ति हो और जनता से सन्मान प्राप्त होगा, धन वितरण करते है एव कोई सज्जन औचित्य (दान व प्रिय वचनो द्वारा दूसरो के लिए सन्तोष उत्पादन करना) से युक्त अभिप्राय से दान करते है ।। ३१२ ।। जिनकी बुद्धि न परलोक सुधारने की है और न ऐहिक कार्य की ओर है और न औचित्य की ओर है अर्थात्--जो उक्त उद्देश्यो से दान द्वारा पात्रो को सन्मानित नही करते, उनके लिए धर्म, लौकिक कार्य व कीर्ति ये तीनो कैसे प्राप्त हो सकते है ?

भावार्थ--परलोक की बुद्धि के उद्देश्य से और औचित्य मनोवृत्ति से दान करने से क्रमश धर्म व कीर्ति प्राप्त होती है। जैसे मुनियो को दान देना-आदि, बाढ-पीडितो या दुर्भिक्ष-पीडितो की सहायता करना, शिक्षालयो व औषधालयो के सचालनार्थ दान देना-आदि। इस लोक की बुद्धि से किया हुआ धन-वितरण लौकिक कार्यो मे उपयोगी है। जो लोग उक्त तीनो आधारो मे धन खर्च नही करते, वे लौकिक कार्यो मे भी खाली हाथ रहते है और पारलौकिक सुख से भी वञ्चित रहते है और न उन्हे यश भी मिलना है ।। ३१३ ।।

दान के भेद

विद्वानो ने चार प्रकार का दान कहा है—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारो दान दाता की शक्ति व श्रद्धा का आश्रय करते है। अर्थात्--यदि दाता के पास धन नही है, तो वह देने का इच्छुक होकर के भी नही दे सकता और उसके पास धन होने पर भी श्रद्धा के विना उसमे दान करने

१ तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्य —'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष'—मोक्ष० ७–३९। २ घनाघनो मेघ। ३ ओदनादि।

४ तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्य —'आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्य ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ।।११७।।'—रत्न० श्रा०।
तथा चाह पूज्यपाद —'त्यागो दान। तत्त्रिविध आहारदानमभयदान ज्ञानदान चेति'।—सर्वार्थ० ६–२४।

[1]सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान्भवेत् । आरोग्यमौषधाज्ज्ञेय श्रुतात्स्याच्छ्रुतकेवली ॥३१५॥
*अभय सवसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधी सदा । तद्धीने हि वृथा सव परलोकोचितो विधि ॥३१६॥
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रद । सर्वेषामेव दानाना यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥३१७॥
तेनाधीत श्रुत सर्व तेन तप्त तप परम । तेन कृत्स्न कृत दान य स्यादभयदानवान् ॥३१८॥
[2]नवोपचारसपन्न समेत सप्तभिर्गुणै । अन्नैश्चतुर्विधै[3] शुद्धै[4] साधूना कल्पयेत्स्थितिम ॥३१९॥

की इच्छा नही होती, अत जो धनाढच व श्रद्धालु होते है, वे ही उक्त चारो प्रकार का दान पात्रो के लिए दे सकते है ॥ ३१४ ॥

चारों दानों का फल

आचार्यो ने कहा है कि अभयदान (प्राणि-रक्षा) से दाता को सुन्दर रूप मिलता है, आहार-दान से भोगसामग्री प्राप्त करनेवाला होता है एव औषधिदान से निरोगता प्राप्त होती है तथा शास्त्रदान से श्रुत केवली होता है ॥ ३१५ ॥

अभयदान की श्रेष्ठता

विवेकी मानव को सबसे प्रथम समस्त प्राणियो के लिए सदा अभयदान देना चाहिए। क्योकि अभयदान न देनेवाले (निर्दयी) मानव की निस्सन्देह सभी पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ है ॥ ३१६ ॥ क्योकि अभयदान (प्राणि-रक्षा) समस्त दानो मे श्रेष्ठ है, अत यदि अभयदान देनेवाला मानव दूसरे दान करनेवाला हो अथवा न भी हो तो भी उसका कल्याण होता है ॥ ३१७ ॥ जो मानव अभयदान देता है, उसने समस्त शास्त्र पढ लिए और उत्कृष्ट तप कर लिया एव समस्त दान कर लिए। अर्थात्—वह शास्त्रवेत्ता, परमतपस्वी व समस्त दानो का कर्ता है ॥ ३१८ ॥

[अब आहारदान को कहते है]

सात गुणो (श्रद्धा व तुष्टि-आदि) से युक्त दाता को नवधा भक्ति (प्रतिग्रह व उच्चासन आदि) पूर्वक अन्न, पान, स्वाद्य व लेह्य के भेद से चार प्रकार के शुद्ध आहार द्वारा मुनियो की भोजन विधि करनी चाहिए, अर्थात्—उनके लिए चार प्रकार का शुद्ध आहार देना चाहिए ॥ ३१९ ॥

---

१ तथा चोक्त—'सौरूप्यमभयात् प्राहुराहारात् सर्वसुस्थता । श्रुतात् श्रुतमतामीशो निर्व्याधित्व तथौषधात् ॥ १८ ॥'
—प्रबोधसार पृ० १९० ।

* तथा चोक्त—'धर्मार्थकाममोक्षाणा जीवितव्ये यत स्थिति । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥ ८४ ॥
—अमि० श्रा० ९ परि० ।

२ तथा चाह स्वामिसमन्तभद्राचाय —
नवपुण्यै प्रतिपत्ति सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥—रत्न० ।

३ अन्नपानखाद्यलेह्यभेदात् । ४ अविद्धै चमजलादिरहितै ।

[1]प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमन प्रसादा ।
[2]विधाविशुद्धिश्च नवोपचारा कार्या मुनीना गृहसश्रितेन ॥३२०॥
श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्ति । यत्रैते सप्तगुणास्त दातार प्रशसन्ति ॥३२१॥

तत्र विज्ञानस्येद लक्षणम्—

विवर्ण विरस विद्धमसात्म्य [3]प्रमृत च यत् । मुनिभ्योऽन्न न तद्देय यच्च भुक्त [4]गदावहम् ॥३२२॥
उच्छिष्ट नीचलोकार्हमन्योद्दिष्ट[5] विगर्हितम् । न देय दुर्जनस्पृष्ट देवयक्षादिकल्पितम् ॥३२३॥
ग्रामान्तरात्समानीत मन्त्रानीतमुपायनम्[6] । न देयमापणक्रीत विरुद्ध वाऽयथर्तुकम् ॥३२४॥

गृहस्थ को मुनियो की नवधा भक्ति करनी चाहिए। १ प्रतिग्रह (पडगाहना, अर्थात्—अपने गृहके द्वार पर मुनि को आते देखकर उन्हे आदरपूर्वक स्वीकार करते हुए 'स्वामिन् ! नमोऽस्तु ठहरिए, ठहरिए, ठहरिए' इस प्रकार तीन बार कहना) २ उच्चासन (गृह के मध्य ले जाकर ऊँचे आसन पर बैठाना) ३ पादप्रक्षालन (उनके चरणकमलो को प्रक्षालित करना) ४ पादपूजा (पश्चात्—उनके चरणकमलो की पूजा करना), ५ प्रणाम (पञ्चाङ्ग नमस्कार करना), ६ ७ ८ मनशुद्धि, वचनशुद्धि व कायशुद्धि कहना और ९ आहारशुद्धि (अन्न-जलशुद्धि) । ये नवधा भक्ति है ॥ ३२० ॥

जिस दाता मे निम्न प्रकार ये सात गुण होते है, उसकी आचार्य प्रशसा करते है—१ श्रद्धा (पात्रदान के फल मे विश्वास करना), २ तुष्टि (सन्तोष—दिये हुए आहार दान से हर्षित होना), ३ भक्ति (पात्र के गुणो मे अनुराग होना), ४ विज्ञान (आचार शास्त्र का ज्ञान), ५ अलुब्धता (दान देकर सासारिक सुख की अपेक्षा न करना), ६ क्षमा (क्रोध के कारणो की उत्पत्ति होनेपर भी क्रोध न करना) और ७ शक्ति (स्वल्प धन होनेपर भी दान देने मे रुचि होना) ॥ ३२१ ॥

[अब इन गुणो मे से विज्ञान गुण का स्वरूप शास्त्रकार स्वय बताते है]

विवेकी श्रावक को मुनियोके लिए ऐसा सदोष भोजन नही देना चाहिए, जो विरूप है, जो चलितरस है, जो घुना हुआ (क्रीडो के व्याप्त) है, जो साधुकी प्रकृति के विरुद्ध है, और जो विशेष जीर्ण या जला हुआ है तथा जिसके खाने से रोग उत्पन्न होते है। जो जूँठा है, जो नीच पुरुषो के खाने-योग्य है, जो दूसरे (किसानो-आदि) के उद्देश्य से बनाया गया है, जिससे अशोधित है, जो निन्द्य है, जो दुर्जनो से छू गया है, और जो देव व यक्ष-आदि के सत्कार के लिए बनाया गया है ॥ ३२२-३२३ ॥ इसी तरह जो दूसरे गाँव से लाया हुआ है, जो सिद्ध मन्त्रो से लाया हुआ है, जो भेट मे आया है, और जो बाजार से खरीदा गया है एव

१ तथा चाह भगवज्जिनसेनाचार्य —
'प्रतिग्रहणमत्युच्चै स्थानेऽस्य विनिवेशनम् । पादप्रधावनञ्चार्या नति शुद्धिश्च सा त्रयी ॥ ८६ ॥ —महापुराण' ।
तथा चोक्त—'प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादप्रक्षालनमर्चनम् । प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव' ॥ १ ॥
—चारित्रसार पृ० १४ ।
अभ्युत्थान । पूर्वं पादप्रक्षालन पश्चात् पूजा । २. विधा आहार ।
३ 'अतिजीण' टि० ख०, 'प्रमृत यदुप्त धान्य न प्ररोहति, प्ररूढ वा न फलति' इति यश० पञ्जिकाकार । ४ रोगकारि । ५ कर्षकरादिनिमित्तनिष्पन्नमशोधितत्वात् । ६ प्राभृत—लाहनक ।

दधिसर्पि पयोभक्ष्यप्राय [1]पर्युषित मतम[2] । गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम ॥३२५॥
बालग्लान[3]तप क्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान । मुनीनुपचरेन्नित्य यथा ते स्युस्तप क्षमा ॥३२६॥
[4]शाठ्य गर्वमवज्ञान[5] [6]पारिप्लवमसयमम । वाक्पारुष्य विशेषेण वर्जयेद्भोजनक्षणे ॥३२७॥
अभक्ताना [7]कदर्याणामव्रताना च सद्मसु । न भुञ्जीत तथा साधुर्दैन्यकारुण्यकारिणाम्★ ॥३२८॥
नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिता[8] । कि नु ते दैन्यकारुण्यसकल्पोचितवृत्तय[9] ॥३२९॥

जो आचार शास्त्र से व प्रकृति से विरुद्ध है तथा जो ऋतु के प्रतिकूल है ॥ ३२४ ॥ दही, घी व दूध से सिद्ध हुआ आहार वासा होनेपर भी पात्रो के देने के लिए अभीष्ट है किन्तु जिनका गन्ध, रूप व स्वाद बदल गया है, वह सब आहार निन्दित है, अर्थात्—मुनि को देने-योग्य नही है ॥ ३२५ ॥

साधु-सेवा—विवेकी श्रावक को ऐसे मुनियो की सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करने मे समर्थ हो सके, जो अल्प उम्रवाले है, जो रोगो से पीडित है, जो तप से दुबल है, जो वयोवृद्ध (बूढे) है और जो व्याधियो से पीडित है ॥ ३२६ ॥

भोजन की वेला मे त्याज्य दुर्गुण—भोजन की वेला मे कपट, अभिमान, निरादर, चित्त की चञ्चलता, असयम और कर्कश वचनो को विशेषरूप से छोडना चाहिए। क्योकि इनस मन पर बुरा प्रभाव पडता है ॥ ३२७ ॥

किनके गृहों में साधु-वर्ग आहार-ग्रहण न करे ?

जो साधुओ के भक्त नही है, अर्थात्—जो नवधा भक्तिपूर्वक दान नही देते। जो अत्यन्त कृपण है, जो व्रत-रहित (अहिसा-आदि व्रतो को न पालनेवाले) है, जो अपनी दीनता प्रकट करते है और करुणा उत्पन्न करनेवाले हे। अर्थात्—जो करुणा-बुद्धिसे दान देते है, अर्थात्—जो यह कहते है कि 'यह मुनि दया का पात्र है इसे आहार देना चाहिए'। उनके गृहो पर साधु को आहार नही लेना चाहिए ॥ ३२८ ॥

[अब साधु दीन व दयापात्र नही होते, इसका समर्थन करते हे—]

वे साधु महासत्वशाली-धीर-वीर-होते है और चित्त से भी बडे दयालु होते है, अर्थात्—वे दु खी व अश्रुपात करनेवाले को देखकर आहार मे अन्तराय करते है, इसलिए वे अपनी दीनता प्रकट करनेवालो के गृहो पर और मुनियो को दयापात्र कहनेवालो के गृहो पर आहार नही करते, क्योकि जब वे दीनता व करुणा के सकल्प मात्र से उचित वृत्तिवाले, अर्थात्—दीन व दयापात्र को देखकर आहार-ग्रहण मे अन्तराय करनेवाले होते है तब निस्सन्देह क्या वे दीन व दयापात्र कहनेवालो के गृहो पर आहार करते है? अपितु नही करते ॥ ३२९ ॥

१ वासी। २ अभीष्ट दातु। ३ रुजादिक्लिष्टशरीर। ४ कपटत्व। ५ निरादर। ६ 'चचलत्व' टि० ख०, 'पारिप्लव चपलता' यश० प०। ७ 'कदर्यहीनकीनाशकिपचानमितपचा कृपणक्षुल्लकल्लीवक्षुद्रा एकार्थवाचका' टि० ख०, 'यो भृत्यात्मपीडाभ्यामथ सचिनोति स कदर्य ॥ ९ ॥' नीतिवाक्यामृत अथसमु० पृ० ४७। 'कदर्या लुब्धा' यश० प०।

★ 'असम्मताभक्तकदर्यमत्यकारुण्यदैन्यातिशयान्वितानाम्। एषा निवासेषु हि साधुवर्ग परानुकम्पाहितधीर्न भुङ्क्ते ॥ ३९ ॥ —धर्मरत्नाकर। पृ० १२४। ८ दु खित अश्रुपात वा दृष्ट्वा ये मुनयोऽन्तराय|कुर्वन्ति। ९ वृत्तय सन्त कि आहरन्ति ? अपि तु न।

धर्मेषु स्वामिसेवाया सुतोत्पत्तौ च क सुधी । [1]अन्यत्र कार्यदैवाभ्या [2]प्रतिहस्त समादिशेत् ।।३३०।।
[3]आत्मवित्तपरित्यागात्परैर्धर्मविधापने । नि सदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम् ।।३३१।।
भोज्य भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रिय । विभवो दानशक्तिश्च स्वय धर्मकृते फलम् ।।३३२।।
शिल्पि[4]कारुक[5]वाक्पण्य[6]सभलीपतितादिषु[7] । [8]देहस्थिति न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु[9]।।३३३।।
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च[10] विधोचिता[11] । मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जन्तव ।।३३४।।

[अब ग्रन्थकार दूसरो से दान-पुण्यादि करानेवालो के विषय मे कहते है] जो कार्य दूसरो से कराने-योग्य है या जो भाग्य-वश हो जाता है (जो कुछ भी इष्ट-अनिष्ट-सुख दु ख होता है, वह भाग्याधीन है उसे स्वय करने का नियम नही है) उनको छोडकर दान पुण्यादि धार्मिक कार्य व स्वामी की सेवा एव पुत्रोत्पत्ति को कौन बुद्धिमान् मानव दूसरो के हाथ से कराने के लिए आदेश देगा ? अर्थात्—विवेकी पुरुषो को उक्त कार्य स्वय करने चाहिए ।।३३०।। जो अपना धन देकर दूसरो के हाथ से धर्म कराता है, वह उसका फल दूसरो के भोगने के लिए प्राप्त करता है, इसमे सन्देह नही है, अर्थात्—उसका फल दूसरे ही भोगते है ।।३३१।। भोज्य-पदार्थ, भोजन करने की शक्ति, रतिविलास करने की सामर्थ्य, कमनीय कामिनियाँ, धनादिवैभव और दान करने की शक्ति ये वस्तुएँ स्वय धर्म करने से प्राप्त होती है, न कि दूसरो से धर्म कराने से ।।३३२।।

मुनियों के आहार-ग्रहण के अयोग्य गृह

मुनियो को बढई, माली, कारुक (नाई, धोबी,-आदि), भाट, कुट्टिनी स्त्री, नीच व जाति से बहिष्कृत और साधुओ के उपकरण (पीछी-आदि) बनाकर जीविका करनेवालो के गृहो मे आहार नही करना चाहिए ।।३३३।।

जिनदीक्षा व आहारदान के योग्य वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये तीन वर्ण ही जिन-दीक्षा के योग्य है किन्तु आहारदान देने योग्य चारो ही वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व सत् शूद्र) है, क्योकि सभी प्राणी मानसिक, वाचनिक व कायिक-धर्म के पालन के लिए आगम से अनुमति है ।।३३४।।

१-२ यत् किमपि इष्टमनिष्ट च दैव करोति, तत्र स्वहस्त न किमपि कर्तुं शक्नोति, अतस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति ।
३ निजधनेन परहस्तेन धर्म कारयति स्वहस्तेन न दत्ते ।
४ तथा चाह—भगवज्जिनसेनाचार्य —
न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधी । वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ।।१९०।।
'शूद्रा न्यग्वृत्तिसश्रयात्' ।।१९२–४।।
'तेषा शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारव । कारवो रजकाद्या स्युस्ततोऽन्ये स्युरकारव ।।१८५।।
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पत । तत्रास्पृश्या प्रजावाह्या स्पृश्या स्यु कर्तकादय ।।१८६।।
—महापुराण १६ वाँ पर्व ।
५. वाक्पण्या बन्दिन । ६ सभली कुट्टिनी । ७ ज्ञातिवाह्य । ८ आहार । ९ यतीनामुपकरणपारखीपिच्छयोगपट्टादिकरणजीविना गृहे आहारो न कर्तव्य । १० वर्णा । ११ शुद्रजैनानामपि विधा आहार उचितो योग्य दीयते इत्यर्थ ।

[1]पुष्पादिरशनादिर्वा[2] न स्वय धर्म एष हि । क्षित्यादिरिव धान्यस्य कि तु भावस्य[3] कारणम ।।३३५।।
युक्त हि श्रद्धया साधु [4]सकृदेव मनो नृणाम् । परा शुद्धिमवाप्नोति लोह विद्ध रसैरिव ।।३३६।।
तपोदानाचनाहीन मन सदपि देहिनाम । तत्फलप्राप्तये न स्यात्कु[5]शूलस्थितबीजवत् ।।३३७।।
[6]आवेशिकाश्रितज्ञातिदीनात्मसु यथाक्रमम् । यथौचित्य यथाकाल [7]यज्ञपञ्चकमाचरेत्★ ।।३३८।।

धर्म क्या है ? और धर्म का कारण क्या है ?

यह पुष्प-आदि व अन्न-आदि वस्तुएँ निस्सन्देह स्वय धर्म नही है, किन्तु ये वस्तुएँ वैसी परिणामो की निर्मलता मे कारण है जैसे उपजाऊ भूमि-आदि धान्य की उत्पत्ति मे कारण होती है ।

भावार्थ—यद्यपि पूजा मे चढाई जानेवाली पुष्प-वगैरह् वस्तुए और मुनि-आदि पात्रो के लिए दिया जानेवाला आहार स्वय धर्म नही है, तथापि इनके निमित्त से होनेवाले शुभभाव वैसे धर्म के कारण है, क्योकि उनसे शुभ कम का बन्ध होता हे, जैसे खेत व जल वगैरह यद्यपि स्वय धान्य नही है तो भी धान्य की उत्पत्ति मे कारण होते है ।।३३५।।

यथार्थ श्रद्धा का माहात्म्य

निस्सन्देह मानवो का मन यदि एक वार भी यथार्थ (निष्कपट) श्रद्धा से युक्त हो जाय तो वह उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होता है, जैसे पारदरस के योग से लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाना है (सुवण हो जाता है) । अर्थात्—जैसे लोहा, जिसके भीतर पारदरस के प्रविष्ट हो जाने से सुवर्ण हो जाता है वैसे ही यथार्थ श्रद्धा से युक्त हुआ मन अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ।। ३३६ ।।

मन को विशुद्ध करने का उपाय

प्राणियो का मन प्रशस्त होने पर भी यदि तप, दान व देव पूजा से रहित है तो वह निस्सन्देह उस प्रकार तप आदि से होनेवाले फल को उत्पन्न करने मे समर्थ नही होता जिस प्रकार कोठी मे भरे हुए धान्य-वीज प्रशस्त होने पर भी धान्य के अङ्कुरो को उत्पन्न करने मे समर्थ नही होते ।

भावार्थ—जिस प्रकार धान्य-आदि के वीज प्रशस्त (अङ्कुर उत्पन्न करने की शक्ति वाले) होने पर भी यदि केवल कोठी मे भरे हुए रक्खे रहे तो कदापि धान्य के अङ्कुरो को उत्पन्न नही कर सकते, परन्तु जब उन्हे खेत मे बोया जायगा और खाद व जल-सयोग-आदि कारण-सामग्री मिलेगी तभी वे धान्याङ्कुरो को उत्पन्न करने मे समर्थ होते है उसी प्रकार मानवो का प्रशस्त मन भी जब तप, दान व जिनेन्द्र भक्ति से युक्त होगा तभी वह स्वर्गश्री-आदि का उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नही, अत मन को सदा शुभ कार्यो मे लगाना चाहिए ।। ३३७ ।।

पॉच दानो का विधान—आगन्तुक अतिथि को, अपने आश्रितो को, अपने वशवालो को एव दु खी

१-३ पुष्पान्नादिक वस्तु भावस्य परिणामनिर्मलताया कारण स्यात् । ४ एकवारमपि । ५ गृहकोष्ठ भाण्डागार । ६ अतिथि । ७ दानपञ्चकम । ★ तथा चोक्त शास्त्रान्तरे—
'ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ च सर्वदा । नृयज्ञ पितृयज्ञ च यथाशक्ति न हापयेत ।। २१ ।।'—मनुस्मृति, अ० ४ । तथा चोक्त—'आवेशिकज्ञातिषु सस्थितेषु दीनानुकम्पेषु यथायथ तु । देशोचित कालवलानुरूप दद्याच्च किंचित् स्वयमेव बुद्धवा ।।' धमरत्ना० पृ० १२६ ।

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके । एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥३३९॥
यथापूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् । तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः ॥३४०॥
तदुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं नरे । देशव्रती भवेन्मध्यमन्यच्चासंयतः सुदृक् ॥३४१॥
यत्र रत्नत्रयं नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः । उप्तं तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥३४२॥
पात्रे दत्तं भवेदन्नं पुण्याय गृहमेधिनाम् । शुक्तावेव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥३४३॥
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु । दोषायैव भवेद्दानं पयः पानमिवाहिषु ॥३४४॥
कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां[1] किंचिद्दिशन्नपि[2] । [3]दिशेदुद्धृतमेवान्नं [4]गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥३४५॥
सत्कारादिविधावेषां[5] दर्शनं दूषितं भवेत् । यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥३४६॥
[6]शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिला[7]जीवकादिभिः[8] । सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥३४७॥
अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः । युद्धमेव भवेद्गोष्ठ्या दण्डादण्डि कचाकचि ॥३४८॥

व दरिद्र मनुष्यों को क्रमानुसार औचित्य (दान व प्रिय वचन बोलकर सन्तुष्ट करना) व काल का उल्लङ्घन न करके पाँच दान (ऋषियज्ञ-आदि) देने चाहिए ॥ ३३८ ॥

[अब पंचम काल में साधुओं का विहार बतलाते हैं—]इस दुःषमा नामक पंचमकाल में जब मानवों का मन चञ्चल रहता है और शरीर अन्न का भक्षक कीड़ा बना रहता है, यह आश्चर्य है कि आज भी जिनेन्द्र की मुद्रा के धारक साधु महापुरुष पाये जाते हैं ॥ ३३९ ॥ जैसे पाषाण वगैरह से निर्मित जिन बिम्ब पूज्य है वैसे ही वर्तमान के मुनि भी, जिनमें पूर्व मुनियों की सदृशता पाई जाती है, पूज्य हैं ॥ ३४० ॥

पात्र के तीन भेद—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र से विभूषित मुनि उत्तम पात्र है। अणुव्रती श्रावक मध्यम पात्र है और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है ॥ ३४१ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से शून्य (मिथ्यादृष्टि) मानव को विद्वानों ने अपात्र समझा है, उसके लिए दिया हुआ समस्त दान उस प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार ऊषर भूमि में बोया हुआ बीज निरर्थक होता है ॥३४२॥ मुनि-आदि पात्रों के लिए दिया हुआ आहारदान गृहस्थ श्रावकों को पुण्यवृद्धि के लिए होता है क्योंकि निस्सन्देह मेघों का जल सीप में ही पड़ने से मोती होता है, अन्यत्र नहीं ॥ ३४३ ॥ जिनका चित्त मिथ्यात्व से आविष्ट है और जो मिथ्याचारित्र को पालते हैं, उनके लिए दान देना वैसा दोषजनक होता है जैसे साँप को दूध पिलाना दोष-जनक होता है, अर्थात्—जहर उगलकर काटनेवाला होता है ॥ ३४४ ॥ मिथ्यादृष्टियों के लिए दयाभाव के कारण अथवा औचित्य के कारण यदि कुछ स्वल्प दिया भी जाय तो भोजन के पश्चात् पकाये हुए अधिक आहार में से स्वल्प आहार दे देना चाहिए, किन्तु उन्हें गृह पर नहीं जिमाना चाहिए ॥ ३४५ ॥ मिथ्यादृष्टियों का सन्मान-आदि करने से सम्यग्दर्शन वैसा दूषित हो जाता है जैसे स्वच्छ पानी भी विषैले बर्तन के संसर्ग से दूषित हो जाता है ॥ ३४६ ॥ अतः बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी व कनछिद्रा सन्यासी-आदि सम्प्रदाय के साधुओं के साथ निवास व वार्तालाप व उनकी सेवा छोड़ देनी चाहिए ॥ ३४७ ॥ ऐसे मिथ्यादृष्टियों के साथ वार्तालाप करने से, जिनके मन यथार्थ तत्व के ज्ञाता नहीं हैं और जो

---

१ मिथ्यादृशां । २ स्वल्पं ददद् । ३ दद्यात् । ४ स्वभोजनानन्तरमुद्धृतं अधिकं शिवतं तदेव, न तु पूर्वं समीचीनं । ५ कुदृशां । ६ बौद्ध । ७ तपस्वी । ८ आजीवका आविद्धकर्णा 'कनछिदा' इति भाषाया ।

भयलोभोपरोधाद्यै[1] कुलिङ्गिषु निषेवणे[2] । अवश्य दर्शन म्लायेन्नीचैराचरणे सति* ॥३४९॥
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु । नृषु कुत्सितसेवाया दैन्यमेवातिरिच्यते ॥३५०॥
[3]समयी साधक साधु सूरि समयदीपक[4] । तत्पुन पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिण ॥३५१॥
गृहस्थो वा यतिर्वापि जैन समयमास्थित । यथाकालमनुप्राप्त पूजनीय सुदृष्टिभि ॥३५२॥
ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञ सुप्रज्ञ कायकर्मसु[5] । मान्य समयिभि सम्यक्परोक्षार्थसमर्थधी ॥३५३॥
दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्या क्रियास्तद्विरहे[6] कुत । तदर्थं परपृच्छायां कथ च समयोन्नति ॥३५४॥
मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थिति । साधु साधु भवेत्पूज्य पुण्योपार्जनपण्डितै ॥३५५॥
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे[8] चातुवर्ण्यपुर सर । सूरिर्देव इवाराध्य ससाराब्धितरण्डक ॥३५६॥

दुराग्रही होने से मलिन हे, ऐसे लडाई झगडे की नौवत आ जाती है, जिसमे दण्डादण्डी और एक दूसरे के बाल पकड कर खीचने का अवसर होता है ॥ ३४८ ॥

जब विवेक-हीन मानव किसी अनिष्ट के भय से या धनादि के लोभ से या दूसरो के आग्रह से कुलिङ्गी साधुओ की सेवा रूप नीच आचरण करता है तो उसका सम्यग्दर्शन अवश्य ही मलिन होता है ॥ ३४९ ॥ जब बुद्धिमान् व पुरुषार्थी धार्मिक पुरुष यह समझ लेता है कि 'धनादि विभूतियाँ भाग्याधीन होती है,' तो भी धन की चाह से नीचो की सेवा करता है, इसमे उसकी दीनता ही कारण है ॥ ३५० ॥

[अब अन्य तरह से पात्रो के पॉच भेद और उनका स्वरूप कहते है]

विद्वान् पुरुष निम्न प्रकार पॉच प्रकार के पात्र मानते है—समयी, साधक, साधु, सूरि (आचार्य) और समय-दीपक (जैनशासन की प्रभावना करनेवाला) ॥ ३५१ ॥ जो जैन धर्म का अनुयायी है, चाहे वह गृहस्थ है या साधु, जब योग्य समय मे प्राप्त हो जाय तो सम्यग्दृष्टि सज्जनो को उसका आदर-सत्कार करना चाहिए ॥ ३५२ ॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष वस्तु को भली प्रकार जानने मे समर्थ है, ऐसे ज्योतिष, मन्त्र व निमित्त-शास्त्र के ज्ञाताओ का और शारीरिक चिकित्सा मे निपुण व परोक्ष व्याधि का ज्ञाता वैद्य का अथवा पाठान्तर मे प्रतिष्ठा-आदि के ज्ञाता का साधर्मी जनो को सन्मान करना चाहिए ॥ ३५३ ॥ क्योकि यदि ज्योतिषी-आदि नही है तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा आदि क्रियाएँ कैसे हो सकती है ? क्योकि इनमे मुहूर्त-आदि देखने के लिए ज्योतिषी व नैमित्तिक की अपेक्षा होती है । यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि जैनेतर सम्प्रदाय मे भी ज्योतिषी व निमित्तज्ञानी आदि है उनसे काम चल जायगा किन्तु इस तरह मूहूर्त आदि के

---

१ आग्रह । २ सेवाया सत्या । * तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचाय —
'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणाम विनय चैव न कुयु शुद्धदृष्टय ॥ ३० ॥'—रत्न० श्रा० ।
३ तथा चोक्त विदुषा आशाधरेण—
'समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात् । दानादिना यथोत्तरगुणरागात् सद्गृही नित्यम् ॥ ५५ ॥—सागार०, अ० २ । ४ समयिक, साधक, नैष्ठिक, गणाधिप व प्रभावक । ५ 'वैद्य' टि० ख०, पञ्जिकाकारस्तु 'कायकर्मसु चिकित्सादिक्रियासु' इत्याह । ६ देहान्त स्थितो व्याधि परोक्षाथ । ७ नैमित्तक विना । ८ काण्डोऽनलेऽधमे वर्गे दुष्कन्वे सरे शरे सहश्लाघाबुषु स्तवे ॥' टि० ख०, 'काण्डोऽस्त्री वर्गबाणार्थनालावसरवारिषु । दण्डे प्रकाण्डे रहसि स्तबे कुत्सितकुत्सयो ॥ इति विश्व ।' अर्थात्—काण्ड-वग (विषयसमाप्ति), बाण, अर्थ, नाल-डडी, अवसर, जल ॥ २ ॥ दण्ड (डडा), वृक्षका स्थूलभाग, एकान्त, गुच्छ, निन्दित, निंदा । (पु० न०) विश्वलो० को० पृ० ९० से सकलित—सम्पादक

लोकवित्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः । मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥३५७॥
मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्[1] । द्वयं यत्र स देवः स्याद्द्विहीनो गणपूरणः * ॥३५८॥
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया । अन्योन्यक्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥३५९॥
[2]अनुवीचिवचो भाष्यं सदा पूज्यादिसन्निधौ । यथेष्टं हसनालापान्वर्जयेद् गुरुसंनिधौ ॥३६०॥
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् । ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥३६१॥
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः । बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥३६२॥
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः । तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥३६३॥

लिए जैनेतर ज्योतिषी-आदि से पूँछने पर अपने धर्म की उन्नति कैसे हो सकती है ? ॥ ३५४ ॥ पुण्य के संचय करने में निपुण श्रावकों को, मूल गुणों व उत्तरगुणों के कारण श्लाघनीय—प्रशंसनीय—तपों के द्वारा जिसकी स्थिति मुनि-धर्म में दृढ है, ऐसे साधु की मन, वचन व काय से पूजा करनी चाहिए ॥ ३५५ ॥

जो ज्ञानकाण्ड (न्याय व व्याकरण-आदि) और क्रियाकाण्ड में निपुण होने से चतुर्विध संघ (मुनि, ऋषि, यति व अनगार) में अग्रेसर होते हैं और जो संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में नौका सरीखे हैं, उन आचार्यों की अर्हन्त भगवान् का तरह पूजा करनी चाहिए ॥ ३५६ ॥ लोकव्यवहार की निपुणता व कवित्व (काव्य रचना की चतुरता) द्वारा और शास्त्रार्थ एवं वक्तृत्व कला के कौशल द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करने में तत्पर रहनेवाले सज्जन पुरुष (चाहे गृहस्थ हो या मुनि हो) दान व सन्मानादि द्वारा विशेषरूप से पूज्य हैं।

भावार्थ—जैनधर्म को उद्दीपित करने के लिए लोक-व्यवहार में निपुण, काव्यरचना में कुशल, शास्त्रार्थ करने में प्रवीण विद्वान् और तात्त्विक, मधुर व प्रभावशाली भाषण देने में कुशल विद्वानों की अपेक्षा रहती है, अतः उनका भी सन्मान करना चाहिए ॥ ३५७ ॥

तप से रहित ज्ञान भी पूज्य है और ज्ञान से हीन तप भी पूज्य है, किन्तु जिसमें ज्ञान (केवलज्ञान) और तप दोनों हैं वह देव है, जिसमें दोनों नहीं हैं, वह तो केवल संघ का स्थान भरनेवाला ही है ॥ ३५८ ॥

विनय-विधि—जिनमुद्रा के धारक साधुओं को नमोऽस्तु कहकर उनकी विनय करनी चाहिए। आर्यिका के प्रति वन्दे कहकर उसकी विनय करनी चाहिए और क्षुल्लक त्यागी परस्पर में एक दूसरे को सदा इच्छामि कहकर विनय करते हैं ॥ ३५९ ॥ आचार्य-आदि पूज्य पुरुषों के समक्ष सदा शास्त्रानुकूल निर्दोष वचन बोलना चाहिए और गुरुजनों के समीप स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करनी चाहिए ॥ ३६० ॥ केवल आहारदान के लिए साधुओं की परीक्षा, कि (ये आगमानुसार मुनियों के आचार को पालते हैं अथवा नहीं इस प्रकार का विचार) नहीं करनी चाहिए, चाहे वे सच्चे मुनि हों या झूठे, क्योंकि गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध होता है ॥ ३६१ ॥

क्योंकि समस्त प्रकार के कृषि व व्यापार-आदि उद्योगों में प्रवृत्त होनेवाले गृहस्थों का धन अनेक प्रकार से (लज्जा व भय-आदि) खर्च होता है अतः तपस्वियों के लिए आहार दान देने में विशेष परीक्षा नहीं करनी चाहिए ॥३६२॥ तपस्वी साधु जैसे-जैसे तप व ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट हों, वैसे-वैसे

---

१ पूजित । * तथा चोक्तं—'मान्यो बोधस्तपोहीनो बोधहीनं तपोऽर्हितम् । द्वयं यत्र स देवः स्यात् द्विहीनो व्रतवेषभृत् ॥ ४६ ॥' —प्रबोधसार पृ० २०२ । २ 'आगमानुसारि' टि० ख०, घ० च०, 'अनुवीचि अनुल्वणं' इति पञ्जिकाकारः ।

दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं[1] समयाश्रिते । एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥३६४॥
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् । नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥३६५॥
[2]ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः । भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥३६६॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते । पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव[3] ॥३६७॥
[4]अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये । यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥३६८॥
साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् । सोऽयमित्यवधानेन* स्थापना सा निगद्यते* ॥३६९॥

गृहस्थो को उनकी विशेष पूजा करनी चाहिए ॥ ३६३ ॥ भाग्यशाली पुरुषो को भाग्य से प्राप्त हुए धन को जैन धर्मानुयायिओ मे अवश्य खर्च करना चाहिए भले ही उन्हे आगमानुकूल कोई मुनि मिले अथवा न भी मिले ॥ ३६४ ॥ जिनेन्द्र भगवान् का यह धर्म उत्तम और जघन्य अनेक प्रकार के मनुष्यो से भरा हुआ है। जैसे गृह एक खम्भे पर नही ठहर सकता वैसे यह धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से नही ठहर सकता ॥ ३६५ ॥

मुनियों के चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य व भावनिक्षेप की अपेक्षा से मुनि चार प्रकार के होते हे और वे सभी दान व सन्मान के योग्य है ॥ ३६६ ॥ गृहस्थो के पुण्य-उपार्जन की दृष्टि से जिनविम्बो की तरह उन चार प्रकार के मुनियो मे उत्तरोत्तररूप से विशिष्ट विधि (विशेष दान व मानादि) होती जाती है। अर्थात्—जिसप्रकार नाम-जिन से स्थापना जिन विशेष पूज्य है और स्थापना जिन से भावी जिन विशेष पूज्य है और भावीजिन से भाव-जिन विशेष पूज्य है उसीप्रकार नाम मुनिसे स्थापना मुनि-आदि विशेष पूज्य है ॥ ३६७ ॥

[अब क्रमश चारो निक्षेपो का स्वरूप निर्देश करते है—]

नामनिक्षेप

नाम के अनुसार गुण व क्रिया-आदि से रहित पदार्थो मे लोक व्यवहार चलाने के लिए पुरुष के अभिप्राय को अवलम्बन करके जो नाम रक्खा जाता है उसे नाम निक्षेप कहते है ॥ ३६८ ॥

स्थापनानिक्षेप

तदाकार व अतदाकार काष्ठ वगैरह मे 'यह अमुक है' इसप्रकार के अवधारण से जो स्थापना की जाती है, वह स्थापना निक्षेप कहा जाता है ॥ ३६९ ॥

१ टुवप् बीजतन्तुसताने । २ मुनय । ३ प्रतिमावत् ।
४ तथा चाह पूज्यपाद —'अतद्गुणे वस्तुनि सव्यवहारार्थ पुरुषाकारान्नियुज्यमान सज्ञाकर्म नाम' ।—सर्वार्थ० १–५ । तथा चाह श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामी—'सज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव निमित्तान्तरमिष्टित ।
नामानेकविध लोकव्यवहाराय सूत्रितम् ॥ १ ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १–५ पृ० ९८ । * अवधारणेन । * तथा चाह पूज्यपाद —'काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना' ।—सर्वार्थ० १–५ ।
तथा चोक्त श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिना—
'वस्तुन कृतसज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता । सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपत ॥ ५४ ॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १११

[1]आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचर । [2]तत्कालपर्ययाक्रान्त वस्तु भावो विधीयते ।।३७०।।
यदात्मवर्णनप्राय[3] क्षणिकाहार्यविभ्रमम । [4]परप्रत्ययसभूत दान तद्राजस मतम् ।।३७१।।
[5]पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसस्तुतम् । दासभृत्यकृतोद्योग दान तामसमूचिरे ।।३७२।।
[6]आतिथेय स्वय यत्र यत्र पात्रपरीक्षणम् । गुणा श्रद्धादयो यत्र दान तत्सात्त्विक विदु [7] ।।३७३।।
उत्तम सात्त्विक दान मध्यम राजस भवेत् । दानानामेव सर्वेषा जघन्य तामस पुन ।।३७४।।

द्रव्य व भाव निक्षेप

जो वस्तु भविष्य मे होनेवाले गुणो की प्राप्ति के योग्य है, उसे वर्तमान मे उस गुणरूप से सकल्प करना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमान पर्याय मे स्थित हुई वस्तु को भाव निक्षेप कहते है। अर्थात्—वर्तमान कालीन गुण व पर्याय विशिष्ट पदार्थ को भावनिक्षेप कहते है ।। ३७० ।।

[अब दूसरी तरह से दान के तीन भेद बतलाते है—]

राजसदान

जिस दान मे अपनी प्रशसा की बहुलता पाई जाती है और जो तत्काल मनोज्ञ प्रतीत हो, अर्थात्—जिसे दाता प्रतिदिन नही देता, कभी-कभी देता है, अत जो क्षणभर के लिए मनोज्ञ है, एव जो दूसरे दाता के विश्वास से उत्पन्न हुआ है, अर्थात्—जिसमे दाता को स्वय तो दान पर विश्वास नही होता, अत किसी को दान से मिलनेवाले फल को देखकर जो दान दिया जाता है, वह रजोगुण की प्रधानता के कारण राजसदान माना गया है ।। ३७१ ।।

तामसदान

आचार्यो ने उस दान को तामसदान कहा है, जिसमे पात्र व अपात्र दोनो एकसरीखे माने जाते है और जो विना किसी आदर-सत्कार व स्तुति के दिया जाता है और जिसमे दास व नौकरो के उद्योग की अपेक्षा होती है ।। ३७२ ।।

सात्विक दान

जिसमे स्वय पात्र को देखकर स्वय उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है, और जिसमे दाता के श्रद्धा-आदि गुण पाये जाते है, विद्वानो ने उस दान को सात्विक दान माना है ।। ३७३ ।। इन तीनो दानो के

१ तथा चाह—श्री भट्टाकलङ्कदेव —'अनागतपरिणामविशेष प्रति गृहीताभिमुख्य द्रव्य' —तत्वार्थवार्तिक १-५ ।
तथा चोक्त श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिना—
'यत्स्वतोऽभिमुख वस्तु भविष्यत्पयय प्रति । तद् द्रव्य द्विविध ज्ञेयमागमेतरभेदत ।।६०।। —तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ १११ ।
२ 'तथा चाह श्रीमत्पूज्यपाद —'वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षित द्रव्य भाव ' । सवार्थ० १-५ ।
तथा चाह श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामी—'साप्रतो वस्तुपर्यायो भावो द्वेधा स पूववत् । —तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ ११३ ।
३ कदाचित् ददाति । ४ स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति, परन्तु कस्यचिद् दानस्य फल दृष्ट्वा अनेन ईदृश प्राप्त पश्चाद् ददाति । ५ सदृशावलोकनेन यद्दान । ६ अतिथौ भव ।
७ तथा चोक्त—'यत्रातिथेय स्वयमेव साक्षात् ज्ञानादयो यत्र गुणा. प्रकाशा ।
पात्राद्यवेक्षापरता च यत्र तत्सात्विक दानमुपाहरन्ति ।।७८।। —धर्मरत्ना० पृ० १२७ ।

यद्दत्त तदमुत्र स्यादित्यसत्यपर वच । गाव पय प्रयच्छन्ति कि न तोयतृणाशना ॥३७५॥
मुनिभ्य शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पित । भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यत ॥३७६॥
अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च । भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वरा ॥३७७॥
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षण । ततश्च समवाप्नोति मन सिद्धि जगतत्रये ॥३७८॥
श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेय समृद्धे स्यात्समाश्रय. । ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥३७९॥
शारीरमानसागन्तुव्याधिसबाधसभवे । साधु सयमिना कार्य प्रतीकारो गृहाश्रितै ॥३८०॥

तत्र [1]दोषधातुमलविकृतिजनिता शारीरा, दौर्मनस्यदुस्वप्नसाऽवसाऽधिसपादिता मानसा [2] शीतवाताभिघातादिकृता आगन्तव ।

मध्य सात्विक दान उत्तम है, राजसदान मध्यम है और तामसदान निकृष्ट है ॥ ३७४ ॥ जो दान दिया गया, वह दाता को परलोक मे फलदायक होता है, यह वचन मिथ्या है, क्योकि दान का फल इसी लोक मे मिल जाता है, जैसे पानी पीनेवाली व घास-भक्षण करनेवाली गाएँ क्या दूध नही देती ? अर्थात्--जिस दिन गायो के लिए पानी पिलाया जाता है और घास खिलाई जाती है उसी दिन वे दूध दे देती है, इससे दाता को दान का फल (कीर्ति-लाभ व मानसिक शुद्धि) इसी लोक मे मिल जाता है। अथवा दूसरी तरह से यह अर्थ समझना चाहिए कि दाता पात्र के लिए यदि रूखा-सूखा अन्न देता है तो वही रूखा-सूखा अन्न उसे परलोक मे मिलेगा, यह कथन झूठ है, क्योकि गायो के लिए प्रेमपूर्वक पानी व घास ही दिया जाता है, परन्तु वे उसके बदले मधुर दूध दे देती है। अत मुनियो के लिए आहार की वेला मे भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात का पुञ्ज भी, अपरिमित पुण्य का कारण होता है, क्योकि भक्ति ही चिन्तामणि है।

निष्कर्ष—दाता की श्रद्धा व भक्ति से ही दान की कीमत आँकी जाती है, न कि पात्र के लिए दिये जानेवाले द्रव्य की कीमत से। अत पात्र के लिए भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी दाता को प्रचुर फलदायक होता है, न कि विना भक्ति के दिया हुआ मिष्ठान्न-भोजन ॥ ३७५-३७६ ॥

[अब आहार की वेला मे मौन का विधान करते है—]

जिनेन्द्र भगवान् ने स्वाभिमान की रक्षा के लिए और श्रुत की विनय के लिए आहार की वेला-आदि के अवसर पर मौन रखना कहा है। जिह्वा की लम्पटता का त्याग करने से तप की वृद्धि होती है और स्वाभिमान (याचना न करना) की रक्षा होती है और उनके होने से तीन लोक मे मनसिद्धि होती है। मौन द्वारा श्रुत की विनय करने से कल्याण होता है और वह मुक्तिरूपी सम्पत्ति का आश्रय होता है और उससे (मान से) मनुष्यलोक के ऊपर सरस्वती प्रसन्न होती है, अर्थात्—तीन लोक के अनुग्रह करने मे समर्थ दिव्यध्वनि का प्रसाद प्राप्त होता है ॥ ३७७-३७९ ॥

सयमी मुनियों की व्याधियों के प्रतीकार का विधान

सयमी मुनिजनो को शारीरिक (वात, पित्त व कफ की विकृति-आदि से उत्पन्न होनेवाले बुखार-आदि रोग), मानसिक व आगन्तुक व्याधियो की पीडा होने पर गृहस्थ श्रावको को भलीप्रकार उन कष्टो के दूर करने का उपाय करना चाहिए ॥ ३८० ॥

उनमे वात, पित्त व कफ की विकृति से, रस-रक्त आदि धातुओ के विकार से और मल के विकार

१ वातपित्तश्लेष्म। २ तथा चोक्त—'शरीरा ज्वरकुष्ठाद्या क्रोधाद्या मानसा स्मृता । आगन्तवोऽभिघातोत्या सहजा क्षुत्तृषादय ॥ ८८ ॥'—धमरत्ना०, पृ० १२८।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः । असमाधिभवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥३८१॥
सौमनस्यं सदाचर्यं व्याख्यातृषु पठत्सु च । आवासपुस्तकाहारसौकर्यादिविधानकैः ॥३८२॥
*अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं सूक्तं केवलिभाषितम् । नश्येन्निर्मूलतः सर्वं श्रुतस्कन्धधरात्यये ॥३८३॥
प्रश्रयोत्साहनानन्दस्वाध्यायोचितवस्तुभिः । श्रुतवृद्धान्मुनीन्कुर्वञ्जायते श्रुतपारगः ॥३८४॥
[1]श्रुतात्तत्त्वपरिज्ञानं श्रुतात्समयवर्धनम् । श्रेयोर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्समस्यते ॥३८५॥

से उत्पन्न हुई व्याधियो—रोगो-को शारीर व्याधि कहते है। मानसिक पीडा, खोटे स्वप्नोका देखना व भय-आदि से उत्पन्न होनेवाले कष्टो को मानस-कष्ट कहते है एव शीत व वात के आक्रमण आदि से उत्पन्न हुई व्याधियो को आगन्तुक कहते है। इन वाधाओ के दूर करने का प्रयत्न गृहस्थो को करना चाहिए।

क्योकि रोग-ग्रस्त मुनियो की उपेक्षा करने से मुनियो के रत्नत्रय की विराधना होती है और श्रावको का अधर्म-कार्य प्रकट होता है, अत गृहस्थो को रुग्ण साधुजनो की उपेक्षा नही करनी चाहिए ॥ ३८१ ॥

श्रुत की रक्षा के लिए श्रुतधरों की रक्षा का विधान

अत जैनागम का व्याख्यान करनेवाले विद्वानो के लिए और जैनागम को पढनेवाले छात्रमुनि-आदि के लिए रहनेको निवास-स्थान, शास्त्र और आहार-आदि की सुविधा देकर गृहस्थो को अपनी सज्जनता का परिचय देना चाहिए ॥ ३८२ ॥ क्योकि श्रुत-समूह के धारको (श्रुत के व्याख्याताओ व पाठको) के नष्ट हो जाने से तीर्थङ्कर केवली भगवान् के द्वारा उपदिष्ट समस्त श्रुत, जो कि ग्यारह अङ्गो (आचाराङ्ग-आदि) व चौदह पूर्वो तथा प्रकीर्णको मे कहा हुआ है, जड से नष्ट हो जायगा ॥ ३८३ ॥ जो विनय करके, उत्साह-वृद्धि करके व आनन्दित करके एव स्वाध्याय के योग्य शास्त्र-आदि वस्तुएँ देकर मुनियो को शास्त्र मे निपुण (विद्वान्) बनाने का प्रयत्न करता है, वह स्वय श्रुत का पारगामी (श्रुतकेवली) हो जाता है।

भावार्थ—प्रस्तुत आचार्यश्री ने श्रुत-समूह के धारको (श्रुत के व्याख्याताओ व पाठको) के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ देकर श्रुत की रक्षा करने के लिए कहा है। वास्तव मे जैनशासन को सुरक्षित व उद्दीपित करने मे जैनशास्त्रो के ज्ञाता विद्वानो की महती आवश्यकता होती है। और यह तभी सभव है जब जैनो के विद्यालयो व गुरुकुलो मे जैनशास्त्रो का पठन-पाठन चालू रहे। यदि जैन समाज मे से शास्त्रज्ञान लुप्त हो गया तो धर्म-कर्म भूल जाने से नाममात्र के जैन रह जायेगे।

अत समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए जैनशास्त्रो का पठन-पाठन चालू रखने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात्—वर्तमान मे जैन समाज मे जो विद्यालय व गुरुकुल-आदि खुले हुए हैं, जिनमे जैनशास्त्रो का पठन-पाठन-आदि चालू है, उन्हे आर्थिक सहायता प्रदान द्वारा श्रुत लक्ष्मी से अलङ्कृत होना चाहिए ॥ ३८४ ॥

श्रुत का महत्व

शास्त्र से ही मोक्षोपयोगी तत्वो का ज्ञान होता है और शास्त्र से ही जैनधर्म की वृद्धि होती है,

* तथा चोक्त—'अङ्गपूर्वरचितप्रकीर्णक वीतरागमुखपद्मनिर्गतम् ।
नश्यतीह सकल सुदुर्लभ सन्ति न श्रुतधरा यदर्थय ॥ ९१ ॥
तत्प्रश्रयोत्साहनयोग्यदानानन्दप्रमोदादिमहाक्रियाभि ।
कुर्वन् मुनीनागमवृद्धचित्तान् स्वय नर स्याच्छ्रुतपारगामी ॥ ९२ ॥' —धर्मरत्ना० प० १२८।

१ तथा चोक्त—'श्रुतेन तत्त्व पुरुषै प्रबुध्यते, श्रुतेन वृद्धि समयस्य जायते। श्रुतप्रभाव परिवर्णयेज्जिन श्रुत विना सर्वमिद विनश्यति ॥ ९३ ॥' —धर्मरत्ना० प० १२९।

अस्त्रधारणवद्बाह्ये क्लेशे हि सुलभा नरा । यथार्थज्ञानसपन्ना शौण्डीरा इव दुर्लभा ॥३८६॥
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम् । कर्म वाहीकवत्किंचिद्व्येति[1] किंचिदुदेति च[2] ॥३८७॥
[3]सृणिवज्ज्ञानमेवास्य वशायाश्यदन्तिन । [4]तदृते च बहि क्लेश क्लेश एव पर भवेत् ॥३८८॥
बहिस्तप स्वतोऽभ्येति[5] ज्ञान भावयत सत । [6]क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽत्र कुत स्युरपरा [7] क्रिया ★ ॥३८९॥
[8]यदज्ञानी युगै कर्म बहुभि क्षपयेन्न वा । तज्ज्ञानी योगसपन्न क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥३९०॥
ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्बहि क्लेष्टु[9] र्व्रतेऽखिले । ऽज्ञातुर्ज्ञानलवे यस्मान्न पटुत्व युगैरपि ॥३९१॥
[10]शब्दैतिह्यैर्न गी शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयै । स परप्रत्ययात्क्लिश्यन्भवेदन्धसम पुमान् ॥३९२॥

अत शास्त्रज्ञानके अभाव हो जानेपर अपने कल्याण के इच्छुको को यह समस्त लोक अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याप्त हुआ आचरण करता है ॥ ३८५ ॥ जैसे तलवार-वगैरह अस्त्रो का धारण करना सुलभ है वैसे ही वाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं परन्तु जैसे वीर पराक्रमी पुरुष दुर्लभ होते है वैसे ही सच्चे ज्ञानी दुर्लभ है ॥ ३८६ ॥ जो मनुष्य ज्ञान की भावना से शून्य हे और केवल शरीर को कष्ट देता है, उसका उस प्रकार कुछ कर्म नष्ट होता है और कुछ नया कर्म उदय मे आता है जिस प्रकार बोझा ढोनेवाले का कुछ भार हल्का होता है और कुछ नया भार आता रहता है। इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥ ३८७ ॥

सच्चे ज्ञान की विशेषता

मानव के इस मनरूपी हाथी को वश मे करने के लिए सम्यग्ज्ञान ही अङ्कुश-सरीखा है, अर्थात्—जैसे अङ्कुश हाथी को वश मे रखता है वैसे ही ज्ञान मानव के मन को वश मे रखता है। सम्यग्ज्ञान के विना मिथ्यादृष्टि मानव का वाह्य काय-क्लेश केवल कष्टप्रद ही है ॥ ३८८ ॥ सम्यग्ज्ञान की भावना करनेवाले सज्जन साधु के निकट वाह्य तप स्वय प्राप्त हो जाता है। क्योकि जब आत्मा ज्ञान मे लीन हो जाता है तो अन्य वाह्य क्रियाएँ कैसे हो सकती है ? ॥ ३८९ ॥ अज्ञानी (आत्मज्ञान से शून्य–मिथ्यादृष्टि) जिन कर्मो को बहुत से युगो मे भी नष्ट नही कर सकता, ध्यान से युक्त ज्ञानी पुरुष उन कर्मो को निश्चय से क्षणभर मे नष्ट कर डालता है ॥ ३९० ॥ सम्यग्ज्ञानी साधु जब परिपूर्ण यथाख्यात चारित्र प्राप्त करता है तभी उससे वह परि-पूर्णज्ञानी (केवली) हो जाता है, उक्त चारित्र के बिना सम्यग्ज्ञानी साधु ज्ञान के लवलेशमात्र से केवली नही हो सकता।

इसी प्रकार वाह्य कायक्लेश करनेवाला अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) साधारण शास्त्रज्ञान के लवलेश मात्र से बहुत से युगोमे परिपूर्णज्ञानी (केवली) नही हो सकता। (उक्त अर्थ टिप्पणीकार के अभिप्राय से किया गया है)। इसका दूसरा अर्थ यह है कि समस्त बाह्य व्रतो मे क्लेश सहन करनेवाले अज्ञानी मुनि से ज्ञानी साधु तत्काल कुशल (कर्मो के क्षय करने मे समर्थ) हो जाता है, किन्तु वाह्य व्रतो को करनेवाला

१ विनश्यति । २ उदयमागच्छति । ३ अङ्कुशवत् । ४ ज्ञान विना । ५ आगच्छति । ६ आत्मनि । ७ वाह्या ।
★ तथा चोक्त—'वाह्य तप प्राथितमेति पुसो ज्ञान स्वय भावयत सदैव । क्षेत्रज्ञरत्नाकरसन्निमग्ने बाह्या क्रिया सन्तु कुत समस्ता ॥ ९६ ॥' —धर्मरत्ना० प० १२९ ।
८ तथा चोक्त—'यदज्ञानी क्षपेत् कर्म बह्वीभिर्भवकोटिभि । तज्ज्ञानवास्त्रिभिर्गुप्त क्षपयेदन्तर्मुहूर्तत ॥ ९७ ॥ —धर्मरत्ना० प० १२९ ।
९ क्लेश कुर्वत । ३ सम्पूर्णे चारित्रे सति पटु परिपूर्णज्ञानी भवेत् । न तु ज्ञानलवलेशमात्रेण केवली स्यादिति भाव ।
१० व्याकरणै ।

स्वरूप रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासत । प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्य प्रतिपद्यते ॥३९३॥

तत्र स्वरूप च द्विविधम्—अक्षरम्, [1]अनक्षर च । रचना द्विविधा—गद्यम, पद्य च । शुद्धिर्द्विविधा—प्रमाद-प्रयोगविरह, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषा द्विविधा—वागलकार, अर्थालकारश्च । अर्थो द्विविध —[2]चेतनो-ऽचेतनश्च[3], [4]जातिर्व्यक्तिश्चेति[5] वा ।

[6]सार्ध सचित्तनिक्षिप्तधृताभ्या दानहानये । अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रिया ॥३९४॥

अज्ञानी युग वीत जानेपर ज्ञान के लवलेशमात्र मे भी कुशल नही होता ॥ ३९१ ॥ जिसकी वाणी व्याकरण-शास्त्र के अभ्यास से शुद्ध नही हुई, अर्थात्—जो व्याकरणशास्त्र का वेत्ता नही है, और जिसकी बुद्धि नीति-शास्त्रो के अभ्यास से अथवा नयो (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक) के अभ्यास से शुद्ध नही हुई, अर्थात्—जो नीतिशास्त्र का अथवा नयो का वेत्ता नही है, वह मानव दूसरो के विश्वास के अनुसार चलने से कष्ट उठाता हुआ अन्धा-सरीखा है ॥ ३९२ ॥

प्रत्येक शास्त्र मे सक्षेप से निम्नकार वस्तुएँ होती है। स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलङ्कार और वर्णन किया हुआ विषय और ये प्रत्येक दो दो प्रकार के है ॥ ३९३ ॥

स्वरूप दो प्रकार का होता है—अक्षरात्मक, जो कि द्वादशाङ्गो के अक्षरोवाला है और दूसरा अनक्ष-रात्मक (अस्फुट अर्थ को सूचन करनेवाला जैसे तडत्-तडत् इत्यादि । रचना दो प्रकार की है—गद्यरूप और पद्यरूप, अर्थात्—विना श्लोकवाले और श्लोकवाले शास्त्र । शुद्धि दो प्रकार की होती है । एक तो शास्त्रकार की असावधानी से शब्दो के प्रयोग मे होनेवाली अशुद्धियो का अभाव और दूसरे न उसमे कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो । अलङ्कार दो प्रकार के होते है—एक शब्दालकार (शब्दो मे सौन्दर्य के उत्पादक अनुप्राम-आदि) व अर्थालङ्कार (अर्थ मे सौन्दर्य लानेवाले उपमा-आदि) और वर्णित विषय दो प्रकार का है—चेतन (जिसमे जीव द्रव्य का निरूपण हो जैसे समयसार-आदि) व अचेतन (जिसमे पर्वत-आदि जड पदार्थों का कथन हो) या जाति (पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग व नपुसकलिङ्ग वाले शब्द जिसमे पाए जाते है) और व्यक्ति (जिसमे एकवचन व बहुवचनवाले शब्द समूह हो ।

अतिथिसविभाग व्रत के अतीचार

सचित्त कमल के पत्तो-आदि मे आहार स्थापित करना, सचित्त पत्ते वगैरह से आहार को ढाँकना, दूसरे दातार की वस्तु दान देना, अन्य दाताओ से ईर्ष्या करना और असमय मे आहार देना, ये पाँच

---

१ अस्फुटार्थसूचनार्थं, यथा तडत्तडिति पटपटायति । २ यत्र जीवादीना व्याख्या क्रियते सोऽर्थश्चेतन । ३ यत्र पर्वतादीना व्याख्या स अचेतन । ४ जातिर्लिङ्ग । ५ व्यक्तिरेकवचन द्विवचन, बहुवचन ।

६ तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्य —
'सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमा —मोक्षशास्त्र ७–३६ ।
तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्य —
'हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि । वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥ १२१ ॥ —रत्न० ।

[1]नतेर्गोत्र श्रियो दानादुपास्ते सर्वसेव्यताम । भक्ते कीर्तिमवाप्नोति स्वय दाता यतीन्भजन् ॥३९५॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तम कल्प ।

[2]मूलव्रत व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रिया । दिवा नवविध ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥३९६॥

परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता । तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥३९७॥

[3]अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थित । [4]सर्वत्रापि समा प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावना ॥३९८॥

षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रय स्युर्ब्रह्मचारिण । भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ तत स्यात्सवतो यति ॥३९९॥

तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृता । निरुक्ति युक्तितस्तेषा वदतो मन्निबोधत ॥४००॥

अतिथि सविभाग व्रत के अतीचार है, अत श्रावक इन्हे छोड देवे ॥ ३९४ ॥ मुनियो की स्वय सेवा करनेवाले दाता को मुनियो को नमस्कार करने से उच्चगोत्र का बध होता है, दान देने से लक्ष्मी प्राप्त होती है, उपासना करने से समस्त लोक द्वारा सेवनीय होता है एव उनकी भक्ति करने से कीर्ति-लाभ होता है ॥ ३९५ ॥

इसप्रकार उपासकाध्ययन मे 'दानविधि' नाम का तेतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

ग्यारह प्रतिमाएँ

आचार्य श्रावको की निम्नप्रकार ग्यारह प्रतिमाएँ (चारित्र के पालन करने की श्रेणियाँ) कहते है । दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, आरभत्याग, दिवामैथुनत्याग, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा । इनमे पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओ के चारित्र को पालन करने मे स्थित होकर ही आगे-आगे की प्रतिमाओ का चारित्र पालन करना चाहिए । जैसे दर्शन-प्रतिमा के चारित्र-पालन पूर्वक व्रत प्रतिमा की आराधना करनी चाहिए। उक्त समस्त प्रतिमाओ मे रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-आदि) की भावनाएँ एक सरीखी कही गई है । श्रावको की इस ग्यारह प्रतिमाओ मे से पहले की छह प्रतिमा के धारक गृहस्थ कहे जाते है । सातवी, आठवी और नौवी प्रतिमा के धारको को ब्रह्मचारी समझने चाहिए और अन्तिम दो प्रतिमा के धारक भिक्षु समझने चाहिए और इन सबसे ऊपर मुनि होते है ॥ ३९६-३९९ ॥

भावार्थ—निरतिचार सम्यग्दर्शन के साथ अष्ट मू लगूणो का निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा

---

१ तथा चाह श्रीसमन्तभद्राचार्य —

'उच्चैर्गोत्र प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्ते सुन्दररूप स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ ११५ ॥ —रत्न० ।

२ तथा चोक्त—'दसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त राइ भत्ती य । वभारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥ —चारित्तपाहुड २१ ।

तथा चाह श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य —

'सद्दर्शन व्रतोद्योत समता प्रोषधव्रतम् । सचित्तसेवाविरतिमह स्त्रीसङ्गवजनम् ॥ १५९ ॥

व्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम् । तत्रानुमननत्याग स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥ १६० ॥

स्थानानि गृहिणा प्राहु एकादश गणाधिपा ।' —महापुराण पर्व १० ।

तथा चाह विद्वान् आशाधर —

दर्शनिकोऽथ व्रतिक सामयिको प्रोषधोपवासी च । सचित्तदिवामैथुनविरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीना षट् ॥ २ ॥

अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्या । अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥ ३ ॥'

—सागर धर्मा० अ० ३ ।

३ दर्शनप्रतिमापूर्वक व्रतप्रतिमामाराधयेदित्यर्थ । ४. प्रथमप्रतिमादिषु क्रमेण रत्नत्रयभावना सदृशा ।

जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना । गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥४०१॥
मानमायामदामर्षक्षपणात्क्षपण स्मृत । यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्त विदु श्रमण बुधा ॥४०२॥
यो [1]हताश प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे । य सर्वसङ्गसत्यक्त स नग्न परिकीर्तित ॥४०३॥

है। जो नि शल्य होकर पाँच अणुव्रतोको निरतिचार पालन करता हुआ सात शील धारण करता है। वह व्रत प्रतिमाधारी है। पूर्वोक्त दो प्रतिमाओ को धारण करके तीनो सन्ध्याओ मे यथाविधि सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को नियम से उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। कृषि व व्यापार आदि का त्याग करना पाँचवी आरम्भ त्याग प्रतिमा है। जो अपनी स्त्री से दिन मे रति-विलास न करके उसके साथ हँसी मजाक भी नही करता वह दिवा मैथुन त्यागी है। कोई आचार्य इसके स्थान मे रात्रिभुक्तित्याग को कहते है, उसका अर्थ यह है रात्रि मे सभी प्रकार के आहार का निरतिचार कृत कारित व अनुमोदनापूर्वक त्याग किया जाता है। मन, वचन, काय और कृत, कारित व अनुमोदना से स्त्री-सेवन का त्याग, सातवी ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तु के खाने का त्याग करना अर्थात्—कच्चे मूल, पत्ते-आदि प्रत्येक वनस्पतिकायिक शाक या फल भक्षण न करके उन्हे अग्निमे पकाकर या आचार शास्त्र के अनुसार प्रासुक करके भक्षण करता है, वह सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है। समस्त परिग्रह को त्याग देना प्ररिग्रह त्याग प्रतिमा है। समस्त आरम्भ, परिग्रह व लौकिक कार्यो मे अनुमति न देकर केवल भोजनमात्र मे अनुमति देना दसवी अनुमति त्याग प्रतिमा है। जो उक्त दश प्रतिमाओ का चारित्र पालन करता हुआ गृहत्याग करके मुनियो के आश्रम (वन) मे जाकर गुरु के समीप व्रत (ग्यारहवी प्रतिमा का चारित्र) धारण करके तप करता है और खण्डवस्त्र या लँगोटी मात्र धारण करता हुआ भिक्षा भोजन करता है, वह ग्यारहवी उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी है। इसके दो भेद है, क्षुल्ल व ऐलक। क्षुल्लक कौपीन (लगोटी) व खण्डवस्त्रधारी होता है और ऐलक केवल कौपीन मात्र धारण करता है। क्षुल्लक केशो का मुण्डन करता है और ऐलक केश लुञ्चन करता है, यह उद्दिष्टत्याग प्रतिमा हे। इनमे आगे की प्रतिमाओ मे पूर्व पूर्व की प्रतिमाओ का चारित्र अवश्य होना चाहिए एव रत्नत्रय की भावना भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत होनी चाहिए।

विमर्श

यहाँ पर ध्यान देने योग्य यह है कि शास्त्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि ने पाँचवी सचित्तत्याग प्रतिमा की जगह आठवी आरम्भ त्याग प्रतिमा का उल्लेख किया है एव आठवी प्रतिमा की जगह पाँचवी प्रतिमा का। जबकि अन्य श्रावकाचारो मे ऐसा व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नही हुआ। अत क्रमिक त्याग की दृष्टि से पूर्वाचार्यो का निरूपण सही मालूम पडता है। परन्तु हमने उक्त दोनो श्लोको का अर्थ ग्रन्थकार के अनुसार ही किया है।

मुनियों के विविध नामों का अर्थ

उन-उन गुणो की मुख्यता के कारण मुनि अनेक प्रकार के कहे गये है। अब उनके उन नामो को युक्तिपूर्वक निरुक्ति (व्युत्पत्ति-पूर्ण व्याख्या) कहते है, उसे मुझसे सुनिए ॥ ४०० ॥ जो समस्त इन्द्रियो को जीतकर अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को जानता है, वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ, वह जितेन्द्रिय कहा जाता है ॥ ४०१ ॥ गर्व, कपट, मद व क्रोध का क्षय कर देने के कारण साधु को 'क्षपण' कहा गया है और अनेक स्थानो मे ईर्यासमिति पूर्वक विहार करने से थका हुआ नही होता, इसलिए विद्वान् उसे 'श्रमण' जानते है ॥४०२॥ जो पूर्व-आदि दश दिशाओ के परिमाण से रहित है और जिसकी समस्त प्रकार की लालसाएँ (जीवन, आरोग्य,

१ दिग्परिमाणरहित ।

[1]रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिण । मान्यत्वादात्मविद्याना महद्भि कीर्त्यते मुनि ॥४०४॥
य पापपाशनाशाय यतते स यतिभवेत् । योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगार सता मत ॥४०५॥
आत्माऽशुद्धिकरैर्यस्य न सङ्ग कर्मदुर्जनै । स पुमाञ्शुचिराख्यातो नाम्बुसप्लुतमस्तक ॥४०६॥
धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तोऽधर्मकर्मण । त निर्ममम्मुशन्तीह केवलात्मपरिच्छदम् ॥४०७॥
य [2]कर्मद्वितयातीतस्त मुमुक्षु प्रचक्षते । पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव स ॥४०८॥
निर्ममो निरहकारो निर्माणमदमत्सर । निन्दाया सस्तवे चैव समधी शसितव्रत ॥४०९॥
योऽवगम्य यथाम्नाय तत्त्व तत्त्वैकभावन । वाचयम स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नर ॥४१०॥
श्रुते व्रते प्रसख्याने[3] सयमे नियमे यमे । यस्योच्चै सवदा चेता सोऽनूचान [4] प्रकीर्तित ॥४११॥

भोग व उपभोग सबधी तृष्णाएँ) शान्त (नष्ट) हो चुकी है, इसलिए विद्वान् आचार्यो ने उसे 'आशाम्बर' कहा है और जो समस्त प्रकार के वाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों का त्यागी है, अत. उसे 'नग्न' कहा गया है ॥ ४०३ ॥ समस्त दु ख-समूह का सवरण (आच्छादन) करने के कारण विद्वानो ने उसे 'ऋषि कहा है और अध्यात्म विद्याओ (केवलज्ञान-आदि) की प्राप्ति से पूज्य होने के कारण महापुरुष उसे 'मुनि' कहते है ॥४०४॥ जो पापरूपी जाल को नष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है, इसलिए वह 'यति' है और शरीररूपी गृह मे भी लालसा-रहित होने के कारण सज्जनो ने उसे 'अनगार' माना है ॥ ४०५ ॥ आत्मा को मलिन करनेवाले कर्मरूप दुर्जनो के साथ जिरा समर्ग नही है, वहो पुरुष 'शुचि' कहा गया है, न कि जल से धोये हुए मस्तकवाला। अर्थात्—जो जल से मस्तक पर्यन्त स्नान करता है, वह पवित्र नही है किन्तु जिसकी आत्मा निर्मल है, वही पवित्र है। अर्थात्–यद्यपि मुनि स्नान नही करते, किन्तु उनकी आत्मा विशुद्ध है, इसलिए उन्हे पवित्र कहते है ॥ ४०६ ॥ जो धर्माचरण (सम्यग्दर्शन-आदि) के फल (स्वर्ग-सुख-आदि) का इच्छुक नहो है और अधर्माचरण (पापाचरण) से निवृत्त है और केवल आत्मा ही जिसका परिवार है लोक मे उसे आचार्य 'निर्मम' कहते है। अर्थात्—मुनि पापाचरण न करके केवल धर्माचरण ही करते हैं, और उसे भी लौकिक इच्छा न रखकर केवल अपना कर्तव्य समझकर करते है एव उनके पास अपनी आत्मा के सिवा कोई भी परिग्रह नही रहता, अत. उन्हे 'निर्मम' कहा गया है ॥ ४०७ ॥ आचार्य, साधु को पुण्य-पाप लक्षणवाले दोनो प्रकार के कर्म-बन्धनो से मुक्त (छूटा हुआ) होने के कारण मुमुक्षु कहते है। क्याकि जो मानव लोहे की या सुवर्ण की जजीरो से बँधा हुआ है, उसे बँधा हुआ ही कहा जाता है। अर्थात्—पुण्मकर्म सुवण के बन्धन है और पापकर्म लोहे के बन्धन है, क्योकि दोनो ही जीव को ससार मे बाँधकर रखते है। अत जो पापो से निवृत्त होकर पुण्यकर्म करता है, यह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनो को छोडकर शुद्धोपयोग मे लीन है वही 'मुमुक्षु' है ॥ ४०८ ॥ जो मूर्च्छा (ममता) से रहित है, अहकार-शून्य है, जो मान, मद व ईर्षा से रहित है, जिसके अहिंसा-आदि महाव्रत प्रशसनीय है और जो अपनी निन्दा व स्तुति मे समान बुद्धि-युक्त (राग-द्वेष-शून्य) है, अर्थात्—जो अपनी निन्दा करनेवाले शत्रु से द्वेष नही करता और स्तुति करनेवाले मित्र से राग नही करता, अतः उसे 'समधी' कहते है ॥ ४०९ ॥

जो आगम के अनुसार मोक्षोपयोगी तत्वो (जीवादि) को जानकर केवल उसी की एकमात्र भावना (चिन्तवन) करता है, उसे वाचयम (मौनी) जानना चाहिए। जो पशु-सरीखा केवल भाषण-नही करता,

---

१ सवरणात्। २ पुण्यपापलक्षण। ३ ध्याने। ४ अनूचान प्रवचने साङ्गेऽधीती गणश्च स इति हैम। 'अनूचानो विनीते स्यात् साङ्गवेदविचक्षणे'—इति मेदिनी।

[1]योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्त शाश्वते पथि निष्ठित । समस्तसत्त्वविश्वास्य सोऽनाश्वानिह गीयते ॥४१२॥
तत्त्वे पुमान्मन पुंसि[2] मनस्यक्षकदम्बकम् । यस्य युक्त स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहित ॥४१३॥
काम क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम । येनेद साधित स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधक * ॥४१४॥
ज्ञान ब्रह्म दयाब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रह । सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नर ॥४१५॥
क्षान्तियोषिति य सक्त सम्यग्ज्ञानातिथिप्रिय । स गृहस्थो भवेन्नून मनोदैवतसाधक ॥४१६॥
[3]ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्य परित्यज्य सयमी । वानप्रस्थ स विज्ञेयो न वनस्थ कुटुम्बवान् ॥४१७॥
ससाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृत । त शिखाच्छेदिन प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥४१८॥
कर्मात्मनोर्विवेक्ता[4] य क्षीरनीरसमानयो । भवेत्परमहसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षक ॥४१९॥

वह मौनी नही है ॥ ४१० ॥ जिसका मन द्वादशाङ्ग श्रुत के अभ्यास मे, अहिसा-आदि व्रतो के पालन मे, धर्मध्यान के चिन्तन मे, प्राणि-सरक्षणरूप व इन्द्रिय-वशीकरणरूप सयम मे और नियम (परिमित कालवाले भोगोपयोग वस्तु के त्याग) मे और यम (आजन्म भोगोपभोग के त्याग) मे अत्यधिक सलग्न रहता है, उसे 'अनूचान' (द्वादशाङ्ग श्रुत का वेत्ता) कहा गया है ॥ ४११ ॥ जो इन्द्रियरूपी चोरो पर विश्वास नही करता और शाश्वत कल्याणकारक रत्नत्रयरूप-मोक्षमार्ग मे स्थित है एव जो समस्त प्राणियो द्वारा'विश्वास-योग्य है, उसे आगम मे 'अनाश्वान्' कहा जाता है ॥ ४१२ ॥ जिसकी आत्मा मोक्षोपयोगी तत्व मे लीन है, मन आत्मा मे लीन है और जिसका इन्द्रिय समूह मन मे लीन है, वह योगी है, अर्थात्—जिसका इन्द्रियसमूह मन मे, मन आत्मा मे और आत्मा तत्व मे लीन है, वह योगी है। किन्तु जो दूसरी वस्तुओ की चाहरूपी दुष्ट सकल्प से युक्त है, वह योगी नही ॥ ४१३ ॥ काम, क्रोध, मद, माया व लोभ ये पाँच प्रकार की अग्नियाँ है, अत जिसके द्वारा ये पाँचो अग्निया वश मे की गई है, वही कृतकृत्य मुनि ही पचाग्नि-साधक है, न कि वाह्य अग्नियो का उपासक ॥ ४१४ ॥ सम्यग्ज्ञान ब्रह्म है, प्राणिरक्षा ब्रह्म है, कामवासना के विशेष निग्रह को ब्रह्म कहते है। जो मनुष्य सम्यक् रूप से सम्यग्ज्ञान की आराधना करता है और प्राणिरक्षा मे तत्पर रहता है एव काम को जीत लेता है, वही 'ब्रह्मचारी' है ॥ ४१५ ॥ जो क्षमारूपी स्त्री मे आसक्त है, अर्थात्—जो अहिंसक है, जिसे सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथि प्रिय है। अर्थात्—जो सदा शास्त्र-स्वाध्यायरूपी पात्र की आराधना करता है, तथा जो मनरूपी देवता की साधना करता है, वही सच्चा गृहस्थ है ॥ ४१६ ॥ जो साधु इन्द्रिय-समूह के वाह्य विषयो (स्पर्श-आदि) को अथवा टि० के अभिप्राय से मकान वगैरह वाह्य परिग्रह को तथा अन्तरङ्ग परिग्रह (रागद्वेष-आदि) को छोडकर सयम धारण करता है उसे 'वानप्रस्थ' जानना चाहिए, किन्तु जो कुटुम्ब को लेकर वन मे निवास करता है, वह वानप्रस्थ नही है ॥ ४१७ ॥

जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी तलवार से ससाररूपी अग्नि की शिखा विदीर्ण (नष्ट) की है, उसे आचार्यों ने 'शिखाच्छेदी' कहा है, केवल शिर घुटानेवाले को नही ॥ ४१८ ॥ ससार अवस्था मे कर्म और आत्मा दूध और पानी की तरह मिले हुए है, अत जो साधु भेदज्ञान द्वारा दूध व जल-सरीखे सयोगसबध को प्राप्त हुए कर्म (ज्ञानावरण-आदि) व आत्मा को जुदा-जुदा करनेवाला है, वही 'परमहस' साधु है। जो अग्नि-सरीखा

१ इन्द्रियचौरेषु। २ आत्मनि मन । * तथा चोक्त शास्त्रान्तरे—'उदरे गार्हपत्याग्निर्मध्यदेशे तु दक्षिण । आस्य आहवनोऽग्निश्च सत्यपर्वा च मूर्धनि। य पञ्चाग्नीनिमान् वेद आहिताग्नि स उच्यते'। —गरुडपुराण।
३ वास्त्वादि। ४ पृथक कर्ता।

ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च । नित्य यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ।।४२०।।
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथय पञ्च कीर्तिता । ससाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ।।४२१।।
अद्रोह सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने । स पुमान्दीक्षितात्मा स्यान्नत्वजादियमाशय [1] ।।४२२।।
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशय । स श्रोत्रियो भवेत्सत्य न तु यो बाह्यशौचवान् ।।४२३।।
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रै सम्यक्कर्मसमिच्चयम् । यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्निसमेधक ।।४२४।।
भावपुष्पैर्यजेद्देव व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम् । क्षमापुष्पैर्मनोवह्नि य स यष्टा सता मत ।।४२५।।
[2]षोडशानामुदारात्मा य प्रभुर्भावनर्त्विजाम्* । सोऽध्वयु रिह बोद्धव्य शिवशर्माध्वरोद्धुर ।।४२६।।

सर्वभक्षी है, अर्थात्—समस्त भक्ष्य व अभक्ष्य वस्तुओ को भक्षण करने वाला है, वह परमहस नही है ।। ४१९ ।। जिसका मन सदा तत्वज्ञान से प्रदीप्त है, शरीर अहिसादि व्रतो के धारण से प्रदीप्त है और जिसकी इन्द्रियाँ सदा सेवनीय पदार्थो के त्याग से प्रदीप्त है वही 'तपस्वी' है, किन्तु केवल वाह्य वेष का धारक तपस्वी नही है, अर्थात्—जो नग्न होकर पीछी व कमण्डल-आदि वाह्य वेष को धारण करता है, वह तपस्वी नही है ।।४२०।। पाँचो इन्द्रियो की अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्तियाँ ही पाँच तिथियाँ कही गई है, जो कि ससार के आश्रय की कारण है, अत जो इन तिथियो से मुक्त हो गया है, उसे 'अतिथि' कहते है । अर्थात्—पाचो इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशीरूप पाँच तिथियाँ हे, जो इनसे मुक्त हो गया अर्थात्—जिसने पाँचो इन्द्रियो को अपने वश मे कर लिया, वही वास्तव मे अतिथि है ।

भावार्थ—आहार-निमित्त आनेवाले साधु को अतिथि कहते है, क्योकि जिसके आने की कोई तिथि निश्चित नही उसे लोक मे अतिथि कहा है । ग्रन्थकार ने कहा है कि अतिथि शब्द का यह अर्थ लौकिक है । वास्तव मे पाँचो इन्द्रियाँ ही पाँच तिथियाँ (द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी) है और जो इनसे मुक्त हो गया (जिसने पाँचो इन्द्रियो को अपने वश मे कर लिया) वही साधु वास्तव मे अतिथि है ।।४२१।।

समस्त प्राणियो की रक्षा करना ही जिसका दैनिक यज्ञ (पूजा) है, वह साधु पुरुष 'दीक्षितात्मा' है । जो बकरे-वगैरह प्राणियो का घातक है, वह दीक्षितात्मा नही है ।। ४२२ ।। जो पापकर्मरूपी दुर्जनो को स्पर्श करनेवाला नही है और समस्त प्राणियो का हित चाहता है, वह वास्तव मे 'श्रोत्रिय' है, जो केवल वाह्य शुद्धि वाला है वह श्रोत्रिय नही है ।। ४२३ ।। जो आत्मारूपी अग्नि मे दयारूपी मन्त्रो के द्वारा कर्म (ज्ञानावरण-आदि) रूपी ईंधन-समूह को अच्छी तरह हवन करता है, वही सच्चा होता (होम करनेवाला) है, जो केवल वाह्य अग्नि मे काष्ठ-समूह रखकर उसे प्रदीप्त करता है, वह होता नही है ।। ४२४ ।। जो विशुद्ध भावरूपी पुष्पो से देवपूजा करता है, अहिंसादि व्रतरूपी सुमनो से शरीररूपी गृह की पूजा करता है एव क्षमारूपी पुष्पो से मनरूपी अग्नि की पूजा करता है, उसे सज्जनो ने यष्टा (पूजा करनेवाला) माना है ।। ४२५ ।। जो महात्मा, तीर्थङ्कर प्रकृति की कारण सोलह कारण भावना (दर्शन-विशुद्धि-आदि) रूपी यज्ञ करानेवाले ऋत्विजो का स्वामी है और जो मोक्ष-सुखरूपी यज्ञ का उद्धारक है, उसे 'अध्वर्यु' समझना चाहिए ।। ४२६ ।। जो शरीर और आत्मा के भेद को विशेष रूप से ज्ञापन करता है, वह विद्वानो के लिए प्रीतिजनक सच्चा वेद है, परन्तु जो समस्त प्राणियो के क्षय का कारण है, वह वेद नही है ।

१ छागादीना घातक । २ षोडश भावना एव ऋत्विजस्तेषा मध्येऽध्वर्यु यजुर्वेदज्ञाता मुख्य. आत्मा एव ।
* 'य प्रभुर्भावनर्चिषाम्' क० ।

विवेक वेदयेदुच्चैर्य शरीरशरीरिणो । स प्रीत्यै विदुषा वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥४२७॥
जातिर्जरा मृति पु सा त्रयी ससृतिकारणम् । एषा त्रयी यतस्त्रय्या[1] क्षीयते सा त्रयी मता ॥४२८॥
अहिस सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रह । य स्यात्स ब्राह्मण सत्य न तु जातिमदान्धल ॥४२९॥
सा जाति परलोकाय यस्या सद्धर्मसभव । न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥४३०॥
स शैवो य शिवज्ञाता स बौद्धो योऽन्तरात्मभुत्[2] । स साख्यो य प्रसख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान ॥४३१॥
ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशय । दानयोग्य कथ स स्याद्यश्चाक्षानुमतक्रिय[3] ॥४३२॥
[4]अनुमान्या [5]समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा । भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया[6] यतिद्वयसमाश्रया ॥४३३॥

भावार्थ—श्री भगवज्जिनसेनाचार्य* ने भी कहा है कि 'निर्दोष (अहिसा धर्म का निरूपण करनेवाला) द्वादशाङ्ग श्रुत ही वेद है, परन्तु प्राणि-हिसा का समर्थक वाक्य (शास्त्र) वेद नही है, उसे तो कृतान्त की वाणी समझनी चाहिए' ॥ ४२७ ॥

पुरुषो के जन्म, जरा व मरण ये तीनो ससार के कारण है, इस त्रयी (इन तीनो) का जिस रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) रूपत्रयी से नाश हो वही त्रयी मानी गई है । अभिप्राय यह है कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद को त्रयी कहते है किन्तु शास्त्रकार कहते है, कि जो ससार के कारण जन्म, जरा व मरण को नष्ट करने मे समर्थ है, वही रत्नत्रय ही सच्ची त्रयी है ॥ ४२८ ॥ जो दयालु है, समीचीन रूप से अहिसा आदि व्रतो का आचरण करता है, ज्ञानवान् है, नि स्पृही है एव वाह्य (धन-धान्यादि) व अन्तरङ्ग (मिथ्यात्व-आदि) परिग्रहो से रहित है, वही साधु यथार्थ ब्राह्मण है, जो मनुष्य केवल जाति (ब्राह्मणत्व) के मद से अन्धा है, वह ब्राह्मण नही है ॥ ४२९ ॥ वही जाति परलोक के लिए उपयोगी है, अर्थात्—स्वर्ग आदि सुख को उत्पन्न करनेवाली है, जिससे प्रशस्त धर्म (सम्यग्दर्शन-आदि) की उत्पत्ति होती है, क्योकि जिसप्रकार भूमि के शुद्ध होने पर भी यदि वह धान्यादि के बीजो से रहित है तो वह धान्योत्पत्ति के लिए समर्थ नही होती उसी प्रकार प्रशस्त ब्राह्मणत्व-आदि जाति भी सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म-प्राप्ति के विना स्वर्ग-आदि सुख को उत्पन्न करने मे समर्थ नही हो सकती ॥ ४३० ॥ जो शिव (कल्याणकारक मोक्ष या मोक्ष-मार्ग) का ज्ञाता हे, वही शैव (शिव का अनुयायी) है । जो आत्मतत्व का ज्ञाता है, वही बौद्ध है । जो आत्मध्यानी है वही साख्य है एव जो ससार मे पुन जन्मधारण करनेवाला नही है, वही द्विज (ब्राह्मण) है । अभिप्राय यह है कि जो कुलीन माता पिता से उत्पन्न होकर उपनयन सस्कार-युक्त होकर गुरु के पादमूल मे तत्वज्ञान प्राप्त करता है, जिसका द्वितीय सस्कार-जन्म हुआ है और पुन जिनदीक्षा धारण करके कर्मो का क्षय करता है । अत जिसे तीसरा जन्म धारण नही करना पडता वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ४३१ ॥ जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दयी है, विषय-लम्पट है और पाँचो इन्द्रियो के वश मे है, वह आहार-आदि दान का पात्र कैसे हो सकता है ? अर्थात् ऐसे निःकृष्ट मानव के लिए कभी दान नही देना चाहिए ॥ ४३२ ॥ देशविरत और सर्वविरत की अपेक्षा से भिक्षा के चार भेद है—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरीभिक्षा । टिप्पणीकार ने कहा है कि अनुमान्या भिक्षा दशप्रतिमा तक होती है । आमन्त्रणपूर्वक आहार को समुद्देश्य कहते है, अत

१ सम्यक्त्वादे । २ अन्तरात्मान बुध्यतीति । ३ पचेन्द्रियवश । ४ दशप्रतिमापर्यन्त । ५ आमन्त्रणपूर्विका षट्प्रतिमापर्यन्त । ६ व्रह्मचारि-मुनि ।

* तथा च भगवज्जिनसेनाचार्य —
श्रुत सुविहित वेदो द्वादशाङ्गमकल्मष । हिंसोपदेशि यद्वाक्य न वेदोऽसौ कृतान्तवाक ॥२२॥ —आदिपुराण पर्व० ३९

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंश कल्प ।

तरुदलमिव परिपक्व स्नेहविहीन प्रदीपमिव देहम् । स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ।।४३४।।

[1]गहन* न शरीरस्य हि विसजन किं तु गहनमिह वृत्तम् ।
तन्न [2]स्थास्नु विनाश्य न नश्वर शोच्यमिदमाहु ।।४३५।।

[3]प्रतिदिवस विजहद्बलमुज्झद्भुक्ति त्यजत्प्रतीकारम् । वपुरेव नृणा निगिरति *चरमचरित्रोचित समयम् ।।४३६।।

[4]सविधा पापकृतेरिव* जनिताखिलकायकम्पनातङ्का । यमदूतीव जरा यदि समागता जीवितेषु कस्तर्ष[5] ।।४३७।।

दूसरी समुद्देश्या भिक्षा छठी प्रतिमा तक होती है और ग्यारहवी प्रतिमा के धारक क्षुल्लक व ऐलक त्रिशुद्धा नाम की भिक्षा करते है तथा साधु भ्रामरी भिक्षा करते है, क्योकि मुनिजन दाताओ को बाधा न पहुँचाकर भँवरे की तरह आहार करते है, अत उनकी भिक्षा का नाम भ्रामरी है ।। ४३३ ।।

इसप्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि के उपासकाध्ययन मे मुनि के नामो की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या को बतलानेवाला चौवालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब समाधिमरण की विधि का निरूपण करते है—]

वृक्ष के पके हुए पत्ते-सरीखा या तैल-रहित दीपक-सरीखा शरीर को स्वय ही विनाशोन्मुख जानकर समाधिमरण करना चाहिए ।। ४३४ ।। आचार्यो ने कहा है कि शरीर का त्याग करना आश्चर्य-जनक नही है किन्तु लोक मे सयम-धारण करना आश्चर्य-जनक है, अत यदि शरीर स्थिर-शील है तो उसे नष्ट नही करना चाहिए और यदि विनाश-शील हो तो उसके नष्ट होने मे शोक नही करना चाहिए ।। ४३५ ।।

[अब समाधिमरण का समय बताते है—]

जब शरीर प्रतिदिन क्षीण शक्तिवाला हो जाय और जिसने आहार-ग्रहण छोड दिया हो एव जब उसकी रक्षा के उपाय (औषधादि) व्यर्थ हो जाँय तब स्वय शरीर ही मनुष्यो को कह देता है, कि अब समाधि-मरण का समय आ गया है ।। ४३६ ।। जब मानवो को यमराज की दूती-सरीखी वृद्धावस्था आ जाय जो कि समस्त शरीर मे कम्पन व व्याधि को उत्पन्न करनेवाली है और जो ऐसी मालूम पडती है—मानो—पापकार्य की निकटवर्तिनी ही है—तब उन्हे जीवन की लालसा क्यो करनी चाहिए ? अर्थात्—उस समय गृहस्थ या मुनि को जीवन की अभिलाषा छोड देनी चाहिए ।। ४३७ ।। वृद्धावस्था द्वारा कानो के समीपवर्ती श्वेत बालो को

---

१ तथा च विद्वान् आशाधर —
'गहन न तनोर्हानि पुस किन्त्वत्र सयम । योगानुवृत्तेर्व्यावृत्य तदात्माऽत्मनि युज्यताम्' ।।२४।। —सागार० अ० ८ ।

* आश्चर्य न शरीरमोचन ।

२ तथा च प० आशाधर —
'न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्य वपुर्बुधै । न च केनाऽपि नो रक्ष्यमिति शोच्य विनश्वर ।।५।। —सागार० अ० ८ ।

३ तथा च श्रीमद्विद्यानन्दि आचार्य —
मरणसचेतनाभावे कथ सल्लेखनाया प्रपन्न इति चेन्न, जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षयसप्राप्ते यत्तस्य स्वगुण-रक्षणे प्रयत्नात् ततो न सल्लेखनात्मबध प्रयत्नस्य विशुद्धचगत्वात्तपश्चरणादिवत् । —तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० ७ सूत्र २२ पृ० ४५७ की अन्तिम ल० १ तथा पृ० ४६८ की शुरु की १½ लकीर । * मरणावसर । ४ समीपवर्ति-नीव । * 'सविधापायकृतेरिव' क० । ५ का तृष्णा ? ।

[1]कर्णान्तकेशपाशग्रहणविधिर्बोधितोऽपि यदि जरया । स्वस्य हितैषी न भवति त किं मृत्युर्न सग्रसते ॥४३८॥
[2]उपवासादिभिरङ्गे कषायदोषे च बोधिभावनया । कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय[3]यतेत गणमध्ये ॥४३९॥
यमनियमस्वाध्यायास्तपासि देवार्चनाविधिर्दानम् । एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥४४०॥
[4]द्वादशवर्षाणि नृप. शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत् । किं स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यते पुराचरितम् ॥४४१॥
[5]स्नेह विहाय बन्धुषु मोह विभवेषु कलुषतामहिते ।
गणिनि च निवेद्य निखिल दुरीहित तदनु भजतु विधिमुचितम् ॥४४२॥

पकडकर समझाये जाने पर भी वृद्ध पुरुष यदि आत्मकल्याण का इच्छुक नही होता तो क्या उसे मृत्यु अपने मुख का कौर नही बनाती ?

भावार्थ—वृद्धावस्था के बाद मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होना निश्चित है, अत वृद्ध को आत्मकल्याण मे ही प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है, न कि जीवन की लालसा रखना ॥ ४३८ ॥

समाधिमरण की विधि

एसे साधु या श्रावक को, जिसने उपवास-आदि द्वारा अपना शरीर कृश (क्षीण) किया है और रत्नत्रय की भावना द्वारा कषाय रूप दोष कृश किये है, मुनिसघ के समक्ष आहार के त्याग के लिए प्रयत्न करना चाहिए । अर्थात्—यावज्जीवन या काल की अवधि पर्यन्त आहार का त्याग करना चाहिए ॥ ४३९ ॥ यदि अन्तसमय (मरणवेला) मे मन मलिन रहा तो जीवनपर्यन्त किये हुए यम (बाह्य व आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और धर्मध्यान), नियम (अहिसादि), शास्त्र-स्वाध्याय, इच्छानिरोध लक्षणवाला तप, देवपूजा व पात्रदान-आदि समस्त धार्मिक अनुष्ठान निष्फल है ॥ ४४० ॥ जैसे कोई राजा, जिसने बारह वर्ष पर्यन्त शस्त्रविद्या (शस्त्रो का सचालन-आदि) का अभ्यास किया है, यदि युद्धभूमि पर शत्रु के प्रति कायरता दिखाता है तो उसकी शस्त्रविद्या निष्फल है वैसे ही साधु भी, जिसने पहले जीवनभर सदाचार व तत्वज्ञान-आदि का अभ्यास किया, यदि मृत्यु के अवसर पर समाधिमरण से विमुख हो गया तो उसका पूर्वकालीन समस्त धार्मिक अनुष्ठान व्यर्थ है ॥ ४४१ ॥ बन्धुजनो से स्नेह, धनादि वैभव से मोह और शत्रु के प्रति कलुषता को छोडकर समस्त दोषो को आचार्य से निवेदन करे और उसके बाद समाधिमरण की योग्य विधि का पालन

---

१ पलितकेशा किल पूव कर्णसमीपे दृश्यन्ते ।

२ तथा चाह प० आशाधर —
'उपवासादिभि काय कषाय च श्रुतामृतै । सल्लिख्य गणिमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी' ॥१५॥ सागार० अ० ८ ।

३ मरणाय । ४ तथा चाह प० आशाधर —
'नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत् । युधीव स्खलितो मृत्यौ स्वार्थभ्रशोऽयश कटु ॥१७॥ —सागार० अ० ८ ।

५ तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्य —
'स्नेह वैर सङ्ग परिग्रह चापहाय शुद्धमना. । स्वजन परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनै ॥१२४॥
आलोच्य सर्वमेन कृतकारितमनुमत च निर्व्याजम् । आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥१२५॥'
—रत्नकरण्ड श्रा० ।

अशन क्रमेण हेय स्निग्ध पान तत खर[1] चैव । तदनु च सर्वनिवृत्ति कुर्याद्गुरुपञ्चकस्मृतौ निरत ।।४४३।।
*कदलीघातवदायुषि[2] कृतिना सकृदेव विरतिमुपयाति । तत्र पुनर्नैष विधिर्यद्दैवे[3] क्रमविधिर्नास्ति ।।४४४।।
[4]सूरौ प्रवचनकुशले साधुजने यत्नकर्मणि प्रवणे । चित्ते च समाधिरते किमिहासाध्य* यतेरस्ति ।।४४५।।
[5]जीवितमरणाशसे सुहृदनुराग सुखानुबन्धविधि । एते सनिदाना स्यु सल्लेखनहानये पञ्च ।।४४६।।

करे ।। ४४२ ।। धीरे-धीरे अन्न का त्यागकर दूध व मट्ठा रख लेवे फिर उन्हे भी छोडकर गर्म जल रख लेवे, उसके बाद पचनमस्कारमन्त्र के स्मरण मे लीन होकर सब कुछ छोड देना चाहिए ।। ४४३ ।। जब किन्ही पुण्यवान् पुरुष की आयु कटे हुए केले की तरह एक साथ ही समाप्त होती हो, अर्थात्—शत्रु, विप व अग्नि-आदि द्वारा एकबार मे ही नष्ट हो जाय तो वहाँ समाधिमरण की यह क्रमिक विधि नही है, क्योकि दैव (भाग्य) की प्रतिकूलता मे क्रमिक विधान नही बन सकता । अर्थात्—भाग्य की प्रतिकूलता से होनेवाले कदलीघातमरण मे यह विस्तृत सन्यास-विधि नही होती, किन्तु उस अवसर पर सर्वसन्यास (समस्त चारो प्रकार के आहार का त्याग) विधि होती है ।। ४४४ ।।

जब समाधिमरण करानेवाले आचार्य धर्मोपदश देन मे कुशल हो और साधु-समूह सन्यासविधि मे प्रयत्नशील हो एव समाधिमरण करनेवाले का मन ध्यान मे अनुरक्त हो तो समाधिमरण करनेवाले साधु को लोक मे कुछ भी असाध्य नही है ।। ४४५ ।। सल्लेखनाव्रत की क्षति करनेवाले निम्नप्रकार पाँच अतिचार है—जीने की इच्छा करना, मरण की इच्छा करना, मित्रो के साथ अनुराग प्रकट करना, पहले भोगे हुए भोगो का

* तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्य —
'आहार परिहाप्य क्रमश स्निग्ध विवधयेत् पानम् । स्निग्ध च हापयित्वा खरपान पूरयेत् क्रमश ।।१२७।।
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या । पञ्चनमस्कारमनास्तनु त्यजेत् सवयत्नेन ।।१२८।।'
—रत्नकरण्ड श्रा० ।

१ खरपान । * 'कदलीघातवदायु ' ग० । 'कदलीघातवदायुषि' मु०, क०, ख०, घ० । विमर्श—अय पाठ समीचीन ।
—सम्पादक ।

२ उपयाति सति का विरति अन्नपानादिविरतिं कथ ? सकृदेव एकहेलया, सुकृतिना पुण्यवता कदलीघातवदायुषि—यदा वैरिविषाग्न्यादिकेन मरणमायाति तदा एव वदति मम सर्वसन्यास तत्र पुन कदलीघातमरणे एष विस्तर-सन्यासविधिर्न भवति ।

३ यतो दैवे क्रमविधिर्नास्ति ।
तथा चाह प० आशाधर —'भृशापवर्तकवशात् कदलीघातवत् सकृत् । विरमत्यायुषि प्रायमविचार समाचरेत् ।।११।।'
—सागार० अ० ८ ।

४ आचार्ये । * न किमपि । ५ यदि स्तोक काल जीव्येत तदा भव्यमिति जीविताशसा । यदि शीघ्र म्रियते तदा भव्य किमद्यापि दु खमनुभूयते, इति मरणाशसा—वाञ्छा, यदि स आयाति तदाऽस्य सन्यास सफल कथयति । यदि सुखेन म्रियते तदा भव्यमिति चिन्तयति ।
तथा चाह श्रीमदुमास्वामी आचार्य —'जीवितमरणाशसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि' ।। ३७ ।।
—मोक्षशास्त्र अध्याय ७ ।

तथा चाह श्रीमत्समन्तभद्राचार्य —
'जीवितमरणाशसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामान । सल्लेखनातिचारा पञ्च जिनेन्द्रै समादिष्टा ।।१२९।।'—रत्नकरण्ड ।

आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।
समाधिभावेन कृतात्मकार्य कृती जगन्मान्यपदप्रभु स्यात् ।।४४७।।
इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंश कल्प ।

अथ प्रकीर्णकम् ।

[1]विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिरुक्त प्रकीर्णकम । उक्तानुक्तामृतस्यन्दबिन्दुस्वादनकोविदै ।।४४८।।
अदुर्जनत्व विनयो विवेक परीक्षण तत्त्वविनिश्चयश्च ।
एते गुणा पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मवान्धर्मकथापर स्यात् ।।४४९।।
असूयकत्व शठताऽविचारो दुराग्रह सूक्तविमानना च । पु सामभी पञ्च भवन्ति दोषास्तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय ।।४५०।।
पु सो यथा सशयिताशयस्य दृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्ति ।
धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्ति ।।४५१।।

स्मरण करना और आगामी भोगो की इच्छा करना ।। ४४६ ।। इसप्रकार रत्नत्रय की आराधना करके आचार्य के अधीन होकर उनकी आज्ञा के अनुसार चलनेवाला समाधिमरण का इच्छुक, जिसने यथाविधि धर्मध्यान परिणति से समाधिमरण किया है, पुण्यात्मा पुरुष जगत्पूज्य तीर्थङ्करपद का स्वामी हो जाता है ।। ४४७ ।।

इसप्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि के उपासकाध्ययन मे सल्लेखनाविधि नामक पैंतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब कुछ सुभाषितो का कथन करते है—]

उपदिष्ट व अनुपदिष्ट सुभाषितरूपी अमृत से क्षरण करनेवाली विन्दुओ के आस्वादन करने मे चतुर विद्वानो ने, शास्त्रो मे विस्तृत हुए सार्थक सुभाषित वचनो के कथन करने को प्रकीर्णक कहा है ।

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री[2] ने कहा है कि 'जो समुद्र सरीखे विस्तृत सुभाषितरूपी रत्नो की रचना का स्थान है, उसे प्रकीर्णक कहते है ।' अर्थात्—जिसप्रकार समुद्र मे फैली हुई प्रचुर रत्नराशि वर्तमान होती हैं उसीप्रकार प्रकीर्णक काव्यरूपी समुद्र मे भी फैली हुई सुभाषित काव्यरूपी रत्न-राशि पाई जाती है ।। ४४८ ।।

धर्म कथा करने का पात्र

वही विशिष्ट आत्मा धर्मोपदेश देने मे तत्पर होता है, जिसमे ये पाँच गुण वर्तमान हो—सज्जनता, विनय, सद्बुद्धि, परीक्षा और मोक्षोपयोगी तत्वो का निश्चय ।। ४४९ ।।

तत्वज्ञान में बाधक दोष

मानवो के निम्नप्रकार पाँच दोष तत्वज्ञान मे बाधक है—दूसरे के गुणो मे मात्सर्य करना, दुष्टता, हिताहित का विचार न होना, दुराग्रह (हठ-ग्रहण) और हितकारक उपदेश का अनादर करना ।। ४५० ।।

सशयालु की असफलता

जैसे लौकिक कार्यो (व्यापार-आदि) मे सदिग्ध अभिप्रायवाले मानव की कोई भी लौकिक प्रवृत्ति सफल नही देखी गई उसीप्रकार धर्म के स्वरूप मे सदिग्ध बुद्धिवाले मानव की कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति सफल नही होती ।

---

१ विक्षिप्ताना पूर्वोक्ताना । २ तथा च सोमदेवसूरि —'समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धन प्रकीर्णकम् ।' नीतिवाक्यामृत (भा० टी० समेत) पृ० ४११

*जातिपूजाकुलज्ञानरूपसपत्तपोबले । उशन्त्यहयुतोद्रेक[1] मदमस्मयमानसा ॥४५२॥
यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन[2] मोदते । स नून धर्महा यस्मान्न धर्मा धार्मिकैर्विना ॥४५३॥
देवसेवा गुरूपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप । दान चेति गृहस्थाना षट कर्माणि दिने दिने ॥४५४॥
स्नपन पूजन स्तोत्र जपो ध्यान श्रुतस्तव[3] । षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥४५५॥
आचार्योपासन श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् । तत्क्रियाणामनुष्ठान श्रेय प्राप्तिकरो गण ॥४५६॥

भावार्थ—नीतिकार प्रस्तुत आचार्यश्री ने कहा—'सर्वत्र सशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धि ' अर्थात्—'सभी स्थानो मे सदेह करनेवालो के कार्य सिद्ध नही होते'—(नीतिवाक्यामृत सदाचारसमुद्देश सूत्र ५३ पृ० ३४३ हमारी भाषा टीका)' अत विवेकी पुरुष को कार्य-सिद्धि के लिए सभी स्थानो मे सन्देह नही करना चाहिए ॥ ४५१ ॥

मदों का निषेध

गर्व-रहित मनोवृत्तिवाले (विनयशील) आचार्य, जाति (माता के वश की शुद्धि), प्रतिष्ठा, कुल (पिता की वश-शुद्धि), विद्या, लावण्य, सम्पत्ति, तप व वल इनके गर्वोद्रेक (विशेष अहकार) को मद या घमण्ड कहते है ॥ ४५२ ॥ जो मानव घमण्ड मे आकर अपने साधर्मी जनो की निन्दा करके हर्षित होता है वह निश्चय से धर्म-घातक है, क्योकि धर्मात्माओ के विना धर्म नही है ॥ ४५३ ॥

गृहस्थ के छह कर्तव्य

देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये गृहस्थो के छह धार्मिक कर्तव्य हैं, जो कि प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करने चाहिए ॥ ४५४ ॥

देवपूजा की विधि

सज्जनो ने गृहस्थो के लिए देवपूजा के विषय मे छह धार्मिक क्रियाएँ कही है—पूर्व मे अभिषेक, पुन पूजन, पश्चात् भगवान् के गुणो का स्तवन, पुन पञ्चनमस्कार मन्त्र-आदि का जाप पश्चात् ध्यान और अन्त मे श्रुतदेवता की आराधना (स्तुति) । अर्थात्—इस क्रम से जिनेन्द्रदेव की आराधना करनी चाहिए ॥ ४५५ ॥

कल्याण-प्राप्ति के उपाय

आचार्यो की पूजा करना, देव, शास्त्र व गुरु की श्रद्धा, शास्त्रो मे कहे हुए मोक्षोपयोगी तत्वो का ज्ञान और शास्त्र-विहित क्रियाओ का आचरण ये सब कर्तव्य-समूह कल्याण की प्राप्ति करनेवाले हैं ॥ ४५६ ॥

---

* तथा च श्रीमत्समन्तभद्राचार्य —
'ज्ञान पूजा कुल जाति बलमृद्धि तपो वपु । अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया ॥ २५ ॥
स्मयेन योऽन्यानत्येति धमस्थान् गर्विताशय । सोऽत्येति धर्ममात्मीय न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥' —रत्नकरण्ड० ।

१ गर्वोद्रेक । २ निन्दया । ३ श्रुताराधनमित्यर्थ ।

शुचिर्विनयसपन्नस्त[1]नुचापलवर्जित । *अष्टदोषविनिर्मुक्तमधीता गुरुसनिधौ ।।४५७।।
अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु । अध्यात्मतत्त्वविद्याया पाठ स्वाध्याय उच्यते ।।४५८।।

शिष्य-कर्तव्य

अपने कल्याण के इच्छुक शिष्य को बाह्य व आभ्यन्तर शुद्धि से युक्त होकर शारीरिक चञ्चलता छोडते हुए विनयपूर्वक गुरु के समीप अष्ट दोषो (अकाल, अविनय, अनवग्रह, अबहुमान, निह्नव, अव्यञ्जन, अथविकल और अर्थव्यञ्जनविकल) को टालकर आगम का अध्ययन करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञान की आराधना के आठ दोष होते है। अकाल व अविनय-आदि। अकाल (सूर्य-ग्रहण-आदि मे पढना), अविनय (विनयपूर्वक अध्ययन न करना), अनवग्रह (पढे हुए आगम के विषय को अवधारण न करना), अबहुमान (गुरु का आदर न करना), निह्नव (जिनसे पढा है, उनका नाम छिपाना), अव्यञ्जन (शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिक को छोड जाना), अर्थविकल (शास्त्र का अर्थ ठीक न करना), और अर्थव्यञ्जन विकल (न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना) । साधु शिष्य को आचाय व उपाध्याय परमेष्ठी के पास इन आठ दोषो को टालकर आगम का अध्ययन व मनन-आदि करना चाहिए।

इसी प्रकार गुरु के पादमूल मे श्रुताभ्यास करनेवाले सज्जन शिष्य को विनयशील होना चाहिए। नीतिकार आचार्यश्री ने विनय के विषय मे कहा है—'व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरण विनयः ॥ ६ ॥ पुण्यावाप्ति शास्त्ररहस्यपरिज्ञान सत्पुरुषाधिगम्यत्व च विनयफलम् ॥ ७ ॥—नीतिवाक्यामृत पुरोहितसमुद्देश पृ० २११-२१२।' अर्थात्—व्रत-पालन—अहिसा, सत्य व अचौर्य-आदि सदाचार मे प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन व आयु मे बडे पुरुषो के साथ नमस्कारादि नम्रता का वर्ताव करना विनय गुण है। साराश यह है कि व्रती, विद्वान् व वयोवृद्ध माता-पिता-आदि पुरुष, जो कि क्रमश सदाचार-प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन व हित-चिन्तवन-आदि सद्गुणो से विभूषित होने से श्रेष्ठ है, उनकी विनय करना विनयगुण है। क्योकि व्रती महापुरुषो की विनय से पुण्यप्राप्ति, विद्वानो की विनय से शास्त्रो का वास्तविक स्वरूपज्ञान एव माता-पिता-आदि हितैषियो की विनय से शिष्ट पुरुषो के द्वारा सन्मान प्राप्त होता है। इसी प्रकार शिष्य-कर्तव्य का निर्देश करते हुए आचार्यश्री ने कहा है—'अध्ययनकाले व्यासङ्ग पारिप्लवमन्यमनस्कता च न भजेत् ॥ १८ ॥—नीतिवाक्यामृत पुरो० पृ० २१३। अर्थात्—शिष्य को विद्याध्ययन करने के सिवाय दूसरा कार्य, शारीरिक व मानसिक चपलता तथा चित्तप्रवृत्ति को अन्यत्र ले जाना ये कार्य नही करना चाहिए, क्योकि ऐसा करनेवाला शिष्य मूर्ख रह जाता है ॥ ४५७ ॥

स्वाध्याय का स्वरूप

चार अनुयोगो (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग) के शास्त्र तथा गुणस्थान (मिथ्यात्व-आदि) और मार्गणास्थान (गति व इन्द्रिय-आदि चौदह मार्गणास्थान) के निरूपक शास्त्रो का एव अध्यात्मतत्वविद्या का यथाविधि पढना स्वध्याय है। ॥ ४५८ ॥

---

१ शरीर। * '१ अकाल, २ अविनय, ३ अनवग्रह, ४. अबहुमान, ५ निह्नव, ६. अव्यञ्जन, ७ अर्थविकल, ८. अर्थव्यञ्जनविकल इत्यष्टौ दोषा' टि० ख०। 'अकालाध्ययनादि' टि० घ०।

गृही यत स्वसिद्धान्त साधु बुध्येत धर्मधी । [1]प्रथम सोऽनुयोग स्यात्पुराणचरिताश्रय ॥४५९॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् । [2]शास्त्र करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥४६०॥
ममेद स्यादनुष्ठान तस्याय रक्षणक्रम । इत्थमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणाश्रित [3] ॥४६१॥
जीवाजीवपरिज्ञान धर्माधर्मावबोधनम् । बन्धमोक्षज्ञताचेति फल द्रव्यानुयोगत [4] ॥४६२॥
[5]जीवस्थान[6]गुणस्थान[7]मार्गणास्थानगो विधि । चतुर्दशविधो बोध्य स प्रत्येक यथागमम् ॥४६३॥

प्रथमानुयोग का स्वरूप

धर्म-बुद्धि गृहस्थ जिससे अपना सिद्धान्त भलीभाँति जानता है, वह प्रथमानुयोग है, जो कि पुराण के आधारवाला और चरित के आधारवाला है, अर्थात्—जिसमे चौवीस तीर्थङ्कर-आदि तिरेसठ शलाका के पूज्य महापुरुषो का चरित्र अथवा किसी एक पूज्य पुरुष का चरित्र उल्लिखित होता है ॥ ४५९ ॥

करणानुयोग का स्वरूप

अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक मे पाई जानेवाली चारो गतियो का विचार जिसमे किया गया हो उसको विद्वानो ने करणानुयोग कहा है। यह दूसरे अनुयोगो की परीक्षा करनेवाला है ॥ ४६० ॥

चरणानुयोग का स्वरूप

यह मेरा अणुव्रत व महाव्रतात्मक कर्तव्य कर्म (आचरण) है और उसके सरक्षण व सबर्धन का यह क्रम है, अर्थात्—अतीचारो के त्याग से व्रतो का सरक्षण होता है और भावनाओ से व्रत वृद्धिगत होते है, इसप्रकार आत्मा के चरित्र का निरूपण जिसमे किया गया हो, वह चरणानुयोग है ॥ ४६१ ॥

द्रव्यानुयोग का स्वरूप

द्रव्यानुयोग से विवेकी पुरुष को जीव और अजीव द्रव्य का ज्ञान होता है, धर्म, अधर्म, बन्ध एव मोक्षतत्व का ज्ञान होता है ॥ ४६२ ॥

जीवसमास-आदि जानने योग्य तत्व

जीवसमास (एकेन्द्रिय-आदि), गुणस्थान (मिथ्यात्व-आदि) व मार्गणास्थान (गति व इन्द्रिय-

---

१–४ तथा चाह स्वामी समन्तभद्राचार्य —
प्रथमानुयोगमर्थाख्यान चरित पुराणमपि पुण्यम् । बोधिसमाधिनिधान बोधति बोध समीचीन ॥४३॥
लोकालोकविभक्तेयु गपरिवृत्तेश्चतुर्गतीना च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोग च ॥४४॥
गृहमेध्यनगाराणा चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् । चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति ॥४५॥
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीप श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥ —रत्नकरण्ड० ।
५ बादरसुहुमेइन्दिय वितिचउरिन्दिय असण्णिसण्णीय । पज्जत्ताऽपज्जत्ता भूदा इदि चउदसा होति । अर्थात्— एकेन्द्रिया सूक्ष्मबादरभेदेन द्विविधा, विकलेन्द्रियास्त्रय, पचेन्द्रिया सज्ञिनोऽसज्ञिनश्च । एते सप्त पर्याप्तेतरभेदेन चतुर्दशजीवस्थानानि भवन्ति । ६ मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली व अयोगकेवली, इति चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्ति । ७ गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञि, आहारक भेदेन चतुर्दश मार्गणास्थानानि भवन्ति ।

[1]आदित पञ्च तिर्यक्षु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनो । गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥४६४॥

[2]अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तप स्मृतम् । तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदित जिनै ॥४६५॥

अन्तर्बहिर्मलप्लोषा[3]दात्मन शुद्धिकारणम् । शारीर मानस कर्म तप प्राहुस्तपोधना ॥४६६॥

कषायेन्द्रियदण्डाना विजयो व्रतपालनम् । सयम सयतै प्रोक्त श्रेय श्रयितुमिच्छताम् ॥४६७॥

आदि) प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद है, इनका स्वरूप आगमो से जानना चाहिए ।

भावार्थ—जीवसमास के चौदह भेद है—एकेन्द्रिय सूक्ष्म व बादर, दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सैनी पचेन्द्रिय व असैनी पचेन्द्रिय । ये सातो पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चौदह होते है, इसप्रकार जीवसमास के चौदह भेद है ।

इसीतरह गुणस्थान भी चौदह है—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली व अयोगकेवली । जिनमे ससारी जीव अन्वेषण किये जाते है, उन्हे, मार्गणास्थान कहते है । उनके भी चौदह भेद है—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहार मार्गणा ॥ ४६३ ॥

चारो गतियों में होनेवाले गुणस्थान

तियञ्चगति मे तिर्यञ्चो के शुरु से पाँच गुणस्थान होते है । नरकगति के नारकियो मे और देवगति के देवो मे पहले के चार गुणस्थान होते है और मनुष्यो मे सभी चौदह गुणस्थान होते है ॥ ४६४ ॥

तप का स्वरूप

अपनी शक्ति न छिपानेवाले विवेकी मानव द्वारा जो काय-क्लेश (शारीरिक कष्ट) किया जाता है, उसे तप कहा गया है, किन्तु वह जैनमार्ग के अनुकूल होने से ही गुणकारक होता है, यह जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥ ४६५ ॥ अथवा तपोनिधियो ने ऐसी शारीरिक क्रिया (उपवास-आदि) व मानसिक क्रिया (प्रायश्चित्त-आदि) को तप कहा है, जो कि अन्तरङ्ग (रागादि) व वहिरङ्ग मल के सन्ताप से सन्तप्त हुई आत्मा की शुद्धि मे कारण है ॥ ४६६ ॥

सयम का स्वरूप

कषायो का निग्रह, इन्द्रियो का जय, मन, वचन व काय की कुटिल प्रवृत्ति का त्याग तथा अहिसादि

१ तथा चाह पूज्यपाद —'गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति । तिर्यग्गतौ तान्येव सयतासयतस्थानाधिकानि सन्ति । मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति । देवगतौ नारकवत् ।'
—सर्वार्थसिद्धि सूत्र ८ (सत्सख्या०) पृ० १२ ।

२. तथा चाह पूज्यपाद —'अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तप ' ।
—सर्वार्थसिद्धि अ० ६ सूत्र २४ पृ० १९७ ।

तथा च श्रीमद्विद्यानन्दिआचार्य —'अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधत । कायक्लेश समाख्यात विशुद्ध शक्तितस्तप ॥ ९ ॥—तत्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० ४५६ । ३ दाहात् ।

अस्यायमर्थ —कषन्ति सतापयन्ति दुर्गतिसङ्गसपादनेनात्मानमिति कषाया[1] क्रोधादय । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादय[2] कषाया कालुष्यकारिण , तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषाया । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोपायानुष्ठानमशुभपरिणामजनन वा क्रोध । विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभि पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मान । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु वित्तस्य महान्ममेद भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सतोषोऽसतोषो वा लोभ ।

व्रतो का पालन करना इसे सयमी आचार्यो ने सयम कहा है, यह सयम धर्म शाश्वत कल्याण-प्राप्ति के इच्छुक (मोक्षाभिलाषी) साधुजनो के होता है ॥ ४६७ ॥

[अब इसका स्पष्ट विवेचन करते है—]

जो आत्मा को दुर्गति मे लेजाकर दु खित करती है, उन्हे (क्रोधादि को) कषाय कहते है । अथवा जैसे वटवृक्ष-आदि के कसैले रस विशुद्ध वस्तु को कलुषित (मलिन) करनेवाले है वैसे ही क्रोधादि कषाय भी विशुद्ध आत्मा को कलुषित (मलिन) करने मे कारण है, अत कसैले रस-सरीखी होने के कारण इन्हे कषाय कहते है । वे कषाय चार प्रकार की है—क्रोध, मान, माया व लोभ ।

क्रोध—अपने या दूसरो के अपराध से अपना या दूसरो का नाश (घात) होना या नाश करना क्रोध है, अथवा अशुभभावो का उत्पन्न होना क्रोध है । मान—विद्या, विज्ञान व ऐश्वर्य-आदि के घमण्ड मे आकर पूज्य पुरुषो की पूजा का उल्लङ्घन करना, अर्थात्—उनका आदर-सत्कार न करना मान है । अथवा युक्ति दिखा देनेपर भी अपना दुराग्रह नही छोडना मान है ।

माया—दूसरो को धोखा देने के अभिप्राय से अथवा अपनी कीर्ति, आदर-सत्कार और धनादि की प्राप्ति के अभिप्राय से मन, वचन व काम की कुटिल प्रवृत्ति करना माया है ।

लोभ—चेतन स्त्री पुत्रादिक मे और अचेतन धन व धान्यादि पदार्थो मे 'ये मेरे है' इसप्रकार की चित्त मे उत्पन्न हुई विशेष तृष्णा को लोभ कहते है । अथवा इन पदार्थो की वृद्धि होने पर जो विशेष सन्तोष होता है और इनके विनाश होने पर जो महान् असन्तोष होता है उसे लोभ कहते है ।

कषायों के भेद

इसप्रकार ये चार कषाय है । इनमे से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ है—अनन्तानुबन्धिक्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ।

---

१ तथा चाह श्रीपूज्यपाद —'कषाया क्रोधमानमायालोभा । तेषा चतस्रोऽवस्था अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति । अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्त तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्देशविरति सयमासयमाख्यामल्पामपि कतु न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणा 'क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्विरति कृत्स्ना सँयमाख्या न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यानमावृण्वन्त प्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । समेकीभावे वर्तते । सयमेन सहावस्थानादकीभूय-ज्वलन्ति सयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति सज्वलना क्रोधमानमायालोभा । –सर्वार्थसिद्धि अ० ८-९ पृ० २२७-२२८ ।

२ निग्रोधस्येमे नैयग्रोधा वटजा ।

सम्यक्त्व घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायका । अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिन ॥४६८॥
प्रत्याख्यानस्वभावा स्यु [1]सयमस्य विनाशका । चारित्रे तु यथाख्याते कुर्यु सज्वलना क्षतिम्[2] ॥४६९॥
पाषाणभूरजोवारिलेखा[3]प्रख्यत्वभाग्भवन् । क्रोधो यथाक्रम गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम ॥४७०॥
शिलास्तम्भास्थि[4]सार्द्रैध्म वेत्रवृत्तिर्द्वितीयक । अथ पशुनरस्वर्गगतिसगतिकारणम् ॥४७१॥
वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रैश्चामरै समा । माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥४७२॥
त्रिमिनीलीवपुर्लेपहरिद्रारागसन्निभ । लोभ कस्य न सजातस्तद्वत्ससारकारणम् ॥४७३॥

कषायों का स्वरूप

इनमे से जो सम्यक्त्व गुण का घात करती है, अर्थात्—सम्यग्दर्शन को नही होने देती, उन्हे अनन्तानुबन्धि कषाय कहते है। जो सम्यक्त्व का घात न कर श्रावको के देशव्रत (एकदेश चारित्र) को नष्ट करती है, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। जो कषाय सम्यग्दर्शन व देशव्रत को न घातकर मुनियो के सर्वदेश चारित्र को घातती है, उन्हे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है एव जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्र को नही होने देती वे सज्वलन कषाय है॥ ४६८–४६९ ॥

शक्ति की अपेक्षा कषायों के भेद

चारो क्रोध-आदि कषायो मे से प्रत्येक के शक्ति की अपेक्षा से भी चार-चार भेद है। पत्थर की लकीर सरीखा क्रोध, पृथिवी की लकीर-सा क्रोध, धूलिकी लकीर-सा क्रोध और जलकी लकीर-सा क्रोध। इनमे से पत्थर की लकीर-सरीखा उत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध जीव को नरकगति मे ले जाता है। पृथिवी की रेखा-सा क्रोध जीव को तिर्यञ्च गति मे ले जाता है। धूलि की रेखा-जैसा क्रोध जीव को मनुष्यगति मे ले जाता है और जलरेखा-सा जघन्य शक्तिवाला क्रोध जीव को देवगति मे ले जाता है॥ ४७० ॥

मान कषाय के भी शक्ति की अपेक्षा चार भेद है—पत्थर के खम्भे के समान, हड्डी के समान, गीली लकडी के समान और वेत के समान। जैसे पत्थर का खम्भा कभी नही नमता वैसे ही जो मान जीव को कभी विनीत नही होने देता, वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान जीव को नरक-गति मे जाने का कारण है। हड्डी-जैसा मान जीव को तिर्यच गति मे ले जाने का कारण है। थोडे समय मे नमने-योग्य गीली लकडी-जैसा अनुत्कृष्ट शक्ति वाला मान जीव को मनुष्य गति मे उत्पन्न होने का कारण है और जल्दी नमने-लायक वेत-सरीखा मान जीव को देवगति मे ले जाने का कारण है॥४७१॥

इसी तरह बाँस की जड, बकरी के सीग, गोमूत्र और चामरो-जैसी माया क्रमश चारो गतियो मे उत्पन्न कराने मे निमित्त होती है। अर्थात्—जैसे बाँस की जड मे बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ होती है वैसे ही प्रचुर छल-छिद्रो वाली व उत्कृष्ट शक्ति वाली माया जीव को नरकगति की कारण है। बकरी के सीगो-सरीखी कुटिल माया तिर्यञ्चगति की कारण है और गोमूत्र-जैसी कम कुटिल माया मनुष्यगति की कारण है और और चामरो-सरीखी माया देवगति की कारण है॥ ४७२ ॥

किरमिच के रग, नील के रग, शरीर के मल और हल्दी के रग-सरीखा लोभ शेष कषायो की तरह किस जीव के ससार का कारण नही होता? अर्थात्—किरमिच के रग-जैसा पक्का तीव्र लोभ नरकगतिरूप

१ दीक्षाया। २ विनाश। ३ सदृश। ४ सार्द्रं काष्ठ।

किं च । यथौषधक्रिया रिक्ता रोगिणोऽपथ्यसेविन । क्रोधनस्य तथा रिक्ता. समाधिश्रुतसयमा ॥४७४॥
[1]मानदावाग्निदग्धेषु [2]मदोषरकषायिषु । नृद्रुमेषु प्ररोहन्ति न सच्छायोचिताङकुरा ॥४७५॥
यावन्मायानिशालेशोऽप्यात्माम्बुषु कृतास्पद । न प्रबोधश्रिय तावद्धत्ते चित्ताम्बुजाकर [3] ॥४७६॥
लोभ[4]कीकसचिह्नानि चेत स्रोतासि दूरत । गुणा[5] धन्यास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिव ॥४७७॥
तस्मान्मनोनिकेतेऽस्मिन्निद शल्यचतुष्टयम । यतेतोद्धर्तुमात्मज्ञ क्षेमाय शमकीलकै ॥४७८॥
षट्स्वर्थेषु विसर्पयन्ति स्वभावादिन्द्रियाणि षट् । तत्स्वरूपपरिज्ञानात्प्रत्यावर्तेत सर्वदा ॥४७९॥

ससार का कारण है। नील के रग जैसा लोभ तिर्यञ्चगति का कारण है और शरीर के मल-जैसा लोभ मनुष्यगति का कारण है एव हल्दी के रग-सरीखा लोभ देवगति का कारण है ॥४७३॥

क्रोध का दुष्परिणाम

जिसप्रकार अपथ्यसेवी रोगी का औषधि-सेवन व्यर्थ है उसीप्रकार क्रोधी मानव के धर्मध्यान, श्रुताभ्यास व सयम निष्फल (व्यर्थ) है ॥ ४७४ ॥

मान से हानि

मानरूपी दावानल अग्नि से भस्म हुए और मदरूपी खारी मिट्टी से कषायले रस वाले मनुष्यरूपी वृक्षो से प्रशस्त कान्तिवाले नये अकुर नही ऊँगते। अर्थात्—जैसे दावानल अग्नि से जले हुए व खारी मिट्टी से कषायले रसवाले वृक्षो से प्रशस्त कान्तिवाले अकुर नही ऊँगते वैसे ही घमण्डी व अहङ्कारी मानव से सद्गुण प्रकट नही होते ॥ ४७५ ॥

माया से हानि

जबतक जीवरूपी जलराशि मे माया (छलकपट) रूपी रात्रि का लेशमात्र भी निवास रहता है तबतक उसका मनरूपी कमल-समूह विकास-लक्ष्मी को धारण नही करता ॥ ४७६ ॥

लोभ से हानि

जैसे पथिक लोक मे गडी हुई हड्डियो के चिन्होवाली चाण्डालो की सरसी (तलैया) दूर से छोड देते है वैसे ही प्रशस्त ज्ञानादि गुण, लोक मे लोभरूपी हड्डियो के चिन्होवाले मानवो के चित्तरूपी झरनो को दूर से छोड देते है। अर्थात्—लोभी के समस्त गुण नष्ट हो जाते है ॥ ४७७ ॥

मनुष्य-कर्तव्य

अत आत्मज्ञानी पुरुष को अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए सयमरूपी कीलो द्वारा अपने मनरूपी गृह से इन क्रोध, मान, माया व लोभरूपी चारो शल्यो को निकालने का यत्न करना चाहिए ॥४७८॥ छह इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र व मन) स्वभाव से ही अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्त होती है, अत उन विषयो के स्वरूप को जानकर सदा इन्द्रियो को उनके विषयो से पराड्मुख करनी चाहिए। अर्थात्—

१-२ तथा चाह सोमदेवसूरि—'दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहण वा मान ॥ ५ ॥ कुलवलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहकारकरण परप्रकर्षनिबन्धन वा मद ॥ ६ ॥ —नीतिवाक्यामृत हमारी भाषाटीका अरिषड्वर्गसमुद्देश पृ० ६१ ।
३ कमलसमूह । ४ अस्थि । ५ पथिका ।

आपाते सुन्दरारम्भैर्विपाके विरसक्रियैः । [1]विषैर्वा विषयैर्ग्रस्ते[2] कुतः कुशलमात्मनि ॥४८०॥
दुश्चिन्तनं दुरालापं दुर्व्यापारं च नाचरेत् । व्रती व्रतविशुद्धयर्थं मनोवाक्कायसंश्रयम् ॥४८१॥
अभङ्गानतिचाराभ्यां गृहीतेषु व्रतेषु यत् । रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेद्व्रतपालनम् ॥४८२॥
वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् । नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥४८३॥

[3]दृष्टानुश्राविक[4]विषय[5]वितृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमानागमानुभूतपदार्थविषया [6]सप्रमोषस्वभावा स्मृतिः तत्त्वविचिन्तनं । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधानानि यमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा नियमाः ।

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

इन्द्रियों को उनके विषयों में फँसने से बचाना चाहिए ॥ ४७९ ॥ जब आत्मा ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ग्रस्त (व्याकुल या फँसी हुई) होती है, तो उस आत्मा को कल्याण की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? जो कि विष-सरीखे तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं, अर्थात्—जैसे विष भक्षणकाल में मिष्ट प्रतीत होता है वैसे ही इन्द्रियों के विषय भी तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं और जो फलकाल में वैसे नीरस क्रियावाले (दुर्गति के दुःख देनेवाले) हैं जैसे भक्षण किया हुआ विष उत्तरकाल में नीरस (घातक) होता है ॥ ४८० ॥

व्रती कर्तव्य

व्रती पुरुष को अपने व्रतों को विशुद्ध रखने के लिये दुष्ट मन के आधार से दूसरे का बुरा चिन्तवन नहीं करना चाहिये। वचन के आधार से असत्य, निन्दा व कलहकारक वचन नहीं बोलना चाहिये और शरीर के आश्रय से बुरी चेष्टा (हिंसा व चोरी-आदि) नहीं करनी चाहिए ॥ ४८१ ॥

व्रती द्वारा जो व्रत ग्रहण किये गये हैं, उनमें न तो अतिचार लगाना चाहिए और न व्रतों को खण्डित करना चाहिए। इसप्रकार से जो व्रतों की रक्षा की जाती है उसे ही व्रतों का पालन कहा जाता है ॥४८२॥ व्रती को सदा वैराग्य की भावना करनी चाहिए। सदा तत्वों का चिन्तवन करना चाहिए और यम (बाह्य व आभ्यन्तर शौच-आदि) व नियमों (अहिंसा-आदि) के पालन में सदा प्रयत्न करना चाहिए ॥४८३॥

वैराग्य-आदि का स्वरूप

प्रत्यक्ष से देखे हुए (राज्यादि वैभव) व आगम में निरूपण किये हुए (स्वर्गादि भोगों) की लालसा से रहित हुए साधु या श्रावक का मन को वश करना वैराग्य है। प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण से जाने हुए पदार्थों का ऐसा स्मरण करना तत्वचिन्तन है, जो कि उल्लंघन करने के लिए अशक्य स्वभाववाला है। बाह्य व आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और ध्यान को यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये नियम हैं।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में प्रकीर्णकविधि नामका छियालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१ विषैर्वा विषैरिव। २ आस्वादितैः भक्षितैः। ३ दृष्टा स्वयमुपलब्धा। ४ 'अनुश्रवे भवमनुश्राविकं श्रुतमित्यर्थः' टि० ख० च०। 'अनुश्रविकं आगमः' प०। ५ विषयाः स्वर्गादिसंभवाः। ६ अनुल्लंघनीयस्वभावा।

इत्येष गृहिणा धर्म प्रोक्त क्षितिपतीश्वर[1]। यतीना तु श्रुताज्ज्ञेयो मूलोत्तरगुणाश्रय ॥४८४॥
इत्थ [2]मुने[3]द्वितयधर्मकथावतार श्रुत्वा तदर्भकयुगाचरणप्रचारम् ।
जग्राह धर्ममुचित[4] भवभाववृत्ते[5]। सा देवता स नृपति स च पौरलोक[6] ॥४८५॥

मुनिकुमारयुगलमपि क्रमेण व्यतिक्रान्तबालकाल [7]सुधाशनवेश्माधिरोहण [8]यतिवि[9]रतिवेषभाषितानल्प-विकल्पतप प्रासादकलशाधिरोहणमतिचिर चरित्रमाचर्य

अभयरुचिरवाप्तसानुज[10]स्तत्र देवी वनरहसि[11] विधाय प्रायमैशानकल्पम् ।
धृतयतिपतिवृत्तो मारदत्तोऽपि भूप समभजत तथैव स्वर्गलक्ष्मीविलासम् ॥४८६॥
[12]रत्नद्वयेन समलङ्कृतचित्तवृत्ति सा देवतापि [13]गणिनो [14]महमाचरय्य ।
द्वीपान्तर[15]द्युनगजातजिनेन्द्रसद्म[16]वन्दारुतानुमतकामपरायणाभूत् ॥४८७॥

इसप्रकार हे मारिदत्त महाराज! हमने यह गृहस्थ-धर्म कहा और मूलगुण व उत्तरगुणोवाला मुनिधर्म आगम से जानना चाहिए ॥ ४८४ ॥

प्रकरण—इसप्रकार उस चण्डमारी देवी, मारिदत्त महाराज और नगरवासी जनो ने सुदत्ताचार्य से श्रावक व मुनिधम विषयक व कथाओ के अवतरण-वाले और दोनो शिशुओ (अभयरुचि क्षुल्लक व उनकी बहिन अभयमति क्षुल्लिका) के आचरण के प्रचारवाले धर्म को सुनकर अपनी पर्याय व परिणामो के अनुसार योग्य धर्म ग्रहण किया। अर्थात्—चण्डमारी देवी ने अपनी देवपर्याय के योग्य सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और मारिदत्त राजा व नगरवासी मानवो ने अपनी मनुष्यपर्याय के योग्य सम्यग्दशन व श्रावकधर्म ग्रहण किया ॥४८५॥

उस क्षुल्लक जोडे ने भी क्रम से कुमारकाल व्यतीत करते हुए चिरकालतक ऐसा चारित्र (मुनिधर्म व आयिका-धर्म) पालन किया, जो कि स्वर्गलोक मे स्थापित करनेवाला है और जो मुनिवेष (दिगम्बरमुद्रा) व आर्यिकावेष मे कहे हुए अनेक भेदोवाले तपरूपी महल पर कलश स्थापित करनेवाला है।

अपनी छोटी बहिन (अभयमति क्षुल्लिका) सहित अभयरुचि क्षुल्लक ने उस चण्डमारी देवी के वन के एकान्त स्थानपर यथाविधि समाधिमरण करके ऐशानकल्प नामका दूसरा स्वर्ग प्राप्त किया और श्री सुदत्ताचार्य से धर्म श्रवण करके श्रावक धर्म धारण करनेवाले मारिदत्त राजा ने भी उसी तरह स्वर्ग-लक्ष्मी का विलास प्राप्त किया ॥ ४८६ ॥

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूपी दोनो रत्नो से विभूषित मनोवृत्तिवाली चण्डमारी देवी ने भी श्री सुदत्ताचार्य की पूजा की और वह ऐसे जिन-चैत्यालयो की वन्दना करने की अनुमति-युक्त इच्छा मे तत्पर हुई, जो कि दूसरे धातकी खण्ड-आदि द्वीपो पर व सुमेरुपर्वत पर अथवा ज्योतिषी-आदि देव विमानो मे स्थित है, ॥ ४८७ ॥

---

१ हे मारदत्तमहाराज!। २ सुदत्तसूरे। ३ श्रावकयतिगोचर। ४ जन्मस्वभावदेवता उचित। ५ भवे सम्यक्त्व योग्य, मनुजभवे सम्यक्त्व व्रत च। ६ धम जग्राह। ७ 'स्वगलोक' टि० ख०। 'सुधाशना देवा' प०। ८ मुनि। ९ आर्या। १० भगिनीसहित। ११ एकान्ते। १२ दशनज्ञान। १३ श्रीसुदत्तस्य। १४ मह पूजा कृत्वा। १५ 'ज्योतिरादिविमानस्थितचैत्यालय'। 'पवतस्थिति' टि० ख० च०। 'द्युनगो मेरु' प०। १६ वन्दारोभवि।

ध्यान [1]सिद्धिगिरौ विधाय स मुनि सम्यक्सुदत्ताह्वय कल्पे लान्तवनाम्न्यजायत सुर सर्वामरग्रामणी ।
अन्ये ये च यशोमतिप्रभृतयस्तेऽपि प्रक्लृप्तव्रता [2] सजातास्त्रिदशेश्वरा सुकृतिभि सकीर्त्यमानश्रिय ॥४८८॥
जयतु जगदानन्दस्यन्दी [3] जिनोक्तिसुधारसस्तदनु जयतात्कामाराम [4] सता फलसगमै ।
जयतु [5]कवितादेवी शश्वत्ततश्च [6]यदाश्रया [7]त्कृतिमतिरिय सूते सूक्त जगतत्रयभूषणम् ॥४८९॥
[8]अभिधाननिधानेऽस्मिन्यशस्तिलकनामनि । यशोधरमहाराजचरिते स्तान्मति सताम् ॥४९०॥
एतामष्टसहस्रीमजस्रमनुपूर्वश कृती *विमृशन् । [9]कविता[10]रहस्यमुद्रामवाप्नुयादासमुद्रग च यश ॥४९१॥
श्रीमानस्ति स देवसङ्घतिलको देवो यश पूर्वक [11] शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्रीनेमिदेवाह्वय ।
तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनवते[12]र्जेतुर्महावादिना शिष्योऽभूदिह सोमदेव यतिपस्तस्यैष काव्यक्रम ॥४९२॥
विद्याविनोदवनवासितहृच्छुकेन[13] पुस्त व्यलेखि विलसल्लिपिरच्छुकेन[14] ।
श्रीसोमदेवरचितस्य यशोधरस्य सल्लोकमान्यगुणरत्नमहीधरस्य ॥४९३॥

श्री सुदत्ताचार्य ने सिद्धिगिरि (सिद्धवर कूट) पर भलीभाँति धमध्यान किया, जिससे वे लान्तव नाम के साँतवे स्वर्ग मे समस्त देवो के नेता देव हुए। सुदत्ताचार्य से व्रतधारण करनेवाले दूसरे यशोमति कुमार-आदि, पुण्यवानो द्वारा कीर्तन की जानेवाली लक्ष्मीशाली देवेन्द्र हुए ॥ ४८८ ॥

ग्रन्थकार की कामना

तीन लोक के लिए यथार्थ सुख का क्षरण करनेवाला जिनागमरूपी अमृतरस जयवन्त हो। इसके बाद सज्जनो का मनोरथरूपी वन अपनी फल-प्राप्ति के साथ जयवन्त हो। पश्चात् सरस्वती देवो अथवा कवित्व शक्ति सदा जयवन्त हो, जिसके आश्रय से यह कवि की बुद्धि (श्रीमत्सोमदेवसूरि की प्रतिभा) ऐसे सुभाषित रस (यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य रूपी अमृत) का प्रसव (उत्पत्ति) करती है, जो कि तीन लोक का आभूषण है ॥ ४८९ ॥

सुभाषितो की निधिवाले इस 'यशस्तिलकचम्पू' नामके महाकाव्य मे, जिसका दूसरा नाम 'यशोधर-महाराज चरित' भी है, सज्जनो की बुद्धि प्रवृत्त हो ॥ ४९० ॥

अष्टसहस्री नामवाले (आठ हजार श्लोक परिमाणवाले) इस यशस्तिलक महाकाव्य को निरन्तर आचार्यपरम्परा का अनुसरण करके विचार करनेवाला विद्वान् कवितारूपी स्त्री का भोग प्राप्त करता है अथवा कविता के गूढतत्व का विश्वास प्राप्त करता है और अपनी कीर्ति को समुद्र पर्यन्त विस्तारित करता है ॥४९१॥

ग्रन्थ कर्ता की प्रशस्ति

देवसघ के आभूषण श्रीमान् 'यशोदेव' नाम के आचार्य थे, उनके शिष्य प्रशस्त सम्यग्ज्ञानादि गुणो की निधि श्रीनेमिदेव नामके आचार्य थे। आश्चर्यकारिणी तप की मर्यादावाले और तेरानवे वार महावादियो पर विजयश्री प्राप्त करनेवाले उस नेमिदेव आचार्य के शिष्य, श्रीमत् सोमदेवसूरि द्वारा, जो कि गङ्गधारा नगरी मे हुए है, रचा हुआ यह 'यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य है ॥ ४९२ ॥

१ रे वाणङम्मितीरे पच्छिमभावम्मि सिद्धवरकूटे। दो चक्की दहकप्पे आहुडकोडिनि वुद वदे ॥ २ समर्थितव्रता । ३ स्रवण क्षरन् । ४ अभिलाषवन । ५ सरस्वती कवित्वशक्तिर्वा । ६ कविता । ७ कवेर्मति । ८ सुभाषित । * विचारयन् । ९ कविता एव स्त्री । १० भोग । ११ यशोदेव । १२ ९३ । १३ चित्तकीरेण । १४ नाम्ना लेखकेन ।

अपि च । यस्याक्षरावलिरधीरविलोचनाभि[1]राकाङ्क्ष्यते मदनशासनलेखनेषु ।
तस्मै [2]विवेकिषु न यच्छति रच्छुकाय को नाम लेखकशिखामणिनामधेयम् ॥४९४॥

शकनृपकालातीतसवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु (अङ्कत ८८१) सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्या **पाण्डय-सिंहल-चोल-चेरम**प्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य **मल्याटी**प्रवर्धमानराज्यप्रभावे **श्रीकृष्णराजदेवे** सति तत्पादपद्मोपजीविन समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्**चालुक्य**कुलजन्मन सामन्तचूडामणे **श्रीमदरिकेसरिण** प्रथमपुत्रस्य **श्रीमद्वागराजस्य** लक्ष्मीप्रवर्धमान[3]वसुधाराया[4] **गङ्गाधाराया** विनिर्मापितमिद काव्यमिति ।

सकलतार्किकलोकचूडामणे श्रीमन्**नेमिदेव**भगवत शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते **यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलका**परनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वास ।

[अब लेखक का परिचय देते है—]

श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा रचे गए और सज्जन-समूह द्वारा प्रशसनीय गुणरूपी रत्नो की उत्पत्ति के लिए पर्वत-सरीखे 'यशोधरमहाराजचरित' की सुन्दर लिपिवाली पुस्तक (शास्त्र) ऐसे 'रच्छुक' नामके लेखक द्वारा लिखी गई है, जिसका हृदय रूपी तोता विद्या की लीलारूपी वन से सुगन्धित है ॥ ४९३ ॥

उस लेखक की विशेषता यह है—

जिसकी अक्षर-पङ्क्ति चञ्चल नेत्रोवाली कमनीय कामिनियो द्वारा कामदेव के शासन लिखने मे आकाक्षा की जाती है, ऐसे उस 'रच्छुक' नाम के लेखक के लिए विद्वानो के मध्य मे कौन सा विद्वान् 'समस्त लेखक-शिरोमणि' नामकी पदवी प्रदान नही करता ? ॥ ४९४ ॥

ग्रन्थकर्ता का समय व स्थान

शक सवत् ८८१ (विक्रम सवत् १०१६) की सिद्धार्थसवत्सर (वीरसवत्) के अन्तर्गत चैत्रमास की मदनत्रयोदशी (शुक्लपक्ष की त्रयोदशी) मे, जब [राष्ट्रकूट या राठौर वश के महाराजा] श्री **कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) पाण्डच, सिंहल, चोल** व **चेरम** वगैरह राजाओ पर विजयश्री प्राप्त करके अपना राज्यप्रभाव (सैनिकशक्ति) **मल्याटी (मेलपाटी)** नामक सेना-शिविर मे वृद्धिगत कर रहे थे, तब उनके चरणकमलो का आश्रय करनेवाला चालुक्यवशज ऐसा **अरिकेसरि** नामक सामन्त राजा था, जो कि सामन्त-राजाओ मे चूडामणि-सा श्रेष्ठ है और जो पचमहाशब्दो ? का निश्चय करनेवाले महासामन्तो का अधिपति है, उसके वागराज (वद्दिग) नाम के ज्येष्ठ पुत्र की राजधानी **गगाधारा** नाम की नगरी मे, जिसमे लक्ष्मी की कृपा से द्रव्य-प्रवाह वृद्धिगत हो रहा है, यह **यशस्तिलकचम्पू'** महाकाव्य रचा गया ।

इसप्रकार समस्त दार्शनिक विद्वत्समूह मे चूडामणि-सरीखे सर्वश्रेष्ठ श्रीमत्पूज्य नेमिदेव आचार्य के शिष्य ऐसे श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा, जिनके चरणकमल तत्कालीन निर्दोष गद्य-पद्य काव्यो के रचयिता विद्वत्समूह के चक्रवर्तियो के मस्तक पर अलङ्कार रूप से शोभायमान है, रचे हुए 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य मे, जिसका दूसरा नाम 'यशोधरमहाराजचरित है, धर्मामृतवर्षमहोत्सव नाम का यह आठवाँ आश्वास पूर्ण हुआ ।

---

१ स्त्रीभि । २ विवेकिषु मध्ये । ३ द्रव्य । ४ नाम नगर्याम् ।

वर्णं पदं वाक्यविधिः समासो लिङ्गं क्रिया कारकमन्यतन्त्रम् ।
छन्दो रसो रीतिरलङ्क्रियार्थो लोकस्थितिश्चात्र चतुर्दश स्युः ॥४९५॥

इस महाकाव्य में निम्न प्रकार चौदह वस्तुएँ पाई जाती हैं, वर्ण, पद, वाक्य (पद-समूह), समास, लिङ्ग, क्रिया, कारक (क्रिया से अन्वय रखने वाला), अन्य तन्त्र (अन्य शास्त्रों के सिद्धान्त), छन्द (अनुष्टुप्-आदि), रस (शृङ्गार-आदि), रीति, अलङ्कार, अर्थ (वाच्यार्थ) और लोकव्यवहार-पटुता (नीतिशास्त्र) ॥४९५॥

इसप्रकार दार्शनिक-चूडामणि श्रीमदम्बादास शास्त्री, श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक
गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्य-
विभाग के अध्यक्ष, 'न्यायाचार्य' 'साहित्याचार्य' व कवि-चक्रवर्ती श्रीमत्मुकुन्दशास्त्री
खिस्ते के प्रधानशिष्य, 'नीतिवाक्यामृत' के अनुसन्धानपूर्वक भाषाटीकाकार,
सम्पादक व प्रकाशक, जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ,
आयुर्वेदविशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित,
सागर निवासी व परवार जैन जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री
द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेव सूरि के 'यशस्तिलकचम्पू'
महाकाव्य की 'यशस्तिलक दीपिका' नामकी
भाषाटीका में 'धर्मामृतवर्ष महोत्सव
नामका अष्टम आश्वास समाप्त हुआ ।

इति भद्रं भूयात्--



अन्त्य मङ्गल व आत्म-परिचय

जो है सत्यमार्ग का नेता, अरु रागादि-विजेता है।
जिसकी पूर्णज्ञान रश्मि से, जग प्रतिभासित होता है॥
जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अनुवाद रचाया है।
ऐसे 'ऋषभदेव' को हमने, शत-शत शीश नवाया है॥१॥

दोहा

सागर नगर मनोज्ञतम, धर्म-धान्य आगार। वर्णाश्रम-आचार का, शुभ्ररूप साकार॥२॥
जैनी जन तहँ बहु बसे, दयाधर्म निजधार। पूज्यचरण वर्णी लसे, जिनसे हो भवपार॥३॥
जैन जाति परवार मे, जनक 'कन्हैयालाल'। जननी 'हीरादेवि' थी, कान्तरूप गुणमाल॥४॥
पुत्र पाँच उनसे भये, पहले 'पन्नालाल'। दूजे 'कुंजीलाल' अरु, तीजे 'छोटेलाल'॥५॥
चौथे 'सुन्दरलाल' वा, पचम 'भगवतलाल'। प्रायः सब ही बन्धुजन, रहे मुदित खुशहाल॥६॥
वर्तमान मे बन्धु दो, विलसत है अमलान। बड़े 'छोटेलाल' वा 'सुन्दरलाल' सुजान॥७॥
भाई 'छोटेलाल' तो, करे वणिज व्यापार। जिनसे रहती है सदा, कमला मुदित अपार॥८॥
बाल्यकाल के मम रुचि, प्रकटी विद्या-हेत। ताते हम काशी गये, ललित कला सकेत॥९॥

चौपाई

द्वादश वर्ष साधना करी। गुरु-पदपङ्कज मे चित दई॥
[1]'मातृसस्था' मे शिक्षा लही। गैल सदा उन्नति की गही॥१०॥
व्याकरण, काव्य, कोश, अतिमाना। तर्क, धर्म, अरु नीति बखाना॥
[2]वाग्मित्व-आदि कला परधाना। नानाविध सिख भयो सुजाना[3]॥११॥

दोहा

कलकत्ता कालेज की, तीर्थ उपाधि महान। जो हमने उत्तीर्ण की, तिनका करूँ बखान॥१२॥

चौपाई

पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ जानो। दूजी 'प्राचीनन्याय'[4] प्रमानो॥
तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानो। जिसमे साहित्य सकल समानो॥१३॥

---

१ श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय वाराणसी का स्नातक—सम्पादक। २ वक्तृत्वकला। ३ विद्वान्।
४. भारतीय षड्दर्शनशास्त्र।

गुरुजन मेरे विद्यासागर । ललितकला के सरस सुधाकर ॥
पहले शास्त्री 'अम्बादत्त' । जो थे दर्शनशास्त्र महत्त ॥१४॥
दूजे श्रीमद्गुरु 'गणेश' थे, न्यायाचार्य अरु तीर्थ-समान ।
वर्णी बापू थे अति दार्शनिक, सौम्यप्रकृति वा सन्त महान ॥१५॥

दोहा

सरस्वती मेरी प्रिया, उनसे हुई सन्तान । एक पुत्र पुत्री-उभय, जो है बहु गुणखान ॥१६॥
पत्नी मम दुर्दैव ने, सद्यः लीनी छीन । है वशवेलि बढावने, सुत 'मनहर 'परवीन ॥१७॥
मेरी शिष्य परम्परा, भी है अति विद्वान । जिसका अति सक्षेप से, अब हम करें बखान ॥१८॥
पहले 'महेन्द्रकुमार' है, दूजे 'पवनकुमार' । 'मनरञ्जन' तीजे लसे, चौथे 'कनककुमार' ॥१९॥

चौपाई

वि० सवत् बीस सै अठ बीस, ज्येष्ठ शुक्ल तेरस दिन ईश ।
पूर्ण प्रकाशित जब यह हुआ, शुभ उद्यम का मम फल हुआ ॥२०॥

दोहा

अल्पबुद्धि परमादते, भूलचूक जो होय । सुधी सुधार पढो सदा, जाते सज्जन होय ॥२१॥

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ—सम्पादक



परिशिष्ट १

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

[ध]

[न]

[र]

[ल]

परिशिष्ट २

अप्रयुक्त-क्लिष्टतम शब्द-निघण्टुः

[श्री० पूज्य भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति दि जैन सरस्वती भवन नागौर (राजस्थान) की श्रीदेव-विरचित यशस्तिलक-पञ्जिका के आधार से सकलित]

शब्द	अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
तद्ध्यानत्विषि	सा सर्वकर्मनिर्मूलिनी ध्यानत्विट इत्यस्य★	१—३
त्रैलोक्यक्षुभि	त्रैलोक्य क्षोभयतीति	१—३
दत्तयात्रककुभि	कृतमेव ककुप्सु तत्स्थो लोको यत्र	१—३
ब्रह्मतरु	पलाश	२—२
लतान्त	पुष्प	२—३
वृक्षोत्पल	कर्णिकार	३—६
अवस्कन्द	[1]बाधा	३—८
दितिसुतशत्रु	हरि	४—१
ब्रह्मासन ध्यान—		४—१
वारुणी	मदिरा [पश्चिमा] दिग वा	४—२
मन्दरगिरि	अस्ताचल	४—२
दरम्	ईषत्	४—५
सुरनदीसभेद	गङ्गा-यमुना-सगम ★	४—७
[2]कृष्णागुरुपिञ्जरितकणपालीषु—		४—८
नीलोपल	इन्द्रनील	५—४
तुलाकोटि	नूपुर	५—४
कृष्णला	गुञ्जा	५—५
प्रदोष	शयनयोग्य	५—७
मुनिद्रुम	अगस्ति	६—१
सूपाटी	पुस्तकावयव	६—१
अभिनय	पूर्ववृत्तानुकरण शय्यागमनकालश्च	६—२
धेनुष्या	उत्तमगाव	६—४
रम्भित	गोध्वनि	६—४
दुश्च्यवन	शक्र	६—६
हरिहस्ती	ऐरावण	६—७
खण्डपरशुचूडामणि	खण्डपरशुरीश्वरस्तच्चूडामणिश्चन्द्र	६—८
निजसुहृत्	समुद्रस्य चन्द्र एव	७—१
उद्दण्डा	उल्लोला	७—१
★विरहिणी	विरहोत्कण्ठिता	७—२
सितिमा	श्वेतत्व	७—३
वलक्षता	धवलता	७—३
जडिमा	जडत्व	७—४
कलधौत	रजतेऽपि	७—६
जतु	लाक्षा	७—७
रदी	दन्ती	७—९
नमुचिरिपु	इन्द्र	८—१
गणिति	गणना	८—१
कुमुदचक्षु	चन्द्र	८—४
कुमुदवधु	चन्द्र	
सित	कर्पूर	८—६

★ वृत्त वा हि निविष्ट वा प्रसिद्ध वा तथा क्वचित् । परामृशति तच्छब्दो मुख्य वा भाव्यमेव च ।। १ ।।

१ 'रात्रिसवन्धिनी धाटी' स० टी० पृ० ७—२ ।

★ कथ सुरनदी यमुनेतिचेत् ? गङ्गासन्निधानात् तथा च मनुवचन देवनद्योर्यदन्तरमिति ।

२ कृष्णागुरुपिञ्जरितकर्णाना पाल्य पर्यन्तास्तास्वेवमुत्तरत्रापि योज्य, न पुनरेवविध गृहीतव्य कृष्णागुरुपिञ्जरिताश्च ता कणपाल्यश्चेति । नीलोत्पलादेरन्यत्र कर्मधारयस्य महाकवीनामसम्मतत्वात् ।

★. तथा चोक्त—'अनेककार्यव्यासङ्गाद्यस्या नागच्छति प्रिय । तस्या नाम सुदु खार्ता विरहोत्कम्पिता मता' ।। १ ।।
स० टी० पृ० १३ ल० ९—१० ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति	शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
आपणा —अद्धा विपणयश्च★	९–५	अधिरोहिणी—नि श्रेणि	१५–८
सचारिका—दूती	९–९	सरणि —माग	१५–८
अवग्रह —वृष्टिप्रतिवधोऽस्माच्चन्द्रात्	१०–२	[4]अन्तरान्तरेत्यादि—मध्ये मध्ये	१६–१
[1]उत्पातरविमडलात—इति विशेषणमनुपपन्नमप्युपपन्नमेव	१०–३	उपधानम्—उपाशीर्षक, उच्छीषक	१६–२
प्रवसितपथिकवनिता—प्रोषितभर्तृका	१०–४	अमरासुरगुरू—बृहस्पतिशुक्रौ	१६–३
अन्तवशिका —राज्ञीरक्षणनियुक्ता	१२–६	सवेश —सुरत	१६–४
नि शेषभाषा —मागध्यवन्तिकादय [2]	१३–३	सागराम्बरा—भू	१६–६
खर्दिरिका—धूर्ता	१४–१	[5]वासकसज्जिका—शृङ्गारकारिणी	१७–६
गृहावग्रहणी—देहली	१४–६	[6]दक्षिणाशाप्रवृत्तमारुत —इत्यनेनेदमुक्तम्	१८–४
आकेकरा —कटाक्षा	१४–७	[7]पारिप्लव—चपलत्व	१८–५
वशा—करिणी	१४–८	अनन्यज —काम	१८–६
सहेल—युगपत् सलील वा	१४–८	परिभाषा—सभाषण शास्त्र च	१९–१
सान्द्र —विलेपनविशेष	१५–३	उपोद्घात —विवक्षितस्य वस्तुनोऽवतारणक्रम	१९–१
कूर्चस्थान—सभोगोपकरणस्थापनप्रदेश	१५–४	★अनुतन्त्राणि—पश्चात सुरतानि पक्षे वार्तिकानि	१९–१
सचारिमा—सचारेण निवृत्ता सचारिमा★	१५–५	मकरन्दपानेनेत्यादिना—अधरग्रहण तत्खडन	१९–२
तुहिन—कपूर	१५–५	नखप्रदानालिङ्गनसवेशनानि—कुचपरामर्शन ताडनसुरतावसानानि निवेदितानि ध्वनेरलकारस्याश्रयणात्꙰	१९–२ से १९–५
वलीका—पट्टिका	१५–५	अपश्चिम—चरम	२०–२
सारा —पासका ? खदिरादिवृक्षविशेषा [3]	१५–७	अन्त करण—मन	२२–१
कुतप—वाद्य	१५–७	उपविधाय—कृत्वा	२२–४
आचमनकानि—उदकपानानि	१५–७	वैहायक—कारटक	२२–७
कलमूका —षण्डा	१५–७		

★ त एव काश्मीरमलयजागुरुशब्दस्य परिनिपातो लक्षण हेतो क्रियाया इति ज्ञापकात् ।

१. तदाह—अभिधेयस्यातथ्य तदनुपपन्न निकाममुपपन्नमेव यत्र स्युर्वक्तृणामुन्मादोऽत्यर्थमुक्त वा ।

२ तथा चोक्तम्—मागध्यवन्तिका प्राच्या सौरसेन्यधमागधी । बाह्लीको दाक्षिणात्या च ससभाषा प्रकीर्तिता ।
स० टी० पृ० २५ से संकलित—सम्पादक ।

★ शेषिकोऽय मि–म प्रत्यय । ३ सशोधित परिवर्तितश्च—सम्पादक

४ अन्तरान्तरेत्यादिवाक्यचतुष्टयस्य उत्फुल्लकमलेत्याद्युपमानचतुष्टय यथासख्य योज्य ।

५ तथा चोक्त—उचिते वासके या तु रतिसभोगलालसा । मण्डन कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥ १ ॥

६. तथा चोक्त स्वरोदयशास्त्रे—'दाक्षिणात्योऽनिल श्रेयान् कामसग्रामयोर्नृणा ।
क्रियास्वन्यास्वन्य स्याद्वामनाडीप्रभञ्जन ' ॥ १ ॥

७ देखिए पृ० १८ की टिप्पणी न० २ ।

★ सस्कृतटीकामनुसृत्य सशोधित परिवर्तितमिद पद—सम्पादक यत पञ्जिकाकारस्तु केवल 'वार्तिकानि' आह ।

꙰ ध्वन्यलकार ।
तथा चोक्त—'अन्यार्थवाचकैर्यत्र पदैरन्यार्थ उच्यते । सोऽलकारोध्वनिर्ज्ञेयो वक्तुराशयसूचनात् ॥ १ ॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
आकूतपरिपाक—अभिप्रायावसान	२२–११
पदवी—मार्ग	२३–१
अपाश्रय —शय्यास्थान	२३–२
कटङ्करा —वृक्षशाखा	२३–३
यवस—तृण	२३–३
अनुपदीना—उपानत्	२३–४
नासीर—नासायामपि	२३–६
वराटका —कपर्दिका	२३–७
धमनी—सिरानद्ध	२३–७
किटिका—कुटीरद्वारपिधानं	२३–८
गोनस —सर्प	२३–८
क्षिपस्ति —कर	२३–८
पिण्डिका —जङ्घाप्रदेशा	२३–९
घुण्टिका—गुल्फ	२३–१०
विपादिका —पादस्फुटनरेखा	२३–१०
*विचर्चिका पादस्फोटा	
मण्डूर—लोहमल	२४–१
[1]अष्टवङ्क —अष्टवङ्क नामधेय लेसिकापसद	२४–५
लेसिका —हस्तिपका	२४–५
अश्लील—ग्राम्य	२४–६
विधुतुद —राहु	२४–७
सबध —आशय	२४–८
वासतेयी—रात्रि	२४–९
परवती—परायत्ता	२४–१०
तपन —काम	२४–१०
कात्यायनी—चण्डिका	२५–३
वेलज—द्वारम्	२५–६
दुरभिसन्धि.—दुरीहित	२५–७

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
मामीय—मातुलीय	२६–८
अर्थयत —[2]अर्थमाचक्षाणस्य	२७–२
वारवाण—कूर्पासक (कञ्चुकमिति स टी)	२८–१
कौसीद्यम्—आलस्य	२८–७
निषादो—व्याध	२८–७
अवगणा—एकाकिनी	२८–१०
असस्तुता —अपरिचिता	३०–४
कच्चर—कुत्सित	३०–४
पाण्डुरपृष्ठा—कुलटा निर्भाग्या वा	३१–३
किंपाक —विषतरु	३२–१
हरिद्रारागहृदय —अस्थिरचित्त	३२–४
*सप्तार्चि —अग्नि	३३–८
कैकसी—राक्षसी	३३–९
अनुश्रव —लौकिकी श्रुति	३४–५
अहल्या—गौतमभार्या	३४–६
उपपति —जार	३५–१
उपप्रलोभ्य—वशयित्वा (लोम दर्शयित्वा स टी)	३५–७
उपानत्कर —चर्म्मकार	३६–३
अनुपनीत—अकृतसस्कार	३६–३
गोगमुन्निवारण—गोमक्षिकाणामपनयनाय चीरवल्कलव्यजन	३६–४
कादम्बरी—मदिरा	३७–६
जनुषा—जन्मना	३७–७
अनर्थ —धनधर्मक्षयादि	३७–७
अजिह्मानि—ऋजूनि	३७–८
कलाना—गीतनृत्तवाद्यादीना	३७–९
याचितक—परकीय	३७–१०
[3]अपामार्ग—प्रत्यक् पुष्प ?	३९–५

---

* पुष्पाङ्कित पद सस्कृतटीकात सकलित—सम्पादक

१ उक्त च—'कटिपादहस्तवक्ष पृष्ठाननकण्ठनिटिलदेशेषु वक्रो यस्मात्तस्माद्विज्ञेयो ह्यष्टवङ्क इति ।
सस्कृतटीका पृ० ४१ से सकलित—सम्पादक

२ याचमानस्य स० टी० । * 'असितर्तिरग्नि' इति ह० लि० क प्रतौ० ।

३ 'शेखरिकवीजमिव प्रचटिकेव' स० टी० पृ० ६९ ।

शब्द अथ	पृष्ठ–पक्ति
श्रायस—श्रेयस्कर	३९–११
तपस्या—प्रव्रज्या	३९–११
घड्घल—व्यसन	४०–८
मृषोद्य—मिथ्योक्ति	४०–८
[1]ब्रह्मोद्यकर्मणे—श्रेयसे	४०–८
माया—परवञ्चनोपाय	४०–९
मातु—निजजनन्या	४०–१३
मार—कामदेवसदृश	४०–१३
गुणमयी नाम—सत्वरजस्तमोभिर्निवृ त्तत्वात्	४२–३
दोषमयी—शारीरी–वातपित्तकफैर्निवृ त्तत्वात्	४२–३
लोकालोकाचल इव—उदयाचल इव अस्ताचल इव	४४–१
रसाला—भर्जिका—शिखरिणी	४४–३
नग—गिरि	४४–७
निगमो—मार्ग	४४–८
गोपुराणि—नगरद्वाराणि	४४–८
उत्तानवेदी—अस्थिर	४५–१
औषस्य—प्राभातिक	४५–२
गोसर्गं—प्रत्यूष	४५–२
परिष्वङ्ग—सबध	४५–३
उद्गमनीय—धौत	४५–४
ईषत्प्राग्भार—मोक्ष	४५–६
यातयाम—वृद्ध	४५–१०
उपसव्यान—उत्तरीय	४६–२
अवर्जितम्—अवनत	४६–४
तनूद्वह—पुत्र	४७–३
आयच्छन्ते—निर्गच्छन्ति	४८–६
स्वोपज्ञ—स्वकृत	४८–९
उत्थित—स्वप्न	४८–९
प्रतीक्ष्या—पूज्या	४८–१०
स्नुषा—बधू	४८–११

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पक्ति
ब्रह्मविप्रुष—रक्षार्थं निष्ठीवनकणिका	४९–१
बुधसङ्ग—विचक्षण	४९–२
आचाराग्व—मूख	४९–२
अनल—पित्त	४९–४
पीनस—कफ	४९–४
आर्याणी—स्वामिनी	४९–५
भूदेवै—द्विजै	४९–६
मन्दविसर्पिणी—यूका	४९–१२
कारीरौ—अप्रसूता गौ	५०–६
उदक—आयति	५१–१
कर्कर—पाषाण	५१–१
पूर्वपक्ष—आद्योविकल्प 'निष्कण्टकमित्यादि निरीक्षितोऽस्ति' इत्यन्त	५१–४
गर्भ—शुक्रार्तवजीवसयोग	५१–७
अवसान—मरण आत्मनो विवक्षितै शरीरेन्द्रिय-विषयैर्वियोग इति यावत्	५१–७
तयोरन्तरे—मध्ये	५१–७
चित्तमित्यादि—आत्मस्वरूपभेदद्वारेण द्रवोष्णतात्मकत्वात् पृथिवीपवनपावकाना, ज्ञानसुखादिरूपत्वाच्चात्मन	५२–१
शिवा—अनन्तराया	५२–४
अमीषा—वय प्रभृतीना	५२–६
तत्र दण्ड—अलुप्तप्रजननस्य प्रव्रजत पूव साहस-दण्ड इति वचन	५३–१
मध्य—मध्यमवया	५३–१
राजप्रच्छन्न—राजचिह्नवानपरो नर	५३–४
मध्यम—दु स्वप्नशङ्कैत्यादिक	५३–५
विश्वामित्रसृष्टि—वर्णसकरादिक	५४–२
अनपत्रप—अविरुद्ध	५४–६
प्रग्रह—स्वीकार	५६–८

---

१. तदुक्त—न नर्मयुक्त ह्यनृत हिनस्ति, न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ १ ॥
इति कर्णपर्वणि जिष्णु प्रति कृष्णोक्ति स० टी० पृ० ७२ से सकलित—सम्पादक

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
दर्श —अमावास्या	५६–११
पौर्णमासी—पौर्णमासी	५६–११
उपहता —ग्रहणादिदूषिता	५६–१२
वात —वासना	५७–२
कूटपाकल —सद्य प्राणहरो ज्वर	५७–४
कापेय—चापल	५७–६
हव्यकव्ये—देवपितृकार्ये	५९–१
उद्भा —ऊर्ध्वस्थिता	६०–१
सधा—प्रतिज्ञा	६०–८
षट्कर्माणि—स्तम्भनमोहनादीनि	६२–४
सुधान्धस —देवा	६२–५
अङ्गानि—शिक्षा कल्पो व्याकरण छन्दो ज्योतिप निरुक्तमिति—	६३–३
इतिहास —भारत रामायण च पुराण वा प्रोक्तम्	६३–३
च शब्दान्मीमासान्यायशास्त्र-परिग्रह	६३–३
मया —यत्र देवप्रतिष्ठा नाम व्यवहारश्च ते मया	६४–३
समया —जिनजैमिनिशाक्यशकरागमा , त एव चत्वार साख्यलोकायताधिका. षड्दर्शनानि भवन्ति	६४–१०
*उद्गता—ऊर्ध्वता	६५–१
काम्या—इच्छा	६६–७
क्रव्यादा स्तेनव्याघ्रादय	६७–८
निगमे—वेदे	६७–१०
दत्तानुपात्र—स्वीकृतव्यवहार	६८–९
अन्यत्र—स्वर्गादौ	६८–९
स्कन्द.—कार्तिकेय	६८–१०
प्रत्यवहार —सहार	६९–८
हिमातपाम्भ समया —हेमन्तग्रीष्मवर्षाकाला	६९–८
बहुत्व—नियमवती प्रचुरता	७०–४
अन्यत्र—परमते, तथाहि—त्रय एव पुरुषा , चत्वार एव वेदा , पञ्च श्रोतोविनिर्गत एव शैव-सिद्धान्त , षडेवाङ्गानि, सप्तैव मातर इत्यादि	७०–४
पृथु —आदिक्षत्रिय	७०–६
सोम —चन्द्र	७०–६
नाडीजङ्घ —वानर	७१–१२
सुरभितनया—सौरभेयी	७२–१
उरभ्र—मेषमास	७३–५
वार्धीणस —शल्यक	७३–८
वसु-शालिसिक्थमत्स्ययोरुपाख्याने कविरुत्तरत्र विस्तरेण स्वयमेव वक्ष्यति	७४–२
पुसो—गौतमादे	७४–४
प्राग्वश —यज्ञ	७५–८
अङ्गुलीयक—मुद्रिका	७५–११
अनुपद—पश्चात्	७५–१२
चेटस्य—दासस्य	७६–१
प्रस्तर —पाषाण	७६–४
स्तभ —छाग	७६–५
बाडवा —ब्राह्मणा	७७–९
निसृष्टार्था —स्वतन्त्रा	७७–१२
सायुज्य—साम्य	७८–५
अत्यासादयन्—तिरस्कुवन्	७८–५
गृहमेधिनोऽपि मुनय इत्यादि	७८–८
कुणपाशिन —राक्षसा व्याघ्रादयो वा	७९–१
उभयानि—कुशलाकुशलानि	७९–४
बोधाधिपति —आत्मा	७९–४
इय—माता	७९–५
जानुभञ्जिनी—यन्त्रविशेष	७९–५
प्रतिश्रुत—अभ्युपगत	७९–६
रोक्षा—शुद्धा (‘चोक्षा’ मु० प्रतौ)	७९–८

* ‘उद्भूता’ इति मु प्रतौ पाठ परन्तु पञ्जिकाकारेण स्वीकृत पाठ सम्यगाभाति—सम्पादक

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पक्ति
*तथा च लौकिकी श्रुतिरित्यादि—	८०–१
शतक्रतु —इन्द्र	८०–२
वाग्जीवन —वन्दी	८०–२
पौलस्त्य —रावण	८०–५
दाण्डक्य —राजा	८०–५
प्रजापति —ब्रह्मा	८०–६
कृकवाकु —कुर्कुट	८०–१०
नीहार—हिम	८१–१
पत्नी—परिणीता	८१–९
अकुहन —अनीष्य	८१–११
कृत्या—देवता सा किल आराधिता सती आराधयितारमेव च खादति	८१–११
पञ्चता —मरण	८२–१
अक्षिगत —द्वेष्य	८२–१
उत्तायक —अस्थिर	८२–४
उद्भवत्—उत्कलत्	८२–६
नि शलाकम्—एकान्त	८३–६
तार्क्ष्य —गरुड	८३–८
नवग्रह —सद्योगृहीत	८३–९
पर्यनुयोग —प्रश्न	८३–१०
मिथुनचर —कोक	८४–६
पाशुला—सापरागा कुलटा च	८५–१
मन्मथ —काम उद्वेगश्च	८५–१
कटुस्वभावा—तिक्तस्वभावा विरसस्वभावा च	८५–२
नीचानुगता—निम्नानुगा नीचानुगामिनी	८५–३
परभाग —शोभा अन्यपुण्य च	८५–३
साध्वी—सती	८६–३
प्रायोपवेशनम्—अनशनम्	८६–६
परीवाद —अपवाद	८६–७

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पक्ति
प्रवहण—गणभोजन	८६–७
पूर्वमुत्थापितात्—आस्तामसौ ताम्रचूड-इत्यादिकात् वनैरपीत्यतात्	८६–९
अवहित्था—आकारसवरण	८६–११
इहैव—उज्जयिन्या	८७–२
तोलयति—सशय नयति	८७–४
कर्णीसुत —मूलदेव.	८७–५
*कुचुमार —धूर्तशास्त्रप्रणेता	८७–६
खल्व —खलाति	८७–७
निशितनेमिना—तीक्ष्णधारेण	८८–६
कबरी—केशविन्यास	८८–७
दुर्दुर —मण्डूक	८८–८
अत्यय —कालातिपात	८९–२
उपाकृता —शास्त्रवाह्या	८९–६
वेधविधायिनी—टकिका (स० टी० घण्टकिका)	९०–३
नमसित—उपयाचितक	९१–७
वरिष्ठक —तन्त्रपाल ('क्षेत्रपाल' स० टी०)	९१–९
भैरवी—चण्डिका	९२–२
पाशुलक्षण —वात	९३–१
अकत्थन —अश्लाघनीय	९३–९
अपाचीन —प्रतिकूल	९३–९
आदित्यसुत —काक	९३–१०
उपालिङ्गानि—दुर्निमित्तानि	९३–१०
त्रिशूलिनी—चण्डिका	९३–११
प्रोक्षिता—दत्ता	९४–१
तस्य—कुर्कुटस्य	९४–२
स्म इति—किलार्थे	९४–६
इति चतुर्थ आश्वास	
सदागति —वात , सदा सर्वकाल गति भक्तिमार्ग	९६–३

* स्वर्गे किल शक्रसभायामेव विवादोऽभूत् । मनुष्यलोककृतैवेह प्राणिना शिष्टेतरव्यवस्था नात्मीयाचारन्निवधनेति । इद बृहस्पतिरसहमान सर्वाभरणविभूषितमर्धवृद्धब्राह्मणवेषमादाय चुङ्कारनगरे प्रविशन हारितसर्वस्वेन लोचनाञ्जनहरनाम्ना कितवेन कङ्कणमेक याचितो नादात् । पुनस्तेन कुपितचेतसा एष खलु द्विजो न भवति साधु किन्तु ठकोऽय सप्रत्येव स्वाध्यायिना मडली निपात्यागतोऽयमिति दूषितस्तत्र पुरे प्रवेशमलभमान 'निर्विचारो मनुष्यलोक इत्युक्त्वा नाकलोक गत प्रवेश नालभतेति । ★ 'कुमार' मु० प्रतौ ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पक्ति
कर्मान्त —कर्मावसान, भू पृथ्वी, विनेयजनस्य सपन्निमित्त भुवमवतीति भू, अवते क्विपि सति वस्य सप्रसारणे सन्धिकार्ये च कृते भूरिति भवति	९६–३
दाता—यजमान वितरिता शीलार्थे तृन्	९६–३
ते—लोकप्रसिद्धे	९६–३
ज्योतिषी—ज्ञानदशनलक्षणे च ।	९६–३
तेज —अग्नि आप्तश्च	९६–४
अनङ्गन—आकाश, अविद्यमाना अङ्गना यस्य	९६–४
तमस्त —अज्ञानात्, अनेनाष्टमूर्तिमत्व भगवत उक्त	९६–४
राका—पूणमासी	९७–५
चामर—चमरीणा समूहश्चामर तदवयवश्च	९७–६
किटि —सूकर	९७–७
दरद्—इत्यव्यय [दरद्देहा विदार्यमाणशरीरा स० टी० पृ० १६९–१४]	९७–८
दौलेय —कच्छप	९७–८
नेत्राणि—तरुजटा मृगविशेषा वा लोचनानि च	९७–८
शतधृति —इन्द्र	९७–८
उपत्यका—पर्वतस्य अधस्तनो देश	९८–१
तटाघात —विदारण	९८–२
कुशिकसुत —उलूक शक्रश्च	९८–२
[1]कमला —मृगा अब्जानि च	९८–३
पुण्डरीक —व्याघ्र सिताब्ज च	९८–३
समीक्षा—साख्यशास्त्र	९८–३
कपिल —मर्कट, मुनिश्च	९८–३
कञ्चुकिन —सर्पा अन्त पुररक्षकाश्च	९८–४
सदन्तोत्सर्ग —सन्ति नक्षत्राणि अन्ते यस्योत्सर्गस्य स सदन्त उत्सर्गो व्याप्तिर्यस्य पवनमार्गस्य सदन्त सततश्च	९८–४
पारापता —पक्षिण कमलानि च	९८–४
हेरम्ब —महिष विनायकश्च	९८–४
पिङ्गलेक्षण —रुद्र	९८–५
शाक्वर —गौ	९८–५
समदन —मदन तरु (राजवृक्ष स० टी०), सम्यक् अदन यस्य, सह मदनेन स्मरेण वा वतत इति च	९८–५
चेतक —हरीतक, चिती सज्ञाने चेतन चेत, तेज चेतेन सह वर्तत इति	९८–५
वीभत्सु —पार्थ	९८–५
कपयो मकटा, ध्वजास्तरव	९८–५
मेरुशरासन —हर	९८–६
दुर्गाणि—विषमा प्रदेशा, दुर्गा—गौरी च	९८–६
भोगिनी—सर्पिणी, अवरुद्धवधूश्च	९८–६
रेवतीपति —वलभद्र	९८–६
विहङ्गिका —पक्षिण्य, कावटिश्च	९८–६
प्राग्भार —विस्तार	९९–१
अधित्यका—पवतस्योपरितनो भाग	९९–१
पुण्यजना —यक्षा	९९–५
आवाप —आश्रय	९९–५
वर्णा —हरितपीतादयो ब्राह्मणादयश्च	१००–७
दलानि—पत्राणि कारणानि च	१०१–१
काकुत्स्थ —राम	१०१–१
पलाशा —पल्लवा राक्षसाश्च	१०१–१
द्विजराजा —पक्षिप्रधाना विप्रमुख्याश्च	१०१–१
पादा —अक्षरसघाता मूलानि च ।	१०१–२
पत्राणि—वाहनानि दलानि च	१०१–२
प्राघूर्णका —आगन्तव	१०१–४
उपयाचित—नमसित	१०१–५
गा—पशु भुव च	१०१–६
विनायक —वीना (पक्षिणा) नायका गरुडादयो यस्य, गणपतिश्च	१०१–६
वनमाला—स्रक्, काननपङ्क्तिश्च	१०१–६
वय —अवस्था, वयासि पक्षिण	१०१–६
शुचिच्छदपरिच्छद —[शुचिभि पवित्रैश्छदै पर्णै परिच्छद परिवृत आच्छादितश्च, पक्षे शुचिच्छदो हसपक्षी स परिच्छदो वाहनो यस्य स तथा*]	

१ 'कमलस्तु मृगान्तरे' इति हैम ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
★ [1]'शुचीनि छदानि च'	१०२–१
सुरवाहिनी—गुरसेना गङ्गा च	१०२–१
प्रवाल—विद्रुम बालपल्लवश्च	१०२–२
प्रियालोकन —प्रियदर्शन	१०२–२
सपाक —आकृतिमालक ? (वृक्षविशेप)	१०२–५
तृणराज —ताल	१०२–६
पूतीक —करञ्ज	१०२–६
विटपिनमधिवसतीत्यत्र 'उपान्वध्याङ वस ' इत्यनेनाधिकरणे द्वितीया	१०३–१
उद्गम —पुष्प	१०३–१
तुरुम्व —उत्तस	१०३–२
दुश्च्यवन —शक्र	१०३–२
प्रतीचीन —विपरीत	१०३–८
चिक्क —अल्प [सच्चरित्रचिक्कस्य—सदाचाराल—सस्य स० टी० पृ० १७९]	१०३–८
चिक्वण —आसक्त	१०३–८
पक्वण—भिल्लपल्लि	१०३–८
वातप्रमी—वातमृग	१०४–१
★वीतस —पक्षिणा पाश	१०४–१
मृगवन्ध—मृगबन्धन	१०४–२
पलिश—यत्र स्थित्वा मृगा हन्यन्ते स प्रदेश पलिश उच्यते	१०४–३
पक्षति—पक्षमूल	१०४–४
रोदस्यो —द्यावाभूम्यो	१०४–४
कारागारक्रिय —वन्दी	१०४–५
प्रचलाकप्रचय —पिच्छकलाप	१०४–५
सारे—समोपे ? [साराणि पुरुषरत्नादीनि इति स० टी० पृ० १८०]	१०४–६
कृशोदरी—स्त्री	१०४–९

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
वरारोहा—स्त्री (वरारोहा मत्तकामिन्य स० टी० पृ० १८१)	१०५–१
निकाय—गृह	१०५–१
उपचार्य्यमान —प्रतिपाल्यमान	१०५–१
जेमन—भोजनम्	१०५–२
सभास्तार —सभ्य	१०५–२–३
ईति —उपद्रव	१०५–१०
शातकुम्भ—हेम	१०६–४
रहन्ति—त्यजन्ति	१०६–५
मण्डलबाल —श्वा	१०६–७
वर्करक —छागशिशु	१०६–७
वृष्णिक —मेष	१०६–७
निचिकी—सुक्षा गौ	१०६–९
दासेरक —उष्ट्र	१०६–९
शकृत्करि —वत्स	१०६–९
अद्मनिदेश —तृणभक्षणद्रोणी	१०६–१०
उद्गूण —उद्यत	१०६–१०
द्रुघण —मुद्गर	१०६–१०
रक्ताक्ष —महिष	१०६–१०
नाथहरि —बलभद्र [★नाथहरयो वृषभा स. टी० पृ० १८५]	१०६–११
प्रष्ठौही—गर्भिणी गौ स्त्री वा	१०६–११
वष्कयणी—प्रौढवत्सा	१०६–११
गृहावग्रहणी—देहली	१०६–११
माहेयी—गौ	१०७–१
व्याहार —शब्द	१०७–१
गृष्टि —प्रथमप्रसूता गौ [सकृत्प्रसूता स टी]	१०७–२
परेष्टुका—बहुप्रसूति गौ	१०७–२
[2]समासमीना—प्रतिवर्षप्रसू	१०७–२

★ अय कोष्ठाङ्कित पाठ सस्कृतटीकात (पृ० १७६) सकलित —सम्पादक ।

१ यश० पञ्जिकाया । ★ उक्त च'-वीत शस्त्रोपकरण बन्धने मृगपक्षिणाम् ।' स० टी० पृ० १७९ से सकलित—सम्पादक

★ 'नाथहरि ' शब्दस्य 'वृषभ ' इति स० टीकाकारस्यार्थ प्रकरणताविच्छेदेन सम्यक् प्रतीयते—सम्पादक

२ 'समासमीना तु या सा प्रतिवर्षं प्रजायते' इत्यभिधानचिन्तामणि 'स० टी० पृ० १८६ की टिप्पणी से सकलित—सम्पादक

शब्द अर्थ पृष्ठ–पंक्ति

सुव्रता—सुखदोह्या १०७–३
पलिक्नी—अल्पदिनगर्भा १०७–३
बेहत्—गलितगर्भा १०७–३
वसा—वन्ध्या १०७–३
अवतोका—विषाणविकला १०७–३
उस्रा—गाव १०७–३
वालेयक—गर्दभ १०७–३
आरेय—मेष १०७–३
मृगदश-शालावृक-कौलेयक-विश्वकद्रू-नित्य-जागरूक-सारमेय-यक्षपुरुष
ऐतसस ? वराहवैरी-वातादा श्वपर्याया १०७–४,५,६,७,१०,१३,१५,
श्वेतपिङ्गल—सिंह १०७–६
मार्गायुक—मृगयाकुशल १०७–६
शरमा—शुनी १०७–११
दष्ट्रायुध—वराह १०७–११
हर्यक्ष—सिंह १०७–११,१२
निशान्त—अन्त पुर १०८–२
शम्भली—दासी १०८–२
अधिरोहण—सोपान १०८–४
प्रतीपदर्शिनी—स्त्री १०८–५
मोहन—सुरत १०८–६
त्रोटि—चञ्चु १०८–७
शल्क—खण्ड १०८–७
कृक—करण ? [शिरोग्रीवा स टी पृ १९०] १०८–८
सवाध—पीडा १०८–९
विरञ्च—स्वर ['पीडाशब्देन सावधानसमीप शरीरिकया' स टी पृ १९०–९ सशोधित ख० प्रतित यत मु० प्रतौ न वरीवर्ति] १०८–९
सुप्रतिष्ठ—पतद्ग्रह [ताम्बूलादिभाजनसपुटक स० टी० पृ० १९०] १०८–९
तालवृन्त—व्यजन १०८–१०
प्रकीर्णक—चामर १०८–१०

शब्द अर्थ पृष्ठ–पंक्ति

वाङ्गुली—स्थगिका ? [वाङ्गुलीजालेन पूगफलादि प्रसवकेन स टी पृ १९०–११] १०८–१०
अनुपदीना—उपानत् १०८–१०
आकष—फलक १०९–५
भण्डिल—श्वा १०९–५
दिवसकरात्मज—यम १०९–५
उपसन्नता—मरण १०९–६
मायाकार !—हे प्रतीहार ! ११०–३
भूदेवा—द्विजा ११०–३
अन्वाहार्य—मृतस्य मासिको विधि ११०–४
निगद्यागम—गणितशास्त्र ११०–८
वामेक्षणा—स्त्री १११–१
खड्गा—कृपाणा मृगविशेषाश्च १११–२
महद्भिर्देहै अजगरैश्च । १११–३
दन्तिन-पवता गजाश्च, 'तटो रदश्च दन्ताक्ष' इति वचनात् १११–३
अष्टापद—व्यालविशेष कैलाशश्च १११–३
नाटेर—नट १११–३
चित्र—मण्डल १११–४
चित्रका—मृगविशेषा [चित्रका व्याघ्रविशेषा स. टी पृ १९४] १११–४
मेघराव—जलदशब्द मयूरश्च १११–४
मागधी—सुदक्षिणा दिलीपपत्नीति यावत् तस्या प्रभव, पिप्पली च १११–४
अमृत—सुधा, अमृता गुडूची च १११–४
विजया—गौरीसखी हरीतकी च १११–४
जम्बुक-वरुण शृगालश्च १११–५
सुदशन—चक्र, सुदर्शन औषधिश्च १११–५
'मरुद्भवा-अर्जुननकुलसहदेवा, लतापादपजीवटजातविशेषा, मरुद्भवो भीमश्च' इति पञ्जिकाकार [मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवानुग मरुद्भवो वातोत्पत्ति, अर्जुन केकी अजुनो वृक्षविशेष, नकुल सर्पवैरी, सहदेवा बला, मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवास्ताननुगच्छतीति मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवानुग । कमिव—

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
युधिष्ठिरमिव, यथा युधिष्ठिरो मरुद्भवेन भीमसेनेन अर्जुनेन पार्थेन अनुगच्छति अनुगमन करोति । अथवा मरुद्भवार्जुननकुलसहदेवा अनुगा यस्य स तथा तम्*	]१११–५
अभीरु —शूर लताविशेषश्च[1]	१११–६
लक्ष्मी —श्री लताविशेषश्च	१११–६
बृहती—छन्दो जाति वीरुद्विशेषश्च	१११–६
समर्थ —आश्रम	१११–६
तपस्विनी—प्रव्रजिता मुण्डिता[2] च	११२–१
चन्द्रलेखा—शशिकला वाकुचिका च	११२–१
कलि —कालविशेष बिभीतकाश्च	११२–१
अर्क —रवि वीरुद्विशेषश्च	११२–२
अम्बरिष—रण	११२–२
अरिमेद —अरीणा मेद धातुविशेष अरिमेद तरुविशेषश्च[3]	११२–२
शिवप्रिय —धत्तूरक	११२–२
गायत्री—खदिर	११२–२
कालिदास —चूत	११२–३
ब्रह्मचारी—पलाश	११२–३
वधमान —एरण्ड	११२–३
[4]दिग्गजकुल—	११३–१
वामन —मदनतरुश्च[5]	११३–१
सोम —सोमवल्ली ['हरीतकीवृक्ष' स० टी० पृ० १९६]	११३–१
पूतना—हरीतकी	११३–१
मातृनन्दन—करञ्ज	११३–१

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
नि श्रेणी—खर्जूरी	११३–२
लेखपत्त्र —ताल	११३–२
त्रिनेत्र —नालिकेर	११३–२
लम्बस्तनी—चिञ्चा	११३–२
कवच —पर्पटक	११३–३
रक्ततुण्ड —शुक	११४–१
उच्चिलिङ्ग—दाडिम	११४–१
अवचय —उञ्छन	११४–१
उपलम्बा—लता	११४–२
प्रलम्ब —प्रतान	११४–२
जानका —वृषभा [अरण्यवृषभा वानरा वेति स टी. पृ १९८]	११४–२
वेल्लिका —सुता [विलातवेल्लिका भिल्लाना वालका स० टी० पृ० १९८]	११४–४
चुरी—वालुकावापिका चुण्टीति यावत्	११४–४
डामरिका —चौरा	११४–४
प्रकाण्ड —शाखा [प्रकाण्डा समूहा स०टी०पृ०१९९]	११४–८
द्रुमला —द्रुमसमूहा	११४–९
खञ्जन —जन्तुविशेष	११४–९
*चित्रक —चमूरु [चित्रका व्याघ्रविशेषसमूहा स टी पृ २००]	११४–१०
उदन्या—तृट्	११४–१०
रङ्कु —मृगविशेष	११४–१०
शल्लकरल्लकौ अपि—मृगविशेषौ	११५–१-२

---

* स० टी० पृ० १९४ से सकलित—सम्पादक

१ अभीरुरिन्दीवरी, उक्त च—'वातमूली बहुसुता अभीरुरिन्दीवरी स्थिरपत्त्रा' इति यावत् । स० टी० पृ० १९५ ।

२ तपस्विनी—प्रव्रजिता, मुण्डीकल्हारा च स० टी० पृ० १९५ ।

३ 'विट्खदिर' स० टी० पृ० १९५ ।

४ उक्त च—'ऐरावण पुण्डरीको वामन कुमुदोऽञ्जन । पुष्पदन्त सार्वभौम सुप्रतीकश्च दिग्गजा ॥
एरावण पुण्डरीक पुष्पदन्तोऽथ वामन । सुप्रतीकाञ्जनौ सावभौम कुमुद इत्यपि ॥ इति पञ्जिकाकार ।
अभ्रमुश्चैव कपिला ताम्रकर्णी च वामना । अनुपाञ्जनवत्यौ च शुभ्रदन्ती च पिङ्गला ॥' इति दिग्गजाना भार्याश्चैता

५ भुक्त सत् वमन कारयति वामनो मदनवृक्ष —स० टी० पृ० १९६ ।

*. स० टीकाया अर्थ सम्यक् प्रतिभाति—सम्पादक.

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
*मृगादनी—लताविशेष	११५–३
[1]व्याघ्री—बृहती ('भटकटैया' इति भाषाया)	११५–३
[2]निस्त्रिंशपत्त्र—निहुण्ड	११५–३
ब्रह्माण—पलाशा	११६–१
हरय—सिंहा	११६–१
स्थाणव—छिन्नाग्रभागस्तरुप्रकाण्ड, पक्षे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराश्च	११६–१
मधु—दानव क्षौद्र च	११६–२
मदन—कामस्तरुश्च	११६–२
चिल्ल—दूषिकोपहत	११६–३
अणक—कुत्सित	११६–३
अवगाढ—प्राप्त	११६–३
शाण—शस्त्रोत्तेजनयन्त्र	११६–४
अशना—क्षुत्	११६–६
पवनाशना—सर्पा	११६–६
शक्रा—वल्मीका	११६–७
शिखावल—मयूर	११७–२
अग्निजन्मा—श्वा	११७–२
वृष—धम मूषिकश्च	११७–३
विष—जल गरल च	११७–३
सरीसृप—सर्प	११७–४
वामलूर—बल्मीक	११७–४
पुरीतत—अन्त्र	११७–४
अनन्ता—भू	११७–५
असृग्वरा—त्वक्	११७–६
क्षतज—रुधिर	११७–६
तरस—मास	११७–७
पृषदाकु—सर्प	११७–८
इन्दुमणि—चन्द्रकान्त	११८–२
पद्मावती—उज्जयिनी	११८–२
भोगवती—अहिपुरी	११८–४
पद्म—सर्पविशेष	११८–४
सवर—जल मृगश्च	११८–५
लक्ष्मणा—सारसा पक्षे सौमित्त्रि.	१०८–५
धार्तराष्ट्रा—कौरवा हसाश्च	११८–६
व्यास—मुनि विस्तारश्च	११८–६
आस्फूर्जित—शक्र	११८–६
बलि—दानव पूजा च	११८–६
सौगन्धिका—सुगन्धिवस्तुपण्या पुष्पाणि च	११८–७
ग्राहा—मकरा	११८–७
कमठा—कूर्मा	११८–७
पत्त्रिण—पक्षिण	११८–७
मराला—हसा	११९–१
दार्वाघाटा—सारसा	११९–१
कारण्डा—पक्षिण	११९–२
काण्ड—बाण	११९–२
*मल्लिकाक्षा—हसविशेषा	१ ९–३
अवहारा—जलव्याला [ग्राहा स० टी० पृ० २०८]	११९–५
दीवय—जलसर्पा	११९–६
मूकका—भेका	११९–६
वाली—वीची	११९–९
आमलक—स्फटिक	१२०–१
वानीरो—वेतसो मत	१२०–२
वञ्जुल—लताविशेष	१२०–२
दुर्वर्ण—रजत	१२० ६
षट्चरण—भ्रमर	१२०–७
भाण्ड—भाजन	१२०–९
सरिद्वरा—गङ्गा	१२१–२

---

* पक्षे मृगानदन्ति भक्षयन्ति मृगादन्यो लुब्धकभार्या प्रायेण, स० टी० पृ० २०० ।

१ पक्षे व्याघ्री द्वीपिनी ।

२. सेहुण्डवृक्ष, पक्षे निस्त्रिंशपत्त्रा निर्दयवाहनजीवा' स० टी० पृ० २०१ ।

* उक्त च—'रक्तैर्वक्त्रै सचरणै राजहसान् विभावयेत् ।
श्यामलैर्मल्लिकाक्षास्तु धार्तराष्ट्रा सितेतरै ॥' स० टी० पृ० २०८ ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
चिलीचिमा —मत्स्या	१२१–५
पयस्य—दधि	१२२–६
कूलवन्ती—नदी	१२२–६
न्यक्ष —समस्त	१२२–७
शूलाक्ष —महिष	१२२–७
चुलुकी—शिशुमारभार्या तदपत्य चौलूकेय शिशुमार	१२२–७
लगुड —दण्ड	१२३–४
तरी—नौ १२३–५ तर्प तृणमय	१२३–५
तरण्ड —फलक	१२३–५
वेडिका—क्षुद्रा नौ	१२३–५
उडुप —चर्मावनद्ध	१२३–५
तमतम्—ऊर्णामयमास्तरण	१२४–६
अजिन—चर्म	१२४–६
जेण—पल्याण	१२४–६
बम्बूलबदरीकरीरा —प्रसिद्धा	१२४–६
उरभ्रा —मेषा	१२४–७
अतिक्रामन्—अतिगच्छन्	१२४–८
अविकट —मेष-समूह	१२४–८
सौम्यधातु —शुक्र	१२५–१
विपक्षा —मासा	१२५–२
कादमिक—कर्दमेण रक्त कृष्णवर्णमित्यर्थ	१२५–४
दण्डक —क्षुद्रमार्ग	१२५–५
सकाण्ड—बाणसहित	१२५–५
कोणा —दण्डा	१२५–६
चित्रगुप्त —यमाक्षपटलिक	१२६–१
अयोमुख —बाण	१२६–३
अवलग्न —मध्य	१२६–४
शकली—मत्स्य	१२६–४
प्रमीत —मृत	१२६–५
दुर्ललिता—सक्ता	१२६–७
त्रिंशद्रात्रा —मासा	१२७–६
प्रोथ —नासा	१२७–८
कासर —महिष	१२७–९
प्रस्फोटन.—सूर्प	१२८–३
त्र्यूषण —त्रिकटुक (शुण्ठीमरिचपिप्पलीचूर्ण)	१२८–५
आलन्दक —भाजन	१२८–५
गोर्वर —गोमय	१२८–५
इरमद —वज्राग्नि	१२८–६
उद्धान—चुल्ली	१२८–७
क्षिपस्ति —भुज	१२८–१०
पादान्तलक्ष्मी —पादपङ्क्तिशोभा	१२९–१
कुतपी—तुरी [मादङ्गिक स० टी० पृ० २२९]	१२९–३
उपवीणन—वीणावादन	१२९–६
मयु —किन्नर	१२९–६
निर्दर—कन्दर	१२९–६
सूर्यप्रतिमागत —कायोत्सर्ग	१३०–३
अरे कदाचाराचार !—अरे कुत्सिताचार !	१३०–८
पराकदुरात्मन्—पराकेन वधेन दुरात्मा तस्य सबोधन क्रियते अरे पराकदुरात्मन्	१३१–५
खेट —अधम, उत्त्रासको वा खिट उत्त्रासने इति धातो पाठात्	१३१–५
याप्य —निन्द्य	१३१–५
कुमति —माया	१३१–६
मटह —लघु	१३१–६
ब्रह्मासन—ध्यान	१३१–७
समुनद्धभाव—दृप्तत्व	१३१–८
अवनतमुखाब्ज —अधोमुखकमल	१३२–१
अनुक्रोश —अनुकम्पा	१३२–७
मेदिनी—म्लेच्छस्त्री भूश्च	१३३–४
अकारण—अकुत्सित, युद्ध निर्निमित्त च	१३३–५
तर्कुका —याचका	१३३–६
निवर्हण—निराकरण	१३३–८
अरिषड्वग —कामक्रोधलोभमानमदहर्षा	१३४–३
द्वन्द्वानि— परिमितत्व कालहरणमित्येक द्वन्द्व, आशादर्शन श्रवणगतत्वमिति द्वितीय, अवधीरणमनवसर इति तृतीय, महासात्विकमैश्वर्यमिति चतुर्थं द्वन्द्व—	१३४–९
वदान्यता—त्यागिता	१३४–९

शब्द	अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अपाश्रय	—निषद्या [आश्रय स० टी० पृ० २४०]	१३६–१
नृपयज्ञ	—सग्राम	१३७-१
अष्टापद	—फलक [अष्टापदभूमिका-तुरङ्गफल-भूमिका इति स० टी० पृ० २४२–४]	१३७–१
गम	—यान [गम परगृहे यानमित्यर्थ स० टी० पृ० २४२–९]	१३७–२
उद्धव	—गर्व	१३७–५
डिम्ब	—विप्लव (विप्लव —विनाश स० टी० पृ० २४३)	१३७–७
सम्पराय	—सग्राम	१३७–८
अमत्राणि	—भाजनानि	१३८–२
साल	—प्राकार	१३९–३
समल	—अशुचि	१३९–५
अत्याधानम्	—अधस्तन	१३९–६
काष्ठ	—उपयोष ? (काष्ठ दारु इत्यमर)	१३९–६
सुख विदन्तोऽपीतिनिर्देश विदे शतुर्वसुरित्यत्र विकल्पस्येष्टत्वात्		१३९–६
पुष्प	—कूष्माण्ड	१३९–८
आदीनव	—दोष	१४०–३
प्रतिसर	—काण्डपट	१४०–४
लेखा	—देवा	१४०–४
गगनगमना	—खेचरा	१४०–६
उदाहरण	—यश	१४०–८
निचोल	—निवलक (निचुलस्तु निचोले स्यात् इति विश्व , निचोल प्रच्छदपट' अगरखा इति भाषाया– सम्पादक)	१४०–८
पौष्करेय	—कमल	१४१–१
ऐकागारिक–मलिम्लुच-पाटच्चर-नक्षत्रवाणिजका	चौरपर्याया	१४१–३,४,५,६,
* धर्मस्थीया		१४१–४

शब्द	अथ	पृष्ठ–पक्ति
चक्रीवत्	—गर्दभ	१४१–५
शालाजिर	—शराव	१४१–५
आस्वनित	—मन	१४२–४
गणरात्रा	—रात्रिसमूहा	१४२–४
नवविधा	–नैगमस्त्रिविधो द्रव्यपर्यायोभयभेदेन, सग्रहव्यवहारादयश्च षड्भेदा	१४२–७
वृषभेश्वर	—शभुरादितीर्थंकरश्च	१४२–७
कपिलतालयशालिनी	—कपिलताया लय तत स्वरूपावाप्ति तेन शालत इत्येव शीला, पक्षे कपिभिर्लतालयैश्च शालिनी शोभमाना	१४२–७
परलोक	—स्वर्गादि प्रतिपक्षश्च	१४३–१
नियोग	—नियोगभावनादयो वाक्यार्थ , नियोग आचरणादिप्रश्न , भावना —दर्शनविशुद्धिरित्यादिका षोडश	१४३–१
योगाचार	—ज्ञानाद्वैतवादी, योग —आप्तागमपदार्थयाथात्म्यज्ञानानुविद्धसपरिस्पन्दात्मप्रदेश , उपात्तागामिककर्मक्षयप्रतिबन्धहेतुराचारश्च	१४३–१
[1]सतसचिव	—	१४३–२
कुचुमार	—कुहुकविद्योपाध्याय	१४३–३
बाहुवलि	—ईश्वर केवली च	१४३–३
पार्श्वगत	—चित्रकर्मणि वृत्तविशेष तीर्थंकरविशेषागत च	१४३–३
अशोक	—तरु राजा च	१४३–४
रोहिणी	—तरु राज्ञी च	१४३–४
चरण—भक्षण, करण—उत्फुल्लविजृम्भादिक, चरणकरणे	—आगमविशेषौ	१४४–१
पुरन्दर इत्यादिना चित्रालिखिता स्वप्नावली वर्णयति		१४४–१
रमा	—श्री	१४४–२
पलाश	—राक्षस पल्लवश्च	१४६–२
परभाग	—शोभा परोदय च	१४७–१
देहली	—देहली	१४७–२

* तदुक्त—सर्ववर्णाश्रमाचारविचारोचितचेतस । दण्डवाचो यथादोष धर्मस्थीया प्रकीर्तिता. ॥ १ ॥

१ तदुक्त—सपत्ती स्वामिन स्वस्य विपत्तीस्तदरातिषु । य साधयति बुद्धचैव त विदु सचिव बुधा ॥ १ ॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
अरराणि—कपाटानि	१४७-२
योग्या—अभ्यास	१४७—३
विलय —विनाश पक्षिसश्रयश्च	१४७—५
लिपिकरा —लेखका	१४७—५
उद्यान—उद्गमन	१४९—६
गोपानसी—गृहाच्छादनपटलैकदेश	१४९—११
उटज—तृणकुटीरक	१४९—११
छदि —पटल	१५०—१
कङ्क —पक्षी	१५०—१
कृष्णलेश्या—रौद्रपरिणाम	१५०—१
करटा —काका	१५०—२
मृगव्यद —श्वान	१५०—२
[1]जनगम —माल (चण्डाल)	१५०—२
श्वपच —अन्तावसायी-दिवाकीर्तिश्चाण्डाला	१५०—२
वृषदश —मार्जार	१५०—४
कोणिका —क्रीडा	१५०—५
उत्कुरुट —कचवार ? (कुक्कुट)	१५०—५
अवहिता—तत्परा	१५०—६
निगृह्य—निर्स्त्रिश्य ?	१५०—६
पुष्परथकर्णीरथौ—यानविशेषौ	१५१—२
★पीठमदविटविदूषकनायकसामाजिकाना लक्षणानि पूर्वोक्तानि	१५१—३
उपकार्या—मठमन्दिरादि राजसदन	१५१—५
खरपट—ठकशास्त्र	१५१—६
सार्धुक —निजभार्याभगिनीपति	१५१—७
दु खत्रय—आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन	१५३—१
बोधवान्—आत्मा	१५३—३
बहुधानक—प्रकृति अव्यक्त च	१५३—३
ताविष —स्वर्ग	१५३—८
स्वलक्षण—सजातीयविजातीयव्यावृत्तक्षणिकनिरशपरमाणुमात्र	१५५—५
अदृष्टसाध्य—अनुपलभ्यमानफल	१५६—५
वन—जल	१५६—७
[2]तदात्मकार्येत्यादिनैतदाह	१५६—८
स्वरितस्वर —मध्यमध्वनि	१५७—१०
शेफस —साधनस्य	१६०—३
शतधृति —इन्द्र	१६०—४
अगेन्द्र —गेरु	१६०—४
रथचरणपाणि —नारायण	१६०—४
प्राग्रहर—शोभन	१६०—६
प्रवह च—शोभन	१६५—३
ताथागते—त्वयि बौद्धे	१६२—७
श्रुतित —आगमत	१६३—१
विधन्—कुर्वन् 'विध् विधाने इत्यस्यरूप,	१६३—१
कुलाल —कुम्भकार	१६३—१
सनातन —नित्य	१६३—४
उर्वरा—पृथ्वी	१६४—२
प्रभवभाव —कार्यकारणभाव	१६५—५
क्ष्वेड—विष	१६६—१०
पाण्डुतनया इवेति निदर्शनमयुक्त चण्डकर्मादिकाले पाण्डुतनयानामभावादिति तन्न[3]	१६७—१
निगरण —गल	१६७—६
कुरली—सहति	१६७—७
विष्वग्घुष्ट—घोषणा	१६८—२
कल्यपाला —मद्यसधायिन	१६८—३
मादि—मकारादिपदत्रयस्य मधुमासमद्यलक्षणस्य	१६८—४
चिक्कसा—खिल्ला	१६८—१०

---

१ चण्डालप्लवमातगदिवाकीर्तिजनगमा इत्यमर —सम्पादक ★ देखिए पृ० १५१ टि० न० २

२ तदुक्त—देहात्मिका देहकार्यां देहस्य च गुणो मति । मतत्रयमिहाश्रित्य नास्त्यभ्यासस्य गोचर ॥ १ ॥

३ तदुक्त—आराद् दूरसम वस्तु कालात्ययात्पुराऽपि यत् ।
सभाव्यते न तद्वक्ता तथात्वेन वदन् जड ॥ तथा भवतु वा मा वाऽदृष्टात्यक्षनरकादिक ।
न जातु दोषभाक् वक्ता स्वकालापेक्षया वेदन् तत्कालापेक्षया सर्वे न भावा कविगोचरा
तत्सर्वज्ञादपरस्यास्ति न काव्येऽवसरोऽन्यथा । इति वचनात् ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
आवी—प्रसूतिव्यथा	१६८–१०
दशेरा—श्वान	१६९–६
जोष—सेवा	१६९–७
विधीत—करुण	१६९–७
आविग्न—उद्विग्न	१६९–९
वैदेहका—वणिज	१६९–१०
मन्यु—कोप	१६९–१०
मुकुरुन्द—दपण	१७०–२
आवैशिक—अतिथि	१७०–४
पचशाख—हस्त	१७१–३
अस्तुङ्कारा—अभिमता	१७१–७
[1]अष्टाङ्गमहानिमित्तानि—	१७२–४
सभाजन—प्रीति	१७२–६
* प्रायोपवेशन—	१७२–११
अद्भुतमासमेत—आश्चर्यलक्ष्मोसमन्वित	१७२–१२
ब्रह्मपुत्र—विष	१७२–१३
सौल्किकेय च—विष	१७३–२
गन्धन—प्रकाशन	१७३–११
कौलीनता—दुरपवाद	१७४–५
परिषत्—कर्दम	१७५–२
घनसार—कर्पूर	१७५–३
अवचूल—अवतस	१७६–५
विदग्धा—बुधा	१७६–५
समावर्तन—आचार्यपद	१७७–१
अराल—दीर्घ	१७७–८
लीढा—दष्टा	१७७–८
नितले—तले	१७८–१
पर्यागतै—निषण्णै ? *निष्पन्नै	१७८–१

इति पञ्चम आश्वास

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
तदागम—मुनिकुमारयुगल-पुरदेवता-पुरेश्वर-पौर-जनागमन	१७९–१
सयमधी—तेषा मारिदत्तादीनामागमने प्राणिवधो माभूदिति बुद्धि	१७९–१
कन्दलानि—शिर शकलानि पल्लवानि वा	१७९–४
लेलिहाना—सर्पा	१७९–४
त्रिदिवदीर्घिका—गङ्गा	१७९–६
अर्जुनाम्बुज—सिताम्बुज	१७९–६
भिदु—घुणकीटा	१८०–२
नीहारकिरण—चन्द्र	१८०–४
दयोचिताचरणानन्दिता विनीतावनिपालदारा येन शेषाद्वेति कप् दारक इति—	१८०–४
दारक—विदारणशील	१८०–४
क्षुद्रा—दुराचारा	१८१–२
काद्रवेया—सर्पा	१८१–२
अनुजपर्य—पश्चाज्जन्मपर्याय	१८१–३
अभ्युदय—इष्टशरीरेन्द्रियविषयप्राप्तिलक्षण स्वग	१८२–६
नि श्रेयस—निखिलमलविलयलक्षणम्	१८२–६
आम्नाय—आगम	१८२–६
मिथ्यात्वादि—मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा	१८३–१
मोह—अज्ञान	१८३–२
सन्देह—इद तत्वमिद वाऽतत्वमिति चलन्ती प्रतिपत्ति सन्देह	१८३–२
विभ्रान्ति—अतत्वे तत्वाध्यवसायो भ्रान्ति	१८३–२
काये—स्वरूपे	१८३–६
तरस—मास	१८४–३
शक्ति—स्त्रीशक्ति	१८४–४
मुद्रा—योनिमुद्रा	१८४–४
कृष्णया—मदिरया	१८४–४

---

१. तथा चोक्त—अन्तरिक्ष स्वरो भौममग व्यञ्जनलक्षण । छिन्न स्वप्न इति प्राहुर्निमित्तान्यष्ट तद्विद ॥ १ ॥
ज्योतिर्भू विवरादेहोरेखाछन्नादिभिर्यत । छेदस्वप्नाधिकैर्नृणा ज्ञास्यते आत्मा शुभाशुभे ॥ २ ॥

* तथा चोक्त—बाहुल्ये भुक्तभावे च प्रायमाहुर्विचक्षणा ।

* अय प्रामाणिकोऽर्थं 'क०' प्रतित सकलितः—सम्पादक

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
प्रतिघ —विघ्न	२२१–८
[1]सूदन —निराकरण	२२१–९
नूतन —नव	२२२–१
भूच्छाया—तिमिर	२२३–१
वासतेयी—रात्रि	२२३–१
जातुधाना —राक्षसा	२२३–१
न्यक्षासु—सर्वासु	२२३–२
अवगण —एकाकी	२२३–२
भागधेयी बलि	२२३–३
पतिम्बरा—कन्या	२२३–३
इष्टि —पूजा	२२३–४
हुतवाहन —अग्नि	२२३–७
क्रव्यादा।—राक्षसा	२२३–८
ताविष्या —ताविषी नामकाया	२२३–९
उदाहृत्य—उक्त्वा	२२३–११
तलवर —तलार	२२४–१
वृषन्—प्रधान	२२४–४
शेमुषी—मति	२२५–३
केसर—बकुल	२२५–६
भोगायतन - आत्मा	२२५–७
उदस्वित—तक्र	२२६–३
वयस्या—सखी	२२७–१
सराणि—कुल्याः	२२७–६
पचालिका —पुत्तलिका.	२२७–६
किल—पटु	२२७–६
मोहन—सुरत	२२८–२
अकूपार —समुद्र	२२८–५
पालिन्दी—वीची	२२८–५
निचायिता—अवलोकिता	२२८–७
पक्वण—पल्लि	२२९–६
प्लोष —दाह	२२९–६
विरति —आर्यिका	२३०–३
व्याल.—मैथुनक	२३०–४

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
चतुर्थ—ब्रह्मचय	२३०–८
गरण —गल	२३२–४
अनर्गलम्—अनवरत	२३२–४
नासीर—नासिकायामपि	२३२–५
सृक्क —ओष्ठपर्यन्त	२३२–६
विशिखा—वीथी	२३२–६
उत्पातनिपाता—उत्पतननिपातनक्रिया	२३२–७
विष्वाण—भोजन	२३२–८
अध्येषणम्—अर्थिता	२३२–८
आस्वनित—मन	२३३–१
उदानीय—उद्धृत्य	२३३–२
अशनाया —क्षुत्	२३३–३
अपघनम्—अङ्गम्	२३३–५
अप्रतिघ—निर्विघ्न	२३३–५
वितर्दि—वेदिका	२३३–६
उपक्रुष्ट सुसम्	२३३–६
इन्दिरा—श्री	२३३–७
भर्मि —धूर्तत्व	२३३–८
स्थाम—बल	२३३–८
त्रिदिव —देवा	२३३–११
समज्या—कीर्ति	२३३–११
निर्वर्णित —सविस्मय निश्चित	२३४–१
अनिमिषा —देवा	२३४–३
मख —यज्ञ	२३४–९
भर्मि —परवचनकर' आडम्बर	२३४–१०
वृसी—पदूक (कुशासन)	२३४–११
आचाम —आचमन	२३५–१
सस्तव —मनसा कायेन वा सत्कारकरण	२३५–४
ज्ञान—मन्त्रवादादिविषय ज्ञान निर्वीजीकरणादिविषय	२३५–४
विधुरा —राक्षसा	२३५–६
पारावार —समुद्र.	२३५–६
अष्टाङ्गमहानिमित्तानि—भौमस्वरशरीरव्यञ्जन-लक्षणछिन्नभिन्नस्वप्ना	२३५–७

१. 'अध सूदन-निराकरण' 'क'

शब्द	अर्थ	पृष्ठ–पङ्क्ति
गगनगमना	—विद्याधरा	२३६–१
वीध्र	—विशद	२३६–२
निलिम्पा	—देवा	२३६–२
दोहद	—मनोरथ	२३६–५
पदवी	—स्थान मार्गो वा	२३६–८
आवश्यक	—नियमता	२३६–८
* चित्त	—आत्मा	२३६–९
मल्लक	—भाजन[1]	२३७–१
किशारु	—सालक अग्रविभागमित्यर्थ	२३७–३
अतिस्पष्टा	—असकीर्णा	२३७–४
विकटा	—महान्त	२३७–४
उदवसित	—स्थान	२३७–५
अगदम्	—औषधम्	२३७–८
वाक्प्रक्रमाऽसि	—वाक्प्रक्रम एव असि खड्ग	२३८–१
नीहार	—पुरीष	२३८–७
प्रतीक्षा	—पूजा	२३९–१
आवायत्काय	—शुष्यत्शरीर, यै वै शोषणे इत्यस्य रूप	२३९–२
निचायिका	—निचायो दर्शन स विद्यते येषामिति	२३९–४
आदीनव	—दोष	२३९–६
वशिक	—शून्य	२३९–८
सर्ग	—निश्चय	२४०–१
बहिर्वृत्ति	—वाह्याचारे	२४०–२
अमृतान्धस.	—देवा	२४१–१
कुतपा	—दर्भा (कुशा)	२४१–१
[2]अम्भोद्भव	—ब्रह्मा	२४१–४
कीनाश	—यम	२४१–९
पवनाशनेश्वर	—शेष	२४१–९
सिचय	—वस्त्र	२४१–१०
अमर्त्या	—देवा	२४२–१
पक्षद्वय	—कृष्णशुक्लपक्षौ	२४२–२
चञ्चरीका	—भ्रमरा	२४२–३
नाल	—कमल	२४२–३
आखडलजलधि	—क्षीरसमुद्र	२४२–४
तत्सुता	—श्री	२४२–४
अनश्चरण	—चक्र	२४२–४
नन्दक	—खड्ग	२४२–४
अरुणानुजः	—गरुड	२४२–५
कौमोदकी	—गदा	२४२–७
पाशभृत्	—वरुण	२४२–९
शाक्वर	—वृषभ	२४२–९
अन्वक्	—पश्चात्	२४२–९
नगनन्दना	—गौरी	२४२–९
निविरीश	—निविड	२४२–९
उद्भिदा	—तरव	२४३–१
पिण्ड	—काय	२४३–१
अम्बक	—लोचन	२४३–२
भाल	—ललाट	२४३–२
गगनाटना	—देवा	२४३–३
तटिनी	—नदी	२४३–३
प्रालेयकर	—चन्द्र.	२४३–३
विरोका.	—किरणा	२४३–४
सार	—कर्बुर	२४३–४
आजकाव	—धनु	२४३–५
शकोटा	—हस्ता	२४३–५
स्तम्बेरमासुर	—गजासुर	२४३–५
अनलोद्भव	—गुह	२४३–६
हेरम्भ	—विनायक	२४३–६
पारिषदा	—गणा	२४३–६
अहिर्बुध्न	—रुद्र	२४३–७
वल्लवी	गोपी	२४३–८
जनश्रुति	—वार्ता	२४३–८
कालिन्दीसोदर	—यम	२४३–१०
स्वापतेय	—धन	२४४–२

* 'बुद्धेरात्मनो वा' इति टिप्पणीकार ।

१ 'धारक' इति यावत् ।

२ 'कमलोत्पन्नस्य ब्रह्माणो रूप प्राप्य' इति टि० ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पक्ति
अयोमुखासन—घनु	२४४-२
द्रुघण—वज्र	२४४-३
निपा —घटा	२४४-६
इरावती—नदी	२४४-८
[1]पर्याप्तिमधामनि	२४४-१०
गोचर —आहार	२४५-१
वैयात्य—धूर्तत्व	२४५-२
रचनै —सबधै	२४५-४
विरोचनै —शोभमानै	२४५-५
* आदित—अग्रहीत्	२४५-६
कादम्ब —हस	२४५-८
तार्क्ष्य —गरुड	२४५-८
सवित्री—माता	२४६-४
पश्यतोहर —चौर	२४६-९
सनीड—समीप	२४७-२
मलिम्लुचा —चौरा'	२४७-३
ओक —आवास	२४८-१
कैरव—कुमुद	२४९-१
अर्जुनज्योति —चन्द्र	२४९-१-२
प्रत्यवस्यन्त—चलन्त	२४९-७
पचजन —मनुष्य	२४९-९
गोत्रा—भू	२५०-२
अभिषेण.—सेनया अभियातीति	२५०-२
उद्गूर्ण —उद्यत	२५०-३
सवीण - प्रवीण	२५०-३
मृगायितु—पलायितु	२५०-९
भ्रमिल—चक्र	२५१-७
निचाय्य — अवलोक्य	२५२-१
सोत्ताल— त्वरित	२५२-१
आत्महितस्योपकरिष्ये - आत्महितस्य प्रतियत्ने कृञ् इति	२१२-४
खिलै —उद्वसै	२५२-७
अगदंकरम्—औषध	२५२-९

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पक्ति
पदाकु —सर्प	२५३-५
वारिषेण ऋषिणा—इत्यत्र 'ऋत्यक' इत्यनेन प्रकृतिभावान्न सन्धि	२५३-६
वक्षोजौ—स्तनौ	२५३-९
प्रत्यवसान—भोजन	२५४-८
मङ्क्षु—झटिति	२५४-९
उदर्कम्—आयति	२५५-१
अद्धा—लघु (शीघ्र)	२५५-२
सराग—मचकादिक	२५५-३
आविद्ध—निर्भर आभुग्नो वा	२५५-५
मराल —हस	२५५-७
चलन —चरण	२५५-७
कीकसम् - अस्थि	२५६-२
भ्रातृजाया—भ्रातृभार्या	२५६-४
उद्धव —दर्प	२५७-१
शकलित—खण्डित	२५७-१-२
अमुत्र— परलोके	२५७-९
अन्तर्वत्नी—गर्भिणी	२५८-५
माकन्द-रसाल पिकप्रिय कालिदासा — चूतपर्याया —	२५८-५
शिफा —जटा	२५८-६
प्रतानिनी—लता	२५८-६
दैर्घिकेय—कमल	२५९-५
मित्रेण—रविणा	२५९-५
ब्रह्मवर्चस—यतिव्रतविद्याप्रभावा	२५९-५
प्रतोली—वरण्डिका	२५९-६
ऊर्ध्वज्ञो —ऊर्ध्वजानो	२६०-६*
शङ्कु —कीलक	२६०-१०
इलामातुल —चन्द्रमुखी ? [†चन्द्र]	२६१-५-६
कङ्केलि —अशोक	२६२-६
पोथ—बालस्य पेय दुग्धादि	२६२-७
माम —ज्येष्ठभगिनीपति	२६३-४
प्राग्भार —विस्तार	२६३-९

१ 'परि-सामस्त्येन आत्मधामनि' टि०। * 'आपादिता' मु प्रतौ।

† टिप्पणीमनुसृत्य सशोधित परिवर्तित च—सम्पादक * टिप्पणीमनुसृत्य सशोधित परिवर्तित च—सम्पादक

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
खलतिक—वन	२६३–११
शयालु —अजगर	२६४–१
प्रत्यूह —विघ्न	२६४–१
तीरिणी फेनमालिनी च—नदी	२६४–३–६
परैधित —परपोषित	२६५–१
उपनेतारौ—जातिकरणादिक्रियाकर्तारौ	२६५–३
पुण्यजना —राक्षसा	२६५–६
चिल्ल—दूषिकोपहत	२६५–९
चिकिन—अल्प	२६५–९
प्रतीक्ष्य —पूज्य	२६६–१
अनुहारै —सदृशै	२६६–८
गोत्रेण—नाम्ना	२६६–८
भ्रमरका —अलकाः (केशा)	२६६–९
कादम्वरी—मदिरा	२६६–१०
सविधे—समीपे	२६७–१
निवार्य—एकत्रीकृत्य	२६७–६
रणरणक —कलमल (अरतिजनक)	२६७–८
शरण—गृह	२६७–८
शुद्धोदनतनय —बुद्ध	२६८–४
अह्नानि—दिनानि*	२६८–४
अर्हणा – पूजा	२६८–९
प्रत्यवाय —विघ्न	२६८–९
आयतन—कारण	२६९–१
क्ष्वेलित—हस्तमुखसयोगजो ध्वनि	२६९–२
सामयिक —यात्रोचित	२६९–२
कुम्भीर— जलचरविशेष	२६९–४
शकुन्तेश्वर —गरुड	२६९–४
भद्रकुम्भा —पूर्णकुम्भा•	२६९–५
शया —हस्ता	२६९–५
कर्णीरथ —शिविका	२६९–५
भम्भा —हुडुक्का	२६९–६
विहायोविहारा —खेचरा	२७०–१
चक्रचरण —रथ	२७०–४
सौचित्य—सौमनस्य	२७०–९
सब्रह्मचारी—समानशील	२७०–१०
त्रिविधातङ्का —शरीरमानसागन्तुभेदा	२७१–३
सुधावमो—देवा	२७१–४
विशाला—उज्जयिनी	२७१–४
काश्यपी—भू	२७१–५
नक्र —मकर	२७१–५
दिवस्पति —इन्द्र	२७१–५
अजिह्म —पटु	२७१ ८
ब्रह्मस्तम्ब—भुवनत्रय	२७१–८
उद्याव —उत्सव	२७२–१
मेदिनीनन्दना —तरव	२७२–३
समूहेन—सम्यक् रूहो यस्य ।	२७२–३
मुकुन्द —दर्पण	६७२–५
कलि —विभीतकतरु	२७२–७
'गलि —कर्मायोग्यो वलि	२७२–८
प्रवेका —मुख्या	२७३–५
हलि —महद्धल	२७३–५
इला—भू	२७३–५
वादे —वादिन , वदेरौणादिक इ प्रत्यय	२७३–६
करिण —गजात्	२७३–८–९
प्रभित्—प्रभेदन	२७३–१०
अलि —भ्रमर	२७३–१०
समधिसर्ग —निश्चय	२७४–२
मातलि —सारथि	२७४–३–४
विदुष —बुध	२७४–४
भट्ट —अविद्वान्	२७४–६
सभाजन—प्रीति	२७४–६
अश्लीलम्—अश्रव्य	२७४–७

अह्नोऽस्त्री नपुसकलिङ्गत्वात् । स्त्रीलिङ्गे शापि डी विधौ च सति अहा, अह्नी इति च भवति, अष्टाहा इत्यभूत् ।
अस्याह्नः स्त्रिया त्रैरूप्य अष्टाहा, अष्टाही अष्टाह्नीति ।

दुष्टवृष शक्तोऽप्यधूर्वह टि० ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
मन्दाक्ष्य—लज्जा	२७४-७
अशिवता—अकल्याण	२७५–१
हिमवती—गङ्गा	२७५-३
वाद्धलि —गजागमाचार्य	२७५–४
सूक्ष्मण—परिभव	२७५–१०
कालेय—कुङ्कुमम्	२७६–१
सुरसरित्—गङ्गा	२७६–१
सवीण —प्रवीण	२७६–७
सर्वधुरीण —सर्वकर्मणि कुशल	२७६–७
अवस्कन्द —धाटक	२७६–९
अवसर्पा —चरा	२७६–९
अभ्यमित्रीण— शत्रु अभिमुख	२७६–९
अलक—स्वामिन	२७७–३
अलर्क —ग्रहिलश्च	२७७–८
समाशाख —मास	२७७–९
अजन्य—उपद्रव	२७७–१०
तमी—रात्रि।	२७८–१
समोरमार्ग —आकाश	२७८–२
चमूर —व्याघ्र	२७८–२
ऊर्णनाभः—लूता	२७९–१
* शालाजिर—शराव	२७९–७
सप्ततन्तु – यज्ञ	२७९–८
तृतीयेन—उदात्तेन	२७९–८
सवनेन—स्वरेण	२७९–८
विरिञ्च —ब्रह्मा	२७९–९
सत्र—यज्ञमण्डप	२८०–१
आलू—करक [भृगार झारी टि०]	२८०–३
सक्रन्दन —शक्र	२८०–४
सरिन्नाथ —समुद्र	२८०–५
गोध—पुरुषः	२८१–१
कायधर —चरण	२८१–४
चक्रवाल —मानुषोत्तरो गिरि	२८१–४
निदान—कारण	२८२–४
सगन्ध —समान	२८२–६
निध्यान—[प्रतिमाऽवलोकन टि०]	२८२–७
[1]निहालन, वाहन—दर्शन च	२८२–७
नाकिषु—देवेषु	२८२–८
आधिमुक्ति —श्रद्धा	२८३–२
अशुमान्—रवि	२८३–३
निवहण—निरसन	२८४–४
त्रिविधस्य—द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकभेदेन	२८५–६
एकादशविध —मूलव्रत व्रतान्यर्चा इत्यादिभेदेन	२८६–१
चतुर्विध —ऋषि यति-मुन्यनगारभेदेन	२८६–१
मूढत्रयस्य मदाना च विकल्प कवि स्वयमेवो तत्र वक्ष्यति—	२८७–३
अनायतनानि षट्—कुदेवतदालयतदागम इत्यर्थ	२८७–३
अप्रसङ्ग —अप्रतिषेध	२८७–६
रविरिपु —उलूक	२९०–६
[2]ज्ञानमेकमित्यादि	२९१–२
इति यश० पञ्जिकाया षष्ठ आश्वास	
वेकटकर्म—शोधनादिक्रिया	२९४–१
निदानत्वात्—कारणत्वात्	२९४–११
[3]उपाख्यान—कथानक आख्यानक तस्य चेद लक्षणम्	२९५–१
अखर्व —महान्	२९५–१
एकचक्र—पोदनपुर	२९५–१
पल—मास	२९५–४
कश्य हारहूर च—मद्य	२९५–४
आशुशुक्षिणि —अग्नि	२९६–२
तरस—मास	२९६–२
मत्तालय —मत्तभ्रमरा	२९६–६

* शरावो वर्धमानक इत्यमर ।

१ हल विशोधने, वह परिकल्पने अनयो. रूप ।

२ देखिए पृ० २९१ की टि० न० ३३

३ इतिहास पुरावृत्त प्रबन्धरचना कथा । दृष्टोपलब्धकथन वदन्त्याख्यानक बुधा ॥ १ ॥

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
खात्र—छिद्र	२९६–७
खरपटागम —ठकशास्त्र	२९६–८
मलिम्लुचा —चौरा	२९६–८
मैरेय—मद्य	२९७–३
यष्टायष्टि, मुष्टामुष्टि इत्यत्र पूर्वपदात्तस्यात्वमौपसख्यान	२९७–३
चिरत्राय—चिर	२९७–७
उदर्के—आयत्या (आगामिकाले)	२९८–६
आनृशस्य—दया	२९९–६
दृति —खल्वा, 'चर्मभाण्डेषु' टि०	३००–३
कुतुप —चर्ममय स्नेहभाजन	३००–३
मय —उष्ट्र	३००–४
विषद्रो —विषतरो	३०१–४
उद्यावेन्दिरा—उत्सवश्री	३०२–५
आसदी—स्थान	३०२–५
जाङ्गल—मास	३०२–६
निवर्हणमत्तीति निवर्हणात्—अदय	३०२–६
पृदाकुपाक —सर्पशिशु	३०२–९
अनिमिषचरौ—भूतपूर्वमत्स्यौ	३०३–७
एकानस्या—उज्जयिन्या	३०४–३
परासुता—मरण	३०५–२
दर्शन—मासरुधिरादीना,	
स्पर्शन—शुनकरज स्वलादीना,	
सकल्प —इद मासमिद रुधिरमित्याशय ,	
ससर्ग.—मृतजीवजन्त्वादिभिरशुद्धता,	
त्यक्तभोजिता—परिहृताभ्यवहरण	
प्राशप्रत्यूह —भोजनविघ्न	३०७–१
अमिश्र—केवल	३०७–६
मिश्र —सयुक्त	,, ,,
उत्सर्गि—निरपवाद	,, ,,
१ तथा कालाश्रय, देशाश्रय अवस्थाश्रय च	३०७–६
बल्ली—गुडूच्यादिका	३०७–७
कन्द —सूरणादिक	३०७–७
द्विदल—माषमुद्गचणकादिधान्य	३०७–८
शिम्बय —फलय	३०७–८
साधिता —रद्धा	,, ,,
परिदेवन—रोदन	३०८–२
कृच्छ्र —प्रायश्चित्त	३१०–५
पृथुरोमा—मत्स्य	३१२–६
शकुली, वैसारिण , अषडक्षीणः पाठीनश्च—मत्स्य.	३१३–३–१०
निचाय्य—अवलोक्य	३१२–८
आनाये—जाले	३१३–५
प्रमापयितव्य —हिंसितव्यः	३१३–५
शैवलिनी—नदी	३१३–७
अरर—कपाट	३१४–३
भित्त—शकल	३१४–४
सरीसृप —सर्प	३१४–५
व्युष्ट—प्रभात	३१४–१
उषर्बुध —अग्नि	३१४–६
द्रविणोदाश्च—अग्नि	३१४–७
कुलपालिका—कुलस्त्री	३१४–११
समापन्नसत्वा—गर्भिणी	३१४–११
पाञ्चजनीन —भण्डप्रिय	३१४–१२
कलत्र—जघन भार्या च	३१५–३
स्वापतेय—धन	३१५–३
वनाशय —जलाशय	३१५–४
प्रतिग्रह —स्वीकार	३१५–६
उद्गमनीय—धौतवस्त्र	३१५–७
दवरक —दोर	३१५–७
वास्रो—वासर	३१५–८
उदवसित—गृह	३१५–८–९
परिसर —अङ्गण	३१५–९
विशीर्यमाणा—म्लायन्तो	३१५–९
निध्याय—दृष्ट्वा	३१५–९
प्रतीक्ष्याय—पूज्याय	३२२–३

१, एतच्च देशान्तर पिंडशुद्धयादिशास्त्रेभ्यो विस्तारेण प्रतिपत्तव्य ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
वृष —मुख्य	३१६–१
अधिष्ठान —आश्रय	३१६–१
शेवधि —निधि	३१६–२
[1]आलिन्दक	३१६–४
चित्रभानु —अग्नि	३१६–५
उपांशुदण्ड —गूढवध	३१६–६
प्रमीत —मृत	३१६–७
श्वपच , जनगम , अन्त्यावसायी	३१६–६
दिवाकीर्तिश्च —चाण्डाल	३१६–.-९
जिह्म —कुटिल	३१६–८
ब्राह्मी—वाणी	३१६–८
स्तन्यप —शिशु	३१६–८
*रामरश्मि हरिणकिरणश्च श्वेतभानुश्चन्द्र इति यावत्	३१६–१०
नि शलाक —एकान्त	३१६–१०
पण—व्यवहार	३१७–२
शण्डा —वृषभा	३१७–२
गोष्ठीन—गोकुलस्थान	३१७–३
सनीड—समीप	३१७–३
लपन—मुख	३१७–३
तानका —वृषभा	३१७–४
जात—बाल	३१७–४
कीनाश —यम	३१७–७
तोकम्—अपत्य	३१७–८
सञ्ज्ञपन—मारण	३१७–९
उपह्वर—रह	३१७–९
उपमाता—धात्री	३१८–२
हम्भा—गोरुत	३१८–३
उपदान्तर—समीप	३१८–३
सरोजसुहृदि – आदित्ये	३१८–४
वल्लवा – गोकुलिका	३१८–५
इन्दिरा—श्री.	३१८–६
कमलेश श्रीपति	३१८–७
वल्लवी—गोपी	३१८–७
कामन्दः—काम	३१८–८
प्रज्ञु —प्रकृष्टजानु	३१९–१
पौतव—तुला मान च	३१९–२
विष्य विषेण वध्य	३१९–२
मुशल्य —मुशलेन वध्य	३१९–२
एकानसी—उज्जयिनी	३१९–४
पदिर - मार्ग	३१९–४
पिकप्रिय —चूत	३१९–४
कर्कोट —कण्ठरेखा	३१९–९
अजुन—तृण	३२०–१
अवधेय - आदरणीय	३२०–२
कूपद —सहिरण्यकन्यादाय जामातृदेय वस्तु	३२०–३
वेदमुख —वह्नि	३२०–३
विशिखा —मार्ग	३२०–४
आमुच्य – वद्ध्वा	३२०–४
कच्चर—कुत्सित	३२०–८
भहारजन—कुसुभ	३२०–१०
मोर —मयूर	३२०–१०
मौकुलि —काक	३२०–१०
अवगण —एकाकी	३२१–३
असस्तुत —अपरिचित	३२१–३
उपयाचित— नमसित	३२१–४
स्पर्शयितु—दातु	३२१–४
निकाय्य —गृह	३२१–६
वैवेयो—निर्भाग्य	३२१-७
प्रवासयितव्यो— मारयितव्य	३२१–७
भेल —अविचारक	३२१–८
कुरुण्ड - मार्जार	३२१–८
तोदक —व्यथक	३२१–९
श्याव —कर्दम	३२२–१

१ प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके इत्यमर ।

* राम सितेऽपि निर्दिष्टो हरिणश्च तथा मत इति वचनात् ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
आप्य—आगत्य	३२२–४
वापेन—पित्रा	३२२–५
दशमीस्थ —मृत	३२२–८
प्रतिघ —विघ्न	३२२–८
पद्मावती —उज्जयिनी	३२३–२
तुजा—पुत्रेण	३२३–२
रमा—श्री	३२३–६
अभ्रिय वज्राग्नि	३२३–६
विदान्य —विदग्ध	३२३–८
वदान्यः—त्यागी	३२३–८
अवदान—साहस	३२३–८
मित्रयुः —व्यवहारवेदी तस्य भावो मैत्रेयिका	३२३–९
मन्तु —खेद	३२३–९
कन्तु —काम	३२३–९
सक्तः—मधुर	३२४–१
दमूनसि—वह्नौ	३२४–३
वचत्र—वचन	३२४–५
दोषज्ञ —अतीन्द्रियज्ञ	३२४–६
निरजन्य—निर्विघ्न	३२४–७
सायुज्य—साम्य	३२४–८
रायि—धने	३२५–४
रिक्थ—द्रव्य	३२५–५
स्वस्य—धनस्य	३२५–५
द्वापराय—सशयाय	३२५–६
तत —स्तेनात्	३२५–८
अनिमिषा —देवा	३२६–५
कुल्या —शाला	३२६–९
यवस—तृण	३२६–९
भटीरा —भटा	३२६–१०
पीठमर्द —नाटकाचार्य	३२७–१
सनाभि —बन्धु	३२७–४
पुण्यश्लोक —सत्यवाक्	३२७–६
उपनिधि —स्थापनीयँ द्रव्य	३२७–६
वस्तुस्कन्ध—वस्तुसमूह	३२८–१
यद्रुविष्य —दैवावलम्बनपर	३२८–२
क्षणदा—रात्रि	३२८–३
वशिक —शून्य	३२८–४
वासिता—स्त्री	३२८–५
विश्वकर्मणि—आदित्ये	३२८–५–६
सद्रवण—विनाश	३२८–६
अन्तर्मनस्ता—दु खिता	३२८–६
छात —कृश	३२८–७
पटच्चर—जीर्ण	३२८–७
कर्पटि —नि स्व	३२८–७
पस्त्य—गृह	३२८–७
अवर्ता—निर्जीविका	३२८–७
धन्का—तृष्णा	३२९–२
दुर्दुरूट —दुराग्रही	३२९–२
लञ्जिका—दासी	३२९–४
पाटच्चरः—चौर	३२९–७
अणक —कुत्सित	३२९–७
प्रत्ययिक —विश्वास्य	३२९–७
अतिवेल—अतीव	३२९–७
शब्बाल —वाचाल	३२९–९
पालिन्द —राजा	३२९–९
* अन्याय्य—असगत	३२९–१०
अनस्तित —नाथरहित	३२९–१०
तानक —वृषभ	३२९–१०
चिक्कण [1]—अपरिच्छेदक	३३०–३
स्वाध्यायिन — मठिकाप्रतिबद्धा	३३०–३
महापरिषद —न्यायचिन्तनाधिकृता	३३०–३
अनधीनधी —परवशबुद्धि	३३०–४
अशङ्कशुका—स्थिरास्थिरा	३३०–४
नेम—समीप	३३०–४

* इद पदमुपलब्धासु कासुचित्प्रतिषु न वरीवर्ति—सम्पादक.

१ 'लोभिष्ठ' इति टि० ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति	शब्द अर्थ	पृष्ठ—पंक्ति
तमस्विनी—रात्रि	३३०–५	वेदवैवधिक—वेदानुष्ठानरत	३३३–३
यद्वद—असम्बद्धप्रलापी	३३०–७	विश्वभोज—अग्नि	३३३–४
सर्वर्तुपरिवत—सवत्सर	३३०–८	चैत्य—आस्पद	३३३–४
उपसवित्री—धात्री	३३१–१	दुर्गतिक—जार	३३३–४
अनुक्रोश—अनुग्रह	३३१–२	चर्मतरु—भूर्जतरु	३३३–५
परिप्लुत—गृहीत	३३१–३	[1]विश्रो—जरा	३३३–५
परिवत्सरदल—सवत्सरार्द्ध	३३१–४	वयोधा—युवा	३३३–६
व्याहार—आलाप	३३१–४	अभिघार—घृत	३३३–६
मन्त्रे—मन्त्रिण	३३१–५	विश्ववेदा—अग्नि	३३३–६–७
अम्बके—अम्बा	३३१–५	उद्गर्वित—भृत	३३३–८
कुच्चर—कुत्सित	३३१–६	शालाजिर—शराव	३३३–८
कुक्कुटी—माया	३३१–६	किर्मिर - कर्बुर	३३४–१
ऊर्मिका—मुद्रा	३३१–६	परिषत्—कर्दम	३३४–१
तितिणिका—चिचा	३३१–७	प्रमार्ष्टि—विलेपन	३३४–२
विषमरुचि—अग्नि	३३१–८	परिष्कृत—अलङ्कृत	३३४–२
सगीति—सकेत	३३१–९	वालेयक:—गर्दभ	३३४–२
स्वस्त्ये—भाविनि	३३१–९	हिरण्यरेता—अग्नि	३३४–३–४
अध्येष्य—प्रार्थ्य	३३१–१०	अन्ववाये—वशे	३३४–४
नन्दन—देवोद्यान	३३२–२	रोहिदश्व—अग्नि	३३४–७
वैदेहिकनन्दन—वैश्यपुत्र	३३२–२	दशेर—सर्प	३३४–७
दिष्ट्या—पुण्येन	३३२–३	आनृशसधी—पराद्रोहबुद्धि	३३५–१
उपयिक—उचित	३३२–८	परीवाद—असम्बद्धालाप	३३५–४
स्तिभी—हृदय	३३२–८	अन्धासि—अन्नानि	३३५–७
कौलीनता—दुरपवाद	३३२–९	आस्थाय—प्रतिज्ञाय	३३५–८
न्युब्ज—अधोमुख	३३२–१०	परिवादयेत्—निन्दयेत्	३३६–२
हरिणी—स्वर्णप्रतिमा	३३२–१०	प्रतिकर्म*—नैपुण्य	३३८–३
सूर्मी—लोहप्रतिमा	३३२–१०	२ विप्रश्नविद्या—	३३८–३
सोमपायिन—ब्राह्मणा	३३३–१	३ कथा—चित्रार्थगा	
वैधेय—निर्भाग्य	३३३–१	४ आख्यायिका—ख्यातार्था	३३८–३
कुशिका—ब्राह्मणा	३३३–२	प्रवाह्लिका—प्रहेलिका	३३८–३
पासन—दूषण	३३३–२	सवीणता—पटुता	३३८–४

१ जरा विश्रोतिरुच्यते इति वचनात्।

* देखिए पृ ३३८ की टि० न० ४

२ होराक्षरादिभि अथवा अहोरात्र्यादिभि परचित्तज्ञान।

३-४ देखिए पृ ३३८ की टिप्पणी न० ६

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
विशिका—परवचनोपाय	३३८–६
* कात्यायिनी—	३३८–६
सगर— प्रतिज्ञा	३३८–८
चाम्पेय—चम्पक	३३९–४
भोगायतन—शरीर	३४०–१
निरनुक —असहाय	३४०–२
[1]जङ्घाकरिक —चर	३४०–३
अशना—क्षुधा	३४०–३
वाष्पीह —चातक	३४०–४
क्लमथु —श्रम	३४०–४
मन्दिर— मण्डप	३४०–४
रुचिष्य —शास्त्रोपदेशयोग्य	३४०–५
विदुष—पण्डित	३४०–५
आशीति —आशय	३४०–६
न्यक्ष —सर्व	३४०–८
ज्वालामाली—पावक	३४०–७
तपस्वी—वर्पुट	३४०–९
एकायन—एकाग्र	३४०–९
जन्यु —पुत्र	३४१–९
विदुष्या —विचक्षणा	३४२–६
विधूत —स्फेटित	३४२–७
[2]उपाध्यायात्—	३४२–७
एकसर्ग —एकाभिप्राय	३४२–७
सप्तरुचि —अग्नि	३४२–११
समिथ —गोधूमचूर्णं	३४३–४
ऊर्णायु.—उरण	३४३–४
[3]हव्यवाहवाहन —	३४३–५
खर्व —लघु	३४३–६
कुड्य[4]—भित्ति	३४३–६
द्रुघण'—देश	३४३–८
अपसद उपसदो वा—गत	३४४–२
अन्तेवासिन —शिष्या	३४४–६
परार्ये वा—गततृतीयवर्षे एव	३४४–७
परुत्—गतवर्षे	३४४–७
मजू —सह	३४४–७
द्वापर —संशय	३४४–८
अद्यश्वीने—पुराणे	३४४–९
अपरवान्—स्वतत्र	३४४–९
[5]मादृग्विधीने—	३४४–९
अस्तुङ्कार — असगत	३४५–१
रसवाहिनी—जिह्वा	३४५–२
कशिपू—भोजनाच्छादने	३४५–४
* आचित —भार	
अन्तर्धान—तिरोधान	३४५–८
इन्दिन्दिर —भ्रमर	३४६–५
शरव्यीकृते—लक्ष्यीकृते	३४६–६
अपराद्धेषु —लक्ष्यच्युतबाण	३४७–७
उत्कुर्वाण —प्रकाशयन्	३४६–८
उद्भिद —तरु	३४६–९
असमीक्ष्य—अपरीक्षणीय	३४७–१
मन्यु —दु ख	३४७–२
लोहले—अव्यक्ते	३४७–२
काहले—चन्द्रे	३४७–३
प्रजा —विप्रा	३४७–५
नतभ्रू —विलासिनी	३४७–९
उदकपरिचारिका—कुण्डिका	३४७–११
ह्रीणता-लज्जा	३४८–४
शलल —शलाका	३४८–५
अगणेय—गणयितुमशक्य	३४८–५
पिञ्छोल —वश	३४८–६

* देखिए पृ ३३८ की टिप्पणी न० १० ।

१ चरणचर पादचारी ।

२ उपाधेरसदाचारस्य आय उत्पादो येन स तस्मात् ।

३ हव्यवाहवाहन , उरभ्र , वृष्णिश्च मेष ।

४ 'कुम्बा' सर्वत्र प्रतिषु ।

५ मादृशा विधिस्तस्य इने ईश्वरे ।

* इद पद मु० एव० ह० लि० प्रतिषु नास्ति ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पक्ति
कशा—हयहननोपकरण	३४८–६
पुरु—महत्	३४८–७
विश्वग्घुष्ट—दुरपवादघोषणा	३४८–८
श्रीफल—विल्व	३४९–१
द्वीपिनी—नाम नदी	३४९–१
उल्लाघ —घटना	३४९–३
[१] निर्वर —निर्वैर	३४९–५
षोडन्—षट्दशन	३४९–७
कापिशायिन—मद्य	३४९–११
चेतन्—जानन्	३४९–११
* उपन्यस्यमान —	३५०–१
आवेगेन—शोकेन	३५०–४
सप्ततन्तूना—यज्ञाना	३५०–५
ईतिमि —[२]सर्पकण्टकादिभिः	३५०–८
श्रुतिधृति —ब्रह्मा	३५०–९
क्लीव—नपुसक	३५१–२
जित्या—कृषि	३५२–६
सावर्या—मायया	३५२–७
प्सात्वा—खादित्वा	३५२–९
वीतिहोत्र —अग्नि	३५२–९
द्राघीय —दीर्घतर	३५३–१
अग्नायीपति —अग्नि	३५३–१–२
धनञ्जयश्च—अग्नि	३५३–२
हव्य—देवदेय	३५३–२
कव्य—पितृदेय	३५३–२
शोचिष्केश —अग्नि	३५३–३
जीन —क्षीण	३५३–३
आदीनव–दोष	३५३–५
हुतप्रीति —अग्नि	३५४–३
भावाप्ति —रतिरसप्राप्ति	३५४–५
तृतीया प्रकृति —नपुसक	३५४–६
इन्धे—दीपिते	३५५–३
अभिध्यान[३]—आकाङ्क्षा	३५५–४
उपयम —विवाह	३५५–५
उपद्रव्य—यन्त्रलिङ्गलेपादिप्रयोग	३५५–६
वृथाट्या—एवमेव विहरण	३५५–६
पोरोभाग्य—असूयकत्व	३५५–७
पद्मा—श्री	३५६–७
षिङ्ग —विट	३५७–१
अराल—चारु	३५७–२
अषडक्षीणे—चतुर्लोचने	३५७–६
शरणे—गृहे	३५७–६
* सुनयायतनपतनादिभि —	३५७–६
अवन्ध्यसाध्यमिति क्रियाविशेषण	३५७–७
आकूतम्—अभिप्रेते	३५७–७
द्योत्य—प्रकाश्य	३५८–१
तरसो —वेगयो	३५८–१
अचिरत्न—लघु (शीघ्र)	३५८–९
अथकि—एवमेतत्	३५९–३
वचत्रै —वचनै	३५९–४
वास्तु - गृह	३५९–५
इत्वरी—कुलटा	३५९–८
उपोद्घात —अवतारणक्रम	३५९–८
दुश्चर्मा—रुद्र	३६०–१०
[४]कुसुमकिसारु —काम	३६१–४
पुष्पधय —भ्रमर	३६१–६
रसाल —चूत	३६१–६
स्कन्द —क्षयरोग	३६१–१०
सन्नता—चेष्टाभावक्षीणता	३६१–१०
जलार्द्र—वस्त्रव्यजन	३६२–१
कर्णजाह—कर्णमूल	३६२–४
एवमेव—कडारपिङ्गस्त्वामभिलषतीति	३६२–४

१ 'निष्ठुर' टि० ख०।

* उपसर्गादस्यत्यूहोर्वात्मने पद।

२ देखिए पृ० ३५० की टि न० ११–१२।

३ आर्तध्यान।

* सुनयायतनपतनमदन्ति विनाशयन्ति इत्येवशीलै।

४ देखिए–पृ. ३६१ की टिप्पणी न ३।

शब्द अर्थ	पृष्ठ—पक्ति	शब्द अथ	पृष्ठ—पक्ति
वासुरेषु—पक्षिषु	३६२–८	ज्वालवल्ली—वदरी	३७०–२
श्वशुरस्य—हिमाचलस्य	३६३–१	कार्षापण—मान	३८०–४
मत्तालय—भ्रमरा	३६३–२	वलीका त—गृहपटललम्बिता ?	३७०–७
वृक्षोत्पल—कर्णिकार	३६३–२	मुकुर—दर्पण	३७०–७
अभ्यासे—समीपे	३६३–३	निकाय्य—गृह	३७०–७
प्रवया—वृद्ध	३६३–८	ऊरुबुक एरण्ड	३७०–८
आयतन—कारण	३६४–३	नवीन—नव	३७०–८
सुप्तजन—रात्रिमध्य	३६४–९	कदर्या—लुब्धा	३७१–४
प्रतीका—अवयवा	३६५–४	विधापयन्—विध विधाने	३७१–६
आकल्प—वेष	३६५–५	मितपच—लुब्ध	३७१–९
शैलूष—नट	३६६–४	वैवधिका, परिस्कन्दा, काच—	३७१–९
तृणेह्मि—हिनस्मि	३६६–७	वहाश्च एकार्था—	३७२–१–३
सत्री—यजमान	३६६–८	घस्र—दिवस	३७१–१०
आक्षारण—परिभव	३६६–८	अपस्नातव्य—मृतस्नान कर्तव्य	३७२–३
कुप्य—वस्त्रकम्बलादि	३६७–४	उपह्वरे—एकान्ते	३७२–४
भाण्ड—लोहकर्पूरतैलादि	३६६–४	शिलापुत्रक—पेषणपाषाण	३७३–१
वेदा—स्त्रीपुनपुसकभावा	३६७–५	वैदेहिकव्यञ्जन—वणिक्वेष राजप्रणिधि	३७३–३
हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा	३६७–५	प्राचीनवर्हिरिन्द्र	३७३–३
धनायाविद्ध गर्द्ध	३६७–७	वभ्रु—नकुल	३७४–६
ज्यानि—हानि	३६८–६	❀ वृथाक्रिया—	३७४–७
द्वन्द्व—परिग्रह	३६८–७	सम्पराय—ससार	३७४–८
उपशल्ये—समीपे	३६९–१	सुहृत्ता—मैत्री	३७५–२
सभारादि—तैलादि	३६९–५	इति यशस्तिलकपञ्जिकाया सप्तम आश्वास	
प्रसभाभ्यवहृति[1]—गृद्धिभोजन	३६९–६	तार्क्ष्य—गरुड	३७६–३
कडङ्कर—धान्यतृण	३६९–७	सूदन—अपनोदनम्	३७६–३
ध्वजा—तैलिका	३६९–७	दौश्चित्यम्—आर्तरौद्रध्याने	३७६–४
पितृप्रिया—तिला	३६९–८	दुर्जन—चाण्डालरज स्वलादि	३७६–६
यन्त्र—घाटक (घाणी)	३६९–८	ब्रह्मजिह्मस्य-ब्रह्मचर्यमन्दस्य	३७७–४
प्रत्यवसान—भोजन	३६९–९	मृत्स्ना—अजन्तुका भूमि	३७७–६
स्थालीविलीयअर्हति	३६९–१०	निर्मलता—गन्धलेपहानि ?	३७७–६
अवन्तिसोम—काञ्जिक	३६९–१०	आप्लुत—स्नात	३७७–८
विष्णुतरु—पिप्पल	३७०–१	सप्लुत—अव्यग्र	३७७–८

१ बहु भुज्यते इत्यथ ।

❀ निष्प्रयोजन भूखनन, जलस्फालन, अनलसमेन्धन, पवनकरणमेकेन्द्रियहिसन च ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
ऊधस्य—दुग्ध	३७८–२
लौकिको विधि—विवाह	३७९–१
श्रुतगी—उपाध्याय	३८०–१
दृक्—दर्शन	३८०–१
अवगम—ज्ञान	३८०–१
वृत्त—चारित्र	३८०–१
सिचये—वस्त्रे	३८०–२
सैकते—पुलिने	३८०–२
अरि—मोहनीय	३८०–८
रज—ज्ञानावरण दर्शनावरण	३८०–८
* रह—अशुभाचार	३८०–८
कुहक—इन्द्रजाल	३८०–८
आजवजवीभाव—ससार	३८०–८
पोतिका—वालिका	३८०–१०
अवीचि—निरय	३८०–१०
मणिमकरिका—पुत्तलिका	३८०–११
विकटाकार—टक ? (जडिया–स्वर्णकार)	३८१–१
विरोचन—रवि	३८१–२
चार्वीत्रय—मति श्रुतमवधिश्च	३८१–३
अभिनिवेश—सम्यक्त्व	३८१–७
गुणा—अर्हता	३८२–२
प्रत्न—पुराण	३८२–४
नूत्न—नव	३८२–४
उदितोदित—जात्याचरणशुद्ध	३८२–५
विनियोग.—व्याख्यान	३८२–६
उपनयन—दीक्षाव्रतारोपण विधि	३८२–६
द्विधात्मकथा—गृहस्थाश्रय	३८२–६
सम्पराय—ससार	३८३–१
प्रमाण—वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतु	३८३–३
नय [1]—	३८३–३
निक्षेप [2]—	३८३–३

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अनुयोग [3]	३८३–३
अवगाहन—विमर्शन	” ”
प्रयोग—शास्त्रार्थज्ञापन वचन	” ”
वाग्मित्व [4]—	३८३–३
त्रिपथगा—गगा	३८३–७
व्रात—समूह—	३८४–२
अर्वाचीन – अर्वाग्भव	३८४–२
विरिञ्च.—ब्रह्मा	” ”
वैखानस—तापस	” ”
प्रत्यूह—विघ्न	३८४–३
अवधारणद्वय [5]—	३८४–८
प्राकाम्य—आकाङ्क्षा	३८४–९
अवह्लादन—विचिकित्सा	३८४–९
अनेकत्रिदशविशेषा *—	३८५–१
वर्ष—क्षेत्रम्	३८५–२
सत्यकार—व्यवस्थानुल्लङ्घनम् धनसार्थ इति लोकभाषा	३८५–४
अनवद्यविद्या—केवलज्ञान	३८७–१
निदान—कारण	३८७–१
पञ्चतयात्मनः [6]—	३८७–४
अत्यल्पायति—स्वल्पव्यापारा	३८८–६
कौतुक—कङ्कण	३८९–५
रश्मिभि—किरणै, रज्जुभिश्च	३९०–१०
भौमा—भवनवासिन	३९१–७
चित्तवृत्तिप्रचार—आत्मेन्द्रियमनसा व्यासङ्गहेतुर्व्यापार	३९२–७
उपनये—परिकल्पयामि	३९२–९
सदका—तण्डुला	३९३–२
आराम—परिग्रह	३९३–३
ऊर्मय—क्षुत्पिपासादय	३९३–३
विव्वोका—विलासा	३९३–५

---

* 'अन्तरायकर्म' टि. ।

१,२,३, देखिए पृ ३८३ की टि न० ५,६,७ ।

४ देखिए पृ ३८३ टि न १० ।

५ देखिए पृ० ३८४ टि न १४ ।

* देखिए—पृ ३८५ की टिप्पणी न २ ।

६ देखिए—पृ० ३८७ की टिप्पणी न ६ ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति	शब्द अर्थ	पृष्ठ–पंक्ति
अनुषङ्ग —आशय	३९३–६	पुरूहूत —शक्र	४०२–१
सविधे–समीपे	३९३–७	पुरुदेव—आदिदेव	४०२–१
अपचितौ—पूजाया	३९४–२	अवम—दोष	४०२–३
प्रजापतिनिकेतन—ब्रह्मस्थान	३९५–१०	श्रवसा—कर्णाना	४०५–१
अमर्त्यक्षितिभृति—सुरशैले	३९६–३	कुञ्जर —प्रधान	४०५–२
लक्ष्मीश्रुतागमनबीजै —श्रीसरस्वतीवीजै		उद्धव —गर्व	४०६–४
'श्री ह्री'	३९६–६	वित्ति —ज्ञान	४०७–३
सव —अभिषेक	३९६–८	अचिति—अचेतने, प्रधान इति यावत्	४०७–३
पितृपति —यम	३९७–१	धिषण —बृहस्पति	४०७–५
नैगमेय —नैऋति	३९७–१	विदि—ज्ञाने	४०७–६
प्रचेता —वरुण	३९७–१	विमुचि—मुक्ते	४०८–१
रैद —धनद	३९७–२	निप —घट	४०८–३
उडुप —शशी	३९७–२	अक्षजनित—निर्विकल्पक	४०९–५
क्षेपीय —शीघ्र	३९७–४	अनेकधर्मप्रवृद्धि —पक्षधर्मत्व सपक्षे सत्वाद्धिका	४१०–३
भूति —भस्म	३९७–६	महेत—पूजागत	४११–३
हरिता—दूर्वा	३९७–६	विदृशि—विगतदर्शने (अन्धे)	४११–८
चोच—नालिकेर	३९७–९	इन —रवि	४११–८
प्राचीनामलक—फलविशेष	३९७–९	अर्यमा—रवि	४१२–५
पूग—क्रमुक	३९७–९	छात्रमित्रेति—कवेरवेदनक नाम ?	४१३–४
हैयङ्गवीन—घृत	३९८–२	अधिगानात्—अविप्रतिपत्ते	४१३–७
मलय—चन्दन	३९८–७	समवाये—समाजे सधमेलापके	४१३–७
भम्भा—हुडुक्का	३९९–३	देवयात्राया—तीर्थङ्करपूजाया	४१३–७
घन—तालादिक	३९९–४	अर्ककान्त—सूर्यकान्त	४१३–८
तत—वीणादि	३९९–४	द्वय—स्थितपर्यङ्कलक्षण	४१६–१
अवनद्ध—मुरजादि	३९९–४	यम —प्रवेश	४१६–२
मख—स्तुति	३९९–६	आयाम —निर्गम	४१६–२
भाल—ललाट	३९९–६	शान्त —निश्चल	४१६–२
परिषत्—समवसरणसभा	३९९–७	ग्रावोत्कीर्ण —पाषाणघटित	४१६–२
सभास्तारा —बुद्धा	३९९–७	एकाग्रता—ध्येयादन्यत्र व्यापाराभाव	४१६–४
आवर्जित —उपात्त	४००–३	देहयातना—करणग्रामनियन्त्रणा	४१६–४
उत्तरोदकै —मेघोदकै हसोदकैर्वा	४००–६	द्वयातिग —तोषरोषाभ्या विनिर्मुक्त	४१६–५
अमृतकृतकर्णिके[1]—अमृत पवर्ण	४००–७	क्लीवत्व—दैन्यत्व	४१६–६
कला —अकारादय षोडश	४००–७	व्यासङ्ग —व्याकुलता	४१७–१

१ देखिए पृ० ४०० को टिप्पणी न० १०–११–१२ ।

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
वैराग्य—दृष्टागामिविषयेषु वैतृष्ण्य	४१९-४
ज्ञान—बंधमोक्षोपायविवेक	४१९-४
असङ्ग —वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्याग	४१९-४
स्थिरचित्तता—तप स्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽविचलितप्रयत्न	४१९-४
ऊर्मिस्मयसहत्व —शारीरमानसागन्तुपरीषहोद्रेकविजयित्व	४१९-४
*योगतत्व—	४१९-४
आधि —दौर्मनस्य	४१९-५
व्याधिः—दोषवैषम्य	४१९-५
विपर्यास —अनत्वे तत्वाभिनिवेश	४१९-५
प्रमाद[१]—	
आलस्य[२]—	४१९-५
विभ्रम[३] इत्यादि	४१९-५
अविषिक्तात्मा—असपृक्ताशय	४२०-१
[४]धृति मैत्री [५]दया[६]—	४२४-२
संयोग[७], विप्रलम्भ[८], निदान[९], परिदेवन[१०]	४२४-४
भेद—पृथक्त्व	४२७-२
विवर्जिताभेद—एकत्वरहित अर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु सक्रमात्*	४२७-२
अभेद—एकत्व	४२७-२
भेदवर्जित—पृथक्त्वरहितमर्थव्यजनयोगान्तरेष्वसक्रमात्[११]	४२७-२
[१२]सूक्ष्मक्रियाशुद्ध —	४२७-२
[१३]निष्क्रिय योग —	४२७-२
प्रसख्यान—ध्यान	४२८-३
[१४]चतुस्त्रिंशद्गुणोपेत—	४३०-३

शब्द अर्थ	पृष्ठ-पंक्ति
सरसागम—सुखरसागम	४३०-९
[१५]खसुमदीपनिर्वाणे—	४३१-५
[१६]त्रयीमार्गं, त्रयीरूपमित्यादि[१७]	
मन्दरमुद्रा —पञ्चमेरुमुद्रा	४३४-३
[१८]सर्वनामादिवर्णार्हं—	४३४-३
पञ्चमूर्ति—ॐकार	४३५-१
सगमे—भ्रुवोर्मध्ये	४३५-१
क्षिपेत्—मुञ्चेत्	४३६-४
एकस्तम्भ—आयुर्भृत्	४३८-२
पञ्च—इन्द्रियाणि	४३८-२
पञ्चजना —मनुष्यास्तैराश्रित	,, ,,
अनेककक्ष—हृन्नाभिब्रह्मरन्ध्रादिभेदेन	,, ,,
गोमुद्रा—सुरभिमुद्रा	४३९-३
गुरुबीजेन —हुँकारेण	४३९-४
अवकेशी—वन्ध्य	४४०-१०
सुरद्रु —सुरद्रुम	४४०-११
पर्वसन्धि—अष्टमी	४४३-३
चतुर्थ—उपवास	४४४-१
घनाघन —मेघ	४४६-१
प्रतिग्रह —अभ्युत्थान	४४८-१
विघा—आहार	४४८-२
प्रमृत—यदुप्त धान्य न प्ररोहति प्ररूढ वा न फलति	४४८-५
पारिप्लव —चपलता	४४९-३
कदर्या —लुब्धा	४४९-४
वाक्पण्या —बन्दिन	४५०-४
सभली कुट्टिनी	४५०-४

इति श्रीदेवविरचिताया यशस्तिलकपञ्जिकाया अष्टम आश्वास ।

---

* देखिए—पृ० ४१९, टि० न० १२ ।
१ २ ३, देखिए—पृ० ४१९ टि० न० १६-२१ ।
४ ५ ६ देखिए—पृ० ४२४ टि० न० ३-५ ।
७-१० देखिए—पृ० ४२४ टि० न० ८-११ ।
* अनेन पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्य शुक्लध्यानमुक्त ।
११ अनेन एकत्ववितर्कावीचाराख्य शुक्लध्यानमुक्त ।
१२ देखिए—पृ० ४२७ टि० न० ७ ।
१३ देखिए—पृ० ४२७ टि न० ८-९ ।
१४ देखिए पृ० ४३० टि० न० २ ।
१५ देखिए—पृ० ४३१ टि० न० ६ ।
१६ १७ देखिए—पृ० ४३१ टि० न० ८-१२ ।
१८ देखिए—पृ० ४३४ टि० न० ५ ।

धन्यवाद व कृतज्ञता

निम्नलिखित उदार, श्रुतभक्त सज्जन महानुभावो ने श्रुत-सेवा की पवित्र भावना से प्रेरित होकर प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न की निम्नप्रकार प्रतियो के, निर्धारित मूल्य मे ग्राहक बनते हुए एव प्रकाशनार्थ भी कुछ आर्थिक सहयोग देते हुए इसके प्रकाशन मे प्रोत्साहित किया, अत प्रकाशन-सम्बन्धी इस मङ्गलमयवेला मे हम उन्हे धन्यवाद अर्पित करते है।

श्री माननीय डा० नन्दकिशोर जी देवराज अध्यक्ष दर्शनविभाग व निदेशक उच्चानुशीलन दर्शनकेन्द्र हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी ने, हमारी प्रार्थना पर अनेक व्यस्तताओ के रहते हुए अग्रेजी मे महत्वपूर्ण प्राक्कथन लिखकर हमे प्रोत्साहित किया, उसके लिए हम उनके प्रति विशेष कृतज्ञ है।

नाम	प्रतिसख्या
श्री दा० सेठ भगवानदासजी शोभालालजी चेरिटेबिल ट्रस्ट सागर (म० प्र०)	१०
श्री दा० सेठ परिचन्दजी, श्रीचन्दजी, गम्भीरचन्दजी बोथरा कलकत्ता	,,
श्री धर्म० सेठ सुखदेवप्रसादजी जैन भारत मेटल स्टोर कलकत्ता	,,
श्री कान्तिदेवी धर्म० श्री० वा० मोहनलालजी जोहरी कलकत्ता	,,
श्री समस्त दि० जैन समाज अडगावाद (मुर्शिदाबाद)	,,
श्री रा० सा० वा० मोहनलालजी काला बेरहमपुर (मुर्शिदावाद)	,,
श्री दा० सूर्यकान्तदेवी धर्म० श्री० वा० कन्हैयालाल जी वाकलीवाल, फर्म-रा० चुन्नीलाल बहादुर एण्ड सन्स जोरहाट (शिवसागर)	,,
श्री दा० अँगूरीदेवी धर्म० रा० व० कँवरीलाल जी वाकलीवाल जोरहाट (आसाम)	,,
श्री प्रिन्सिपल श्री० महावीर जैन ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) कारजा (अकोला)	,,
श्री धर्म० समस्त दि० जैन समाज गोदिया (भण्डारा)	६
श्री समस्त दि० जैन पुरुष व महिलासमाज तिनसुखिया (आसाम)	,,
श्री समस्त दि० जैन समाज डीमापुर	,,
श्री पार्श्व० दि० जैन ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) पो० एलोरा (ओरगावाद)	६
श्री धर्म० समस्त दि० जैन समाज धूलियान (मुर्शिदाबाद)	,,
श्री धर्म० वा० जुगमन्धरदास जी मेटलमर्चेन्ट कलकत्ता	५
श्री वा० सीमन्धरदास जी तरुणकुमार जी भारत मेटल स्टोर कलकत्ता	,,
श्री धर्म० वा० कमलसिह जी रामपुरिया कलकत्ता	,,
श्री दा० रतनमालादेवी धर्म० श्री० वा० सुखदेवप्रसाद जी भारत मेटल स्टोर कलकत्ता	,,
श्री दा० सेठ किस्तूरचन्दजी जौहरीमलजी पाटनी इम्फाल (मनीपुर)	,,
श्री वा० भँवरीलाल जी वाकलीवाल एण्ड Co इम्फाल (मनीपुर)	,,
श्री साहनीदेवी धर्म० श्री० वा० मिश्रीलाल जी पाटनी जोरहाट (आसाम)	,,
श्री धर्म० वा० डायाभाई जी शाह-प्रादि गुजराती जैन सज्जन महानुभाव कलकत्ता	,,
श्री धर्म० समस्त दि० जैन समाज गोहाटी (आसाम)	,,
श्री दा० शान्तिदेवी धर्म० वा० सागरमल जी वाकलीवाल जोरहाट	,,
श्री वा० प्रेमसुख जी सेठी कलकत्ता	४
श्री वा० रामचन्द्रजी विजयकुमार जी काशलीवाल कलकत्ता	४
श्री दा० सेठ वैजनाथ जी सरावगी स्मृतिनिधि कलकत्ता	४
श्री दा० साहु शान्तिप्रसाद जी जैन कलकत्ता	४
श्री धर्माराधक कार्यसमिति सस्थापक—श्री मुनि पद्मविजय जी महाराज कलकत्ता	४
श्री विमलादेवी धर्म० श्री वा० हीरालाल जी टोग्या कलकत्ता	४

नाम	प्रतिसंख्या
श्री दा० सेठ सोहनलाल जी दूगड कलकत्ता	४
श्री दि० जैन मन्दिर द्व श्री वा० गणेशलाल जी पाड्या कूचविहार (प० बगाल)	४
श्री दि० जैन मन्दिर विजयनगर (आसाम)	४
श्री विदामीदेवी मातेश्वरी श्री वा० राजकुमार जी काशलीवाल तनसुखिया (आसाम)	४
श्री 'कल्याण' सम्पादक, श्री प० हनुमान प्रसाद जी पोद्दार गोरखपुर	४
श्री धर्म० वा० मदनलालजी काला, फर्म छोगमल रतनलालजी कलकत्ता	४
श्री वा० मोहरीलाल नथमल जी पाटोदी कलकत्ता	४
श्री दा० रा० व० सेठ राजकुमारसिंह हुकमचन्द्र जी इन्द्र-भवन तुकोगज इन्दौर	४
श्री दा० वा० जोखीराम दुर्गादत्त जी जैन वैकर्स राँची	४
श्री दा० रा० व० जैनरत्न व जैन जा० भू० वा० हरकचन्द जी पाड्या वैकस राँची	४
श्री खडेलवाल दि० जैन पचान् ट्रस्ट धूलिया (महाराष्ट्र)	४
श्री व्र० कु कुमदेवी जैन श्राविकाश्रम कारजा द्व श्री विदुषी प० मजुलादेवी सञ्चालिका	४
श्री सेठ ऋषभदास जी जिनवर शाह जी चवरे कारजा	४
श्री चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर ओरङ्गावाद	४
श्री बालचन्द्र केसरीमल जी बडजात्या कलकत्ता	४
श्री शान्ति रोडवेज श्री वा० भागचन्द जी दीवान सीकरवाले कलकत्ता	४
श्री सेठ केसरीचन्द जी निहालचन्द जी धनावत कलकत्ता	४
श्री दा० गुलाबरानी धर्म० श्री दा० वा० बालचन्द जी मलैया B S C सागर	४
श्री दि० जैन मन्दिर ट्रस्ट मालेगाँव (नासिक)	४
श्री प्रेमराज जी पूनम चन्द जी काला कोपरगाँव	४
श्री धर्म० वा० धन्नालालजी गुलाबचदजी सेठी खुरई (सागर)	३
श्री वा० सुगनचन्द्र जी पाड्या एयर आसाम कलकत्ता	३
श्री वा० शान्तिकुमार जी कमलकुमार जी ,,	३
श्री वा० हुकमचन्द जी शान्तिलाल जी वाकली० ,,	३
,, वा० ज्ञानचन्द जी धमचन्द जी ठोल्या ,,	३
,, वा० अमरचन्द जी पहाडिया ,,	३
,, धर्म० समस्त दि० जैन समाज वासिम (अकोला)	३
,, खडेलवाल दि० जैन पचान् अचलपुर केम्प	३
श्री वा० ताराचन्द जी महावीर प्रसाद जी कलकत्ता	३
श्री धम० वा० चादमल जी लालचन्द जी पाटनी धूलियान (मुर्शिदावाद)	३
श्री समस्त दि० जैन महिला समाज बरहमपुर (मुर्शिदावाद)	३
श्री वा० सोहनलाल महावीर प्रसाद जी काशलीवाल विजय-नगर (आसाम)	३
श्री वा० नन्दलाल जी मागीलाल जी छावडा डीमापुर	३
,, दा० रा० सा० चाँदमलजी सरावगी गोहाटी (आसाम)	३
श्री वा० छगनमलजी सरावगी एण्ड सन्स गोहाटी (आसाम)	३
,, वा० रामदेव सन्तोषकुमार जी पाटनी ,, ,,	३
श्री वा० हुलाशचन्द्रजी महावीर प्रसाद जी सेठी ,, ,,	३
श्री धर्म० दि० जैन समाज मीरगज (सारन)	२
श्री दि० जन मन्दिर लोरिया (चम्पारन)	२
श्री पार्श्व० दि० जैन मन्दिर टिकेतनगर	२
श्री दा० पुष्पाकुमारी देवी धर्म० कृपिपडित दा० श्रीमन्त सेठ वा ऋषभकुमार जी खुरई (सागर)	२
श्री दा० माणिकदेवी गोधा मातेश्वरी श्री वा० नरेन्दकुमार जी गोधा माधोनगर उज्जैन	२
श्री सिघेन मगनदेवी धर्म० श्री सिंघई दुलीचन्द जी जैन सिंघईनिवास माधोनगर उज्जैन	२
श्री सेठ ननूलाल जी ताराचन्द जी परवार क्लोथ मर्चन्ट उज्जैन	२
श्री सेठ भूरालाल जी गगवाल मल्हारगज इन्दोर	२
श्री धर्म० सेठ मिश्रीलाल राजमल जी टोग्या सर्राफ बडनगर	२
श्री वा० सुगनचन्दजी गुलाबचन्दजी गोधा सर्राफ बडनगर	२
श्री वा० रतनलाल जी विलाला वडनगर	२
,, रत्नप्रभादेवी धर्म० श्री सेठ फूलचन्द जी काशलीवाल बडनगर	२
,, समस्त दि जैन समाज धार	२
श्री समस्त दि जैन समाज मनावर (धार)	२

नाम	प्रतिसख्या
,, समस्त दि जैन समाज भीकनगाँव	२
श्री समस्त दि० जैन समाज खातेगाँव	२
श्री सेठ हीरालाल माणिकचन्द्र जी पाटोदी लोहरदा	२
,, समस्त दि जैन समाज शाहगढ (सागर)	२
,, वा० शान्तिकुमार जी बडजात्या बारन (कोटा)	२
श्री १०८ पूज्य आचार्य शिवसागर जी सघ ह श्री ब्र सूरजमल जी महाराज कोटा	२
श्री धर्म वा मदनलाल जी चाँदूवाड रामगजमडी (कोटा)	२
श्री वा फूलचन्द जी सोगानी भवानीमडी	२
श्री पुस्तकाध्यक्ष श्री गणेश जैन सस्कृत महाविद्यालय सागर ह श्री माननीय प मुन्नालालजी राघेलीय मन्त्री	२
श्री दि जैन परवार मन्दिर ट्रस्ट नागपुर ह श्री वा निर्मल कुमार जी मन्त्री	२
श्री धर्म० सिघई नानकचन्द जी जैन फर्म—'नायकस्टोर' रेडीमेड नागपुर	२
श्री पार्श्व० दि० जैन बडा मन्दिर नागपुर	२
श्री सुपार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर वर्धा	२
श्री दि० जैन खन्डेलवाल मन्दिर अकोला	२
श्री गणेशदेवी धर्म श्री सेठ किशनलाल जी वज वासिम (अकोला)	२
श्री धर्म० ब्र० केसरदेवी व पुत्र-बधू श्री मन्दोदरी देवी दरियापुरकर कारजा	२
श्री धर्म० सेठ जम्बूसहाय जी रईस चवरे कारजा	२
श्री मूलसघ चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर ट्रस्ट कारजा	२
श्री सेठ धरमचन्द जी हीराशाह जी कारजा	२
श्री मनोरमादेवी धर्म० वा० नेमिचन्द जी पापडीवाल अचलपुर केम्प	२
श्री इन्दुमतिदेवी धर्म० वा० जयकुमार जी काला अचलपुर	२
श्री मनोरमादेवी धर्म वा० मदनलाल जी बडजात्या अचलपुर	२
श्री सेठ देवीदास जी वर्धाशाह जी जिन्तूर (परमणी)	२
श्री वा० लालचन्द्र जी हरिश्चन्द्र जी जायसवाल मैनेजर जिन्तूर	२
श्री वा० सुन्दरलाल जी वर्धाशाह जी M L A जिन्तूर	२

नाम	प्रतिसख्या
श्री सेठ मागीलाल जी नेमिचन्द जी विनायका सेलू (परमणी)	२
श्री सेठ चेतनलाल माणिकशाह जी बघेरवाल देवलगाव राजा	२
श्री सेठ बच्छराज जी छगनलाल जी सेठी औरङ्गाबाद	२
श्री खन्डेलवाल दि० जैन समाज नाँदगाँव	२
श्री मेनादेवी धर्म० श्री सेठ शान्तिलालजी काशलीवाल नाँदगाँव	२
श्री रुक्मणीदेवी धर्म० श्री सेठ नानूराम जी ठोल्या कोपरगाँव	२
श्री वा० सूयकान्तराव जी शाह फर्म—बालचन्द हीराचन्द जी कोपरगाँव	२
श्री सेठ हीरालालजी हुकुमचन्दजी पहाडचा मालेगाँव (नासिक)	२
श्री धर्म० सेठ धन्नालालजी प्रकाशचन्दजी अजमेरा गोदिया (भण्डारा)	२
श्री रत्नप्रभादेवी धर्म० श्री सेठ हीरालालजी पाडचा गोदिया	२
श्री दा वा हीरालालजी पन्नालालजी सेठी कलकत्ता	२
श्री वा महावीर प्रसाद जी लील्हा कलकत्ता	२
श्री वा मुन्नालाल द्वारकादासजी कलकत्ता	२
श्री सेठ वशीधर जुगलकिशोरजी कलकत्ता	२
श्री वा कन्हैयालालजी सीतारामजी पाटनी कलकत्ता	२
श्री वा नथमलजी पारसमलजी काशलीवाल कलकत्ता	२
श्री मनोरमादेवी धर्म० श्री वा नेमिचन्दजी छाबडा कलकत्ता	२
श्री वा गजकुमारजी ब्रदर्स धरमतल्ला कलकत्ता	२
,, वा सूरजकरण शान्तिकुमारजी मल्लिक स्ट्रीट कलकत्ता	२
,, वा पहाडिया ब्रदर्स अमरतल्ला कलकत्ता	२
,, धम B R C (वा ऋषभचन्दजी) जैन कलकत्ता	२
,, धर्म वा भँवरीलाल चाँदमलजी कलकत्ता	२
,, वा केसरीमलजी जीतमलजी सबलावन कलकत्ता	२

नाम	प्रतिसंख्या
,, वा खूबचन्दजी नेमिचन्दजी पाटनी कलकत्ता	२
,, नोर्थ इण्डिया जूट कम्पनी कानकी	२
,, तोताराम जी गुलाबचन्द्रजी क्लोथ मर्चेन्ट कलकत्ता	२
,, वा प्यारेलालजी कमलकुमारजी कलकत्ता	२
,, महावीर स्टील सप्लाई कम्पनी कलकत्ता	२
,, वा चाँदमल धन्नालालजी पाटनी कलकत्ता	२
,, वा हिम्मतसिहजी गदिया चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट कलकत्ता	२
,, वा हरकचन्दजी फर्म-सरावगी एण्ड कम्पनी कलकत्ता	२
,, वा राजकुमारजी पवनकुमारजी कलकत्ता	२
,, वा धर्म सरावगी ट्रेनिग कम्पनी कलकत्ता	२
,, वसन्ती देवी धर्म वा भँवरलालजी छाबडा कलकत्ता	२
श्री वा लालचन्द जी दीपचन्द्र जी कलकत्ता	२
श्री प्रभात ट्रेनिग कम्पनी कलकत्ता	२
श्री धर्म० शान्तिदेवी सरावगी धर्म० वा० कृष्णदासजी कलकत्ता	२
श्री धर्म० ब्र० चिन्तामणिदेवी धम० वा सूरजभान जी कलकत्ता	२
श्री धर्म० समस्त दि० जैन महिला समाज कलकत्ता	२
श्री कस्तूरीदेवी धर्म वा० रतनलाल जी झाझरी कलकत्ता	२
श्री वा० चौथमलजी राजेन्द्रकुमारजी लुहाडिया मेटल मर्चेन्ट कलकत्ता	२
श्री दा० सेठ सुखदेवजी चेरिटीट्रस्ट अध्यक्ष श्री दा० सेठ गजराज पन्नालालजी गगबाल नलिनी सेठ रोड कलकत्ता	२
श्री सेठ रावतमलजी भैरोदानजी सुराणा कलकत्ता	२
श्री वा० धनराज जी कोचर वर्तल्ला स्ट्रीट कलकत्ता	२
श्री वा० माणिकचन्द्रजी वैगानी कलकत्ता	२
श्री केसरिया एण्ड को० कलकत्ता	२
श्री वा० रामसहाय जी श्रवणकुमार जी कलकत्ता	२
श्री पुष्पादेवी धम वा० देवेन्द्र कुमार जी कानूगो नागौर	२
श्री वा० माणिकचन्द जी चूडीवाल कलकत्ता	२
श्री सूरजीदेवी धर्म वा० हरकचन्द जी सेठी कलकत्ता	२
श्री चक्रेश स्टोर pro श्री वा० चक्रेशकुमारजी कलकत्ता	२
श्री वा० कालूलाल मूलचन्द्रजी छावडा कलकत्ता	२

नाम	प्रतिसंख्या -
श्री देवचन्द्रजी गिरधारीलाल जी बोरा इजरास्ट्रीट कलकत्ता	२
श्री वा० चम्पकलाल जी भसाली कलकत्ता	२
श्री धर्म वा० छगनलाल जी वेद pro श्री वा० हमीरमल चम्पालाल जी एण्ड Co कलकत्ता	२
श्री वा० चम्पालाल जी कोठारी कलकत्ता	२
श्री दा० सेठ हनुमानमल जी वैगानी कलकत्ता	२
श्री समस्त दि० जैन महिलासमाज जियागज (बगाल)	२
श्री वा० धर्मचन्द्र कर्मचन्द्रजी सेठी सन्मतिनगर (मुर्शिदाबाद)	२
श्री कचनदेवी धर्म० श्री वा० सोहनलाल जी सेठी सन्मति नगर	२
श्री समस्त दि० जैन पचान् मिरजापुर (मुर्शिदावाद)	२
श्री धर्म वा० भँवरीलाल नेमिचन्द्र जी पाटनी वारसोई हाट	२
श्री वा० पूनमचन्द्र जी सम्पतलालजी पाटनी वारसोईहाट	२
श्री वा० सुआलाल जी सोहनलाल जी गङ्गवाल ,,	२
श्री समस्त दि० जैन महिलासमाज बारसोईहाट	२
श्री दि० जैन मन्दिर कानकी ह श्री वा० गोपीलाल जी पाड्या मन्त्री	२
श्री वा० तोलाराम डालमचन्द्र जी पाड्या कूचबिहार	२
श्री मोतीलाल जी कन्हैयालाल जी काला धोबडी	२
श्री मातेश्वरी श्री वा मदनलाल जी चम्पालाल जी गङ्गवाल वरपेटारोड (आसाम)	२
श्री समस्त दि जैन पुरुष व महिला समाज टीहू (आसाम)	२
श्री समस्त दि जैन पचान् नलवाडी (आसाम)	२
श्री वा छोगालाल जी फूलचन्द जी गगवाल ,, ,,	२
श्री धर्म नारायणीदेवी धर्म वा धन्नालाल जी काशलीलाल विजयनगर (आसाम)	२
श्री हीरामणिदेवी धर्म वा मदनलालजी सेठी डीमापुर	२
श्री वा किशनलाल जी सरावगी एण्ड को० ,,	२
श्री वा नेमिचन्द जी चम्पालाल जी सेठी ,,	२
श्री आचुकीदेवी धर्म वा झूमरमल जी छावडा ,,	२
श्री वा फूलचन्द जी सुरेशकुमार जी छावडा ,,	२
श्री रा चुन्नीलाल बहादुर एण्ड सन्स जोरहाट	२

नाम	प्रतिसख्या
श्री वा नेमिचन्द जी मणिकचन्द जी वाकलीवाल एण्ड सन्स शिवसागर (आसाम)	२
श्री वा विजयकुमार जी पाडचा फर्म आसाम ओटो एजेन्सी डिवरूगढ (आसाम)	२
श्री वा फूलचन्द जी काशलीवाल श्री रगलाल रामेस्वर जी डिबरूगढ	२
श्री सोहनीदेवी धर्म श्री वा फूलचन्द जी काशलीवाल डिवरूगढ	२
श्री वा कपूरचन्दजी नथमलजी गगवाल डिबरूगढ	२
श्री वा चाँदमल गनपतलाल जी चूडीवाल ,,	२
श्री वा स्वरूपचन्द विनोदकुमार जी पहाडिया ,,	२

नाम	प्रतिसख्या
श्री धर्म मेनादेवी पाडचा धम वा विजयकुमारजी पाडचा	२
श्री वा शुभकरण जी धर्मचन्दजी पाटनी डिवरूगढ	२
श्री मोहनीदेवी मातेश्वरी वा चिरंजीलाल जी पाटनी इम्फाल (मनीपुर)	२
श्री समस्त दि जैन महिलासमाज इम्फाल (मनीपुर)	२
श्री धर्म० वा नेमिचन्द्रजी पाडचा मत्री pro एयर आसाम गोहाटी	२
श्री वा हरकचन्दजी सरावगी एण्ड सन्स गोहाटी	२
श्री वा खेमकरण जी पाटनी फर्म राजस्थान मोटस तेजपुर (दरग)आसाम	२
श्री वा प्यारेलाल जी एडवोकेट वाराणसी	२

—❀—

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति
पल्लद	पल्लव	७-५	तिरोदध	तिरोदधे	२५१-१
यिहित	पिहित	७-५	ह्याप्ताना	न ह्याप्ताना	२०१-५
स्धागत	स्वागत	१७-४	पुनरप्यमित	पुनरप्यमितप्रभ	२२०-१०
पितृदवत	पितृदैवत	५०-४	भोगमती	भोगवती	२४७ टि न ७
दासर	वासर	६१-७	शिरश्रो	शिशो	२६०टि पक्ति२
स्मृतीनिहास	स्मृतीतिहास	७२-६	पुरुषाणा	पुरुषाणा	२७६-६
दिमृश्य	विमृश्य	८३-६	सुनि	मुनि	२७७-१०
पिष्टय	पिष्ट च	९४-४	काहले	काहले५	३४७-३
सादृहास	साट्टहास	९७-७	भवन्न वा	भवेन्न वा	३००-६
विश्वकरवद्रूनीन्द्राणा	विश्वकद्रूर वनीन्द्राणा	१०७-६	धर्मानुरोध बुद्धचा	धर्मानुरोधबुद्धचा	३०२-५
सवर्धमादम्	सवधमानम्	११२-३	देशेऽपदेशद	देशेऽपसद	३४४-२
नित्योत्सवि	नित्योत्सव	११८-२	अर्हन्नतनुमध्ये	अहन्नतनुमध्ये	३८०-१
पत्ति	पत्त्रि	११८-७	सावस्तदनु	साधुस्तदनु	३८०-१
शव्यय	अव्यय	१२०-१	रस्तत्रय	रत्नत्रय	३८०-४
नीभिमण्डखा	नीभिमण्डला	१२०-३	आत्माज	आत्मा	३९३-१३
तर्ण	तप	१२३-५	भवन्नित्य	भवेन्नित्य	३९५-१
दिलास	विलास	१६७-११	स्मरस	स्मररस	४०२-५
रूची	रुची	१६७-११	मङ्गनम्	मनङ्गम्	४०३-१
कुचाग्र	कुचाग्रे	,, ,,	कोऽपि	कोऽपि	४१०-१
पञ्चम	षष्ठ	१८३-१	मतुलत्वा	मतुलत्वाद्	४१२-९
मुग्वधोधा	मुग्धबोधा	२११-७	यदेन्द्रिथाणि	यदेन्द्रियाणि	४१६-३
सीघ	सीधु	२१३-९	क्षीण	क्षीणे	४३६-२
अनन्य	अन्य	१७२-१८	ह्री	ह्रँ	४३९-२०
दूसरे से	यदि दूसरे से	२००-२८	श्रूयामि	श्रयामि	४४१-२
तात्विककत्वसद्भाव	तात्विकैकत्वसद्भावे	२०५-४	पीठोपकण्ठ	पीठोपकण्ठे	२६४-४
ओतु -पार्जार	ओतु मार्जार	२१६-१टि	चरणन	चरणेन	२८१-६
धिषणन	धिषणेन	२२९-१	पूजाक्षण	पूजाक्षणे	३९५-१
मार्गार्द्धे	मार्गार्द्धे	२२८-२	कि जलता	न कि जलता	४२५-१९
विद्यने	विद्यते	२३९टि न ५	दाने	दान	४४५ टि प०५